प्रकाशकीय वक्तव्य

बड़े सौभाग्य एवं हर्ष का विषय है कि रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से 'निरुक्त-शास्त्र' भाषा भाष्य सहित छप कर प्रकाशित हो रहा है । आर्य-समाज के प्रसिद्ध विद्वान्–वैदिक वाङ्मय एवं प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रौढ़ विद्वान्–भारतीय आर्य संस्कृति के मर्मज्ञ श्री श्रद्धेय पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर ने बहुत कृपा की जो निरुक्त का भाषा भाष्य एवं सम्पादन का गुरुतर भार अपने ऊपर ले कर हमें अनुगृहीत किया । उन्होंने अपनी विचार धारा को उत्तमता से इस मे प्रकाशित किया है जिससे वैदिक साहित्य के शोध करने कराने वाले विद्वानों एवं पढ़ने पढ़ाने वालों को अनुपम लाभ होगा । निरुक्त के सामान्य अध्येताओं को भी इस से बहुत कुछ नई सामग्री या निर्देश प्राप्त होंगे । जिस से उनका ज्ञान समुन्नत होगा । माननीय पण्डित जी ट्रस्ट की ओर से अत्यन्त धन्यवाद के पात्र हैं जो उन्होंने इतना कठिन कार्य पूर्ण करने का भारी कष्ट सहन किया । भारतीय जनता भी उनकी ऋणी रहेगी, जो इस वृद्धावस्था मे भी इतना भारी कार्य सम्पन्न किया । हम भूरि-भूरि धन्यवाद के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ।

यदि श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक अजमेर मे न होते तो यह ग्रन्थ इस रूप मे प्रकाशित हो न हो पाता । उन्होंने धैर्य-पूर्ण परिश्रम-निष्ठा एवं बुद्धिमत्ता से प्रेस कापी का अवलोकन और प्रूफ आदि के संशोधन का जो कार्य किया है, उस के लिए हम ट्रस्ट की ओर से उनका हार्दिक धन्यवाद करते हैं ।

आशा है भारतीय जनता-विद्वान्-एवं पठनार्थी इस अनुपम ग्रन्थ से लाभ उठा कर लेखक एवं प्रकाशक का परिश्रम सफल करेंगे ।

निवेदक

कार्तिक कृष्णा ३, सं० २०२१

मन्त्री—रामलाल कपूर ट्रस्ट
गुरु बाजार, अमृतसर

भूमिका

आधुनिक अधिकांश साक्षर मानव की दृष्टि

विकास मत का प्रभाव—आधुनिक काल की प्राणि-विद्या, उद्भिज्-विद्या, भूविद्या, रसायन-विद्या, भूत-विद्या, अर्थ-विद्या अथवा किसी अन्य विद्या का थोड़ा सा ज्ञाता भी भूतल पर मानव के क्रमशः विकास को स्वीकार कर के अपने ज्ञानक्षेत्र को उत्तरोत्तर बढ़ाता है। यह प्रवृत्ति चार्लस डार्विन के दो सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के प्रकाशन के उत्तरकाल अर्थात् संवत् १९२८ से आरम्भ हुई थी।

इतिहास का विपरीत पक्ष—संसार का इतिहास सामान्य रूप से और भारतीय इतिहास विशेष रूप से इस प्रवृत्ति के विपरीत है। इस बात को न सह कर, और नितान्त पक्षपात के कारण ऐतिहासिक नामधारी अनेक लेखकों ने भारतीय इतिहास को ही मिथ्या सिद्ध करने का यत्न किया है। हमने उन के इतिहास विषयक पक्ष को तर्कहीन, निराधार और सर्वथा कल्पित सिद्ध करने के लिए "भारतवर्ष का बृहद् इतिहास" नामक ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित किया।[1]

विपक्षी मौन—मद्रचित इस इतिहास के विषय में ईसाई-यहूदी गुट के चरणचिह्नों पर चलने वाले भारतीय लेखक मौन साधे हुए हैं। उन में उस के आमूलचूल खण्डन का साहस नहीं हुआ। पर निर्भीकता के अभाव में वे सत्य का ग्रहण करने के लिए उद्यत भी नहीं हो रहे।

ईसाई-यहूदी गुट के विचारकों का स्वभाव—इन लोगों की परिभाषा है कि वे अपने मत के प्रतिपक्ष में दिए गए तर्कों और प्रमाणों का परीक्षण और खण्डन नहीं करते। वे संघर्ष में अपने पक्ष की निर्बलता को समझते हैं। अतः उन्होंने नियम बना लिया है कि उन्हें अपनी बात की ही रट लगानी चाहिए। उन का विश्वास है कि प्रतिपक्षी राजकीय आश्रय के बिना कालान्तर में चुप हो जाएंगे।

---

१. प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, सं० २०१८। द्वितीय भाग, संवत् २०१७।

एक दैवी सहायता—ऐसी स्थिति में एक अभूतपूर्व घटना घटी। उत्तर प्रदेश सरकार ने भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग द्वितीय का महत्त्व आङ्का। तदनुसार सन् १९६२-१९६३ में २५००) रु० का श्री नरेन्द्रदेव पुरस्कार इस पुस्तक पर मुझे भेंट किया गया। इस पुरस्कार योजना समिति के अध्यक्ष थे श्री सम्पूर्णानन्द, राज्यपाल, राजस्थान। वर्तमान कई ऐतिहासिकों को यह बात अखरी। पर तीर धनुष से छूट चुका था।

अनेक भारतीय विद्वानों ने इस इतिहास की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की।

भाषा का इतिहास भी विकासमत के विरुद्ध—डार्विन ने अपने ग्रन्थ प्रकाशित कर दिए। उस का समकालिक श्लाईशर नाम का एक जर्मन विद्वान् था। उस ने भाषा के इतिहास के आधार पर डार्विनमत का खण्डन किया। उस का कहना था कि पूर्व से पूर्वतर और पूर्वतम काल की *भाषाएं अत्यधिक समृद्ध और पूर्णता का अधिकाधिक स्वरूप धारण* किए हैं। इस सत्य सिद्धान्त का उत्तर आज तक किसी से नहीं बन आया। स्पष्ट है कि डार्विनमत की टक्कर जब भाषा के इतिहास के अभेद्य शैल से हुई, तो यह मत परास्त हुआ। यही नहीं विद्वानों की दृष्टि में जीर्णशीर्ण हो कर यह सर्वथा गिर गया।[1]

निष्कर्ष—इस प्रकार यथार्थ इतिहास के सभी पक्ष यही परिणाम प्रस्तुत करते हैं कि ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र के सुदीर्घ काल में उत्तरोत्तर ह्रास ही ह्रास होता गया है। इस ह्रास का एक कारण है। मानवबुद्धि का युग-युग में ह्रास की ओर जाना। आज जो शिल्पोन्नति और कई अन्य क्षेत्रों में ऊपर के विकास दिखाई देते हैं, उन में यथार्थ ज्ञान का अंश बहुत थोड़ा है। यान्त्रिक उन्नति निस्सन्देह गत दो तीन सौ वर्ष में पर्याप्त हुई है, पर वह अभी प्राचीन काल की शिल्पोन्नति की सीमा तक नहीं पहुँच पाई। भरद्वाज ऋषि ने आकाश गङ्गा में स्नान किया था। इस सत्य को जो नहीं मानता, वह उस के अपने अज्ञान का दोष है। भारतीय इतिहास का अन्वेषण हमारे कथन की सत्यता का पोषक है। विकास मत का खण्डन यहां अति संक्षेप

---

१. इस विषय का अधिक विवेचन मद्रचित भाषा का इतिहास, तृतीय संस्करण, दूसरा व्याख्यान में देखें।

में है। इस पर विस्तृत विवेचन भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, भाग प्रथम, पृ० ५७-७२ तक देखें।

पुरातत्त्व के प्रमाणों को कल्पित रंग देना—अनेक वर्तमान ऐतिहासिकों ने पुरातत्त्व की खोजों को अपनी रुचि के रंग में रंग कर अपने कल्पित मत घड़े हैं। यहीं नहीं, उन्होंने यत्न किया है कि प्राचीन लिखित प्रमाणों में जनसमुदाय का अविश्वास उत्पन्न कराया जाए। उसे सदा असत्य कह कर उस के प्रति लोगों की आस्था जर्जरीभूत की जाए। इस प्रयास में वे गम्भीर विद्वानों को अपने साथ नहीं मिला सके।

पृथिवी पर मानव का आविर्भाव—मानव की प्रथम उत्पत्ति विकास-मत की कल्पना के अनुसार नहीं हुई। वह स्थूल दृष्टि से अल्पज्ञानी के मन को लुभाने वाला भ्रान्त पक्ष है। प्रश्न है कि फिर यह हुई कैसे।

इस का उत्तर ढूंढने के लिए मैंने आर्ष वाङ्मय का आश्रय लिया। उस में से थोडे से तथ्य अभी तक मेरी बुद्धि में आ सके है। वे हैं—कि ओषधि, वनस्पति, वाक्, सोम, ऊर्क्, रेतस्, अनेक पशु और कई प्राणी सूक्ष्मरूप में पहले अन्तरिक्ष में अस्तित्व में आए। यथा—

१. **या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस् त्रियुगं पुरा। ऋ० १०।९७।१॥**

अर्थात्—जो ओषधियां पहले उत्पन्न हुईं, देवों से तीन युग पहले।

२. **पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यान्। ऋ० १०।९०।८॥**

अर्थात्—पशु उन को बनाया वायु में होने वालों को।

स्मरण रहे कि अविर्वशा आदि देवपशु हैं। द्रष्टव्य—मै० सं० २।५।२॥

३. **अन्तरिक्षस्य नृभ्यः। ऋ० १।११०।६॥**

४. **अन्तरिक्षायतना हि प्रजा। तां० ब्रा० ४।८।१३॥**

५. **अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः। तै० ब्रा० ३।२।१।३॥**

६. **या अन्तरिक्षे दिवि याः पृथिव्यां ता नस्तुता ओषधीः पारयन्तु।**
काठक सं० १६।१३॥

अर्थात्—अन्तरिक्ष आयतन वाली प्रजा है। अन्तरिक्ष देवता वाले निश्चय से पशु हैं।

वायव्य पशु, जैसा इन पदों से स्वत: प्रकट है, अन्तरिक्ष में थे। बहुत उत्तर काल में भूमि पर ओषधि-सृष्टि हुई। इसका विस्तृत वर्णन भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, भाग द्वितीय, अध्याय तृतीय, तथा, वेदविद्या-निदर्शन, पृथिवी का इतिहास नामक अध्याय के अन्तर्गत, ओषधि-वनस्पति की उत्पत्ति के प्रकरण में हम ने किया है।

ओषधि उत्पत्ति में माया विशेष—सोम ओषधियों का अधिपति है। सोम जीवन का आधार है। सोम का स्थान द्युलोक में था। वहां से सोम के पृथिवी पर अवतरण में जो क्रिया हुई, वह ओषधि-सृजन में सहायक हुई। ब्राह्मण प्रवचन है—

(क) सोमं वै राजानं यत् सुपर्णी आहरत् समभिनत् तस्य या विप्रुषो अपतंस्ता एवेमा ओषधयो ऽभवन्। सर्वा उ ह वै सौम्या ओषधयः। जै० ब्रा० १। ३५५॥

अर्थात्—निश्चय से सोम राजा का सुपर्णी ने जो आहरण किया, भेदन किया, उस के जो थूकवत् छींटे गिरे, वे ही ओषधियां हुईं। सब ही ओषधियां निश्चय से सौम्य हैं।

(ख) इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यं पृथिवीमनु व्यार्च्छत्। तदोषधयो वीरुधोऽभवन्। तै० सं० २। ५। ३॥

अर्थात्—इन्द्र का, वृत्र को मारने की इच्छा वाले का इन्द्रिय वीर्य पृथिवी को प्राप्त हुआ, वह ओषधियां वीरुध हुए।

इस से स्पष्ट होता है कि इन्द्र वृत्र का भौतिक संग्राम पृथिवी पर ओषधी-सृजन से कुछ पूर्व हुआ।

(ग) यद्य श्रेयस् इति। इन्द्रो वै वृत्रम् अप्सु अभ्यहन्। तासां यद् यज्ञियं मेध्यमासीत् तदुदक्रामत्। ता ओषधयोऽभवन्। तासां या एतत्तेजो यद्वर्मा। एता वै शुष्का आप:[1]। मै० सं० ३। ६। ३॥

---

१ शुष्काप के लिए देखो [illegible]

(घ) इन्द्रो वै त्वष्टुः सोमम् अपिबद् अनुपहूयमानः । तस्योर्ध्वः सोमपीथो ऽपतत् । ते श्यामाका अभवन् । मै० सं० २ । ३ । १३ ॥

(ङ) देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत् । तस्यैतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मानः । तदेष-उशानामौषधिर्जायते । इति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिः । श० ब्रा० ३।४।३।१३।।४।२।५।१५ ॥

वेद और ब्राह्मणों के साहाय्य से उद्भिज-उत्पत्ति का विस्तृत वैज्ञानिक वर्णन किया जा सकता है । मैंने यहां संकेतमात्र किया है ।

सोम और रेतस् सम्बन्ध—जगत् की उत्पत्ति में आपः के साथ सोम का भी महान् भाग है । वही सोम रेतस् को धारण करता है । अतः प्रवचन है—

सोमो वै रेतोधाः । मै० सं० २ । १ । ४ ॥

मेघों से सस्य और शुक्र आदि की उत्पत्ति

इस का अत्यन्त सुन्दर वर्णन अनुशासन पर्व मे मिलता है—

तथदा मेघतो वारि पतितं भवति क्षितौ ।
तदा वसुमती देवी स्निग्धा भवति भारत ॥ ३८ ॥

ततः सस्यानि रोहन्ति येन वर्तयते जगत् ।
मांसमेदोस्थिशुक्राणां प्रादुर्भावस्ततः पुनः ॥ ३९ ॥

संभवन्ति ततः शुक्रात् प्राणिनः पृथिवीपते ।
अग्नीषोमौ हि तच्छुक्रं सृजतः पुष्यतश्च वै ॥ ४० ॥

एवमन्नाद्धि सूर्यश्च पवनः शुक्रमेव च ।
एक एव स्मृतो राशिस्ततो भूतानि जज्ञिरे ॥ ४१ ॥

अग्नि और सोम सारी उत्पत्ति का कारण है । सृष्टि उत्पत्ति में ओषधि और पशु तथा मानव की उत्पत्ति का क्रम जो अब है, आदि का क्रम उस से अधिक भिन्न नही था ।

पशु सृष्टि

पशु उत्पत्ति—रेतस् के साथ पशु उत्पत्ति में जो देव भाग है, वह ध्यान देने योग्य है। स्मरण रहे कि शतपथ ६।२।१।२ के अनुसार पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अजा सब पशु हैं।

(क) पूषा और त्वष्टा के इस कर्मविषय में प्रवचन है—

पूषा पशूना प्रजनयिता। सोम पशुष्वरेतो दधाति। पूषा पशून् प्रजनयति। मै० सं० २।१।४॥ २।५।१॥

(ख) त्वष्टा पशूना प्रजनयिता। मै० सं० २।५।५॥

इन सारी क्रियाओं की सूक्ष्मताओं को जानने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रक्रिया का गम्भीर अध्ययन अत्यन्त लाभप्रद है।

(ग) मनुष्यगवीना देवाविप्रभरत्वात्। स्कन्द ऋ० १।७०।८ भाष्य।

बीजोत्पत्ति—अन्तरिक्ष में उत्पन्न पदार्थों के कारण, तथा पृथिवी पर जल भूमि के संयोग और सोम आदि के प्रभाव से पहले अनेक बीज उत्पन्न हुए। महाभारत, शान्तिपर्व में लिखा है—

बीजमात्र पुरा सृष्टम्। १८४। १५॥

अर्थात्—बीजमात्र पहले उत्पन्न किए गए।

नाबीजाज्जायते किञ्चित्। २९६। १२॥

अर्थात्—नहीं बिना बीज के उत्पन्न होता कुछ।

ओषधि आदि के बीजों के समान पशु आदिकों के बीज भी शुक्र अथवा रेतस् के रूप में बने।

बीज नानात्व—बीजों की संख्या यद्यपि बहुत है, पर ज्ञात हो सकती है। उद्भिज, अण्डज, जेरज और स्वेदज जातियों की गणना शास्त्रों में की गई है। उस की सोदाहरण परीक्षा भविष्य का काम है।

नानात्व का कारण—यह कारण योगसूत्र और न्यायभाष्य से स्पष्ट होता है—

(क) क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः। योगसूत्र ३। १५॥

अर्थात्—[बीजों में] अवयवों और परमाणुओं के क्रमभेद से विभिन्न परिणाम होते हैं।

(ख) बीजावयव-व्यूह—न्यायभाष्य ४। १। १८ के अनुसार बीजावयवो का व्यूह-भेद उन मे नानात्व उत्पन्न करता है।

बीजत्व-प्राप्ति—इस विषय के कतिपय सुन्दर श्लोक राघवभट्ट[1] ने किसी पुरातन ग्रन्थ से शारदातिलक १। २७ की टीका में उद्धृत किए हैं—

उद्भिदः स्थावरा ज्ञेयास्तृणगुल्मादिरूपिणः।
तत्र सिक्ता जलैर्भूमिरन्तरूष्मविपाचिता॥

वायुना व्यूह्यमाना तु बीजत्वं प्रतिपद्यते।
तथा चोप्तानि बीजानि संसिक्तान्यम्भसा पुनः॥

उच्छूनत्वं मृदुत्वञ्च मूलभावं प्रयान्ति च।
तन्मूलादङ्कुरोत्पत्तिस्तस्मात् पर्णसमुद्भवः।
पर्णात्मकं ततः काण्डं काण्डाच्च प्रसवः पुनः॥ इति॥

अर्थात्—जलों से सिक्त भूमि, अन्दर के ऊष्म से पकाई गई वायु द्वारा व्यूहरूप (cellular arrangement) में रची गई बीजत्व को प्राप्त होती है। ऐसा स्पष्ट और वैज्ञानिक वर्णन वर्तमान विज्ञान के किसी ग्रन्थ में नहीं है।

बीजैक्य का मत, विकास पक्ष का भयङ्कर दोष—डार्विन आदि के विकास पक्ष में एक अथवा एक प्रकार के अमीबा (amœba) से सारी पशु-पक्षी आदि की सृष्टि उत्पत्ति मानी जाती है। यह दोष महान् है। इस का खण्डन हम ने भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग प्रथम, संस्करण द्वितीय, पृ० ५८, ५९ पर किया है।

---

१. संवत् १५५०। इसकी अभिज्ञान शाकुन्तल टीका मुद्रित हो चुकी है।

बीजों से उत्पत्ति में सहायक—मैत्रायणी संहिता में मन्त्रार्ध है—

पर्जन्यो बीजमीरयाणो धिनोतु । २ । ७ । १२ ॥

अर्थात्—पर्जन्य बीज को प्रेरित करता है।

ऐसा भाव ऋग्वेद में भी है—

रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् । ऋ० ५ । ८३ । १ ॥

लगभग इसी भाव से वायु पुराण[1] अ० ५१ मे ब्रह्मजा मेघों का गुण-कीर्तन किया गया है—

ब्रह्मजा नाम ते मेघा ब्रह्मनिश्वाससंभवाः ।
ते हि विद्युद्गुणोपेताः स्तनयन्ति[2] स्वनप्रियाः[3] ॥ ३४ ॥

तेषां शब्दप्रणादेन[3] भूमिः स्वाङ्कुरकोद्गमा[4] ।
राज्ञी राज्ञाभिषिक्तेव पुनर्यौवनमश्नुते ।
तेष्वियं प्रीतिमासक्ता[5] भूतानां जीवितोद्भवा ॥ ३५ ॥

टिप्पण—यह ब्रह्मा, दिग्गज, और पर्जन्य आदि, (हेमन्ते शीतसंभवाः । वायु ५१ । ३५ ॥) भौतिक माया रूप हैं। धूम इन के आप्यायन और निःश्वास आदि का कारण है। उस ब्रह्मा के निश्वास से जो मेघ उत्पन्न होते हैं, वे ब्रह्मजा कहे जाते हैं। कुहरा=नीहार भी वहीं से उत्पन्न होता है।

सर्ग के आरम्भ में इसी माया के द्वारा सारे बीज प्रेरित हुए। अनेक भौतिक परिवर्तन होने के कारण अब मूल बीजों का युग नहीं रहा।

भवनदेव=विश्वकर्माकृत अपराजितपृच्छा में भी अद्भुत वर्णन है—

भूम्युदकेषु सम्भूता विख्याता बीजनस्तथा ।
भूमौ समुद्भवं चैव संयोगे वारिणा खलु ॥ २१ ॥

---

१ ब्रह्माण्ड, पूर्व भाग, २२ । ३६— ।
२ ब्र० पु०—स्तनयित्नु प्रियस्वना ।
३. ब्र०—शब्दात् प्रणादेन ।
४. ब्र०—० वद्भोद्भवा ।
५. ब्र०—प्रादुरासक्ता ।

उदके सर्ववीजानां सम्भूतिः सर्वतः स्मृता ।
केचिदाकाश उत्पन्नाः केचित् पातालसम्भवाः ॥ २२ ॥
केचिद् भूम्युद्भवाश्चैव त्रिविधः सृष्टिसम्भवः । सूत्र ७ ।

अर्थात्–सारे वीज उदक में उत्पन्न हुए । अनेक वीज आकाश में उत्पन्न हुए ।

अमैथुनी सृष्टि

ब्रह्मा और अन्य ऋषि जन्म—इस प्रकार ओषधि आदि के जन्म के पश्चात् ब्रह्मा और योगज शरीरधारी अनेक ऋषि इस भूतल पर प्रकटे । उनकी उत्पत्ति भी एक नियमविशेष के अधीन है । जिस प्रकार ओषधि और वनस्पति जगत् के वीज वने, उसी प्रकार पशु, पक्षी और मनुष्य आदि के वीज शुक्र रूप में वने । ओषधियों से अन्न और अन्न से रेतस् की सृष्टि हुई । वह रेतस् महान्=महतत्त्व के नोदन, योग-युक्त आत्माओं के प्रवेश, तथा क्षोभ और सम्पीडन के विभिन्न प्रभावों, अपरञ्च ऊष्मा की बहुविध क्रियाओं से विभिन्न रूपों के वीजों में प्रकट हुआ । इस वीज-विभिन्नता का कारण जै० ब्राह्मण में है—

ऊनातिरिक्ता मिथुना प्रजनयः । ऊनम् अन्यस्य, अतिरिक्तम् अन्यस्य । ऊनातिरिक्ताद् वै मिथुनात् प्रजा पशवः प्रजायन्ते । २।९४ ॥

यह नियम सर्गारम्भ और सृष्टि-स्थिति के काल में समान है ।

रेतस्=शुक्र में शरीर

अपराजितपृच्छा में असाधारण सत्य

वटो यथा च वीजस्थस्तथा शुक्रगता तनुः ।
संघाटे काञ्चनं यद्वत् क्रियादीपेन दृश्यते ॥ ३ ॥ सूत्र १५ ।

अर्थात्—वट जैसे वीज में ठहरा है, वैसे शुक्र में शरीर [अति सूक्ष्मावस्था में] होता है । संघाट [=अनेक धातुओं के संयोग में] काञ्चन का अस्तित्व जैसे क्रियादीप[1] से दिखाई देता है ।

---

१. न्यारिए के क्रियादीप से । इस अर्थ में यह शब्द मोनियर विलियम्स के कोष में नहीं है ।

आदि में असदृश वृद्धि—जिस प्रकार वर्तमान अवस्था में बीज शनैः शनैः अगला रूप उत्पन्न करता है वैसा ही आदि में हुआ था। ऐ० ब्रा० का प्रवचन है—

न वै सद्देवाग्रे सर्वं सम्भवति। एकैकं वा अङ्गं सम्भवत् सम्भवति। ०।५॥

ऋषि प्रभव स्थान—शङ्खलिखित के धर्म-सूत्र में ऋषियों का उत्पत्ति स्थान भी लिखा है। यथा—न ऋषीणां प्रभवम्।[1] इस वचन पर कृत्य कल्पतरु के निबन्धकार लक्ष्मीधर ने माधवस्वामी के भाष्य से निम्न लिखित पङ्क्ति उद्धृत की है—

कलापग्रामादिकम्। इति माधवस्वामी।

पुराणों के अनुसार कलाप ग्राम हिमालय में है और माधवस्वामी के आदिकम् पद से हिमालय के विभिन्न स्थान अभिप्रेत हो सकते हैं।

मनुष्य उत्पत्ति—मनुष्य आदि की उत्पत्ति का अत्यन्त गम्भीर दृश्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य प्रोक्त बृहदारण्यक उप० १।४।३ ४ में देखना चाहिए।

वेद प्रादुर्भाव—महदण्ड हिरण्यगर्भ और प्रजापति पुरुष के कारण और तत्पश्चात् देवों और दिव्य ऋषियों[2] के कारण वेदमन्त्र स्वभावतः पहले ही प्रकट हो चुके थे अब वे ही ऋषियों में प्रविष्ट हुए। मन्त्र स्वयं कहता है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
ऋ० १०।७१।३॥

अर्थात्—उस वाक् को प्राप्त किया, ऋषियों में प्रविष्ट हुई को।

यह स्वयम्भु ब्रह्म रूपी वाक् थी। इस दैवी वाक् की विभूति का दिग्दर्शन इस निरुक्तभाष्य के पृ० ५७४ पर कराया गया है। इस रहस्य को न समझ कर वृथाभिमानी पाश्चात्य लेखकों ने वेदार्थ को कलुषित किया है।

---

१ कृत्यकल्पतरु, गार्हस्थ्य काण्ड, पृ० २६६।

२ ऋषयः सप्त दैव्याः। ऋ० १०।१३०।७॥

ऋषि कौन थे—इस प्रश्न का उत्तर भारतीय वाङ्मय में निम्नलिखित रूप से है।

१. साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः। निरुक्त १। २०॥

अर्थात्—ऋषियों को पदार्थों के गुण अथवा अर्थ का साक्षात् होता है।

परन्तु इतना लक्षण अतिव्याप्त रहता है। महान् विद्वान् पक्षिलस्वामी अथवा विष्णुगुप्त कौटल्य ने अपने न्यायभाष्य में लिखा है—

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा।......। ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। २। १। ६९॥

पुनश्च—

आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माणः।

अतः इस अतिव्याप्ति दोष के दूरीकरणार्थ, यास्क के भाष्य से ही दूसरा पाठ उद्धृत किया जाता है—

२. ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्श, इत्यौपमन्यवः। २। ११॥

अर्थात्—ऋषि वह है, जिसे मन्त्रों का दर्शन होता है।

इस से आगे यास्क ने अपने कथन की पुष्टि के लिए तैत्ति० आर० २।९ का एक वचन उद्धृत किया है। उस का अभिप्राय यह है कि ऋषियों को ब्रह्म स्वयम्भु प्राप्त हुआ।

मन्त्र के प्रमाण से पूर्व लिखा गया है कि वाक् ऋषियों में प्रविष्ट हुई। उसी वाक् को ऋषियों ने देखा और सुना।

३. नीरजस्तम—ऋषि लोग रज और तम गुणों से सर्वथा रहित थे। आयुर्वेदीय चरक संहिता, सूत्र स्थान, अ० ११ मे पाठ है—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥ १८॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते, तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥१९॥

अर्थात्—ऋषि लोग रज और तम से मुक्त, त्रिकालज्ञ, सदा अमल और अव्याहत ज्ञान वाले, तथा सत्यवाक् होते हैं।

४. अतीन्द्रिय ज्ञान—ध्यानयोग के बल से ऋषि लोग अतीन्द्रिय ज्ञान के द्रष्टा होते हैं।[1] वेदों के सहस्रों मन्त्र अतीन्द्रिय ज्ञान से भरे पड़े हैं। वैसा ज्ञान ऋषि के अतिरिक्त और कोई दे ही नहीं सकता।

अतीन्द्रिय ज्ञान के उदाहरण

अब हम अतीन्द्रिय ज्ञान के कतिपय उदाहरण उपस्थित करते हैं।

I. द्यावापृथिवी का सामीप्य अथवा द्यावापृथिवी का सहभाव

१ दीर्घतमा-दृष्ट द्यावापृथिवी सूक्त की ऋक्—

ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा।
१।१५९।४॥

अर्थात्—ते=वे द्यावापृथिवी, [जो] जामी=भगिनियां, सयोनी=समान उत्पत्ति स्थान वालियां, मिथुना=परस्पर संयुक्त, समोकसा=समान निवास स्थान वालियां।

स्पष्ट है कि द्यावापृथिवी का स्थान ओक=साथ ही था।

२ अगस्त्य-दृष्ट द्यावापृथिवी सूक्त की ऋक्—

सङ्गच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामी पित्रोरुपस्थे। १।१८५।५॥

३. प्रजापति वैश्वामित्र दृष्ट विश्वेदेवा सूक्त की ऋक्—

समान्या वियुते दूरेअन्ते ध्रुवे पदे तस्थतुर्जागरूके।
उत स्वसारा युवती भवन्ती आदु ब्रुवाते मिथुनानि नाम॥
३।५४।७॥

यहां पहली दो ऋचाओं में द्यावापृथिवी को—जामी[2], सयोनी, मिथुना, समोकसा, संगच्छमाने, समन्ते, स्वसारा, पित्रोरुपस्थे पदों

---

१ देखो स्वेनाश्वनर उप० का आरम्भ। ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्।

२. जामी=सजाती, तुलना करो ऋ० १।७१।७ पर स्कन्द का ऋग्भाष्य।

से, एक अत्यन्त अतीन्द्रिय दशा का ज्ञान वर्णित है। तीसरी ऋक् में समान्या पद से लगभग वैसा ही भाव दिखाया है, और अगले—वियुते पद से द्यावापृथिवी के एक दूसरे से पृथक् होने का तथ्य कहा है। देखो, निरुक्त भाष्य ४। २४ के अन्त में वियुते पद पर हमारा भाष्य।

अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणों में—

४. इमे वै सहास्ताम्। तैत्ति० सं० २। ४। ३॥

५. द्यावापृथिवी सहास्ताम्। तै० सं० ५।२।३।। तै० ब्रा० १।१।३।२॥

६. इमे वै सहास्ताम्। मैत्रा० सं० ३। २। २॥

७. इमे वै सहास्ताम्। कांठक सं० १३। १२॥

८. इमे वै सहास्ताम्। का० सं० १३। १२॥ दूसरी वार

९. इमौ वै लोकौ सहास्ताम्। ऐ० ब्रा० ४। २७। ५॥

१०. इमौ वै लोकौ सहास्ताम्। ताण्ड्य ब्रा० ७। १०। १॥

११. इमे वै लोकाः सहासन्। ता० ब्रा० ८। १। ९॥

१२. सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः। शतपथ ब्रा० ७। १। २। २३॥

१३. इमौ वै लोकौ सह सन्तौ व्यैताम। जैमिनि ब्रा० १। १४५॥

सब ऋषि एक स्वर से प्रवचन कर रहे हैं, कि किसी समय द्यावा-पृथिवी, जो आज एक दूसरे से लाखों योजन की दूरी पर हैं, साथ-साथ थे।

II. द्यौः-अङ्ग आदित्य पृथिवी के साथ

१४. असावादित्योऽस्मिन् लोक आसीत्। तै० सं० ७। ३। १०॥

१५. इह वा आदित्य आसीत् तमितोऽध्यमुं लोकमहरन्।
मै० सं० १। ११। १७॥ ३। ९। ३॥

अर्थात्—यहां पृथिवी के साथ ही कभी आदित्य था। उसे यहां से उस लोक को ऊपर ले गए।

१६. आदित्यो वा एतद् अग्राग्र आसीद् यत्रैतत् चात्वालम्।
देवाः प्रदाहाद्

अविभयु । तेऽब्रुवन् । सर्वं वा अयम् इदं प्रधक्ष्यति । धीमो परिहरामेति । जै० ब्रा० १ । ८ । ७ ॥

सह पद की व्याख्या

१७ समन्तिकमिव ह वा इमे अग्रे लोका आसुः, इति । उन्मृश्या हैव द्यौरास । श० ब्रा० १ । ४ । १ । २२ ॥

आमने सामने, अत्यन्त समीप कभी ये लोक थे । [हाथ से] छूई जा सकने वाली ही [तब] द्यौ थी ।

१८ इमे वै सहास्ताम् । तौ यथा वेणू संधाय्येते एवं समधायेताम् । का० स० १३ । १२ ॥

१९ सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः । तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत् तदन्तरिक्षमभवत् । ईक्ष हैतन्नाम् । तत पुरान्तरा वा इदमीक्षम् अभूदिति । तस्मादन्तरिक्षम् ।

श० ब्रा० ७ । १ । २ । २३ ॥

२०. इसी भाव के लिए ऋ० १ । ८१ । ४ का उपाकयोः पद द्रष्टव्य है । उसी पर स्कन्द भाष्य है—

उपाके इत्यन्तिकनाम । अत्र तु तात्स्थ्यात् द्यावापृथिव्योर्वर्तते । यावद्धि मक्षिकाया पत्रं तावद् द्यावापृथिव्योरन्तरम् । इत्युपनिषदि[1] पौराणिकाश्चाचक्षते ।

इन चारों प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि आदि मे द्यावापृथिवी का अन्तर अत्यन्त स्वल्प था । वे वस्तुतः साथ ही थे । इतना स्वल्प, जितना जगल में उगे टकराने वाले वासों का अन्तर होता है । अथवा मक्षिका के पर जितना पतला अन्तर । पृथिवी पर से द्यौ स्पर्श योग्या थी ।

जब देखने वाला कोई नहीं था, उस समय की अतीन्द्रिय अवस्था का कितना स्पष्ट वर्णन है ।

---

१ देखो—सुरुषाम न निर्ऋं तरुपस्थे सूर्ये न दस्रा तमसि क्षियन्तम् ।
ऋ० १ । ११ । ५ ॥

२ बृहद् उप०—यावद्वा मक्षिकाया पत्रं तावान् तरेणाकाशः । ३ । ३ । २ ॥

योरोप का अधूरा ज्ञान—इस विषय में योरोप के आईन-स्टाईन आदि वैज्ञानिकों को थोड़ा सा आभास हुआ और हो रहा है। जो थोड़ा सा आभास है, वह बहुत ही अधूरा है। उस का आधार अनुमानमात्र है। कतिपय योरोपीय वैज्ञानिकों के एतद्विषयक वचन हमने वेदविद्यानिदर्शन पृ० ३१५ पर उद्धृत किए हैं।

भूमि और पृथिवी का भेद—भूमि नाम इस लोक की प्राथमिक अवस्था के लिए है। वह भूमि जब प्रथित होती गई, तो उस का नाम पृथिवी हुआ। यह प्रथन कितने काल मे हुआ, इस का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

इस तथ्य का स्पष्ट चित्रण निम्नलिखित है—

आपो वा इदमासन्। सलिलमेव। स प्रजापतिर्वराहो भूत्वा-उपन्यमज्जत्। तस्य यावन्मुखमासीत् तावतीं मृदमुदहरत्। सेयम् अभवत्।.........यद् अप्रथत तत् पृथिवी। यद् अभवत् तद् भूमिः।
काठक सं० ८। २॥

पहले होना कर्म हुआ। उस समय भूमि नाम हुआ। तत्पश्चात् प्रथन कर्म हुआ। उस से पृथिवी नाम हुआ।

उत्पत्ति के समय भूमि नाम था। इस लिए मन्त्र में उस अवस्था का भी वर्णन है—

'द्यावाभूमी'[1] जनयन् देव एकः। ऋ० १०। ८१। ३॥

वैदिक विज्ञान में पदप्रयोग की यह असाधारण सूक्ष्मता और महिमा दर्शनीया है।

प्रश्न होता है, वह प्रथन कब हुआ, और पृथिवी की दशा कब बनी। इस का उत्तर भी वैदिक वाङ्मय मे है। पूर्व उद्धृत संख्या ४-१३ के अन्तर्गत प्रवचन ५ में स्पष्ट है कि प्रथन होने पर भी द्यावापृथिवी साथ-साथ थे।

---

१. द्यावापृथिवी। काठक सं० १८। २। १३ में पाठ। यह उत्तर अवस्था का द्योतक है। द्यावाभूमि पृथिवीं स्कम्भुरोजसा। ऋ० १०। ६५। ४॥

पृथिवी और चन्द्र का आदान प्रदान—इसी प्रकार की एक और अतीन्द्रिय घटना है। तत्सम्बन्धी मन्त्र भी देखने योग्य है—

२१ यददः चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्।
मन्त्र ब्रा० १।५।१३॥

III. अन्तरिक्ष ततन

अन्तरिक्ष विस्तार—इस घटना के पश्चात् और वृत्र द्वारा तम आवरण के समय अन्तरिक्ष का विस्तार होने लगा। उस कर्म में जो जो देवता सहायक हुई, उन का वर्णन अगले मन्त्र में है—

अग्नि की सहायता—

२२ अग्न आ याहि वीतय[1] इति वा इमौ लोकौ व्यैताम्। अग्न आ याहि वीतय इति यदाह-अनयोर्लोकयोर्वीत्यै। तै० सं० ५।१।५॥

२३ अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षम् उर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥
ऋ० ३।२२।२॥

२४. इन्द्राविष्णू की—

अकृणुतम् अन्तरिक्षं वरीयः। ऋ० ६।६९।५॥

सोम की—

२५. त्वं सोम पितृभिः संविदानो ऽनु द्यावापृथिवी आततन्थ।
ऋ० ८।४८।१३॥ तै० सं० २।६।१२॥

२६. त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षम्। ऋ० १।९१।२२॥
२७ अनु द्यावापृथिवी आततान।[2] तै० सं० ४।१।१।२॥
२८. आद्रोदसी ज्योतिषा वह्निर् आतनोत्। ऋ० २।१७।४॥
२९. आद्रोदसी वितरं विष्कभायत्। ऋ० ५।२९।४॥

पूर्वोद्धृत अनेक प्रमाणों में यदि द्यावापृथिवी और रोदसी का सूक्ष्म भेद ज्ञात हो जाए, तो और भी वैज्ञानिक रहस्य खुलेंगे।

---

१. सामवेद का प्रथम मन्त्र।
२. यद् द्यावापृथिवी आततान। बाष्कल मन्त्रोपनिषद्। १२।

एतद्विषयक अनेक अन्य मन्त्र हम ने अपने अंग्रेजी के व्याख्यान में उद्धृत किए हैं।[1]

IV. आरोहण कर्म

सूर्य आरोहण—अन्तरिक्ष के विस्तार के साथ सूर्य ऊपर चढ़ता गया। तत्सम्बन्धी दस मन्त्र (३०-३९) जो अति स्पष्ट हैं, आगे निरुक्त ७। २९ के भाष्य प्रसङ्ग में पृ० ४३६ पर उद्धृत किए गए हैं।

४०. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रम् उच्चरत् । ऋ० ७ । ६६ । १६ मन्त्र के शुक्रम् उच्चरत्, पदों का भी एक अर्थ है—शुक्र-रूप आदित्य को उत्+चरत=ऊपर चलाया।

तथा निरुक्त ६ । १७ में व्याख्यात

४१. जयारू पद का भी अर्थ जयमानरोहि है।

V. द्यौः स्तम्भन—पृथिवी और द्यौ के दृंहण का आनन्द आगे पृ० ५४७-४८ पर उद्धृत नौ ऋग्वेदीय मन्त्रों के प्रमाणों (४२-५०) से मिलेगा।

अतीन्द्रिय ज्ञान पर अधिक प्रकाश इस भाष्य में अन्यत्र भी डाला गया है। तथा वेदविद्यानिदर्शन भी द्रष्टव्य है।

आश्चर्यकर ज्ञान—यह सारा ज्ञान असाधारण, अत्यन्त उत्कृष्ट और विस्मयोत्पादक है। विना ऋषियों के ऐसा चमत्कारिक, अतीन्द्रिय ज्ञान कौन आदि सृष्टि में दे सकता था। यह ज्ञान अक्षरशः सत्य है। न्यूटन और आईन-स्टाईन का ज्ञान ऊहा और अनुमानों पर आश्रित है। वह बहुधा अधूरा और कई वार मिथ्या भी है। निस्सन्देह ये लोग ऋषि नहीं। संसार को चाहिए कि वेद के आश्रय पर विज्ञान की शिक्षा ग्रहण करे।

सूर्य आरोहण पर अमेरिका वासी ब्लेयर—सूर्य आरोहण के वैज्ञानिक तत्त्व को न समझ कर श्री ब्लेयर ने अपने ग्रन्थ—Heat in the Rigveda पृ० १३२ पर लिखा है—

---

1. Extraordinary Scientific Knowledge in Vedic Works, p. 13.

"the well known legend of Indra's placing the sun in the sky"

जिस महान् विज्ञान को पढ कर विशिष्ट वैज्ञानिक का रोमहर्ष हो जाता है उसे वह भूला भाई legend कह कर टाल रहा है।

इस विषय पर प्रकाश डालने वाले अगले मन्त्र भी देखने योग्य है—

५१ शसा मित्रस्य वरुणस्य धाम शुष्मो रोदसी बद्बधे महित्वा।
ऋ० ७।६१।४॥

अर्थात्—स्तुति करता हू मित्र के वरुण के धाम की जिनका (शुष्म) बल द्यावापृथिवी को [पृथक्] बांधे हुए है अपने महत्त्व से।

५२ नि बाधिष्ट म्य रोदसी महित्वेन्द्र। ऋ० ७।२१।३॥

५३ नि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी। प्र नाकमृष्व नुनुदे बृहन्त द्विता नक्षत्र पप्रथच्च भूम॥ ऋ० ७।८६।१॥

इस अन्तिम मन्त्र पर ईसाई महोपाध्याय मैक्डानल लिखता है—

Varuna (as well as other gods) is several times said to hold apart heaven and earth (e g VI. 70, 1), which were supposed to have originally been united
(Vedic Reader, p 186)

टिप्पण—अपने अज्ञान के कारण वह लिखता है—supposed to have originally been united श्रीमान् जी को यह ज्ञात नहीं कि द्यावापृथिवी थे ही साथ-साथ। यह एक अत्यन्त गम्भीर वैज्ञानिक अतीन्द्रिय सत्य है।

(५४, ५५) उदक अशन—आगे पृ० ५७४ पर-बुसम् और वृबूकम्, इन दो उदक नामों पर भाष्य देखें। इन दोनों का एक निर्वचन अशन से है। यह अशन क्रिया कहां और किस प्रकार होती है, यह भी अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है। एक अशन सरलता से जाना जाता है। वह है मेघो से उदक अशन। पर दूसरा अशन आदित्य द्वारा उस के अपने अन्दर होता है। निरुक्त ५।१९ में मन्त्र के भाष्य में कहा है कि आदित्य उस अशन क्रिया

को ढांपता है। वह क्रिया अत्यन्त सूक्ष्म है। इस का कुछ आभास वायु पुराण के निम्न श्लोकार्ध से मिल सकता है।

यथा ह्यापस्तु विच्छिन्नाः स्वरूपमुपयान्ति वै। १४। २९॥

यहां विच्छिन्नाः आपः पद लगभग उदक-भ्रंशन का ही ज्ञान कराते हैं। उस दशा में वे आपः अपने स्वरूप को प्राप्त होते हैं। वह स्वरूप भी ज्ञातव्य है।

५६. सलिल तक्षण—ऋ० १। १६४। ४१ के अनुसार सलिल-तक्षण का भी गम्भीर अर्थ है।

यह गम्भीर तत्त्व जानना चाहिए।

५७. नक्षत्र सूर्यवत्—नाना ह वा एतान्यग्रे क्षत्राण्यासुः। यथैवासौ सूर्य एवम्। श० ब्रा० २। १। २। १८॥

५. दीर्घ जीवन—ऋषि दीर्घजीवी थे। परम योगी होने के कारण वे सुदीर्घजीवी हुए। मुनि देवल ने अपने धर्मशास्त्र के योगैश्वर्य के प्रकरण में लिखा है—

वशित्वेन—अपरिमितायुर्वेश्यजजन्मा च भवति।[1]

६. निर्माणचित्ताधिष्ठान-समर्थ—इस गुण की महिमा योगसूत्र ४।४,६ में देखी जा सकती है।

ऐसे ऋषियों की देन वेद हैं। योरोप के ईसाई-यहूदी-संस्कृताध्येता-निकाय ने इन ऋषियों को साधारण-जन बता कर संसार को वेद-विद्या से विमुख करने का यत्न किया है। उन के शिष्य भारत में जन्मे अनेक आलसी अध्यापक भी यह रट लगाते रहते हैं। प्रायः भारतवासी अभी सोए पड़े हैं।

भारतवर्ष में आर्षज्ञान के प्रति उदासीनता—आजकल अंग्रेजी के प्राबल्य के कारण भारतीय लोगों पर पाश्चात्य विचारों की छाप है। पाश्चात्य विचारकों ने बहुत से पुराने विचारों का खण्डन आरम्भ कर दिया था।

---

१. लक्ष्मीधराचार्य कृत कृत्यकल्पतरु, मोक्षकाण्ड, पृ० २१६ पर उद्धृत।

विलियम हेजलिट[1] (सन् १७७८ १८३०) ने पुराने ग्रन्थो के पाठ के विरुद्ध लिखा—

१. "He is a borrower of sense. He has no ideas of his own, and must live on those of other people." (p 47)

The habit of supplying our ideas from foreign sources 'enfeebles all internal strength of thought,' (p. 48)

२. जान टिण्डल[1] (सन् १८२० १८९३) नामक अर्ध वैज्ञानिक ने लिखा—

"These two methods are the classical and the scientific" (p 94)

"Here the dead languages which are sure to be beaten by science in the purely intellectual fight—"

३ हालडेन[1] (सन् १८९२—) लिखता है—

It seems to me vitally important that the scientific point of view should be applied, so far as possible to politics and religion (p 189, notes)

ऐसे लेखों का भारतीय छात्रों पर गहरा प्रभाव पड़ा। ये लेख और उन का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया। भारतीय लोग पुरातन विज्ञान और आर्ष प्रमाणो से पराङ्मुख होते गए। उन के अज्ञान तिमिर को दूर करने के लिए हम ने आर्ष ज्ञान विषयक यह अति संक्षिप्त लेख लिखा है। निस्सन्देह वैदिक विज्ञान की तुलना मे आज का विज्ञान प्रायः बालनीला मात्र है। अपरञ्च पाश्चात्य छात्र के वृथाग्रह को दूर करने के लिए ही हमने आर्ष मर्यादा के अनुसार अपने लेखों मे आर्ष ग्रन्थो के प्रमाण बहुधा दिए हैं। स्थानाभाव से हमने सम्पूर्ण प्रमाणों का विस्तृत अर्थ नहीं किया। हम हेजलिट के लेख और तत्सदृश अन्य लेखो को अरण्यरोदन समझते हैं।

---

१ ये तीनों उद्धरण जिस पुस्तक से दिए गए हैं, वह सन् १९५२ में पञ्जाब विश्वविद्यालय में एफ० ए० श्रेणी में अंग्रेजी की एक पाठ्य पुस्तक थी।

षडङ्ग-रचना

निरुक्त १ । २० में यास्क ने वेदविद्या-प्रसार के तीन ऐतिहासिक स्तर बताए हैं । वे हैं—साक्षात्कार स्तर, मन्त्रोपदेश स्तर और वेदाङ्ग-समाम्नान स्तर । निरुक्त के पाठ से प्रतीत होता है कि वेदाङ्ग समाम्नान भी उन्हीं ऋषियों ने किया, जो साक्षात्कृतधर्मा थे । जो कोई इस पाठ का ऐसा भाव न भी माने, उसे भी यह मानना पड़ेगा कि वेदाङ्ग-समाम्नान साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के युग से अनतिदूर ही हुआ था ।

१. हारीत धर्मसूत्र में स्नातक के प्रकरण में, वेदाङ्गानि स्मृत हैं ।[1]

२. ब्राह्मण ग्रन्थों में षडङ्ग-स्मरण—तैत्तिरीय आरण्यक २।९ में अङ्गों का उल्लेख है । तै० ब्रा० में अङ्गों में से एक अर्थात् कल्पसूत्रों का नाम-स्मरण है । यथा—कल्पतन्त्राणि तन्वानाहः संस्थाश्च सर्वशः । ३।१२।९॥ गोपथ ब्राह्मण पू० १ । २७ में षडङ्गविद् स्मृत हैं ।

३. वाल्मीकि के आर्ष ग्रन्थ में—उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों से बहुत पूर्व काल के रामायण में षडङ्गों का उल्लेख बहुधा मिलता है । आरम्भ में ही पांचवें सर्ग में पश्चिमोत्तर और दाक्षिणात्य दोनों शाखा के अन्तिम श्लोक का पाठ है—

द्विजोत्तमैः वेदषडङ्गपारगैः ।

पुनश्च—पश्चिमोत्तर पाठ बालकाण्ड १० । १६ तथा दाक्षिणात्य पाठ १४ । २१ का श्लोकार्ध है—

नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः ।

वाल्मीकि के अनुपम ग्रन्थ को अज्ञान अथवा महापक्षपात से ईसाई-लेखकों ने वृथा ही नूतन काल का सिद्ध करने का यत्न किया है । इस ग्रन्थ की भाषा-शैली ही अति प्राचीन काल की व्यावहारिकी की है ।

शिव और बृहस्पति—षडङ्ग-प्रवर्तकों में ये दो अति प्राचीन आचार्य हुए थे । महाभारत शान्तिपर्व में शिव विषयक वचन है—

१ कृत्यकल्पतरु, गार्हस्थ्य काण्ड, पृ० २६४ पर उद्धृत ।

वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य । २८४ । ६२ ॥

पुनश्च बृहस्पति के विषय में कहा है—

वेदाङ्गानि बृहस्पतिः । ११२ । ३२ ॥

अतः निश्चय होता है कि वेदाङ्गों का पठन-पाठन बहुत प्राचीन काल से चल चुका था। शिव ने वेद से ही इन वेदाङ्गों का मूलज्ञान उपलब्ध किया।

४. मनु में— रामायण से पूर्व काल के मानव धर्मशास्त्र में भी वेदाङ्गों का वर्णन मिलता है। यथा—षडङ्गवित् । ३ । १८५ ॥ वेदाङ्गानि, ४ । ९८ ॥

अनूचान—इस पद का सामान्य अर्थ विद्वान् है, पर इसका यथार्थ अर्थ देवल के धर्मसूत्र में लिखा गया है। यथा—

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः शुद्धात्मा पापवर्जितः ।
शेषं श्रोत्रियवत् प्राप्तः सोऽनूचान इति स्मृतः ॥

याज्ञ० स्मृति पर अपरार्क टीका में उद्धृत, पृ० २८४, ४४२ ।

अतः अनूचान वेदाङ्ग ज्ञाता भी होता है। अनूचान पद ऋग्वेद ८।४८।१ में भी है। वहां इस का मूलार्थ देखना चाहिए।

ईसाई गुट का आक्षेप—इस पर ईसाई गुट का आक्षेप है कि वाल्मीकि, शिव, बृहस्पति और मनु तथा उन के ग्रन्थों का परम्परागत स्वीकृत काल वे नहीं मानते।

हमारा उत्तर—ईसाई गुट की प्रतिज्ञाएं, युक्त हेतु और उदाहरणों के अभाव में असिद्ध हैं। उन का खण्डन हमने अपने अन्य ग्रन्थों में कर दिया है। अतः जब तक हमारे तर्कों का उत्तर नहीं आता, तब तक उन का ऐसा कथन उपहासास्पद है।

विष्णुगुप्त कौटल्य=वात्स्यायन का साक्ष्य

मौर्य साम्राज्य का महामन्त्री, ब्राह्मण प्रवर, अप्रतिग्राहकों का शिरोमणि, सकल शास्त्रनिष्णात आचार्य विष्णुगुप्त (कलि संवत् १६०० के

समीप) न्यून से न्यून आठ नामों से अवश्य प्रसिद्ध था । इस महत्त्वपूर्ण विषय में यादवप्रकाश, पुरुषोत्तम, भोजदेव और हेमचन्द्र, इन चार प्रामाणिक कोशकारों का मतैक्य है । यथा—

विष्णुगुप्तस्तु कौटिल्यश्चाणक्यो द्रामिलोऽशुलः ।
वात्स्यायनो मल्लनागः पक्षिलस्वामिनावपि ॥ २ । ७ । २३ ॥[1]

वात्स्यायनस्तु कौटिल्यो विष्णुगुप्तो वराणकः ।
द्राविलः पक्षिलस्वामी मल्लनागोऽगुलोऽपि च ॥ १५६ ॥[2]

वात्स्यायनस्तु कौटिल्यो विष्णुगुप्तो वराणकः ।
द्राविलः पक्षिलः स्वामी मल्लनागोऽङ्गुलोऽपि च ॥ ४१५ । १६ ॥[3]

वात्स्यायने मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः ।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च[5] सः ॥ ५१७ ॥[4]

ये चारों ग्रन्थकार भारत के विभिन्न देशों के थे और प्राचीन भारतीय इतिहास से सुपरिचित थे । उन का लेख किसी प्रकार भी परे नहीं फेंका जा सकता ।

इसी विषय में दो टीककार लिखते हैं—

१. कामन्दक नीतिसार पर उपाध्यायनिरपेक्ष टीका का रचयिता लिखता है—विष्णुगुप्त न्याय-कौटिल्य-वात्स्यायन और गौतमीय स्मृति भाष्य के कारण बहुत प्रसिद्ध था ।

२. विष्णु पुराण ४ । २४ । ६ की टीका में श्रीधर स्वामी (सन् १३५०-१४५०)[6] लिखता है—

कौटिल्यः- कौटिल्यप्रधानः । वात्स्यायन-विष्णुगुप्तादिपर्यायश्चाणक्यः ।

---

१. वैजयन्ति कोश । २. त्रिकाण्ड शेष, भूमिकाण्ड, ब्राह्मणाध्याय ।
३. नाममाला, भोजकृता । ४. अभिधान-चिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड ।
५. अङ्गुल साम-शाखा प्रवक्ता था । उस शाखा के अध्येता अङ्गुल कहाते हैं ।
६. परलोकगत श्री गोडे की खोज के अनुसार । A. B. O. R. I. भाग ३०, भाग ३-४ ।

पक्षिलस्वामी=वात्स्यायन—१. हेतु बिन्दु टीका में भदन्त अर्चट=धर्माकरदत्त (पृ० १६८) लिखता है—यदाह भाष्यकारः । नानुमानत उपलभ्यमानस्य……। इस पर टीका के आलोक में दुर्वेकमिश्र लिखता है—

भाष्यकारः । प्रकरणात् न्यायभाष्यकारः पक्षिलस्वामी । (पृ० ३८२)

२. शान्तरक्षित वादन्याय की टीका (पृ० ११०) पर पक्षिलोक्तम् लिख कर वात्स्यायन के न्यायभाष्य का संकेत करता है।

३ हमारे सुपरिचित जैन विद्वान् श्री सुखलाल संघवी और मुनि श्री जिनविजयजी के अनुसार न्यायभाष्यकार चाणक्य था।[1]

इस पर ईसाई-गुट की आपत्ति—ऐसे प्रमाणों से ईसाई-गुट घबराता है। उसे स्पष्ट दिखाई देता है कि ऐसे प्रमाणों की उपस्थिति में उस के कल्पित मत ठहर नहीं सकते। महापाषाण के गर्त में गिरा वह कहता है कि ये प्रमाण विश्वसनीय नहीं हैं। ये बहुत उत्तर काल के हैं। विद्वान् उन का निग्रहस्थान में आना पूर्णतया समझते हैं।

द्रष्टृ प्रवक्तृ-सामान्यता—वेद मन्त्रों के द्रष्टाओं और शिक्षा, निरुक्त, छन्दः शास्त्र तथा इतिहास, पुराण, और धर्म शास्त्र आदि के व्यावहारिकी भाषा में प्रवक्ताओं का अभेद भारतीय विद्वानों में सदा मान्य रहा है। यह एक अटूट ऐतिहासिक तथ्य है। इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए आचार्य विष्णुगुप्त=वात्स्यायन=पक्षिलस्वामी लिखता है—

१. य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहास-पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति। न्यायभाष्य ४।१।६२॥

२ य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीना मिति। २।१।६७॥

अर्थात्—जो ही मन्त्र ब्राह्मण के द्रष्टा, अथवा वेदार्थों के द्रष्टा थे, वे ही, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र और आयुर्वेद प्रभृति के प्रवक्ता थे।

---

१ संख्या १ के ऊपर टिप्पण में, पृ० १६८।

कौटल्य के लेख में दो सत्य विशेष—न्यायभाष्य के प्रमाणों में दो बातें स्मर्तव्य हैं। **ये एव, ते खलु, न एव,** इति। इन प्रयोगों में **एव** और खलु पद एक निर्विवाद सिद्धान्त का निदर्शन करते हैं।

अपरञ्च—

धर्मशास्त्र और **आयुर्वेद** पदों से ग्रन्थ रूप शास्त्रों का ग्रहण होता है। शास्त्र शब्द के प्रयोग से इस में ननु नच का स्थान नहीं। वे शास्त्र व्यावहारिकी अथवा लोकभाषा में थे।

वात्स्यायन ने प्रथम वचन में मन्त्र ब्राह्मण को स्पष्ट ही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र से सर्वथा पृथक् गिना है। अतः ये धर्मशास्त्र आदि वेद वा ब्राह्मण का भाग नहीं थे।

योरोप का मिथ्या "भाषा विज्ञान"—ईसाई-गुट के लेखक, जिन्होंने अपने मिथ्या भाषा "विज्ञान" के पतङ्ग को बहुत ऊपर चढ़ाया था, अब उसे नीचे गिरता देख कर उदासचित्त हो जाते हैं। असत्य सदा नहीं पनप सकता।

इस विषय पर अनेक अकाटय प्रमाणों का संग्रह हमारे भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ७५-७९ पर देखिए।

निरुक्त शास्त्र की प्राचीनता—अतः यह निश्चित है कि निरुक्त शास्त्र मूल में उन्हीं ऋषियों की देन है कि जिन्होंने मन्त्रार्थ का आदि में उपदेश दिया था। शिव और बृहस्पति आदि महात्मा उन्हीं में से थे। यही सत्य-परम्परा उदारधिः यास्क ने निरुक्त १। २० में दर्शाई है।

चौदह निरुक्त—आचार्य दुर्ग निरुक्तवृत्ति १। १३ तथा १। २० में क्रमशः लिखता है कि—**निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्। निरुक्तं चतुर्दशधा इति।** इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि दुर्ग से पहले भारत में न्यून से न्यून चौदह निरुक्त सुप्राप्त थे। उन का थोड़ा सा वर्णन हम, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार, भाग में कर चुके हैं। उन में से शाकपूणि के निरुक्त-निघण्टु का उल्लेख यहां कुछ विस्तृत रूप से किया जाता है।

शाकपूणि का निघण्टु—आचार्य दुर्ग निरुक्त ८। ४ की वृत्ति में लिखता है—

शाकपूणिस्तु पृथिवीनामान्यपठीत्तस्य स्वयमेव सर्वत्र क्रमप्रयोगदर्शनात्।

इस से यह स्पष्ट है कि शाकपूणि सम्बन्धी निघण्टु का क्रम भी प्रायः यास्कीय निघण्टु सदृश ही था। अतः शाकपूणि के निघण्टु के जो प्रमाण हम आगे एकत्र कर रहे हैं, उन का क्रम हम ने यास्कीय निघण्टु के क्रम के समान ही रक्खा है।

यास्क

1. द्र—पृथिवीनाम।[1] १।७॥ यास्क में अपठित।
2. द्या—पृथिवीनाम।[2] १।८॥ "
3. अनुष्वध।[3] विष्वाप।[3]

   विष्वाक्।[3] उपव्यस्व।[3] विहे[4]

   —इति व्याप्तिकर्माणः। २।१८॥ यास्क में अपठित।
4. उरस्।[5] इति बहुनाम ३।१॥ "

---

१. स्को हि द्यावापृथिवी-अभिमते अ कम्पत। इति। स्कन्द ऋ० भा० १।१२१।२॥ तुलना करो—स्कन्द, ऋग्वेद भाष्य १।१२१।२॥

२. अ [illegible] शाकपूणिरहिम्। स्कन्द ऋ० भाष्य १।१२१।२॥

३. अनुष्वध। व्याप्तिकर्मसु शाकपूणिना पठितम्। स्कन्द ऋ० भा० १।५३।१४॥

४. व्याप्तिकर्म [illegible] —इत्यादि। [illegible]। [illegible]। शाक-पूणिनिघण्टौ—विष्वाक्। विष्वाप। उपव्यस्व। विहे। स्कन्द टीका—निरुक्तटिप्पण्युदधृत २।१०॥

उपव्यस्व। व्याप्तिकर्मसु शाकपूणिना पठितम्। स्कन्द ऋ० भा० १।१०४।२॥ अत एव व्याप्तिकर्म शाकपूणिना पठितम्। स्कन्द ऋ० भा० १।१०८।२॥

५. उरस्तिति बहुनाम इति शाकपूणिः। स्कन्दस्वामी, स्कन्दस्वामीय ऋक् भाष्य, मन्त्र ४०।

५. दाश्वान् ।[1] सविता ।[2] विवस्वति।[3]

विवस्वतः ।[4] इति यजमाननाम। ३।१७, १८ के साथ यास्क में यजमान-नाम नहीं।

६. यम ।[5] इति यज्ञनाम। ३ । १७॥ यास्क में अपठित।

इस स्वल्प संकलन से शाकपूणि के निघण्टु समाम्नाय के स्वरूप का यत् किञ्चित् ज्ञान हो जाता है। अब उस के निरुक्त के उपलब्ध वचनों का संग्रह प्रस्तुत किया जाता है।

शाकपूणि का निरुक्त

निरुक्त और बृहद्देवता में उपलब्ध शाकपूणि के वचनों का संग्रह हम ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग में दे दिया था।

इन से अन्यत्र उपलब्ध वचन नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

१. निघण्टु के संकलन के अन्तर्गत उद्धृत पहला वचन निरुक्त में हो, ऐसा अधिक संभव है।

२. ऋग्वेद १ । ६६ । ५ पर अपने भाष्य के अन्तर्गत स्कन्द लिखता है—

शाकपूणिस्तु—

---

१. दाश्वान् इति यजमाननाम शाकपूणिना पठितम्। स्कन्द-महेश्वर, निरुक्त-वृत्ति समुच्चय १ । ४ ॥ स्कन्द ऋ० भा० १ । ११३ । १८ ॥

२. सविता । यजमाननामधेयमेतत् । शाकपूणिना पठितम् । स्कन्द, ऋ० भा० १ । ३४ । १० ॥ यजमाननामैतच्छाकपूणिना पठितम् । स्कन्द, ऋ० भा० १ । ६५ । ७ ॥

३. यजमाननामधेयमेतत् शाकपूणिना पठितम् । स्कन्द, ऋ० भा० १ । ४६ । १३ ॥

४. विवस्वतः यजमाननामैतच्छाकपूणिना पठितम् । स्कन्द, ऋ० भा० १ । ५३ । १ ॥

५. यम इति यज्ञनाम शाकपूणिना पठितम् । स्कन्द, ऋ० भा० १।८३।५॥

य उग्रा अर्कमानृचु । [ऋ० १ । १९ । ४ ॥

आर्चन्नत्र मरुत । [ऋ० १ । ५२ । १५ ॥]

इत्यादिषु मरुतो स्तोतृत्वदर्शनात् मरुतो ऽत्र गाव उच्यन्त इति मन्यते ।

३ स्कन्द ने अपने ऋग्भाष्य ६ । ६१ । २ मे नदी पद विषयक एक लम्बा प्रकरण शाकपूणि से उद्धृत किया है । वह हमारे वै० वा० इ०, वेदों के भाष्यकार भाग पृ० १७५ पर देखे ।

४ निदान सूत्र पृ० ७३ पर शाकपूणि का निम्नलिखित पाठ है—

तासु त्रिरुदन्त—ऐन्द्रस्य प्राजापत्य, सार्पराज्य, चान्द्रमस्य

सौर्य इति शाकपूणि ।

५ आत्मानन्द अस्यवामीय सूक्त भाष्य मन्त्र १४ पर निम्नलिखित पाठ उद्धृत करता है—

चक्रम् । जगच्चक्रम् । भ्रमतीति वा । चरतीति वा । करोतीति वा चक्रम् । इति शाकपूणि ।

६ देवस्वामी[1] सङ्कर्ष काण्ड २ । २ । ७ के भाष्य म लिखता है—

स्मृतिश्च—प्रयाजाना देवताविषया अनेके । देवतामिष्ट्वा अग्नि रिति शाकपूणि ।

यास्क पर शाकपूणि का प्रभाव

जिस प्रकार पाणिनि पर आपिशलि का अत्यधिक प्रभाव है उसी प्रकार यास्क पर शाकपूणि का प्रभाव है । यास्क उदारधि है, पर भेद होने पर भी उस ने शाकपूणि के ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता ली है । दोनो के निघण्टुओ मे थोडा सा ही अन्तर है । हा निर्वचन के क्षेत्र मे यास्क की ऊहा बढी चढी है । यास्क वेदविद्या पर व्यापक अधिकार रखता है ।

यास्क का समय (विक्रम स ३१०० वर्ष पूर्व)—भारतीय इतिहास मे कौरव-पाण्डव युद्ध का काल सुनिश्चित है । वह है—विक्रम से ३०८१ वर्ष

१. मीमासा भाष्यकार शबर का पूर्ववर्ती ।

पूर्व । इस पर पूरा विवेचन हमारे वृहद्‌ इतिहास, भाग द्वितीय, पृ० २१२-२१६ पर किया गया है।

उस काल में और उस से पहले भी वृष्णिसंघ का एक मन्त्री अक्रूर जीवित था। उस अक्रूर-विषयक एक घटना का उल्लेख यास्क ने किया है । वह उल्लेख ऐसा है, मानो यास्क के काल में होने वाली घटना का प्रत्यक्ष दर्शन है। उस के विषय में यास्क लिखता है कि उस घटना को—**इत्यभिभाषन्ते** २।२ अर्थात् उस के काल में लोग व्यवहार में कहते हैं। आख्यात का वर्तमान काल का प्रयोग अति स्पष्ट है। अतः यास्क भारत युद्ध के काल के आस-पास ही था। यह एक निश्चित समय है। इस को न मानना ईसाई-गुट का पक्षपात है। अपनी मिथ्या कल्पनाएं करके प्रत्येक बात को उन में जोड़ने का यत्न करना एक बुद्धिहीन मार्ग है। इस पर अधिक आगे २।२ के भाष्य में देखना चाहिए।

ईसाई-गुट के लेखकों द्वारा कल्पित-काल—आ० वै० कीथ (about 500 B. C.),[1] वटकृष्ण घोष (600 B. C.),[2] वेलवल्कर (7 th century B. C.),[3] इन लोगों के इतिहास-ज्ञान का सारा कलेवर निराधार कल्पनाओं पर आश्रित है, अतः उस का विद्वानों की दृष्टि में कोई आदर नहीं।

निरुक्त का अध्याय-परिमाण—इस विषय के अनेक प्रमाण हम ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग में, यास्क के प्रकरण में दिए हैं। वे तथा कुछ अन्य नए प्रमाण काल-क्रम के अनुसार आगे दिए जाते हैं—

१. आचार्य सायण अपने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात के अन्त में लिखता है—

(क)……**तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्। तद्व्याख्यानं च–समाम्नायः समाम्नातः, इत्यारभ्य—तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति-अनुभवति, इत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे।**

1. C. H. I., vol. I, p. 117.
2. The Vedic Age, p. 227.
3. Second, A. I. O. C., Calcutta, p. 13.

अर्थात्—बारह अध्यायों में यास्क ने निरुक्त रचा। बारहवें अध्याय का अन्त—अनुभवति, पर होता है।

वर्तमान में यह १२। ११ है।

(ख) ताण्ड्य ब्रा० ४। ८। २ के भाष्य में सायण लिखता है—

तथा च यास्कः। शुक्रातिरेके पुमान् भवति। शोणितातिरेके स्त्री भवति। द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति।

अर्थात्—निरुक्त १४। ६ का पाठ भी सायण अथवा उस के सहकारी भाष्यकार की दृष्टि में यास्क रचित ही है।

२ शङ्करानन्द अपने गीता भाष्य ८। २७ पर निरुक्तस्थ उत्तरायण और दक्षिणायन १४। ९ को उद्धृत करता है।

३ विज्ञानेश्वर (संवत् ११५० के समीप) याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र की ऋजुमिताक्षरा विवृति ३। ८३ पर लिखता है—

अत एव यास्केन—निरुक्तस्याऽष्टादशे ऽभिधानात्।

अर्थात्—निरुक्त १४। ६ का पाठ विज्ञानेश्वर के अनुसार निरुक्त के १८ वें (निघण्टु को छोड़ कर १३ वें) अध्याय के अन्तर्गत था।

४ उवट (संवत् ११०० के समीप) यजुर्वेद भाष्य १८। ७७ में—महत्सु प्रत्यक्षमस्ति । निरुक्त १३। १२ का पाठ उद्धृत करता है।

५ सामविवरणकार माधव अष्टादशे लिख कर १४ वें अ० का पाठ उद्धृत करता है। पृ० ३७८ ३७९।

६ स्कन्द महेश्वर (संवत् ६५० के समीप) निरुक्त १। २० की टीका में निरुक्त १३। १३ उद्धृत करता है।

स्कन्दमहेश्वर का निरुक्तवृत्तिसमुच्चय निरुक्त १३। १३ तक है।

७ उद्गीथ (संवत् ६५० के समीप) ऋग्भाष्य १०। ७१। ५ में निरुक्त १३। १३ उद्धृत करता है।

८. लगभग उसी काल के शांखायन श्रौतसूत्र ५। १। १ पर आनर्तीय भाष्य में—को न ऋषिर्भविष्यतीति । निरुक्त १३। १२ का पाठ उद्धृत है।

९. दुर्गाचार्य (संवत् ५५० से पूर्व) अपनी निरुक्तवृत्ति में निरुक्त १४। २६ का पाठ भी उद्धृत करता है—उदाहरिष्यति च''' इन स्थलों के पूरे पते वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग में दिए गए हैं।

१०. कुमारिल भट्ट (विक्रम की चौथी शती से पूर्व) अपने तन्त्रवार्तिक पृ० २०७ (पूना सं०) पर—यदेव किं च'''तद्भवतीति। निरुक्त १३।१२ उद्धृत करता है।

११. वररुचि (संवत् ५० के समीप) निरुक्त १३। १३ को उद्धृत करता है।

१२. बृहद्देवता में बहुधा निरुक्त के वचन याथातथ्य रूप से ग्रहण कर लिए जाते हैं। निरुक्त १३। १२ में पाठ है—

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।

इस का ग्रहण शौनक ने बृहद्देवता ८। १२९ में किया है—

न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रे।

सिद्धान्त—अतः निश्चित है कि निरुक्त के परिशिष्ट २००० वर्ष से बहुत अधिक पुराने हैं। बहुत संभव है कि दोनों परिशिष्ट यास्क प्रोक्त हों। पर उन का स्वरूप कुछ-कुछ बदला प्रतीत होता है।

निरुक्त के दाक्षिणात्य कोष—निरुक्त के सम्पादकों ने दाक्षिणात्य कोषों की सहायता अपने सम्पादनों में नहीं ली। यह सहायता लेनी अब आवश्यक दिखाई देती है। मद्रास के अड्यार पुस्तकालय में निरुक्त के अनेक कोष हैं। उन में परिशिष्टों के अधिक युक्त रूप से सम्पादनार्थ पर्याप्त सामग्री है। अड्यार के वैदिक हस्तलेखों की सूची, भाग १ के संख्या ८७९ के कोष के विषय में लिखा है—

The recension of the परिशिष्ट here is widely different from the printed one (p 293)

ऐसा ही वहां का सख्या ८८१ का हस्तलेख है।

निरुक्त के निर्वचन—निर्वचन और व्युत्पत्ति मे महदन्तर है। निर्वचन पद का स्पष्टीकरण आगे २।१ के भाष्य मे कर दिया है। निर्वचन का व्युत्पत्ति से अत्यल्प सम्बन्ध है। आर्य विद्वान् शब्दार्थ सम्बन्ध को अनादि मानते है। प्रति सृष्टि मे ये मूल शब्द ही अन्तरिक्ष आदि मे ध्वनित होते हैं। अत मन्त्र नित्य माने जाते हैं। वाचा विरूप नित्यया। ऋ० ८।७५।६॥ उन का अर्थ आदि सृष्टि से चला आ रहा है। उसे ही ध्यान मे रख कर नैरुक्तो ने बहुविध निर्वचन दर्शाए हैं। अत दुर्ग ने लिखा है—

किमुत निरुक्ते यदर्थप्रधानमेव। २। २॥

इस विषय मे प्रपञ्चहृदयकार का भी यही मत है। यथा—

तान्यवयवप्रत्ययविभागपूर्वकं स्वरवर्णमात्रादिभेदेन अर्थनिर्णयनाय निर्वचनानि। (पृ० ९२)

प्रपञ्चहृदय का कर्ता—त्रिवन्द्रम से प्रकाशित प्रपञ्चहृदय में उस के कर्ता का नाम मुद्रित नहीं हुआ। पर अन्त साक्ष्य से निश्चय होता है कि प्रपञ्चहृदय का कर्ता शङ्कराचार्य का कोई शिष्य था। कारण, प्रपञ्चहृदय मे—

१ तदुक्तम्—मध्यस्थाया सुषुम्नाया। (पृ० १४)

२. तदुक्त भगवता—ज्ञातासीति यद्। (पृ० १६)

३ तदुक्त भगवता—मूलाधारात् प्रथममुदित। (पृ० १७)

४. तत्कारणमपि भगवता प्रदर्शितम्—उच्चैरुन्मार्गग वायु। (पृ० २६)

५. ब्रह्मकाण्डस्य (=वेदान्तसूत्रस्य) भगवत्पाद ब्रह्मदत्त भास्करादिभिर्मतभेदेनापि कृतम्। (पृ० ३९)

पूर्वोद्धृत पाच स्थानो मे मे २-४ संख्यान्तर्गत तीन स्थानों मे, भगवता पद से शङ्कराचार्य का ग्रहण निर्विवाद है। कारण सख्या १-४ तक के सारे वचन

शङ्कराचार्य कृत प्रपञ्चसार में मिलते हैं। देखिए—(१) १।८९, ९०, ९१ ॥ (२) २।४५ (३) ॥ २।४३, ४४ ॥[1] (४) ३।६० ॥

प्रपञ्चसार शङ्करकृत है, इस में सन्देह नहीं। प्रपञ्चसार का विवरण पद्मपादाचार्य कृत है। पूर्वोद्धृत पांचवें प्रमाण में भगवत्पाद विशेषण से शङ्कर का ही ग्रहण होता है। अतः यह परिणाम सत्य के अति समीप है कि प्रपञ्चहृदय में भगवता पद का प्रयोग शङ्कराचार्य के लिए ही है। प्रपञ्चहृदय पद्मपाद अथवा उस के किसी सतीर्थ्य की रचना है।

अब प्रस्तुत विषय पर आते हैं।

ईसाई-गुट के लेखक—इस निर्वचन-विद्या को न जान कर राथ, मैक्समूलर, ओल्डन वर्ग, मैक्डानल, राजवाड़े और सिद्धेश्वर वर्मा आदि ने निरुक्त पर बहुधा उपहास किया है। राजवाड़े ने लिखा है—These unnatural derivations of आदित्य are due to the naturalistic tendency of Yāska and the Nairuktas (p. xxv)

2. The naturalistic interpretation of these things is unnatural, if not ridiculous. (p. xxvi)

3. I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd and yet it has held its ground to this day. (p. xi, xli)

सिद्धेश्वर वर्मा जी के अनुसार निरुक्त में सारे १२९८ निर्वचन हैं। उन में से—

८४९	primitive=बर्बर
२२४	ठीक
२२५	obscure=अस्पष्ट
१२९८	

१. मूलाधारात्, श्लोक का प्रथम चरणार्ध साम्बपंचाशिका की त्रिवन्द्रम से प्रकाशित अज्ञातकर्तृका टीका पृ० ९ पर भी उद्धृत है।

ईसाई गुट की महान् भूल—अंग्रेजी भाषा में निर्वचन पद के अनुवाद के लिए कोई शब्द ही नहीं है। उस का derivation शब्द व्युत्पत्ति का किञ्चित् भाव प्रकट करता है। अतः निर्वचन को derivation समझना महान् अज्ञान है। इस भाष्य में हमने व्युत्पत्ति और निर्वचन के भाव को स्पष्ट कर दिया है। निर्वचन विद्या केवल भारत की देन है। भारतीय ऋषि ही वाक् की उत्पत्ति को समझते थे। अतः वे ही वाक् के तत्त्व अर्थ का रूप समझा सके। विकासमत को मानने वाले तो अभी 'क ख' भी समझ नहीं सके।

राजवाडे और वर्मा ईसाई गुट के अनुयायी—अतः राजवाडे और वर्मा जी ने संस्कृत Worterbuch को प्रमाण मान कर जो अयत्य लेख लिखे हैं, वे उन की शोभा नहीं बढाते। उन्हें पहले गोल्डस्टुकर और हाग के तर्कों का उत्तर लिखना चाहिए था।

मार्टिन हाग और वार्टर्बुख—गोल्डस्टुकर की योग्यता और 'संस्कृत वार्टर्बुख कोश' की भरी अशुद्धियों के विषय में हाग का विस्तृत लेख ऐतरेय ब्राह्मण भाग प्रथम आमुख सन् १८६३, पृ० ४ ५ पर देखने योग्य है। हम आगे उस का थोड़ा सा अंश उद्धृत करते हैं—

> "The explanations of these (sacrificial) terms there (in worterbuch) given are nothing but guesses ... these defects ... have been already repeatedly pointed out by Prof Theodor Goldstucker, one of the most accurate Sanskrit scholars in Europe"

ऐसे पक्षपात और अशुद्धि पूर्ण कोश के आधार पर वर्मा जी ने घोर अज्ञान में यास्क के विरुद्ध बहुत कुछ व्यर्थ लिखा है।

यास्क के निर्वचन उस के अति सूक्ष्म ज्ञान का निदर्शन है। उन निर्वचनों में वर्णार्थ के वैज्ञानिक स्वरूप का बहुधा परिचय मिलता है।

निरुक्त का आधिदैविक पक्ष—आत्मानन्द ने अपने अस्यवामीय सूक्त के भाष्य के अन्त में ठीक लिखा है—

अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम् । निरुक्तम् अधिदैवतविषयम् ।

अर्थात्—निरुक्त में सम्पूर्ण मन्त्रों का भाष्य देवता-परक है।

यह एक अत्यन्त आवश्यक पक्ष है, और इस को त्याग कर वेदार्थ का यथार्थ महत्त्व समझ ही नहीं आ सकता।

अधिदैवत पक्ष वैज्ञानिक—सारे देव प्रजापति की सन्तान हैं। उनकी उत्पत्ति भौतिक नियमों के अनुसार हुई है। अतः संसार की भौतिक-क्रियाओं का मूल देव हैं। देवों को समझ कर सारा भूत-विज्ञान बुद्धिगम्य होता है। उस से बढ़ कर विज्ञान संसार में न है, न होगा। मानव बुद्धि ह्रासोन्मुख है, यही वैज्ञानिक तथ्य है।

निरुक्तवार्तिक—निरुक्त वार्तिक ग्रन्थ का पता हम ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग, अध्याय आठ में विक्रम संवत् १९८८ में दे दिया था। उस की सामग्री ले कर श्री विष्णुपद भट्टाचार्य, एम, ए. ने सन् १९५०, जून मास के इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्लि, भाग २६, संख्या २, पृ० १५९-१६५ पर तद्विषयक एक लेख भी लिखा था। उन्हीं दिनों मद्रास विश्वविद्यालय के महोपाध्याय डा० कुहनन् राज ने मुझे पत्र लिखा था कि उन्होंने निरुक्त वार्तिक ग्रन्थ का एक हस्तलेख प्राप्त कर लिया है। पर वह ग्रन्थ आज तक छपा नहीं और डा० राज का परलोकगमन हो गया है।

निरुक्त पर वृत्तियां—निरुक्त ग्रन्थ स्वयं एक भाष्य है। उस पर समय समय अनेक वृत्तियां लिखी गईं। स्कन्द महेश्वर ने अपनी टीका में उन सब का समुच्चय कर दिया है। स्कन्द के लेख से पता लगता है कि उस के पास न्यून से न्यून निरुक्त पर चार वृत्तियां थीं। निरुक्तभाष्य की उपलब्ध वृत्तियों के विषय में हम ने वेदों के भाष्यकार ग्रन्थ के आठवें अध्याय मे पर्याप्त लिख दिया है।

निरुक्त टीकाकारों का काल और प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'—शर्मा जी लिखते हैं—

स्कन्दस्वामी (५०० ई०)—निरुक्त की उपलब्ध व्याख्याओं में इन की व्याख्या सब से प्राचीन है। (भूमिका, पृ० ५६ ।) दुर्गाचार्य (१२००-१३५०, पृ० ५९) महेश्वर (१५०० ई० । पृ० ६० ।)

यह लेख बताता है कि शर्मा जी ने स्कन्द-महेश्वर की वृत्ति कभी देखी नहीं। स्कन्द का शिष्य हरिस्वामी अपना काल कलि ३७४० लिखता है। वह अपने ग्रन्थ में दुर्ग का स्मरण भगवद् दुर्ग लिख कर करता है। फिर दुर्ग, स्कन्द से उत्तर काल का कैसे हुआ। ऐसी स्थिति में शर्मा जी का लेख उन के स्वाध्याय में असह्य त्रुटि का परिचय देता है।

मनोमोहन घोष की भूल—यही भयङ्कर भूल मनोमोहन घोष ने दुर्ग के काल विषय में सन् १९३८ में पाणिनिशिक्षा की भूमिका में की थी। इस का निराकरण हम ने भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० २९८-३०२ के लेख में किया है। उस के पश्चात् भी शर्मा जी ऐसा लिखें, यह शोभास्पद नहीं। भारतीय अध्यापक के लिए यह लज्जा का स्थान है। स्वाध्याय का विशाल होना ही प्रशस्य माना गया है।

दुर्ग का महत्त्व—निरुक्त का आधिदैविक पक्ष समझने के लिए दुर्गाचार्य की महती सहायता है। उन के बिना यह पक्ष तिरोहित हो जाता। उस का एक-एक सङ्केत बहुमूल्य है। इन्द्र क्या है, इस विषय में उसी ने प्राचीनतम मत सुरक्षित रखा है। वह लिखता है—

मैथुनेन ज्योतिषा धारावेष्टितेन इन्द्राख्येन। २। १६॥

इस पङ्क्ति में दिए गए संकेतमात्र से मुझे सारे देवताओं का भौतिक रूप शनैः शनैः स्पष्ट हुआ।

दुर्ग ने ही देवापि और शन्तनु के प्रकरण का यथार्थ खोला है।

ब्राह्मण ग्रन्थों का भक्तिवाद—वेदों का पूर्ण वैज्ञानिक अर्थ समझने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों का मनन स्वाध्याय अनिवार्य है। यास्क आदि विद्वान् भी इन के पाठों को उद्धृत कर के—इति विज्ञायते, कहते हैं। अर्थात् यह विज्ञान का ज्ञान है। इसी सूक्ष्म भाव से यास्क ने लिखा है—बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। ७। २७॥ अर्थात्—अत्यन्त विभाग कर के ब्राह्मण व्याख्यान करते हैं। भक्तिवाद का यह गम्भीर अर्थ शास्त्र-प्रमाणित है। साधारण अर्थ है 'उपचार से कहते' हैं।

निरुक्त के वर्तमान उल्थाकार—१. पं० सीताराम शास्त्री। संस्कृत के योग्य विद्वान् थे। उन्हों दुर्गवृत्ति का अनुवाद अच्छे ढंग से किया है। वास्तविक वेदविद्या में उन की गति नहीं थी।

२. पं० राजाराम—इन का सन् १९१५-१९४७ तक हमारे साथ घनिष्ठ सहयोग रहा है। दुर्गवृत्ति का संक्षिप्त और सुन्दर अर्थ इन्होंने किया है। शब्दार्थ करने में इन की विशेष गति थी। वेद के अपौरुषेय पक्ष पर इन का विश्वास था, पर उस को वैज्ञानिक ढंग पर प्रतिपादन नहीं कर पाए।

३. रामप्रपन्न शास्त्री—इन्होंने निरुक्त पर एक आंशिक टीका सन् १९१६ में संस्कृत में प्रकाशित की थी। इन्होंने ही स्कन्द टीका के हस्तलेख के अस्तित्व का पता मुझे सर्वप्रथम दिया था।

४. डा० लक्ष्मणसरूप—मेरे सहपाठी। इन के आक्सफोर्ड वास के दिनों में ही पं० राजारामजी का अनुवाद मैंने इन्हें भेज दिया था। उस से इन्होंने पर्याप्त सहायता ली थी। इन का निरुक्त का सम्पादन बहुत श्रेष्ठ है। पर अब उस में भी पर्याप्त उन्नति की जा सकती है। निरुक्त के दाक्षिणात्य कोषों का उपयोग इस विषय में सहायक होगा। इन के अंग्रेजी अनुवाद में पर्याप्त भूलें हैं।

५. चि० काशीनाथ राजवाड़े—(सन् १९४०) का आंशिक अंग्रेजी अनुवाद। राजवाड़े लौकिक व्यावहारिकी संस्कृत भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। वे परिश्रमशील भी बहुत थे। पर वेद-ज्ञान में उन की गति शून्य के तुल्य थी। ईसाई-गुट के पूर्ण उच्छिष्टभोजी होने के कारण, अनेक अच्छे सुझावों के रहते भी उन का निरुक्त का अर्थ और व्याख्यान अति स्खलित और दोष-पूर्ण है।

६. प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषिः' (सन् १९६१)—इन का राष्ट्रभाषा अनुवाद राजवाड़े का अधिक आश्रय लिए हुए है। इन्होंने सप्तमाध्याय विषयक भूमिका पृ० २६, २७ पर लिखा है—

परम्परा और भाषा-विज्ञान दोनों के ही घोर विरोधी स्वामी [दयानन्द] जी। इति

स्वामी दयानन्द सरस्वती सदृश परम्परा के अपार पण्डित और भक्त को परम्परा का 'घोर विरोधी' लिखना प्रमाण विरुद्ध बात करना है। और स्वामी दयानन्द सरस्वती भाषा-विज्ञान के भी सूक्ष्म ज्ञाता थे।[1] हां वे ईसाई गुट द्वारा निर्मित मिथ्या 'भाषाविज्ञान' के अवश्य घोर विरोधी थे। उस मिथ्या 'भाषा-विज्ञान' को मानने वाले पहले मद्रचित 'भाषा का इतिहास' का आमूलचूल खण्डन लिखें, फिर वे एतद्विषयक कोई बात करें।

इन के अतिरिक्त और भी एक दो आंशिक अथवा सकल अनुवाद हुए हैं। पर वे कुछ गिनती नहीं रखते।

निरुक्त और बृहद्देवता—निरुक्त के समझने में बृहद्देवता की सहायता अनुपमा है। निरुक्ताध्येता को इस का सतत पाठ बहुत लाभ देता है। निरुक्त और बृहद्देवता में प्राचीन वेदविषयक मतों का सुन्दर सङ्कलन है। बृहद्देवता के ज्ञान के बिना निरुक्त और वेदार्थ में हाथ नहीं लगाना चाहिए। आधिदैविक पक्ष का ज्ञान बृहद्देवता के बिना नहीं हो सकता। राजेन्द्रलाल मित्र के संस्करण से मैक्डानल का बृहद्देवता का संस्करण बहुत अधिक अच्छा है। पर उस में भी अशुद्धियों का बाहुल्य है। अतः एक नया संस्करण बहुत अपेक्षित है।

व्याकरण—व्याकरण के बिना भी निरुक्त का पक्ष समझ नहीं आ सकता। हम ने भाष्य में व्याकरण पर अधिक बल नहीं दिया। पर पाठक को यह ध्यान रखना चाहिए कि कि निरुक्त समझने के लिए वह पाणिनि

पद दुरुपयोग और पदानुक्रम कोश

इस कोश में वेद-पदों को केवल पाणिनि की प्रक्रिया की अधूरी सहायता से खोलने का यत्न किया है। तथा अन्य प्राक् पाणिनीय प्रक्रियाओं

---

१. देखो, पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक का लेख—वेदवाणी पत्रिका (वाराणसी) का वेदाङ्क, नवम्बर १९६०, पृष्ठ ५०— ।

का ध्यान न रखने के कारण यह परिश्रम से सज्जित हुआ कोश भी कई स्थानों पर दूषित दिशा में ही जाता है।

अन्वयार्थ—मैंने मन्त्रों का अन्वयार्थ नहीं दिया। मेरा यत्न रहा है कि मन्त्र, साक्षात् मन्त्रशैली और पदक्रम से ही समझने चाहिएं। अन्वयार्थ अतिस्थूलबुद्धि लोगों के लिए होता है। उस में मूल का आनन्द नहीं रहता। इतना ही नहीं, अनेक स्थानों पर पादादि में निर्दिष्ट उदात्त आख्यातों का मुख्यार्थ गौण अर्थ में परिणत हो जाता है। जब जनसाधारण पद-क्रम के अनुसार मन्त्रार्थ समझेंगे, तो उनकी बुद्धि में वेद-ज्ञान सजीव हो जाएगा। इस लिए पाठक को इस प्रकार का अभ्यास करना चाहिए। जहां पद-क्रम के अर्थ में थोड़ी दुरूहता आई है, वहां मैंने चतुरस्र कोष्ठ में शब्द जोड़ कर अर्थ स्पष्ट किया है। यास्क स्वयं बहुधा इसी पद्धति से अर्थ समझाता है।

भाष्य, संक्षिप्त—यह भाष्य अतिसंक्षिप्त है। मैंने आधिदैविक अथवा आधिभौतिक पक्ष का मार्ग दिखाया है। इस से भविष्य में वेदों के परम वैज्ञानिक अर्थ खुलेंगे। यास्क और अन्य ऋषियों की कीर्ति अधिकाधिक विस्तृत होगी। आर्ष विज्ञान की निर्मलता चित्रित रूप में सामने आएगी।

कृतज्ञता-प्रकाश—यह भाष्य श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इस ट्रस्ट के प्रमुख अधिकारी, आर्ष-व्याकरण के वर्तमान काल के उज्ज्वल स्तम्भ श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु, परलोकगत श्री बा० हंसराजजी कपूर और श्री बा० प्यारेलालजी, धन्यवाद विशेष के पात्र हैं। उन्हीं के निरन्तर उत्साह-प्रदान से मैं इस महासमुद्र को पार कर पाया हूँ। 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' नामक अपूर्व ग्रन्थ के लेखक, और बहुश्रुत विद्वान् श्री पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक जी ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में बहुत सहायता प्रदान की है। उन के बहुमूल्य सुझाव अनेक प्रसङ्गों में समाविष्ट किए गए हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ का आद्यन्त प्रूफ-संशोधन किया है। वेदभक्त, तथा शैव और शाक्त आदि शास्त्र और अन्य आगमों के विशेषज्ञ श्री पूज्य नारायण स्वामी जी भी समय-समय पर इस भाष्य के शीघ्र प्रकाशन के लिए विशेष उत्साह देते रहे हैं। इन सब महानुभावों के प्रति मेरी हार्दिक कृतज्ञता है।

आज जब न्यायमूर्ति श्री लालबहादुर शास्त्री जी को भारत के प्रधान मन्त्री पद पर आसीन हुए लगभग तीन मास हो चुके हैं, और वे इस देश में अति प्रवृद्ध नीचवृत्ति कृष्ण व्यापार, दस्युकर्म, अश्लीलभाषण, अनृतभाषण, स्वार्थतत्परता, नास्तिकता, छल, कपट, और विदेशी भाषा प्रेम आदि अनेक दुर्गुणों से पवित्र भारत भूमि को मुक्त कराने में कृतसंकल्प हो रहे हैं, उस समय यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।

ईश्वर कृपा से आर्य विद्या सर्वत्र प्रकाशित हो।

दयानन्द सरस्वती अनुसन्धान आश्रम
१,२८ पंजाबी बाग
दिल्ली—२६
सितम्बर १ सन् १९६४

भगवद्दत्त



ओम्

अथ निरुक्तम्

सभाष्यम्

प्रथमोऽध्यायः

समाम्नायः समाम्नातः । स व्याख्यातव्यः । तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते ।

निघण्टवः कस्मात् । निगमा इमे भवन्ति । छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः । ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः ।

अपि वाहननादेव स्युः । समाहता भवन्ति ।

यद्वा समाहृता भवन्ति ।

अर्थ—समाम्नाय संगृहीत कर लिया है । वह व्याख्या-योग्य है । उस मूल और इस सूत्र-संग्रह रूप को निघण्टवः ऐसा [आचार्य] कहते हैं ।

निघण्टवः किस कारण से । निगम-मात्र ये होते हैं । छन्द अर्थात् मन्त्रों से एकत्र कर के एकत्र कर के संगृहीत किए गए हैं । वे मन्त्रार्थज्ञान कराने वाले होते हुए ही निगमन [ज्ञान कराने के कारण] से निघण्टवः कहे जाते हैं । ऐसा औपमन्यव [आचार्य कहता है] ।

तथा च आ-हनन से ही [निघण्टवः] हों । एक स्थान पर एकत्र कर के (हनन) पढ़े गए हैं ।

तो और भी समाहरण से समाहृत=एकत्र हुए हैं ।

भाष्य—आम्नाय पद से वेद अथवा किसी भी विषय का मूल शास्त्र अभिप्रेत होता है । कात्यायन अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के शाकलक आम्नाय का स्मरण करता है । स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों का मूल उपदेश मानवधर्म भी आम्नाय है ।[१] आयुर्वेद का मूल उपदेश भी आम्नाय कहाता था ।[१] यहां सम्-आम्नाय से प्रजापति कश्यप के मूल निघण्टवः शास्त्र-संग्रह का कथन है ।

---

१. देखो, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग, द्वि० सं०, पृ० १५४-१५६ ।

समाम्नाय का अर्थ श्रेष्ठ-संग्रह भी है । इसी अभिप्राय से निरुक्त ७ । १३ में यास्क पशुसमाम्नाय पाठ पढ़ता है ।

प्रतीत होता है प्रत्येक नैरुक्त आचार्य पुरातन मूल निघण्टव उपदेश स गवादि ॥ देवपत्न्यन्त का स्वतन्त्र संग्रह करता था । पुन वह उस पर अपना भाष्य रचता था । शाकपूणि ने ऐसा ही किया ।[1] तान्यपि एक समामनन्ति । ७ । १३ में यास्क का यह स्पष्ट निर्देश है । यास्क ने भी उन्हीं पूर्वाचार्यों का तत्समामनन सिद्ध कर अनुकरण किया ।

निघण्टव—अति प्राचीन काल में इस उपदेश के लिए यह बहुवचनान्त पद प्रयुक्त होता था ।

छन्द —छन्दस्-छन्द पद का अर्थ मन्त्रमात्र है । केवल ऋग्वेद नहीं ।

टीका निर्वचन—निर्वचन व्युत्पत्ति नहीं है । इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है । दोनों विभिन्न शब्द स्वयं अपने पार्थक्य का संकेत करते हैं । ये किसी प्रकार भी पर्यायवाची नहीं हैं । व्युत्पत्ति व्याकरण का विषय है और निर्वचन विषय है निरुक्त का । व्याकरण और निरुक्त इन दोनों शास्त्रों का पार्थक्य भी व्युत्पत्ति और निर्वचन में भेद का संकेत करता है । निर्वचन में अर्थ अथवा पदार्थ का यथार्थ स्वरूप तथा उस के सूक्ष्म रचना का विज्ञान अत्यन्त आवश्यक है । व्युत्पत्ति में इस की विशेष अपेक्षा नहीं ।

निर्वचन में अर्थ प्राधान्य—निर्वचन अर्थ को लेकर चलता है । आर्य अनवच्छिन्न परम्परा के अनुसार अर्थ और शब्द का अनादि अटूट सम्बन्ध है । पदार्थ अथवा अर्थ के आदि सृष्टि में बनते समय जो ध्वनि उत्पन्न हुई वही शब्द हुआ । अत उस अर्थ अथवा पदार्थ के साथ उस शब्द का नित्य सम्बन्ध है ।

शब्दार्थ विषयक प्राचीन मत—महाराज समुद्रगुप्त के धर्माध्यक्ष हरिषेण कालिदास ने रघुवंश के आदिम श्लोक में इसी अभिप्राय से—वागर्थाविव सम्पृक्तौ लिखा है । वाक और अर्थ के सम्बन्ध को बताने के लिए सम्पृक्तौ पद का प्रयोग कालिदास के सूक्ष्म शास्त्र ज्ञान का द्योतक है । हरिषेण से बहुत पूर्व व्याकरण वार्तिककार कात्यायन मुनि ने भी—सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे पाठ लिखा था । मानवमात्र की मूल भाषा के स्रोत अर्थात् मन्त्रों में अर्थ के साथ ही शब्द प्रकट हुआ ।

१ वै० वा० इतिहास, वेदों के भाष्यकार पृ० १६६ १७१ ।

औत्पत्तिक सम्बन्ध—शब्दार्थ का सम्बन्ध उत्पत्ति समय में होने वाले सृजन-प्रकार से है। यह जैमिनि ने दर्शाया है। यह सम्बन्ध स्वाभाविक है।

अति प्राचीन मानवधर्मशास्त्र में भी यही मत है—वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ॥ ४ । २५६ ॥

योरोपीय मत का दोष—इस विषय में वर्तमान ईसाई-यहूदी कल्पनाएं निराधार और असिद्ध हैं। उन को यह ज्ञान भी नहीं कि शब्द के साथ अर्थ चमेटा नहीं गया। इनका मूल दैवी-वाक् में स्वाभाविक सम्बन्ध है।

तीन प्रकार के निघण्टु—इसी अर्थ के प्राधान्य की दृष्टि से यास्क ने 'निघण्टवः' पद के तीन निर्वचन दर्शाए हैं। वस्तुतः इन तीन निर्वचनों से तीन प्रकार के पुरातन निघण्टुओं का परिचय मिलता है। ये तीन प्रकार निम्नलिखित थे—

प्रथम प्रकार—इस प्रकार के निघण्टुओं में केवल निगमों का संग्रह था। मन्त्रों के भागों को निगम कहते हैं। इन निगमों को यास्क अपने निरुक्त के द्वितीय अथवा नैगम काण्ड में प्रायः उद्धृत करता है। इन निगमों में वेदार्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है। वेदार्थ में इन से बढ़ के और कोई प्रमाण नहीं। यास्कीय निघण्टु २ । १३ में ऐसे निगम पढ़े गए हैं। इस निर्वचन में उपमन्यु के पुत्र की सम्मति आदरार्थ दी गई है। निर्वचन में नि-पूर्वक गम् धातु का निर्देश है।

द्वितीय प्रकार—आ-हन्, अर्थात् चारों ओर से एकत्र कर के पद पढ़े गए हैं। दुर्गाचार्य ने हन् धातु के इस अर्थ के प्रयोग में—ब्राह्मण इदमाहतम्, प्रयोग पढ़ा है। अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ में ऐसा पढ़ा गया है। यह अति प्राचीन प्रयोग है। यह निर्वचन नैघण्टुक काण्ड सदृश निघण्टुओं का निर्देश करता है। इन निघण्टुओं में एकार्थ वाले अनेक शब्द एकत्र पढ़े गए थे। यहां एकत्र पद का भाव ध्यानविशेष योग्य है। गौः, ग्मा, ज्मा आदि पद एकत्र पढ़े गए हैं। इन का निघण्टु चतुर्थाध्याय के पदों से भेद है। वहां मन्त्रों से पद निकाल लिए गए हैं। अर्थैक्य की दृष्टि से नहीं। इस निर्वचन में हन् धातु का निर्देश है।

तृतीय प्रकार—इस प्रकारान्तर्गत निघण्टुओं में अर्थ दर्शाने के लिए मन्त्रों से कठिन पद खींच लिए गए हैं। इस निर्वचन में हृ धातु का निर्देश दर्शाया है।

यास्क की सूक्ष्मेक्षिका—महामुनि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने शान्तिपर्व में यास्क को उदारधी विशेषण से अलङ्कृत किया है। निस्सन्देह यास्क इस पद के योग्य था। देखिए उस ने प्रथमावसर पर ही निर्वचन विद्या के वैभव का एक अनुपम दर्शन करा दिया है। उस महान् आचार्य को हम शतशः नमस्कार करते हैं।

तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति। तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति। भावप्रधानमाख्यातम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि। तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः। पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे। व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्। मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्व्रज्या पक्तिरिति।

अद इति सत्त्वानामुपदेशः। गौरश्वः पुरुषो हस्तीति। भवतीति भावस्य। आस्ते शेते व्रजति तिष्ठतीति।

इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः ॥ १ ॥

अर्थ—तो जो ये [वेद और लोक में] चार पदसमूह [अर्थात्] नाम और आख्यात, तथा उपसर्ग और निपात हैं, वे ये [निघण्टु में] होते हैं। वहां यह नाम और आख्यात इन दोनों का लक्षण [पुरातन आचार्य] बतलाते हैं। भाव प्रधान क्रिया की प्रधानता-वाला आख्यात [होता है]। सत्त्व (=द्रव्य) प्रधान नाम [होते हैं]। तो जहां [=जिस वाक्य में] दोनों [नाम और आख्यात विद्यमान हों वहां] भाव प्रधान होते हैं। आरम्भ से अन्त तक की क्रिया को [बोलने वाला] आख्यात से कहता है। [यथा—] व्रजति=जाता है। पचति=पकाता है। यह आरम्भ से अन्त तक [क्रिया का प्रकाशन है]। मूर्तिमान द्रव्य रूप हुए भाव [=क्रिया] को द्रव्य के नामों से [कहता है]। [यथा—] व्रज्या=गमन कर्म। पक्ति =पचन कर्म। इति।

अद [=वह, सर्वनाम] यह पदार्थों का=द्रव्यों का [सामान्य] उपदेश है। गौ अश्व पुरुष हस्ती यह [विशेष उपदेश है]।

भवति=होता है, यह क्रिया का [सामान्य उपदेश है]। आस्ते=बैठता है, शेते=लेटता है, व्रजति=जाता है तिष्ठति=ठहरता है, [यह क्रिया का विशेष रूप से उपदेश है]।

इन्द्रिय=वागिन्द्रिय अथवा श्रोत्रेन्द्रिय में नित्य=नियत=ठहरा हुआ=स्थित वचन होता है, यह औदुम्बरायण [मानता है]।

भाष्य—वेद और लोक में अथवा दैवी वाक् और मानुषी वाक् में अथवा मन्त्रों और व्यावहारिकी भाषा में पदसमूह चार ही हैं। यह प्राचीनतम मत है। पाणिनि आदि मुनियों ने संक्षेप की दृष्टि से सुप् और तिङ् अन्त दो ही पद समूह मान लिए हैं। उन्होंने उपसर्ग और निपातों में लोप आदि का भाव मान कर उन्हें भी सुबन्त के अन्तर्गत मान लिया है। यास्क ने नामाख्यातयोर्लक्षणं लिख कर भावप्रधान आख्यात का लक्षण पहले और नाम का लक्षण तदनु क्यों कहा। इस का कारण स्पष्ट है। नामाख्यातयोः समास में नाम पद लघु अथवा अल्पाक्षर होने से पहले जुड़ा है। पर भाव के अस्तित्व का महत्त्व-विशेष है, अतः यास्क ने भाव का लक्षण आदि पहले कहा है। यास्कीय निघण्टु में उपसर्गों का स्पष्ट संकलन नहीं है। ये उपसर्ग उनके निरुक्त का विषय बने हैं। संभवतः पुरातन निघण्टुओं में उपसर्ग भी संगृहीत थे।

अदः तथा भवति—इन पदों का जो भाषान्तर हमने दिया है, वह आचार्य दुर्ग को भी अभिमत था। स्कन्द-महेश्वर इसे अप-व्याख्यान कहते हैं। स्कन्द का अर्थ है—अदः यह पदार्थ मात्र का वाची है, और गौः, अश्वः किसी किसी पदार्थ के। तथा इसी प्रकार भवति यह सब क्रियाओं का उपदेश है, और आस्ते आदि किसी एक क्रिया के लिए हैं।

हमारी दृष्टि में दोनों व्याख्यानों में बहुत थोड़ा अन्तर है।

व्रजति और व्रज्या का सूक्ष्म भेद है। व्रजति केवल क्रिया है। और व्रज्या क्रिया से उत्पन्न होकर द्रव्यवत् हो जाती है।

इन्द्रियनित्यम्—इस का अर्थ है, इन्द्रिय में नियत अर्थात् ठहरा हुआ। इन्द्रिय से तात्पर्य मानव इन्द्रिय तथा दिव्य-इन्द्रिय भी है। जब मानव उत्पन्न नहीं हुआ था, तब भी आकाश और शब्द विद्यमान थे। यह शब्द दिव्य-इन्द्रिय अर्थात् दिव्य श्रोत्र में स्थित है। इस की अभिव्यक्ति दैवी वाक् में हुई। नित्य-पदान्त ऐसा समास रामायण, महाभारत, श्रौतसूत्र और धर्मसूत्र आदिकों में प्रायः मिलता है। उत्तरकालीन ग्रन्थों में यह प्रयोग उत्तरोत्तर प्रायः लुप्त होता गया है।

पूर्वरङ्ग—यास्क ने पदचतुष्टय का सिद्धान्त वर्णित कर दिया। अब वह इन्द्रियनित्यम् से एक अन्य सिद्धान्त का कथन करता है। उस का अभिप्राय है कि औदुम्बरायण के सिद्धान्त को मानने वाला कोई पुरुष पदचतुष्टय का विभाग, और इस पदसमूह के विषय में जो अन्य बातें कही गई हैं, उन्हें उपपन्न नहीं समझता।

उदुम्बर का पुत्र औदुम्बरि। उसका पुत्र औदुम्बरायण। औदुम्बरायण मुनि शब्द को अनवरत मानता था। ध्यान रहे कि यहां औदुम्बरायण का मतमात्र उद्धृत है, उसका वचन यहां उद्धृत नहीं। कारण, यहां इत्यौदुम्बरायणः ऐसा पाठ नहीं है।

शब्द के अनवरत पक्ष को मान कर यास्कीय मत में तीन दोष आते हैं। वे हैं—

तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यतेऽयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः शास्त्रकृतो योगश्च।

अर्थ—तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते—अर्थात् [स्फोटवादी औदुम्बरायण के पक्ष में] चार का विभाग नहीं बनता। अयुगपत्=भिन्न २ समय में उत्पन्न हुए शब्दों का एक दूसरे के साथ [गौणता, प्रधानता] का उपदेश भी नहीं बनता। और व्याकरण शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट शब्दों का योग भी नहीं बनता।

भाष्य—औदुम्बरायण के पक्ष के अनुसार मूल शब्द इन्द्रियनित्य है। वह आकाश के साथ सम्बद्ध श्रोत्र में, तथा च मानव बुद्धि में स्थित है। परन्तु लोक में व्यवहार में आने वाला शब्द अनित्य है। इस अनित्य शब्द में एक पद अथवा एक अक्षर का प्रादुर्भाव भी भिन्न २ काल में होता है। अतः पदों का एक दूसरे के साथ उपदेश उपपन्न नहीं। बुद्धि में शब्दों की परस्पर गौणता, प्रधानता का अभाव ही रहता है।

और व्याकरण शास्त्र में वाक्य में शब्दों का जो मेल बताया गया है, वह भी नित्य वाक् में नहीं बनता।

दुर्ग ने इस प्रसङ्ग में सन्धि नियम के अनुसार अयुगपत् के अतिरिक्त युगपत् रूप भी उचित मान कर एक दूसरी व्याख्या भी की है।

यह सारा पक्ष अत्यन्त गम्भीर है और सांख्य शास्त्र के सूक्ष्म ज्ञान के बिना समझ नहीं आ सकता। अध्यापक को चाहिए कि छात्र को सांख्य का ज्ञान कराए और बताए कि भूत और इन्द्रिय युगपत् कैसे उत्पन्न हुए।

यास्क मुनि के काल से पहले, अर्थात् भारत युद्ध के काल से बहुत पूर्व भी व्याकरण शास्त्र प्रवृत्त थे। निस्सन्देह शाकटायन आदि के व्याकरण शास्त्र तब विद्यमान थे। संभवतः महावैयाकरण आपिशलि भी यास्क का पूर्व-वर्ती था।

यास्क का स्पष्टीकरण—यास्क ने औदुम्बरायण के पक्ष का खण्डन न कर के और उस की सूक्ष्मता को समझते हुए औदुम्बरायण के मत से जो भ्रान्ति हो सकती है, उस के निराकरण का मार्ग बताया है। यथा—

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

अर्थ—शब्द के व्याप्तिमत्त्व वाला होने, और अत्यन्त सूक्ष्म होने से शब्द के द्वारा [नाम और आख्यातादि] संज्ञाकरण व्यवहार के लिए लोक में प्रवृत्त हुआ।

भाष्य—शब्द व्यापक है। आकाश में दैवी वाक् में, और हृदयान्तर्गत आकाशस्थ बुद्धि में। अतः मानव वाक् और श्रोत्र में नश्वर होने पर भी आकाश में शब्द नश्वर नहीं। तदनुसार पदचतुष्ट्य का अस्तित्व रहता है। अत; औदुम्ब-रायण के पक्ष से जो भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती थी, वह व्यावृत्त हो गई।

पुनश्च शब्द अणीयः अर्थात् अति सूक्ष्म है, आकाश में भी और व्यवहारार्थ भी। अपना अभिप्राय पर-पुरुष को बताने के लिये पाणि-व्याहार और अक्षि-निकोच पर्याप्त नहीं हैं, और परिश्रम तथा कष्ट साध्य हैं। उन की अपेक्षा शब्द-प्रयोग से सारा काम सरलता से चल जाता है। अतः लोक व्यवहार के लिये शब्दों और वाक्यों से काम चलाया जाता है। इन शब्दों के सद्-व्यवहार के लिये शास्त्रकारों ने शब्दों का संज्ञाकरण किया है। अतः पदचतुष्ट्य के मानने में कोई दोष नहीं।

संसार में प्रवृत्त सम्पूर्ण अपभ्रंश बोलियों में भी यह पदचतुष्ट्य का विभाग थोड़ा-बहुत पाया जाता है। यह संस्कृत से ही उन में गया है।

तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्।

अर्थ—तेषां मनुष्यवत्—[यहाँ वहाँ।] इन शब्दों का जैसा मनुष्यों में [पदचतुष्टय के अनुसार व्यवहार होता है] वैसा देवताओं के अभिधान में भी है। इति।

भाष्य—पाणिनि, तत्र तस्येव ५।१।११६ के अनुसार मनुष्यवत् का अर्थ है—मनुष्येषु इव। इस का दूसरा अर्थ नहीं बनता। यहां मनुष्य से अतिरिक्त देवता से क्या अभिप्राय है। वेद में मन्त्रमयी देवता है। इन वेद मन्त्रों में भी पदचतुष्टय के अनुसार कथन है। और वहीं से तो पदचतुष्टय लोक में आया।

दूसरी देवता, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति आदि भौतिक दिव्य गुण-युक्त देवता हैं। जब सृष्टि बन रही थी, तब यही अतिन्द्रिय देव ईश्वर नियम से प्रेरित विविध ध्वनियां निकाल रहे थे। स भूरिति व्याहरन्, स भूमिमसृजत।[1] तथा—देवीं वाचम् अजनयन्त देवाः।[2] अर्थात्—देवी वाक् को उत्पन्न किया देवों ने। वे भूः आदि ध्वनियां और मन्त्र उस महान् आत्मा के निःश्वास होकर उच्चरित हो रहे थे। उन देववचनों अथवा देवाभिधानों अर्थात् मन्त्रों में भी पदचतुष्टय का विभाग है।

देवाभिधान—वर्तमान ईसाई-यहूदी संसार में, तथा आजकल के वैज्ञानिक जगत में वाणी उत्पत्ति विषयक जितनी कल्पनाएं हैं, वे निराधार और तर्करहित हैं।[3] केवल वैदिक मत यथार्थ विज्ञान पर आश्रित है। तदनुसार ईश्वर प्रेरित भौतिक देव ही अव्याकृत व्यापक शब्द को स्वाभाविक रूप से मन्त्र रूप में अभिव्यक्त करते हैं। यह क्रम इतना स्वाभाविक है कि प्रत्येक सृष्टि में पूर्ववत् ही होता है। अतः वे ही मन्त्र पुनः प्रकट होते हैं। उन्हें ही ईश्वर प्रेरित ऋषि हृदय की गुहा अर्थात् बुद्धि में देखते और सुनते हैं। इसी सुनने के कारण मन्त्र समुदाय को श्रुति कहा है।

यास्क मुनि ने एक ही वाक्य में इस महान् सत्य को प्रकट किया है।

राजवाड़े लिखता है—Careless Sanskrit (p liv) प्राचीन संस्कृत के वास्तविकत्व में अनभ्यास के कारण राजवाड़े का यह प्रलापमात्र है।

दुर्ग का अर्थ—दुर्ग के अर्थ को सीताराम और राजाराम ने अपनाया है। यथा, सीताराम का लेख है—

---

१. तै० ब्रा० २।२।४।२। २. ऋ० ८।१००।११॥

३. देखो हमारा भाषा का इतिहास, प्रथम अध्याय।

मनुष्यों के समान देवताओं के भी अभिधान में समर्थ हैं। अर्थात् वेद में देवताओं के अर्थ जो हविः दी जाती है, या उन से कुछ प्रार्थना की जाती है, तो इन्हीं शब्दों के द्वारा होती है। इति।

तथा राजाराम—शब्दों से जैसे मनुष्यों के व्यवहार कहे जाते हैं, वैसे इन्द्रादि देवताओं के काम भी कहे जाते हैं। इति।

ये दोनों अनुवादक दुर्ग के अनुसार ऐसा अर्थ करते हैं। दुर्ग ने यह भाव स्पष्ट नहीं किया कि देवताओं का अभिधान कैसा था। देवता-अभिधान, यह षष्ठीतत्पुरुष समास है। वस्तुतः वेद की नित्यता का यही आधारभूत रहस्य है। मन्त्र तो सृष्टि के आदि में स्वाभाविकरूप से उच्चरित हुए थे। वही देवताओं का अभिधान था। वाणी की उत्पत्ति का यही मूल है। महाविद्वान् भर्तृहरि इस तथ्य को समझ कर वाक्यपदीय में लिखता है—शब्दस्य परिणामोऽयम् इत्याम्नायविदो विदुः। १। १२१॥ अर्थात्—देव शब्दों का ही परिणाम यह जगत् है, यह वेद के जानने वाले जानते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह सिद्धान्त सुप्रतिपादित है।

राजवाड़े लिखता है—अभिधानं grammatically ought to be connected with तेषां and not with देवता अर्थात् देवता के साथ अभिधानं पद नहीं जोड़ना चाहिए, प्रत्युत तेषां के साथ जोड़ना चाहिए। मूल तत्त्व को न समझ कर राजवाडेजी ने ऐसा असङ्गत लेख लिखा है।

देवता अभिधान का महत्त्व क्या है। इस के उत्तर में यास्क ने लिखा—

पुरुषविद्यानित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।

अर्थ—पुरुषविद्या अनित्यत्वात्—अर्थात् पुरुषविद्या के अनित्य होने से कर्म की उत्पत्ति अर्थात् सम्पन्नता वाला मन्त्र वेद में है। अथवा कर्म की सम्पन्नता वाला मन्त्र वेद में देवता शब्द से कहा है।

भाष्य—पुरुष की विद्या अथवा मनुष्यों का ज्ञान अनित्य है। यह ज्ञान एकरस नहीं। अतः दयालु ईश्वर ने महती दया से सृष्टि के आरम्भ में देवों द्वारा वेद ज्ञान दिया। इस वेद-विद्या में सृष्टि के सम्पूर्ण कर्मों की सम्पन्नता है। मनुष्य-जीवन के प्रत्येक अंश में क्या कर्म है इस की उपलब्धि वेद मन्त्रों से

प्राप्त होती है। इसीलिए भगवान् मनु ने कहा था—भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति। १२। ९६॥ यही नहीं देवों के सम्पूर्ण कर्म, यथा—सूर्य सृजन, सूर्य में तेज आदि का कारण, पृथिवी से सूर्य तक व्याप्य परमाणुओं का गमन ध्रुव परिभ्रमण, सप्त लोकों की लीला इत्यादि शतशः कर्म वेद में ही मिलते हैं। इतना ज्ञान अन्यत्र नहीं था, न होगा। यह देवताभिधान का महत्त्व है।

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।

अर्थ—भाव के विकार—छः भाव के विकार होते हैं, यह वार्ष्यायणि [मानता है]। उत्पन्न होता है, है, विशेष-परिणाम को प्राप्त होता है, बढ़ता है, क्षीण होता है, नष्ट होता है।

भाष्य—भाव, स्कन्द स्वामी ने इस भाव शब्द के चार व्याख्यान, जो पूर्व वृत्तिकारों को अभिमत थे लिखे हैं। कोई क्रिया को, कोई पदार्थ को, कोई शब्द को और कोई सत्ता को भाव मानते हैं। इन में से भाव का क्रिया अर्थ शीघ्र समझ में आ जाता है अतः उसी का ग्रहण हमने किया है। पर दूसरे अर्थ हेय नहीं हैं। वे अपनी अपनी सूक्ष्मता रखते हैं। सत्ता अर्थ मानने वाले, परमात्म तथा आत्म रूप सत्ता को ही सम्पूर्ण क्रिया का अधिष्ठान मानते हैं।

वार्ष्यायणि—इस गोत्री अथवा वार्ष्यायणि आचार्य के धर्मविषयक मत आपस्तम्ब धर्मसूत्र प्रश्न १, पटल ६। १६ तथा पटल १०। २८ में हैं। यास्क मुनि भारत युद्ध काल के आस पास विद्यमान था। आपस्तम्ब उस का कुछ पूर्ववर्ती था। उस से पूर्व वार्ष्यायणि था। पतञ्जलि मुनि के लिए वह भगवान् था, क्योंकि वह कहता है—षड् भावविकारा इति ह स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः।

जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे। नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति। अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्। विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारम्। वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयम्, सांयौगिकानां वार्थानाम्। वर्धते विजयेनेति वा। वर्धते शरीरेणेति वा। अपक्षीयत इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाचष्टे। न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति॥ २॥

अर्थ—जायते=उत्पन्न होता है, यह पद पूर्वक्रिया का आरम्भ कहता है, नही अगली क्रिया को कहता, न उसका निषेध करता है। अस्ति=है, यह पद उत्पन्न पदार्थ का अवधारण=विद्यमान होना [कहता है], विपरिणमते=विपरिणाम को प्राप्त होता है, अर्थात् बदलता है। यह तत्त्व से न गिरने के विकार को [कहता है]। वर्धते= बढ़ता है, यह पद अपने अङ्गों के अभि+उचय को [कहता है,] अथवा संयोग मे आने वाले पदार्थों के अभ्युच्चय को [कहता है।] वृद्धि को प्राप्त होता है, विजय से, यह भी है। वृद्धि को प्राप्त होता है शरीर से, यह भी है। अपक्षीयते=घटता है, यह क्रिया इसी वर्धते से व्याख्यात हो गई, [वर्धन से] उलटा [होता है।] विनश्यति=नष्ट होता है, यह पद अपरभाव अर्थात् अ-पर क्रिया का आरम्भ कहता है। नही पूर्वभाव को कहता, न उसका निषेध करता है ॥ २ ॥

भाष्य—विपरिणाम—विपरिणाम पद में वि उपसर्ग के कारण अर्थ बनता है—जहां से परिणाम उत्पन्न होता है। यथा अलङ्कार शास्त्र में विभाव का अर्थ है, जहां से भाव उत्पन्न होता है। अतः विपरिणमते का अर्थ होता है, परिणाम के आविर्भाव की अवस्था को प्राप्त होता है। यास्क के एक एक शब्द में सूक्ष्मता है। परिणाम में मूल तत्त्व का प्रच्यवमान अर्थात् गिर जाना नहीं होता। सांख्य (science) का यह अजेय सिद्धान्त है। योगसूत्र ३ । १३ के व्यास भाष्य में पाठ है—अथ कोऽयं परिणामः। अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्म-निवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति । इसी के स्पष्टीकरण में ३ । १५ में कहा है—क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः। यहां पूर्वधर्म की निवृत्ति होने पर धर्मान्तर की प्राप्ति को परिणाम कहा है। यह धर्मान्तर की प्राप्ति परमाणुओं के क्रम में भेद हो जाने से होती है। लोहा, सोना, चांदी, पीतल आदि में परमाणु-क्रम भिन्न भिन्न है। मूल तत्त्व एक ही है। इसी सिद्धान्त की व्याख्या सांख्य-सप्तति की युक्ति दीपिका टीका पृ० ६० पर उद्धृत एक कारिका में भी है—

जहद् धर्मान्तरं पूर्वम् उपादत्ते यदान्तरम् ।
तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते ॥

यहां भी धर्मी अर्थात् पदार्थ का तत्त्व से अप्रच्युत होने का भाव उल्लिखित है। योग सूत्र ४ । ३३ के व्यासभाष्य में भी लिखा है—यस्मिन् परिणम्यमाने

तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम् । महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने इसी भाव से कहा—तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते ।[1]

यास्क ने वर्धते का प्रथम अर्थ—अपने अङ्गों के समुच्चय का, तथा दूसरा अर्थ संयोग में आने वाले पदार्थों द्वारा समुच्चय का कहा । इन दोनों के उदाहरण में वर्धते विजयेन—इति, यह बात जो उत्तर-पाठ का उदाहरण है, पहले लिखी गई है, और पहली बात का उदाहरण इस से आगे लिखा गया है । यास्क ने किस दृष्टि [illegible] यह किया, यह चिन्त्य है । स्कन्द का मत है—क्रमा-धावेन"'उदाहरणपाठो युक्त । अर्थात्—क्रम बाधाधायक नहीं होता ॥ २ ॥

अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह । ते यथावचनमभ्यूहितव्या ।

अर्थ—इन से भिन्न जो भाव=क्रिया के विकार होते हैं, वे इन्हीं छः के विकार होते हैं, ऐसा निश्चय से कहा [पुरा काल में वार्ष्यायणि ने ।] ये भावविकार जिस-जिस वचन अथवा मन्त्र मे जैसे-जैसे हों, वैसे (अभि+ऊहितव्या) पूर्णतया अपनी ऊहा अर्थात् बुद्धि के तर्क से जानने चाहिएं ।

न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुः—इति शाकटायन. । नामाख्या-तयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति ।

अर्थ—नहीं बन्धन रहित अर्थात् नाम और आख्यात के साथ न जुड़े हुए उपसर्ग अर्थों को निश्चय से कहते । ऐसा शाकटायन मानता है । [किन्तु] नाम और आख्यात के साथ लग कर, कर्म अर्थात् अर्थ-विशेष के द्योतक=प्रकाशक होते हैं ।

भाष्य—कर्म शब्द अर्थ का द्योतक क्यों हुआ, इस में गम्भीर सिद्धान्त है । सृष्टि उत्पत्ति के समय जो देव-कर्म हो रहे थे, उन्हीं से जो पदार्थ उत्पन्न हुए, वे उस कर्म का परिणाम मात्र थे । यथा सूर्य के अश्व, द्युलोक में व्याप्ति के कर्म में उत्पन्न हुए थे । अत वे अश्व व्याप्ति के बोधक हैं । और क्योंकि लोक में होने वाला अश्व, जो पशुरूप है मार्ग को व्याप्त करता है, अत यह भी अश्व है । ये कर्म वैदिक विज्ञान की चरम सीमा हैं ।

---

१. कीलहार्न का संस्करण, भाग १, पृ० ७, पंक्ति २२ ।

निराहुः का अर्थ है निश्चय से कहा। इस का अभिप्राय है कि उपसर्ग अर्थों को कहते तो हैं, पर निश्चय से, स्पष्टता से नहीं कहते।

शकट का तोक (=पुत्र) आचार्य शाकटायन एक महान् वैयाकरण था। वह यास्क से पूर्व अपना व्याकरण रच चुका था। उस में लोक और वेद के शब्दों का अनुशासन था। यह बात भरत मुनि (विक्रम से ३०८० वर्ष पूर्व) से भी लगभग १०० वर्ष पूर्व की अवश्य थी। उस समय लोक-भाषा का भूरि प्रचार था। फिर ईसाई-यहूदी लेखकों का संस्कृत-भाषा-विषयक कल्पित काल-क्रम सर्वथा मिथ्या मत नहीं, तो और क्या है।

उच्चावचाः पदार्था भवन्ति—इति गार्ग्यः। तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्।

अर्थ—ऊंचे और अवच (=निचले) अर्थात् बहुप्रकार के पदार्थों वाले होते हैं, यह गार्ग्य मानता है। तो जो इन में पदार्थ [है] स्पष्टता से कहते हैं ये उसे। नाम और आख्यात के अर्थविकरण को।

भाष्य—शाकटायन कहता है कि—न ··· निराहुः, स्पष्टता से नहीं कहते। गार्ग्य का मत है—प्राहुः। वह बल से कहता है, स्पष्टता से अवश्य कहते हैं। वे उपसर्ग अर्थविकरणम्, अर्थ के सूक्ष्म भेदों को।

गार्ग्य सामवेद का पदपाठकार था। उसके पदपाठ में अनेक सूक्ष्मताएं दिखाई देती हैं।

आ इत्यर्वागर्थे। प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अभीत्याभिमुख्यम्। प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अति सु इत्यभिपूजितार्थे। निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। न्यवेति विनिग्रहार्थीयौ। उदित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। समित्येकीभावम्। व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अन्विति सादृश्यापरभावम्। अपीति संसर्गम्। उपेत्युपजनम्। परीति सर्वतोभावम्। अधीत्युपरिभावम्। ऐश्वर्यं वा। एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः। त उपेक्षितव्याः॥ ३॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

अर्थ—१. आ—यह वरे अथवा इधर के अर्थ मे है। स्कन्दस्वामी के अनुसार सन्निकृष्ट, पास अर्थ मे है।

२. ३. प्र, परा—ये दोनो आ उपसर्ग के अर्थ के विपरीत अर्थ को [कहते हैं।]

४. अभि—यह आभिमुख्य अर्थात् सामने अर्थ को।

५. प्रति—यह इस अभि के विपरीत अर्थ को।

६. ७. अति, सु—ये अभिपूजित (=सम्मानित) अर्थ मे हैं।

८. ९. निर्, दुर्—इन दोनो के विपरीत अर्थात् निन्दा अर्थ को।

१०, ११. नि, अव—विनिग्रह अर्थ वाले है। पकड कर अथवा शासन मे रखने के अर्थ वाले हैं। स्कन्द के अनुसार—निग्रहो नियमनम्। निगृह्णाति, अवगृह्णाति।

१२. उत्—यह इन के विपरीत अर्थ को। अर्थात् शासन से ऊपर।

१३. सम्—यह एकीभाव (=एकत्र होने) अर्थ को।

१४. १५. वि, अप—ये दोनो सम् के विपरीत अर्थ को।

१६. अनु—यह सादृश्य तथा अपरभाव को [कहता है।] स्कन्द के अनुसार—अपरभावः पश्चाद्भावः।

१७. अपि—यह संसर्ग अथवा सम्बन्ध को कहता है।

१८ उप—यह उपजन को कहता है। स्कन्द के अनुसार उपजन का अर्थ उपचय, उपधान और उपकार है।

१९. परि—यह सर्वतोभाव अर्थात् सब ओर होने को [कहता है।]

२०. अधि—यह उपरिभाव को या ऐश्वर्य को [कहता है।]

इस प्रकार उच्च और अवच अर्थों को बल-पूर्वक कहते हैं। वे ध्यान से जानने चाहिए ॥ ३ ॥

भाष्य—यास्क ने यही दिखाया है कि उपसर्गों का अपना अर्थ भी होता है। अत. उस ने प्रत्येक उपसर्ग के सब अर्थ नहीं पढ़े। न ही उस ने उपसर्गों के अर्थ प्रदर्शक मन्त्र पढ़े। यास्क ने गार्ग्य के अनुकूल मत की पुष्टि की है। दुर्गवृत्ति में—एवमुच्चा० से पादान्त तक का पाठ नहीं है। पर लक्ष्मणस्वरूप के

निरुक्त-संस्करण से ज्ञात होता है कि वर्त्तमान काल में उपलब्ध सब कोशों में यह पाठ विद्यमान है ॥ ३ ॥

अथ निपाताः । उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति ।[1] अप्युपमार्थे । अपि कर्मोपसंग्रहार्थे । अपि पदपूरणाः ।

अर्थ—अब निपात । उच्च और अवच अर्थात् अनेक प्रकार के अर्थों में गिरते हैं । कोई उपमा अर्थ मे । कोई कर्म+उपसंग्रह के अर्थ में, अर्थात् विभिन्न अर्थों के जोड़ने में । कोई पद-पूर्ति वाले [होते हैं ।]

भाष्य—यहां अर्थ की दृष्टि से तीन प्रकार के निपात गिने हैं ।

तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति । इवेति भाषायां चान्वध्यायं च । अग्निरिव [ऋ० १० । ८४ । २] इन्द्र इव । [ऋ० १० । १७३ । २] इति ।

नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम् । उभयमन्वध्यायम् ।

नेन्द्रं देवममंसत [ऋ० १० । ८६ । १] इति प्रतिषेधार्थीयः । पुरस्तादुपाचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति ।

दुर्मदासो न सुरायाम् । [ऋ० ८ । २ । १२] इत्युपमार्थीयः । उपरिष्टादुपाचारस्तस्य येनोपमिमीते ।

चिदित्येषोऽनेककर्मा । आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम् । [आचार्यः कस्मात्] आचार्य आचारं ग्राहयति । आचिनोत्यर्थान् । आचिनोति बुद्धिमिति वा । दधि चिदित्युपमार्थे । कुल्माषांश्चिदाहर । इत्यवकुत्सिते । कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति ।

नु इत्येषोऽनेककर्मा । इदं नु करिष्यतीति हेत्वपदेशे । कथं नु करिष्यतीत्यनुपृष्टे । नन्वेतदकार्षीदिति च । अथाप्युपमार्थे भवति ।

वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः । [ऋ० ६ । २४ । ३]

वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः । वयाः शाखाः । वेतेः । वातायना भवन्ति । शाखाः खशयाः । शक्नोतेर्वा ।

अर्थ—उन में से ये चार (इव, न, चित्, नु) उपमा अर्थ में होते हैं । १. इव, यह भाषा में और अनु+अध्याय अर्थात् वेद में । अग्नि के समान । इन्द्र के समान ।

---

१. यस्मान्निपतन्ति पदे तस्मात् प्रोक्ता निपातास्तु ॥ १४ । २१ ॥ भरत नाट्यशास्त्र ।

भाष्य—मनु के साथ अध्याय का अव्ययीभाव समास होकर यहां सप्तमी अर्थ में प्रयोग है। अध्याय पद बहुधा वेद के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा—स्वाध्यायप्रवचने च। तै० उप० १।९॥ वेद में और ब्राह्मण में। उदाहरण के रूप भाषा और वेद दोनों में मिलते हैं।

भाषा—इस भाषा शब्द पर राजवाडे लिखता है—in post-Vedic or classical Sanskrit which, it seems, was spoken in Yaska's day अर्थात् वेदोत्तर काल की वा काव्यों की संस्कृत में।

राजवाडे का कथन असत्य, तर्क विहीन और इतिहास विरुद्ध है। भाषा शब्द से यास्क लोकभाषा का ग्रहण करता है। यह लोकभाषा सदा वेद से विभिन्न रही है। यास्क अतिस्तुतियों के प्रकरण, निरुक्त १३।१ में—अथापि ब्राह्मणं भवति, लिख कर एक लम्बा ब्राह्मण पाठ उद्धृत करता है। उस पाठ का अन्त है—तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति। या च देवानां या च मनुष्याणाम्, इति। अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में भी विद्वान् लोग देवों की वाक् अर्थात् वेदमन्त्रों की वाणी और मनुष्यों की वाक् अर्थात् लोकभाषा को बोलते थे। जब ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में और उस से पहले भी लोक भाषा थी, तो उस को post Vedic कहना बुद्धि की जड़ता अथवा महान् अज्ञान का फल है। निस्सन्देह ईसाई यहूदी पक्षपाती लेखकों के अन्धानुकरण का यह कुपरिणाम है। राजवाडे आदि स्वल्प पठित लोग कभी किसी प्रतिष्ठित वैदिक विद्वान् से इस विषय पर शास्त्रार्थ करते, तो उन को पता लगता कि वेद वाक् कभी भी लोक भाषा नहीं हुई।

कोई कहे कि निरुक्त का यह तेरहवां अध्याय जिस में ये ब्राह्मण-वचन उद्धृत हैं, यास्क प्रणीत नहीं, तो उस को ज्ञात होना चाहिए कि स्कन्द, दुर्ग आदि पुराने निरुक्त वृत्तिकार इस अध्याय को निरुक्त का अङ्ग मानते हैं।[1] स्कन्द इस अध्याय को बारहवें अध्याय के अन्तर्गत मानता था। देखो, स्कन्द भाष्य प्रथम अध्याय, पृ० २८।[2]

देवों में वाक् थी, यह भौतिक पक्ष ही भाषा की उत्पत्ति का एक मात्र तर्क-संगत वैज्ञानिक आधार है।

---

१. देखो, वै० वा० का इतिहास, सन् १९३१, पृ० १६५, १६७।
२. त्रिवेन्द्रम संस्करण।

अर्थ—२. (क) न, यह प्रतिषेध अर्थ वाला है भाषा में, दोनों (उपमा और निषेध) अर्थ में वेद में है। यथा—नेन्द्रं देवम् अमंसत इति। नहीं [आदित्य रश्मियों ने] इन्द्र को (निरुक्त १३ । ४ के अनुसार) देव अथवा दीप्ति देने वाला माना।

भाष्य—इस मन्त्र में आदित्य-रश्मियों की एक माया का कथन है। आदित्य-रश्मियां महद् अण्ड के एक कपाल से कैसे उत्पन्न हुईं, वे सूर्य में कैसे एकत्र हो गईं, सूर्य उन का सदा सृजन और संहार कैसे करता है, इन रश्मियों में प्रकाश की माया क्या है, ये प्रश्न उत्कृष्टतम विज्ञान की चरम सीमा हैं। इन का उत्तर वेद मन्त्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों में ही है। वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान में इन का अधूरा वर्णन है। इन आदित्य रश्मियों ने इन्द्र को अपना देव अर्थात् दीप्ति देने वाला नहीं माना। निरुक्त १३ । ४ के अनुसार यहां इन्द्र का अर्थ आदित्य है। इस आदित्य को रश्मियां अपना दीप्ति कर्त्ता नहीं मानतीं। यह भी रहस्य की बात है। रश्मियां आदित्य से पृथक् उत्पन्न हुई थीं।

अर्थ—प्रतिषेध अर्थ वाला न, पहले प्रयुक्त होता है उसके, जिस का प्रतिषेध करता है।

भाष्य—स्कन्द के अनुसार—उपाचारः प्रयोग उच्यते। उपाचार पद का यह अर्थ अब अधिक प्रसिद्ध नहीं है। न इन्द्रं, में न का प्रयोग इन्द्र पद से पहले हुआ है। अतः यहां प्रतिषेध अर्थ में न है।

उपमा का उदाहरण

अर्थ—(ख) दुष्ट मदवाले [होते हैं], जैसे, सुरा [पीने] पर। [और युद्ध करते है।] यह उपमा अर्थ वाला है। पश्चात् प्रयुक्त होता है उस के, जिस से उपमित होता है।

भाष्य—युद्ध समय में सुरा से दुर्मद होना क्या हीनोपमा है। है यह अपूर्व विधि। अपूर्व विधि और हीनोपमा से निषेध भी अभिप्रेत हो सकता है। भारतीय इतिहास में दुर्मद हुए बिना भी युद्ध हुए हैं। यथा खर और दूषण के साथ राम का युद्ध में सुरा से दुर्मद न होना।

अर्थ—३. (क) चित्—यह अनेक अर्थ वाला है। आचार्य ही यह बताए, यह पूजा अर्थ में है। [आचार्य से अतिरिक्त और कौन बताए। यह आचार्य के विशिष्ट ज्ञान की पूजा है।]

आचार्य कस्मात्—आचार्य क्यो। आचार्य आचार को ग्रहण कराता है। पदार्थों और शास्त्रों के अर्थों का संग्रह करता है। अथवा बुद्धि का संग्रह करता है।

भाष्य—मनु २।१४८ के अनुसार बालक को वही जाति अजरा, अमरा है, जहाँ आचार्य होते हैं।[1] भारतीय ब्राह्मण ही आचार को ग्रहण कराते थे। उन्हीं से अनुशिष्ट बालक संसार भर में मानवता का श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत करते थे।

यह सारा पाठ दुर्ग और स्कन्द के मूल में नहीं है। पर लाहौर संस्करण के अनुसार, आचार्य कस्मात् पाठ निरुक्त के बृहत्पाठ के अन्तर्गत था। तथा अगला पाठ निरुक्त के अन्य सब कोशों में था।

अर्थ—(ख) दधि चित्—यह उपमा अर्थ में है। दधि के समान।

अर्थ—(ग) कुल्माषांश्चित्—कुल्माष=कुलत्थ दाल। कुलत्थ ही ले आ। [और क्या लाएगा।] यह अवकुत्सित अर्थात् बहुत निन्दा अर्थ मे है। कुल्माष कुलों म अर्थात् गुच्छों मे ठहरते हैं।

अर्थ—४. नु—यह अनेक अर्थों वाला [है।]

(क) हेतु के अपदेश=कथन म है। इसी कारण इसे करेगा।

अर्थ—(ख) दूसरी वार पूछने मे है। कैसे करेगा। न, नु नहीं, तो उस ने यह किया। यह भी [दूसरी वार पूछने का प्रकार] है।

अर्थ—(ग) और भी उपमा अर्थ म है। वृक्ष के समान तेरी, हे पुरुहूत=इन्द्र [रक्षाएँ] शाखाएं [चारो ओर फैलती हैं, वया शाखाएं [हैं]। [गत्यर्थ वाले] वेति धातु से। तथा वात से अयन अथवा चालन जिन का [वे शाखाए] होती है। शाखा अर्थात् आकाश मे शयन करने वाली अथवा शक्नोति से।

भाष्य—वया के दो निर्वचन—

१. गत्यर्थक वेति धातु से, अर्थात् आगे आगे आती हैं।

२. वा+आ+ता+य+म+ा। यहां मूल वया शब्द के अर्थ को समझने के लिए व के आगे आ+ता का और य के आगे आ का आगम मान लिया गया है।

---

१ तथा शान्तिपर्व १०८। १६॥

इन्द्र की शाखाएं कैसी हैं । इन्द्र मध्यमस्थानी देवता है। वह वायु से आवेष्टित वैद्युत् अग्निः का रूप है। उसका शाखा-जाल अन्तरिक्ष में फैला है। अतिस्तुति में इन्द्र परमात्मा है और उसकी कल्याणमयी शाखाएं हैं। अन्तरिक्षस्थ वयाः के मध्य में से वात के मार्ग बने हैं। ये ही वातायन कहाते हैं। उन्हीं के साधर्म्य वाले ये पृथिवीस्थ वृक्ष और उन की शाखाएं हैं।

अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात्स कर्मोपसंग्रहः।

चेति समुच्चयार्थः। उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते। अहं च त्वं च वृत्रहन् [ऋ० ८। ६२। ११] इति। एतस्मिन्नेवार्थे।

देवेभ्यश्च पितृभ्य आ। इत्याकारः।

वेति विचारणार्थे।

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा। [ऋ० १०। ११९। ९]—इति।

अथापि समुच्चयार्थे भवति ॥४॥

वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा। [य० ९। ७]—इति।

अर्थ—अब [वह निपात] जिसके [किसी समास के दो वा अधिक भागों में] आगम से अर्थ का पृथक्त्व अह अर्थात् निश्चय से पृथग्भाव जाना जाता है, नहीं अलग औद्देशिक के समान, प्रत्युत समास के विग्रह से जाना जाता है, वह कर्म=अर्थ का उपसंग्रह=समुच्चायक होता है।

चेति समुच्चयार्थः—

अर्थ—५. च यह समुच्चय अर्थ वाला है, दोनों पदों से भले प्रकार युक्त होता है। मैं और तू, हे वृत्र के मारने वाले [संयुक्त=संगत हो जाएं, उद्देश्य के प्राप्त होने तक।]

भाष्य—घोर-पुत्र प्रगाथ ऋषि की यह ऋचा है। अङ्गिराः के आठ पुत्रों में से घोर एक है। अङ्गिराः आग्नेय परमाणुओं का योग-विशेष है। उस का पुत्र घोर और तत्पुत्र प्रगाथ भी आग्नेय परमाणुओं के योग के उत्तरोत्तर रूप हैं। उस प्रगाथ रूप और इन्द्र के संयोग से जो साफल्य सृष्टि-निर्माण समय हुआ, उसी का कथन इस ऋचा में है। यह प्रगाथ भी मध्यमस्थानी है। लोक में भी

अङ्गिरा, घोर और प्रगाथ साम वेद ला लेकर[1] ऋषि परिवार में रखे गए। इस प्रगाथ ने भी इन्द्र की स्तुति की।

६ इसी समुच्चय अर्थ में—[जो अग्नि कव्यवाहन=पित्र्य अन्न का प्रेरक है, पितरों का यज्ञ करे, जो ऋत=दिव्य उदकों को बढ़ाता है, वही हव्यों=देवान्नों को वहना है] देवों के लिए और पितरों के लिए भी। अर्थात् च [अर्थ में है।] यह आकार है।

भाष्य—पितर अन्तरिक्षस्थ प्राण विशेष हैं। उनके लिए कव्य का प्रेरक अग्नि है। मन्त्र में दो अग्नि पद बताते हैं कि यह अग्नि भी अग्निविशेष है। यह अग्नि देवान्नों को भी वहता है। राजवाडे ने आयंवेदीय सकल मन्त्रपाठ में कव्यवाहन पद (पृ० २३०) मान कर अर्थ किया है—offerings of meat. दुर्ग और स्कन्द ने कव्य का अर्थ कव्य ही किया है। मन्वादि में पितरों का अन्न कव्य ही है।

७ वा—वा यह विचारणा अर्थ में है।

अर्थ—अहो, मैं इस पृथिवी को रखूं यहां [अन्तरिक्ष में] वा=अथवा यहां [द्युलोक में]।

भाष्य—यह इन्द्र पुत्र लव अथवा लवरूप इन्द्र का कथन है। अन्तरिक्षस्थ इन्द्र का पुत्र लव क्या है, अथवा लवरूप इन्द्र क्या है यह गम्भीर रहस्य जानने योग्य है। जब पृथिवी आदि लोक अपनी अपनी राशियों में स्थापित किए जा रहे थे, तब ऐन्द्र लव ने द्युलोक से उतरे सोम के योग से यह दशा उत्पन्न की। यह पृथिवी तब कहीं भी रखी जा सकती थी। पर वह सम्प्रत वर्तमान स्थिति में स्थापित की गई।

अर्थ—और भी, वा समुच्चय अर्थ में होता है। और वायु तुझे और मनु तुझे [और २७ गन्धर्व तुझे, हे अश्व इस रथ में जोड़ते हैं।]

भाष्य—वाजपेय यज्ञ में इस मन्त्र का विनियोग है। वाजपेय यज्ञ किस दैवी यज्ञ का प्रतिरूप है, यह मुझे ज्ञात नहीं। पर यह ज्ञात है कि द्युलोक में

---

१ चदशब्देभ्य एवादौ। मनु १। २१ ॥ वैदिकविद्याविहीन अज्ञानी पाश्चात्य लेखक मनु के इस परम सगत मत पर उपहास करते हैं।

सूर्य आदि के रथ अश्वयुक्त चलते हैं। उन में से एक अश्व को वायु, मनु और २७ गन्धर्वों ने रथ में युक्त किया। दिव्य गन्धर्व सूर्यरथ भी हैं। (यजुः २० । १॥)

अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण संप्रयुज्येते । अयमहेदं करोत्वयमिदम् । इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यतीति ।

अर्थ—८, ९ अह और ह, ये दोनों अलग करने अर्थ वाले हैं। [साथ बोले दो पदों में से] पहले पद के साथ जुड़ते हैं। यह [राम] ही यह करे। यह [कृष्ण] यह [करे]। यह काम ही [राम] करेगा। यह काम नहीं करेगा।

अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण । मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते वदन्तीति ।

अथापि पदपूरणः । इदमु । तदु ।

हीत्येषोऽनेककर्मा । इदं हि करिष्यतीति हेत्वपदेशे । कथं हि करिष्यतीत्यनुपृष्टे । कथं हि व्याकरिष्यतीत्यसूयायाम् ।

किलेति विद्याप्रकर्षे । एवं किलेति । अथापि नु ननु इत्येताभ्यां सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे । न किलैवम् । ननु किलैवम् ।

मेति प्रतिषेधे । मा कार्षीः । मा हार्षीरिति च ।

खल्विति च । खलु कृत्वा । खलु कृतम् । अथापि पदपूरणः । एवं खलु तद् बभूवेति ।

शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् । शश्वदेवमित्यनुपृष्टे । एवं शश्वदित्यस्वयं पृष्टे ।

नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् । उभयमन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च ।

अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार । स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे ॥ ५ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अर्थ—१० उ—और उ भी इस ही [अलग करने] अर्थ में है। पर उत्तर पद के साथ [जुड़ता है ।] झूठ [नीच मनुष्य] बोलते हैं। सत्य ही वे [सत्पुरुष] बोलते हैं।

और उ पदपूरक है। यथा—इदम् उ। तत् उ।

११ हि यह अनेक अर्थों वाला है।

(क) इस कर्म को इस कारण, करेगा। यह हेतु के कथन में है।

(ख) कैसे करेगा, यह अनुप्रश्न अर्थात् दूसरी बार पूछने के अर्थ में है।

(ग) कैसे हि बताएगा, यह निन्दा अर्थ में है।

भाष्य—हि के तीन अर्थ कहे हैं। (ग) का अभिप्राय है, नहीं बता सकता।

अर्थ—१२ किल, यह विद्या के प्रकर्ष=अतिशय में। इस प्रकार नि:सन्देह।

भाष्य—स्कन्द ने यहां लौकिक उदाहरण दिया है—जघान कंसं किल वासुदेवः। यह उदाहरण व्याकरण महाभाष्य में भी है। मारा कंस को नि:सन्देह वसुदेव के पुत्र कृष्ण ने।

अर्थ—और भी [किल निपात] नु और ननु इन दोनों के साथ जुड़ता है दूसरी बार पूछने के अर्थ में। नहीं क्या ऐसा। तो क्या ऐसा हुआ।

अर्थ—१३ मा यह प्रतिषेध [अर्थ] में। मत कर मत ले जा, यह भी।

१४ खलु यह भी [निषेध अर्थ में है।] खलु कृत्वा, न करके, खलु कृतम्, नहीं किया।

अर्थ—और भी खलु पदपूरण अर्थ में है। ऐसा वह हुआ।

१५ शश्वत् (क) यह संशय अर्थ वाला है, भाषा में=लौकिक भाषा में।

(ख) हैं ऐसें, यह दूसरी वार पूछने में ।

(ग) इस प्रकार ही । यह विना अपने पूछे ।

१६. नूनं यह संशय अर्थ वाला है, लोक भाषा में । दोनों प्रकार के अर्थ में अन्वध्याय अर्थात् वेद में, संशय अर्थ में और पदपूरण भी ।

अर्थ—अगस्त्य ने इन्द्र के लिये हवि. निकाल कर मरुतों के लिये देने की इच्छा की । उस इन्द्र ने आकर क्रोधपूर्वक विलाप किया ।

भाष्य—यास्क की शास्त्रशैली पर यहां राजवाड़े का आक्षेप है—

पूर्व पक्ष—Many things in these two sections are uncalled for, for they refer to the idiom (p. 239) of Yāska's day and not to the Vedas to which the Nirukta must refer to justify its composition.

अर्थात्—निरुक्त के इन दो खण्डों में अनेक बातें अप्रासंगिक हैं, क्योंकि यास्क ने निपातों के अर्थ-प्रदर्शन में अपने समय की भाषा से उदाहरण दिये हैं और वेदों से नहीं । निरुक्त की रचना में वेदों के उदाहरण अपेक्षित हैं । इति ।

उत्तर पक्ष—यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो यह आक्षेप वृथा है । इस खण्ड में उभयम् अन्वध्यायं, लिख कर यास्क ने यह स्पष्ट कर दिया है कि निपातों में जहां वैदिक उदाहरण नहीं दिये गए, वहां विस्तरभय से ऐसा नहीं किया गया । लोक में प्रचलित अर्थ ही मन्त्रान्तर्गत निपातों के भी हैं और जहां भेद था, उसी का संकेत अभिमत था, तदर्थ उभयमन्वध्यायं लिखा गया । मन्त्रों से उदाहरण बहुत अधिक स्थान घेरते ।

इतिहास का अभाव—इस प्रसङ्ग में रामायणादि में वर्णित अगस्त्य नामक ऋषि का उल्लेख नहीं है । यह तथ्य राजवाड़े को भी मानना पड़ा । वह लिखता है—अगस्त्य in the sūkta is not the name of the celebrated sage; it appears to be an appellation of Indra.

अर्थात्—इस सूक्त में अगस्त्य नाम इतिहास-प्रसिद्ध ऋषि का नहीं है। यह इन्द्र का एक नाम अथवा उपाधि प्रतीत होता है ।

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम् ।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति ॥
[ऋ० १।१७०।१]

न नूनमस्त्यद्यतनम् । नो एव श्वस्तनम् । अद्यास्मिन्द्यवि । द्युरित्यह्नो नामधेयम् । द्योतत इति सतः । श्व उपाशंसनीयः कालः । ह्यो हीनः कालः । कस्तद्वेद यदद्भुतम् । कस्तद्वेद यदभूतम् । इदमपीतरदद्भुतमभूतमिव । अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यम् । अभिसंचारि । अन्यो नानेयः । चित्तं चेततेः । उताधीतं विनश्यतीति [अध्याध्यातं विनश्यति । आध्यातम् । अभिप्रेतम् ।]

अथापि पदपूरणः ॥ ६ ॥

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के अन्तिम २६ सूक्तों का ऋषि अगस्त्य है । इस ऋषि का नाम (१ । १७० । ३) मन्त्रगत अगस्त्य पद के अनुकरण पर है । मन्त्रगत अगस्त्य मैत्रावरुण है । इस १७० सूक्त के अनुसार अगस्त्य, इन्द्र और मरुत तीनों भाई हैं । वे मध्यस्थानी हैं । सम्भव है अगस्त्य नामक तारा ही अगस्त्य हो । उन्हीं तीनों की रहस्यमय घटनाओं का वर्णन इस सूक्त में है । ये रहस्य ही वेद की अपौरुषेयता के प्रमाण हैं । मनुष्य जन्म में बहुत-बहुत पूर्व की इस दैवी भाषा का पूर्ण सत्य वर्णन वेद के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है ।

अर्थ—नहीं निश्चय है [आज की हवि] नहीं कल की । कौन उसे जानता है, जो अभूत है । दूसरे का चित्त चलायमान है, ध्यान किया हुआ भी नष्ट हो जाता है ।

न नूनमस्त्यद्यतनम्

नहीं निश्चय है आज की । नहीं ही कल की । अद्य—अ-द्य । आज की । अ=अस्मिन् द्य=द्यवि । द्यु यह अहः का नामधेय है । चमकता है—[रश्मियों के सम्बन्ध में] इस प्रकार कर्तृकारक से । श्वः=उपाशंसनीय अर्थात् आशा करने योग्य काल । ह्यः=हृयः अर्थात् हीन, नष्ट हुआ काल । कौन उसे जानता है, जो नहीं हुआ है । यह भी दूसरा अद्भुत पद अभूत के समान ही होता है । दूसरे का चित्त इधर-उधर संचार वाला (=जाने वाला) होता है । अन्य=अ-न्य अर्थात् न आनेय । नहीं लाने योग्य । चित्त पद चेतति धातु से है । और सब ओर से ध्यान किया गया भी अथवा सोचा हुआ भी नष्ट हो जाता है । आध्यानम्=अभिप्रेतम् ।

भाष्य—द्यु शब्द अहन् (=दिन) का पर्याय है। द्यु-लोक चमकता है और अहन् भी चमकता है। द्यु-लोक में रश्मियां स्थिर रहती हैं। पर अहन् रश्मियोग से चमकता है। सार्य से अहन् समाप्त हो जाता है, क्योंकि सूर्य अपनी रश्मियों का संहार कर लेता है। रश्मि-सृजन और संहार-आदि की विद्या आधुनिक वैज्ञानिकों में नहीं है। श्वः के श से शंसनीय पद, या आशंसनीय, न लिख कर उपाशंसनीय क्यों लिखा, यह अन्वेष्टव्य है। अब निर्वचन विद्या का उत्कर्ष देखिये। अन्य का अर्थ है, जो अपने पास न लाया जा सके। यह अर्थ कैसे बताया जाए। यास्क ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा बताया, न्यः में आनेयः का भाव है। जब देवों ने अन्य पद की ध्वनि उत्पन्न की, तो दूसरा पदार्थ समीप नहीं लाया जा सकता था। वस्तुतः उस ध्वनि अथवा शब्द में उक्त अर्थ सन्निहित था।

अथापि—पदपूरणः ॥ ६ ॥

और ननु, यह पदपूरण [भी होता है]।

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी ।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥
[ऋ० २ । ११ । २१ ॥]

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे। वरो वरयितव्यो भवति। जरिता गरिता। दक्षिणा। मघोनी मघवनी। मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः। दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः। व्यृद्धं समर्धयतीति। अपि वा प्रदक्षिणागमनाद् दिशमभिप्रेत्य। दिग्घस्तप्रकृतिः। दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणः। दाशतेर्वा स्याद् दानकर्मणः। हस्तो हन्तेः। प्राशुर्हनने। देहि स्तोतृभ्यः कामान्। मास्मानतिदंहीः। मास्मानतिहाय दाः। भगो नोऽस्तु। बृहद्वदेम स्वे वेदने। भगो भजतेः। बृहदिति महतो नामधेयम्। परिवृढं भवति। वीरवन्तः। कल्याणवीरा वा। वीरो वीरयत्यमित्रान्। वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। वीरयतेर्वा।

अर्थ—वह तेरी, प्रार्थित अर्थ को स्तोता के लिये (प्रति-दुहीयत्) पलटे में दे, हे इन्द्र, दक्षिणा, जो धनवती है। (शिक्ष) दे, स्तोताओं के

लिए। मत (अति धातु) हमें त्याग कर अन्यों को दे। भग=धन हमारा हो। महान् हम होवें। यज्ञ में, श्रेष्ठ वीरों वाले।

यह तेरी पलटे में दें, वर अथवा प्रार्थित अर्थ को, स्तोता के लिए। वर=वरने वाला होता है। जरिता=गरिता स्तुति करने वाला। राजवाड़े लिखता है—Yaska thinks that गरिता was changed into जरिता। यह सर्वथा असत्य है। यास्क तो जरिता का अर्थ गरिता=स्तुति करने वाला है, बताता है। एक पद का दूसरे पद में परिवर्तन नहीं हुआ। दोनों स्वतन्त्र पद हैं। दक्षिणा मघवाली। यह धन का पर्याय है।

मंह से, दान अर्थ वाले से [यह मघ शब्द सम्बन्ध रखता है।] दक्षिणा दक्षति=समृद्धि अर्थ वाले से है। [व्यृद्ध=वि+ऋद्ध] यज्ञ कर्म की न्यूनता को अर्थात् विगत-ऋद्धि को समृद्ध करती है। अथवा प्रदक्षिण जाने से, दिशा को अभिप्रेत करके। दिशा हस्त प्रकृति वाली [होती है,] हस्त है मूल जिस का। [सूर्याभिमुख खड़ा होने से] दक्षिण हाथ, दक्षिण दिशा [में होता है।] दक्षिण हाथ दक्षति=उत्साह अर्थ वाले से है। अथवा दानति दान अर्थ वाले से है। हस्त हन्ति धातु से है, शीघ्र मारने में। दो, स्तुति करने वालों के लिए कामनाओं को। मत हमें उल्लघन करके दो। [पहले हमें दो, पश्चात् दूसरों के लिये।] ऐश्वर्य=धन हमारा हो। बहुत हम कहें [आओ, जाओ] अपने यज्ञ में। भग भजति धातु से है। बृहत् यह महत् का नाम है। सब ओर से वृद्धि वाला होता है। वीरों वाले अथवा अच्छे वीरों वाले। वीर=वि+ईर, नाना प्रकार से परे फेंकता है, अथवा प्रेरित करता है (अमित्रान्) शत्रुओं को। अथवा वेति से हो सकता है, गति अर्थ वाले से। [जाता है, शत्रुओं के सामने।] अथवा वीरयति से है।

भाष्य—दुर्ग मघवती का अर्थ लिखता है—हिरण्यधान्यादिधनैन संयुक्त। इन्द्र हिरण्य और धान्यादि धन दक्षिणा में कैसे देता है। इन्द्र मध्यमस्थानी देवता है। इस मध्यम स्थान में—मध्यमोऽग्निरेनस्पतिः। (बृहद्देवता १। ६६) है। इस वनस्पति अग्नि से इन्द्र धान्यवान् है। इसी वनस्पति अग्नि का पृथिवीस्थ वानस्पत्य अग्नि से सम्बन्ध है। यहाँ भी निर्वचन की विचित्र छटा है। प्रत्येक निर्वचन अर्थ का संकेत करने में समर्थ है। यास्क से बहुत-बहुत

पूर्व भी धातुओं के अर्थ स्पष्ट ज्ञात थे। पाणिनि ने उन में से अपने अभीष्ट धातु एकत्र कर लिए।

सीमिति परिग्रहार्थीयो वा। पदपूरणो वा।

प्र सीमादित्यो असृजत् ॥ [ऋ० २। २८। ४ ॥]

प्रासृजदिति वा। प्रासृजत्सर्वत इति वा।

वि सीमतः सुरुचो वेन आवः। [य० १३। ३] इति च।

व्यवृणोत्सर्वत आदित्यः। सुरुच आदित्यरश्मयः। सुरोचनात्। अपि वा सीमित्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमीकर्माणम्। सीम्नः सीमतः सीमातो मर्यादातः। सीमा मर्यादा। विषीव्यति देशाविति।

अर्थ—१७. सीम, यह निपात सब ओर से ग्रहण अर्थ वाला [होता है] अथवा पदपूरक भी होता है। आदित्य ने चारों ओर से ग्रहण-कर्तृ [रश्मियों को] प्रकर्ष से उत्पन्न किया। अथवा सब ओर से उत्पन्न किया। (सीमतः) सब ओर से (सुरुचः) अच्छी रश्मि वाले सूर्य ने किरणों को खोला। सुरुचः, आदित्य रश्मियां हैं। भले प्रकार चमकने से। अथवा सीमत् यह निपात अनर्थक (उपबन्ध)=प्रत्यय को ले लेता है पञ्चमी अर्थ वाले [प्रत्यय को।] सीम्नः=सीमतः=सीमातः अर्थात् मर्यादा से। सीमा मर्यादा [है।] पृथक् करती है, दो सिए हुए=जुड़े हुए देशों को।

भाष्य—सुरुचः व्यवृणोत्—किरणों को खोला, परदे को हटाया। सुरुचः विशेष प्रकार की किरणें। किरणों का खोलना किस प्रकार से होता है, इस का व्याख्यान तैत्तिरीय ब्राह्मण १। ५। १० में है—

स समुद्र उत्तरतः प्राज्वलद् भूम्यन्तेन।......स सुवर्णरजताभ्यां कुशीभ्यां परिगृहीत आसीत्। तं यदस्या अध्यजनयन्। तस्मादादित्यः। अथ यत्सुवर्णरजताभ्यां कुशीभ्यां परिगृहीत आसीत्। साऽस्य कौशिकता।............। ते कुश्यौ व्यभवन्। ते अहोरात्रे अभवताम्। अहरेव सुवर्णाऽभवत्। रजता रात्रिः। स यदादित्य उदेति। एतामेव तत्सुवर्णां कुशीमनु समेति। अथ यदस्तमेति। एतामेव कुशीमनु संविशति।

अर्थात्—वह समुद्र [जहां से प्रजापति द्वारा स्थापित इन्द्र प्रकट होता है] उत्तर से प्रकट हुआ। ... ...। [उस समय] वह इन्द्र सुवर्ण और रजत कोशों से[1] सब ओर [illegible] गृहीत उत्पन्न हुआ। उस इन्द्र को जो इस [अदिति = पृथिवी] के ऊपर प्रकट किया, इसी कारण वह [इन्द्र] आदित्य हुआ। यही इस इन्द्र की कौशिकता है। वह दोनों कुशियां = कोश पृथक्-पृथक् हुए। वे अहोरात्र हुए। वह ही सुवर्णा हुई। रजता रात्रि [हुई।] वह जब आदित्य उदय होता है। इस ही सुवर्णा कुशी के अनुकूल होता है। फिर जब अस्तता को प्राप्त होता है, इस [illegible] कुशी में अनुप्रविष्ट होता है। इसी अभिप्राय से ऐतरेय ब्राह्मण ३। [illegible] में प्रवचन है—

स वा एष [आदित्यः] न कदाचनास्तमेति नोदेति। ... ...

अर्थात्—निश्चय से यह आदित्य नहीं कभी अस्त होता, न उदय होता। ... । वह अहन् के अन्त में प्राप्त होकर अपने आप को विपर्यस्त करता है। इति।

यह प्राच्य विपर्यास विज्ञान का उत्कृष्टतम स्थान है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के उद्धरण में निर्दिष्ट इन्द्र मध्यमस्थानी प्रतीत नहीं होता।

वस्तुतः अह और रात्रि अति सूक्ष्म पदार्थ हैं। इन से सूर्य आवृत है। ये दोनों सौम्य और आग्नेय परमाणुओं के योग का फल है। इन्हीं से आगे संवत्सर बना है। इसी लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में—अग्निः संवत्सरः। शां० १०। १२। १०, संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः। ऐ० आ० १। ४ ऐसे प्रवचन हैं।

यह विद्या आज संसार से लुप्त है। योरोपीय लोग इस सूर्य विद्या के समीप नहीं पहुंचे। अतः हम योरोप और अमेरिका के वैज्ञानिकों के भय से इस विद्या से मुख नहीं मोड़ सकते। योरोप का विज्ञान अल्पतर और अधूरा है। वैदिक ज्ञान आर्ष, अतः पूर्ण सत्य है।

इसी रात्रि के कोश में से आदित्य अपनी किरणों को भले प्रकार खोलता है। निरुक्त पढ़ने वालों को वैदिक पक्ष सर्वथा ज्ञात होना चाहिए।

---

१ यदि कुशावाला अर्थ होता तो पद-रूप कुशिभ्यां होता।

त्व इति विनिग्रहार्थीयम् सर्वनामानुदात्तम् । अर्धनामेत्येके ॥ ७ ॥

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥
[ऋ० १० । ७१ । ११ ॥]

इति । ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे । ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होता । ऋगर्चनी । गायत्रमेको गायति शक्वरीषूद्गाता । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः । शक्वर्य ऋचः शक्नोतेः । तद्यदाभिर्वृत्र-मशकद्धन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम् । इति विज्ञायते । ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति । ब्रह्मा सर्वविद्यः । सर्वं वेदितुमर्हति । ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः । ब्रह्म परिवृढं सर्वतः । यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युः । अध्वर्युरध्वरयुः । अध्वरं युनक्ति । अध्वरस्य नेता । अध्वरं कामयत इति वा । अपि वाधीयाने युरुपबन्धः । अध्वर इति यज्ञनाम । ध्वरतिर्हिंसाकर्मा । तत्प्रतिषेधः ।

१८. अर्थ—त्व यह पृथक् करना, इस अर्थ वाला सर्वनाम अनुदात्त है । आधे का नाम है, यह कई एक [आचार्य मानते हैं ।] ऋचाओं की पुष्टि को पुष्ट करने वाला एक [ऋत्विक् यज्ञ में] बैठता है । गायत्र को [ऋत्विक्] गाता है, शक्वरी=ऋचाओं पर । ब्रह्मा एक बोलता है जातविद्या को । यज्ञ की मात्रा (=सूक्ष्म स्थिति) को विशेष बनाता है एक ।

यह [ऋचा] ऋत्विजों के कर्मों के विनियोग को कहती है । ऋचाओं के एक पोषण को बैठता है, पुष्टि करता हुआ । [यह] होता [है ।] ऋक्=अर्चनी है अर्थात् स्तुति वाली है । गायत्र को एक गाता है शक्वरी= ऋचाओं पर, उद्गाता । गायत्र गायति [धातु] से है, स्तुति अर्थ वाले से । शक्वरी ऋचाएं हैं शक्नोति [धातु] से ।

तो जो इन [ऋचाओं] से वृत्र को समर्थ हुआ मारने को, वही शक्वरियों का शक्वरीपन है । यह विशेष जाना जाता है । ब्रह्मा एक उत्पन्न होने पर, उत्पन्न होने पर [कर्म के], विद्या को कहता है । ब्रह्मा सारी विद्या वाला, सब जानने को योग्य है । ब्रह्मा सब ओर से बढ़ा हुआ, वेद से अथवा

भूत-जात से। ब्रह्मा सब ओर से बढ़ा। यज्ञ की मात्रा=इयत्ता को विशेष बनाता है एवं अध्वर्यु। अध्वर्यु=अध्वरयु, अध्वर=यज्ञ को जोड़ता है। यज्ञ का नेता [है।] अथवा यज्ञ की कामना करता है। अथवा (अधीयाने) पढ़ने वाले के अर्थ में यु प्रत्यय है। अध्वर यह यज्ञ नाम है। ध्वरति, हिंसा अर्थ वाला [है।] उसका प्रतिषेध है।

भाष्य—आधा अर्थ में यह त्व सर्वनाम नहीं है। यदि सर्वनाम है, तो निपातों में इस की गणना क्यों है। यास्क ने कुछ प्राचीन आचार्यों का पक्ष दिखाने के लिए इसे निपातों में पढ़ा है।

शक्करी पद का निर्वचन ब्राह्मण पाठ से स्पष्ट किया गया है। जब सृष्टि बन रही थी जब पृथिवी पर मनुष्य आदि की सृष्टि नहीं हुई थी, जब पृथिवी कल्वाली-कृता अथवा खल्वा अथवा लोम रहिता=गंजी थी, उस समय जो वृत्र अर्थात् महामेघ इस पृथिवी से द्युलोक तक फैला हुआ था, उस समय वृत्रवध के लिए इन्द्र की सहायता में ये ऋचाएं आकाश में उच्चरित हो रही थीं। स्वयं देवों द्वारा इन की दैवी वाक् अपने छन्द (vibrations) उत्पन्न कर रही थी। तब इन्द्र इन की सहायता से वृत्र के छिन्न भिन्न करने में समर्थ हुआ। यह सामर्थ्य ही इन का शक्करीपन है।

इति विज्ञायते—कल्पसूत्रों और निरुक्त आदिकों में इति विज्ञायते पद लिख कर ब्राह्मण-वचन उद्धृत किए जाते हैं। वे वचन ब्राह्मण ग्रन्थ में हों, या संहिता के ब्राह्मण पाठ में। राजवाड़े लिखता है—इति विज्ञायते is used after a quotation from a Veda or a Brahmana यह भ्रान्त कथन है। हम ने वेद-मन्त्र के उद्धरण के अन्त में यह पाठ कहीं नहीं देखा। इति विज्ञायते का अर्थ है, यह विज्ञान से जाना जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ विज्ञान पूर्ण हैं।

जातविद्या पद के विषय में राजवाड़े लिखता है—I venture to say that the original word was जातवेद। यह अनुमान व्यर्थ है। वह वेद के पाठ को नहीं समझा।

जातविद्या इस समस्त पद का जाते जाते विद्या विग्रह है। यज्ञ में महती विद्या निहित है। उसके प्रत्येक कर्म में किसी एक विद्या का प्रकाशन है। ब्रह्मा उस प्रत्येक विद्या को जानने वाला होता है। पशु विशेष में शर्करा क्यों रखी जाती है,

इस विद्या का प्रकाश ब्रह्मा करता है। वह सर्ववित् होता है। ऐसे सहस्रों ऋत्विक् =ब्रह्मा आदि इस देश के इतिहास में हो चुके हैं। उन के रहते राथ और मैकडानल आदि ईसाई-यहूदी पाश्चात्य लेखकों का मिथ्या-भाषण, कि भारत में यास्कादि के काल में वेदार्थ संदिग्ध हो चुका था, सर्वथा लज्जा का स्थान है। वेद का ज्ञान सब ओर से बढ़ा है। यह परम विज्ञान है।

अध्वर—महाभारत काल से बहुत पूर्व के देवलकृत धर्मसूत्र में यजुर्वेद को अध्वरवेद नाम से स्मरण किया है।[1] वस्तुतः यज्ञ का वेद यजुर्वेद है। इस यज्ञ में अति प्राचीन काल में हिंसा नहीं होती थी। पशुयज्ञों का पुरा काल का नाम पशुबन्ध है, पशुवध नहीं। यज्ञ में पशु-हिंसा बहुत उत्तर काल में चली है।

निपात इत्येके। तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्। दृष्टव्ययं तु भवति।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः [ऋ० १०।७१।५] इति द्वितीयायाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे [ऋ० १०।७१।४] इति चतुर्थ्याम्।

अथापि प्रथमाबहुवचने ॥ ८ ॥

अर्थ—(त्व पद) निपात है, यह अनेक [मानते हैं। वे कहते हैं—] तो कैसे अनुदात्त प्रकृति वाला नाम [पद] हो। [यास्क का उत्तर है—] देखे गए व्यय [नाम के विभिन्न रूपों] वाला होता है।[2] यथा—और (त्वं) एक को मित्रता में स्थिरपीत—दृढ़ पीने वाला कहते हैं।[3] यह द्वितीया विभक्ति में [प्रयोग है।]

और एक के लिये आत्मीय शरीर को [वाणी] विविध प्रकार से खोलती अथवा प्रकाशित करती है।[4] यहां चतुर्थी विभक्ति में [प्रयोग है।]

और भी—प्रथमा के बहुवचन में [भी प्रयोग है—]

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥
[ऋ० १०।७१।७]

---

१. देखो, वै० वा० इ० भाग प्रथम, द्वि० सं०, पृ० २४८।

२. यह अव्यय नहीं है। ३. इस का व्याख्यान आगे १।२० में देखें।

४. इस का व्याख्यान आगे १।१९ में देखें।

अर्थ—आखो वाले कानो वाले सखा [छात्र] मन के वेगो मे असमान हुए=होते हैं । मुख परिमाण तक जल [पञ्चायों मे—कक्ष] परिमाण तक एक ह्रदो के समान स्नान योग्य दिखाई देते हैं ।

अक्षिमन्त कर्णवन्त सखाय । अक्षि चष्टे । अनक्तेरित्याग्रायण । तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवत इति ह विज्ञायते । कर्णं कृन्तते । निकृत्तद्वारो भवति । ऋच्छतेरित्याग्रायण । ऋच्छन्तीव खे उद्गन्ताम् इति ह विज्ञायते । मनसा प्रजवेष्वसमा बभूवु । आस्यदघ्ना अपरे । उपकक्षदघ्ना अपरे । आस्यमस्यते । आस्यन्दत एनदन्नमिति वा । दघ्न दघ्यते स्रवतिकर्मण । दस्यतेर्वा स्यात् । विदस्ततर भवति । प्रस्नेया । ह्रदा इवैके ददृशिरे । प्रस्नेया स्नानार्हा । ह्रदो ह्रादते शब्दकर्मण । ह्रादतेर्वा स्याच्छीतीभावकर्मण ।

अर्थ—आखो वाले कानो वाले सखा [छात्र ।] अक्षि चष्टि से है । अनक्ति से, यह आग्रायण [कहता है ।] इसलिए ये दोनो [नेत्र शरीर के अन्य अङ्गो की अपेक्षा अधिक] स्पष्ट के समान हैं । यह निश्चय से ब्राह्मण ग्रन्थ का विज्ञान है ।

कर्ण कृन्तति से है । छिदे हुए द्वार वाला होता है । ऋच्छति से है यह आग्रायण [कहता है ।] जाते हुए के समान आकाश मे ऊपर को शरीर के अधोभाग से । यह निश्चय से विज्ञान से जाना जाता है । मन के विशेष वेगो से असमान हुए । मुखपरिमाण वाले एक प्रकार [के छात्र] वक्ष के समीप परिणाम वाले दूसरे । आस्य पद अस्यति से है । बहता है, द्रवीभूत होता है, [शुष्क भी] यह अन्न अथवा । दघ्न-परिमाण दघ्यति से है स्रवति अर्थ वाले से । दस्यति से अथवा है, क्षीणतर होता है । बहुत स्नान करने योग्य ह्रद=बहुत उदक वाले तडागो के समान कई एक दीखते हैं । बहुत स्नान करने योग्य, स्नान योग्य । ह्रद ह्रादति से है शब्द अर्थ वाले । ह्रादति से अथवा है शीतीभाव अर्थ वाले से ।

भाष्य—यह ऋचा ऋग्वेद १० । ७१ । ७ है । इस का ऋषि बृहस्पति और देवता ज्ञान है । इस कारण आचार्यों ने इस का अर्थ ज्ञान उपलब्ध करने करने वाले छात्रों में घटाया है ।

यास्क का मत है कि व्याकरण सीमाबद्ध है । अत उस के नियमों के अपवाद भी होते हैं । इस विषय में वास्तविक प्रमाण वेद के प्रयोग-विस्तार का

है । वेद में त्व पद दृष्टव्यय अर्थात् स्पष्ट दिखने वाले विभिन्न रूपों में है । अतः यह नाम भी है ।

आगे अक्षि और कर्ण शब्दों के दो-दो निर्वचन हैं। दूसरा निर्वचन आग्रायण के ग्रन्थ से है । इस दूसरे निर्वचन में ब्राह्मण ग्रन्थों के पाठों का प्रमाण है ।

अक्षि चष्टे = देखने से है, तथा अनक्तेः = अत्यन्त व्यक्तता अथवा स्पष्टता से है । अक्षि अन्य सब शरीराङ्गों से व्यक्ततर है । इसी में नायन-रश्मियां हैं । इन्हीं के कारण सब दर्शन होता है। नायन-रश्मियों का ज्ञान योरोपीय विद्याओं में नहीं है । यास्क ने दो निर्वचन अक्षि के दो गुणों के कारण दिखाए हैं। कर्ण पद के दो निर्वचन भी कर्ण के निकृत्तद्वार होने, और ऊपर उठा होने के कारण से हैं । आस्य पद के दो निर्वचन भी अपनी सूक्ष्मता लिए हैं ।

अग्र का अपत्य आग्रायण था ।

अथापि समुच्चयार्थे भवति । पर्याया इव त्वदाश्विनम् । [कौषीतकि ब्रा० १७ । ४] आश्विनं च पर्यायाश्च इति ।

१९. अर्थ—और [यह अगला त्वत् निपात] समुच्चय अर्थ में भी होता है । [उदाहरण—] पर्याय [त्वत्=] और आश्विन ।

भाष्य—यहां इव पदपूरक है । यास्क ने भाष्य में मूल पाठ का क्रम-परिवर्तन किया है । त्वत् का प्रयोग यहां पर्याय पद के पश्चात् है ।

अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु । अनर्थकाः । कमीमिद्विति ॥ ६ ॥

अर्थ—अब जो [अन्य पदों द्वारा] (प्रवृत्ते) परिसमाप्त होने पर अर्थ के (अमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु) न मापे गए अक्षरों वाले गद्य ग्रन्थों में अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों मे वाक्यपूरण [निपात] आते हैं, पदपूरण वे [ही होते हैं] (मिताक्षरेषु) पादबन्ध [ग्रन्थों में अथवा ऋचाओं में ।] [वे] अर्थ वाले नहीं होते । कम्, ईम्, इत्, उ, ये ।

भाष्य—यास्क से पूर्व अर्थात् भारत-युद्ध से कुछ पूर्व विद्या कण्ठस्थ ही न थी, प्रत्युत ग्रन्थों में भी लिखी जाती थी । ग्रन्थ शब्द स्वयं इस का बोधक

है । तथा च ये ग्रन्थ गद्य ग्रन्थ थे और पद्यबन्ध भी थे । यास्क ने यहां ग्रन्थ पद के प्रयोग से लोक-भाषा और वेद-वाक् में निबद्ध दोनों प्रकार के ग्रन्थों का उल्लेख कर दिया है । निपात पादपूरण, यह पाठ वाजसनेय प्रातिशाख्य ८ । ४९ में है ।

अथ कम् आदि जो चार निपात हैं, वे प्रायः पदपूरण ही हैं ।

[निष्टक्वरनामश्चिदित्वरो भूरितोका वृकादिव ।
बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे] शिशिरं जीवनाय कम् ॥
शिशिरं जीवनाय । शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा ।
एमेनं सृजता सुते ॥ [ऋ० १ । ९ । २ ॥]
आसृजतैनं सुते ।
तमिद्वर्धन्तु नो गिरः ॥ [ऋ० ८ । ९२ । २१ ॥]
तं वर्धयन्तु नो गिरः स्तुतयः । गिरो गृणातेः ।
अयमु ते समतसि ॥ [ऋ० १ । ३० । ४ ॥]
अयं ते समतसि । इवोऽपि दृश्यते । सु विदुरिव । सुविज्ञायेते इव ।

२०-२३ अर्थ—१, कम्—शिशिर जीवन के लिये । कम् यहां अनर्थक है । शिशिर-शृणाति से है, अथवा शम्नाति से । [शृ और शम् हिंसार्थक हैं ।]

२. ईम्—आ+ईम् एनं सृजता सुते । इस को [आ-सृजत] डालो (सुते) इस चमस में ठहरे सोम में । ईम् यहां अनर्थक है ।

३ इत्—उस [सोम] को बढ़ाएं हमारी स्तुतियां । इत् यहां अनर्थक है । गिर गृणाति से है ।

४. उ—यह है तेरा [सोम, जिसकी ओर तू] सदा निरन्तर जाता है । उ यहां अनर्थक है ।

२४ इव भी कभी अनर्थक दिखाई देता है सुविदुरिव । वे ब्राह्मण अच्छे प्रकार [यज्ञ को] जानते हैं । सुविज्ञायेते इव । वे दोनों अच्छे प्रकार जाने जाते हैं । इव इन दोनों उद्धृत वचनों में अनर्थक है ।

भाष्य—शिशिर हमारे जीने के लिए है, हेमन्त नहीं। इस पूरी ऋचा का मूल स्थान अन्वेषणीय है। दुर्ग भी लिखता है कि शाखान्तरों में पूरा मन्त्र द्रष्टव्य है। शिशिर पद शॄ से है। शिशिर ऋतु में वनस्पति के पत्ते शुष्क हो कर नष्ट होते हैं। दुर्ग और स्कन्द ने शश्नाति को भी हिंसा अर्थ वाला माना है। मन्त्र के चतुर्थ पाद में शिशिर को जीवन देने वाला कहा है। अतः वह दुःखों की हिंसा करके जीवन देने वाला है।

सोम को बढ़ाएं, स्तुतियां। यह मन्त्र भाग ऋग्वेद ६। ६१। १४ का है। सोमविद्या इसी नवम मण्डल में है। आधिदैविक प्रकरणों में अपां सार ही सोम है। वह दिव्य पदार्थ है। गायत्री छन्द द्वारा वह ऊपर के लोक से नीचे लाया गया था। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस विज्ञान का विस्तार है। उस समय ऊपर के लोकों के ग्राव स्तुति करते थे। उस स्तुति से सोम बढ़ा था। यह घटना समझने योग्य है। उसी सारी घटना का प्रतिरूप यज्ञ-क्रिया में स्पष्ट किया जाता है। सृष्टि-विद्या में वे ग्राव आदि क्या हैं, इस का ज्ञान करना चाहिए। इव निपात की कहीं-कहीं अनर्थकता दिखाने वाले दोनों प्रमाण काठकसंहिता के दर्श-पूर्णमास प्रकरण ८। ३ और ८। १२ हैं।

अथापि न इति एष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये ॥ १० ॥

हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।
शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम ॥ इति ।

[खैलिक मन्त्र २४ । १ ॥]

नरकं नि अरकं। नीचैर्गमनम्। नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा। अथापि न च इत्येष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे। न चेत्सुरां पिबन्तीति। सुरा सुनोतेः। एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। त उपेक्षितव्याः ॥ ११ ॥

इति प्रथमाऽध्यायस्य तृतीयः पाद ॥

अर्थ—और न यह इत् इस के साथ मिल कर प्रयुक्त होता है, परिभये= सब ओर से भय के अर्थ में।

ऐसा चारों ओर से भय है कि कुटिल आचरण करती हुई, नहीं नरक में गिर जाएं। हवियों से एक लोग स्वर्ग=द्युलोक को इस भूमि से [परे जा कर मृत्यु के पश्चात्] सेवते हैं। निकालते हुए एक लोग यज्ञ के प्रात आदि सवनों में सोमों को, [स्वर्ग को सेवते हैं।] वाणियों से तृप्त करते हुए [एक लोग स्वर्ग को सेवते हैं।] अथवा [गोमहिष्यादि के दान अथवा] दक्षिणा से। हमें चारों ओर से भय है कि—उलटा आचरण करती हुई हम नरक में न गिरें।

नरक=नि+अरक अर्थात् नीचे जाने के अर्थ में है। अथवा नहीं इस में रमण स्थान थोड़ा भी है। और न च, ऐसा यह इत् इस के साथ संप्रयुक्त होता है, दूसरी बार पूछने के अर्थ में। यदि सुरा नहीं पीते हैं, [तो आएंगे।] सुरा सुनोति से है। इस प्रकार नाना प्रकार के अर्थों में गिरते हैं। वे समीपता से देखे जाने चाहिएं।

भाष्य—यह खैलिकी ऋचा है। कभी यह किसी संहिता का भाग थी। दुर्ग और स्कन्द इस ऋचा में असुर-पत्नियों का उत्तर देखते हैं। इस के अनुसार किसी समय नारद ने इन असुर-पत्नियों को विप्रलम्भयमान किया। उस का उत्तर इस ऋचा में है।

हमारा विचार है कि यद्यपि यह खैलिक मन्त्र है, तथापि इस में कोई आधिदैविक तथ्य विद्यमान अवश्य है। जैसे भौतिक आदि अथवा देवपत्न में देवपत्नियां मानी जाती हैं, वैसे [illegible] इस पक्ष में असुर-पत्नियां भी हैं। जब पृथिवी स्तम्भित नहीं हुई थी, जब भूतल पर मानव जन्मा भी न था, तब भौतिक असुर इस पृथिवी के दक्षिण में कार्यशील थे। यह शतपथ ब्राह्मण २। १। १। ८ में है। उन असुरों की पत्नियां भी थीं। उन्हीं की माया का यहां वर्णन है। मन्त्र-गत इत' पद से यह स्पष्ट है [illegible] इस मन्त्र का प्रसङ्ग पृथिवी पर का है। नारद क्या हो सकता है, यह जानना चाहिए।

द्यु—आधिदैविक पक्ष में [illegible] लोक और सामान्य पक्ष में सुख विशेष।

शची = वाणी = वेदमन्त्रों द्वारा स्तुति।

राजवाडे का मत है—नैज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम which is quite modern in style (p. 255)। इस रचना को सर्वथा नूतन काल का कहना दोष-पूर्ण ईसाई भावमत के अनुकरण के कारण है।

नरक पद के दो निर्वचन दिए गए हैं। सब प्रकार से नीचे गिरना नरक है। तथा जहाँ रमण अथवा आनन्द का स्थान थोड़ा भी न हो। दोनों निर्वचन युक्त हैं। निरुक्त में उपेक्षितव्यः पद का प्रयोग अति पुराने अर्थ में हुआ है।

[अथ चतुर्थः पादः]

इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च ।

तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च ।

न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके ।

तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि । यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति ।

अथ चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन् । यः कश्चाध्वानमश्नुवीताश्वः स वचनीयः स्यात् । यत्किञ्चित्तृन्द्यात्तृणं तत् ।

अथापि चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात् । तत्रैवं स्थूणा दरशया वा सञ्जनी च स्यात् ॥ १२ ॥

अर्थ—इस प्रकार ये चार (पदजातानि) पद-समूह अनुक्रम से कह दिए। नाम और आख्यात, उपसर्ग और निपात।

इस विषय में नाम [सारे] आख्यातज अर्थात् क्रिया से उत्पन्न होने वाले हैं, यह शाकटायन [मानता है] और नैरुक्तों का (समय) सिद्धान्त है।

नहीं सारे [नाम आख्यातज।] यह गार्ग्य [मानता है] और वैयाकरणों में से कुछ एक।

गार्ग्य प्रदर्शित आक्षेप

प्रथम आक्षेप—

तो जहां स्वर [उदात्त आदि] और संस्कार [प्रकृति, प्रत्यय आदि] समर्थ=युक्त बने और (प्रादेशिकेन) व्याकरण से प्रदर्शित विकारों से अथवा स्पष्ट धातु वाले नाम से जुड़े हुए हों, (सविज्ञातानि) ठीक जाने हुए वे [हैं ।] यथा—गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती—इति ।

भाष्य—प्रतीत होता है, यास्क से पूर्व के निरुक्तों में भी नाम आख्यातादि के वर्णन का यही अनुक्रम था । वैयाकरणों में से शाकटायन और प्रायः सब नैरुक्तों का एक सिद्धान्त था । तथा नैरुक्तों में से गार्ग्य और प्रायः सब वैयाकरणों का दूसरा मत था । गौ, आदि शब्द संविज्ञात हैं, पर डित्थ, डवित्थ आदि नहीं । इन का धातु कल्पित नहीं किया जा सकता । राजवाड़े का स्वीकृत पाठ—प्रादेशिकेन गुणेन है । पर लक्ष्मणस्वरूप का स्वीकृत पाठ है—प्रादेशिकेन विकारेण—यहाँ गुण का अर्थ धातु है । बहुत संभव है विकारेण शब्द मूल पाठ हो । वस्तुतः धातु भी तो मूल शब्द का एक विकारमात्र है ।

दूसरा आक्षेप—

अर्थ—और यदि सारे नाम आख्यातों से उत्पन्न होने वाले हों, तो जो कोई [प्राणी] वह कर्म करे तो उस सारे प्राणी [समुदाय को] वैसा कहे । जो कोई [अध्वानम्] मार्ग को व्याप्त करे, घोड़ा वह कहा जाए । जिस किसी को तोड़ें तृण वह [हो ।]

तीसरा आक्षेप—

पुनश्च—यदि सारे नाम आख्यातों से उत्पन्न होने वाले हों, तो जितने भावों-क्रियाओं से [नाम वाला] संयुक्त हो, उतनों से [उसे नाम की] प्राप्ति हो । वहां ऐसा हो, स्थूणा (फारसी-सून स्तम्भ) दरशया (दर दरार में शया—सोने वाली) अथवा सञ्जनी (रखा जाता है बांस जिसपर छत टिकाने के लिये) ॥ १२ ॥

भाष्य—लक्ष्मणस्वरूप पाठ—चा सञ्जनि । राजवाड़े पाठ—च आसञ्जनी । स्कन्द पाठ—वाऽऽसञ्जनी । स्कन्द लिखता है—आसञ्जनीति त्वयमपपाठ । दुर्ग—सञ्जनी पाठ ठीक मानता है । भाषा की दृष्टि से च और ञ्ज दोनों ही ठीक

हो सकते हैं। ऋग्वेद में समान पाठ वाले मन्त्रों में वाचं और वाजं दोनों रूप मिलते हैं।

चतुर्थ आक्षेप—

अथापि य एषां न्यायवान्कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्। पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्। अष्टेत्यश्वं। तर्दनमिति तृणम्।

अर्थ—और भी—जो इन का (न्यायवान्) व्याकरण के लक्षण से युक्त (कार्मनामिकः) कर्मनिमित्त में होने वाला [प्रकृति—प्रत्यय का] संस्कार है, [उस के कारण] जिस प्रकार [वे नाम] (प्रतीतार्थानि) ठीक समझ में आने वाले अथवा स्फुटार्थ हों, वैसे इन को कहें, अष्टा यह अश्व को, तर्दन यह तृण को [कहें।]

भाष्य—सृष्टि के आदि में शब्द अथवा वाक्यरूप मन्त्र थे। वे ही भाषा का आदर्श हैं। धातुओं की विद्या बहुत उत्तर काल में ऋषियों ने मन्त्रों के आधार पर आविष्कृत की। धातुओं को मुख्य मान कर नैरुक्तों का निर्वचन-सिद्धान्त चला। वैयाकरण शाकटायन उन से सहमत हुआ। दूसरी ओर नैरुक्त गार्ग्य ने इसे पर्याप्त नहीं समझा। वह धातुओं से सब नामों की उत्पत्ति नहीं मानता। यास्क ने उसके पक्ष की त्रुटिमात्र दिखाई है।

पांचवां आक्षेप

अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति।

प्रथनात्पृथिवीत्याहुः।

क एनामप्रथयिष्यत्। किमाधारश्चेति।

अर्थ—और भी, निष्पन्न होने पर अभिव्याहार के, अर्थात् पूर्वसिद्ध नाम के प्रयोग के पूर्ण ज्ञान के पश्चात् गम्भीर विचार करते हैं। (प्रथनात्) फैलाने के कारण से पृथिवी, ऐसा कहते हैं। [यदि] किसी ने इस [भूमि] को फैलाया होता, और किस आधार पर [ठहर कर।]

भाष्य—प्रथनात्पृथिवीत्याहुः। यह किसी पुरातन श्लोक का चतुर्थांश है। निश्चय है कि पृथिवी फैलाई गई थी। पर किसी पुरुष ने इसे नहीं फैलाया।

इस प्रभाव का कारण भौतिक माया थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस का स्पष्टीकरण है।

षष्ठ आक्षेप

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान्त्सञ्चस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणम्। अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।

अर्थ—और [शब्द से] अनुगत न होने पर अर्थ के शास्त्रादिष्ट विकार =क्रिया के [न होने पर] [आख्यात] पदों से [सर्वथा बेजोड़ वाले दूसरे] [आख्यात] पदों के आगे भागों से [प्रकृति-प्रत्यय का] संस्कार किया शाकटायन ने। [यथा—] एति धातु से (कारित) [पाययति आदि में जो] णिच् कहा और [यकारादि] जो [दीव्यति आदि में] यकार (अन्तकरणम्) प्रत्यय को [माना] अर्थात् जिस में शब्द का अन्त किया गया। [तथा] अस्ति धातु से शुद्ध को और सकारादि [यथा पिपासति सिषासति इत्यो] को।

भाष्य—यास्क के सामने शाकटायन व्याकरण और उस की पूरी प्रक्रिया वर्तमान थी। यास्क और उस से पूर्व काल में धातु उस रूप में बहुधा नहीं लिखे जाते थे, जैसे पाणिनीय प्रक्रिया में लिखे जाते हैं। अतः यास्क के निर्वचन आदि में, तथा इस प्रकरण में एते [=एति से] तथा अस्ते (=अस्ति से) रूप पढ़े गए हैं। यास्क ने गार्ग्य का आक्षेप दिखाते हुए शाकटायन की प्रक्रिया का प्रदर्शन किया है। गार्ग्य ने सत्य शब्द पढ़ा नहीं पर यहीं सिद्धि इसी शब्द की अभिप्रेत है। शाकटायन का व्याकरण उस समय अति प्रसिद्ध था अतः गार्ग्य ने उस की शब्द-सिद्धि का प्रकार अत्यन्त स्थूल रूप में दर्शाया है। यास्क से पूर्ववर्ती वैयाकरण अन्तकरण पद का प्रत्यय अर्थ में प्रयोग करते थे

इस षष्ठ आक्षेप से एक ऐतिहासिक तत्त्व भी ज्ञात होता है। यास्क (भारत युद्ध से लगभग २० वर्ष पूर्व) से गार्ग्य पहले था और गार्ग्य से पूर्व शाकटायन था।

सप्तम आक्षेप

अथापि सत्त्वपूर्वो भाव इत्याहुः। अपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति।

अर्थ—और भी—(सत्त्वपूर्वः) द्रव्य अथवा पदार्थ पूर्वक (भावः) क्रिया [होती है] ऐसा कहते हैं। [अतः] उत्तरकाल में होने वाली क्रिया से पूर्व के [पदार्थ का] (प्रदेश=) जताना नहीं युक्त होता। इति।

भाष्य—इन सात हेतुओं से गार्ग्य ने यह पक्ष रखा है कि सारे नाम आख्यातज नहीं हैं। इस सारे प्रकरण के अन्त में इति पद बताता है कि ये सातों हेतु गार्ग्य के मूल शब्दों में ही रखे गए हैं। राजवाड़े ने इति पद के अन्त में होने का तर्क तो नहीं दिया, पर बात यही मानी है—Yāska quotes the very words of Gārgya (p. 263).

अब यास्क कहता है—

तदेतन्नोपपद्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—तो यह नहीं उपपन्न होता।

यास्क का उत्तर, प्रथम आक्षेप का समाधान

यथो हि नु वा एतत्। तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां सर्वं प्रादेशिकमिति। एवं सत्यनुपालम्भ एष भवति।

अर्थ—यथा—हि–नु–वै–एतत्। [यह दुर्ग के अनुसार मूल पाठ का सन्धि-छेद है।] यथा–उ–हि–नु–आ इति पञ्चैते निपाताः—[यह स्कन्द के अनुसार है।] अर्थात् जिस क्रम से पूर्वपक्ष, उसी क्रम से हेतुओं का कथन यह है—"जहां स्वर (उदात्तादि) और संस्कार (प्रकृति, प्रत्यय आदि) समर्थ, युक्त बनें और व्याकरण से प्रदर्शित धातु वाले (विकार) =नाम आदि से जुड़े हुए हों, वह सब व्याकरण शास्त्र के अनुकूल है।" यहां ऐसा होने पर बिना उपालम्भ (उलाहना, पंजाबी में उलाम्भा) के यह बात है।

भाष्य—यह सब व्याकरण शास्त्र के अनुकूल है। अर्थात् सब ही नाम आख्यातज हैं। यह व्याकरण-विरुद्ध नहीं। जिस प्रकार गौः, अश्वः, आदि का स्वर और संस्कार ज्ञात है, उसी प्रकार प्रत्येक नाम का। तथा डित्थः, डवित्थः आदि नाम

अर्थात् भारत युद्ध से पहले भी संस्कृत व्याकरण संकुचित हो चुके थे । अत गार्ग्य ने उन सकुचित व्याकरणों के आधार पर आक्षेप किया था । उन में धातु थोड़े से रख लिए गए थे । यास्क ने परिस्थिति को स्पष्ट करके उस का उत्तर दे दिया । सब नाम आख्यातज हैं, यह जाना जा सकता है ।

दूसरा समाधान

यथो एतत् ! यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्निति । पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम् । यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिज इति ।

अर्थ—और जो यह—' जो कोई प्राणी वह कर्म करे, तो उस सारे प्राणी [समुदाय] को वैसा कहे । ' [इस विषय मे] हम देखते है, समान कर्म [करने] वालो मे से कुछ एक को उस नाम की प्राप्ति [होती है] नही अन्यो को । यथा—तक्षा अर्थात् छीलने वाला (पजाबी-तरखान), परिव्राजक अर्थात् घूमने वाला (सन्यासी) जीवन अर्थात् जीता हुआ [दुर्ग—इक्षुरस अथवा शाक जाति । स्कन्द—अग्नि वाला अङ्गार] भूमिज अर्थात् भूमि से जन्मा (=अङ्गारक अथवा भौम ग्रह) इति ।

भाष्य—गार्ग्य का आक्षेप है समान कर्म करने वाले सब को एक ही नाम की प्राप्ति होनी चाहिए । यास्क का उत्तर है कि ऐसी प्राप्ति में समान कर्म ही कारण नहीं, प्रत्युत उस समान कर्म का सतत करना अथवा उस का अवस्था विशेष में होना भी कारण है ।

दुर्ग गुर्जर था । वह जम्बू मार्गाश्रम में रहता था । वहां जीवन शब्द इक्षुरस अथवा शाकविशेष के लिये प्रयुक्त होता होगा । स्कन्द वलभी का था । वहाँ जीवन शब्द साग्नि अङ्गार के लिए प्रयुक्त होता होगा । परन्तु अङ्गार तो सदा साग्नि होता है, फिर स्कन्द का प्रयोग चिन्त्य है ।

तीसरा समाधान

एतनैवोत्तर प्रत्युक्तः ।

अर्थ—इस दूसरे आक्षेप के खण्डन से उत्तर अर्थात् तीसरा आक्षेप भी खण्डित किया गया ।

भाष्य—"जितनी क्रियाओं से [नाम वाला] संयुक्त हो, उतनी से [उसे नामों की] प्राप्ति हो।" इस का खण्डन यही है कि क्रिया-विशेषों से नामों का सम्बन्ध है, केवल क्रियाओं से नहीं।

चौथा समाधान

यथो एतत् । यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्निति । सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिकाः । यथा व्रततिर्दमूना जाट्य आट्णारो जागरूको दर्विहोमीति ।

अर्थ—जो यह है, "और जैसे [ये शब्द] स्फुट अर्थ वाले हों, वैसे इन को कहें।" हैं अल्प प्रयोग वाले [ऐसे शब्द।] कृतः=कृदन्त शब्द [वे नाम आदि, जिन के धातु स्पष्ट हैं] तथाच ऐकपदिक [प्रकरण में पढ़े शब्द।] यथा—व्रततिः=वल्ली=बेल । दमूनाः=अग्नि अथवा अतिथि । जाट्यः=जटावाला । आट्णारः=अटनशील । जागरूकः=सजग । दर्विहोमी=दर्वी से होम करने वाला—इति ।

भाष्य—व्रतति आदि के विषय में दुर्ग का मत है कि शाकटायन के अभिप्राय से ये सब प्रतीतार्थ हैं। यह अध्येता का दोष है कि उसे अनेक शब्द अप्रतीतार्थ दिखाई देते हैं। ध्यान रहे कि आट्णारः शब्द का अपभ्रंश अंग्रेजी के itinerary विकार में आज भी पाया जाता है। अतः कभी यह भी पूरा प्रतीतार्थ था।

अट्णार पुरुष-विशेष का भी नाम है। अमरीका निवासी ब्लूमफील्ड अपने वैदिक वेरिएण्ट्स, भाग २, पृ० २४७ पर अट्णार पद के विषय में लिखता है—अट्णारस्य, proper names of barbaric appearance and unknown relationships. अर्थात् अट्णार पद बर्बर दिखाई देता है। यदि ब्लूमफील्ड के ध्यान में अंग्रेजी का itinerary अपभ्रंश आ गया होता तो वह ऐसा भ्रमपूर्ण लेख न करता।

पांचवां समाधान

यथो एतन्निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्तीति । भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः । प्रथनात्पृथिवीत्याहुः । क एनाम-

प्रथयिष्यत्किमाधारश्चेति । अथ वै दर्शनेन पृथु । अप्रथिता चेदप्यन्यैः । अथाप्येवं सर्वं एव दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते ।

अर्थ—जो यह है— पूर्वप्रसिद्ध नाम के प्रयोग के पूर्ण ज्ञान के पश्चात् गम्भीर विचार करते हैं। [ऐसा] होना ही है। पूर्व प्रसिद्ध नाम के प्रयोग पर ही (योग-परीष्टि) [उस के] योग अर्थात् अवयवार्थ=प्रकृति प्रत्यय की पर्येषणा=परीक्षा [होती है।] [और जो कहा] फैलाने के कारण पृथिवी को कहते हैं। [यदि] किसी ने इस [भूमि] को फैलाया होता, और किस आधार पर [ठहर कर।] [अरे] यह निश्चय ही दर्शनमात्र से फैली हुई [दिखाई] देती है। न फैलाई गई भी हो यदि किन्हीं अन्यों के द्वारा। और इस प्रकार सब दिखाई देने वाले पदार्थों के (प्रवाद) नामों पर उपालम्भ होंगे।

भाष्य—नाम पद अनादि हैं। वे अनादि मन्त्रों के अङ्ग हैं। अतः यह आक्षेप व्यर्थ है। गार्ग्य स्वयं मन्त्रों को अनादि मानने वालों में है। अतः इस तथ्य के मानने में कोई आपत्ति नहीं कि नाम के प्रयोग के पश्चात् ही इस नाम में योग देने वाले प्रकृति प्रत्यय की परीक्षा होती है। पूर्व प्रसिद्ध नामाख्यिकों के रूपों पर ही व्याकरण शास्त्र बने हैं।

पृथिवी प्रथन—यास्क मुनि आद्यन्त शब्दों द्वारा इस वैज्ञानिक सत्य को जानता था कि कल्प के आरम्भ में पृथिवी फैलाई गई थी। यह फैलाव भौतिक शक्तियों द्वारा हुआ था। इस में किसी मनुष्य की आवश्यकता नहीं थी। फिर उस के किसी आधार पर ठहरने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। फिर भी यास्क इस विचार में नहीं पड़ा उस ने सीधा उत्तर दिया कि दर्शन मात्र से यह फैली हुई प्रतीत होती है।

पञ्चम समाधान

यथो एतत्। पदेभ्यः पदेतराधन्सिंसचस्कारेति। योऽनन्वितेऽर्थे सचस्कार स तेन गर्ह्यः। सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा [इति]।

अर्थ—और जो यह—' [आख्यात] पदों से [सर्वथा वेजोड़ वाले] दूसरे [आख्यात] पदों के आधे भागों से [प्रकृति प्रत्यय का] संस्कार किया

[शाकटायन ने ।]" जिसने [शब्द से] अनुगत न होने पर अर्थ के [पदों का असम्बद्ध] संस्कार किया, वह उस से निन्द्य हुआ । वह यह गर्हा= निन्दा पुरुष की निन्दा है, नहीं व्याकरण शास्त्र की निन्दा । इति ।

भाष्य—मूल पाठ के अन्त में अनेक कोषों में इति पद नहीं है । यास्क गार्ग्य का शाकटायन पर आक्षेप उद्धृत करता है । पुनः—**योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः**, लिख कर यास्क ने यह दर्शाया है कि जो कोई ऐसा शब्द-संस्कार करे, वह निन्द्य है । परन्तु वह मानता है कि शाकटायन ने ऐसा शब्द-संस्कार नहीं किया । अतः शाकटायन वा उस के व्याकरण की निन्दा नहीं हो सकती । हां, उस मूर्ख पुरुष की निन्दा हो सकती है जो उलटा संस्कार करे ।

सप्तम समाधान

यथो एतत् । अपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति । पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद्भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम् । बिल्वादो लम्बचूडक इति । बिल्वं भरणाद्वा भेदनाद्वा ॥ १४ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

अर्थ— और जो यह—"उत्तरकाल में होने वाली क्रिया से पूर्व के [पदार्थ का] (प्रदेश) जताना नहीं युक्त होता ।" इति । हम देखते हैं कि पूर्व उत्पन्न हुए (सत्त्वानाम्) पदार्थों अथवा द्रव्यों की उत्तरकाल में होने वाली क्रिया से नामधेय की प्राप्ति होती है, कई एक की [और नहीं होती] कई एक की । यथा—बिल्व को अदन अर्थात् खाने वाला । लम्बचूडक अर्थात् लम्बे बालों वाला, इति । बिल का निर्वचन—भरणाद्वा दुर्भिक्षादि में पालन-पोषण करता है, अथवा वृक्ष को भर देता है । अथवा भेदन करने से । तोड़ कर खाया जाता है, अथवा अतिसार के रोग को तोड़ता है, छिन्न-भिन्न करता है ।

निरुक्त का प्रयोजन—शास्त्र के तीन खण्डों (१२-१४) में, पूर्वपक्ष के खण्डन के पश्चात् यह निर्णीत कर दिया कि सम्पूर्ण नाम आख्यातज हैं । यही बताने के लिए निरुक्त शास्त्र की आवश्यकता है । सम्पूर्ण नाम क्रिया से उत्पन्न

हुए हैं। सृष्टि बनते समय ये नानाविध क्रियाएं ही थीं, जिन से नाम उत्पन्न हो रहे थे। यत इस परम सत्य सिद्धान्त को निरुक्त ने ही सजीव रखा है। ऐसे मूल सिद्धान्त की रक्षा के लिए यास्क ने कठोरता से काम लिया है। वह वेद के एक पद को भी रूढ नहीं मानता। इसी अभिप्राय से पतञ्जलि मुनि ने व्याकरण महाभाष्य में लिखा है—नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्, नैगम रूढिभव हि सुसाधु।

अर्थात् —निगम अर्थात् मन्त्रों में होने वाला एक शब्द भी रूढिभव नहीं है। इस मौलिक सिद्धान्त को वर्तमान ईसाई-यहूदी पाश्चात्य लेखकों ने न समझ कर वेद विद्या को कलुषित करने का भरसक यत्न किया है। और वेद विद्या के गम्भीरतम रहस्यों पर वृथा उपहास किया है। राथ ह्विटने, वाकरनागल और मैकडौनल आदि को वर्षों तक भारतीय आचार्यों से पढ़ना चाहिए था। इन में से वाकरनागल का महान परिश्रम भी अति तुच्छ और दोष पूर्ण है।

निरुक्त का इतना मात्र दिखाना ही प्रयोजन नहीं। आगे निरुक्त शास्त्र के अन्य पाँच प्रयोजन कहते हैं।

[अथ पञ्चमः पादः]

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतीयतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः।

अर्थ—और भी—इस [शास्त्र] के बिना मन्त्रों मे अर्थ की प्रतीति अथवा अर्थ का ज्ञान नही होता। अर्थ के न जानने वाले के लिए, नहीं (अत्यन्तम्) पूर्णरूप स स्वर और संस्कार का (उद्देश) उपदेश [सम्भव ।]

भाष्य—वेद के मन्त्र और उन के अर्थ आदि-सृष्टि से चले आ रहे हैं। उस अर्थ विद्या को निरुक्त शास्त्र ने सुरक्षित रखा है। उस विद्या के बिना व्याकरण अधूरा है। अतः निरुक्तशास्त्र की महती आवश्यकता है।

ईसाई-यहूदी गर्व—और जो योरोपीय लेखक अपने कल्पित भाषा नियमों पर वेदार्थ का आधार रखते हैं, उस कल्पित भाषा-मत का खण्डन हम ने अपने "भाषा का इतिहास" में कर दिया है।

तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च ।

अर्थ—तो यह विद्यास्थान [निरुक्त नाम वाला शास्त्र] व्याकरण की पूर्णता करता है और अपने स्वतन्त्र अर्थ का साधक है ।

भाष्य—अति प्राचीन काल से भारत में १४ अथवा १८ विद्याएं चली आ रही हैं । तदन्तर्गत षडङ्गों में निरुक्त शास्त्र है । यास्क नैरुक्तों का अन्तिम मान्य पुरुष था । षडङ्ग बृहस्पति के काल से चले आ रहे हैं । ऐसे ऐतिहासिक सत्यों को नष्ट करने के लिए पाश्चात्य ईसाई-यहूदियों ने भारतीय इतिहास की परम्परा को नष्ट करने का यत्न किया है । उन के चेले चांटे उनकी चाटुकारिता में फंसे हुए आज भी इसी पाप में रत हैं ।

[प्रथम प्रयोजन पर आक्षेप और उस का समाधान]

यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सः । अनर्थका हि मन्त्राः।

तदेतेनोपेक्षितव्यम् ।

अर्थ—यदि [निरुक्त शास्त्र] मन्त्रार्थ ज्ञान के लिए है, [तो यह] अनर्थक है, ऐसा कौत्स कहता है । अनर्थक ही निश्चय से मन्त्र हैं ।

तो यह इस शास्त्र से पूर्णतया जानना चाहिए ।

भाष्य—अब यास्क एक नया पूर्वपक्ष उपस्थापित करता है । यह पक्ष कौत्स का है । तदनुसार—अनर्थक ही निश्चय से मन्त्र हैं। इस विषय में निम्नलिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं ।

१, कौत्स कौन था ।

२. उस ने मन्त्रों को अनर्थक क्यों कहा ।

३. वह मन्त्र और ब्राह्मण में श्रद्धा और विश्वास रखता था या नहीं ।

इन प्रश्नों का उत्तर प्राचीन वाङ्मय में स्पष्ट मिलता है ।

उत्तर—१. कृष्ण द्वैपायन व्यास के चार प्रधान शिष्यों में जो जैमिनि नाम का मुनि था, वह भी एक कौत्स था । इसका प्रमाण भारतसंहिता, आदिपर्व ४८ । ५—७ में है । यथा—वृद्धः कौत्सार्यजैमिनिः ।

अर्थात्—[जनमेजय के सर्प-सत्र में] वृद्ध कौत्सार्य जैमिनि उपस्थित था। प्रतीत होता है, जैमिनि का गोत्रापत्य नाम कौत्स भी था। भारतेतिहास का कर्ता व्यास धन्य है, जिसने यह बहुमूल्य इतिहास सुरक्षित किया।

व्यास मुनि का शास्त्र-प्रवचन भारत युद्ध से लगभग १०० वर्ष पहले हुआ। और जनमेजय का सर्प-सत्र युद्ध के लगभग ५० वर्ष पश्चात्। शास्त्र प्रवचन के समय जैमिनि यदि ६० वर्ष का हो, तो सर्प-सत्र के समय वह लग-भग २१० वर्षीय था। वह वस्तुतः वृद्ध था। उस के मीमांसा सूत्रों की रचना भी भारत युद्ध से पूर्व हो चुकी थी।

२. जैमिनि मीमांसा शास्त्र का कर्ता था। उसके कतिपय मीमांसा सूत्रों की निरुक्तस्थ पूर्वपक्ष के वचनों से तुलना आगे की जाती है—

निरुक्त में कौत्स का पूर्वपक्ष	मीमांसासूत्र
१-अनर्थका हि मन्त्राः।	आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमित्युच्यते।
२-अनुपपन्नार्था भवन्ति। ओषधे त्रायस्वैनम्।	अचेतनार्थसम्बन्धात्।
३-विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति।	अर्थविप्रतिषेधात्।
४-अविस्पष्टार्था भवन्ति।	अविज्ञेयात्।

ऐसी तुलना सत्यव्रतसामश्रमी के निरुक्त संस्करण के पृष्ठ २८०—८१ पर की गई है। यास्कधृत वचनों और मीमांसा सूत्रों का पाठ अति साम्य रखता है। सम्भव है, जैमिनि के किसी अन्य ग्रन्थ में यास्कधृत वचन ही यथातथ्य रूप में हों। अब विचारणीय है कि सामसंहिता के प्रवचनकर्ता जैमिनि ने मन्त्रों को अनर्थक या कहा नहीं। इस का समाधान स्पष्ट है। जैमिनि मुनि मन्त्रों में यज्ञ क्रिया को ही प्रधान मानता था। वह उन-उन यज्ञों में मन्त्रोच्चारण मात्र और तत्सम्बन्धी क्रिया से फल मानता है। पर उस के पूर्वोद्धृत सूत्र पूर्वपक्ष के हैं। उसने अनर्थक पक्ष का स्वयं खण्डन किया है। अतः अनर्थक पक्ष किसी दूसरे कौत्स का है। वह भी उसी काल का प्रतीत होता है। तभी यास्क और जैमिनि ने उस का खण्डन किया है। उस दूसरे कौत्स ने भी यज्ञ के

फल की दृष्टि से मन्त्रों को अनर्थक कहा है । मीमांसा के कई आचार्य निरुक्त और व्याकरण में अधिक आदर नहीं रखते थे । कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में व्याकरण के विषय में ऐसा मत दर्शाया है । वस्तुतः कौत्स का मत अंशतः ठीक है, पर यास्क का प्रतिपादन सर्वदेशीय है ।

२. प्रस्तुत कौत्स भी मन्त्र, ब्राह्मण में पूर्ण श्रद्धा रखता था । इसी हेतु यास्क ने अगले एक तर्क में ब्राह्मण का आदर सहित प्रमाण स्वीकार करके उसे उत्तर दिया है । इस आदर में दोनों सहमत हैं ।

ईसाई-यहूदी कोलाहल—राथ, मैक्डानल प्रभृति ईसाई लेखकों ने इस प्रसङ्ग से जो वेद विरोधी मिथ्या प्रचार किया, विद्वानों में उसका कोई मूल्य नहीं। निरुक्त के भाषा टीकाकार पं० राजाराम ने भी अपनी टीका पृ० ६४ के टिप्पण में इस बात को स्पष्ट कर दिया है ।

अब आगे कौत्स के सात पूर्वपक्ष लिखे जाते हैं—

१. नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ।

२. अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते ।

उरु प्रथस्व । [यजु० १ । २२ ॥] इति प्रथयति ।

प्रोहाणि ।[1] इति प्रोहति ।

३. अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति ।

ओषधे त्रायस्वैनम् । [मै० सं० ३ । ६ । ३ ॥]

स्वधिते मैनं हिंसीः । [यजु० ४ । १ ॥] इत्याह हिंसन् ।

४. अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति ।

एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः ।[2]

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् । [यजु० १६ । ५४ ॥]

अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे । [ऋ० १० । १३३ । २ ॥]

शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः । इति । [ऋ० १० । १०३ । १ ॥]

---

१. तुलना करो, यजु० २ । १५ ॥ प्रोहामि ।

२. तुल० तै० सं० १ । ८ । ६ । १ ॥

५ अथापि आमन्त्रं संप्रेष्यति।

अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि। इति। [तै० सं० ६। ३। ७। १॥]

६. अथाप्याहादितिः सर्वमिति।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्। इति। [ऋ० १। ८९। १०॥]

तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।

७. अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति।

अम्यक्।[1] यादृश्मिन्।[2] जारयायि।[3] काणुका।[4] इति॥ १५॥

अर्थ—१. नियतवाचोयुक्तिया=पद-योजनाएं नियतानुपूर्वी होती हैं।

२ और भी—ब्राह्मण-वचन द्वारा [मन्त्र अपने] रूप में समान विधान किए जाते हैं।

(क) उरु प्रथस्व यह [मन्त्र बोल कर पुरोडाश को] फैलाता है।

(ख) प्रोहाणि यह [बोल कर पूर्व की ओर] प्रेरता है।

३ और भी, [मन्त्र] अनुपपन्न अर्थ वाले अर्थात् न बन सकने अर्थ वाले होते हैं।

(क) ओषधे त्रायस्वैनम्। हे ओषधे, रक्षा करो इस की।

(ख) हे स्वधिते=कुठार=कुल्हाड़े, मत इस की हिंसा कर। यह कहता है, हिंसा करता हुआ।

४ और भी, विशेष रूप से एक दूसरे के प्रतिषेधार्थ वाले होते हैं।

(क) एक ही [समर में] रुद्र खड़ा हुआ, नहीं दूसरा।
असंख्यात सहस्रों जो रुद्र भूमि पर [हैं।]

(ख) शत्रुरहित इन्द्र उत्पन्न हुआ।
सौ सेनाएं जीतीं एक साथ इन्द्र ने। इति।
[इन मन्त्रों में विरोधी भाव है।]

५. और भी—[यज्ञ क्रिया] जानने वाले को [अध्वर्यु] प्रैष=प्रेरणा करता है—अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि, अर्थात् अग्नि के लिए समिध्यमानाय (जलते हुए के लिए) अनुब्रूहि=सामिधेनी ऋचाएं बोल। इति।

---

१. ऋ० १। १६९। ३॥　　२. ऋ० ५। ४४। ८॥
३. ऋ० ६। १२। ४॥　　४. ऋ० ८। ७७। ४॥

[सामिधेनी ऋचाएं, जिन से समिदाधान होता है।]

६. और भी कहता है—(क) अदिति सब कुछ है। इति।

(ख) अदितिः द्यौः, अदितिः अन्तरिक्षम्, इति।

यह आगे व्याख्यान करेंगे।

७. और भी—[मन्त्र] नहीं अधिक स्पष्ट अर्थ वाले होते हैं। यथा—अम्यक्। यादृश्मिन्। जारयायि। काणुका। इति ॥ १५ ॥

भाष्य—१-वाचोयुक्ति—मन्त्रों में वाचोयुक्ति नित्य है। अग्निमीळे के स्थान में वह्निमीळे नहीं हो सकता। इस प्रकार मन्त्रों में आनुपूर्वी भी नित्य है। वहां ईळे अग्निम् नहीं हो सकता। यह क्यों ? मन्त्रों का सृजन देवों द्वारा हुआ। उन भौतिक शक्तियों [=देवों] से जो ध्वनियां निकलीं, और उन ध्वनियों के साथ जो पदार्थ उत्पन्न हुए, उन-सब का रूप यज्ञ-क्रिया में रहता है। अतः वही वाचोयुक्ति और वही आनुपूर्वी यज्ञ के फल को लाती है। अग्नि पद वाली ध्वनि वह्नि पद द्वारा कदापि नहीं निकलती। अतः इस पक्ष में कोई विवाद नहीं है।

यदि मन्त्र अर्थवान् होते, तो मन्त्र में स्पष्ट कही क्रिया का ब्राह्मण ग्रन्थ क्यों विधान करते। अतः मन्त्र में स्वतन्त्र अर्थ का भाव नहीं।

२. यज्ञ—यूप के लिए जब वृक्ष को काटते हैं, तब उस पर कुशा रख कर कहते हैं—हे कुशा-रूपी ओषधे, इस की रक्षा कर। काटने के समय रक्षा का मन्त्र अन्+उपपन्न है।

मीमांसक आचार्य गम्भीर अर्थ में न जा कर, इस बाह्य क्रिया से ही सन्तुष्ट रहते हैं।

४. मन्त्रों के अर्थों में विरोध है। कहीं एक रुद्र और कहीं असंख्यात रुद्रों का वर्णन है।

५. यज्ञ में होता का कर्म करने वाला सब विधि जानता है, अतः उस के लिए कर्म विषयक कुछ प्रेरणा करना अनर्थक है।

६. अदिति द्यौः है अन्तरिक्ष है, इत्यादि एक एक पदार्थ को अदिति कह कर उसे सब कुछ कहना अनर्थक है। जो द्यौः है वह अन्तरिक्ष कैसे।

७ जिस प्रकार अम्यक् आदि पद अस्पष्ट हैं, और फिर भी मन्त्र के योग में फलदायक हैं, उसी प्रकार अनर्थक होते हुए भी मन्त्र फलदायक हैं।

यह पूर्वपक्ष केवल याज्ञिक सम्प्रदाय की दृष्टि से है ॥ १५ ॥

यास्क का उत्तर पक्ष

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् ।

एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वा-भिवदति ।[1] इति च ब्राह्मणम्

क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः । [१० । ८५ । ४२ ॥] इति ।

अर्थ—[मन्त्र] अर्थ वाले हैं [लोक वेद के] शब्दों की समानता से। यह निश्चय यज्ञ का समृद्ध[पन] है, जो रूप से समृद्ध[पन] है, जिस क्रियमाण कर्म को ऋचा अथवा यजु कहता है। यह ब्राह्मण का पाठ है।[1] [यथा—] खेलते हुए पुत्रों और पोतों से।

भाष्य—मन्त्र अर्थ वाले हैं, इस में यास्क का तर्क है कि लोक-वेद के शब्दसाम्य ■। जब लोक में शब्दों और वाक्यों का अर्थ है, तो वेद में मन्त्रों का अर्थ क्यों नहीं? दोनों के शब्द समान हैं।

ब्राह्मणवचन का प्रमाण देते हुए यास्क ने—इति च ब्राह्मणम् लिखा है। यहां च निपात का अपना अर्थ है। अर्थात् यास्क वाला तर्क ही ब्राह्मण ग्रन्थ में है। यह कैसे? ब्राह्मण स्वयं ऋचा और यजु की जो वक्तृता मानता है, उनकी विधायक ब्राह्मण पाठ की नहीं।

१ यथो एतन्नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथेन्द्राग्नी। पितापुत्राविति।

२. यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त इति। उदितानुवादः ■ भवति।

३. यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीति। आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत।

---

1. गोपथ ब्रा० २ । २ । ६ ॥

४. यथो एतद् विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति इति । लौकिकेष्वप्येतत् । यथा । असपत्नोऽयं ब्राह्मणः । अनमित्रो राजा । इति ।

५. यथो एतज्जानन्तं संप्रेष्यतीति । जानन्तमभिवादयते । जानते मधुपर्कं प्राहेति ।

६. यथो एतददितिः सर्वमिति । लौकिकेष्वप्येतत् । यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम्—इति ।

७. यथो एतद्—अविस्पष्टार्था भवन्ति—इति । नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति । पुरुषापराधः स भवति ।

यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति । पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥ १६ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

अर्थ—१. जैसा यह है—[मन्त्रों में] नियत शब्द-रचनाएं नियत आनुपूर्वी से होती हैं, यह [वात] लौकिक रचनाओं में भी ऐसी है। यथा—इन्द्राग्नी, पिता-पुत्रौ, इति ।

२. जैसा यह है—ब्राह्मणवचन द्वारा [मन्त्र] अपने रूप में सम्पन्न विधान किए जाते हैं, यह [मन्त्र में] कहे का अनुवाद है ।

३. जैसा यह है—[मन्त्र] अन्+उपपन्न अर्थ वाले होते हैं, यह आम्नाय=वेद के वचन होने से अहिंसा जानी जाए।

४. जैसा यह—विशेष रूप से एक दूसरे के प्रतिषेधार्थ वाले होते हैं, यह लौकिक रचनाओं में भी ऐसा [है ।] यथा विना सपत्न (=शत्रु) के यह ब्राह्मण । अन्+अमित्र (=विना शत्रु वाला) राजा।

५. जैसा यह है—[यह क्रिया] जानने वाले [होता] को प्रेरण करता है —[ऐसा लौकिक व्यवहार में भी है। नाम, गोत्र आदि] जानने वाले [गुरु के समीप जा कर छात्र, नाम और गोत्र वताकर] अभिवादन करता है । जानते हुए के लिए [तीन वार] मधुपर्क को कहता है ।

६. जैसा यह है—अदिति सब कुछ है, यह लौकिक वचनों में भी ऐसा है । यथा, सारे रस अनुप्राप्त हैं जल को।

७ जैसा यह है—[मन्त्र] नहीं अधिक स्पष्ट अर्थ वाले होते हैं। नहीं यह स्थाणु=खम्भे का अपराध जो इस को अन्धा नहीं देखता। [न देखने वाले] पुरुष का अपराध वह होता है।

जैसे (जानपदीषु) जनपद में होने वाली विद्याक्रियाओं अथवा जानगोष्ठियों में विद्या के कारण से पुरुषविशेष होता है, [इसी प्रकार] (पारोवर्यवित्सु) ऊपर से अवर में आने वाले, अथवा गुरुशिष्य के अनवच्छिन्न क्रम से पढ़ने वाले (वेदितृषु) ज्ञानियों में, अधिक विद्या वाला प्रशंसा-योग्य होता है ॥ १६ ॥

भाष्य—कौत्समत खण्डन नामक इस प्रकरण में यास्क का प्रधान आधार इस तथ्य पर है कि वेद और लोक के शब्द समान प्रकार के हैं। अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्। जब लोक में उन्हीं शब्दों का अर्थ है, तो वेद में क्यों नहीं।

द्वितीय तर्क के उत्तर में यास्क का एक महत्त्वपूर्ण कथन है। वह लिखता है कि ब्राह्मण वचन मन्त्र का अनुवाद अथवा व्याख्यान मात्र है। ब्राह्मण पद का अर्थ भी ऐसा ही है, अर्थात् ब्रह्म=वेद का व्याख्यान। रूपसम्पन्नाः। इस पर दुर्ग का लेख है—रूप नाम लिङ्गम्। रूपसम्पन्ना' प्रकटलिङ्गाः।

तीसरे तर्क के उत्तर में यास्क का कथन है कि—ओषधे त्रायस्वैनम्। स्वधिते मैनं हिंसीः। इन दोनों वचनों में काटने पर भी अहिंसा ■ है, क्योंकि वेद के वचन से अहिंसा प्रतीत हो।

इस प्रसङ्ग ■ यह ध्यान देने योग्य है कि अग्निष्टोम यज्ञ में यजमान के क्षौर कर्म के समय उस के शिर पर कुश को रख कर ओषधे त्रायस्वैनम् मन्त्र पढ़ा जाता है। बालक के चूडाकर्म में भी यही मन्त्र पढ़ा जाता है। उस समय केश+छेदन रूपी हिंसा कर्म ■ त्रायस्व पाठ कैसा। इसी प्रकार स्वधिते मैनं हिंसीः, मन्त्र पढ़ कर क्षुर अथवा कुल्हाड़े से काटते समय, इसे मत मारो, यह कहा जाता है।

इन कर्मों ■ वेद वचन से अहिंसा ही अभिप्रेत है। कुश आदि ओषधि में जो ओषध=द्रव्य अंश है उस से रक्षा में सहायता लेने का अभिप्राय है। क्षुर की वज्ररूपी पैनी धार ■ बचने का भी अभिप्राय है।

लगभग ऐसा प्रसङ्ग मैत्रा० सं० ३ । ९ । ३ तथा काठक संहिता २६ । ३ में वृक्ष के यज्ञार्थ काटने के समय का है । उस प्रसङ्ग में किस आधिदैविक घटना का प्रतिरूप बांधा गया है, यह अन्वेष्टव्य है ।

इस प्रसङ्ग में स्कन्द ने लिखा है कि यज्ञों में जो पशु मार दिया जाता है, वह सीधा स्वर्ग को जाता है। उस की हिंसा भी मानो उस की भविष्य की रक्षा है । सृष्टि के मूल यज्ञों में पशु भी अन्तरिक्षस्थ थे । उन्हीं के प्रतिरूप ये पृथिवी पर के पशु यज्ञों में कुछ काल से वध किए जाने लगे । पहले वे यज्ञों में खड़े किए जाते थे । उन की रक्षा होती थी, उन का वध नहीं होता था । कौत्स ने अपने काल की प्रथा के अनुसार आक्षेप किया कि हिंसा करता हुआ त्रायस्व तथा मा हिंसी कहता है । यास्क ने सीधा उत्तर दिया कि वेद वचन के अनुसार यह अहिंसा है ।

संसार के मध्य काल के इतिहास के समय यज्ञों में हिंसा प्रचलित हो चुकी थी । तदनुसार यहूदी, और मुसलमान भी हिंसा करने लग पड़े थे । वस्तुतः यह वैदिक पक्ष न था । विस्तरभय से यहां अधिक स्पष्टीकरण नहीं दिया ।

विद्या-महिमा—समाधान के अन्तिम वचनों में यास्क ने विद्या की महिमा गाई है । उस से यह भी प्रतीत होता है कि यास्क के काल तक पारोवर्यवित् विद्वान् भी इस देश में थे। उन के कुलों में विद्या अथवा आगम-ज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न थी । उस समय के विद्वान् वेदार्थ और अपना इतिहास पूर्णतया जानते थे । यह बात भारत-युद्ध से कुछ पहले की है ॥ १६ ॥

[अथ षष्ठः पादः]

अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते ।

अवसाय॑ पद्वते॑ रुद्र मृळ । [ऋ० १० । १६९ । १ ॥] इति ।

पद्वदवसं गावः पथ्यदनम् । अवतेर्गत्यर्थस्य । असो नामकरणः । तस्मान्नावगृह्णन्ति ।

अवसायाश्वान् । [ऋ० १ । १०४ । १ ॥] इति ।

स्यतिः उपसृष्टः विमोचने । तस्मादवगृह्णन्ति ।

दूतो निर्ऋत्या इदमा जगाम । [ऋ० १० । १६५ । १ ॥] इति ।
पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा । षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा । आःकारान्तम् ।

परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व । [ऋ० १० । १६४ । १ ॥] इति ।
चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा । ऐकारान्तम् ।

परः संनिकर्षः संहिता । पदप्रकृतिः संहिता । [ऋक् प्राति० २ । १ ॥] पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि ।

अर्थ—और भी, इस [शास्त्र] के बिना [मन्त्रों में] पदविभाग नहीं होता ।

१. [अवसाय]=पाथेय=सम्बल=मार्ग के भोजन देने वाले, (पढ़ने) =पाथ वाले के लिए, हे रुद्र, दो ।

पाथवाला अवम=पाथेय गौए [हैं ।] मार्ग में अदनम्=भोजनम्=भोजन [का उपाय हैं ।] अवति गत्यर्थ वाले से । [इस में] अस नामकरण= प्रत्यय है । इस कारण से नहीं अवग्रह करते हैं [पदकार ।] अवसाय इस प्रकार अखण्ड रखते हैं ।

२ खोल कर घोडों को [योक्त्रों में ।]

[इस अवसाय रूप में] स्यति धातु [अव उपसर्ग से] उपसृष्ट=युक्त विमोचन अर्थ में [है ।] इस कारण से अवग्रह करते हैं [पदकार । अव ऽसाय इस प्रकार मध्यत विच्छेद करते हैं ।]

१ दूत निर्ऋति=मृत्यु अथवा नरक से, अथवा निर्ऋति का, यह आया । [इस पद में] पञ्चमी के अर्थ का दर्शन, [अथवा] षष्ठी के अर्थ का दर्शन है । [अत यह निर्ऋत्या पद] आकार अन्त वाला है= निर्ऋत्याः ।

२. परे [जा कर] निर्ऋति के लिए कहो । [इस पद में] चतुर्थी के अर्थ का दर्शन है । [अत निर्ऋत्यै रूप] ऐकार अन्त [वाला जानना चाहिए ।]

परम समीपता संहिता [होती है ।] पदप्रकृति वाली संहिता [होती है ।] पदप्रकृति वाले सारे चरणों के पार्षद=प्रातिशाख्य [होते हैं ।]

भाष्य—पद-विभाग वेदविद्या का आवश्यक अङ्ग है । यह पद-विभाग अर्थ के अनुकूल ही ठीक रहता है । अतः मन्त्रार्थ का जानना अत्यन्त आवश्यक है । एतदर्थ यास्क ने संदिग्ध होने वाले एक एक पद के दो दो उदाहरण दिए हैं ।

याज्ञिक कहता है कि यज्ञकर्म में संहिता ही प्रयुक्त होती है, अतः पद-विभाग का क्या लाभ ? इस पद पर यास्क कहता है कि संहिता भी तो पदों का परम सन्निकर्ष है । अतः पद-विभाग जानना आवश्यक है ।

आगे यास्क ने संहिता शब्द का लक्षण लिखा है । यही लक्षण पाणिनि ने भी लिखा है । पर यास्क पाणिनि का पूर्ववर्ती है । उस ने इस लक्षण के साथ इति पद भी नहीं जोड़ा । अतः बहुत संभव है कि उसने आपिशालि आदि के लक्षण को अपना रूप दे दिया है । पाणिनि ने इसी लक्षण को अपनाया है ।

संहिता का दूसरा लक्षण शौनकीय प्रातिशाख्य २ । १ में है । पर उसके आगे भी इति पद नहीं है । शौनक और यास्क दोनों अति समीप काल के हैं ।

पदप्रकृतिः संहिता पाठ के दुर्ग ने दो अर्थ दिए हैं । प्रथम अर्थ है, पदों की जो प्रकृति अथवा मूल है, वही संहिता है । दूसरा अर्थ है, पद हैं प्रकृति जिसकी, वह संहिता है । स्कन्द ने यह दूसरा अर्थ ही लिखा है । प्राचीन वैदिक पक्ष के अनुसार संहिता ही मूल है ।

चरण और शाखा में थोड़ा अन्तर है । चरण मूल है, और शाखा उसका अवान्तर विभाग है । यथा—वाजसनेय चरण के अन्तर्गत काण्व आदि पन्द्रह शाखाएं हैं ।

पार्षदानि=पर्षदि भवानि प्रातिशाख्यानि । इस से प्रतीत होता है कि चरणों के अन्तर्गत प्रत्येक शाखा वालों के अपने अपने पर्षत् थे । उन में स्वर आदि के उच्चारण के जो नियम थे, वे ही पार्षदों अथवा प्रातिशाख्यों में लिखे गए ।

अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति । तदेतेनोपेक्षितव्यम् । ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति ।

इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति । [ऋ० ६ । ४ । ७ ॥]

इति ! वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे ।

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व । [ऋ० १०।८४।२॥] इति ।

तथाग्निमारुतेन मन्त्रः । [त्विषितो ज्वलितः । त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिनाम भवति ।

अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति । अज्ञाननिन्दा च ॥ १७ ॥

अर्थ—और भी यज्ञकर्म में देवता विषयक ज्ञान और कर्म से अनेक (प्रश्न)=आक्षेप अथवा विधियाँ होती हैं। यह इस [शास्त्र से बताए गए अर्थ] द्वारा ध्यान से जानना चाहिए। वे [याज्ञिक और मीमांसक] यदि कहें 'लिङ्ग=देवता वाचक पद के जानने वाले इस विषय में हम हैं।' [वे अगले मंत्र की कठिनाई को कैसे सुलझाएंगे? यथा—]

इन्द्र के समान तुम को बल से देवता वायु को तृप्त करते हैं। [यहाँ] वायु लिङ्ग को और इन्द्र लिङ्ग को आग्नेय मन्त्र अर्थात् अग्नि देवता वाले मन्त्र में [देखते हैं।]।

अग्नि के समान हे मन्यो! (त्विषित) दीप्ति वाला अर्थात् जलता हुआ [शत्रुओं को] सहस्व=दबाओ। इस प्रकार अग्नि [लिङ्ग है] मन्यु देवता वाले मन्त्र में। [त्विषित=ज्वलित, त्विषि यह भी, इस [धातु का] दीप्ति नाम होता है [पुराने निघण्टुओं में]॥ १७ ॥

भाष्य—प्रदेशः=विधियाँ यह पुराना प्रयोग है।

लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति। यहाँ इति पद से प्रतीत होता है कि यह किसी मीमांसा ग्रन्थ का वचन है अथवा पूर्वपक्ष का अन्त।

दीप्ति नाम यद्यपि यह वचन यास्कीय निघण्टु में नहीं है तथापि यास्क की शैली से निश्चित है कि किसी पुराने निघण्टु में यह पढ़ा गया है।

और भी [निरुक्त शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि] ज्ञान की प्रशंसा होती है और अज्ञान की निन्दा ॥ १७ ॥

आर्य जाति में ज्ञान की महती प्रशंसा रही है। राम के राज्य में कोई अविद्वान् न था। इसी प्रकार अश्वपति के राज्य में भी कोई अविद्वान् न था। योगनिष्ठ मुनि देवल अज्ञान संशय ज्ञान और मिथ्या ज्ञान की निन्दा करता है।

यास्क स्वयं लिख चुका है—अधिक विद्या वाला प्रशंसित होता है ।[1] इस अवस्था में रॉथ, मैक्डानल और कीथ प्रभृति का यह लिखना कि यास्क के काल में वेदार्थ भूल चुका था, महती धृष्टता है ।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

स्थाणुस्तिष्ठतेः । अर्थोऽर्तेः । अरणस्थो वा ॥ १८ ॥

अर्थ—खम्भा है यह पुरुष भार उठाने वाला निश्चय होता है, पाठमात्र पढ़ कर वेद को नहीं जानता जो अर्थ को । जो अर्थ को जानने वाला है [वह] सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त होता है । नाक को प्राप्त होता है । ज्ञान से धुले हुए पापों वाला ।

जो ग्रहण (=कण्ठस्थ) किया गया है, विना अर्थ-ज्ञान के पाठमात्र से ही उच्चारण किया जाता है । अग्निरहित अवस्था में जैसे सूखा ईन्धन होता है [वैसे] नहीं वह जलता कभी भी ।

स्थाणु तिष्ठति से । अर्थ अर्ति से अथवा पराया=अपरिचित बन कर ठहरता है ॥ १८ ॥

भाष्य—अधीत्य वेदं, यहां वेद पद केवल मन्त्र के लिए है, ब्राह्मण के लिए नहीं । ब्राह्मण में मन्त्रार्थ खोलकर विधि का विधान होता है । पूर्व प्रकरण भी मन्त्र की अनर्थकता का है, ब्राह्मण की अनर्थकता का नहीं । अतः वेद शब्द मन्त्र का द्योतक है । यह प्रमाण अति प्राचीन काल का है, अर्थात् उस काल का जब याजुष आदि संहिताओं में मन्त्रों के साथ ब्राह्मण का संमिश्रण नहीं हुआ था ।

पूर्वोद्धृत द्वितीय श्लोक में गृहीतम् के स्थान में महाभाष्य १ । १ । १ का पाठ अधीतम् है । महाभाष्य का पाठ ही वाक्यपदीय की भर्तृहरि कृता स्वोपज्ञटीका १ । १४ में उद्धृत है ।

१. अधिक देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण पृ० ६८-६९ ।

ज्ञान से पाप नष्ट होते हैं इसलिए गीता में भी कहा है, कि ज्ञानाग्निदग्धकर्मा बनो, यह सांख्य का सिद्धान्त है कि पञ्चविंशति तत्त्वज्ञ मुक्त हो जाता है।

ऋति गत्यर्थक है। ऋरण=गमन, ऋर्ण=विद्या और धनादि एक से दूसरे को जाते हैं। स्कन्द के अनुसार ये दोनों स्मृति के श्लोक हैं, परन्तु निरुक्त में इन का सस्वर पाठ है। अतः निश्चित है कभी लोकभाषा के पाठ पर भी स्वर होता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में उद्धृत गाथाओं पर भी स्वर रहता था। शतपथ में प्रयुक्त गाथाओं में स्वर आज भी विद्यमान है॥ १८॥

ज्ञान की प्रशंसा में लोक से दो श्लोक उद्धृत कर के अब शास्त्रकार तद्विषयक दो मन्त्र उद्धृत करता है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
[ऋ० १०।७१।४॥]

अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचम्। अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। इत्यविद्वांसमाहार्धम्। अप्येकस्मै तन्वं विसस्र इति स्वमात्मानं विवृणुते। ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा। उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा। [ऋतुकालेषु सुवासाः कल्याणवासाः कामयमाना] ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोति। इत्यर्थज्ञप्रशंसा। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ १९॥

अर्थ—एक देखता हुआ भी नहीं देखता वाणी को। और एक सुनता हुआ भी नहीं सुनता इस को। और एक के लिए [अपने] शरीर को खोल देती है [वाणी] जाया=स्त्री जैसे पति के लिए [शरीर को खोलती है] कामना करती हुई सुन्दर, कल्याण वाले वस्त्रों को पहनने वाली।

और भी, एक देखता हुआ नहीं देखता वाणी को, और भी, सुनता हुआ नहीं सुनता इस [वाणी] को। यह अविद्वान के प्रति कहा [ऋचा के] आधे भाग [में]। और भी, एक के लिए (तन्वं=स्वम् आत्मानं)=अपने शरीर को खोलती है। [वाणी अपने स्वरूप का ज्ञान खोलती है।] ज्ञान प्रकाशन है अर्थ का, [यह] कहा [तीसरे पाद की] इस वाक् से।

(उपमा+उत्तमया) उपमा को [कहा] अन्तिम [पाद की] वाक् से । जाया=स्त्री जैसे पति के लिए [उस पति की] कामना करती हुई, सुन्दर वस्त्रों वाली, ऋतु कालों के [उत्तर के दिनों] में कल्याणकारी वस्त्रों वाली [पति की अथवा सन्तान की] कामना करती हुई। ऋतुकालों के उपरान्त जैसे वह [पति] इस [अपनी] स्त्री को देखता है, [अथवा] वह [अर्थज्ञ इन वाणी को] सुनता है। यह वाणी का अर्थ जानने वाले की प्रशंसा है । इस [विषय] की अगली [ऋक्] अधिक खोल कर कहने के लिए [है] ॥ १९ ॥

भाष्य—योगी लोग वाक् को देखते, सुनते और समझते हैं। पर मूर्ख लोग वाक् को देखते हुए भी नहीं देखते, इस का क्या तात्पर्य है। इस का एक उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिष्य और उस समय इङ्गलैण्ड के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक पं० श्यामजीकृष्ण वर्मा एम० ए० ने जर्मन देश में बैठी अन्तर्राष्ट्रिय प्राच्यविद्या विशारदों की सभा में दिया था। वह उत्तर था कि आर्य लोगों को लिपि का ज्ञान आरम्भ से ही था। अतः वाणी का देखना, लिपि बद्ध पाठ का पढ़ना है। यह उत्तर पर्याप्त युक्त है, पर पक्षपाती ईसाई-लेखकों को यह उत्तर चुभा।

वाणी का शरीर अथवा स्वरूप क्या है। इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर मन्त्र और ब्राह्मण में मिलता है। मन्त्रों से ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ—वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे । भर्तृहरिकृता वाक्यपदीय १ । १२१ की स्वोपज्ञा टीका के अनुसार यह एक ऋचा का प्रतीक है । अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र १४ । ३ की विवृति में यही प्रमाण इति श्रुतिः लिख कर उद्धृत किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याहृतियों से सप्त लोकों की उत्पत्ति का कथन है। मनु के अनुसार भी वाणी में सब अर्थ अथवा पदार्थ निहित है।[1] वाणी से ही सारी सृष्टि विनिसृत हुई है। अतः सृष्टि उत्पत्ति का सारा रहस्य वाणी के देखने और सुनने वाले को ज्ञात हो जाता है। इस ज्ञान की सहायता से उस की मुक्ति हो जाती है। पत्नी अपना कोई अङ्ग पति से छिपाती नहीं। इसी प्रकार वाणी अपनी सम्पूर्ण घटना ज्ञानी के लिए खोल देती है।

इस मन्त्र से एक और रहस्य भी खुलता है। ऋतुकाल के दिनों में स्त्री सुवासाः नहीं रहती। अर्थापत्ति से यह स्पष्ट है । ऋतुकाल के पश्चात् वह

१. पूर्व, पृष्ठ ३ के आरम्भ में मनु ४ । २५६ का प्रमाण।

ज्ञान से पाप नष्ट होते हैं इसलिए गीता में भी कहा है कि ज्ञानाग्निदग्धकर्मा बनो, यह सांख्य का सिद्धान्त है कि पञ्चविंशति तत्त्वज्ञ मुक्त हो जाता है।

ऋच्छति गत्यर्थक है। ऋच्छन्=गमन अर्थ=विद्या और धनादि एक से दूसरे को जाते हैं। स्कन्द के अनुसार ये दोनों स्मृति के श्लोक हैं, परन्तु निरुक्त में इन का सस्वर पाठ है। अतः निश्चित है कि लोकभाषा के पाठ पर भी स्वर होता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में उद्धृत गाथाओं पर भी स्वर रहता था। शतपथ में प्रयुक्त गाथाओं में स्वर आज भी विद्यमान है॥ १८॥

ज्ञान की प्रशंसा में लोक से दो श्लोक उद्धृत कर के अब शास्त्रकार तद्विषयक दो मन्त्र उद्धृत करता है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

[ऋ० १०। ७१। ४॥]

अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचम्। अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। इत्यविद्वांसमाहार्धम्। अप्येकस्मै तन्वं विसस्र इति स्वमात्मानं विवृणुते। ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा। उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा। [ऋतुकालेषु सुवासाः कल्याणवासाः कामयमाना] ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोति। इत्यर्थज्ञप्रशंसा। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ १९॥

अर्थ—एक देखता हुआ भी नहीं देखता वाणी को। और एक सुनता हुआ भी नहीं सुनता इस को। और एक के लिए [अपने] शरीर को खोल देती है [वाणी] जाया=स्त्री जैसे पति के लिए [शरीर को खोलती है] कामना करती हुई सुन्दर, कल्याण वाले वस्त्रों को पहनने वाली।

और भी, एक देखता हुआ, नहीं देखता वाणी को, और भी, सुनता हुआ नहीं सुनता इस [वाणी] को। यह अविद्वान के प्रति कहा [ऋचा के] आधे भाग [में।] और भी, एक के लिए (तन्वं=स्वम् आत्मानं)=अपने शरीर को खोलती है। [वाणी अपने स्वरूप का ज्ञान खोलती है।] ज्ञान प्रकाशन है अर्थ का, [यह] कहा [तीसरे पाद की] इस वाक् से।

ज़िस ने, [उस] पुरुष को नहीं पहुँच सकते [साधारण लोग], वाणी द्वारा ज़ानने योग्य प्रवल विषयों मे भी । [ऐसा साधारण पुरुष] विना धेनु=वाक् के हो चलता फिरता है । वह माया वाली, वाक् की नकल वाली [वाणी से चलता फिरता है ।] नहीं इस के लिए [वाणी रूपी धेनु=गौ] कामनाओं को दोहती है, [जो कामनाएं] वाक् के द्वारा दोही जाती हैं, देव स्थानों में और मनुष्य स्थानों में । [तथा] जो वाणी को केवल सुना हुआ है, अफला और अपुष्पा को [=विना अर्थ वाली को ।] अफला उस के लिए [और] अपुष्पा वाणी होती है । अथवा थोड़े पुष्प और फल वाली [होती है]। अर्थ को वाणी का पुष्प और फल कहा [मन्त्र ने ।] यज्ञ-विषयक ज्ञान और देवता-विषयक ज्ञान पुष्प और फल [हैं]। अथवा देवता-विषयक ज्ञान और अध्यात्म=शरीर-विषयक अथवा ब्रह्माण्ड-विषयक ज्ञान ॥ २० ॥

भाष्य—ज्ञान की स्तुति करने वाले यास्क द्वारा उद्धृत दोनों मन्त्र ऋग्वेद के बार्हस्पत्य सूक्त में हैं । इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा है कि वेद ज्ञान जो प्रथम अर्थात् आदि में हुआ, जो सम्पूर्ण वाणी का अग्र अर्थात् मूल है, जो आदि सृष्टि के समय पदार्थों के नाम रखने के अवसर पर प्रकट हुआ, जो सम्पूर्ण ज्ञानों में श्रेष्ठ और जो अरिप्र अर्थात् दोष रहित है, वह ज्ञान प्रेम से भरे हुए ऋषि-हृदयों में से बाहर निकला । यह वेद-ज्ञान सार्थक और जीवन का पूर्ण फल देने वाला है ।

इन्हीं वेद मन्त्रों अथवा छन्दों की कृपा से देवस्थान मिलते हैं और मनुष्यों में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ।

मन्त्रों की कृपा से सूर्य लोक, द्युलोक अथवा अन्य ऊपर के लोकों को मुक्तात्मा प्राप्त होते हैं । मन्त्रों के अर्थज्ञान के आनन्द के पश्चात् केवल मुक्ति की ही अवस्था होती है । इसीलिये तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । १२ । ९ । ७ में कहा है—नाऽवेदविन्मनुते तं बृहन्तम् ।

निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों में अध्यात्म पद का अर्थ शरीर-सम्बन्धी अथवा विराट् शरीर-सम्बन्धी होता है । यास्क मन्त्रों को कण्ठस्थमात्र रखने का भी थोड़ा पुण्य मानता है ।

आगे निरुक्त शास्त्र का आगम-प्रकार कहा है ।

सुवासा हो जाती है। अन्यत्र, स्त्रियों को घरों में भी श्रेष्ठ वास धारण करने चाहिए विशेष कर पतियों से मिलने के समय। ये वास कल्याण वास हों। इस का रहस्य कामशास्त्र से जानना चाहिए।

वास और वस्त्र—वास पहनने का कपड़ा होता है। शाटिका आदि अथवा सिला हुआ कपड़ा। इस वास में शरीर बसता है। वस्त्र वह, जो तन्तुवाय से बना हुआ होता है। वर्तमान सृष्टि के प्रारम्भ से ही सुन्दर कपड़ों का ज्ञान चला आया है। यहां विकासवाद को स्थान नहीं।

अब दूसरी विषय पर अगला मन्त्र है—

उत त्वं सुख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥
[ऋ० १० । ७१ । ५ ॥]

अप्येकं वाक्सख्ये स्थिरपीतमाहु । रममाणं विपीतार्थं देवसख्ये । रमणीये स्थान इति वा । विज्ञातार्थं यमाप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि । अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया । नास्मै कामान् दुग्धे वाक् दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु । यो वाचं श्रुतवान्भवत्यफलामपुष्पा मिति । अफलास्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा । किञ्चित्पुष्पफलेति वा । अर्थं वाचः पुष्पफलमाह । याज्ञदैवते पुष्पफले । देवताध्यात्मे वा ।

अर्थ—और एक को [वाक् के] सख्यकर्म में (स्थिरपीतम्) स्थिर भाव में पिया हुआ अर्थात् पक्के अनुभव वाला कहते हैं। और नहीं इस [विद्वान] को (हिन्वन्ति) प्राप्त हो सकते हैं, अथवा नहीं उस की तुलना में ठहर सकते हैं (वाजिनेषु) [वाणी के] बलों में। अधेनु [रूप] के साथ चलता फिरता है, माया के साथ अर्थात् बनावटी रूप में वह पुरुष जिस ने सुना है [वाणी को] अफला और अपुष्पा को।

और भी, एक को वाणी के सख्य में स्थिरपीत कहते हैं। [वाणी के उद्यान में अर्थात् भौतिक देवों और विद्वानों के मध्य में,] रमण करते हुए को, पूर्ण रूप में पिया है अर्थ को जिस ने ऐसे को। [देवसख्य] छन्दों की कृपा और सूर्य की रश्मियों के सहयोग से देवों के सख्य में। अथवा अन्य रमणीय स्थानों में, अथवा विद्वानों के मध्य में जान लिया है अर्थ को

जीवित कर सकता था, यह रहस्य अद्वितीय है । वह परपुरुष में यौवन का संक्रमण करके उसे जरामुक्त कर सकता था । इस विषय का अधिक ज्ञान मद्रचित वेदविद्यानिदर्शन से कीजिए ।

यदि कोई कहे कि भरद्वाज का आकाशगङ्गा तक पहुंचना गप्प है, तो उस महा अज्ञानी पर हम दया ही कर सकते हैं । उस के लिए तो विमानविद्या ही गप्प है ।

योरोप का विकास-मतस्थ पुरुष कहता है कि आदि मनुष्य मूर्ख, असभ्य और ज्ञानशून्य था । यह मत कल्पना पर आश्रित है । योगविद्या और इतिहास इस के विरुद्ध हैं । भारतीय इतिहास में जितना हम पुराने से पुराने काल में जाते हैं, ज्ञान उतना ही अधिकाधिक दीखता है । इस को न मानना अपने को ठगना है, पूरी आत्मवञ्चना है ।

अतः यास्क का आगम-विषयक लेख परे नहीं फेंका जा सकता ।

उपदेश-परम्परा—आदि ऋषियों का ज्ञान उपदेश द्वारा आगे-आगे बढ़ा । आरम्भ में मानव बुद्धि अति निर्मल और स्मृति अधिकाधिक धारण करने वाली थी । साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से उत्तरकाल के विद्वान् उतनी बुद्धि और स्मृति वाले न थे, पर वे उपदेश को सरलता से ग्रहण करते थे । उस के उत्तर काल का मानव अधिक न्यून शक्ति वाला हो गया । उस की बुद्धि-शक्ति में ग्लानि हुई । तब वेदाङ्ग शास्त्र प्रवृत्त हुए । वेदाङ्गों का वेत्ता बृहस्पति हुआ ।[1] उस से पूर्व कश्यप आदि ऋषि निघण्टु रूपी समाम्नाय का समाम्नान कर चुके थे । यह बात भारत-युद्ध से अर्थात् विक्रम से ३०१० वर्ष पूर्व से भी सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुकी थी । यह इतिहास-सिद्ध सत्यता की कसौटी पर परीक्षित आगम-परम्परा है । इस के विपरीत योरोप के वैज्ञानिकम्मन्यों ने जो झूठा कल्पित इतिहास अपने असिद्ध भाषामत के आधार पर खड़ा करके प्रस्तुत किया है, वह विद्वानों से निन्दित है ।

वेदं च वेदाङ्गानि च—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसका अर्थ किया है । ""समाम्नासिषुः सम्यगभ्यासं कारितवन्तः । येन सर्वे मनुष्याः वेदं च वेदाङ्गानि च जानीयुः । इति । निरुक्त पाठ का दूसरा अर्थ भी है—वेद को आम्नायों, चरणों और शाखाओं के रूप में समाम्नात किया । तथा वेदाङ्गों का संग्रह किया ।

१. शान्तिपर्व २१२ । ३२ ॥

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्सम्प्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेम ग्रन्थं समाम्नासिषुः । वेदं च वेदाङ्गानि च । बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा ।

अर्थ—साक्षात् किया धर्म को जिन्होंने, ऐसे ऋषि हुए । उन्होंने अपने से छोटों के लिए जिन्हें धर्म का साक्षात्कार न था, उपदेश द्वारा मन्त्रों के [पाठ और अर्थ] दिए । उपदेश के [ग्रहण के] लिए ग्लानि करते हुए [और जो अधिक] छोटे [थे] उन्होंने स्फुट ग्रहण के लिए इस [निघण्टु] ग्रन्थ का अभ्यास किया । और वेद का और वेदाङ्गों का । बिल्म=भिल्म, अथवा भासन=प्रकाशन ।

भाष्य—आदि सृष्टि में और युग के आदि में धर्म को साक्षात् करने वाले ऋषि थे । वे स्वयमागमविज्ञान थे । वे गौरवतम थे ।[1] उन्हें ही मन्त्र और ज्ञान के तत्त्व स्वयं ज्ञात हुए । गत सृष्टि अथवा युग में वे अत्यन्त पुण्यकर्मा थे । वे परम योगी महान् प्रेम से ईश्वर प्रेरित मन्त्रों को देखने वाले हुए । वे आदि में शरीर निर्माता भी थे ।

भारतवर्ष का सम्पूर्ण ज्ञान भूत भव्य भविष्यत्[2] और सत्यधर्मपरायण[2] ऋषियों की देन है । वेद धर्मशास्त्र आयुर्वेद धनुर्वेद, अर्थवेद, गान्धर्ववेद, ज्योतिष शास्त्र आदि समस्त विज्ञान का आगम ऋषियों से हुआ । वे ऋषि थे, ब्रह्मा, अत्रि, वसिष्ठ, स्वायंभुव मनु, मार्कण्डेय आदि ।

ऋषि ज्ञान की महिमा इसी बात से समझ में आ सकती है कि उनका ज्ञान संसार भर में आज तक नहीं हो सका । भरद्वाज ऋषियों में तपस्वीतम, अनूचानतम और दीर्घजीवितम था ।[3] भरद्वाज ऋषि ने आकाश गङ्गा में स्नान किया ।[4] वसिष्ठ ने इन्द्र का प्रत्यक्ष देखा । यह इन्द्र भौतिक शक्ति का, वास्तविक वैद्युताग्नि का दिव्य रूप है ।[5] शुक्राचार्य अथवा उशना ऋषि किसी भी मृतक को

---

१. चरक संहिता, शरीर स्थान । २ शान्तिपर्व १४२ । ३२ ॥

३ ऐतरेय आरण्यक १ । २ । २ ॥

४ आकाशगङ्गागतश्च पुरा भरद्वाजो महर्षिः उपास्पृशत् श्रीमान् भ्रमन् अमना विष्णुनाऽभ्याहतं न । शान्तिपर्व १८२ । ५४ ॥

५ निरु० दै० खं० २ । १६ ॥

जीवित कर सकता था, यह रहस्य अद्वितीय है । वह परपुरुष में यौवन का संक्रमण करके उसे जरामुक्त कर सकता था । इस विषय का अधिक ज्ञान मद्रचित वेदविद्यानिदर्शन से कीजिए ।

यदि कोई कहे कि भरद्वाज का आकाशगङ्गा तक पहुंचना गप्प है, तो उस महा अज्ञानी पर हम दया ही कर सकते हैं । उस के लिए तो विमानविद्या ही गप्प है ।

योरोप का विकास-मतस्थ पुरुष कहता है कि आदि मनुष्य मूर्ख, असभ्य और ज्ञानशून्य था । यह मत कल्पना पर आश्रित है । योगविद्या और इतिहास इस के विरुद्ध हैं । भारतीय इतिहास में जितना हम पुराने से पुराने काल में जाते हैं, ज्ञान उतना ही अधिकाधिक दीखता है । इस को न मानना अपने को ठगना है, पूरी आत्मवञ्चना है ।

अतः यास्क का आगम-विषयक लेख परे नहीं फेंका जा सकता ।

उपदेश-परम्परा—आदि ऋषियों का ज्ञान उपदेश द्वारा आगे-आगे बढ़ा । आरम्भ में मानव बुद्धि अति निर्मल और स्मृति अधिकाधिक धारण करने वाली थी । साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से उत्तरकाल के विद्वान् उतनी बुद्धि और स्मृति वाले न थे, पर वे उपदेश को सरलता से ग्रहण करते थे । उस के उत्तर काल का मानव अधिक न्यून शक्ति वाला हो गया । उस की बुद्धि-शक्ति में ग्लानि हुई । तब वेदाङ्ग शास्त्र प्रवृत्त हुए । वेदाङ्गों का वेत्ता बृहस्पति हुआ ।[1] उस से पूर्व कश्यप आदि ऋषि निघण्टु रूपी समाम्नाय का समाम्नान कर चुके थे । यह बात भारत-युद्ध से अर्थात् विक्रम से ३०६० वर्ष पूर्व से भी सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुकी थी । यह इतिहास-सिद्ध सत्यता की कसौटी पर परीक्षित आगम-परम्परा है । इस के विपरीत योरोप के वैज्ञानिकब्रुवों ने जो झूठा कल्पित इतिहास अपने असिद्ध भाषामत के आधार पर खड़ा करके प्रस्तुत किया है, वह विद्वानों से निन्दित है ।

वेदं च वेदाङ्गानि च—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसका अर्थ किया है । …समाम्नासिषुः सम्यगभ्यासं कारितवन्तः । येन सर्वे मनुष्याः वेदं च वेदाङ्गानि च जानीयुः । इति । निरुक्त पाठ का दूसरा अर्थ भी है—वेद को आम्नायों, चरणों और शाखाओं के रूप में समाम्नात किया । तथा वेदाङ्गों का संग्रह किया ।

---

१. शान्तिपर्व २१२ । ३२ ॥

यास्क ने इतिहास का यह परम उज्ज्वल तथ्य सुरक्षित कर के मानव पर महान् उपकार किया है।

एतावन्तः समानकर्माणो धातवः। धातुर्दधातेः। एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि। एतावतामर्थानामिदमभिधानम्। नैघण्टुकमिदं देवतानाम। प्राधान्येनेदमिति। तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्।

अश्वं न त्वा वारवन्तम् ॥ [ऋ० १। २७। १ ॥]

अश्वमिव त्वा वालवन्तम्। वाला दंशवारणार्था भवन्ति। दंशो दशतेः।

अर्थ—इतने समान अर्थ वाले धातु हैं। धातु दधाति से [है।] इतने इस द्रव्य के नाम हैं। इतने अर्थों का यह वाचक है। नैघण्टुक (=अप्रधान) यह [है] देवता का नाम। प्रधानता से यह है। तो जो अन्य देवता वाले मन्त्र में [कोई देवता नाम] आगिरता=आ जाता है, नैघण्टुक [=गौण होता है] वह।

भाष्य—निघण्टु के तीन प्रकरण—प्रथम प्रकरण में दो भाग हैं। एक भाग समानकर्मा धातुओं का है। यथा—अष्टादश कान्तिकर्माणः। २। ६॥ दूसरा भाग एक सत्त्व=द्रव्य=पदार्थ के अनेक नामों का है। यथा—एकविंशतिः पृथिव्याः। १। १॥ इन दोनों भागों का एक सामान्य नाम नैघण्टुक प्रकरण है। पर इस प्रकरण का यह नैघण्टुक नाम निरुक्त में नहीं है। निरुक्तस्थ अगला नैघण्टुक पद गौण अर्थ का वाची है। दूसरा प्रकरण एक नाम के अनेक अर्थों का है। इस प्रकरण को नैगम काण्ड कहते हैं। यही मध्यम प्रकरण है। इस में अनवगत संस्कार निगम भी हैं। नैघण्टुकम् इदं देवतानाम। गौण है यह दैवतनाम। प्रधानता से है यह देवता का नाम। यह दैवत प्रकरण अथवा दैवत काण्ड का विषय है। इस दैवत प्रकरण के विषय में दो मन्त्रों के उदाहरण हैं।

१—अश्वं न त्वा वारवन्तम्।

घोड़े के समान, पुच्छ बालों वाले तुझे, [अग्नि को स्तुतियों से नमस्कार करने की इच्छा करते हैं।] [जैसे घोड़ा गर्दन और पूछ के बालों से मक्खी आदि को दूर करता है, वैसे यज्ञ के विघ्नों को अग्नि अपनी ज्वालाओं से दूर करे।]

वाला=वाल, जो दंशों के निवारण के लिए होते हैं। दंश दशति से है।

भाष्य—मन्त्र का भाव स्पष्ट है। बाल-रहित घोड़ा दुःखी होता है। इसी प्रकार ज्वाला रहित यज्ञाग्नि सुख नहीं दे सकता। इसी लिए कात्यायन ने कर्म-प्रदीप में लिखा है कि भस्म आदि में हवि न देवे। यज्ञाग्नि सदा ज्वालाओं वाला रहना चाहिए।

२.—मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ॥ [ऋ० १।१५४।२ ॥]

मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः। भीमो बिभ्यत्यस्मात्। भीष्मोऽप्येतस्मादेव। कुचर इति चरतिकर्म कुत्सितम्। अथ चेद्देवताभिधानम्। क्वायं न चरतीति। गिरिष्ठा गिरिस्थायी। गिरिः पर्वतः। समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान्पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा। अर्धमासपर्व। देवानस्मिन्प्रीणन्तीति। तत्प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात्। मेघस्थायी मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव।

अर्थ—मृग=सिंह अथवा व्याघ्र के समान भीम=भयानक, कुत्सितकर्मा पर्वतस्थायी।

सिंह अथवा व्याघ्र के समान भयानक निन्दितकर्मा पर्वतस्थायी। मृग, मार्ष्टि गत्यर्थक से है। भीम, डरता है इस से। भीष्म पद भी इस से ही है। कुचर यह चरतिकर्मा है। कुत्सित=निन्दितकर्म [में]।

अब यदि [यह कुचरपद, जो इन्द्र का विशेषण हो सकता है,] देवता का नाम है, [तो अर्थ होगा], कहां यह नहीं चलता फिरता। गिरिष्ठाः= गिरि में ठहरने वाला। गिरि [का अर्थ है] पर्वत। बहुत अच्छे प्रकार [भूमि से] उद्गीर्ण=ऊपर को उगला हुआ होता है। पर्वों अर्थात् जोड़ों वाला है पर्वत। पर्व फिर पृणाति [दान-कर्मा] से है, [देव, पितर और मनुष्यों के लिए, हव्य, कव्य और दान दिया जाता है] अथवा प्रीणाति से। अर्धमास वाला पर्व [पूर्णिमा-अमावस्या]। देवों को इस में तृप्त करते हैं। इसी प्रकृति [=अर्ध मास पर्व] से दूसरा पर्व [अङ्गुलि पर्व, वंश-पर्व=बांस की पोरी, इक्षुपर्व= ईख-गन्ने की पोरी आदि] होता है। सन्धि=जोड़ की समानता से। [जैसे पूर्णिमा अमावास्या के दोनों पक्षों के मध्य में होने से उनको जोड़ने वाली होती है, वैसे ही ये दूसरे पर्व दो भागों को जोड़ने वाले होते हैं।] मेघ में ठहरा हुआ। मेघ भी गिरि इसी [उद्गीर्ण होने] से है।

भाष्य—इन्द्र गिरि में ठहरता है। ये गिरि मध्यम स्थान में भी हो सकते हैं। वही इन्द्र का स्थान है। वहां गिरि किस रूप में होते हैं, यह अन्वेषणीय है। गिरि शब्द से "उद्गीर्ण हुआ" अर्थ जिस अद्भुत प्रकार से सम्पृक्त है, वह शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध का सजीव उदाहरण है। वायु पुराण, अ० ८, और ब्रह्माण्ड पु० पूर्व भाग, अ० ७ के निम्नलिखित श्लोक, जो दोनों पुराणों के सधार से शुद्ध किए गए हैं, देखने योग्य हैं—

अग्निं सच्छादिताम् उर्वी[1] समीक्ष्याथ[2] प्रजापतिः ॥
उद्धृत्योर्वीम् अथाद्भ्यस्तु[3] अपस्[4] तासु स विन्यसत्[4]।
सामुद्रीस्तु[5] समुद्रेषु नादेयीर्निम्नगास्वपि[6] ॥ ८ ॥
पार्थिवीस्तु[7] स निःयस्य[7] पृथिव्यां सो ऽचिनोद् गिरीन्।
प्राक्सर्गे दह्यमाने तु पुरा संवर्तकाग्निना ॥ ९ ॥
तेनाग्निना प्रलीनास्ते[9] पर्वता भुवि सर्वशः।
शैत्यादेकार्णवे तस्मिन् वायुना ऽऽपस्तु[10] संहिता[11] ॥ १० ॥
निषिक्ता[12] यत्र यत्रासंस्तत्र तत्राचलो ऽभवत्।
स्कन्नाचलत्वाद्[13] अचला पर्वभिः पर्वताः स्मृताः ॥ ११ ॥
गिरयो हि[14] निगीर्णत्वात् शयनाच्च[15] शिलोच्चयाः। १२।

अर्थात्—प्रजापति ने समुद्र नदी और पृथिवी में आप स्थापित करके, तत्पश्चात् गिरियों को अचिनोत्=एकत्र किया अथवा चिना। ये गिरि कैसे चिने गए इस का प्रकार आगे वर्णित है। पूर्व सर्ग में युगान्त प्रलय के समय जब संवर्तकाग्नि से सम्पूर्ण पदार्थ जल गए तब अग्नि की अतिमात्रा से भूमि पर के सम्पूर्ण पर्वत पिघल पिघल कर भूमि में ही पूर्णतया लीन हो गए। फिर अग्नि शान्त हो गया उस का ताप और तेज अति न्यून हुआ। समय पाकर शैत्य का

१ ब्र०—इच्छन्। २ ब्र०—पृथिवीं स। ३ ब्र०—अथ न्यस्ता।
४ ४ ब्र०—ताप्यातुमति न्यसत्। वायु—वि यसन्। ५ ब्र०—सामुद्राश्च।
६ ब्र०—नादेयाश्च नदीषु च। ७ ब्र०—पृथक् तास्तु समीकृत्य।
८ वायु—तदा। ९ ब्र०—विलीनास्ते। १० ब्र०—ये तु।
११ वा०—संहता। १२ वा०—निषक्ता। १३ ब्र०—स्कन्नाच०।
१४ वा०—अग्नि। १५ ब्र०—अयनाच्च।

प्राबल्य हुआ । तब वायु और शैत्य के प्रभाव से आपः संहित अथवा संहत हो गए । यह संहित रूप हिम का था, अथवा किसी और प्रकार का, यह अभी मैं निर्णय नहीं कर पाया ।

ये संहत आपः भूमि पर जहां-जहां निषिक्त हुए अर्थात् छिड़के गए, अथवा अन्दर धंसे, अथवा निषक्त=लटकने लगे, वा जुड़ गए, वहीं-वहीं अचल बना । ये संहत आपः गिर कर भी अचल रहे, हिले नहीं, वही इन के और भूमि के योग से अचल बने । जहां-जहां ये आप टुकड़ों में, पर्वों में जुड़ कर एकत्र हुए, वहां पर्वत बने । जहां-जहां उन संहत आपः को अथवा हिम-तोदों को भूमि ने निगीर्ण (=निगल) लिया, वहां-वहां गिरि बने । जहां-जहां ये संहत-आपः किसी क्रम-विशेष में चिने गए, वहां-वहां भूमि में शिलाओं का चयन हुआ ।

गिरि और पर्वत का भेद ध्यान देने योग्य है ।

अपर्वाणस्तु गिरयः पर्वभिः पर्वताः स्मृताः ।

महाभारत पु० १६ । १३७ ॥

ये संहत आपः कितना काल संहत रहे, शैत्य-युग कब तक रहा, संहत आपः और पृथिवी का योग किस प्रकार हुआ, इस मात्रा में सम्पीडन हो रहा था, वा नहीं, ये सब प्रश्न अन्वेषणीय हैं । हम ने इस पाठ को इस लिए उद्धृत किया है कि पाठक जान लें कि—अचल, पर्वत, गिरि और शैल, इन चारों का निर्माण कैसे हुआ । इस विषय में प्राचीन विद्वान् कुछ विशेष वैज्ञानिक तथ्य जानते थे । उन्हीं में से यास्क एक विद्वान् ही नहीं, अपितु मुनि-कोटि का महापुरुष था । उसका ज्ञान और भी स्पष्ट था । उस ने गिरि का निर्माण उद्गीर्ण क्रिया द्वारा माना है । तदनुसार भूमि में गिरि बन तो चुके थे, पर तदनु उन का बाहर पूरा वमन हुआ । वे पृथिवी के अन्दर से उगले गए । ऐसी क्रिया ज्वालामुखियों के फटने पर लावा (lava) द्वारा होती है । तब ताप बढ़ा हुआ होता है ।

अब विद्वानों को ध्यान देना चाहिए कि गिरि शब्द में कैसा अद्भुत रहस्यमय इतिहास छिपा पड़ा है । अतः शब्द का निर्वचन करने वाला पुरुष महान् विद्वान् होना चाहिए । इस उच्च-कोटि के यास्क सदृश विद्वान् पर क्षुद्र-आशय सिद्धेश्वर वर्मा ने पाश्चात्य राथ और चिहिट्लिङ्ग आदि का अन्धानुकरण कर के यह आक्षेप किया कि निरुक्त में किए गए यास्क के लगभग आधे निर्वचन अशुद्ध हैं । जो उदारधिः पुरुष निर्वचन विद्या पर पूर्ण-अधिकार रखता था, उस पर वृथा कीचड़ फेंकना विद्वद्ब्रुवों का ही काम है ।

निरुक्त के अध्येता को इस एक उदाहरण से समझ लेना चाहिए कि यास्क के प्रत्येक निर्वचन में विज्ञान का महान् प्रकाश है।

मेघ भी गिरि है। मेघ का भी उद्गीर्ण होता है। एक घने मेघ में भी दूसरा नया मेघ उगला जाता हुआ बहुधा दिखाई देता है। वह पहले मेघ से बाहर निकलता है। वृत्र की दशा में यह अत्यधिक स्पष्ट है।

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। नैघण्टुकानि नैगमानीहेह ॥ २० ॥

अर्थ—जो जो नाम [इस निघण्टु में प्रधान स्तुति वाले देवताओं के हैं, [निघण्टु के उस काण्ड को] दैवत, यह कहते हैं [पुराने विद्वान्]। उस का ऊपर चल कर व्याख्यान करेंगे। नैघण्टुक और नैगमों को यहां, यहां ॥ २० ॥

भाष्य—उपरिष्टात्, प्राचीन विद्वान् अपने ग्रन्थ का एक पत्रा लिख कर नीचे रखते थे। तदनु उस के ऊपर-ऊपर अगले अगले लिखे पत्रे रखते जाते थे। इसी लिए यह 'उपरिष्टात्' का प्रयोग हुआ। इस का अर्थ है—इस के आगे।

इस अध्याय के इस अन्तिम लेख से यास्क ने निरुक्त के दो भाग कर दिये। पूर्वार्ध में निघण्टु के पहले ४ अध्यायों का व्याख्यान है और उत्तरार्ध में अन्तिम पांचवें अध्याय का। यह निरुक्त ग्रन्थ स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। यह निघण्टु का भाष्य मात्र है। व्याख्यास्यामः पद से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में गौण और प्रधान देवताओं की स्तुतियां हैं। इस से आगे परिशिष्टों में अति-स्तुतियां हैं। वहीं पर आत्म और परमात्म विद्या का निदर्शन है ॥ २० ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथ निर्वचनम् । तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात् । अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत । केनचिद् वृत्तिसामान्येन । अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात् । न त्वेव न निर्ब्रूयात् । न संस्कारमाद्रियेत । विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति । यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् ।

अर्थ—अब निर्वचन । तो जिन पदों मे स्वर और प्रकृति, प्रत्यय के संस्कार (समर्थौ) वास्तविक पदार्थ बताने मे सशक्त तथा शास्त्रद्वारा बताए हुए विकार से युक्त हों [अर्थात् धातु और प्रकृति, प्रत्यय मे स्पष्ट प्रतीत हो जावें] । वैसे उन का निर्वचन करे । और अर्थ के [प्रकृति, प्रत्यय से] युक्त [दिखाई न देने पर और] व्याकरण शास्त्र द्वारा अनिर्दिष्ट विकार के होने पर (अर्थनित्यः)=अर्थ मे ठहरा हुआ [निर्वचन] की परीक्षा करे । किसी (वृत्ति-सामान्येन) आख्यात और नाम रूप जो धातुओं से निकाले जाते है, उन की समानता से । न विद्यमान होने पर ऐसी समानता के [निर्वचन करने का त्याग न करे । तथापि [अक्षरमात्र और वर्णमात्र की समानता से निर्वचन करे । नही ऐसा होवे [कि] न निर्वचन करे । न ही [व्याकरणों मे बताए हुए प्रकृति-प्रत्यय के] संस्कार का [विशेष] आदर करे । संशय वाली ही वृत्तियां होती है । जैसा अर्थ अथवा पदार्थ है, उसी प्रकार विभक्तियों को झुकावे, अर्थात् बदले ।

भाष्य—निर्वचन पद की व्याख्या में दुर्ग लिखता है—अपिहितस्य अर्थस्य परोक्षवृत्तौ अतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम् । अर्थात् शब्द में छिपे हुए अर्थ के परोक्षवृत्ति अथवा अतिपरोक्ष वृत्ति होने पर खींच कर अथवा तोड़ कर जो वचन (कथन) हो वह निर्वचन होता है । निर्वचन पद का एक सीधा अर्थ भी है । अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति के समय

र्थ=पदार्थ की वह मात्रा जिस से वचन=शब्द बना, निर्गतो वचन यस्मात्। र अर्थ का सम्बन्ध पूर्व सृष्टि विद्या से है।

निरुक्त शास्त्र में अर्थ=पदार्थ की प्रधानता है। इस में शब्द के केवल स्थूल प का काम नहीं। शब्द का स्थूल रूप व्याकरण का विषय है।

अर्थ को ही पदार्थ कहते हैं, यह लोक में प्रसिद्ध है। अक्षपाद मुनि का याय शास्त्र में सूत्र है—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्०। यहां अर्थ पद में दार्थ का ग्रहण होता है। पदार्थ ही तो शब्द का अर्थ है। उसी पदार्थ के सिलसिले में आते समय आदि में सृष्टि निर्माण समय पर वह शब्द ईश्वरीय यमानुसार उच्चरित हुआ।

अर्थनित्य—अर्थ में ठहरा हुआ। नित्य=नियत। ऐसे समास पर पृष्ठ ४ शब्द में पहले भी लिखा जा चुका है। निर्वचन में व्याकरण का इसलिए धिक आदर नहीं कि वैयाकरणों ने प्रकृति प्रत्यय के विधान में अनेक कल्पनाएं ी हैं। इसलिए यास्क ने कहा है—विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। र्थात् संशय वाली वृत्तियां होती हैं। यहां वृत्ति शब्द अति प्राचीन अर्थ में युक्त हुआ है। अर्थात् आख्यातों और नामरूपों को धातुओं से निकालने वाले [illegible]। इसी अभिप्राय में व्याकरण महाभाष्य में पाणिनीय सूत्रों को वृत्तिसूत्र ो कहा भी है।[1] आपिशलि ने भी अपनी शिक्षा में वृत्तिकार[2] नाम का एक करण पढ़ा है।

प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते। अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थाने ादिलोपो भवति। स्तः। सन्तीति। अथाप्यन्तलोपो भवति। त्वा। गत्वमिति। अथाप्युपधालोपो भवति। जग्मतुः। जग्मुरिति। थाप्युपधाविकारो भवति। राजा। दण्डीति। अथापि वर्णलोपो वति। तत्त्वा यामि। इति। अथापि द्विवर्णलोपः। तृच इति। थाप्यादिविपर्ययो भवति। ज्योतिः। घनः। बिन्दुः। वाट्य इति। थाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति। स्तोकाः। रज्जुः। सिकताः। तर्कुरिति।

---

१ न ब्रूमो वृत्तिसूत्र प्रामाण्यात्। २। १। १ ॥
२ पाणिनीय शिक्षा सूत्र में भी यह वृत्तिकार प्रकरण है।

अर्थ—१. प्रत्तम्, अवत्तम्—[इन दो रूपों में] धातु का आदि हीं बचता है । २. और भी, अस्ति के निवृत्तिस्थानों में आदि-लोप होता है। [यथा—] स्तः, सन्ति, इति । ३. और भी, अन्त का लोप होता है। [यथा—] गत्वा, गतम्, इति । ४. और भी, उपधा [=अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण, यथा गम् धातु में म् अन्त्य वर्ण है, उस से पूर्व वर्ण अर्थात् ग में जो अ है, उस] का लोप होता है । [यथा—] जग्मतुः, जग्मुः, इति । ५. और भी, उपधा में विकार होता है । [यथा—] राजा, दण्डी, इति । ६. और भी, वर्ण का लोप होता है । [यथा—] तत्त्वा यामि, इति । ७. और भी दो वर्णो का लोप, तृच [=त्रि+ऋच], इति । ८. और भी, आदि का विपर्यय =उलट, यहां पर—वर्णान्तर में परिवर्तन होता है। [यथा—] ज्योतिः [में ज् के स्थान में द्र था=द्योति.] घनः [में घ् के स्थान में ह् था=हनः], बिन्दुः [में व् के स्थान में भ् था=भिन्दुः], वाटयः [में व् के स्थान में भ् था=भाटय.] ९. और भी, आद्यन्त का विपर्यय होता है। [यथा—] स्तोकाः [श्चोताः], रज्जुः [सृज् विसर्गे से रज्जु को सिद्ध करते हैं], सिकता· [कसिताः], [और] तर्कु [कर्तुः], इति ।

भाष्य—अब यास्क ने निर्वचन के आधारभूत नियमों का वर्णन आरम्भ किया है । इन नियमों का स्पष्टीकरण उस ने अपने काल में प्रचलित व्याकरण के नियमों के अनुसार किया है । आदि सृष्टि में व्याकरण का अध्यापन प्रतिपद पाठ के अनुसार होता था । शनैः शनैः बुद्धि और स्मृति के ह्रास के होते जाने पर व्याकरण बनाए जाने लगे । धातुओं की कल्पना भी आरम्भ हुई । उस कल्पना के अनुसार वर्त्तमान काल में अस् धातु से अस्ति, स्तः और सन्ति आदि रूप मान लिये गए । इस उत्तर कालीन कल्पना को मान कर यास्क ने निर्वचनों में इस का प्रयोग किया । यूरोप का सौभाग्य था कि उस के पास निरुक्त पहुंचा । यास्क के इन ही नियमों पर यूरोप के अपभ्रंश सम्बन्धी सारे भाषा-मतों का आधार है । यह यूरोप की चालाकी है कि उसके लेखकों ने यास्क की ऊहा के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन न किया और यास्क-प्रदर्शित नियमों को अपने नाम से प्रसिद्ध किया । और साथ ही भारतीय ज्ञान की परम्परा को न्यून करने के लिए अपनी मिथ्या कल्पनाओं को भाषा नियमों के रूप में प्रचलित किया ।

तरवा यामि इस उदाहरण में केवल पढ़ने वालों को समझाने के लिए याचामि का रूप बता कर यामि में च का लोप मान लिया गया है। वस्तुत यामि पद का एक स्वतन्त्र अर्थ 'याच्या करता हूं' भी है।

यहां तक निर्वचन में सहायक नव नियमों का उल्लेख यास्क ने किया है। अधिक नियमों का उल्लेख आगे है।

अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति ॥ १ ॥

ओघ । मेघ । नाध । गाध । वधू । मधिति ।

अथापि वर्णोपजन । आस्थत् । द्वार । भरूजेति ।

अर्थ—१० और भी अन्त का विपर्यय (=अन्य वर्ण के स्थान में दूसरा वर्ण) होता है ॥ १ ॥

ओघ (=ओह् से, यह वह प्रापणे से है) मेघ (=मेह् से यह मिह् सेचने से है) नाध (=नाह् से, यह णह् बन्धने से है) गाध (=गाह् से यह गाह् विलोडने से है), वधू (=वहू से यह वह् प्रापणे से है), मधु (= दु से, यह मद तृप्तौ से है) इति।

११ और भी किसी वर्ण की अधिकता [हो जाती है]। आस्थत् (असु क्षेपणे से है)। द्वार (वृ् सम्भक्तौ से है)। भरूजा (=भ्रस्ज पाके से है)।

भाष्य—इस प्रकरण से स्पष्ट हो गया कि निर्वचन में पढ़ने वालों को समझाने के लिये ही व्याकरण का आश्रय लिया जाता है। ओघ एक स्वतन्त्र पद है। किसी युग में उस के लिये ओघ धातु कल्पित किया गया होगा। पुनः व्याकरण के संकुचित होते जाने पर यह काम वह् धातु से चलाया जाने लगा। यास्क ने अपनी सूक्ष्मचिका से दोनों शास्त्रों का सामञ्जस्य बताने के लिये निर्वचन के अपने काल में होने वाले उपयोगी नियमों का प्रशस्त वर्गीकरण कर दिया। दुर्ग ने ठीक कहा है—यत्र व्याकरणेऽपि लक्षणप्रपाते सत्यर्थवशेन लोपागमो [illegible] शब्दाना दृष्टः किमुत निरुक्ते यदर्थप्रधानमेव।

नाध पद पर राजवाडे लिखता है—meaning, unknown। हमारा विचार है कि नाध=नाथ है। अनेक पदों में ध और थ वाले दोनों रूप ठीक होते हैं। यथा मथुरा और मधुरा। यूनानी भाषा में मधु अर्थ वाला जो मेधु अपभ्रंश हुआ है वह थ वाले मूल से है।

वर्णोपजन के उदाहरणों में आस्थत् में थ की, द्वारः में द् की, और भरूजा के भ् में अ की और र् में ऊ की अधिकता हुई है ।

[सम्प्रसारण के नियम]

तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति । तत्र सिद्धायाम् अनुपपद्यमानायाम् । इतरयोप-पिपादयिषेत् । तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति । तद् यथैतत् । ऊतिः । मृदुः । पृथुः । पृषतः । कुणारुम्—इति ।

अर्थ—१२ तो जहां (स्वरात्) स्वर से, (अनन्तरा—) विना अन्तर=व्यवधान के पर वा पूर्व (अन्तस्था—) य, र, ल, व में कोई (अन्तर्धातु) धातु के मध्य में है, वह दो स्वभाव वाले अर्थात् दो मूल वाले [धातुओं] का आश्रय, यह [आचार्य प्रविभाग से अपने-अपने शास्त्र में, संप्रसारण लक्षण] उपदेश करते हैं । वहां अर्थसिद्धि में उपपन्नता न होने पर [दोनों धातुओं में से] तो (इतरया) दूसरी प्रकृति से (उपपिपादयिषेत्) अर्थ-सिद्धि के उपपन्न करने की इच्छा करे । इस प्रकार में भी कई एक धातु अल्पनिष्पत्ति अर्थात् थोड़ी सिद्धि वाले होते हैं । तो जैसे यह–ऊतिः में अव् धातु के व् को ऊ का, मृदुः में म्रद् धातु के र् को ऋ का, पृथुः में प्रथ् धातु के र् को ऋ का, पृषतः में प्रुष् धातु के र् को ऋ का, और कुणारुम् में क्वण धातु के व् को उ का सम्प्रसारण [जान कर निर्वचन बनता है] ।

भाष्य—द्विप्रकृति वाले पद अर्थात् जिन की निष्पत्ति दो धातुओं से हो । यथा—यज कहीं इज रूप में और कहीं यज रूप में, यास्क और उस के उत्तर-वर्ती काल में मान लिया गया है । तो निर्वचन के समय यदि यज रूप से अर्थ सिद्धि न दिखाई दे, तो इज रूप से कर देनी चाहिए । निश्चय ही यास्क से पहले इज और यज दोनों पृथक् सत्ता रखने वाले माने जाते थे । उन से निष्पन्न शब्द भी पृथक् रूप में थे ।

अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते । दमूनाः । क्षेत्रसाधा इति । अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः । उष्णम् । घृतमिति ।

अर्थ—१२. और भी, भाषिक अर्थात् भाषा में होने वाले धातुओं से नैगम अर्थात् निगमों में होने वाले (कृतः) कृदन्त रूप कहे जाते हैं—दमूनाः

[दम् धातु से है, जो यास्क से पूर्व के वैयाकरणों ने लौकिक धातु माना है।] दोषसाधा [में साध् धातु लौकिक है।]

१४ और भी, नैगम धातुओं से लौकिक [कृदन्त बनते हैं।] उष्णम् [उष, वैदिक धातु से], घृतम् [घृ, वैदिक धातु से]।

भाष्य—राजवाडे ने लिखा है कि यास्क का लेख भ्रान्त है, क्योंकि वेद में दम् धातु के दमिता, दमयन्त रूप मिलते हैं। यह भ्रान्ति यास्क की नहीं,

पूर्व के धातुपाठ कैसे थे, यह अन्वेषणीय है।

भाष्य—दमूना पद वेद में अग्नि का वाची है। उस का निर्वचन किसी वैदिक धातु से जो अग्नि का अर्थ दे, करना चाहिए था। पर यास्क से पूर्व के किसी निरुक्तकार ने दम मना' ऐसा निर्वचन किया होगा। उस को लक्ष्य में कर के यास्क ने यह नियम लिखा है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरणों में समझना चाहिए।

अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते। विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। कम्बोजाः कम्बलभोजा' । कमनीयभोजा वा। कम्बलः कमनीयो भवति। विकारमस्यार्येषु भाषन्ते। शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रमुदीच्येषु। एवमेकपदानि निर्ब्रूयात्।

अर्थ—१५ और भी, प्रकृतिया=धातु के आख्यात रूप ही कई एक जातियों में बोले जाते हैं। विकृतिया=धातु के कृदन्त रूप कई जातियों में। शवति, गति अर्थ वाला कम्बोज जातियों में ही बोलते हैं। कम्बोजा= कम्बल के भोगने वाले। कमनीय अर्थात् चाहने योग्य=सुन्दर भोग वाले। कम्बल चाहने योग्य होता है। विकार=नाम रूप, इस [धातु] का आर्यों में बोलते हैं। [यथा—] शव, यह। दाति, काटने के अर्थ में (प्राच्येषु) भारत के पूर्व देशों में। दात्र रूप उदीच्य देशों में। इस प्रकार एकपदों= अनवगत [illegible] स्कार पदों का निर्वचन करे।

भाष्य—अति प्राचीन भू-विभाग के अनुसार संसार दो भागों का था। आर्यभाग और म्लेच्छभाग। उस से भी प्राचीन काल में सारा संसार आर्यमात्र

था। उस समय संसार की भाषा श्रुति-भाषा अर्थात् वेद-पद-बहुला भाषा थी। भाषा में विकार के कारण और व्यवहार में दूषित होने से म्लेच्छभाग पृथक् होता गया। यास्क जानता था कि यद्यपि कंबोज म्लेच्छ हो चुके हैं, पर वे भी कभी संस्कृत बोलते थे। अतः निर्वचन का एक नियम बताते हुए उस ने पूर्व प्रसङ्ग उपस्थित किया है।

यास्क के काल में कंबोजों के कम्बल प्रसिद्ध थे। उन में गत्यर्थक शवतिः रूप प्रयुक्त होता था। आर्यों में इस का शवः=मृत देह रूप ही रह गया था।

दातिः रूप प्राच्यों में था और दात्र रूप उदीच्यों में। आज भी पंजाब में दात्रि अथवा द्रान्ति (अर्थात् काटने वाला, और बहुधा दन्दों वाला लम्बा चाकू) शब्द प्रयुक्त होता है। इस से घास आदि काटते हैं। यहां तक एकपद वालों का निर्वचन कहा।

अब तद्धित और समासों का विषय प्रारम्भ होता है।

अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु वानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्। दण्ड्यः पुरुषः [दण्डपुरुष]। दण्डमर्हतीति वा। दण्डेन सम्पद्यत इति वा। दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः।

अक्रूरो ददते मणिम्। इत्यभिभाषन्ते।

दमनादित्यौपमन्यवः। दण्डमस्याकर्षतेति गर्हायाम्। कक्ष्या रज्जुरश्वस्य। कक्षं सेवते। कक्षो गाहतेः। क्स इति नामकरणः। ख्यातेर्वानर्थकोऽभ्यासः। किमस्मिन्ख्यानमिति। कषतेर्वा। तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षः। बाहुमूलसामान्यादश्वस्य॥ २॥

अर्थ—१६. अब तद्धित और समास में, एक पर्व=जोड़ वालों मे, अथवा अनेक जोड़ वालों में पहले [पद] को पहले, [और] अगले को आगे प्रविभाग करके अर्थात् पृथक्-पृथक् निर्वचन करे। [यथा—] दण्ड के योग्य पुरुष=दण्डपुरुषः। [अपराध में] दण्ड के योग्य होता है अथवा। दण्ड से युक्त होता है अथवा। दण्ड [पद] ददति से धारण अर्थ वाले से। अक्रूर धारण करता है [स्यमन्तक] मणि को। ऐसा [लोक में आज] बोलते हैं।

[त्याइ पद] त्यस मे, यह उग्रमनु का पुत्र [मानता है] । दण्ड इस के लिए दो यह निगम मे है । अथवा दण्ड इस के लिए याचता है ।

[दूसरा उदाहरण—] कदयां स्तनु पाड़े को । (कलम्) छाती को मसती है । कर वाइन्ति म [विलोडन करती है, बिलोती है ।] कम यह दृश्य प्रत्यय है । त्मानि म अथवा अनर्थक है दूसरी बार का पाठ [लक ये कहा पद म क दो बार है अथात् कस्क+लस्त्वम् । क के दो बार होन से अर्थ म कोई भेद नहीं होता इसी लिए उसे अनर्थक कहा] । क्या इसमें (स्थानम्) दर नीय पन है । क्पनि म अथवा । उस की समानता में मनुष्य का कन [भी होता है ।] बाहुमूल म [होने की] समानता स चोरे का ।

भाष्य—निरुक्त के एक पाठ में दद्दत और दूसरे पाठ में ददात है। दोनों ही ठीक पाठ हैं । आगे किसी श्लोक का चतुर्थांश है—

अक्रूरो ददते मणिम् ।

यहां ददते वर्तमान काल की क्रिया है । इस से आगे अभिभाषन्त प्रयोग से यह स्पष्ट है कि पूरा श्लोक यास्क के काल में लोक में बोला जाता था । इस से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि यास्क का काल अक्रूर का काल था । अर्थात् दोनों समकालिक थ । इतिहास से भी यही सिद्ध होता है । महाभारत शान्तिपर्व में निघण्टु के प्रसङ्ग म यास्क का स्मरण है । अक्रूर भारतयुद्ध से पहले से था । वह वृष्णियों का एक प्रतिष्ठित पुरुष था । अतः यास्क को ईसा से ६०० अथवा ७०० वर्ष पहले मानना दुराग्रहमात्र है । पाश्चात्यों ने सुदृढ ऐतिहासिक प्रमाणों की उपस्थिति में भी मिथ्या कल्पनाएं कर के सारे भारतीय इतिहास के हनन का यत्न किया है । राजवाड़े को यह बात खटकी थी । वह लिखता है—The present tense of ददते might incline me to conclude that the event of the jewel स्यमन्तक passing into the possession of अक्रूर was a recent one and that Yaska quoted an instance which being fresh was known to all but अक्रूरो ददते मणिम् is part of a Sloka belonging to a work like the हरिवंश which may belong to a period far anterior to Yaska (p 207)

राजवाड़े ने ददते पर ध्यान दिया परन्तु अभिभाषन्ते पर पूरा ध्यान नहीं दिया। अक्रूरो ददते मणिम्, हरिवंश के वर्तमान पाठों में नहीं है। यह तो भारतयुद्ध कालिक किसी ग्रन्थ का पाठ हो सकता है, और लोकोक्ति भी। प्रसङ्गतः यह लिखना व्यर्थ नहीं कि हरिवंश ग्रन्थ यास्क से बहुत उत्तर काल का ग्रन्थ नहीं है। हरिवंश महाभारत का उत्तर काण्ड है। उसमें महाभारतस्थ प्रयोग सदृश शतशः प्रयोग प्राचीन संस्कृत के हैं।

राजवाड़े और उस के गुरुओं ने, जो ईसाई-यहूदी गुट के प्रभाव में हैं, व्यर्थ ही यास्क का काल बहुत उत्तरकाल में रखने का यत्न किया है। निःसन्देह यास्क विक्रम से लगभग ३०५० वर्ष पहले था।

औपमन्यव का एक मत पूर्व १। १ में आ चुका है। दोनों स्थानों पर उस की शैली निर्वचन मार्ग की है।

कच्छ से ही अपभ्रंश होकर पञ्जाबी का कच्छ शब्द बना।

दण्डम् अस्य आकर्षत। इस के दो अर्थ हैं। यदि अस्य का—अस्मै अर्थ माने, तो अर्थ है—इस के लिए लाठी खैंचो। अन्यथा अर्थ है—[यह दुष्ट है] इस की लाठी खींच लो।

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। राजा राजतेः। पुरुषः पुरि षादः। पुरिशयः। पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
[तैत्ति० आ० प्र० १०। १०। ३॥]

इत्यपि निगमो भवति।

विश्वकद्राकर्षः। वीति चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते। द्रातीति गतिकुत्सना। कद्रातीति द्रातिकुत्सना। चकद्राति कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः। तदस्मिन्नस्तीति विश्वकद्रः। कल्याणवर्णरूपः। कल्याणवर्णस्येवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः। एवं तद्धितसमासान्निर्ब्रूयात्।

नैकपदानि निर्ब्रूयात् । नावैयाकरणाय । नानुपसन्नाय अनिदंविदे वा । नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया । उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात् । यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात् । मेधाविने तपस्विने वा ॥ ३ ॥

अर्थ—राजा का पुरुष अर्थात् राजपुरुष । राजा राजति से । पुरुष पुरि [शरीर में, अथवा ब्रह्माण्ड रूपी शरीर में] बैठने वाला । पुरि शय अर्थात् शरीर में लेटने वाला । पूरयति से अथवा । पूर्ण है अन्दर । इस प्रकार (अन्तरपुरुषम्) अन्तर्यामी पुरुष को अभिप्राय अर्थात् ध्यान में रख कर ।

जिस से परे नहीं दूसरा है कुछ भी, जिस से नहीं (अणीयः) छोटा नहीं बड़ा है कोई भी । वृक्ष के समान (स्तब्ध) निश्चल (दिवि) द्यु लोक में अपनी ज्योति में ठहरता है एकमात्र उसी पुरुष के द्वारा यह सब पूर्ण है ।

यह भी नियम होता है ।

[दूसरा उदाहरण]—विश्वकद्राकर्ष अर्थात् शिकारी कुत्ते को खींचने वाला । वि यह और चकद्र यह कुत्ते की चाल में बोला जाता है । द्राति यह गति निन्दा [है] । क द्राति यह द्राति की निन्दा [है] । चकद्राति, कद्राति यह होते हुए अनर्थक है अभ्यास । वह इस में है यह विश्वकद्र है ।

[इव-लोपी समास—] (कल्याण) सुवर्ण के समान रंग के रूप वाला, सुवर्ण के रंग के समान इस का रूप [है ।] कल्याण, चाहने योग्य अथवा सुन्दर होना है । वर्ण वृणाति से [आच्छादित करता है अन्य धातु को] रूप रोचति से । इस प्रकार तद्धित और समासों का निर्वचन करे ।

नहीं [बिना पूर्व प्रकरणपर ध्यान दिए] अकेले पदों का निर्वचन करे ।

[निरुक्त शास्त्र-निर्वचन विद्या के ग्रहण के अधिकारी कौन]

नहीं अवैयाकरण के लिए । नहीं जो समीप नहीं बैठा शिष्यरूप में । नहीं इस [शास्त्र] के समझने के ज्ञान से रहित के लिए, अथवा । सदा ही अबोध की इस समझने वाले की [इस महान्] विज्ञान में निन्दा । समीप बैठ कर पढ़ने वाले के लिए निर्वचन करे । जो अथवा समर्थ विशेष जानने में हो । मेधावी के लिए अथवा । तपस्वी के लिए अथवा ।

भाष्य—अन्तरपुरुष=अन्तर्यामी परमात्मा का वर्णन अगले निगम में है। इस समय यह निगम तैत्तिरीय आरण्यक तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् आदि में है। कभी यह मन्त्र किसी वेद-शाखा में भी था। अतः यास्क के अनुसार परं पुरुष का वर्णन वेद में है।

राजवाडे ने अन्तरपुरुषं का अर्थ individual soul अर्थात् जीवात्मा किया है। पर यह भी माना है कि अगला निगम universal soul अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा का कथन करता है। वस्तुतः अन्तरपुरुषं के जीवात्मा और परमात्मा दोनों अर्थ बनते हैं। परमात्मा अर्थ इस लिए युक्त है क्योंकि श्रुति के तीसरे पाद में दिवि तिष्ठति पाठ है और चतुर्थ पाद में "उसी पुरुष के द्वारा यह सब [जगत्] पूर्ण है", कहा है। पुरुष की व्यापकता का यह ज्वलन्त उपदेश वैदिक धर्म में ही है।

विश्वकद्राकर्षः. यह अनेकपर्वा समास है। राजवाडे ने इस का अर्थ किया है—सिपाही। अर्थात् शिकारी कुत्तों से शिकार करने वाले को खींचने वाला। यह अर्थ भी विचारणीय है।

यहां तक तद्धित और समासों के निर्वचन का प्रकार कहा गया है। आगे अकेले पद का निर्वचन करने का निषेध है। भाषा में वाक्य अथवा मन्त्र की प्रधानता है, पद की नहीं। इसी प्रकार समास में अकेले पद का कोई मूल्य नहीं। अर्थ के समझने में सारा प्रकरण अपेक्षित होता है और अर्थ के ज्ञान-विना निर्वचन नहीं हो सकता। अतः यह निषेध आवश्यक था।

निर्वचन शास्त्र के अनधिकारियों में अवैयाकरण की गणना सब से पहले है। इस का अभिप्राय है कि वर्तमान काल के छात्र को निरुक्त समझने के लिए, जहां पाणिनीय व्याकरण के समझने की अपेक्षा है, वहां उसे पाणिनि से पूर्व काल के व्याकरणों के मार्ग के जानने की भी आवश्यकता है। पाणिनि यास्क से उत्तर कालीन था। अतः यास्क को समझने में पाणिनि से पूर्व के व्याकरणों की महती अपेक्षा है। यास्क ने उन्हीं को लक्ष्य में रख कर सब कुछ लिखा है।

निरुक्त समझने के लिए गुरु के समीप बैठना आवश्यक है। इसी लिए योरोप के संस्कृताध्येता निरुक्त की निन्दा में तत्पर हुए हैं। उन्होंने गुरुमुखात् यह विद्या नहीं पढ़ी। यदि वे गुरुमुखात् पढ़ते, तो उन को पाश्चात्य भाषा-मतों की व्यर्थता ज्ञात होती। मेधावी और तपस्वी के लिए भी यह विद्या है ॥ ३ ॥

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥

इति । निधिः शेवधिरिति ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

अर्थ—विद्या निश्चय से ब्राह्मण के पास आई । [और बोली] रक्षा
र मेरी । (शेवधि ते) निधि तेरी मैं हूँ । असूयक=निन्दक के लिए
अनृजवे=अनृजवे) अकोमल=टेढे के लिए अयताय=अजितेन्द्रिय के लिए
ही मुझे बोलो=उपदेश करो । बलवाली इस प्रकार होऊंगी ।

जो (आतृणत्ति) खोलता है (अवितथेन) सत्य से=वेदरूपी
अणुमात्र न उलटे ज्ञान से (कर्णौ) कानों को, (अदुःख) दुःख के
अभाव को करता हुआ (अमृतं) अमृत=मोक्ष को देता हुआ उस को
माने पिता और माता । उस के लिए न द्रोह करे (कतमच्चनाह)
कदाचित् भी ।

पढाए गए जो गुरु का नही आदर करते (विप्राः) मेधावी, विद्या को
ग्रहण करने वाले, वाणी से मन से कर्म से अथवा । जैसे ही वे नही गुरु
की [पंक्ति में] भोजन करने योग्य होते वैसे ही उन को नही उपभोग देता
(श्रुतम्) सुना हुआ शास्त्र वह ।

[इतने लोगो को विद्या नही देनी । अब जिन को विद्या देनी है, उन के
लक्षण लिखते हैं —]

जिस को ही (विद्याः) जाने (शुचिम्) शुद्ध, पवित्र, ईमानदार को, प्रमाद रहित को, मेधावी को, ब्रह्मचर्य से युक्त को। [तथा] जो तेरे लिए नहीं द्रोह करे (कतमच्चन अह) कदाचित् भी, उसके लिए मुझे उपदेश करो, [उस] विद्या के कोप की रक्षा करने वाले के लिए, हे (ब्रह्मन्) वेद रूपी ब्रह्म विद्या के जानने वाले। इति।

निधिः ही शेवधिः है ॥ ४ ॥

भाष्य—ये श्लोक सामवेद के संहितोपनिषद् ब्राह्मण खण्ड ३ में हैं। मानव धर्मशास्त्र अ० २, वासिष्ठ धर्मसूत्र अ० २, विष्णु धर्मशास्त्र अ० २९, ३० में भी ये श्लोक अथवा इन से मिलते जुलते श्लोक हैं। शान्ति पर्व १०८। २२ यहां का दूसरा श्लोक है। आप० धर्म० १। १। १४ ही यहां का तीसरा श्लोक है। मानव धर्मशास्त्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र और वासिष्ठ धर्मसूत्र भारत युद्ध से पहले के ग्रन्थ हैं। विष्णु धर्मशास्त्र भारत युद्ध के पश्चात् लगभग दो शती से उत्तर का ग्रन्थ नहीं है। अतः निश्चित है कि इन श्लोकों का मूल स्रोत बहुत पुराना है।

सस्वर—ये श्लोक सस्वर हैं। राजवाड़े ने आरम्भ का १½ श्लोक ही सस्वर छापा है। निरुक्त के सारे पुराने कोषों के साक्ष्य के विरुद्ध राजवाड़े ने शेष श्लोकों को स्वर-रहित कर दिया, यह अक्षम्य है। राजवाड़े को ज्ञात न था कि पुराने काल में लोक भाषा के श्लोकों आदि पर भी स्वर रहता था। यूनानी भाषा के होमर आदि के ग्रन्थों में साधारण भाषा पर भी स्वर था। यह भारतीय प्रथा का अनुकरण मात्र था।

विद्या ब्राह्मण के पास क्यों गई, वह क्षत्रिय अथवा वैश्य के पास क्यों नहीं गई। वस्तुतः ब्राह्मण ही विद्या का यथार्थ उपदेष्टा था। वह ब्राह्मण ही आदर्श पुरुष था। निर्वाह के लिए विद्या पढ़ाने वाले उत्कृष्ट अध्यापक नहीं होते।

वेदविद्या अजितेन्द्रिय को नहीं दी जाती। अभी गत १०० वर्ष भी नहीं हुए जब प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द दण्डी स्वामी ने एक जितेन्द्रिय शिष्य दयानन्द सरस्वती को विद्या पढ़ाई। वह विद्या कितनी वीर्यवती हुई, इस का साक्ष्य भारत का इतिहास दे रहा है।

तथ=सत्य, वितथ=सत्य रहित, अवितथ=जिस में अणुमात्र असत्य नहीं, ऐसी वेद-विद्या। यही वेद-ज्ञान मोक्ष को=अमृत को देता है। भक्ति-विशेष, अष्टाङ्ग योग और यज्ञ आदि से बढ़ कर अमृत को देने वाला वेद-ज्ञान ही है।

सत्यज्ञानदाता आचार्य को पिता और माता माने। उस गुरु को, अथवा गुरु नामधारी को नहीं। योरोप और अमेरिका के प्रच्छन्न ईसाई और यहूदी वेद के ज्ञानदाता आचार्य नहीं बन सकते। गुरु का आदर मन, वचन और कर्म से होना चाहिए। गुरु के साथ एक पंक्ति में भोजन करना अत्यन्त प्रतिष्ठा का स्थान होता था। ब्रह्मचर्य से उपपन्न को ही वेद विद्या देनी चाहिए। पहले श्लोक में कहा है कि अजितेन्द्रिय को विद्या नहीं देनी। पुनः मन्त्र में विद्या ग्रहण करने वाले के लिए ब्रह्मचर्य-उपपन्न जो कहा, सो ब्रह्मचर्य की अकथनीय महिमा के कारण ही है।

मन्त्र में कहा—हे महान्! है मेरे विद्या-युक्त आचार्य ॥ ४ ॥

अथातोऽनुक्रमिष्यामः। गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद् दूरं गता भवति। यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेर्वौकारो नामकरणः।

अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव। अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति।

गोभिः श्रीणीत मत्सरम्। [ऋ० ९।४६।४] इति पयसः।

मत्सरः सोमः। मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः। मत्सर इति लोभनाम। अभिमत्त एनेन धनं भवति। पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा। क्षीरं क्षरतेः। घसेर्वेरो नामकरणः। उशीरमिति यथा।

अर्थ—अब [प्रयोजनादि कथनानन्तर] हम यहाँ आगे अनुक्रम से [निघण्टुभाष्य] कहेंगे।

गौ यह पृथिवी का नाम है, क्योंकि दूर गई हुई होती है। और जो इस पर भूत[1] जाते हैं। गाति से अथवा औकार नामकरण=कृत् प्रत्यय है।

और भी—पशु का नाम इस लोक में होता है, इस कारण से ही। और भी, पशु का नाम इस पृथिवी लोक पर गौ का इस कारण से ही। और भी, ताद्धितन=तद्धित प्रत्यय से वर्तमान अर्थ से युक्त कृत्स्नवत् कृत्स्न न होते हुए, तद्धित प्रत्यय से युक्त न होते हुए भी कृत्स्न के समान=तद्धित अर्थ वाले के समान निगम होते हैं। [यथा—] गौ [अर्थात् गौ के दूध] से साथ पकाओ (मत्सरम्) सोम को। यह दूध का [वर्णन है]। मत्सर

१. निरुक्त में यास्क मुनि भूतानि का अर्थ भूतानि करते हैं। यथा ४।२७॥

सोम [है], मन्दन्ति से तृप्ति अर्थ वाले में । मत्सर यह लोभ का नाम है । इस से [पुरुष] धन की ओर अभिमत्त होता है । पयः [पद] पिबति से अथवा प्यायति से अथवा । क्षीर [पद] क्षरति से । घसि से अथवा ईर कृत्प्रत्यय है । उशीर, यह [पद] जैसे [माना जाता है वैसे क्षीर] ।

भाष्य—प्राचीन परम्परा के अनुसार यास्कीय निरुक्त निघण्टु का भाष्य मात्र है । इस भाष्य के आरम्भ में शास्त्र के प्रयोजनादि कहे हैं और अन्त में वेद का वास्तविक अभिप्राय श्रतिस्तुतियों द्वारा कहा है।

गौः यह पृथिवी का नाम है । यह बहुत दूर तक गई हुई होती है—बहुत दूर तक फैली हुई है । अथवा अपने बनने की अवस्था में हिरण्यगर्भ प्रजापति से दूर गई हुई होती है ।

भूतानि का सामान्य अर्थ प्राणि-मात्र है, पर ध्यान रखना चाहिए कि भुवनानि पद का अर्थ यास्क भूतानि करता है । (निरुक्त १२ । ११ ॥ १४ । ३७ ॥)

पशुनाम इह भवति । यहां इह के प्रयोग से यास्क ने स्पष्ट कर दिया है कि अन्तरिक्ष और द्युलोक में भी गो पद वाची कई पदार्थ हैं ।

ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति । यास्क ने महती कृपा की कि इतनी पंक्ति के द्वारा वेद का एक अति गम्भीर पक्ष स्पष्ट कर दिया । वेद-घातक मूर्ख लोग कभी-कभी इस बात को न समझ कर वेद से गोवध सिद्ध करते हैं । यास्क ने धातु का रूप मन्द् माना है । पाणिनि ने इस के स्थान पर मदि आदि रूप माने हैं । यास्क मुनि धातु का घस् रूप मान कर घ् से उत्तरवर्ती अकार का लोप और घ् का क् में परिवर्तन करके और उसे क्ष् बना कर, पुनः क्ष् में ईर प्रत्यय लगा कर क्षीर का एक निर्वचन करता है । प्रसङ्गवश वह यह भी बताता है कि उशीरम् में भी ईर प्रत्यय है ।

अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि । [ऋ० १० । ९४ । ९ ॥]

इत्यधिषवण-चर्मणः । अंशुः शमष्टमात्रो भवति । अननाय शं भवतीति वा । चर्म चरतेर्वा । उच्चृत्तं भवतीति वा ।

अथापि चर्म च श्लेष्मा च ।

गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व । [ऋ० ६ । ४७ । २६] इति रथस्तुतौ ।

अथापि स्नाव च श्लेष्मा च ।

गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता । [ऋ० ६ । ७५ । ११] इतीषुस्तुतौ ।

ज्यापि गौरुच्यते । गव्या चेत्, ताद्धितम् । अथ चेन्न गव्या, गमयतीषूनिति ॥ ५ ॥

अर्थ—सोम को दोहते हुए अर्थात् रस निकालते हुए (अध्यासते) बैठते हैं (गवि) गोचर्म पर। यहाँ गवि पद का मूल रूप गो, अवि जिस चर्म पर बैठ कर ग्रावा से सोम को पीसते हैं, उस गो-चर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सोम (शम्+अप्नाः) कल्याण कारक है, व्याप्त मात्र हो, अर्थात् उदर में प्रविष्ट होना हुआ ही याज्ञिक को प्रसन्नता देता है। (अतनाय) प्राण धारण अर्थात् जीवन के लिए कल्याणकारी होता है अथवा। चर्म पद चरति से है अथवा (उत्+चृत्तम्) पशु के शरीर से उखाड़ा जाता है अथवा।

और भी, चम और (श्लेष्मा)=सरेस=चर्बी अर्थ मे [गो शब्द है]। (गोभिः)=गो विकार चमड़ा और सरेस से जुड़ा हुआ तू है, (वीळ्वङ्ग) दृढ़ हो। यह रथ की स्तुति में है।

और भी स्नायु और सरेश अर्थ मे [गो शब्द है।] गोविकार स्नायु और सरेश से (सन्नद्धा) जुड़ी हुई (पतति)=उड़ती है (प्रसूता)=[धनुष से] प्रेरित अर्थात् छूटी हुई। यह इषु (=बाण) की स्तुति में है।

ज्या=धनुष की डोरी भी गौ कहाती है। यदि गोविकार स्नायुओं से बनी हो तो तद्धित का अर्थ पूर्ववत् [समझना चाहिए] और यदि गो विकार न हो तो [गौ=ज्या=धनुष की डोरी का निर्वचन होगा—] बाण को गति देती है अर्थात् चलाती है यह ॥ ५ ॥

भाष्य—इस प्रकरण का पहला मन्त्र ग्रावस्तुति में विनियुक्त है। ये ग्राव क्या हैं। प्रधानरूप से १ प्राण (शतपथ १४ । २ । २ । ३३), २ वज्र (शत० ११ । ५ । ९ । ७) ३ मरुत् रूपी विश प्रजाएं (श० ३ । ९ । ३ । ३), मारुत (ता० ब्रा० ६ । ९ । १४), तथा ४ मेघ (निघ० १ । १०) अर्थ में ग्राव शब्द प्रयुक्त हुआ है। वज्र, विश, मारुत (=मरुत् देवता वाले पदार्थों) और मेघों का सम्बन्ध मध्यम स्थान से है। अतः यह निश्चित है कि ये ग्राव मध्यम स्थानी हैं। ये ग्राव द्युलोक से उतरने वाले अपांसार अर्थात् सोम को अन्तरिक्ष में गौ अर्थात् [गोविकार] अधिषवण चर्म पर स्थिर हो कर कूटत

हैं। यह अधिपवण चर्म क्या है, यह अन्वेषणीय है। मन्त्र का पूरा अर्थ समझने के लिये देवों में घटने वाली इस सारी माया का ज्ञान आवश्यक है।

रथ निर्माण में गोचर्म और गोश्लेष्मा का प्रयोग होता था। इस के लिये गोवध नहीं होता था, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। स्वयं मृत पशु के चर्म को उपयुक्त रखने के लिये किन औषधों का प्रयोग होता था, यह अब ज्ञात नहीं। इसी प्रकार इषु निर्माण में भी गोस्नायु और गो-श्लेष्मा प्रयुक्त होते थे। इषु पद स्त्रीलिङ्ग वाची है॥ ५॥

वृक्षे वृ॑क्षे॒ निय॑ता मीमय॒द् गौस्तो॒ वयः॒ प्र प॑तान्पूरु॒षादः॑॥

[ऋ० १०। २७। २२॥]

वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि। वृक्षो व्रश्चनात् वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा। क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः। नियता मीमयद् गौः शब्दं करोति। मीमयतिः शब्दकर्मा। ततो वयः प्रपतन्ति। पुरुषानदनाय। विरिति शकुनिनाम। वेतेर्गतिकर्मणः।

अथापीषुनामेह भवत्येतस्मादेव।

अर्थ—वृक्ष अर्थात् वृक्ष के विकार में, धनुष मे बन्धी हुई (मीमयत्) शब्द करती है, (गौः) अर्थात् गो-विकार ज्या अर्थात् धनुष की डोरी, (ततः) उस में से (वयः) पक्षी के समान उड़ने वाले बाण (प्रपतान्) उड़ते हुए जाते हैं। (पूरुषादः) पुरुषों को खाने वाले अर्थात् पुरुषों को खाने के लिये।

धनुष में, धनुष में, वृक्ष व्रश्चन=काटने से, घेर के पृथिवी को ठहरता है, अथवा। क्षा, क्षियति से, निवास अर्थ वाले से। बन्धी हुई, शब्द करती है, गौः। मीमयतिः शब्द अर्थ वाला [है।] उस में से बाण उड़ कर जाते है, पुरुषों को खाने के लिए। विः यह पक्षी का नाम है। वेति से, गति अर्थ वाले से।

और भी, इषु का नाम यहां पर है, इस धातु से ही।

भाष्य—दशम मण्डल की यह ऋक् इन्द्र विषयक है। मध्यमस्थानी इन्द्र के कर्म को प्रकट करती है! मध्यम स्थान में भी अनेक नर वा पुरुष हैं। उन में से जिन पुरुषों के खाने का यहां अभिप्राय है, यह अन्वेष्टव्य है। अन्तरिक्ष में वयः हैं। के पृथिवी पर वे नहीं हैं।

त्रि यह पक्षी का नाम है। लैटिन भाषा में अवि: [avis] पक्षी का नाम है। इस लैटिन विचार में 'व' का वैसा ही आगम है जैसा अंग्रेजी भाषा के स्कूल शब्द में उत्तर प्रदेशस्थ लोग 'इस्कूल' वा 'सकूल' बोलते समय लाते हैं।

पुम्यान् अद्नाय—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कृतवाक्यप्रबोध में एक प्रयोग किया था—शाकमानयनाय। अम्बिकादत्त व्यास ने प्रबोध निवारण में इस व्याकरण के नियम से अशुद्ध कहा है और शाकस्यानयनाय होना चाहिए, ऐसा बताया है। ऐसे वैयाकरणमन्यों को यास्क के पुम्यान् अद्नाय प्रयोग पर विचार करना चाहिए।[1]

आदित्योऽपि गौरुच्यते।

उतादः परुषे गवि। [ऋ० ६।५६।३॥]

पर्ववति। भास्वतीत्यौपमन्यवः।

अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम्। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति।

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः। [य० १८।४०॥]

इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते।

अत्राह गोरमन्वत। [ऋ० १।८४।१५॥] इति।

तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते॥६॥

अर्थ—आदित्य भी गौ कहा जाता है। और (अदः) वह (परुषे) जोड़ा वाले (गवि) आदित्य मण्डल में। पर्व वाले, प्रकाश वाले [आदित्य] में, यह औपमन्यव [का अर्थ है।]

और भी, इस [आदित्य की] एक रश्मि चन्द्रमा के सामने दीप्तिमान् होती है। यह [तथ्य] इस [अगले निगम से] ध्यान से देखना चाहिए। आदित्य से इस [चन्द्र] की दीप्ति होती है।

---

१ देखो, पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखित—'अवार निवारण का उत्तर', टङ्कारा पत्रिका वर्ष ४, अङ्क ६।

सुपुम्णः [नाम का] सूर्यरश्मिः [है], चन्द्रमा (गन्धर्वः) उस रश्मि का धारण करने वाला है । यह भी निगम=स्पष्ट मन्त्र अथवा मन्त्रांश है ।

(सः) वह रश्मि भी गौः कहा जाता है । यहाँ ही अर्थात् उस चन्द्र स्थान में (गोः) आदित्य से आने वाली रश्मि को (अमन्वत) आज्ञा दी [झुकने की] । यह ऊपर अर्थात् निरुक्त ४ । २५ में व्याख्या करेंगे । सारे रश्मि गौएं कहाते हैं ।

भाष्य—औपमन्यव ने परुपे पद का अर्थ भासन वाला किया है । यास्क ने औपमन्यव के निरुक्त से यह अर्थ उद्धृत किया है । आदित्य के पर्ववान् अथवा भास्वान् रूप में ये पर्व अर्थात् जोड़ कैसे हैं । दुर्ग कहता है कि कालचक्र में ये अहोरात्र आदि ही पर्व हैं । यह ठीक है । पर एक अन्य गम्भीर अर्थ भी है । देखिए—अपाॅं सङ्गमे सूर्यस्य । (ऋ० १० । १२३ । १ ॥), आपः सूर्ये समाहिताः । (तै० आ० १ । ८ । १ ॥) एप वाऽपां रसो योऽयं पवते । स एप सूर्ये समाहितः । (श० ब्रा० ५ । १ । १ । ७ ॥) । सूर्य त्वक् । (यजु० १० । ४ ।), अभ्रमेव सविता । (गो० ब्रा०, पू० १ । ३३ ॥) आरोह सूर्यं अमृतस्य लोकम् । (ऋ० १० । ८५ । २० ॥) इन वचनों के अनुसार सूर्य मण्डल, सूर्य के मण्डल में अपां सङ्गम, सूर्य पर अभ्र, सूर्य त्वक्, सूर्य में अमृत का लोक, तथा अन्यत्र वर्णित सूर्य में अविन्धन और इस अविन्धन की विभिन्न घनताएं, ये सब आदित्य के पर्व हैं । इन में से एक एक तत्त्व के अध्ययन में अनेक वर्ष लगेंगे । सूर्य-विषयक जितनी विद्या आज भी आर्ष ग्रन्थों में है, उतनी योरोप और अमेरिका में अभी नहीं ।

आदित्य के सहस्र रश्मियों में से ९९९ चन्द्र में लीन हो जाते हैं । केवल एक सुषुम्णः रश्मि चन्द्र के प्रति दीप्त होता है । इस का रहस्य भी अन्वेषणीय है । उस रश्मि को गौः कहते हैं । अगले मन्त्र का विस्तृत व्याख्यान हम भी निरुक्त ४ । २५ भाष्य समय करेंगे । सारी रश्मियां गौः हैं ॥ ६ ॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥

[ऋ० १ । १५४ । ६ ॥]

तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय । यत्र गावो [भूरिशृङ्गा] बहुशृङ्गाः । भूरीति बहुनो नामधेयम् । प्रभवतीति सतः । शृङ्गं श्रयतेर्वा । शृणातेर्वा । शम्नातेर्वा । शरणायोद्गतमिति वा । शिरसो निर्गतमिति वा । अयासोऽयनाः । तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं परार्ध्यस्थमवभाति भूरि । पादः पद्यतेः । तन्निधानात्पदम् । पशुपाद-प्रकृतिः प्रभागपादः । प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि ।

एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते । तानि चेत्समानकर्माणि समाननिर्वचनानि । नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि । यथार्थं निर्वक्तव्यानि । इतीमान्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयान्यनुक्रान्तानि ।

तत्र निर्ऋतिर्निरमणात् । ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा । सा पृथिव्या सन्दिह्यते । तयोर्विभागः । तस्या एषा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(ता) वे (वाम्) [हे यज्ञ करने वाले दम्पति] तुम दोनों के, [हम यज्ञ कराने वाले] (उश्मसि) कामना करते हैं (गमध्यै) जाने के लिए जहां (गावः) रश्मि बहुत शृङ्गों वाले, बहुत दीप्ति वाले, (अयासः) नहीं ठहरने वाले [हैं ।] (अत्र अह) उन स्थानों में (उरुगायस्य) महागति वाले (वृष्णः) विष्णु का परम स्थान (अव भाति) नीचे चमकता है बहुत ।

वे घर हम दोनों के चाहते हैं जाने के लिए जहां (गौएं =) रश्मि बहुत शृङ्गों वाले । भूरि यह बहुत का नामधेय है । पर्याप्त ऐसा होने से । १ शृङ्ग श्रयति = (सिर के आश्रित होने से) अथवा । २ शृणाति (मारने) से अथवा । ३ शम्नाति (मारने) से अथवा । ४ शरण = रक्षा के लिए ऊपर को गया हुआ है अथवा । ५ सिर से बाहर गया हुआ है अथवा । अयासः = अयनाः = सदा गमनशील अर्थात् न कदापि ठहरने वाले । वहां वह (उरुगायस्य) महागति वाले विष्णु का, परम स्थान (परार्ध्यस्थम्) सब में ऊंचा स्थान, चमकता है बहुत । पादः पद्यति से उस के निधान=स्थापन से [रेत वा मिट्टी पर पूरा चिह्न=रूप वाला] पद है । पशु के पाओं के मूल वाला [पशु के चार पाद के कारण] (प्रभाग) चतुर्थ भाग वाला पाद है । चौथे भाग रूपी पाद की समानता से दूसरे पद =पाद कहाते हैं । यथा मीमांसा के कई अध्यायों में ८ वें भाग को भी पाद कहा है अर्थात् कई अध्यायों में आठ आठ पाद हैं ।

इस प्रकार अन्य पदार्थों के [नाम-विषय में] सन्देह होते हैं। वे यदि समान कर्मों=अर्थों वाले [हों तो] समान निर्वचनों वाले [हों।] नाना कर्मों=अर्थों वाले यदि [हों तो] नाना निर्वचनों वाले। अर्थ के अनुसार [ये सब] निर्वचन किए जाने चाहिएं। तो ये इक्कीस पृथिवी के नाम अनुक्रम से पढ़े है।

इन नामों में निर्ऋतिः [प्राणियों के] निरमण से [है।] ऋच्छति से कष्टापत्ति वाली दूसरी [निर्ऋति है।] (सा) वह कष्टापत्ति वाली दूसरी निर्ऋतिः पृथिवी के नाम के साथ संदेह की जाती है। उन दोनों का भेद है। उस संदेह उत्पन्न करने वाली निर्ऋति की यह [ऋक्] है ॥ ७ ॥

भाष्य—तानि वास्तूनि अर्थात् वे घर, यह अर्थ दो ओर लगता है। प्रथम पृथिवी पर के घर, जिन में बहुत किरणों का अथवा पर्याप्त किरणों का प्रवेश हो सके। घर तंग नहीं होने चाहियें। दूसरे घर द्युलोक के स्थान हैं, यहां योग सम्पन्न आत्माएं जाती हैं।

गमध्यै=गन्तुम्। यहां राजवाड़े आक्षेप करता है—

but bases like गमधी are not found in RV; perhaps they existed in pre-Vedic Sanskrit. (p. 325.)

वस्तुतः यह मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डलान्तर्गत है। प्रथम मण्डल के उत्तर कालीन होने में ईसाई-यहूदी लेखक कोई ठोस प्रमाण नहीं दे सके। उन के लंगड़े तर्कों का उत्तर हम "भाषा का इतिहास" और "भारतवर्ष का वृहद् इतिहास" भाग १, २ में दे चुके हैं।

आगे शृङ्ग शब्द के पांच निर्वचन कहे गए हैं। इन में अर्थ की विविधता ही कारण है। यास्क की सूक्ष्मेक्षिका का क्या कहना।

रश्मि अयासः अथवा अयनाः हैं। वे सदा गमनशील हैं। कभी भी ठहरते नहीं। ये रश्मि क्यों गमन-शील हैं, कौन सी शक्ति इन्हें गमन-शील रखती है, यह वैदिक विज्ञान से ही जाना जा सकता है। द्युलोक में आपः कण भी सदा चलते रहते हैं। ऋग्वेद १। २४। ६ में कहा है—इमा आपो अनिमिषं चरन्तीः। ये आपः निरन्तर चल रही हैं। आपः कण और रश्मि किन नियमों में गति-शील हो रहे हैं, यह महान् परिश्रम से ही वेद से जाना जा सकता है।

महागति विष्णु क्या है, वह तीन कर्मों ■ एक चक्र पूरा कर लेता है। उस का परम पद परार्ध्येस्थ है। राजवाड़े ने परार्ध्येस्थ के स्थान पर परार्धस्थ रूप ठीक समझा है। प्राचीन संस्कृत में दोनों रूप ठीक हैं।

यथार्थं निर्वक्तव्यानि। यह वैसा ही शासन है जैसा अर्थनित्यः परीक्षेत [निरु० २।१]। वस्तुतः निर्वचनों का यही आधारभूत सिद्धान्त है। यदि एक शब्द के नाना अर्थ हैं तो उस के नाना निर्वचन होंगे। इन अर्थों को न जान कर यास्क के निर्वचनों को अशुद्ध बताना अपनी अज्ञानता का प्रकाश करना है। "संस्कृत वार्टरबुख" तथा सिद्धेश्वर वर्मा ने ऐसी अज्ञानता पदे-पदे दर्शाई है।

पृथिवी-नामधेयानि। निघण्टु के प्रति खण्ड के अन्त में दो प्रकार ■ खण्ड समाप्ति कही है। डा० लक्ष्मणस्वरूप ने एक प्रकार को चतुरस्र कोष्ठों में दिया है। पृथिवी नामधेयानि प्रमाण से स्पष्ट है कि यास्क को खण्ड समाप्ति का यह प्रकार भी अभिमत था ॥ ७ ॥

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश ॥

बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजकाः। वर्षकर्मेति नैरुक्ताः। य ईं चकारेति करोतिकिरती सन्दिग्धौ वर्षकर्मणा। ■ सोऽस्य वेद मध्यमः। स एवास्य वेद मध्यमो यो ददर्शादित्योऽपहितम्। ■ मातुर्योनौ। मातान्तरिक्षं निर्मीयन्तेऽस्मिन्भूतानि। योनिरन्तरिक्षम्। महानवयवः। परिवीतो वायुना। अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव। परियुतो भवति। बहुप्रजा भूमिमापद्यते वर्षकर्मणा।

शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानानीति। तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ। विविदिषाणि त्वेति। सास्मा एतामृचमादिदेश। एषा मद्देवतेति ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसने इस वृष्टि को किया नहीं वह इस को जानता। जिस ने इस वृष्टि को देखा, (हिरुक् इत् नु) छिपा हुआ [वह] (तस्मात्) उस से। वह माता की योनि में लिपटा हुआ अन्दर। बहुत सन्तान वाले ने पृथिवी पर प्रवेश किया।

बहुत प्रजा वाला कष्ट को प्राप्त होता है, यह परिव्राजक=भिक्षु [कहते हैं]। वृष्टि अर्थ वाला [यह मन्त्र है], ऐसा नैरुक्त [कहते हैं] । यह चकार का अर्थ, करोति वा किरति [करने वा बखेरने अर्थ वाले ये दोनों धातु] वर्षा के अर्थ के साथ सन्दिग्ध हैं । नहीं वह इस को जानता, (मध्यमः) मध्यमस्थानी मेघ । वह ही इस को जानता है मध्यमस्थानी [मेघ], जिसने देखा आदित्य से छिपे हुए को । वह माता की योनि में । माता अन्तरिक्ष [है] । बनाए जाते हैं इस में भूत । योनि अन्तरिक्ष [है] । बहुत बड़ा अवयव=भाग लिपटा हुआ वायु से । यह भी दूसरा [स्त्री—] योनिः इस कारण से ही [है] । चारों ओर से जुड़ा होता है [स्नायु और मांस से] । बहुत प्रजावाला भूमि को प्राप्त होता है वर्षा-कर्म से ।

शाकपूणि ने संकल्प किया-सारी देवताओं को जान जाऊं । उस के लिये देवता दोनों लिङ्गों वाली प्रकट हुई । उस को नहीं जाना । उस को पूछा । जानना चाहता हूं तुझे । उस ने इस के लिये इस ऋचा को बताया । यह मेरी देवता है ॥ ८॥

भाष्य—य ईं चकार, यह ऋक् प्रथम मण्डल के १६४ सूक्त की है । इस सूक्त को वैश्वदेव सूक्त कहते हैं (बृहद्देवता ४ । ३१ ॥) इस सूक्त का ऋषि दीर्घतमा है । कात्यायन की सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता ४ । ४२— के अनुसार यह अल्पस्तव सूक्त है और इस ऋक् में ज्ञान-प्रशंसा है । बृहद् देवता ४ । ३२ के अनुसार इस सूक्त में, प्रवादा विविधाः हैं । यास्क ने पहले इस ऋक् का भिक्षु-आचार्यों के अर्थ का संकेत किया । इस अर्थ का उस ने खण्डन नहीं किया । तदुपरान्त उस ने नैरुक्तों का अर्थ दिया है । नैरुक्त अधिदैवत रूप से मन्त्र-व्याख्या करते हैं । तदनुसार यह वर्षा के अर्थ का मन्त्र है । अतः ईं का संकेत वर्षा की ओर है ।

नैरुक्तों के अनुसार मेघ मध्यमस्थानी है । वह वर्षा को करता और बखेरता है । मध्यम स्थान पृथिवी त्वक् से कई सौ योजन ऊपर से आरम्भ होता है । योगसूत्रों पर व्यासभाष्य ३ । २६ के अनुसार मेरुपृष्ठ से ध्रुवमण्डल तक अन्तरिक्ष लोक है—मेरुपृष्ठादारभ्य आध्रुवाद् ग्रह-नक्षत्र-ताराविचित्रो ऽन्तरिक्षलोकः । यह मेरु पृथिवी त्वक् से ऊपर पृथिवीमण्डलस्थ वायु में है ।

दूसरी ओर ध्रुव मण्डल कहां से आरम्भ होता है, यह मैं अभी नहीं जान सका। ब्रह्माण्ड पु० पूर्व, २१ में भी ऐसा मत है—

> शतार्द्धकोटिविस्तारा पृथिवी कृत्स्नशः स्मृता ॥ १२ ॥
> तस्य अर्द्धप्रमाणेन मेरोर्यावत्तु संस्थिति ॥ १३ ॥

वहां इतना ऊपर अन्तरिक्ष में कौन सा मेघ है। मै० सं० १।४।१४ में सप्त पर्जन्य लिखे हैं—१. वराहवः। २. स्वतवसः। ३. विद्युन्महसः। ४. धूपयः। ५. श्वापयः। ६. गृहमेधाः। ७. अशनि विद्विष। पर्जन्य मध्यम स्थानी है। पर्जन्य के इन सात रूपों का अध्ययन अपेक्षित है। पर्जन्यों स मरुतों के सम्पर्क से मेघ आदि बनते हैं और सूर्यरश्मियों के द्वारा वर्षा होती है। इसी लिए मैत्रायणि संहिता में कहा है—अग्निर्वा इतो वृष्टिम् ईट्टे। मरुतोऽमुत च्यावयन्ति। तां सूर्यो रश्मिभिर्वर्षति।[1] एतं वै वृष्ट्या प्रदाताः।
२।४।८॥

मेघ, और इन के सहित वराह और जीमूत आदि भेद तथा अभ्र, और पर्जन्य आदि का विस्तृत वर्णन वायु पुराण ५१। २१—४६ तक है। ये मेघ वायु के निघात से जल-विसर्जन करते हैं—

> मेघा वायुनिघातेन विसृजन्ति जलं भुवि ॥ १४ ॥
> अभ्रस्था प्रपतन्त्यापो वायुना समुदीरिताः ॥ २५ ॥
> वायु पु०, अ० ५१।

अन्तरिक्ष वायु से व्याप्त है। यह वायु पृथिवी-मण्डल के वायु से अति सूक्ष्म है। राजवाड़े लिखता है—अन्तरिक्ष means space; यह अत्यन्त अशुद्ध अर्थ है। वस्तुतः space अथवा सर्वथा रिक्त स्थान कोई है ही नहीं।

शाकपूणि यास्क से पुराना नैरुक्त है। वह भारतयुद्ध से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व था। उस का एक विशेषण रथीतर था। उस ने किसी ऋक् संहिता का प्रवचन किया। साथ ही उस ने एक निरुक्त रचा। एक ओर वह वैदिक संहिता का प्रवक्ता था और दूसरी ओर लोक भाषा में निरुक्त का रचयिता। अतः ईसाई-यहूदी लेखकों का स्वकल्पित मत कि वैदिक वाक् और लोकभाषा का काल भेद है, उपहास्यास्पद है। इसका अधिक वृत्त अस्मद्रचित "वैदिक वाङ्मय का इतिहास" में देखिये ॥ ८ ॥

---

१. इतो—(अग्नितः) रश्मिभिर्वर्ष (सन्दधाति)। मो० पू० १।३६॥

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ।
[ऋ० १ । १६४ । २६ ॥]

अयं स शब्दायते येन गौरभिप्रवृत्ता मिमाति । मायुं शब्दं करोति । मायुमिवादित्यमिति वा । वागेषा माध्यमिका । ध्वंसने मेघेऽधिश्रिता । सा चित्तिभिः [कर्मभिर्नीचैः] निकरोति मर्त्यम् विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिम् । वव्रिरिति रूपनाम । वृणोतीति सतः । वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत्पुनरादत्ते ॥ ६ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अर्थ—यह वह [मेघ] गर्जता है, जिसके द्वारा (गौः) वाणी (अभीवृता) चारों ओर से प्रेरित की गई, करती है (मायुं) शब्द को (ध्वसनौ) मेघ में आश्रित हुई । वह (चित्तिभिः) चटचटा शब्दों से (नि हि चकार) नीचे करती है मनुष्य को । विद्युत् होती हुई (प्रत्यौहत) छिपाया अथवा छिपाती है । (वव्रिम्) रूप को । यह वह [मेघ] शब्द करता है जिस के द्वारा । वाणी चारों ओर प्रवृत्त हुई शब्द को करती है । मायु के समान आदित्य को अथवा । वाणी [है] यह मध्यमस्थानी- (ध्वंसने) पानी गिराने वाले मेघ में आश्रित । वह चटचटा शब्दों से [कर्मों से नीचे] झुकाती है मनुष्यों को । विद्युत् होती हुई छिपा देती है रूप को । वव्रिः यह रूप का नाम है । ढांपता है इस [कारण के] होने से । वर्षा से ढांप कर पृथिवी को, (तत्) उस सम्पूर्ण वर्षा-जल को [वह मध्यमा वाक्—] फिर ले लेती है ॥ ९ ॥

भाष्य—यह प्रहेलिका रूपी ऋक् भी पूर्व सूक्तान्तर्गत ही है । इस में मध्यम-स्थानी वाक् का गौः शब्द से वर्णन है । दुर्ग के अनुसार मायु का एक अर्थ सूर्य भी है ।

निघण्टु का आरम्भ पृथिवी के नामों से हुआ है । इस का कारण है । हिरण्यगर्भ से सूर्य आदि की अपेक्षा भूमि पहले पृथक् हुई थी । अतः निघण्टु का आरम्भ पृथिवी नामों से हुआ । अगला सारा क्रम भी कारणविशेष रखता है ॥ ६ ॥

हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश । हिरण्यं कस्मात् । ह्रियत आयम्यमानमिति वा । ह्रियते जनाज्जनमिति वा । हितरमणं भवतीति वा । हृदयरमणं भवतीति वा । हर्यतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणः ।

अर्थ—हिरण्य अर्थात् स्वर्ण के नाम हैं, आगे पन्द्रह । हिरण्य किस [कारण] से ? खींचा जाता है, लम्बा किया जाता है अथवा । ले जाया जाता है मनुष्य से मनुष्य को अथवा । हित, पूर्वक आनन्दप्रद होता है अथवा । हृदय को आनन्द देने वाला होता है अथवा । हर्यति से अथवा [है] प्राप्ति की इच्छा अर्थ वाले [धातु] से ।

भाष्य – निघण्टु के आरम्भ में पृथिवी के इक्कीस नाम पढ़ कर फिर हिरण्य के ही नाम क्यों पढ़े गए ? दुर्ग के अनुसार शाकपूणि के निघण्टु में भी यही क्रम था । पृथिवीस्थ वस्तुओं में हिरण्य (सुवर्ण) सर्वोत्तम है, अतः पृथिवी नामों के पश्चात् उसी के नाम पढ़े गए हैं ।

अन्तरिक्षनामान्युत्तराणि षोडश । अन्तरिक्षं कस्मात् । अन्तरा क्षान्तं भवति । अन्तरेमे इति वा । शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा । तत्र समुद्र इत्येतत्पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते । समुद्रः कस्मात् । समुद्द्रवन्त्यस्मादापः । समभिद्रवन्त्येनमापः । सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि । समुदको भवति । समुनत्तीति वा । तयोर्विभागः ।

अर्थ—अन्तरिक्ष के नाम [हैं] आगे सोलह । अन्तरिक्ष किस [कारण] से । [द्यौ के] मध्य में [क्षा+अन्तम्] पृथिवी के अन्त तक होता है । मध्य में इन दोनों [द्यावापृथिवी] के अथवा । (शरीरेषु अन्तः+अक्षयम्) शरीरों के अन्दर नहीं क्षय वाला, अथवा ।

(तत्र) इन अन्तरिक्ष नामों में [जो] समुद्र यह [नाम है] यह पृथिवी के समुद्र के साथ सन्देह किया जाता है । समुद्र किस [कारण] से । भले प्रकार ऊपर को उड़ते हैं इस से जल । भले प्रकार दौड़ते हैं इस की ओर [नदियों के] जल । भले प्रकार प्रसन्न होते हैं इसमें [जलचर] प्राणी । (सम्+उदक) एकीभाव=एकत्र हुए जल वाला होता है । भले प्रकार गीला करता है अथवा । इन दोनों अन्तरिक्षस्थ और पार्थिव समुद्रों का विभाग=पृथक्-पृथक् स्पष्ट ज्ञान [कहते हैं ।]

भाष्य—समुद्रवन्ति+अस्मात्+आपः । इस तथ्य को सर्वसाधारण जानते हैं । इस वचन की तुलना वायु पुराण ५१ । २४ से करनी चाहिए—

समुद्राद् वायुसंयोगाद् वहन्त्यापो गभस्तयः ।

उद्, उदक और दक, ये तीनों जल के नाम हैं । यास्क ने समुद्र पद में उद् का भाव मान कर निर्वचन में आपः अथवा उदक का ग्रहण किया है ।

तत्रेतिहासमाचक्षते—देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः । स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे । देवापिस्तपः प्रतिपेदे । ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष । तमूचुर्ब्राह्मणाः । अधर्मस्त्वया चरितः । ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितम् । तस्मात्ते देवो न वर्षतीति । स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन । तमुवाच देवापिः । पुरोहितस्तेऽसानि । याजयानि च त्वेति । तस्यैतद्वर्षकामसूक्तम् । तस्यैषा भवति ॥ १० ॥

अर्थ—इस विषय में इतिहास को कहते हैं—और देवापि ऋष्टिषेण का पुत्र, तथा शन्तनु कौरव कुल के, [दोनों] भाई हुए । उस शन्तनु ने [जो] छोटा [था, अपना] अभिषेक कर लिया । देवापि तप करने लगा । इस कारण शन्तनु के राज्य मे बारह वर्ष देव नहीं बरसा । उस को बोले ब्राह्मण । अधर्म तेरे द्वारा आचरित हुआ । ज्येष्ठ भाई को (अन्तरित्य) उलांघ कर [तू ने] अभिषेक करा लिया । इस कारण से तेरे [जनपद में] देव नहीं बरसता । उस शन्तनु ने देवापि को (शिशिक्ष) देना चाहा राज्य, उस को बोला देवापि । पुरोहित तेरा हूंगा । यज्ञ कराऊंगा और तेरा । उस का यह वर्षकाम सूक्त [है ।] उस [सूक्त] की यह [ऋक्] है ॥ १० ॥

भाष्य—ईसाई-यहूदी ग्रन्थकार संस्कृत के इतिहास शब्द का अंग्रेजी अनुवाद legend करते हैं । वे ऐसा क्यों करते हैं । उत्तर स्पष्ट है । यदि वे इतिहास को history मान लें, तो प्राचीन भारतीय इतिहास का उन का कल्पित किया हुआ ढांचा सर्वथा नष्ट हो जाए । इसलिए ये चालाक लेखक अधिकांश स्थानों में इतिहास का अंग्रेजी में legend अनुवाद करते हैं । पर प्रस्तुत स्थान में ईसाई-यहूदी संस्कार ग्रहण करने वाला राजवाड़े लिखता है—

The Rk refers to an actual historical fact, अर्थात् इस ऋक् में कही गई घटना एक वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य है। वस्तुतः राजवाड़े ने बिना सोचे समझे यह लेख किया है।

देखिए, ऐतिहासिक शन्तनु का मूल नाम महाभिष था। इस का अधिक स्पष्टीकरण भागवत पुराण ६।२२ से होता है—प्राक् महाभिषसंज्ञितः। वस्तु से शन्तनु नाम वेद से ले कर ग्रहण किया था। शन्तनु भ्राता देवापि का आर्ष्टिषेण विशेषण भी उत्तर काल में मान लिया गया। स्कन्द लिखता है—स च किल च्यवननामापरनाम्नि ऋष्टिषेणे ब्रह्मचर्यमुवास। च्यवन का अपर नाम ऋष्टिषेण हुआ। यह क्यों हुआ इस का कारण भी स्पष्ट है।

यदि यह वर्ती सूक्त, जैसा ईसाई-यहूदी लेखक कल्पना करते हैं, देवापि का बनाया होता तो देवापि इस के मन्त्रों में शन्तनु पद रखता ही न। वह इस के स्थान में महाभिष शब्द रखता। और भी, वह अपना नाम आर्ष्टिषेण न कह कर च्यावन कहता। अतः इतना निश्चित है कि यह सूक्त देवापि और शन्तनु से पहले विद्यमान था। फलतः दोनों के नाम अथवा नाम विशेषण उत्तर काल में मन्त्रों से लेकर रखे गए।

अपरञ्च वेद विषयक इतिहासों का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए निरुक्त-प्रदर्शित ऐतिहासिक मत के आधारभूत सिद्धान्त का जानना अत्यन्त आवश्यक है। यास्क मुनि ने महती कृपा कर के इस विषय को स्वयं स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है—ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। १०।१०॥ अर्थात् ऋषि की, दृष्टार्थ वाले की [अपने देखे अर्थ में] प्रीति होती है आख्यान से मिली हुई। यास्क के इस स्पष्टीकरण के अनुसार ऋषि का देखा हुआ अर्थ एक पृथक् वस्तु है, और आख्यान उस से सर्वथा पृथक् एक अन्य वस्तु है। दोनों वस्तुओं को जोड़ कर वेदार्थ का ऐतिहासिक पक्ष बना। इसी के फलस्वरूप मन्त्रगत घटना के साथ इतिहास का भी थोड़ा सा सामञ्जस्य उत्पन्न करने के लिए विद्वानों ने महाभिष को शन्तनु नाम दे दिया।

आख्यान सर्वथा पृथक् हैं, इस सत्यता का एक अकाट्य प्रमाण है। वह है, ऐतिहासिक घटनाओं के साथ वेदमन्त्रों में वर्णित घटनाओं का कभी भी पूर्ण-सामञ्जस्य न होना।[1] प्रस्तुत घटना में भी मन्त्रगत देवापि आर्ष्टिषेण अर्थात्

---

१. देखो—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृष्ठ १२३-१२६, दाशराज्ञ संग्राम।

ऋष्टिषेण का पुत्र है । इतिहास में देवापि का पिता प्रतीप=प्रतिप=पर्यश्रवाः है । उस का एक अन्य नाम ऋष्टिषेण भी था, यह कदापि प्रमाणित नहीं हो सकता। इस कठिनाई को देख कर ही प्राचीन आचार्यों ने देवापि के गुरु च्यवन का अपर नाम ऋष्टिषेण मान लिया । और उसे ही देवापि का पिता माना । इसी लिए बृहद्देवता में लिखा है कि क्षत्रिय देवापि— ऋष्टिषेणसुतोऽभवत् । ७ । १२६ ॥

इतिहास के अनुसार देवापि विकलाङ्ग होने के कारण राजा न बन सका । उस के राजा बनने में प्रजाएं बाधक थीं । महाभिष का इस में कोई दोष न था ।

अब यदि कहो कि देवापि के पिता का नाम ऋष्टिषेण था, तो इस का प्रमाण इतिहास से देना होगा । यदि कहो मन्त्र में देवापि आर्ष्टिषेण है, तो भी बात नहीं बनती । क्योंकि विवाद मन्त्र की बात के ऐतिहासिक होने पर है, और जब यह सिद्ध करना है कि मन्त्र की बात ऐतिहासिक है, तो इस का पोषक-प्रमाण इतिहास से ढूंढ कर लाना पड़ेगा। अन्यथा मन्त्र की बात को ऐतिहासिक घटना सिद्ध करने के लिए, मन्त्र का ही प्रमाण साध्य-सम हेत्वाभास होगा ।

आर्ष्टिषेण देवापि जो ऋषि है, वह निस्सन्देह आधिदैविक है । इसी लिए विद्वान् दुर्गाचार्य ने नैरुक्त पक्ष में इस घटना का सर्वथा आधिदैविक अर्थ किया है।[1] ऋग्वेद के इसी वर्षकाम सूक्त के मन्त्र ८ में—आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे पाठ है । इस में मनुष्यः पद भी इस के आधिदैविक अर्थ का पोषक है। वेद में भ्राजत ऋष्टय. (ऋ० १ । ३१ । १), ऋष्टि विद्युत् (ऋ० १ । १६८ । ५) आदि मरुतों के विशेषण हैं । इन मरुतों के अनेक भेद ही नर, मनुष्य और विश आदि कहे जाते हैं ।

---

१. राजवाड़े लिखता है—This interpretation is altogether forced and unnatural (p. 354.) यह राजवाड़े का अपना अज्ञान है । वह वेद के आधिदैविक अर्थों के पास भी नहीं फटका । ऐसे अल्पश्रुत लोगों से वेद डरता है । वह अन्यत्र लिखता है–The Vedas contain history or myths which the Brāhmaṇas explain at length. (p. xxv)

अर्थात् वेद में "मिथ्स" हैं । ये ब्राह्मणों में विस्तार से व्याख्यात हैं । अल्प-पठित राजवाड़े को यह भी नहीं पता कि ब्राह्मण ग्रन्थों के व्याख्यान भी आधिदैविक अर्थों पर पूरा प्रकाश डालते हैं । उन में देव-माया तो है, पर राजवाड़े की समझी हुई "मिथ्स" नहीं हैं ।

इस सूक्त में वर्णित वर्षा और सामान्यतया भी वर्षा का सम्बन्ध मरुतों से है।

पं० राजाराम ने लिखा है—ऐतिहासिक पक्ष में यह दोष स्पष्ट आता है कि देवापि ही इस सूक्त का द्रष्टा ऋषि, अपना निर्देश प्रथम पुरुष में, और भूतकाल से कैसे करता है, इस का यथाकथञ्चित् यह समाधान दुर्गाचार्य ने लिखा है कि जैसे इस कल्प में देवापि और शन्तनु हुए, वैसे इस से पूर्वकल्प में भी हुए, उस के अभिप्राय से देवापि का यह वचन है। इति।

एक और भी अति स्पष्ट सत्य है। भारतीय इतिहास से प्रमाणित है कि मन्त्रगत घटनाओं के आधार पर इतिहास में वर्णित पुरुषों ने बहुधा अपने नाम और विशेषण बदल लिए।[1] सुप्रसिद्ध देवासुर संग्राम को भी कोई वेदों में वर्णित देवासुर संग्राम न समझ ले, इस भ्रान्ति के निवारणार्थ ही शतपथ ब्राह्मण में प्रवचन है—*तस्मादाहुः—नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदु उद्यत इतिहासे त्वत्* ।११।१।६।९॥

वेद के इतिहास कैसे हैं इस का अतिस्पष्ट ज्ञान ऋ० १।१२४।६ पर स्कन्दभाष्य में उद्धृत एक इतिहास से होता है। यथा—

अत्रेतिहासमाचक्षते। संग्रामेऽसुरा सूर्यस्य रथं भङ्क्तुमैच्छन्। अश्वं चापहर्तुम्। तानिन्द्रो रक्षितवान्। इति।

यह संग्राम अन्तरिक्ष में हुआ। उस में सूर्य के रथ और एतश अश्व की रक्षा इन्द्र ने की। ये सब आधिदैविक हैं।

इतिहास और वेद के कथनों के इन सूक्ष्म भेदों को पूर्ण न समझ कर राजवाड़े आदि ने बहुत व्यर्थ लेख किया है। और दाशराज्ञ संग्राम के विषय में तो कई ईसाई-यहूदी लेखकों ने वृथा कागज़ काले किए हैं।

द्वादशवार्षिकी अनावृष्टि—ऐसी अनावृष्टि त्रेता द्वापर की सन्धि में हुई थी। इस का उल्लेख महाभारत शान्तिपर्व में है। शन्तनु के राज्य काल की अनावृष्टि द्वापर के अन्त में हुई। पर वह उतनी घोर नहीं थी। सम्भवतः तब समय पर वृष्टि नहीं हो रही थी। यज्ञ का साफल्य निर्विवाद है। यज्ञ से वर्षा हुई।

---

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ० १४८।

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान् ।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि ॥
[ऋ० १० । ९८ । ५ ॥]

आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्रः । इषितसेनस्येति वा । सेना सेश्वरा । समानगतिर्वा । पुत्रः पुरु त्रायते । निपरणाद्वा । पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा । होत्रमृषिर्निषीदन् । ऋषिर्दर्शनात् । स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः ।

तद्यदेनाँस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् [त ऋषयोऽभवन्][1] तदृषीणामृषित्वम् । [तै० आ० २ । ९] इति विज्ञायते ।

देवापिर्देवानामाप्त्या स्तुत्या च प्रदानेन च । देवसुमतिं देवानां कल्याणीं मतिं चिकित्वाँश्चेतनवान् । स उत्तरस्मादधरं समुद्रम् । उत्तर उद्धततरो भवति । अधरोऽधोरः । अधो न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ११ ॥

अर्थ—ऋष्टिषेण का पुत्र (होत्रम्) होता के कर्म को अर्थात् कर्म के निमित्त ऋषि (निषीदन्) बैठता हुआ अर्थात् बैठा देवापि कल्याणी मति को (चिकित्वान्) जानता हुआ । वह ऊपर [अन्तरिक्ष के समुद्र] से नीचे के समुद्र को (अपः) जल दिव्य (अभि असृजत्) छुड़ा लाया वर्षा के ॥

ऋष्टिषेण का पुत्र । इषितसेन अर्थात् आगे बढ़ती हुई सेना वाले का पुत्र अथवा । सेना=स+इना अर्थात साथ स्वामी=सेनापति वाली । समान गति वाली अथवा । पुत्रः, बहुत रक्षा करता है । देने से अथवा । पुत्= नरक, उस से रक्षा करता है अथवा । (होत्रम्) होता के कर्म को [करने के लिए] ऋषि बैठा । ऋषिः, दर्शन से है । स्तोमों=मन्त्रों को [उस ने] देखा । यह औपमन्यव [कहता है]—तो जो इन को तप करते हुओं को, (ब्रह्म) वेद अथवा मन्त्र समूह (स्वयंभु) अपने आप होने वाला [प्रति सृष्टि में देवों द्वारा स्वयं आविर्भूत होने वाला=अकृतक] (अभ्यानर्षत्)

---

[1] १. कोष्ठगत पाठ निरुक्त के लघुपाठ में और दुर्गवृत्ति में नहीं है । तथापि तै० आ० में है ।

आ गया, [विना किसी इतर मनुष्य से पढ़े, हृदय गुफा से निकला देख लिया गया] वे ऋषि हुए, यही ऋषियों का ऋषिपन है। यह [ब्राह्मण=वेद व्याख्यान द्वारा] जाना जाता है। देवापि, देवों की (आप्त्या) प्राप्ति से स्तुति द्वारा और, हवि प्रदान से तथा। देवों की कल्याणी मति को (चिकित्वान्) जानता हुआ। वह ऊपर के [समुद्र से] नीचे के समुद्र को। उत्तर=अधिक ऊपर को उठा हुआ होता है। अधर=अधः+अर, अर्थात् नीचे गया हुआ। अध=अ+ध =नहीं दौड़ता है। ऊपर की गति का निषेध है। उससे अगली [ऋक्] अधिक निर्वचन के लिये—॥ ११ ॥

भाष्य—ऋष्टिषेण मध्यम स्थान वाला इन्द्र है। वही मरुतों की सेना वाला है। उस का पुत्र कौन है। मरुतों से सम्बन्ध रखने वाला कोई अग्नि उसका पुत्र है। दुर्ग के अनुसार वह पृथिवी का अग्नि है। वही देवापि है।

ब्रह्म स्वयम्भु वेद है। जब महाभूतों से महदण्ड उस का अगला रूप हिरण्यगर्भ, उस के पश्चात् प्रजापति पुरुष उत्पन्न हो गया, तब उस प्रजापति से अग्नि वायु, इन्द्र आदि देवों की उत्पत्ति हुई। तब सूर्य चन्द्र और बृहस्पति आदि भी बन रहे थे। इन सब की गतियों से विभिन्न छन्द अथवा ध्वनियां उत्पन्न हो रही थीं। ये ध्वनियां स्वाभाविक थीं और महाप्रलय के पश्चात् प्रति सृष्टि में यही होता है। ये वेदमन्त्र हैं, और सदा इसी रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। ऋषि इनको सुनते वा देखते हैं। इस देखने और सुनने का सम्बन्ध आत्मा से है, इन्द्रियों से नहीं।

आर्ष ज्ञान का यही महत्त्व है। वर्तमान संसार के सम्पूर्ण ज्ञान का आधार इन्द्रियों से है। इन्द्रियों द्वारा ही साइन्स का सारा परीक्षण होता है, अतः इसमें भूल का स्थान है। यह मत फ्रेंच लेखक ग्यूना का भी है।[१] आर्ष ज्ञान और उस का मूल वेद-वाक् ऋषिषु प्रविष्टाम्[२] थी। यह स्वयमागतविज्ञान था। इस ज्ञान को ग्रहण करने वाले ही ऋषि हुए थे। न्यूटन, मार्क्स फ्राईड और आईन्स्टाईन आदि ऋषि नहीं हैं। इन का ज्ञान अति दोषपूर्ण है। ऋषियों के ज्ञान की तुलना में सब बालिश हैं।

---

१. देखो अस्मत् प्रणीत-वेदविद्यानिदर्शन, पृ० १६, २०।
२ ऋ० १०। ७१। ३॥

देवसुमतिम्—देव कब वर्षा देते हैं, इन नियमों को जानता हुआ। अपो दिव्याः,—ये दिव्य आपः सूर्यरश्मियों द्वारा उतरती हैं। तभी वर्षा होती है ॥ ११ ॥[1]

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत् ।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥

[ऋ० १० । ९८ । ७ ॥]

शन्तनुः । शं तनोऽस्त्विति वा । शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा । पुरोहितः पुर एनं दधति । होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायत् । देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति [वृष्टिवनिं] वृष्टियाचिनम् । रराणो रातिरभ्यस्तः । बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत् । सोऽस्मै वाचमयच्छत् । बृहदुपव्याख्यातम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जब देवापि ने, शन्तनु के लिये, पुरोहित ने, होता के कर्म के लिये वरण किये गए ने, [शन्तनु पर] कृपा करते हुए ने, [वृष्टि हो, ऐसा] (अदीधेत्) विचार किया। [तब] देवों से सुने गए, वृष्टि वाले को, (रराणः) देते हुए बृहस्पति ने इस [देवापि] के लिए वाक् [=कड़क] को दिया।

अदीधेत्=अन्वध्यायत्=विचार किया। शन्तनुः—कल्याण हे [रोगार्त] शरीर [तेरा] हो अथवा। कल्याण इस [रोग से आर्त के लिए] शरीर द्वारा हो अथवा। पुरोहितः—आगे इस को रखते हे। होता के कर्म के लिये वरे गये, कृपा करते हुए ने सोचा। देवश्रुतम्—देव इस को सुनते है, अपनी क्रियाओं को इस के साथ मिलाते हैं। वृष्टिवनिम्=वृष्टि चाहने वाले को। रराणः = देता हुआ, रातिः का अभ्यास अर्थात् रेफ का दो वार पाठ है। बृहस्पति ब्रह्मा था। उस ने इस के लिए वाक् दी। बृहत् व्याख्या किया गया है, (पूर्व १ । ७ मे) ॥ १२ ॥

भाष्य—देवश्रुतम्—सम्पूर्ण देव अपने अपने भौतिक नियमों में चलते हैं। वेदमन्त्रों का सस्वर विशुद्ध पाठ भी एक भौतिक क्रिया है। इस विशुद्ध पाठ की

---

१. तुलना करो—इतः प्रदाना वै वृष्टिरितो ह्यग्निर्वृष्टिं वनुते स एतैः (त-) स्तोकैरेतान्स्तोकान् वनुते तऽएते स्तोका वर्षन्ति। (श० ब्रा० ३ । ८ । २ । २२ ॥)

उचित समय और स्थान पर क्रिया से उन देव क्रियाओं में एक सजीव सहयोग उत्पन्न हो जाता है। मानो देवों ने ऋषि की प्रार्थना सुनी है। तब देवों की कृपा होती है। इसी का उत्तररूप यज्ञ का फल है।

वृष्टिवनि—यजु ३८। ६ के व्याख्यान में शतपथ का वचन है—सूर्यस्य ह वा एको रश्मिर्वृष्टिवनिर्नाम। येनेमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति। १४। २। १। २१॥ अतः इस रश्मि का स्वरूप और इस का वर्षा से सम्बन्ध जानना चाहिए। वृष्टिवनिम् का सामान्य अर्थ है—वृष्टि मांगने वाले को। यह देवापि का विशेषण है।

बृहस्पति—यहां के आधिभौतिक अर्थों में प्रसिद्ध बृहस्पति ग्रह ही बृहस्पति है। इस ग्रह का वृष्टि देने में कोई योग अवश्य है। इस विज्ञान को भी खोजना चाहिये। यास्क के अनुसार—बृहस्पति ब्रह्मा आसीत्। अर्थात् जब यह सूक्त सृष्टि में प्रथम बार उच्चरित हुआ तो उस समय उस दैवी यज्ञ [illegible] होता देवापि के साथ ब्रह्मा का कर्म बृहस्पति ग्रह कर रहा था। [illegible] रखने वाले विद्वानों [illegible] भारत-युद्ध से शन्तनु-पूर्व के यज्ञ में यह बृहस्पति ग्रह ब्रह्मा बन [illegible] नहीं सकता था। वहां तो कोई देहधारी मनुष्य ब्रह्मा था। दैवी यज्ञ में ब्रह्मा का साथी देवापि भी अन्य था। यही बृहस्पति पर्जन्य और मेघों में कड़क का एक कारण है। इस कड़क के नाद में भी रहस्य निहित है। इन तीनों लोकों में सम्पूर्ण वाक् का मूल यह बृहस्पति ग्रह है।

उपन्याख्यानम्—ध्यान से अथवा पूर्णतया व्याख्या किया गया है। उप उपसर्ग यहां ऐसे ही अर्थ में है यथा निरुक्तस्य उपनिषत् पद में ॥ ११ ॥

साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च। यानि त्वस्य प्राधान्येनोपरिष्टात्तानि व्याख्यास्यामः।[1] आदित्यः कस्मात्। आदत्ते रसान्। आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। आदीप्तो भासेति वा। अदितेः पुत्र इति वा। अल्पप्रयोगं त्वस्य। एतदार्चाभ्याम्नाये सूक्तभाक्।

सूर्यमादितेयम्। [ऋ० १०। ८८। ११]

[अदितेः पुत्रम्।] एवमन्यासामपि देवतानामादित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति। तद्यथैतन्मित्रस्य वरुणस्यार्यम्णो दक्षस्य भगस्यांशस्येति।

१ निरुक्त १२। ८२२॥

अर्थ—सांझे [हैं] अगले छः [नाम] द्यौ के और, आदित्य के और। जो तो इस [आदित्य] के प्रधानता से [हैं], ऊपर=आगे [अ० १२ में] उन का व्याख्यान करेंगे। आदित्य किस कारण से। ले लेता, खींचता [है] रसों को [रश्मियां द्वारा।] ले लेता है प्रकाश को (ज्योतिषाम्)=ग्रह और नक्षत्रों के। चारों ओर से प्रकाशित है चमक से अथवा। अदिति का पुत्र है, अथवा। अल्प प्रयोग [है] इस [अदिति-पुत्र अर्थ वाले] का। (एतत्) यह पद आर्चाभ्याम्नाय में सूक्तभाक् [है, अर्थात् सारे सूक्त में स्तुत है।]

सूर्य को अदिति के पुत्र को।

इस प्रकार दूसरे भी देवताओं की आदित्य [वत्] कह कर स्तुतियां होती हैं। तो जैसे ये मित्र की, वरुण की, अर्यमा की, दक्ष की, भग की, [और] अंश की।

भाष्य—आदत्ते रसान्। पृथिवी पर के रस आग्नेय प्रभाव से सूक्ष्म रूप हो कर रश्मियों के साथ रश्मि-संहार के समय आदित्य मण्डल में पहुँचते हैं। रश्मि-संहार के बिना ये आदित्य में न पहुँचते। रश्मिसमूह ही हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवम् उत्पतन्ति। (ऋ० १। १६४। ७) विशेष ऋतु में रश्मि-विशेष द्यौ की ओर आपः के वसन पहने उड़ते हैं। सौराग्नि अपांगर्भ है (वायु पु० ५३। १२)। आपः ही सूर्याग्नि का कारण हैं।

ज्योतिषाम्—ग्रहों आदि के अपने-अपने रश्मि हैं। उन रश्मियों को दिन के समय आदित्य ले लेता है। यह आदित्य चारों ओर से दीप्त है। आपः कण इस में ताप और ज्योति की मात्रा रचते रहते हैं। आदित्य अदिति का, देव माता का पुत्र है।

आदित्य के निर्वचनों के विषय में राजवाडे लिखता है—

These unnatural derivations of आदित्य are due to the naturalistic tendency of Yâska and the Nairuktas. अदितेः पुत्रः is relegated to the last place because it refers to a history or a myth in which the Nairuktas did not believe (p. xxv)

अर्थात्–आदित्य के ये निर्वचन अस्वाभाविक हैं। यास्क और नैरुक्तों की रुचि भौतिक अर्थों की ओर है। अदितेः पुत्रः निर्वचन अन्त में दिया गया है क्योंकि यह इतिहास को कहता है। नैरुक्तों का इस इतिहास में विश्वास नहीं था। इति।

यह है परिश्रमी राजवाडे की वेद विषयक योग्यता। उस तो निर्वचन का अभिप्राय ही अज्ञात है। विकासमतस्थ की तिमिर आच्छादित बुद्धि के लिए यह मानना असम्भव है कि वेद पूर्ण विद्या का स्थान है और सत्य यही है कि वेद का ज्ञान सर्वज्ञ है। उस का आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ सर्वथा स्वाभाविक अर्थ है। शब्द और अर्थ की उत्पत्ति ही अन्तरिक्ष आदि में रहने वालों द्वारा हुई। और इन्हीं पदार्थों की भाषा के बनाने वाले निर्वचन स्वाभाविक अर्थ द्योतक हैं। राजवाडे इतना भी नहीं समझ सका कि अदितेः पुत्र निर्वचन भी आधिदैविक है।

अदिति क्या है। प्रकृति अथवा पृथिवी। ब्राह्मण ग्रन्थों में पृथिवी को बहुधा अदिति कहा है। पर देव माता अदिति क्या है, यह मैं अभी तक निश्चय नहीं कर पाया।

आचार्याम्नाय—कृष्ण द्वैपायन वेदव्यासजी के चार प्रधान शिष्यों में से चरक-वैशम्पायन एक था। वह याजुष शाखा का प्रवक्ता था। इस चरक वैशम्पायन के नौ शिष्यों में से ऋचाभ आरुणि और याज्ञवल्क्य, तीन अत्यन्त यशस्वी थे। ऋचाभ प्रोक्त आम्नाय आचार्याम्नाय था। उस में अदिति पुत्र=आदित्य सूर्य सूक्त-भाक था। दुर्गवृत्ति के मुद्रित पाठों के अनुसार ऋग्वेद ही आचार्याम्नाय है। पर इस स्थान पर वृत्ति के उपलब्ध कोशों के पाठ बहुत अस्त व्यस्त हो गए हैं। अतः निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि मूल पाठ क्या था। याजुष शाखाओं में सूक्त विभाग था यह विचारणीय है। कपिष्ठल कठ संहिता में अष्टक विभाग है अतः सम्भव है कि किन्हीं याजुष शाखाओं में सूक्त विभाग भी हो ॥ १३ ॥

अब अन्य से भिन्न आदि देवताओं के आदित्य अर्थ वाले उदाहरण दिये जाते हैं।

अथापि मित्रावरुणयोः ।

आदित्या दानुनस्पती ॥ [ऋ० १ । १३६ । ३ ॥]

दानपती ।

अथापि मित्रस्यैकस्य ।

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन ।

[ऋ० ३ । ५९ । २ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अथापि वरुणस्यैकस्य ।

अथा वयमादित्य व्रते तव । [ऋ० १ । २४ । १५ ।

व्रतमिति कर्मनाम । निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः । इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव वृणोतीति सतः । अन्नमपि व्रतमुच्यते । यदावृणोति शरीरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—और भी, मित्रावरुण की [स्तुति आदित्य पद द्वारा]—(आदित्यौ) अदिति के दोनों पुत्र [मित्र और वरुण] दान के स्वामी । दानपती ।

और भी, मित्र की अकेले की [स्तुति आदित्य पद द्वारा]—वह, हे मित्र मरण-धर्मा मनुष्य (प्र-अस्तु) बहुत होवे, (प्रयस्वान्) अन्नवान्, जो तेरे, हे अदिति के पुत्र, (शिक्षति) देता है, व्रतरूपी कर्म से ।

यह भी निगम है।

और भी वरुण की, अकेले की [स्तुति आदित्य पर द्वारा]—और हम हे अदिति के पुत्र कर्म में तेरे ।

व्रत यह कर्म का नाम [है । पाप की] निवृत्ति का कर्म [है ।] वारण=निवारण करता है, ऐसा होने से । यह भी दूसरा व्रत अर्थात् यम, नियम आदि का व्रत इस कारण से ही । ढांपता है, ऐसा होने से । अन्न भी व्रत कहा जाता है । क्योंकि ढांपता है शरीर को [नए रक्त, स्नायु और त्वक् आदि से] ॥ १३ ॥

भाष्य—राजवाड़े के यास्कीय पाठ में दानपती पद स्वरों से युक्त है, पर लक्ष्मणस्वरूप के सम्पादित पाठ में ऐसा नहीं है । आदित्य को किन किन अवस्थाओं में मित्र, वरुण आदि कहा है, यह अन्वेष्टव्य है ।

इस अन्वेषण में पुराण से सहायता मिल सकती है । वायु पुराण ५२ अध्याय में वासन्त और ग्रैष्म आदि मासों में सूर्य में अधिष्ठित अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश और भग आदि का उल्लेख है । उन्हीं के कारण से तत्तत् मासों में आदित्य की मित्र, वरुण आदि विभिन्न संज्ञाएं हैं, ऐसा संभव है ।

आदित्यौ=मित्र और वरुण बहुत देने वाले हैं, यह जानना चाहिए । आदित्य=मित्र प्रभूत अन्न का दाता है । उस का वर्षा, सोम आदि से सम्बन्ध है ।

आदित्य=वरुण के व्रत मन्त्रों में अधिक स्पष्ट हैं ॥ १३ ॥

स्वरादित्यो भवति । सु अरण । सु ईरण । स्वृतो रसान् । स्वृतो भास ज्योतिषाम् । स्वृतो भासेति वा । एतेन द्यौर्व्याख्याता ।

पृश्निरादित्यो भवति । प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ता । संस्प्रष्ट रसान् । संस्प्रष्ट भास ज्योतिषाम् । संस्पृष्टो भासेति वा । अथ द्यौ । संस्पृष्टा ज्योतिर्भि पुण्यकृद्भिश्च ।

नाक आदित्यो भवति ।[१] [नेता रसानाम् ।] नेता भासाम् । ज्योतिषा प्रणय । अथ द्यौ । कमिति सुखनाम । तत्प्रतिषिद्ध प्रति षिध्यत ।

अर्थ—स्वर आदित्य होता है । भले प्रकार (अरण) गमन करने वाला । भले प्रकार [अन्धकार का] (ईरण) नाश करने वाला । (सु+ऋत) भले प्रकार [रश्मियो द्वारा] गया हुआ [आप आदि] रसो को [ले लेने के लिए ।] भले प्रकार पहुँचा हुआ प्रकाश को नक्षत्रो के । भले प्रकार पहुँचा गया प्रकाश से अथवा । इस से द्यौ की व्याख्या हो गई । [अर्थात् ये निर्वचन द्यौ के भी हैं ।]

पृश्नि आदित्य होता है । (प्र+अश्नुत) व्यापता है इस को (वर्ण) रग यह नैरुक्त [मानते हैं] । (संस्प्रष्ट) अच्छे प्रकार स्पर्श करता है प्रकाश को नक्षत्रो के । अच्छे प्रकार स्पर्श किया जाता है प्रकाश से अथवा ।

अब द्यौ [भी पृश्नि है] भले प्रकार स्पर्श की हुई है नक्षत्रो से और पुण्य किया है जिन्होने [उन मर्त्य लोक से मुक्त] आत्माओ से ।

नाक आदित्य होता है ।[१] ले जाने वाला रसो का । ले जाने वाला भासो को । अच्छे प्रकार स्पर्श करता है प्रकाशो का । नक्षत्रो का (प्रणय) चालक अथवा मिलन स्थान ।

अब द्यौ [भी नाक है] कम्, यह सुख का नाम है । उस के प्रतिषिद्ध [अ+कम्] का प्रतिषेध करे [न+अकम्=नाकम्] ।

भाष्य—आदित्य (सु+अरण) भले प्रकार गमन करने वाला है । उस का यह गमन किस प्रकार से होता है । इस का उत्तर योरोपीय ज्योतिषी इस प्रकार देते हैं कि सूर्य अपनी कक्षा के गिर्द घूमता है । वस्तुत आदित्य गति का विस्तृत चक्र है । आदित्य का रथ है । उस रथ के चक्र हैं । उन चक्रो पर

१ तुलना करो—स नाको नाम दिवि रुहाहासि । मै० स० ४ । १ । ६ ॥

रश्मियां हैं । इन रश्मियों से इस के अश्व नियन्त्रित रहते हैं । पर आदित्य-गति इतनी ही नहीं । आदित्य-गति तथा ग्रह और नक्षत्र-गति का गहरा रहस्य है । इस का पूरा ज्ञान अभी तक योरोप और अमेरिका में नहीं है । एतद्विषयक आर्ष ज्ञान की छटा पुराणों में सुरक्षित रही है । देखिए—

भूतसंमोहनं ह्येतद् ब्रुवतो[1] मे निबोधत ।
प्रत्यक्षमपि दृश्यं यत्[2] तत्संमोहयते[3] प्रजाः ॥
यो ऽसौ[4] चतुर्दिशं पुच्छे शैशुमारे व्यवस्थितः ।
उत्तानपादपुत्रोऽसौ मेढीभूतो ध्रुवो दिवि ॥
स हि[5] भ्रमन् भ्रामयते[5] चन्द्रादित्यौ ग्रहैः सह ।
भ्रमन्तमनुगच्छन्ति नक्षत्राणि च चक्रवत् ॥
ध्रुवस्य मनसा चासौ सर्पते भगणः[6] स्वयम्[6] ।
सूर्याचन्द्रमसौ तारा नक्षत्राणि ग्रहैः सह ॥
वातानीकमयैर्बन्धैः ध्रुवे बन्धानि तानि वै ।
तेषां योगश्च भेदाश्च[7] कालचारस्तथैव[8] च ॥
अस्तोदयौ तथोत्पाता अयने दक्षिणोत्तरे ।
विषुवद् ग्रहवर्णाश्च ध्रुवात् सर्वं प्रवर्तते ॥
वर्षा घर्मो हिमं रात्रिः सन्ध्या चैव दिनं तथा ।
शुभाशुभं प्रजानां च ध्रुवात् सर्वं प्रवर्तते ॥
ध्रुवेणाधिष्ठितांश्चैव सूर्यो ऽपावृत्य तिष्ठति ।[9]
तदेष दीप्तिकरणः स कालाग्निर्दिवाकरः ॥
वायुपुराण ५१ । ५—१२ ॥ ब्रह्माण्ड, पूर्व २२ । ५—१२ ॥

इस से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण ग्रह, पृथिवी और नक्षत्र आदि की गति का कारण ध्रुव है । वह गति कैसे होती है । इस का उत्तर भी है—

कुलालचक्रनाभिस्तु यथा तत्रैव वर्तते ।
ध्रुवस्तथा हि विज्ञेयस्तत्रैव परिवर्तते ॥
वायु ५० । १२० ॥ ब्रह्माण्ड, पू० २१ । ६६ ॥

---

१. ब्र०—वदतो । २. ब्र०—च । ३. ब्र०—संमोहयति यत् ।
४. ब्र०—ऽयं । ५-५. ब्र०—वै भ्रामयते नित्यं । ६-६. ज्योतिषां गणः ।
७. ब्र०—भेदश्च ८. ब्र०—कालश्चारस् । ९. ब्र—ध्रुवेणाधिष्ठितश्चैव सूर्योऽपो गृह्य वर्षति ।

अर्थात् जैसे कुलालचक्र की नाभि थोड़ा सा घूमती है, पर चक्र का बाह्यतम भाग अत्यधिक घूम जाता है, इसी प्रकार ध्रुव की स्वल्प गति से उस के परले सिरों पर सूर्य चन्द्र पृथिवी ग्रह और नक्षत्र आदि बहुत अधिक, घेरे का चक्र काट रहे हैं। ध्रुव के जो जितना निकट है, उस की चक्रगति उतनी ही न्यून है। जो जितना दूर है, उतना ही वह अधिक घूमता है।

आकाशगत सूर्य की गति का वर्णन ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वभाग, अ० २१ में इस से पहले है। दक्षिणो ऽपक्रमे सूर्य क्षिप्तेषुरिव सर्पति।

ध्रुव के मन और नाभि से सारा मण्डल स्वयं सर्पण=गति कर रहा है। यह एक महान् ज्ञान है, जो वर्तमान संसार को सीखना पड़ेगा। इस के बिना वेद के सैकड़ों मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक स्थल बुद्धिगम्य नहीं हो सकते। वर्षा घर्म हिम, रात्रि सन्ध्या और दिन ये सब मूलतः ध्रुव के कारण हो रहे हैं। सूर्य तो बीच का निमित्त है। पूर्वोल्लिखित श्लोकों से पृथिवी और सूर्य की गति विषयक हमारा ज्ञान बहुत बढ़ जाएगा।

पृश्नि आदित्य का एक नाम है और पृश्नि स्वतन्त्र वस्तु भी है। उसी के कारण संसार में वर्ण=रंग माया काम करती है।

द्यौ में मुक्त जीव अव्याहत गति से विचरते हैं। वहां न भय है न मृत्यु, न जरा, न भूख प्यास, और न शोक। पृथिवी पर सुख विशेष स्वर्ग है, और द्यौ में जन्म-मरण के बन्धन से छूट कर रहना स्वः है। ये पुण्यकृत् आत्माएं रश्मियों आदि के आश्रय से मर्त्य लोक से निकल कर मुक्त में जाते हैं। पुण्यकृत् का एक आधिदैविक अर्थ भी है। शतपथ १।९।३।१० में सूर्य की रश्मियों को सुकृत कहा है—तस्य (सूर्यस्य) ये रश्मयस्ते सुकृतः। सुकृत् और पुण्यकृत् दोनों समानार्थक हैं। सूर्य अथवा द्यौ पुण्यकृत्=सुकृत्=रश्मियों से संयुक्त या आविष्ट है।

न वा अमुं लोकं जग्मुषे किं च नाकम्॥ [काठक सं० २।१२॥]

न वा अमुं लोकं गतवते किं च नासुखम्। पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति।

गौरादित्यो भवति। गमयति रसान्। गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौः। यत्पृथिव्या अधिदूरं गता भवति। यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति। विष्टवादित्यो भवति। आविष्टो रसान्। आविष्टो भासं ज्योतिषाम्। आविष्टो भासेति वा। अथ द्यौः। आविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च।

नभ आदित्यो भवति । [नेता रसानाम् ।] नेता भासाम् । ज्योतिषां प्रणयः । अपि वा भन एव स्याद्विपरीतः । न न भातीति वा । एतेन द्यौर्व्याख्याता ॥ १४ ॥

अर्थ—(न वै) नहीं निश्चय से (अमुम्) उस [द्यौ] लोक को (उग्मुषे) गए हुए के लिए, कुछ भी दुःख=असुख ।

नहीं उस लोक को गए हुए के लिए कुछ भी असुख । पुण्यकर्मा ही वहां जाते हैं ।

गौः, आदित्य होता है । पहुंचाता है रसों को [अन्तरिक्ष में] । चलता है अन्तरिक्ष में । अब द्यौः [गौः इस कारण है] कि पृथिवी से ऊपर दूर गई हुई है । और जो इस में ग्रह और नक्षत्र गमन करते हैं, [इस कारण भी] ।

विष्टप् आदित्य होता है । (आविष्टः) प्रविष्ट होता है, रसों को [रश्मियों द्वारा] । प्रविष्ट होता है प्रकाश को ग्रह, नक्षत्रों के । प्रविष्ट हुआ हुआ है प्रकाश द्वारा अथवा ।

और द्यौः, प्रविष्ट हुई हुई है [नक्षत्र और ग्रह रूपी] ज्योतियों में, और पुण्यकर्मा [आत्माओं में] ।

नभः आदित्य होता है । ले जाने वाला रसों का, ले जाने वाला प्रकाशों का । ग्रहों और नक्षत्रों का (प्रणयः) चालक अथवा मिलन स्थान । अथवा भन ही होवे, उलटा हुआ । नहीं, नहीं चमकता अथवा । [अवश्य प्रकाशित=चमक वाला है ।] इस से द्यौः की व्याख्या की गई ॥ १४ ॥

भाष्य—आदित्य अन्तरिक्ष में जाता है । आदित्य की गति द्यौ के निचले भागों और अन्तरिक्ष में है । द्यौ तथा नभ सदा चमकते हैं । हम रात्रि में भी द्यौ को चमकता हुआ देखते हैं । इस का कारण द्यौ में फैली रश्मियां हैं । ये रश्मियां द्यौ के बनते समय ही इस में फैल गई थीं । शतपथ ब्राह्मण काण्ड ६ में इस का स्पष्ट वर्णन है । पाश्चात्य साइन्स वालों का अनुमान है कि नए होने वाले नक्षत्रों के आणविक विस्फोटों से ये रश्मियां उत्पन्न होती हैं । यह असिद्ध अनुमान है । १४ ॥

रश्मिनामान्युत्तराणि पञ्चदश । रश्मिर्यमनात् । तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः ।

दिङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ । दिशः कस्मात् । दिशतेः । आसदनात् । अपि वाभ्यशनात् । तत्र काष्ठा इत्येतदनेकस्यापि सत्त्वस्य [नाम] भवति । काष्ठा दिशो भवन्ति । क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति । काष्ठा उपदिशो भवन्ति । इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति । आदित्योऽपि काष्ठोच्यते । क्रान्त्वा स्थितो भवति । आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते । क्रान्त्वा स्थितो भवति । आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते । क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति । इति स्थावराणाम् ॥ १५ ॥

अर्थ—रश्मियों के नाम [हैं] अगले पन्द्रह । रश्मि. (यमनात्) नियमन करने से, [वश में रखने से] । उन में के आरम्भ में माके [हैं] पांच, घोड़े की रासों के साथ ।

दिशाओं के नाम [हैं] अगले आठ । दिश किस कारण से । दिशति [अंगुलि से] बताना है, (आसदनात्) [प्रदेश क] समीप होने से [अथवा] आ+सदनात् चारों ओर से [तुषार, दिग्गज और लोकपाल आदिकों ■] सदन होने के कारण । अथवा चारों ओर से व्यापने से । (तत्र) उन [आठ नामों में] काष्ठा, यह अनेक ही पदार्थों का नाम होता है । काष्ठा दिशाए होती हैं । [सब के पास] पहुच कर ठहरी होती हैं । काष्ठा उपदिशाए होती हैं । एक दूसरे को पहुंच कर अथवा उलाघ कर ठहरी होती हैं ।

आदित्य भी काष्ठा कहा जाता है । सर्वत्र घूम कर [अपनी राशि में] ठहरा हुआ होता है । (आजि अन्त) दौड़ की सीमा का अन्त अथवा बाण के मार्ग का अन्त भी काष्ठा कहा जाता है । पूरा मार्ग चल कर ठहरा हुआ होता है । आप. भी काष्ठा कही जाती हैं । सम्पूर्ण मार्ग चल कर [समुद्र में अथवा सूर्य म] ठहर जाती हैं । यह [है निर्वचन] स्थावर [आप] का ॥ १५ ॥

भाष्य—आदित्य सहस्ररश्मि है । उन सहस्र रश्मियों में से यास्क ने अपने निघण्टु में केवल १५ रश्मियों के नाम ही पढ़े हैं । हम ने वेद विद्यानिदर्शन के आदित्य प्रकरण में सहस्र रश्मियों का विभाग और अन्य अनेक रश्मियों के नाम भी दिए हैं । अश्व-रश्मिया एक ओर पृथिवी पर के अश्व स सम्बन्ध रखती हैं, और दूसरी ओर अन्तरिक्ष में जो सूर्य रथ आदि के अश्व हैं, उन से भी सम्बन्ध रखती हैं । वेद पढ़ने वालों को दोनों का ही ध्यान रखना चाहिए ।

दिशाएं अन्तरिक्ष में हैं। इन्हीं के कारण ये लोक स्तम्भित हैं। काष्ठा भी दिङ्नामों में है। काष्ठा के निर्वचन से व्युत्पत्ति और निर्वचन का भेद भले प्रकार समझ में आता है। काष्ठा पद के दो भाग किए गए हैं—का+स्था। पुनः का से क्रान्त्वा, और स्था से स्थिता भाव लिया है। यहां अर्थ का प्राधान्य पूर्ण स्पष्ट हो जाता है।

आजि—दौड़ की अन्तिम सीमा। फारसी भाषा में वाज़ी। आपः भी काष्ठा हैं। उन का यह अर्थ अगली ऋक् में है॥ १५॥

अति॑ष्ठन्तीनामनिवेश॒नाना॒ं काष्ठा॑नां॒ मध्ये॑ निहि॑तं॒ शरी॑रम् ।
वृ॒त्रस्य॑ नि॒ण्यं वि च॑र॒न्त्यापो॑ दी॒र्घं तम॒ आश॑य॒दिन्द्र॑शत्रुः ॥

[ऋ० १ । ३२ । १० ॥]

अतिष्ठन्तीनाम्। अनिविशमानानाम्। इत्यस्थावराणाम्। काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्। मेघः। शरीरं शृणातेः। शम्नातेर्वा। वृत्रस्य। [निण्यं] निर्णामम्। विचरन्ति विजानन्त्याप इति। दीर्घं द्राघतेः। तमस्तनोतेः। आशयत् आशेतेः। इन्द्रशत्रुः। इन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा। तस्मात् इन्द्रशत्रुः। तत्को वृत्रः। मेघ इति नैरुक्ताः। [त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः।] अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयांचकार। तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिर आपः। तदभिवादिनी एषा ऋग्भवति॥ १६॥

अर्थ—न ठहरती हुई, (अनिवेशनानाम्) न निवेशन करती हुई अर्थात् न बैठती हुई, (काष्ठानाम्) आपः के मध्य में, स्थापित हुआ हुआ, अथवा गुप्त रूप से रखा हुआ (शरीरम्) मेघ। वृत्र की (निण्यम्) नीची हुई अथवा झुकी हुई अवस्था को (वि चरन्ति) खूब जानती हैं (आपः) आपः। गहरे अन्धकार में (आ शयत्) सोता है (इन्द्रशत्रुः) इन्द्र है शत्रु (=शातयिता=नाश करने वाला) जिस का, अर्थात् वृत्र।

न ठहरती हुई, (अ-निविशनानाम्) न बैठती हुई, यह (अस्थावराणाम्) चलायमान [आपः का कथन है, ऐसी] (काष्ठानाम्) आपः के मध्य में गुप्त रूप से रखा हुआ शरीरम्=मेघ, है। शरीर शृणाति से। शम्नाति से अथवा। वृत्र की नीची हुई अवस्था को, विशेष रूप से

जानती है आप। दीर्घ द्राघति से। तमः तनोति मे=फैलता है। आशयत्=आशेते=सोता है, इन्द्रशत्रु। इन्द्र [है] इस का शमयिता वा शातयिता वा= मारने वाला। इस लिए इन्द्रशत्रु।

तो कौन वृत्र [है।] मेघ है, यह नैरुक्त [कहते हैं।] त्वष्टा का पुत्र असुर [है,] यह ऐतिहासिक [कहते हैं।] आप के और ज्योतियों के मिश्रित क्रिया-कर्मों से वर्षकर्म उत्पन्न होता है। (तत्र) ऐसे प्रकरणों में उपमा घटाने के निमित्त से [मन्त्रों में] युद्धवर्णा=युद्धों के रूपक होते हैं। [वृत्र के सदृश] अहि=सर्प मान कर भी मन्त्रवर्ण और ब्राह्मणवाद हैं।

अत्यन्त वृद्धि से शरीर की [आप के] स्रोतों को (निवारयां चकार) रोक दिया। उस के मारे जाने पर (प्र सस्यन्दिरे) वह निकले आप। इस अभिप्राय को कहने वाली यह ऋक् होती है॥ १६॥

भाष्य—(अतिष्ठन्तीनां काष्ठानाम्) न ठहरती हुई आप। आप परमाणु अग्नि के योग से पृथिवी से उड़ कर आदित्य तक पहुंचते हैं। वे कहीं भी ठहरते नहीं। उन की गति निरन्तर होती रहती है। ऋग्वेद में अन्यत्र भी कहा है—नेमा आपो अनिमिषं चरन्ती ते क्षत्रम् आपु। १। २४। ६॥ *नहीं ये आप सतत चलती हुई भी तेरे क्षत्र को है वस्था प्राप्त होतीं।*[१] यही आप पुन आदित्य से लौटती हैं। वे ही मध्यम स्थान में मेघों की सृष्टि करती हैं। मेघ और वृत्र में कोई अति सूक्ष्म भेद है, उसे हम अभी तक नहीं समझ सके। सृष्टि बनते समय दीर्घ=बहुत फैला अन्धकार कैसा था और अब भी अन्तरिक्ष म वह कैसा है, यह भी हम नहीं जानते। आप परमाणुओं का स्वरूप भी एक जटिल विषय है। गैल्नर (Geldner) ने काष्ठानाम् का उलथा streams of water किया है। आप का अर्थ water सर्वत्र नहीं है। जल में आप है, पर मूल आप भार रहित हैं। अत काष्ठाना का अर्थ "आप का" ही अधिक ठीक है।

अति प्राचीन संस्कृत मे दीर्घ और द्राघ दो पृथक् पद थे। यास्क ने द्राघ के साथ दीर्घ का सामीप्य मात्र दिखाया है। "त्वाष्ट्रोऽसुर" पाठ निरुक्त के लघुपाठ में नहीं है। इस ऐतिहासिक अर्थ में भी आधिभौतिक अर्थ ही प्रधान है। त्वष्टा एक आधिभौतिक वस्तु है और उस का पुत्र असुर अर्थवा वृत्र भी वैसा ही है। मानव इतिहास के वृत्र का वैदिक वृत्र से अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। वृत्र-गाथा देखिए भ्रमोच्छेदन, वेदविद्यानिदर्शन पृ० ३२०—३३१ पर।

१ आप की सतत गति ही उन के क्षत्र का कारण है।

अपां और ज्योतिः का मिश्रण ही जगद् व्यापार का आधार है। इसी लिए शान्तिपर्व २६४ । ३३ में कहा है—अग्नीषोमाविदं सर्वम्, इति । यहां सोम से सम्पूर्ण प्रकार के आपः का अभिप्राय है। वेदों में इन्द्र-वृत्र युद्ध को बहुधा रूपकालङ्कार में वर्णित किया है। शतपथ ब्राह्मण में प्रवचन है—नैतदस्ति यद्दैवासुरम् ।[1] इस विषय में राजवादे लिखता है—Neither the Mantras nor the Brâhmanas support the naturalistic explanation of Vritra given by the Nairuktas. अर्थात्—मन्त्र और ब्राह्मण इन्द्र वृत्र युद्ध के आधिभौतिक व्याख्यान की पुष्टि नहीं करते। इस से अधिक व्यर्थ लेख राजवाडे ने इस से पूर्व किया है—अर्थात् मन्त्रों में तो वृत्र को अहि कहा है, but this can not be said about the Brâhmanas. (p. 372) पर ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं । राजवाड़े ने शतपथ ध्यान से नहीं पढ़ा। वहां प्रवचन है—अथ यद् वर्तमानः समभवत् तस्माद् वृत्रः। अथ यद् अपात् समभवत् तस्माद् अहिः । १।६।३।६ ॥ वृत्र और अहि उत्पत्ति और अवस्था भेद से एक ही पदार्थ हैं । इस प्रकार राजवाडे का पहला लेख भी वेदार्थ में बोध न होने के कारण है।

आपः स्रोत भी स्पष्ट रूप से जानने चाहिएं । वृत्रवध पर आपः वह निकले। यह घटना सृष्टि बनते समय की है। अगली ऋक् में उसी का कथन है ॥ १६ ॥

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥
[ऋ० १ । ३२ । ११ ॥]

दासपत्नीर्दासाधिपत्न्यः । दासो दस्यतेः । उपदासयति कर्माणि । अहिगोपा अतिष्ठन् । अहिना गुप्ताः । अहिरयनात् । एत्यन्तरिक्षे ।

अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव । निर्ह्रसितोपसर्गः । आहन्तीति । निरुद्धा आपः पणिनेव गावः । पणिर्वणिग्भवति । पणिः पणनात् । वणिक् पण्यं नेनेक्ति । अपां बिलमपिहितं यदासीत् । बिलं भरं भवति । बिभर्तेः । वृत्रं जघ्निवान् । अपववार तत् । वृत्रो वृणोतेर्वा । वर्ततेर्वा । वर्धतेर्वा ।

---

१. देखो, पूर्व २ । १० के अन्तर्गत पृष्ठ १०० ।

यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ॥१७॥

इति द्वितीयाऽध्यायस्य पञ्चम पाद ॥

अर्थ—दासा की=दासों की पत्निया=पालना करने वालियां अहि से छिपाई हुई ठहरी । [ये थी] रुकी हुई आप [जैसे रुकी हुई] (पणिना इव) पणि द्वारा जैसे गौएं [रोकी जाती हैं ।] आप का बिल= भरा हुआ स्थान [अपिहित] ढका हुआ जो था, वृत्र को (जघन्वान्) मारा [और] (तत्) उस [बिल=छेद को] (अप ववार) खोल दिया [इन्द्र ने ।]

दासपत्नी=दासाधिपत्न्य । दास दस्यति से । उपक्षीण=समाप्त करता है कर्मों को । अहि=मेघ से गुप्त की गई ठहरी । अहि अयनात्=गति शील होने से । चलता है अन्तरिक्ष में । यह भी दूसरा अहि=सर्प इस कारण से ही । [अहि का अ] (निर्ह्रसित+उपसर्ग) ह्रस्व हुआ [आ] उपसर्ग [है ।] मार देता है । रुकी हुई आप, पणि से [रोकी गईं] जैसे गौएं । पणि वणिक् होता है । पणि (पणनात्) व्यापार करने से । वणिक् (पण्यम्) व्यापार योग्य वस्तु को (नेनेक्ति) निर्मल अथवा पुष्ट करता है । आप का छिद्र ढका हुआ जो था । बिल=भर=भरा हुआ होता है । बिभर्ति से । वृत्र को (जघ्निवान्) मारा और [उसे] (अप-ववार) खोल दिया । वृत्र वृणोति से अथवा, आच्छादित करता है=ढांपता है । वर्तते=होने से=वर्तने से अथवा । वर्धते से बढने से अथवा ।

जो आच्छादित कर दिया [अन्तरिक्ष को, वा उदक को] वही वृत्र का वृत्रपन है, यह विज्ञान [ब्राह्मण ग्रन्थ से] जाना जाता है । जो हुआ [=उत्पन्न हुआ] वही वृत्र का वृत्रपन है यह जाना जाता है । जो बढा वही वृत्र का वृत्रपन है, यह जाना जाता है ॥ १७ ॥

भाष्य—प्रस्तुत मन्त्र में आप दासपत्निया हैं और ऋग्वेद की एक दूसरी ऋक् में वे अर्यपत्निया हैं—योऽर्यपत्नी अकृणोत् इमा अप । १० । ४३ । ८ ॥ जिन की पत्निया आप हैं उन को मनुष्य मानना पराकाष्ठा की मूर्खता है । एव सुस्पष्ट आधिभौतिक प्रकरणों से मानव इतिहास निकालना बुद्धि-मान्द्य का फल है ।

दास पद के विषय में मैक्डानल लिखता है—

The term dāsa or dasyu, properly the name of the dark abori-gines, is frequently used in the sense of fiend to designate the aerial demons.

दास कृष्ण वर्ण आदिवासी थे, इस का क्या प्रमाण है । निःसन्देह इस मिथ्या कल्पना का मूल एक दूसरी मिथ्या कल्पना है । अर्थात् भारत में आर्य बाहर से आए, और उन से पूर्व यहां कोई आदिवासी थे । यह भी कल्पना मात्र है और ईसाई लेखकों ने भारतीय इतिहास को दूषित सिद्ध करने के षड्यन्त्र के फलस्वरूप इसे प्रवृत्त किया था ।

अहि स्पष्ट वृत्र है । उस के कारण आपः (निरुद्धाः) रुके हुए (अतिष्ठन्) ठहरे । फिर अन्तरिक्षस्थ दास कौन हैं । वे अहि अथवा मेघ का कोई भेद हैं । पणिः=वणिक् । संस्कृत में अनेक पकार वाले पदों का वकार वाला रूप भी ठीक होता है । इसी का पंजाबी-हिन्दी में बनियां रूप भी है । phoenician जाति व्यापारी जाती थी । उस का नामकरण इसी वैदिक पद के विकृत रूप से हुआ । पणि अन्तरिक्षस्थ असुरों के साथी हैं । ये गावः=रश्मियों को रोकते हैं । यह मन्त्रों में ढूंढना चाहिए । असुरों का अग्निः पावकिः सहरक्षाः है । अ० पु० पू० भा० १२ । ४, ६ ॥ वह अन्तरिक्ष स्थानी है ।

नेनेक्ति—ऐसे रूप पुरातन काल में बहुत प्रयुक्त होते थे । मनुस्मृति में—निर्णेजक=धोबी, तथा शतपथ ब्राह्मण में—'नेनिजानस्य' रूप मिलते हैं ।

वृत्र पद के तीन अर्थ ब्राह्मण वचनों द्वारा दिखाए गए हैं । वे सारे ही ठीक बैठते हैं । पाश्चात्य लोग अहि का dragon अर्थ करते हैं । उन्होंने आधिभौतिक पक्ष समझा ही नहीं । राजवाड़े ने भी वैसी भ्रान्ति में लिखा—All this shows that the Panis were rich and that they were envied by others. They were considered misers because they were not generous to the Aryas. कैसे भद्दे परिणाम हैं । वेद को इन लोगों ने खिलवाड़ समझ लिया है ।

वृत्र कैसे आच्छादित करता है, और वह बढ़ता कैसे है, इस के लिए वेदविद्या-निदर्शन का पूर्व-निर्दिष्ट स्थान देखें ॥ १७ ॥

गत्रिनामान्युत्तराणि त्रयोविंशतिः । रात्रिः कस्मात् । प्ररमयति भूतानि नक्तचारीणि । उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति । रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः । प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः ।

उषो नामान्युत्तराणि षोडश । उषाः कस्मात् । उच्छतीति सत्याः । रात्रेरपरः कालः । तस्या एषा भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—रात्रि के नाम [हैं] अगले तेईस । रात्रि किस से । खूब रमण कराती है आनन्द देती है प्राणियों को [जो] नक्तचारी=रात्रि के समय विचरने हैं । (उपरमयति) उपराम कराती है विश्राम कराती है दूसरों को अर्थात् निश्चल कर देती है । रात्रि से अथवा होवे दान अर्थ वाले से । दिये जाते हैं इस में (अवश्यायाः) ओस के समूह ।

उषा के नाम [हैं] अगले सोलह । उषा किस से । निकालती है विवासित करती है [अन्धकार को] इस प्रकार होने पर । रात्रि का उत्तर काल [उषा है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १८ ॥

भाष्य—अवश्याय का विकृत रूप हिन्दी पंजाबी का ओस शब्द है । राजवाड़े यास्क-प्रयुक्त रात्रि रूप का modern=नवीन और रात्री को अवैदिक मानता है । (1 3 7) ।

राजवाड़े की भूल का कारण यास्कप्रोक्त को भ्रान्ति है । (3p 187)[1]

रात्रि और रात्री दोनों रूप प्राचीन हैं । अनेक शब्द ह्रस्व व और दीर्घ आ वाले दोनों रूप रखते हैं । यथा—उपनयन=उपनायन । इसी प्रकार अनेक शब्दों के ह्रस्व इ और दीर्घ ई के दोनों रूप प्राचीन हैं ।[2] यास्क के सम्मुख सा ऋग्वेद की भी अनेक शाखाएं थीं । उन में रात्रि रूप भी अवश्य था । यास्क राजवाड़े से ज्यादा सुधा यान्य था । वह असावधान नहीं था । सिंहा और सींहा दोनों रूप प्राचीन हैं ।

दक्षिण योनि का योनी रूप वामन पुराण ३६ । २३ में और शक्ति का शक्ती रूप कीरतरङ्गिणी १ । ७८ में मिलता है । दिव्य कोशों में ऐसे बहुत शब्द हैं ।

---

१ देखो, वैदिक वैमिएक्स, भाग ३ पृ० ७६ ।

२ देखो कृदिशरादिन गणसूत्र ४ । १ । ४५ काशिका ।

अतः निश्चित है कि रात्रिः रूप भी प्राचीन है। संस्कृत-भाषा के साधु शब्दों की रक्षा करने वाले ऋषि, मुनि ईसाई वाकर्नागेल और ब्लूमफील्ड की अपेक्षा अपने इतिहास को कहीं अधिक जानते थे। असत्य धारणाओं पर आश्रित 'हिस्टारिकल स्कूल' की मिथ्या कल्पनाएं प्रमाण शून्य हैं॥ १८॥

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥
[ऋ० १।११३।१॥

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमत्। चित्रम्। प्रकेतनं प्रज्ञाततमम्। अजनिष्ट। विभूततमम्। यथा प्रसूता सवितुः प्रसवाय रात्रिरादित्यस्य। एवं रात्र्युषसे योनिमरिचत् स्थानम्। स्त्रीयोनिरभियुत एनां गर्भः। तस्या एषापरा भवति॥ १९॥

अर्थ—यह श्रेष्ठ ज्योतियों की ज्योति आई है। (चित्रः) सुन्दर, पूजनीय, (प्रकेतः) बहुत जाना गया अथवा अति प्रकाशयुक्त (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है (विभ्वा) महान् [दृश्य का ज्ञान।] जैसे उत्पन्न हुई। सविता के (सवाय) उत्पन्न होने के लिए, रात्रि, वैसे ही उषा के लिए (योनिम्) स्थान को (आरैक्) छोड़ती है।

यह श्रेष्ठ, [नक्षत्र, ग्रह आदि] ज्योतियों की [भी] ज्योति [उषा] आई है। पूजनीय, बहुत जाने गए को उत्पन्न किया अति महान् [दृश्य अथवा ज्ञान] को। जिस प्रकार उत्पन्न हुई रात्रि सविता के जन्म के लिए [स्थान देती है।] सवितुः=आदित्यस्य। उसी प्रकार रात्रि ने उषा के लिए स्थान को (अरिचत्) छोड़ा। स्त्रीयोनिः [भी इसी लिए है], मिला हुआ होता है, इस के साथ गर्भ। उस [उषा] की यह दूसरी [ऋक्] है॥ १९॥

भाष्य—नक्षत्रादिक अनेक ज्योतियों में से उषा की ज्योति प्रशस्यतम है। सवायँ पद संहितापाठ में है। पदपाठ में सवाय है। सायण ने सवायँ में अकार के सानुनासिक होने का नियम दिया है। संहिता में आरैक् पाठ है। पद-पाठ में अरैक् है। निस्सन्देह पदपाठकार के सामने कोई अन्य शाखा पाठ भी था। यह भी अकार का वैसा ही दीर्घ रूप है, जैसे उपनयन और उपनायन रूप पूर्व लिखे जा चुके हैं॥ १९॥

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः ।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥
[ऋ० १ । ११३ । २ ॥]

रुशद्वत्सा सूर्यवत्सा । रुशदिति वर्णनाम । रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । सूर्यमस्या वत्समाह । साहचर्यात् । रसहरणाद्वा । रुशती श्वेत्यागात् । श्वेत्या श्वेततेः । अरिचत्कृष्णा सदनान्यस्याः । कृष्णवर्णा रात्रिः । कृष्णं कृष्यतेः । निकृष्टो वर्णः । अथैने संस्तौति । समानबन्धू समानबन्धने । अमृते अमरणधर्माणौ । अनूची [अनूच्यौ इति] । इतरेतरमभिप्रेत्य । द्यावा वर्णं चरतः । ते एव द्यावौ । द्योतनात् । अपि वा द्यावा चरतः । तया [सह] चरत इति स्यात् । [आमिनाने] । आमिन्वाने अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे ।

अहर्नामान्युत्तराणि द्वादश । अहः कस्मात् । उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि । तस्यैष निपातो भवति वैश्वानरीयायामृचि ॥ २० ॥

अर्थ—दीप्तिमान् बछड़े वाली स्वयं दीप्ति वाली श्वेत वर्ण वाली [उषा] आती अथवा आई है । (आरैक उ) रिक्त किया [है] रात्रि ने (सदनानि) स्थान (अस्याः) इस का । समान बन्धु वालियां [ये रात्रि और उषा] (अमृते) मरणरहिता (अनूची) एक दूसरे के पीछे चलने वालियां (द्यावा) द्युलोक के साथ [युक्त हुई हुई] अर्थात् नभो भाग में चलती हुई (वर्णं) [सारे प्राणियों के] रूप को (आमिनाने) बनाती हुई ।

दीप्तिमान् वत्स वाली अर्थात् सूर्य रूपी वत्स वाली । रुशत् यह वर्ण का चमक वा रंग का नाम [है ।] रोचति से जो ज्वलत्यमान अर्थ वाला है । सूर्य को इस [उषा] का वत्स कहा [मन्त्र ने] । साहचर्य=साथ होने से रसहरण से अथवा । दीप्ति वाली श्वेत रंग वाली आई । श्वेत्या श्वेतति से । (अरिचत्) रिक्त कर दिए रात्रि ने स्थान इस [उषा] के । काले रंग वाली रात्रि । कृष्ण कृष्यति से निकृष्ट वर्ण [होता है ।] अब इन दोनों [रात्रि और उषा] की (संस्तौति) एक साथ स्तुति करता है [मन्त्र] । समान बन्धन में होने वालियां अमरण धर्म वालियां (अनूच्यौ) एक दूसरे के पीछे चलने वालियां [यह कथन] एक दूसरी

को ध्यान में रख कर [है ।] द्यौ में वर्ण का आचरण करती हुई । वे दोनों ही द्यावौ [हैं ।] द्योतनात्=चमकने से । अथवा द्यावा चरतः, उस के साथ विचरती हुई, ऐसा होवे । आमिताने=आमिन्वाने, एक दूसरे का शरीर बनाती हुई ।

अहः के नाम [हैं] अगले बारह । अहः किस [कारण] से । (उप+आहरन्ति) समीप हो कर करते हैं, इस में कर्मों को । उस का यह (निपात)=[प्रधान देवता के वर्णन में गौण देवता का "आ गिरा"]=गौण कथन=नैघण्टुक [कथन है], वैश्वानर [नामक प्रधान देवता] की ऋक् में ॥ २० ॥

भाष्य—उषा का बछड़ा सूर्य है । वह उषा को दोहता है । उषा की अपनी रश्मियां हैं (ऋ० १ । ४६ । ४) । इन्हीं रश्मियां अथवा अश्वों द्वारा यह उषा क्षणमात्र में सारे लोकों में पहुंचती है । यथा—

यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः । (ऋ० ४ । ५१ । ५ ॥) ऋतयुक् अश्वों द्वारा सारे लोकों में सद्यः = तत्काल[1] पहुंचती है । इन्हीं रश्मियों को सूर्य वत्सवत् दोहता है । इस का पूरा रहस्य समझना चाहिए । क्योंकि उषा पूर्व में प्रकट होती है, और उस के पश्चात् सूर्य भी पूर्व में प्रकट होता है, अतः सूर्य उषा का वत्स कहा गया है । उषा दिव की पुत्री है । द्यौ में भी स्वतन्त्र रश्मियां हैं । उन रश्मियों का उषा की रश्मियों से सम्बन्ध जानना चाहिए । उषा पणियों को सुला देती है । पणयः ससन्तु (ऋ० ४ । ५१ । ३) । ये पणि गौओं अर्थात् किरणों को रोकते हैं । इस मन्त्र के पदपाठ में भी अनेक रूप है ।

द्यावा वर्णं चरतः के अर्थ में भाष्यकारों ने अनेक मत दर्शाए हैं ॥ २० ॥

अह॑श्च कृ॒ष्णमह॒रर्जु॑नं च॒ वि व॑र्तेते॒ रज॑सी वे॒द्याभिः॑ ।
वै॒श्वा॒न॒रो जाय॑मानो॒ न राजावा॑तिर॒ज्ज्योति॑षा॒ग्निस्तमां॑सि ॥
[ऋ० ६ । ९ । १ ॥]

अहश्च कृष्णं रात्रिः । शुक्लं चाहरर्जुनम् । विवर्तेते रजसी । वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः । वैश्वानरो जायमान इवोद्यन्नादित्यः । सर्वेषां ज्योतिषां राजा । अवाहन्नग्निर्ज्योतिषा तमांसि ।

---

१. देखो—परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः । ऋ० १ । ११५ । ३ ॥ परि प्रयाथ और परियन्ति गम्भीर ज्ञान देते हैं ।

मघनामान्युत्तराणि त्रिंशत् । मेघ कस्मात् मंहतीति सतः । आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः । उपर उपलो मेघो भवति । उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि । उपरता आप इति वा । तेषामेषा भवति ॥ २१ ॥

[जिस] और काला [–रात्रि] दिन श्वेत और [दोनो] क्रम से वर्तते हैं (रजसी) रञ्जन-प्रसन्न करने वाले जानने योग्य [प्रवृत्तियों द्वारा] । वैश्वानर [अग्नि] उत्पन्न होता हुआ (न राजा) जैसे राजा (अवातिरत्) दूर करता है (ज्योतिषा) प्रकाश द्वारा (अग्नि)=अग्निपुञ्ज आदित्य (तमांसि) अन्धकारों को ।

दिन और काला अर्थात् रात्रि शुक्ल और दिन एक दूसरे के पश्चात् चक्र में वर्तते है [सब प्राणियों का] प्रसन्न करने वाले जानने योग्य प्रवृत्तियों द्वारा । वैश्वानर मानो उदय होता हुआ आदित्य सम्पूर्ण (ज्योतिषाम्) ग्रह नक्षत्रों का राजा (अवाहन्) दूर करता है [यह आदित्य रूप अग्नि] प्रकाश द्वारा अन्धकारों को ।

मेघ के नाम [है] अगले तीस । मेघ किस से (मंहति) सेचन करना है ऐसा होते हुए । (आ) पहले-पहले उपर उपल इन दोनों से [अर्थात् फलिग तक] साझे हैं पर्वत नामों के साथ । उपर उपल मेघ होता है । उप+र उपर [मन्ते] आ कर मिलते हैं इस में अभ्र । आ कर रुक जाते हैं आप अथवा । उन की यह ऋक् है ॥ २१ ॥

भाष्य—दिन और रात एक दूसरे के पीछे वर्तते हैं । यह जो संवत्सर का महाचक्र है उस में दिन के पश्चात रात और रात के पश्चात दिन आते हैं । वैश्वानर यहां आदित्य है । वह सम्पूर्ण ज्योतियों का राजा है ।

निघण्टु में पठित मेघ के तीस नामों में १७ संख्या पर्यन्त फलिग तक सब नाम भूमिस्थ पर्वत के नामों से साझे हैं । अद्रि आदि सब ऊपर के पर्वत हैं । इन १७ नामों में से अद्रि ग्रावा । गोत्र । वल पर्वत । गिरि । वराह शम्बर नाम बहुत ध्यान देने योग्य हैं । इस तत्व के ज्ञान बिना अनेक मन्त्रों का अर्थ समझ में नहीं आ सकता ।

अभ्राणि—अग्नि से धूम और धूम से अभ्र उत्पन्न होते हैं । यथा—अग्नेव धूमो जायते । धूमाद् अभ्रम् । अभ्राद् वृष्टिः । श० ब्रा०

५ । २ । ५ । १७ ॥ यह अभ्र आपः का भस्म है । यथा—अभ्रं वा अपां भस्म । श० ब्रा० ७ । ५ । २ । ४८ ॥ धूम=भाप है । उस के पश्चात् अभ्र की दशा है । यह अभ्र मेघ की पूर्व दशा है । क्यों, अभ्र शब्द इस का स्वयं उत्तर है—न भ्रश्यन्ति यतश्चापस्तदभ्रं कवयो विदुः ।[1] अभ्र वह दशा है, जब आपः बिन्दु नीचे नहीं गिरते । इन के विचरने का स्थान अभ्र स्थान है ।[2] इन अभ्रों में वायु के समुदीर्ण से जब बिन्दुओं का मेहन होता है, वह मेघ दशा होती है । मेहनाच्च मिहेर्धातोः मेघत्वं व्यञ्जयन्ति हि ।[3]

वेद पढ़ने वाले को ये सब भेद ज्ञात होने चाहिएं । अंग्रेजी भाषा में अभ्र और मेघ का भेद प्रकट करने वाले शब्द नहीं हैं, अतः अभ्राणि पद का clouds अनुवाद भ्रष्ट है (राजवाड़े, पृ० ३८८)। महान् विद्वान् यास्क ने उपर पद का दूसरा निर्वचन उप+रताः आपः किया है । अर्थात् आ कर रुकते हैं आपः । ऐसे महान् विज्ञानवेत्ता के निर्वचनों को absurd और primitiveea कहने वाले राजवाड़े[4] और सिद्धेश्वर वर्मा आदि स्वयं absurd लेख करते हैं ॥ २१ ॥

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन् ।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम् ॥
[ऋ० १० । २७ । २३ ॥]

देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्माध्यमिका देवगणाः । प्रथम इति मुख्यनाम । प्रतमो भवति । [कृन्तत्रमन्तरिक्षं । विकर्तनं मेघानाम् ।] विकर्तनेन मेघानामुदकं जायते । त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः । पर्जन्यो वायुरादित्यः । शीतोष्णवर्षैरोषधीः पाचयन्ति । अनूपा अनुवपन्ति लोकान्स्वेन स्वेन कर्मणा । अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेव । अनूप्यत उदकेन । अपि वान्वाविति स्यात् । यथा प्रागिति । तस्यानूप इति स्यात् । यथा प्राचीनमिति । द्वा बृबूकम् । वहतः पुरीषम् । वाय्वादित्या उदकम् । बृबूकमित्युदकनाम । ब्रवीतेर्वा शब्दकर्मणः । भ्रंशतेर्वा । पुरीषं पृणातेः । पूरयतेर्वा ॥ २२ ॥

---

१. ब्र० पुराण, पूर्व भाग, २२ । २६ उत्तरार्ध ।

२. तथैव, २२ । २४ ॥ ३. तथैव, २२ । २६ पूर्वार्ध ।

४. I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd and yet it has held its ground to this day. (p. XL)

अर्थ—देवों के निर्माण [होने के समय] मुख्य ठहरे [माध्यमिक देवगण ।] (कृन्तत्रात्) कटने वा छेदन से इन के (उपरा) मेघस्थ उदक (उदायन्) आ निकले । तीन तापते हैं पृथिवी को (अनूपा) [लोकों को] अनुग्रह करने वाले देव । दो उदक को उठा ले जाते हैं । पुरीष रूपी उदक को ।

देवों के बनाए जाने में प्रथम ठहरे माध्यमिक देवगण । प्रथम यह मुख्य का नाम [है ।] सब से अच्छा होता है । [कृन्तत्र, यह अन्तरिक्ष है । कटना मघों का इस अन्तरिक्ष में] कटने से मघा के उदक उत्पन्न होता है । तीन [देव] तापते हैं पृथिवी को (अनूपाः) अनुग्रह करने वाले) पर्जन्य, वायु, आदित्य । शीत, उष्ण और वर्षा से, ओषधियों को पकाते हैं । अनूपा, अनुग्रह करते हैं लोकों पर अपने अपने कर्म से । यह भी दूसरा अनूप=नदी वा समुद्र के पास का देश-विशेष इस कारण से ही । अनुगृहीत किया जाता है उदक से । अथवा (अन्वाप) चारों ओर आप से घिरा, ऐसा हो । जैसे प्राग् इति । उसी का अनूप यह हो । जैसे प्राचीन यह । (द्वौ) दो (पृबृकम्) उदक को बहा कर ले जाते हैं पुरीष को । वायु आदित्य उदक को बहा कर । वृतृ यह उदक का नाम [है ।] ब्रवीति से शब्द अर्थवाले से । भ्रंशति से अथवा । पुरीष पृणाति से, पूरयति से अथवा ॥ २२ ॥

भाष्य—देव सृजन—वेद के आधिदैविक पक्ष की विभूति देवविद्या में है ।[1] ये देव प्रजापति=हिरण्यगर्भ की सन्तति है । इस सृजन का क्रम मन्त्र और ब्राह्मण में है । ऋग्वेद कहता है—

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन । १० । १२९ । ६ ॥

इस [प्रकृति से हिरण्यगर्भ=पुरुष=प्रजापति तक] के विसर्जन=विसर्ग के पश्चात् देव उत्पन्न हुए ।

इसी घटना को जैमिनि ब्राह्मण में और भी स्पष्ट रूप में कहा है । यथा—प्रजापतिरिमान् लोकान् इमा दिशोऽसृजत । तान् सृष्ट्वा अमयान् देवान् असुरान् असृजत । ३ । ३४ । ॥ अर्थात् प्रजापति=पुरुष ने इन लोकों को और इन दिशाओं को [अन्तरिक्ष में] उत्पन्न किया । उन को उत्पन्न कर के दोनों देव और असुरों को उत्पन्न किया ।

---

१ नारद देवविद्या को जानता था । छान्दोग्य उप० ७ । १ । २ ॥

निरुक्तस्थ मन्त्र में देव-उत्पत्ति के विषय में कहा है कि देवों के बनते समय माध्यमिक देवगण मुख्य थे। लक्ष्मणसरूप-पाठ में माध्यमिकाः रूप है। और इस का कोई पाठान्तर नहीं। पर राजवाड़े के संस्करण में माध्यमकाः पाठ है। मध्यस्थानस्थ देवगणों में निरुक्त ११। १३-२१ के अनुसार मरुतः, रुद्राः, ऋभवः, अङ्गिरसः, पितरः—आदि हैं। यम भी माध्यमिक है (निरुक्त ११। १८)। और यम का सादन ही देवमान है (ऋ० १०। १३५। ७)।

इन मरुतों की माया से वृष्टि होती है। मेघ-निकर्तन वायु आदि के द्वारा होता है। तीन अनूप पर्जन्य, वायु और आदित्य हैं। वे शीत, उष्ण और वर्षा से ओषधियों को पकाते हैं। वायु से शीत, आदित्य से उष्ण और पर्जन्य से वर्षा होती है। पर निरुक्त पाठ में पर्जन्य, वायु, आदित्य से शीत, उष्ण, वर्षा का लेख अनुक्रम से नहीं मिलता। अनुक्रम के अनुसार वायु, आदित्य और पर्जन्य कहा जा सकता था। निकर्तन शब्द किसी विशेष क्रिया का बोधन कराता है। उसे यत्न से समझना चाहिए।

इस पर राजवाड़े लिखता है—Yāska most probably wrote वर्षशीतोष्णैः and not शीतोष्णवर्षैः; Durga has वर्षादिभिः which stands for वर्षशीतोष्णैः (p. 390)। परन्तु यह अनुमान सर्वथा हेय है। शौनककृत बृहद्देवता अ० ७ का लेख भी निरुक्त-लेखवत् ही है। यथा—

शीतोष्णवर्षदातारः पर्जन्यानिलभास्कराः। २८।

इस पर कोई पाठान्तर भी नहीं है। अतः अनुक्रम न होने का कोई अन्य कारण है। वह अन्वेषणीय है।

• वृबूकं पुरीषम्—दुर्ग ने पुरीषं=प्रीणयितृ पूरयितृ वा, अर्थ किया है। स्कन्द ने पुरीषम्—प्रीणनं पूरणसमर्थं वा यद्दित्यर्थः, ऐसा अर्थ लिखा है। पुरीष पद का अपना अर्थविशेष है। वह अब देखते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में पुरीषं वृबूकं का विशेषण है। अन्यत्र यह अग्निः का भी विशेषण है। यथा—अग्नयः पुरीषिणः। कपि० सं० ३५। ३॥ तथा—अग्निं पुरीष्यम् अङ्गिरस-वदाभर। मै० सं० २। ७। २॥ पुनः यह मरुतः का भी विशेषण है। यथा—मरुतः······यूयं वृष्टिं वर्षयथ पुरीषिणः। ऋ० ५। ५५। ५॥

पुरीषं वा अग्नेरायतनम् अङ्गिरस एतमग्रे समभरन्। मै० सं०। ३। १। ३॥

समानं वै पुरीषं च करीषं च। श० ब्रा० २। १। १। ७॥

स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ० २३१ पर करीषं=शुष्कगोमयम्। पाठ है। ताण्ड्य ब्राह्मण ८।२।४।६ में प्रवचन है—गोष्ट पुरीषम्। इस पद के लिए वेदविद्यानिदर्शन पृ० १२०, १२१ भी देखें।

इन सब प्रसङ्गों को ध्यान से देख कर यह निश्चय होता है कि पुरीष का सम्बन्ध अग्नि से अवश्य है। अतः अग्नि अथवा विद्युत् का कोई रूप पुरीष है। इन पुरीष=विशेष आग्नेय परमाणुओं को धारण करने वाले उदक शूक पुरीष हैं। वैदिक ज्ञान अद्वितीय है। पर दुःख है कि वह आज भूल सा रहा है। वायु और आदित्य की रश्मियों के योग से उदक अन्तरिक्ष से बहता हुआ भूमि पर आता है।

वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक्कस्मात्। वचेः। तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद् देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद्यद् देवतावदु-परिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः। अथैतन्नदीवत्॥ २३॥

अर्थ—वाक् के नाम [हैं] अगले सतावन। वाक् किस से। वचेः= वच धातु से। इन में सरस्वती [जो २२ वां नाम है] उस के नदी के समान और देवता के समान निगम होते हैं। तो जो देवता के समान हैं, ऊपर [११। २७ में] व्याख्या करेंगे। अब यह नदी के समान [है]॥ २३॥

भाष्य—संस्कृत वाङ्मय के इतिहास के उत्तर काल में वच धातु के रूपों को उच्यते आदि के आदेश कैसे माने गए, यह सोचना चाहिए। यह सतावन प्रकार की वाक् अन्तरिक्ष से सर्व प्रथम उच्चरित हुई। इन के सतावन प्रकारों के भेद जब तक समझ में न आएं, तब तक मन्त्रों का यथार्थ अभिप्राय समझ में नहीं आ सकता। श्लोक त्रिष्टुप्, मही, अदिति, अनुष्टुप् आदि अनेक नाम अपना अपना स्वरूप रखते हैं। ये विभिन्न वाणियां देवों द्वारा प्रकट की गईं। यथा—देवीं वाचम् अजनयन्त देवाः। ऋ० ८।१००।११॥

इस प्रसङ्ग में राजवाड़े लिखता है—

Yaska does not quote a Rik in which सरस्वती means speech, " सरस्वती meaning speech is a modern word (p 393) अर्थात्—वाक् अर्थ वाले सरस्वती शब्द की कोई ऋक्

नहीं, प्रत्युत यह शब्द आधुनिक है । भारत-युद्ध का पूर्ववर्ती यास्क राजवाड़े के समान अज्ञानी नहीं था, जो इतना भी न जानता । यास्क तो शब्दार्थ के नित्यत्व का ज्ञाता था । अरे राजवाड़े, मेरे द्वारा सन् १६२६ में प्रकाशित वैदिक कोष को ही देख लेते, तो ऐसा अनृत लेख न करते । देखो—वाक् सरस्वती । श० ब्रा० ७ । ५ । १ । ३१ ॥ और इस से पूर्व के ऐतरेय ब्राह्मण में—वाक् तु सरस्वती ३ । १, वागेव सरस्वती २ । २४, वाग्घि सरस्वती ३ । २ ॥ ईसाई-यहूदी लेखकों का उच्छिष्ट-भोजी होने से राजवाड़े की यह गति हुई है ।

पूर्व खण्ड २२ में माध्यमिक देवगण का उल्लेख हुआ है । इस खण्ड २३ में उन्हीं से उत्पन्न की गई मध्यम स्थान वाली वाक् का उल्लेख है । इस वाक् की सृष्टि-उत्पत्ति में कैसी माया है, इस का संक्षिप्त वर्णन पूर्व पृष्ठ २, ३, तथा ६१ पर किया गया है । यह छन्दोमयी वाक् सब लोकों में विचित्र क्रिया कर रही है ।

ऋग्वेद स्वयं कहता है—अर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि । ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्यः । १ । ८३ । ६ ॥ अर्थात् अर्क=स्तुतिकर्ता श्लोक को=मन्त्रमयी वाणी को आघोषित करता है, द्युलोक में । ग्राव जहां बोलता है स्तोता जो उक्थ्यः=प्रशस्य है । यह दिव्य वाणी की महिमा है । २३ ॥

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः ।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः ॥
[ऋ० ६ । ६१ । २ ॥]

इयं शुष्मैः शोषणैः । शुष्ममिति बलनाम । शोषयतीति सतः । बिसं बिस्यतेर्भेदनकर्मणः । वृद्धिकर्मणो वा । सानु समुच्छ्रितं भवति । समुन्नुन्नमिति वा । महद्भिरूर्मिभिः । पारावतघ्नीं पारावारघातिनीम् । पारं परं भवति । अवारमवरम् । अवनाय सुप्रवृत्ताभिः [शोभनाभिः] स्तुतिभिः सरस्वतीं [नदीं] कर्मभिः परिचरेम ।

अर्थ—इस [सरस्वती] ने [अपने] बलों से, (बिस+खा इव) बिस को खोदने वाला जैसे [बिस को अनादर से=सरलता से उखाड़ता है, वैसे] (अरुजत्) भंजन किया, तोड़ा (सानु गिरिणाम्) चोटी को गिरियों की, (तविषेभिः) महती (ऊर्मिभिः) तरङ्गों से (पारावतघ्नीम्)

hymn (x. 75, 2.4. 6), and the Vipâs' and the Sutudri, sister streams of the Panjab, in another (iii. 33). The most important and oftenest lauded is, however, the Sarasvati (vi 61, vii. 95). (Vedic Reader, p. xx).

यहां तो मैक्डानल और उस के ईसाई-यहूदी गुट वाले लेखकों ने वेद के छात्रों को धोखा दिया है। मैक्डानल ने जब बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी का सम्पादन किया तो वह अवश्य जानता था कि वेद में स्तुति की गई नदियां अन्तरिक्षस्थ हैं।

ऋग्वेद की एक ऋक् का जो निरुक्त १० । ४४ में उद्धृत है, अर्थ है— आपः में उत्पन्न अग्नि की स्तुति गाता हूं, जो (बुध्ने) अन्तरिक्ष में नदियों के उदक में ठहरता है।

बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी का मूल निरुक्त है। निरुक्त में सरस्वती नदीवत् और देवतावत् दोनों प्रकार से स्तुत है। निरुक्त के उपस्थित प्रकरण में वह नदीवत् है। यह प्रकरण माध्यमिक देवगणों का है। उस में मेघ, वाक्, उदक, नदी और अन्य नाम पढ़े हैं। ये सब मध्यमस्थानी हैं। और इस से पद कर प्रबल प्रमाण यह है, कि निरुक्त में जहां सरस्वती की देवतावत् स्तुति है, वहां (निरुक्त ११ । २५) का सारा प्रकरण मध्यमस्थानी देवताओं का है। तब मध्यस्थानी देवता अथवा नदी को terrestrial deity=भूमिस्थ देवता कहना परा-काष्ठा का धोखा देना है। मैक्डानल ने बृहद्देवता के अनुवाद में भी भ्रान्ति उत्पन्न की है। बृहद्देवता १ । ६६ का अर्थ है कि जहां आग्नेय सूक्त है, वह पार्थिव अग्नि का है, जहां जातवेदस्य=जातवेद देवता का सूक्त है, वह मध्यम अग्नि का है। और जहां वैश्वानरीय=वैश्वानर देवता का सूक्त है, वह सूर्य का सूक्त है। पुनः बृहद्देवता १ । १०५ से अग्नि के आश्रित अनेक पदार्थों का कथन है। उन में जातवेदाः और वैश्वानर का पुनः कथन है। इस का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि जातवेद अग्नि भी पृथिवीस्थानी है। इसी प्रकार बृहद्देवता के १ । १०१ श्लोक से आरम्भ कर के जो आगे गण गिना है, उस में मण्डूक, ग्राव, नद्यः, शुतुद्री और विपाशा आदि हैं, वे मध्यम स्थानी ही हैं, पर पार्थिव अग्नि का उन को भी आश्रय है। स्मरण रहे कि बृहद्देवता में वर्णित आग्नेय गण यज्ञ की दृष्टि से ही है। सरस्वती नदी बृ० १ । १२८ में ऐन्द्र गण में ही है। अतः सिन्धु, सरस्वती आदि नदियां मध्यम स्थानी ही हैं। यदि कहो कि हम निरुक्त के देवविभाग को

नहीं मानते, तो स्पष्ट है कि तुम ने एक झूठ को खड़ा करने के लिए दूसरा झूठ खड़ा किया और इस दूसरे झूठ के लिए तीसरा। निस्सन्देह तुम्हारे लेखों में झूठ की परम्परा बंधी हुई है। तुम ने समझा था तुम्हारी परीक्षा कोई नहीं करता।

इस पर ईसाई-यहूदी लेखक कहता है कि इस अर्थ को वह नहीं मान सकता। इस पर हम यास्क के शब्दों में कहते हैं—नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीति। ओल्डनबर्ग मैक्समूलर राथ ह्विटनी मैक्डानल, कीथ गैल्डनर प्रभृति लेखक तो वेदार्थ के समीप भी नहीं फटके। ये गप्पें अवश्य हांकते रहे हैं। मध्यस्थानी धन्वाओं के मन्त्रों का पृथिवी परक अर्थ करना पक्षपात के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

उदकनामान्युत्तराण्येकशतम्। उदकं कस्मात्। उनत्तीति सतः।

नदीनामान्युत्तराणि सप्तत्रिंशत्। नद्यः कस्मात्। नदना [इमा] भवन्ति। शब्दवत्यः। बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तम्। आश्चर्यमिव प्राधान्येन। तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव। विश्वामित्रः सर्वमित्रः। सर्वं संसृतम्। सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वा। अमिश्रीभावगतिर्वा। स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ। अनुययुरितरे। स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव। गाधा भवतेति। अपि द्विवत्। अपि बहुवत्। तद्यद् द्विवदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः। अथैतद् बहुवत्॥ २४॥

अर्थ—उदक के नाम [हैं] अगले एक सौ एक। उदक किस से। उनत्ति=गीला करता है इस हेतु से।

नदी के नाम [हैं] अगले सैंतीस। नदी किस से। नदना=शब्द वाली ये होती हैं। (बहुलम्) प्रायः कर इन—इन्हीं स्थानों में इन का नैघण्टुक=[प्रधान स्वतन्त्रता की अपेक्षा] गौण वृत्त [वर्णन होता है।] आश्चर्य के समान प्रधान [स्वतन्त्र] रूप से। वहां [प्राधान्य के प्रकरण में जहां नदी का देवता वत् वर्णन है] इतिहास कहते हैं [आचार्य]। विश्वामित्र ऋषि=मन्त्र-द्रष्टा सुदास पैजवन का पुरोहित हुआ। विश्वामित्र=सब का मित्र। अथवा सब हैं मित्र जिसके। सर्व=सं+सृत अर्थात् सब तरफ फैला हुआ। सु+दा=कल्याण=अच्छे दान वाला। पैजवन=पिजवन का पुत्र। पि+जवन=पुनः स्पर्धा के योग्य

वेग वाला अथवा । न मिश्रित हुई हुई गति वाला अथवा । वह [पौरोहित्य के] धन को ग्रहण कर के विपाश और शुतुद्री के सम्भेद=संगम पर (आयर्या) आया । पीछे पीछे आए दूसरे [भृत्य और छात्र]। उस विश्वामित्र ने नदियों की (तुष्टाव) तुष्टि=स्तुति की । (गाधा) गाहने योग्य=पांव से पार जाने योग्य (भवत) होवो, यह । और दो के समान, और बहुत (नदियों के) समान [स्तुति की] । तो जो दो के समान [मान कर], ऊपर वह व्याख्या करेंगे । अब यह बहुत के समान ॥ २४ ॥

भाष्य—उदक के १०१ नामों के सूक्ष्म भेद वेद और वैदिक वाङ्मय से जानने चाहिएं । प्रत्येक नाम अपना अर्थ-विशेष रखता है । आप्य परमाणुओं की इन विभिन्न अवस्थाओं का रहस्य वेद से जाना जा सकता है । यथा घृतम् उदक का नाम है । यह क्यों । प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है—स्नेहो अपां विशेष-गुणः । अतः जिन आप्य परमाणुओं के साथ स्नेहांश अधिक है, वे ही घृत नाम धारण करेंगे । तुलना करें —उदानिपुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥[1]

अगले नदी नामों में अनेक नाम बहुवचन में हैं । इन में से सिन्धवः, इरावत्यः, और सरस्वत्यः नामों पर ध्यानविशेष देना चाहिए । प्रधान सिन्धु नद एक है । इरावती और सरस्वती भी एक एक हैं । फिर इन के लिए बहुवचन के रूप क्यों चुने गए । निस्सन्देह ये पृथिवी पर की नदियां नहीं हैं । इन का यौगिक अथवा योगरूढ अर्थ माने विना वेदार्थ नहीं बनता । ये सब अन्तरिक्षस्थ नदियां हैं । यास्क ने इसी सूक्ष्मेक्षिका से—नद्यः कस्मात्, नदी का बहुवचनान्त रूप लिखा । आश्चर्य पद का यह भी अभिप्राय है, बहुत थोड़ा अथवा कहीं ही । स्कन्द लिखता है—आश्चर्यम् अनित्यं कादाचित्कत्वात् ।

अब इतिहास कहते हैं । विश्वामित्र ऋषि था । भारतीय इतिहास में कई विश्वामित्र ऋषि हो चुके हैं । उन के अपने-अपने नाम भी थे ।[2] विश्वामित्र नाम उन्होंने उत्तर काल में ग्रहण किया । विश्वामित्र नाम वेद से लिया गया । वेद का विश्वामित्र पृथिवी पर का मानुष विश्वामित्र नहीं है । अनेक दिव्य ऋषि सूर्य की रश्मियों में बसते हैं । महाभारत, शान्तिपर्व के लगभग अन्त में सूर्य-स्तुति में कहा है—

---

१. अथर्व ३ । १३ । ५ ॥ मै० सं० २ । १३ । १० ॥
२. एक विश्वरथ विश्वामित्र था ।

यस्य रश्मिसहस्रेषु शाखास्विव विहङ्गमाः ।
वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह ॥

बृहद्देवता में देवों के विषय में भी ऐसा कथन है—

देवान् यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ।

सूर्य रश्मियों की महिमा आनन्ददायिनी है। इसी सूर्य में पुलस्त्य, पुलह अत्रि वसिष्ठ अङ्गिरा भृगु गौतम, भरद्वाज, कश्यप, जमदग्नि और विश्वामित्र रहते हैं।[1] ये मानव देहधारी नहीं हैं ये दिव्य हैं। ये प्राण आदि रूप में हैं।[2] ये सप्त गणों में भी समय-समय पर सूर्यमण्डल में रहते हैं। इन्हीं के कारण हिम उष्ण और वृष्टि होती है। इसी लिए विष्णु पुराण कहता है—

सोऽयं सप्तगणः सूर्यमण्डले मुनिसत्तम ।
हिम-उष्ण-वारिवृष्टीनां हेतुः स्व समयं गतः ॥ २।१०।२१ ॥

ये प्राण आदि ऋषि सृष्टि बनने से पहले अस्तित्व में आ चुके थे। शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन है—ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मात् ६।१।१।१॥ निरुक्त में मध्यम देवगणों के प्रकरण में ११।१९ से अङ्गिरसों का उल्लेख है। इन के विषय में यास्क ने ऋ० १०।६२।५ का जो मन्त्र उदाहरण रूप में दिया है, उस में अङ्गिरा के पुत्रों को बहुरूप ऋषि और गम्भीर प्रज्ञा वाला माना है। वे सब अग्नि से जन्मे थे।

आगे ११।२१ में ऋषियों का उपाख्यान है। वहीं यास्क ने ऋ० ७।३३।८ मन्त्र पढ़ा है। तदनुसार मध्यमस्थानी देवों में वसिष्ठ ऋषि भी थे। इन के स्तोम-मन्त्र भी थे। जब ऋग्वेद में—वसिष्ठासो पितृवद् वाचमक्रत। ऋ० १०।६६।१४ तथा भृगवो वाजमक्रत ऋ० १०।१४।६ कहा है तो वेदमन्त्र का अभिप्राय इन्हीं दिव्य वसिष्ठों और भृगुओं से है। पक्षपाती पाश्चात्य ईसाई-यहूदी लेखकों ने वेद का गम्भीर आशय समझने का यत्न ही नहीं किया, और वहीं से अनित्य इतिहास का अस्तित्व बनाने लग पड़े। अस्तु। इस दिव्य विश्वामित्र ऋषि का अन्तरिक्षस्थ नदियों से सम्बन्ध कहा गया है। इन दिव्य

१. देखो वेदविद्यानिदर्शन, पृ० २४८, २४६।
२. प्राणा वा ऋषयः। श० ब्रा० ८।४।१।५॥

ऋषियों के कारण से सूर्य से छन्दोरूप तरङ्गें चलती हैं। हम ने यहां एतद् विषयक कथन अति संक्षेप में किया है। वेद-वेदाङ्गों और महाभारत आदि का पाठ करने वाले विद्वान् इन तथ्यों को जानते हैं। इन्हीं दिव्य ऋषियों के नामों के अनुकरण पर भूमिस्थ ऋषियों के नाम भी हुए थे।

जैसा हम पूर्व २ । १० के भाष्य में लिख चुके हैं कि ऐतिहासिक घटनाओं के साथ मन्त्रों में वर्णित घटनाओं का कभी भी पूर्ण-सामंजस्य न होगा, वैसा तथ्य यहां भी स्पष्ट हो जाता है। विश्वामित्र का जो इतिहास पूर्व दिया जा चुका है, वह अगले मन्त्र के अर्थ से पूरा टक्कर नहीं खाता। यह अगले मन्त्र के भाष्य में दर्शा दिया जाएगा।

ऐतिहासिक वर्णन में विपाशा और शुतुद्री के संगम पर की घटना लिखी है। प्रश्न होता है कि वे नदियां गाधा कैसे हो गईं। इस का एक उदाहरण काश्मीरिक कल्हण कवि की राजतरङ्गिणी २ । २४९ में मिलता है। कश्मीर में ललितादित्य नाम का राजा था। वह कभी सिन्धु संगमों के पञ्चनद स्थान पर अपनी सेना सहित रुद्ध हो गया। उस के समीप रससिद्ध कङ्कणवर्ष का सहोदर चुङ्कुण नामक विद्वान् था। उस चुङ्कुण ने अगाध जल में एक मणि फेंकी। तब—

> तत्प्रभावाद् द्विधाभूतं सरिन्नीरं ससैनिकः।
> उत्तीर्णो नृपतिस्तूर्णं परं पारं समासदत्॥ २५० ॥
> मणिमन्येन मणिना चुङ्कुणोऽप्याचकर्ष तम्।
> सलिलं प्रागवस्थं च क्षणेन सरितामभूत्॥ २५१ ॥

प्राचीन ऋषियों के पास ऐसे अनेक मणिरत्न थे। विश्वामित्र ने ही राम को शुष्क और आर्द्र अशि द्वे अस्त्र दिए थे। इस ऐतिहासिक विश्वामित्र ने नदियों को गाहने योग्य कर दिया। अन्तरिक्ष लोक में भी कभी दिव्य विश्वामित्र ने नदियों को उपरमध्वं=ठहरने की प्रार्थना की।

सुदाः पैजवन—इस नाम के दो राजा हुए हैं। एक पाञ्चालों के सृञ्जय-वंश[1] में और दूसरा कोसलों में। कोसल-राज सुदाः का पिता सर्वकाम था।[2] परन्तु जैमिनि ब्राह्मण ३ । २३ में प्रवचन है—

---

१. देखो हमारा, भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, द्वि० भा० पृ० १२८।

२. तथैव, पृ० १११।

वसिष्ठो वै सुदास पैजवनस्य ऐक्ष्वाकस्य राज्ञ पुरोहित आस।

अत निश्चित है कि एक सुदा पैजवन ऐक्ष्वाक अथवा कोसल-राज भी था। यास्क के लेख से ज्ञात नहीं होता कि उस से स्मृत सुदा पैजवन किस वंश का था॥ २४॥

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः॥
[ऋ० ३। ३३। ५॥]

उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिने। ऋतावरीर्ऋतवत्य। ऋतमित्युदकनाम। प्रत्यृत भवति। मुहूर्तमेवैरयनैरवनैर्वा। मुहूर्तो मुहुर्ऋतु। ऋतुरर्तेर्गतिकर्मण। मुहुर्मूढ इव काल। यावदभीक्ष्णं चेति। अभीक्ष्णमभिक्षणं भवति। क्षण क्षणोते। प्रक्ष्णुत काल। काल कालयतेर्गतिकर्मण। प्राभिह्वयामि सिन्धु बृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वावनाय। कुशिकस्य सूनु। कुशिको राजा बभूव। क्रोशते शब्दकर्मण। क्रंशतेर्वा स्यात्प्रकाशयतिकर्मण। साधु विक्रोशयितार्थानामिति वा। नद्य प्रत्यूचु॥ २५॥

अर्थ—(उप रमध्वम्) ठहर जाओ मेरे वचन के लिए सोम सम्पादन करने वाले [वचन] के लिए, हे उदक वालियो मुहूर्त भर, (एवै) गतियो म। सिन्धु को (प्र+अच्छ+अह्वे) मै भले प्रकार सब ओर से बुलाता हू (बृहती मनीषा) महती मन स निकली इच्छा या स्तुति स, (अवस्यु) रक्षा के लिए मैं कुशिक का पुत्र।

ठहर जाओ मेरे वचन के लिए सोम सम्पादन करने वाले [वचन] के लिए हे प्रभूत उदक वालियो। ऋत यह उदक का नाम [है।] (प्रति+ऋतम्) [सब लोको क] प्रति ऋ=गमन करने वाला होता है। मुहूर्त भर एवै=अयनै=गतियो म अवनै [हमारी] कामनाओ [की सिद्धि] मे। मुहूर्त=मुहु+ऋतु। बार बार जाता है। ऋतु ऋति स है गति अर्थ वाले से। मुहु=मूढ=अज्ञान के समान काल=[ज्ञान भी नही रहता पता भी नही लगता और चला जाता है।] जब तक अभीक्ष्ण [होता है] और। अभीक्ष्ण=क्षण मात्र=क्षण के तुल्य होता है। क्षण

क्षणोति=हिंसा करता है, से । प्र+क्षुतः=हिंसा हुआ=झट नष्ट होने वाला काल । कालः कालयति से, गति अर्थ वाले से । प्र+ह्वयामि=सब ओर से बुलाता हूँ सिन्धु को महती मन की, स्तुति से, बुद्धि में अथवा, रक्षा के लिए, कुशिक का पुत्र । कुशिक राजा हुआ था । क्रोशति[1] से=शब्द अर्थ वाले से । कंगति से अथवा होते, प्रकाशित करने वाले से । साधु बताने वाला अर्थों का अथवा । नदियां उत्तर में बोलीं ॥ ३५ ॥

भाष्य—उप रमध्वम्=उपराम करो, ठहर जाओ । सोम्याय=सोम सम्पादिने । द्युलोक से आकर सोम सारे लोकों में फैलता है । यही चन्द्रमा में, वनस्पतियों में और गाएँ आदिकों में अपना काम करता है । इसी को अन्तरिक्षस्थ ऋषि आदि और इन्द्र आदि देवता सेवते हैं । ऋतावरीः, ऋत नामक उदक में परमाणुओं का संयोग-विभाग जानना चाहिए । सिन्धुम्, मन्त्र में ऋषि सिन्धु को बुलाता है । इतिहास में विपाश्या और शुतुद्री से प्रार्थना करता है । निस्सन्देह ऐतिहासिक घटना की मन्त्रगत वर्णन से कभी पूरी तुलना नहीं हो सकेगी । इसी लिए यह निर्विवाद है कि वेद में इतिहास नहीं है । कुशिकस्य =कुशिक का । कुशिक क्या है, इस विषय में तैत्तिरीय ब्राह्मण प्रकाश डालता है—अथ यत् सुवर्णरजताभ्यां कुशीभ्यां परिगृहीत आसीत् । सास्य [आदित्यस्य] कौशिकता । १ । ५ । १० । २ ॥ कुशी रूपी अत्यन्त सूक्ष्म चक्र सूर्य के पास है । उसी से सम्बन्ध रखने वाला कोई कुशिक है । उसी के पुत्र का=उसी से उत्पन्न हुए का इस मन्त्र में कथन है । इस माया का पूर्ण ज्ञान अभीष्ट है ।

स्मरण रहे कि पृथिवी पर का इन्द्र भी कौशिक कहा जाता है । कारण, वह विश्वामित्र का गुरु होते हुए कालान्तर में उसका शिष्य भी बना था । इस का उल्लेख जैमिनीय ब्राह्मण में है—

यद्ध वा असुरैर्महासंग्रामं संयेते तद्ध वेदान् निराचकार । तान् ह विश्वामित्राद् अधिजगे । ततो हैव कौशिक ऊचे ॥ २ । ७९ ॥

इस प्रसङ्ग में विश्वामित्र स्वयं कुशिक हुआ । स्वयं ऋग्वेद १ । १० । ११ में इन्द्र कौशिक है ।

---

१. क्रुश आदि आत्मनेपदी धातुएं हैं । अतः यहां सर्वत्र धातु का निर्देश कृदन्त शितप् प्रत्यय से किया है, ऐसा जानना चाहिए । २. शां० आ० १५ । १ ॥

यास्क ने इसी अभिप्राय से प्रसङ्गानुसार कुशिक के यौगिक अर्थ भी दिखा दिए हैं। साथ ही यह भी बता दिया है कि कुशिक नाम का कोई राजा भी हुआ था। उस ने यह नाम वेद से लेकर रखा था। अब एक सिन्धु का नहीं, प्रत्युत नदियों का [बहुवचनान्त रूप में] उत्तर है ॥ २५ ॥

अब अन्तरिक्षस्थ नदियों के बनने की विद्या कहते हैं।

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।
देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥

[ऋ० ३ । ३३ । ६ ॥]

इन्द्रो अस्मानरदद्वज्रबाहुः । रदतिः खनतिकर्मा । अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनामिति व्याख्यातम् । देवोऽनयत्सविता । सुपाणिः कल्याणपाणिः । पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः । प्रगृह्य पाणी देवान्पूजयन्ति । तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः । उर्व्य ऊर्णोतेः । वृणोतेरित्यौर्णवाभः । प्रत्याख्यायान्तत आशुश्रुवुः ॥ २६ ॥

अर्थ—इन्द्र अर्थात् वायु से आवेष्टित विद्युत् शक्ति ने हमें खोदा। [वह इन्द्र] जो वज्रबाहु है। (अपाहन्=अप+अहन्) मार गिराया वृत्र को (परिधिम्) जो चारों ओर से रोके हुए था अथवा घेरा था नदियों [के उदक] का। देव (अनयत्) ले गया सविता, कल्याणकारी हाथों वाला। उस की हम (प्रसवे) उत्पन्न की आज्ञा में (याम) जाती हैं (उर्वीः) फैली हुईं।

इन्द्र ने हमें खोदा, वज्रबाहु ने। रदति खोदन अर्थ वाला है। अपाहन् वृत्रं यह [सरल है अत स्वयं] व्याख्यात है। देव ले गया सविता। सुपाणि अर्थात् कल्याणकारी अथवा सुन्दर हाथों वाला। पाणि पणायति से पूजा अर्थ वाले से। जोड़ कर दोनों हाथों को देवों की पूजा करते हैं। उस की हम आज्ञा में चल रही हैं, फैली हुईं। उर्व्य, ऊर्णोति से। वृणोति से यह और्णवाभ [कहता है।] (प्रत्याख्याय+अन्ततः) खण्डन कर के अन्त में (आ+शुश्रुवुः) [नदियों ने] सब ओर से सुना [प्रार्थना को] ॥ २६ ॥

भाष्य—अन्तरिक्षस्थ नदियां इन्द्र की खोदी हुई हैं। ये नदियां कब खोदी गई। उस समय, जब इन्द्र ने महासुर वृत्र को मारा। इन नदियों की परिधि को वृत्र ने बनाया हुआ था। वृत्र ही अन्तरिक्षस्थ नदियों को घेरता था। उस वृत्र को पृथिवी पर की नदियों की परिधि मानने में एक वृथा खींच-तान करनी पड़ती है। व्याख्यातम्, स्वयं सरल पाठ है, अथवा ऐसा भाव पूर्व २। १७ में व्याख्या किया गया है। सविता सुपाणिः है। प्रतीत होता है, यह घटना उस काल की है, जब सविता हिरण्यपाणि[1] नहीं बना था। उस समय सविता के ये हाथ लुप्त हो चुके थे। ऋग्वेद १। ३५। ६ में ही सविता को हिरण्यपाणि भी कहा है।

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन ।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥
[ऋ० ३ । ३३ । १० ॥]

आशृणवाम ते कारो वचनानि। याहि दूरादनसा च रथेन च। निनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रम्। मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय। निनमा इति वा।

अश्वनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। तेषामष्टा उत्तराणि बहुवत्। अश्वः कस्मात्। अश्नुतेऽध्वानम्। महाशनो भवतीति वा। तत्र दधिका इत्येतद् दधत्क्रामतीति वा। दधत्क्रन्दतीति वा। दधदाकारी भवतीति वा। तस्याश्ववद् देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद्यद् देवतावदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः। अथैतदश्ववत् ॥ २७ ॥

अर्थ—(ते) तेरे, (कारो) हे स्तुतिकर्तः, हे मन्त्रदृक् (आ+शृणवाम) सुनेंगी अथवा ध्यान से सुनती हैं, (वचांसि) वचनों को, (ययाथ) चले जाओ, दूर से [आए हो], (अनसा) शकट के साथ [और] रथ के साथ। तेरे लिए (निनंसै) झुकती हैं, (पीप्याना इव) [शिशु को] दूध पिलाने वाली जैसे स्त्री, [अथवा] (मर्याय इव) मनुष्य =[आए] वर के लिए जैसे कन्या (शश्वचै=शश्वचे) परिष्वजन के लिए।

[1] कौषी० ब्रा० ६ । १३ ॥

स्व सुनता है, तरह स्नान वचना को। [अग्न मार्ग पर] जाओ [आगे हो] दूर म [धन स पूर्ण] शकट के साथ और बैठने योग्य रथ के साथ। (नि+नमाम) नीच झुकती हैं स्नन को पिलाती हुई जैसे स्त्री पुत्र को। वर क लिए जैसे कन्या परिष्वजन के लिए। (निनमै) आमन्त्रण रूप अथवा।

अश्व के नाम [हैं] अगले छब्बीस। उन म आठ [जो] अन्त म हैं बहुवचन [के प्रयोग के] समान [है।] अश्व किस म। व्यापता है मार्ग को महा खाने वाला होता है अथवा। उन म दधिक्रा यह जो (दधत्+क्रामति) धारण करते हुए [आरोहक को] पद आगे धरता है अथवा। धारण करते हुए [आरोहक को] क्रन्दन=शब्द करता है अथवा। धारण करने हुए [अश्वारोही को] (आकारी) [विशेष अथवा सुन्दर] आकार वाला होता है अथवा। उस [दधिक्रा] के अश्व [अर्थ] म और देवता [अर्थ] म निगम होते हैं। तो जो देवता अर्थ म ऊपर=आगे व्याख्या करेंगे। अब यह अश्व अर्थ म ॥ २७ ॥

भाष्य—कारु=मन्त्रकृत=मन्त्रद्रष्टा।[१] अन्तरिक्ष और आदित्य म ये माध्य रूप विश्वामित्र आदि हो थे जो नदियों को विविध रूपों में उत्पन्न करते थे। जैसे सूर्य और चन्द्र के रथ चलते हैं वैसे ही विश्वामित्र भी अनस और रथ के साथ था। नि+नमाम पर स्कन्द लिखता है—एकवचनस्थान बहुवचनस्य स्थाने। यदि यह ऐतिहासिक घटना होती तो नदियाँ द्विवचन में बोलतीं। पर यहाँ तो विपाशा और शुतुद्री का प्रसङ्ग ही नहीं है। प्रसङ्ग है सिन्धु का। मर्याय+इर्व कन्या=कन्या पर ॥ निश्चित है कि वर के प्रथम आगमन समय ॥ उपमा है।

अश्व। नदियों के पश्चात अश्व का प्रकरण है। अन्तरिक्षस्थ अश्व आप से उत्पन्न हुए हैं। अत नदियों के पश्चात अश्व नाम पढ़े गए हैं। शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन है—अप्सुजा उ वाऽअश्व। ७।५।२।१८ ॥ तथा तैत्ति० ब्रा० म—अप्सुयोनिर्वा अश्व। ३।८।४।३॥ अथवा प्रजापति हिरण्य गर्भ=पुरुष की अक्षि से जो अश्रु बहे वे अश्व बने। इस से भी आप का ही अभिप्राय है। अन्तरिक्षस्थ सब पशुओं म अश्व को अग्रमुख माना है। इन अश्वों ॥ आप्य और आग्नेय परमाणुओं के विविध संयोग-विभाग हैं। इसी भेद के

१ देखो अस्मदन्वित ऋग्वेद पर व्याख्यान।

कारण उन के विभिन्न नाम हैं । ये अश्व अत्यन्त गति शाली हैं । व्याकरण महाभाष्य आदि में जो इतने आधीन दूरी पर स्वर्ग आदि लोक लिखे हैं, वहां इन्हीं अश्वों की एक दिन की गति अभिप्रेत है । ब्रह्माण्ड—ज्योतिर्मण्डलस्थानं भ्रमन्त्यर्केन ते हयाः । ब्रह्माण्ड, पू० भाग, अ० २२ । ४५ ॥

ऋग्वेद कहता है—भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः १ । ११५ । ३ ॥ सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति सूर्य । शोचिष्केशं विचक्षण । १ । ५० । ८ ॥ ये अश्व पहले नहीं थे । स्कन्द ऋग्भाष्य १ । ५० । ६ पर लिखता है—पुरा किल अनश्वः सूर्यरथ आसीत् । सोऽश्वं गन्तुं नाशक्नोत् । ये अश्व भी वैदिक छन्द उत्पन्न करते रहते हैं—

भद्रैस्तैरश्वैरश्वैः स्पन्दते वैदिकजगः ॥ ४४ ॥

अश्वैः प्रागवाहिभिः । ॥ ४५ ॥

ब्रह्माण्ड पु०, पू० भाग, २२ ॥

तथा देखो, वेदविद्यानिदर्शन पृ० २४४ । चन्द्र के अपांगर्भ से रथ सहित उत्पन्न दश अश्व हैं । वेदविद्यानि०, पृ० २८१ । ऐसी विद्याओं को जाने बिना वेदार्थ का ज्ञान सर्वथा असम्भव है । राजवाडे लिखता है—

श्येन, सुपर्ण and पतङ्ग are birds and not horses (p. 407) यह भी ठीक नहीं । ये अन्तरिक्षस्थ परमाणु रूप पक्षी भी हैं, और सुपर्ण आदि रश्मियां भी हैं, पर ये अश्व भी हैं । कुछ रश्मियां भी अश्वों के समान काम करती हैं । विस्तरभय से अधिक नहीं लिखा ॥ २७ ॥

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि ।
क्रतुं दधिक्रा अनु संतवीत्वत्पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत् ॥

[ऋ० ४ । ४० । ४ ॥]

अपि स वाजी वेजनवान् । क्षेपणमनु तूर्णमश्नुतेऽध्वानम् । ग्रीवायां बद्धः ग्रीवा गिरतेर्वा । गृणातेर्वा । गृह्णातेर्वा । अपि कक्ष आसनीति व्याख्यातम् । क्रतुं दधिक्राः कर्म वा प्रज्ञां वा । अनुसन्तवीत्वत् तनोतेः । पूर्वया प्रकृत्या निगमः । पथामङ्कांसि पथां कुटिलानि । पन्थाः पततेर्वा । पद्यतेर्वा । पन्थतेर्वा । अङ्कोऽञ्चतेः । आपनीफणदिति फणतेश्चर्करीतवृत्तम् ।

दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षत साहचर्यज्ञानाय ।

ज्वलतिकर्माण उत्तरे धातव एकादश ।

तावन्त्येवोत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि ॥ २८ ॥

इति द्वितीयोऽध्याय ।

अर्थ—और (स्य) वह (वाजी) घोडा (क्षिपणिम्) चाबुक[१] [के उठने पर ही] (तुरण्यति) त्वरा से=शीघ्रता से चलता है ग्रीवा म [पटे स] बधा हुआ (अपि कक्षे) और कक्ष [=दोनो कक्षो मे आगे छाती के ऊपर स तङ्ग से] (आसनि) मुख म [लगाम से] । (क्रतुम्) [अपने] कर्म को [अथवा अश्वारोही को] प्रजा को दधिक्रा =अश्वविशेष (अनु+सन्तरी त्रत्) फैला देता है या बढा देता है । (पथाम्) मार्गो के (अङ्कांसि) कुटिल=टेढे पनो को (अनु+आपनीफणत्) शीघ्र जाता हुआ [उन्ह पार करता है]।

और वह वाजी=वेजनवान्=भय देने वाला या [वेग स] चलने वाला (क्षिपणाम् अनु) चाबुक के पश्चात् ही शीघ्र व्याप्त कर जाता है मार्ग को। ग्रीवा मे [पटे से] ब धा हुआ । ग्रीवा गिरती से=निगलने स अथवा । गृणाति=शब्द करने से अथवा । गृह्णाति=[अन्न आदि क] ग्रहण करने स अथवा । और कक्ष आसनि [स्वय] व्याख्यात है। क्रतु=कर्म वा प्रज्ञा को दधिक्रा अश्वविशेष (अनु+सन्तरी त्रत्)=तनोति की पूर्व प्रकृति म निगम [है] । मार्गो के कुटिलपनो को । पन्था पतति स अथवा पद्यति स अथवा पन्थति से [सब गत्यर्थक] । अङ्क अञ्चति स [कौटिल्यार्थ वाले से] । आ+पनीफणत् फणति [गत्यर्थक] म चर्करीतवृत्तम्=यङ्लुगन्त [धातु से है] ।

दस अगले [अध्याय म] (आदिष्टोपयोजनानि) बताए गए [देवताओं] क साथ उपयोग वाले [है] यह कहते हैं [प्राचीन निघण्टुकार] । साहचर्य=एक साथ होने के भाव के ज्ञान क लिए [यहां पढे है ।]

ज्वलति=चमकने अर्थ वाले अगले धातु [हैं] ग्यारह । उतने ही (अर्थात् ११) ज्वलन=चमक वाले [द्रव्य क] नामधेय [है] ॥ २८ ॥

१ स्कन्द न ऋग्भाष्य १ । २२ । ३ म किसी नामानुक्रमणी का पाठ दिया है—अश्वाजनी कशा चोद इति तोत्रनाम । इस प्रकार का अपभ्रंश चाबुक है।

भाष्य—स्य:=सः । यह सर्वनाम का रूप है और वेद में मिलता है । वाजी, इस शब्द पर कौषीतकि ब्रा० ५ । २ में प्रवचन है—देवाश्वा वै वाजिनः । पुनश्च शतपथ कहता है—[अश्वो] वाजी [भूत्वा] गन्धर्वान् [अवहत] १० । ६ । ४ । १ ॥ अतः वाजी का देवों और गन्धर्वों से सम्बन्ध स्पष्ट है । यह वाजी किस कर्म को फैलाता है, यह अन्वेष्टव्य है । उस के लिए क्षिपणि भी कोई विशेष होना चाहिए ।

इस मन्त्र पर भी ईसाई-यहूदियों के शिष्य राजवाड़े के rhythm नामक रोग का परिचय मिलता है । वह लिखता है—

Two corruptions must be taken into consideration first; rhythm requires ग्रीवायां to be ग्रीवासु and अङ्कांसि to be अङ्कसः ' (p. 410) अर्थात्—ग्रीवायां और अङ्कांसि भ्रष्ट पाठ हैं । अब इस निराधार प्रतिज्ञा की परीक्षा करते हैं । वेदमन्त्रों में कोई rhythm=गुरु-लघु क्रम नहीं होता ।[1] इस की कल्पना ईसाई-यहूदी लेखकों ने की है । किसी भी आर्ष वैदिक छन्दोग्रन्थ में इस का उल्लेख नहीं है। निदानसूत्र, ऋक्सर्वानुक्रमणी, और पिङ्गल छन्द में इस कल्पना का सर्वथा अभाव है । फिर ईसाई लेखकों ने यह कल्पना क्यों की । हमारा उत्तर सीधा है । अपने कलुषित स्वभाव के कारण । यह कलुषित स्वभाव क्यों बना । उत्तर है, आर्ष ज्ञान की पवित्रता को दूषित सिद्ध करने के लिए । इसी गुरु-लघु के निराधार विचार को लेकर अनधीत-शास्त्र बृटिश मैक्डानल, जर्मन स्टैलर, महाराष्ट्र राजवाड़े और पंजाबी विश्वबन्धु आदि ने अनेक मन्त्रों के शुद्ध पाठों को दूषित बताने का यत्न किया है ।

ईसाई लेखकों की विचार पद्धति का महादोष स्पष्ट है । वे पहले एक नियम कल्पित कर लेते हैं और फिर उस कल्पित नियम की कसौटी पर अनेक तथ्यों की परीक्षा करते हैं । यही दुष्ट विचाररीति मन्त्रों के पाठ में इस गुरु-लघु-क्रम के कल्पित नियम द्वारा उत्पन्न की गई है । ऐसी ही भ्रष्ट रीति इन लोगों ने भाषा-विषयक नियमों के बनाने में बर्ती है । उस का खण्डन हम ने अपने रचे "भाषा का इतिहास" में किया है ।

अङ्कांसि, कुटिलपन । इस पर राजवाड़े लिखता है—It is unsafe to determine the meanings of Vedic words by deriving

---

१. ऋक् और तै० प्राति० के अन्त में जो गुरु, लघु अक्षर वर्णन है, वहां भी क्रम का विधान नहीं ।

them from modern roots, अञ्च् which means to be crooked in modern Sk. has not that sense in R.V. In the case of difficult words one must rely on collation of passages and also on guess. Yaska, Durga, Sayana have misinterpreted अङ्कम् by false derivation (p. 411).

अर्थात्—अञ्च् का 'टेढ़ा' अर्थ वर्तमान संस्कृत में है। ऋग्वेद में इस का यह भाव नहीं है। अतः यास्क दुर्ग और सायण ने अङ्कम् का अशुद्ध अर्थ किया है। वेद के दुरूह शब्दों का अर्थ मन्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है और अनुमान से भी। इति।

हमारा प्रश्न है कि अञ्च् का कुटिल=टेढ़ा अर्थ वर्तमान संस्कृत में ही है, इस का क्या प्रमाण है। क्या तुम्हारे पास पाणिनि से पुराना कोई धातुपाठ है, जिस में इस धातु का कुटिल अर्थ नहीं है। यदि नहीं है तो तुम्हारे कथन का क्या आधार है। यास्क के पास तो शाकटायन, भरद्वाज और इन्द्र आदि के धातुपाठ थे फिर यास्क के कथन को मानें अथवा तुम्हारी कपोल कल्पना को। और तुम्हारा नामधारक भाषा विज्ञान तो गत तीन सहस्र वर्ष के अपभ्रंशों के आधार पर अल्प बुद्धि से कल्पित किया गया है। उस का तो विद्वानों में कोई मान नहीं। अतः विक्रम से कोई ३२०० वर्ष पुराने यास्क के अर्थ में दोष नहीं है। तुम्हारा वेद का तुलनात्मक अध्ययन भी दूषित है। तुम्हें आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थ का ज्ञान ही नहीं है। देखो खगोल में अनेक ग्रहों आदि की वक्र और कुटिल गतियां भी होती रहती हैं। उन के भी पथ हैं। उन में वाजी भी चलते हैं। उन का ज्ञान न रख कर तुम वृथा कल्पना करते हो॥ २८॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

अथ तृतीयोऽध्यायः

कर्मनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः । कर्म कस्मात् । क्रियत इति सतः ।

अपत्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश । अपत्यं कस्मात् । अपततं भवति । नानेन पततीति वा । तद्यथा जनयितुः प्रजा । एवमर्थीये ऋचा उदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

अर्थ—कर्म के नाम [हैं] अगले छब्बीस । कर्म किस से । किया जाता है, ऐसा होने से ।

अपत्य के नाम [हैं] अगले पन्द्रह । अपत्य किस से (अपततं) पिता से पृथक् होकर फैली हुई होती है । नहीं इस [अपत्य] से गिरता है अथवा । जो जैसे—उत्पन्न करने वाले को [होती है] प्रजा । ऐसे अर्थ वाले (ऋचों) दो ऋचाएं उदाहृत करेंगे ॥ १ ॥

भाष्य—उत्पन्न करने वाले की ही प्रजा है । गोद आदि लेकर पुत्र बनाना प्रशस्य नहीं ॥ १ ॥

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः ॥
[ऋ० ७ । ४ । ७ ॥]

परिहर्तव्यं हि नोपसर्तव्यम् । अरणस्य रेक्णः । अरणोऽपार्णो भवति । रेक्ण इति धननाम । रिच्यते प्रयतः । नित्यस्य रायः पतयः स्याम । पित्र्यस्येव धनस्य । न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति । शेष इत्यपत्यनाम । शिष्यते प्रयतः । अचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति । मा नः पथो विदूदुष इति ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २ ॥

अर्थ—(परित्यद्यम्) त्याग-याग्य हि=निश्चय से (अरणस्य= अप+अरणस्य) चला गया है उदक सम्बन्ध जिस का उस पराए कुल वाले का (रेक्णः) धन। (नित्यस्य) स्थिर धन के स्वामी [हम] हों । नहीं [अपना] (शेष) पुत्र है अग्ने (अन्यजातम्) दूसरे से उत्पन्न हुआ होता है। [वह] (अचेतानस्य) मूढ का [होता है] । मत [ठीक] मार्ग से [हम] (विदुक्ष) उलटा ले जा।

त्यागने योग्य निश्चय से नहीं नाम करने योग्य । अर्ण=अपार्ण= अपगतोदक सम्बन्ध का धन । रेक्णः यह धन का नाम [है ।] पड़ा रह जाता है (प्र+यन) परलोक जाते हुए का। स्थिर धन के स्वामी हों। [अपने] पैतृक ही धन के [स्वामी हों] । नहीं पुत्र, हे अग्ने, दूसरे से उत्पन्न हुआ [अपना] होता है। नाश यह पुत्र का नाम है। चला जाता है परलोक को जाने वाले का। अचेतयमान=प्रमत्त=मूढ का होता है । मत हम [ठीक] मार्ग से परे हटा। इति।

उस की अगली ऋक् अधिक निर्वचन के लिए [है]।

भाष्य—अरण=उदक। निघण्टु १ । १२ के अनुसार उदक का नाम है। पर इन १०१ प्रकार के उदकों में से किस प्रकार का उदक है, यह हमें ज्ञात नहीं। इसी अर्थ के कारण एक प्रकार के मध अर्णव कहाते हैं।[1] पराए कुल के पुत्र को गोद लेकर अपना नहीं बनाना चाहिए। अचेताओं का ही यह मार्ग है। अचेतान=अचेतयमान् मूढ। वे ऐसा करते हैं। मा विदुक्ष =विदूदुष, मत= भटका मत उलटा ले जा। इस श्लोक का अर्थ कई ओर घटता है ॥ २ ॥

न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ॥
[ऋ० ७ । ४ । ८ ॥]

न हि ग्रहीतव्योऽरणः सुसुखतमोऽपि । अन्योदर्यो मनसापि न मन्तव्य । ममायं [पुत्र] इति। अथ स ओकः पुनरेव तदेति यत आगतो भवति। ओक इति निवासनामोच्यते। ऐतु नो वाजी वेजनवान्। अभिषहमाणः सपत्नान्। नवजात स एव पुत्र इति ॥

अथैता दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति। पुत्रदायाद्य इत्यके ॥ ३ ॥

१ आग्नेयारुवयाका । वायु ५१ । २६ ॥

अर्थ—नहीं (अभाय) ग्रहण करने योग्य, (अरणः) दूसरे कुल वाला, (सुशेवः) अत्यधिक सुख देने वाला, अन्य के उदर से जन्मा, मन से [भी] मानने योग्य [नहीं]। (अध चित्) क्योंकि (ओकः पुनः इत्) [अपने पहले] घर को पुनः ही वह (एति) आ जाता है । नः= हमें=(वाजी+अभीषाट्) [विरोधियों को] भय देने वाला, [और] चारों ओर से दबाने वाला (एतु) प्राप्त हो [नव्यः] नया जन्मा [पुत्र]।

नहीं ग्रहण करने योग्य, पराए कुल का, अत्यधिक सुख देने वाला भी [गोद लिया पुत्र]। दूसरे के उदर से जन्मा मन से भी नहीं मानना चाहिए, [कि] मेरा यह पुत्र है। क्योंकि वह निवास को फिर भी उसी को प्राप्त होता है, जहां से आया होता है। ओक यह निवास का नाम कहा जाता है। प्राप्त हो, हमें भयद, चारों ओर से न सहा जाने वाला, सपत्न=शत्रुओं को, अर्थात् सपत्नों के लिए असह्य। नया उत्पन्न हुआ, वह ही पुत्र है।

अब इस [अगली ऋक्] को दुहिता के दायाद [प्रसङ्ग] में [धर्म-शास्त्रकार] उदाहरण रूप से देते हैं। पुत्र के दायाद [प्रसङ्ग] में, ऐसे कई एक [धर्मशास्त्रकार] ॥ ३ ॥

भाष्य—अति प्राचीन काल में अभ और मह, दो स्वतन्त्र पृथक् रूप थे। पाणिनि ने एक को दूसरे का आदेश मान कर काम चलाया है। पराए कुल का पुत्र कभी गोद न लेना चाहिए, ऐसी वेद की आज्ञा है। वाजी पद का अर्थ पहले अश्वनाम प्रकरण में भी आ चुका है।[1] धर्मशास्त्र वाङ्मय प्रथम युग के आरम्भ से ही चला आ रहा है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थ लोकभाषा में थे। अतः ईसाई-यहूदी लेखकों का मत कि लोकभाषा वेद से बहुत उत्तर काल में प्रवृत्त हुई, सर्वथा भ्रान्त है। यास्क से बहुत पहले भी धर्मशास्त्रकार हो चुके थे। वेदार्थद्रष्टा और ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवचनकर्ता ही धर्मानुशासन भी करते थे, ऐसा कौटल्य= विष्णुगुप्त=वात्स्यायन ने अपने न्याय-भाष्य में सुप्रतिपादित किया है।[2] धर्मशास्त्र तो ऐतरेय ब्राह्मण से भी पूर्वकाल में थे। ऐ० ब्रा० ३३। ६ में धर्मशास्त्र के रिक्थ विषयक मत का संकेत है ॥ ३ ॥

---

१. निरुक्त २ । २८ ॥

२. न्यायभाष्य, ४ । १ । ६२ ॥ तथा भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ० ७५-७६ ।

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् ।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥

[ऋ० ३ । ३१ । १ ॥]

प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम् । दुहिता दुर्हिता । दूरे हिता । दोग्धेर्वा । नप्तारमुपागमत् । दौहित्रं पौत्रमिति । विद्वान्प्रजननयज्ञस्य रेतसो वा । अङ्गादङ्गात्सम्भूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रत्यृतस्य । विधानं पूजयन् । अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति ।

अर्थ—(शासत्) बताता है (वह्निः) विवाहने वाला=ले जाने वाला [वर] दुहिता के [पुत्र भाव] [क्योंकि उसी से] (नप्त्यम्) दौहित्र को पौत्र [मान कर] (गात्) पाता है । (विद्वान्) जानता हुआ (ऋतस्य) प्रजननाख्य यज्ञ के (दीधितिम्) कर्म विधान को [और] (सपर्यन्) पूजा करता हुआ=आदर करता हुआ [उस का] । पिता जहाँ पुत्री के (सेकम्) [रजःस्थान में समर्थ] पति को, अथवा जामाता को (ऋञ्जन्) प्राप्त करता, अथवा ग्रहण करता है, [तब] (सं+शग्म्येन) अत्यन्त सुखी मन से (सं+दधन्वे) [जामाता के साथ] मेल करता है ।

बताता है=कहता है, वधू को ले आने वाला, सन्तानोत्पत्ति के कर्म के लिए, दुहिता के पुत्र भाव को । दुहिता=दुः हिता, अत्यन्त कठिन है हित जिसका । दूरे=दूर में हुई हित वाली[1] [होती है] । दोहन करते रहने से अथवा । नप्ता को प्राप्त होता है । दौहित्र को पौत्र यह [मान कर] । जानता हुआ, प्रजनन यज्ञ का । रेतस्=वीर्य को अथवा । [वह वीर्य जो] अङ्ग से अङ्ग से=प्रति अङ्ग से उत्पन्न होता है, हृदय से जन्मता है, अपनी माता [के गर्भ] में पहुँचता है । [इस सारे कर्म] विधान की पूजा करता हुआ । [अन्तर] बिना भेद=फ़र्क़ के स्त्री पुरुष दोनो पुत्र [ही हैं], और दायाद=दायभागी हैं ।

भाष्य—इस ऋक् का अर्थ कठिन है । यास्क ने भी अर्थ में सन्तानकर्मणे और पुत्रभाव का अध्याहार किया है । इस ऋक् के उत्तरार्ध का अर्थ यास्क ने आगे खण्ड ५ के अन्त में किया है । वह्निः=वोढा । तै० ब्रा० १ । ३ । ६ । १०

१. अथवा दूर रखी हुई ।

में—वह्निः अनड्वान् भी माना गया है। यह वह्निः अनड्वान् का काम करता है। यजुर्वेद २२। २२ के अनुसार श्रेष्ठ अनड्वान् घोड़ा गुणयुक्त होता है। अतः प्रकरणवशात् वह्निः का अर्थ घोड़ा हो गया है। दुःहिता, अत्यन्त कठिनता से उचित वर मिलने पर उस का हित होता है। दूर गोत्र आदि में विवाह होने पर सन्तति के नीरोग और बलिष्ठ होने से हित होता है। अथवा दुहिता पितृकुल के धन का सदा दोहन करती है मन्त्र का अभिप्राय यह निकाला गया है कि पुत्र और दुहिता के दायाद में समय पड़ने पर कोई भेदभाव नहीं रहता। अतः गोद लेना प्रशस्त कर्म नहीं।

तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्।

अङ्गा॑दङ्गात्सम्भ॑वसि हृद॑याद॒धि जा॑यसे।
आ॒त्मा वै पु॒त्रना॑मा॒सि स जी॑व श॒रदः॑ श॒तम्॥ इति।

[जै० गृ० १। ८]

अ॒वि॒शे॒षेण॑ पु॒त्राणां॑ दा॒यो भ॑वति॒ धर्म॑तः।
मि॒थु॒नानां॑ वि॒सर्गा॒दौ मनुः॑ स्वायम्भु॒वो॑ऽब्रवीत्॥

अर्थ—तो यह [भाग] ऋक् और श्लोक द्वारा कहा गया है। [हे पुत्र] अङ्ग-अङ्ग से [तू] उत्पन्न हुआ है, हृदय से जन्मा है. [मेरा] (आत्मा) शरीर निश्चय [तू है] पुत्र [तेरा] नाम है। वह [तू] जी=प्राण धारण कर शरत् [ऋतु] सौ।

अविशेष से=विना भेदभाव के पुत्रों का=बालक, बालिका का दाय [में भाग] होता है, धर्मानुसार बालक, बालिका के जोड़े का। (वि+सर्गादौ) अवान्तर प्रलय के पश्चात् युग के आदि में मनु [जो] स्वयम्भू=ब्रह्मा का पुत्र, बोला।

भाष्य—वीर्य का सम्बन्ध शरीर के प्रत्येक अङ्ग से है, यह सूक्ष्म तत्त्व इस ऋक् में है यह ऋक् ऋग्वेद की किसी शाखा में थी एक वर्ष में एक शरत् रहता है, अतः सौ शरत् का अर्थ है सौ वर्ष। शरत् जीवन दाता है, अतः जीवन के लिए यही प्रयोग हुआ है।

स्वायम्भुव मनु सृष्टि के आदि में भी था। और यही नाम बार-बार रखा जाने से विसर्ग के आदि में भी इस नाम का ऋषि हुआ। विसर्ग का अर्थ है, अवान्तर प्रलय के पश्चात्। उस का धर्मशास्त्र अति विशाल था। वह लोकभाषा में, पर पाणिनि से बहुत पूर्व की लोकभाषा में था। वेद के साथ ■ व्यावहारिकी भाषा का प्रयोग होने लगा था। इस के लिए देखो हमारा "भाषा का इतिहास।" मनु के उसी विशाल शास्त्र का अति संक्षिप्त और कतिपय प्रक्षेप वाला यह वर्तमान भृगु-प्रोक्त शास्त्र है। इस को ईसा के आस-पास की रचना कहना इतिहास विरुद्ध है। यास्क ने परम आदर भाव से यह श्लोक उद्धृत किया है।

न दुहितर इत्येके।

तस्मात्पुमान्दायादोऽदायादा स्त्री। इति विज्ञायते। [मै० सं० ४। ६। ४॥] तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्। [का० सं० २७। ६॥] इति च। स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोऽपीत्येके। शौनःशेपे दर्शनात्। अभ्रातृमतीवाद इत्यपरम्।

> [अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः।]
> अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः॥
> [अथर्व० १। १७। १॥]

अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मान। इत्यभ्रातृकाया अनिर्वाह औपमिकः। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ ४॥

अर्थ—नहीं पुत्रियाँ [दाय में भाग वाली] यह कई [धर्मशास्त्रकार] कहते हैं। इस लिए पुमान् (दायाद) दाय को अदन करने वाला=भोगने वाला [है] अदायादा स्त्री [है] यह [ब्राह्मण ग्रन्थ से] विज्ञात जाना जाता है। इस लिए [कन्या सज्ञा के पश्चात्] स्त्री [सज्ञा को] प्राप्त होने पर अर्थात् विवाह के तत्काल पश्चात् [स्त्री को] परे कर देते हैं, नहीं पुमान् को, यह भी [ब्राह्मण में है]। स्त्रियों के दान विक्रय और (अतिसर्ग) त्याग [इतिहास में] विद्यमान हैं, नहीं पुरुष के। पुरुष के भी { दान, विक्रय और त्याग] हैं, यह कई धर्मशास्त्रकार [कहते हैं], शुनःशेप के [आख्यान] में देखे जाने से।

[ऐसे स्थानों में] भ्रातृहीना कन्या का वाद है, यह दूसरे [धर्मशास्त्रकार] का मत है।

(अमूः) वे जो चलती हैं (जामयः) स्त्री समाना नाडियां, सारी (लोहितवाससः) लाल वासों वाली [लहु से परिपूर्णा], [वे] भ्रातृहीना जैसे (योषाः) नारियां ठहरती हैं [पितृगृह में ही], वैसे (हतवर्त्मनः) नष्ट मार्गों वाली [ठहरें]।

अभ्रातृका जैसे नारियां ठहरती है, सन्तानकर्म जो पिण्डदान है, उस के लिए (हतवर्त्मानः) नष्ट हुए मार्गों वाली, यह [अभिप्राय है]। भ्रातृहीना का विवाह नहीं। यह उपमा में होने वाला अर्थात् उपमा से सिद्ध है। इस अर्थ वाली अगली ऋक् अधिक निर्वचन के लिए [है।]

भाष्य—मै० सं० के पाठ—में स्वल्प अन्तर है। यथा स्त्री अदायादा। संभव है यास्क के उद्धृत दोनों ब्राह्मण वचन किसी अन्य संहिता से हों। यहां राजवाड़े लिखता है—

This gives us a picture of the dark times of the Brāhmana literature. Girls were often left in wild deserts to be devoured ofcourse by cruel beasts. Female infanticide has darkened the page of Indian history. Durga and Sāyana have softened down the brutality of this treatment; दुर्गः—परास्यन्ति परस्मै प्रयच्छन्ति, सायणः—वरकुले परित्यजन्ति (तै० सं० भाष्य १ । ४ । २८) (p. 421)

अर्थात्—ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में कन्याओं को घने वनों में छोड़ आते थे। इस कर्म से भारतीय इतिहास कलुषित है। दुर्ग और सायण ने इन वचनों को विवाह-परक बना कर इस अत्याचार को नरम किया है। इति।

इस पर हमारा इतना ही कथन है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का कोई कालविशेष था, यह सर्वथा असत्य है। उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ भारत युद्ध से लगभग १०० वर्ष पूर्व के काल में प्रवचन किए गए थे। उसी काल में कौणपदन्त=भीष्म, वातव्याधि=उद्धव और भारद्वाज=द्रोण के अर्थशास्त्र भी रचे गए थे। पाञ्चाल

बाभ्रव्य ने उसी काल में कामशास्त्र के एक अङ्ग पर एक ग्रन्थ रचा था।[1] अतः मैक्समूलर के उच्छिष्टभोजी राजवाडे ने ऐसा लिख कर किसी बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन नहीं किया।

अपरञ्च राजवाडे ने एक दूसरी बात सोची ही नहीं। मर्य भोले पुरुष, को कभी कन्या नहीं होती। ये दोनों शब्द भिन्न भिन्न वयस्कों के लिए प्रयुक्त होते हैं। यदि काठक संहिता के प्रवचनकर्ता के सामने, जन्मती कन्याओं का वन में फेंकना अभिप्रेत होता तो वह *स्त्रियं आसाम्* के स्थान में *कन्यां आसाम्* लिखता। अतः दुर्ग और सायण ने इस प्रकरण का ठीक अर्थ ही किया था। हम ने उस को अधिक स्पष्ट कर दिया है। राजवाडे की बुद्धि पर पक्षपात की यवनिका गिरी हुई थी। और भी, भारत में जन्मती कन्याओं पर अत्याचार बहुत उत्तर काल में आरम्भ हुआ था, यह जानना चाहिए। स्त्री और पुमान् पद यहां जातिवाचक नहीं हैं।

अगला प्रमाण आथर्वण मन्त्र का है। उपलब्ध अथर्व संहिता में इस का पाठ थोड़ा भिन्न है। इस पर स्कन्द लिखता है—स्त्रीणां लोहितवाहकव्याधिनिवृत्त्यर्थे कर्मणि विनियुक्तः। अर्थात् स्त्रियों की लोहितवाहक व्याधि की निवृत्ति के लिए यह मन्त्र विनियुक्त है। इस में उपमा है। जैसे नाड़ियों के बन्द होने से लोहित प्रवाह बन्द हो जाता है वैसे भ्रातृहीना कन्या का अगला मार्ग बन्द हो जाता है वह पितृगृह में ही बन्द रह जाती है। उस का विवाह नहीं होता। अतः अभिप्राय यह है कि ऐसी पुत्री पितृगृह में ठहरती है वह दाय की भागिनी होती है। मन्त्र में भी यही प्रार्थना है कि स्त्री की गर्भस्थ लोहित वाहिनी नाड़ियां बन्द हो जाएं।

स्वामी दयानन्दसरस्वती ने अपने वेदभाष्य में सैकड़ों मन्त्रों के उपमाएं बता कर जो मानव समाज परक अर्थ किए हैं, उनका मूल इस यास्कीय अर्थ में निहित है॥ ४॥

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥
[ऋ० १। १२४। ७॥]

---

१. अधिक देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० २१७—२५०।

अभ्रातृकेव । पुंसः पितॄन् । पत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिम् । गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी । गर्तः सभास्थाणुः । गृणातेः । सत्यसङ्गरो भवति । तं तत्र याऽपुत्रा याऽपतिका सा रोहति । तां तत्राक्षैराघ्नन्ति । सा रिक्थं लभते । श्मशानसञ्चयोऽपि गर्त उच्यते । गुरतेः । अपगूर्णो भवति । श्मशानं श्मशयनम् । श्म शरीरम् । शरीरं शृणातेः । शम्नातेर्वा । श्मश्रु लोम । श्मनि श्रितं भवति । लोम लुनातेर्वा । लीयतेर्वा ।

नोपरस्याविष्कुर्याद्यदुपरस्याविष्कुर्याद् गर्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमानः । इत्यपि निगमो भवति ।

रथोऽपि गर्त उच्यते । गृणातेः स्तुतिकर्मणः । स्तुततमं यानम् ।

आ रोहथो वरुण मित्र गर्तम् ॥ [ऋ० ५ । ६२ । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु । उषा हसनेव दन्तान् विवृणुते रूपाणि । इति चतस्र उपमाः ।

नाभ्रात्रीमुपयच्छेत तोकं ह्यस्य तद्भवति ।[1] इत्यभ्रातृकाया उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः । पितुश्च पुत्रभावः ।

पिता यत्र दुहितुरप्रत्तायाः रेतःसेकं प्रार्जयति । सन्दधात्यात्मानं सङ्गमेन मनसेति ।

अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति । ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके ॥ ५ ॥

अर्थ – [यह उषा] भ्रातृहीना कन्या के समान (पुंसः) अपने पिता पितामह को (एति) [विवाह होने पर भी] प्राप्त होती है=आती है, (प्रतीची) लौट कर=मुंह फेर कर । (गर्तारुक् इव) गर्त पर चढ़ने

१. याज्ञवल्क्य स्मृति पर विश्वरूपाचार्य कृता बालक्रीडा टीका, पृ० ६१ के अनुसार भाल्लविश्रुति ।

वाली के समान (सनये) प्राप्ति के लिए धनों की। (जायेव पत्ये) पत्नी जैसे पति के लिए, कामना करती हुई, सुन्दर वसनों वाली, उषा, (हस्रा इव) हंसने वाली स्त्री के समान (नि रिणीते) खोल देती है (अप्सः) रूपों को।

भ्रातृहीना कन्या के समान, पुंस:=पितृन् पिता, पितामह की ओर अभिमुखी=मुख की हुई (एति) प्राप्त होती है, सन्तान के कर्तव्यकर्म के लिए अर्थात् पिण्डदान के लिए, नहीं पति [कुल] की ओर [प्राप्त होती]। गर्त पर चढ़ने वाली के समान धनलाभ के लिए, (दाक्षिणाजी) दाक्षिणात्य स्त्री। गर्तः सभा का स्थाणु=खम्भा, [धर्माधिकारी के बैठने का स्थान]। गृणाति [शब्द करना है सत्य का] से। सत्यसगर=प्रतिज्ञा वाला होता है। उस [गर्त] पर वहां जो अपुत्रा [अथवा] जो पति-हीना स्त्री [होती है] वह चढ़ती है। उस [स्त्री] को वहां अक्षों से ताडते हैं। [तब] वह स्त्री (रिक्थम्) पति से आए दाय रूपी धन को प्राप्त करती है। श्मशान का (सञ्चय) मट्टी का ढेर=चत्वर=चौतरा भी गर्त कहाता है। गुरते से=सज्जित होता है [विनाश के लिए।] (अपगूर्यः) [लोग इस से] अप=परे रहते है [अथवा यह] अपशब्दों वाला=दुःख के शब्दों वाला अथवा, शापित स्थान होता है। श्म+शान=शरीरों का शानम्=शयनम् =शयन स्थान। श्म=शरीरम्। शरीर शृणाति से। शम्नाति से अथवा। श्म+श्रु=लोम (=दाढ़ी मूंछ), श्मनि=शरीर मे आश्रित होता है। लोम लुनाति=छेदनकर्म से अथवा। लीयति से अथवा। [गर्त के श्मशान अर्थ मे अगला निगम है]—

नहीं [यूप के] (उपरस्य) तरखान से बिना छीले भाग को, जो सब से नीचे होता है, (आविष्कुर्यात्) नंगा रखे, जो ऊपर को=इस सब से नीचे के भाग को नंगा रखे, गर्त मे ठहरा हुआ होवे, मारे हुए आयु वाला-मृत्यु के समीप गया यजमान [हो जाता है।] यह भी निगम होता है।

रथ भी गर्त कहाता है। गृणाति मे स्तुति अर्थ वाले से। सब मे अधिक स्तुति वाला यान। (आ रोहथः) चढो, हे मित्र और वरुण (गर्तम्)= रथ को। यह भी निगम होता है।

पत्नी जैसे पति के लिए, कामना करती हुई, सुन्दर वसनों वाली ऋतु कालों मे, [वैसे ही] उषा हंसती हुई के समान दान्तों को (विवृणुते) खोल-देती है रूपों को । [१. भ्रातृहीना के समान, २. सभास्थाणु पर चढ़ने वाली के समान, ३. स्त्री के समान, ४. हंसती हुई के समान] ये चार उपमाएं है ।

नहीं अभ्रातृमती को (उपयच्छेत्) विवाहे । (तोकम्) पुत्र [उस कन्या के विवाह के अनन्तर उत्पन्न] निश्चय से (अस्य) उस कन्या के पिता का वह होता है । यह (अभ्रातृकायाः) भ्रातृहीना के (उपयमन—) विवाह का प्रतिषेध है । [तथा] प्रत्यक्ष है पिता का पुत्रभाव ।

[अब आगे चतुर्थ खण्ड की ऋक् के उत्तरार्ध का अर्थ है] पिता जहां दुहिता के, (अप्रत्तायाः) न दी हुई के, (रेतःसेकम्) वीर्य-सिञ्चन करने वाले [पति, अथवा अपने जामाता] को (प्रार्जयति) प्राप्त अथवा ग्रहण करता है, तो (सन्दधाति) जोड़ता है अपने आप को सुखी मन से ।

अब (एताम्) इस [अगली ऋक्] को (जाम्या) भगिनी के (रिक्थ-प्रतिषेधे) दाय के प्रतिषेध के उदाहरण रूप में रखते है [कई एक धर्म-शास्त्रकार, और] (ज्येष्ठम्) बडे भाग को पुत्रिका के [देने के निषेध मे] ऐसा कई एक [आचार्य] ॥ ५ ॥

भाष्य—अब मन्त्र में उषा की उपमा भ्रातृहीना कन्या से दी गई है । उषा की रश्मियां हैं । ये पहले द्युः से पृथिवी पर आती हैं, पर आदित्य के उदय होने पर अपने मूल स्थान को लौट जाती हैं । यह भी एक विचित्र माया है । इस लौटने को उषा का लौटना कहते हैं । उसी प्रकार भ्रातृहीना कन्या अपने विवाह के हो जाने पर भी अपने पितृकुल को लौटती है । मन्त्र में अर्थापत्ति से यह भी उपदेश है कि विवाह के अनन्तर स्त्री अपने पितृकुल में न आए । यह सभ्यता की पराकाष्ठा है । उस समय गृहस्थ जीवन अत्यन्त सुख और शान्ति का जीवन था । निश्चित है कि जिस प्रकार आज के पतित काल में अधिकांश नवोढा स्त्रियों को अपने पतिगृह में वर्णनातीत कष्ट मिल रहे हैं, वैसे पुरा काल में नहीं थे । तभी तो कोई स्त्री अपने पितृकुल की ओर मुख नहीं मोड़ती थी ।

गर्तारुक्—गर्त=सभास्थाणु—वेद के उपदेश के अनुसार बहुत पुराने काल में धर्मसभाओं में स्थाणु बने होते थे । यास्क के काल में यह स्थाणु-प्रथा

दाक्षिणात्य देशों में रह गई थी। उस पर खड़ा होने के पश्चात् कोई पुरुष वा स्त्री असत्य नहीं कहती थी। इस लिए उसे सत्यसगर कहते थे। उत्तर भारत के पार्वत्य देशों की रियासतों में आज से ५० वर्ष पहले भी राजगद्दी पर हाथ रख कर कोई दोषी असत्य नहीं बोलता था। धर्मस्थान=कचहरी में जा कर अनृत भाषण करने की प्रथा अंग्रेजी राज्य की देन है।

श्मश्रु, पञ्जाबी और हिन्दी में मुच्छ और मूंछ। अंग्रेजी का moustache रूप भी इसी संस्कृत शब्द का अपभ्रंश है। ग्रीक=यावनी में mustax=mustache का रूप है। गर्त पद के विभिन्न अर्थ—१ सभा स्थाणु २ रथ ३ श्मशान सञ्चय ४ गड्ढा है। दूसरे और चौथे अर्थ वाले पञ्जाबी में इस शब्द के अपभ्रंश रूप गड्डा, गड्डी तथा गड्ढा है। प्राचीन काल में रथ सर्वश्रेष्ठ यान था। पर ये रथ दिव्य भी हुआ करते थे। उपरहय, इस निगमस्थ पद में वर्तमान शैली के अनुसार द्वितीया विभक्ति चाहिए। परन्तु यह षष्ठी का प्रयोग अति प्राचीन शैली के अनुकूल है। यह निगम थोड़े से पाठभेद के साथ मै० संहिता १ । ६ । ७ में है।

अन्तरिक्ष में मित्र और वरुण का रथ है। उस के अश्व हैं। उस रथ पर चढ़ कर ये दोनों देव दिव्य पथों को पार करते हैं। इस विषय का वेद में विस्तार है। भाल्लवि नामक सामवेद की शाखा थी। भाल्लवि का मत है कि विचारवान् वर भ्रातृहीना कन्या से विवाह न करे। भ्रातृहीना कन्याएं विवाही जाती थीं, पर उन पर कोई न धन की शर्तें लगानी होंगी। उषा की चारों अवस्थाएं अत्यन्त शोभा है॥ ५॥

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥
[ऋ० ३ । ३१ । २॥]

न जामये भगिन्यै। जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम्। जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति। तान्वः आत्मजः पुत्रः। रिक्थं प्रारिचत् प्रादात्। चकारैनां गर्भनिधानीम्। सनितुर्हस्तग्राहस्य। यदी मातरोऽजनयन्त। वह्निं पुत्रम्। अवह्निं च स्त्रियम्। अन्यतरः सन्तानकर्ता भवति पुमान् दायादः। अन्यतरोऽर्धयित्वा जामिः प्रदीयते परस्मै॥ ६॥

अर्थ—नहीं, भगिनी के लिए (तान्वः) औरस पुत्र अर्थात् उस भगिनी का भ्राता (रिक्थम्) दाय धन को (आरैक्) देता, छोड़ता। [उस भाई ने] किया, बना दिया (गर्भम्) बहन के गर्भ को [होने वाली सन्तान द्वारा] (सनितुः) उस के हाथ पकड़ने वाले, उस के पति का (निधानम्) निधि स्थान। जो (मातरः) माताओं ने (जनयन्त= अजनयन्त) उत्पन्न किया (वह्निम्) पुत्र को, [और कन्या को तो] (अन्यः) उन पुत्र और कन्या में से एक (कर्ता) सन्तानकर्ता [होता है] (सुकृतोः=सुकृतयोः) उन दोनों भले प्रकार उत्पन्न किए गयों में से। [और] दूसरा (ऋन्धन्) पाला पोसा जाता है, अर्थात् कन्या केवल पाली पोसी जाती है।

नहीं जामये=भगिनी के लिए। जामिः, दूसरे इस में उत्पन्न करते हैं, जाम् अर्थात् अपत्य को। जमति से अथवा होने, गत्यर्थ वाले से। (निर्गमनप्राया) बाहर जाने वाली, अर्थात् दूसरे घर में जाने वाली होती है। (तान्वः) अपने से उत्पन्न अर्थात् औरस पुत्र। [उसने] (रिक्थम्) दाय धन को (न, प्र+अरिचत्) न दिया। बनाया इस भगिनी को पालन-पोषण द्वारा (गर्भनिधानीम्) गर्भधारण करने में समर्था को। [किस के लिए गर्भधारण करने वाली को पालन द्वारा बनाता है] (सनितुः) हस्तग्रहण करने वाले पति के लिए। (यदि ह) यद्यपि माताओं ने उत्पन्न किया वह्निम्=पुत्र को, (अवह्निम् च) और स्त्री को। उन दोनों में से एक ही सन्तानकर्ता अर्थात् वंश चलाने वाला होता है, पुमान् दाय को लेने वाला [है] और दूसरा (अर्द्धयित्वा) पालन पोषण करके (जामिः) भगिनी बहुत अच्छे प्रकार से दी जाती है, पराए [कुल को वर्धन करने] के लिए॥ ६॥

भाष्य—जामि के अनेक अर्थ हैं। यहां भगिनी अर्थ है। जाः निघण्टु २। २ में अपत्य नामों में पढ़ा गया है। अतः जाम् का अर्थ अपत्यम् है। तान्वः, अर्थात् अपने तनू=शरीर से, अतः आत्मजः पुत्रः। वह्निः=वोढा=पति, निरुक्त ३। ४॥ यहां पर वह्निः=पुत्रः। वैदिक शब्द यौगिक अथवा योगरूढ हैं, उस का यह उज्ज्वल उदाहरण है। यास्क लिखता है, जामिः प्रदीयते परस्मै। यहां दीयते न लिख कर प्रदीयते लिखा है। इस का अभिप्राय है कि कन्या को वसनों, आभूषणों और विद्या से युक्त कर के विवाह में देते हैं। यही भाव

मनुस्मृति ७१ । ५२ में है—कन्यानां सम्प्रदानं च । यहां सम्प्रदान में सम्+प्र इन दोनों उपसर्गों से वही भाव निकलता है जो प्रदीयते में है । दाय के विभाग का यह श्रेष्ठतम प्रकार है। प्रदीयते में जो धन कन्या को दिया जाता है वह स्त्रीधन होता है । उस धन पर पति सास और श्वसुर का अणुमात्र अधिकार नहीं होता । इस प्रथा के टूटने से वर्तमान में लाखों घर दुःखी हो रहे हैं।

अपत्य नामों में एक नाम सूनु [निघण्टु २ । २] है । इसका अंग्रेजी में अपभ्रंश son पुरानी अंग्रेजी में sunu, और जर्मन में sohn है ॥ ६ ॥

मनुष्यनामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः । मनुष्याः कस्मात् । मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति । मनस्यमानेन सृष्टाः । मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे । मनोरपत्यम् । मनुषो वा । तत्र पञ्चजना इत्येतस्य निगमा भवन्ति ॥७॥

अर्थ—मनुष्यों के नाम [हैं] अगले पच्चीस । [सारे बहुवचन में हैं ।] मनुष्य किस से । (मत्वा) जान कर=विचार कर कर्मों को (सीव्यन्ति=सम्बद्ध करते) विस्तार करते हैं । अथवा सीने से । [दो धातुओं से यह निर्वचन है ।] मनस्यमान=विचार करने वाले [प्रजापति] ने उत्पन्न किए हैं । मनस्यति फिर [यह धातु] मनस्वीभाव=प्रसन्न मन में [है । मनःप्रधान होने से ।] मनु का अपत्य । मनुष् का [अपत्य] अथवा । (तत्र) इन पच्चीस नामों में पञ्चजना इस नाम के निगम [सन्दिग्ध] हैं ॥ ७ ॥

भाष्य—प्रजापति कौन है ? महद् अण्ड अथवा हिरण्यगर्भ=पुरुष अथवा प्रजापति । अनेक आचार्य इस हिरण्यगर्भ में एक अभिमानी देव चेतनरूप मानते हैं । दूसरे इसे ईश्वराधिष्ठित सत्ता कहते हैं । सारी सृष्टि प्रजापति की रचना है । प्रजापति में विचार और प्रसन्नता है । उसी विचार के फलस्वरूप सारी रचना में क्रमविशेष है । यह रचना अकस्मात् भूतमात्र से नहीं हुई । वर्तमान विज्ञान मत में इस विचारसत्ता का अभाव है । अतः उन के स्वीकृत उत्पत्तिक्रम में पद पदे सन्देह रहते हैं । उस मनस्यमान=विचारशील और प्रसन्नमना प्रजापति ने ही मनुष्य को रचा है । इस विषय में तै० सं० २ । ३ । ८ और मै० सं० ४ । २ । १ में प्रवचन है कि—उस प्रजापति ने पितर उत्पन्न किए, तदनु देव उत्पन्न किए तदनु मनुष्य उत्पन्न किए । प्रजापति ने विचार करते हुए से मनुष्य

रचे, अतः मनुष्य मनस्वी होते हैं। इति। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग की रचना किन नियमों के अनुसार हुई है, इस का ज्ञान वैदिक ग्रन्थों में है। श० ब्रा० २।५।१।१ के अनुसार मनुष्य प्रजापति के अनुरूप है। यथा—पुरुषो [=मनुष्यो] वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्। इसीलिए बाइबिल, उत्पत्ति प्रकरण में लिखा है—And God created man after his own image. यहूदियों का ईश्वर प्रजापति अथवा रुद्र ही है। इस से आगे उन का ज्ञान नहीं है।

मनुष्य मनु का अपत्य है। यह मनु एक देव है। निरुक्त १।५ में इस का वर्णन वायु और २७ गन्धर्वों के साथ अश्व विनियोजन में मन्त्र द्वारा प्रदर्शित है। शतपथ ब्रा० ६।६।१।१६ के अनुसार प्रजापति भी मनु है। पर इस मनु देव का पूरा ज्ञान अभी हमें नहीं है। उसी मनु के अनुकरण पर भूमिस्थ विवस्वान् के एक पुत्र का नाम भी मनु हुआ। और मनु के सन्तान में ही मनुष्य हुए। मनुष्यनामों में नहुषः, तुर्वशाः, द्रुह्यवः, आयवः, यदवः, अनवः और पूरवः नाम भी पढ़े गए हैं। इतिहास में नहुष, तुर्वसु, द्रुह्यु, आयु, यदु, अनु और पुरु नाम पुरुष-विशेषों के हैं। उन्हों ने वेद से लेकर ये नाम रखे हैं। वेद में इन का अर्थ सामान्य मनुष्य और अन्तरिक्षस्थ नर आदि है। अब पञ्चजन का विवेचन यास्क ने प्रस्तुत किया है ॥ ७ ॥

तद॒द्य वा॒चः प्र॑थ॒मं म॑सीय॒ येनासु॑राँ अ॒भि दे॒वा असा॑म।
ऊर्जा॑द उ॒त य॑ज्ञियास॒ः पञ्च॑जना॒ मम॑ हो॒त्रं जु॑षध्वम् ॥
[ऋ० १०।५३।४ ॥]

तदद्य वाचः परमं मंसीय येनासुरानभिभवेम देवाः। असुरा असुरताः स्थानेषु। अस्ताः स्थानेभ्य इति वा। अपि वा सुरिति प्राणनाम। अस्तः शरीरे भवति। तेन तद्वन्तः। सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम्। असोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम्। इति विज्ञायते। ऊर्जाद उत यज्ञियासः। अन्नादाश्च यज्ञियाश्च। ऊर्गित्यन्ननाम। ऊर्जयतीति सतः। पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा। पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्। गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मात्। निषदनो भवति। निषण्णमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः।

अर्थ—इस का ऋषि सुचीक का पुत्र अग्नि है। उस का विश्वे देवा के साथ संवाद है। यह होता का जप है।

तो आज वाणी के (प्रथमम्) मुख्य [वन] को (मंसीय) मानता हूँ, जिस से असुरों को हे देवा [हम] (अभि असाम) दबा लें, अर्थात् उन पर विजयी हों। हे अन्न खाने वाले, और यज्ञ संपादन करने वाले [देवो तथा] हे पञ्चजना मेरे होत्र को (जुषध्वम्) सेवो।

तो आज वाक् के उत्कृष्टतम [वन को] मानता हूँ जिस के द्वारा असुरों को [हम] (अभिभवेम) पराजित करें, हे देवो। असुरा= अ+सु+रा=अ+सु+रता, नहीं अच्छे प्रकार रत=ठहरे हुए। (स्थानेषु) सब स्थानों में। क्षिप्त (अस्ता =क्षिप्ता) निकाले गए सब स्थानों से अथवा। अथवा असु यह प्राण का नाम है। ऐसा हुआ शरीर में होता है। इस से उस प्राण वाले [असुरा।]

सो =उत्तम [सामग्री] [अथवा स्वशरीर के उत्तम भाग] से देवों को (असृजत) उत्पन्न किया [प्रजापति ने], वही सुरों का सुरपन [है]। असो =नहीं उत्तम [सामग्री] [शरीर के अधो भाग] से असुरों को उत्पन्न किया वही असुरों का असुरपन है, यह विज्ञान जाना जाता है [ब्राह्मण ग्रन्थ में]। (ऊर्ज्+आद) हे अन्न के खाने वालो और यज्ञ के संपादन करने वालो। ऊर्ज यह अन्न का नाम [है।] बलिष्ठ करता है पका होने से। पूर्ण (पक्वम्) पका हुआ (सु+प्र+वृक्णम्) सरलता से अच्छे प्रकार काटा जाता है अथवा। हे पञ्चजना मेरे होत्र=होम को सेवो। १ गन्धर्व, २ पितर, ३ देव ४ असुर [और] ५ राक्षस [ये पञ्चजन हैं] ऐसा कई एक [आचार्य मानते हैं।] चारों वर्ण और पांचवें निषाद [=मत्स्यग्राही वा आखेट पर जीवन बिताने वाला] ऐसा औपमन्यव [मानता है।] निषाद किस में, बैठ जाने वाला होता है [अथवा बैठ कर ग्रह करता है।] बहुत ठहरता है इसमें पाप यह नैरुक्त [मानते हैं।]

भाष्य—सूक्त में यह अग्नि देवों में से एक है। उसी के नाम पर ऋषि का भी सौचीक अग्नि नाम हुआ। सूक्त अग्नि देव कहता है—[वयम्] अभि+असाम, हम विजयी हों। वाच प्रथमम्, वाक का उत्कृष्टतम बल अत्यधिक

है। यही वाक् छन्दों के रूप में तीनों लोकों में व्याप्त हो जाती है। उस से देव असुरों को दबा सके। ऊक्=देवों का अन्न।[1] यह उन्हें बल देता है। इस में आग्नेय और आप्य परमाणुओं का योग है। देवों के यज्ञ अन्तरिक्ष में सदा से हो रहे हैं। इन यज्ञों के कारण देव यज्ञियासः कहाते हैं। अब प्रश्न इन पञ्चजनों का है। आधिभौतिक अथवा आधिदैविक पक्ष में ये गन्धर्व आदि हैं। पर असुर और राक्षस दोनों भिन्न-भिन्न हैं। औपमन्यव का पक्ष पार्थिव यज्ञपरक है। अतः उसने चारों वर्णों और निषादों की गणना की है। पार्थिव पक्ष में देवों से तात्पर्य विद्वानों का होगा। ये सब होत्र का सेवन करें।

असुरा असुरता: के अगले पाठ में डा० लक्ष्मणसरूप के संस्करण में सन्धिच्छेद अशुद्ध है। वेद के पञ्च पद पर नवीन-भाषा-मत प्रवर्तक ईसाई-यहूदी लेखकों ने अनर्गल बहुत कुछ लिखा है। उस से उन्होंने एक तालव्य नियम (=palatal law) की कल्पना की है। इस नियम से उन्होंने सिद्ध करने का यत्न किया है, कि वेद से पूर्व एक भारोपीय भाषा थी। उन के इस सारे प्रपञ्च का खण्डन हम ने अपने भाषा का इतिहास में किया है। इन ईसाई-यहूदी लेखकों अथवा इन के उच्छिष्टभोजियों ने हमारे खण्डन का कोई उत्तर नहीं दिया।

यत्पाञ्चजन्यया विशा ॥ [ऋ० ८ । ६३ । ७ ॥

पञ्चजनीनया विशा। पञ्चपृक्ता संख्या। स्त्री पुंनपुंसकेष्वविशिष्टा। बाहुनामान्युत्तराणि द्वादश। बाहू कस्मात्। प्रबाधत आभ्यां कर्माणि।

अङ्गुलिनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः। अङ्गुलयः कस्मात्। अग्रगामिन्यो भवन्तीति वा। अग्रगालिन्यो भवन्तीति वा। अग्रकारिण्यो भवन्तीति वा। [अग्रसारिण्यो भवन्तीति वा।] अङ्कना भवन्तीति वा। अञ्चना भवन्तीति वा। अपि वाभ्यञ्चनादेव स्युः। तासामेषा भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—जब पाञ्च जातियों की (विशा) प्रजा ने [इन्द्रे घोषा: असृक्षत] [न वर्षने पर] इन्द्र के घोषाः=स्तुतियां कीं।

---

१. देखो मासिक पत्र वेदवाणी, वाराणसी, वर्ष १३, संवत् २०१७ विक्रमी के वेदाङ्क में हमारा लेख, परम उत्कृष्ट विज्ञान अन्तर्गत "ऊक्" पर विवेचन, पृ० ३३—३४।

पाञ्चजना व मनुष्य जाति प्रजा न । पञ्च (पृक्ता) जुडी हुई संख्या स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्गों म (अविशिष्टा) एक समान रहती है ।

बाहु के नाम [हैं] अगले बारह । बाहू किस से । भले प्रकार (बाधते) बाधा देता है करता है इन नाना से कर्मों को ।

अङ्गुलि के नाम [हैं] अगले बाईस [सारे ब वचन में] । अङ्गुलय किस से । सारे कर्मों में आगे चलने वाली होती हैं अथवा । आगे मन म पूर्व गमन वाली हैं अथवा । आगे करने वाली होती हैं अथवा । आगे (सारिण्य) सरकने वाली होती हैं अथवा । (अङ्कना) अङ्क = चिह्न करने वाली होती है अथवा । (अञ्जना) पहुँचने वाली होती हैं । अथवा (अञ्चनात्) मलन=मर्दन करने से ही हो । उन की यह [अङ्क] है ॥ ८ ॥

भाष्य—पाञ्चजन्यया विशा पर स्कन्द लिखता है—पञ्चजनेषु मनुष्येषु भवया विशा, स्त्रीलिङ्ग निर्देशो जात्यपक्ष मनुष्यजातिरित्यर्थ । अर्थात् विशा पद के स्त्रीलिङ्ग निर्देश से जाति का और तदनुसार मनुष्य जाति का बोध होता है । पञ्च पद सब लिङ्गवाची शब्दों के साथ समान रूप म जुड़ता है पर यहां स्त्री लिङ्ग निर्देशक विशा पद के कारण प्रजा अर्थ का बोधक होकर मनुष्य जाति का भाव देता है

निपाद पद से कई एक आचार्य सौधन्वना पद वाचक ऋभुओं का ग्रहण करते हैं । ऋग्वेद १ । ११० । ४ में भी ऐसा वर्णन है—सौधन्वना ऋभवः । उन म रथकार भी होते हैं । उन का वर्णों से सम्बन्ध है । ऋभु अर्थ मानने वाले आधिदैविक अर्थ लगा । वे चार वर्णों वाला अर्थ नहीं करते होंगे । निपाद के इस अर्थ का संकेत दुर्ग और स्कन्द ने किया है । निरुक्त ११ । १२ के अनुसार ऋभु मध्यस्थानी देवगण हैं । ये रथकार ऋभु ही हैं जो सूर्य आदि के रथ निर्माता परमाणुओं का तक्षण करते हैं ।

आगे बाहु नाम और तदनु अङ्गुलि नाम हैं । अङ्गुलि नाम के सात निर्वचन उन के कर्मों की भिन्नता से दर्शाए गए हैं । अग्रसारिण्य निर्वचन लघुपाठ में नहीं है । निर्वचनों में यास्क की दृष्टि अति सूक्ष्म थी । इन में अग्रुवः अवनय आदि नाम नदी नामों में भी पढ़े गए हैं । उन का भेद बताने के लिए अगली ऋक है ॥ ८ ॥

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः ।
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः ॥

[ऋ० १० । ९४ । ७ ॥]

अवनयोऽङ्गुलयो भवन्ति । अवन्ति कर्माणि । कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि । योक्त्राणि योजनानीति व्याख्यातम् । अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि । दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः । धूर्धूर्वतेर्वधकर्मणः । इयमपीतरा धूरेतस्मादेव । विहन्ति वहम् । धारयतेर्वा ।

कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश ।

अन्ननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः । अन्नं कस्मात् । आनतं भूतेभ्यः । अत्तेर्वा ।

अत्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश ।

बलनामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः । बलं कस्मात् । बलं भरं भवति । बिभर्तेः ।

धननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेव । धनं कस्मात् । धिनोतीति सतः ।

गोनामान्युत्तराणि नव ।

क्रुध्यतिकर्माण उत्तरे धातवो दश ।

अर्थ—दस (अवनिभ्यः) रक्षा करने वाली अङ्गुलियों वाले, दस (कक्ष्येभ्यः) कर्म-प्रकाश करने वाली अङ्गुलियों वाले, दस (योक्त्रेभ्यः) योक्त्र रूपी अङ्गुलियों वाले, दस (योजनेभ्यः) जोड़ने वाली अङ्गुलियों वाले, दस (अभीशुभ्यः) रास रूपी अङ्गुलियों वाले (अजरेभ्यः) जीर्ण न होने वाले, दस धुरों से दस स्थानों पर (युक्ताः) जुड़े हुए (वहद्भ्यः) वहन करने वाले अथवा उठा कर ले जाने वाले । [सोम के ग्रावों के लिए, हे ऋत्विजो] (अर्चत) स्तुति करो ।

अवनयः अङ्गुलियां होती हैं । रक्षा करती हैं कर्मों की । कक्ष्याः [अङ्गुलियां हैं] प्रकाशित करती हैं कर्मों को । योक्त्राणि [यह नाम] योजनानि [नाम से] व्याख्यात हुआ है । [दोनों जोड़ने अर्थ वाले नाम

है]। अभीशव [अङ्गुलियां है ।] (अभि अश्नुवते) व्यापती हैं कर्मों को। दस धुरे, दस [स्थानों पर] जुडे हुओं को उठा कर ले जाने वालों के लिए। धू धूर्वति से, वध अर्थ वाले से। यह भी दूसरी धू इसी [धूर्वे] में ही [है।] (रि हन्ति) विशेष मारती रहती है (वहम्) उठाने वाले [घोड़े वा बैल के बच्चे को]। धारयति से अथवा।

(कान्ति) इच्छा अर्थवाले [हैं] अगले धातु अठारह।

अन्न के नाम [हैं] अगले अठाईस। अन्न किस से। (आनतम्) सब ओर से झुका होता है प्राणियों के लिए। अत्ति-[खाता है] से अथवा।

(अत्ति) खाने अर्थ वाले [हैं] अगले धातु दस।

बल के नाम [हैं] अगले अठाईस। बल किस से। बल धारण और पोषण करने वाला होता है। बिभर्ति से।

धन के नाम [हैं] अगले अठाईस ही। धन किस से। धिनोति=तृप्त करता है, ऐसा होने से।

गौ के नाम [हैं] अगले नौ।

क्रुध्यति=क्रोध करता है, अर्थ वाले हैं, अगले धातु दस।

भाष्य—अङ्गुलियों के वेद के एक ही मन्त्र में इतने नाम हैं। सोम के ग्राव मध्यमस्थानी हैं। उन ग्रावों की कौन सी अङ्गुलियां रक्षा करती हैं, इत्यादि सारी गाथा समझने योग्य है। उन्हीं ग्रावों के अनुकरण पर इस पृथिवी पर के यज्ञों में सोम को ग्रावों से पीसते हैं।

वशिम और वष्टि ये दोनों धातु इच्छा अर्थ वाले धातुओं में हैं। इन्हीं से अंग्रेजी का अपभ्रंश wish बना है।

अन्नं कस्मात् आनतं भूतेभ्य, पर सिद्धेश्वर वर्मा ने लिखा है—

The second and by far the most important characteristic of Yaska, which, I think, these pages mainly show, is the fact that he was a primitive etymologist. It must be admitted that many of Yaska's etymologies are so glaringly primitive that

even an ordinary Pandit trained in the Pāninian school will easily detect them as such. e. g. Yāska derives अन्न—'food' from आ+√नम (आनतं भूतेभ्यः). (The Etymologies of Yāska, p. 4.)

अर्थात—यास्क एक बालिश व्युत्पत्तिवेत्ता था। यास्ककृत अनेक व्युत्पत्तियां नग्न रूप में इतना बालिश रूप लिए हैं, कि पाणिनीय व्याकरण जानने वाला एक साधारण पण्डित भी उन्हें सरलता से पहचान लेगा। यथा—अन्नम् की आ+√नम से व्युत्पत्ति।

अब तनिक गम्भीरता से सोचना चाहिए कि सिद्धेश्वर वर्मा ने ऐसा क्यों लिखा। वर्मा शास्त्री-परीक्षा उत्तीर्ण है। क्या वह यह नहीं पढ़ा था कि व्युत्पत्ति और निर्वचन में महदन्तर है। और निर्वचन विद्या का सर्वथा पृथक् स्थान है। हम निस्सङ्कोच कहते हैं कि वर्मा को इस विद्या का न ज्ञान था, न है। वर्मा क्या, वर्मा के ईसाई-यहूदी गुरुओं, भाषाविद्गुओं को भी इस विद्या का ज्ञान नहीं है। जैसे चोर और डाकू अपने गुट में बैठ कर अपने को शूर-वीर कहते हैं, वैसे ही ईसाई गुट के लोग भी अपने को भाषाविद् (linguists) आदि कहते हैं। अरे वर्मा, अरे यास्क पर बालिशपन का लाञ्छन लगाने वाले, अरे ईसाइयों के उच्छिष्टभोजी, अरे अपभ्रंशों की तुलना से उन की मूल संस्कृतभाषा का एक सर्वथा असत्य रूप खड़ा करने वाले वैज्ञानिकाभास, अन्न संज्ञा तो पक कर स्विन्न (=नरम) होने पर ही होती है, और वही भूतों=प्राणियों के लिए आनत= झुका हुआ अर्थात् भक्षण योग्य होता है। वह स्विन्नता चाहे पाकाग्नि से पक कर उत्पन्न हो, चाहे सूर्याग्नि अथवा अन्य किसी प्रकार की उष्णता से सिद्ध हो। जब तक तण्डुल आदि धान्यों में तथा आम्र आदि फलों में उक्त स्विन्नता उत्पन्न नहीं होती तब तक वे भक्षण योग्य नहीं होते। इसीलिए वे भूतों=प्राणियों के प्रति आनत भी नहीं होते। अतएव कोशकारों ने सस्य, धान्य और अन्न की परिभाषा करते हुए स्पष्ट लिखा है—

> सस्यं[1] क्षेत्रगतं प्राहुः सतुषं धान्यमुच्यते।
> आमं वितुषमित्युक्तं स्विन्नमन्नमुदाहृतम्॥[2]

---

१. 'शस्यं' पाठान्तर।

२. शब्दकल्पद्रुमकोशकार द्वारा उद्धृत श्राद्धतत्त्वधृत वसिष्ठवचन।

अर्थात्—जब तक गोधूमादि क्षेत्र में रहते हैं तब तब वे सस्य (शस्य), जब तक तुष सहित रहते हैं धान्य, तुषरहित होने पर श्याम और स्विन्न अर्थात् पक कर नरम हो जाने पर अन्न कहाते हैं।

इतना ही नहीं, सस्य अथवा फल आदि परिपक्व होने पर भार के कारण पूर्वापेक्षया न्यूनाधिक रूप से आनत=झुक भी जाते हैं।

अन्न के इन्हीं अर्थों की सूक्ष्मता को यास्क ने व्युत्पत्ति द्वारा नहीं, अपितु निर्वचन द्वारा समझाया है। उस की सूक्ष्मता को न समझना तुम्हारे अपने बालिश पन का ज्वलन्त प्रमाण है। तुम्हें वृथा कागज काला नहीं करना चाहिए।

इन नामों में पितु भी एक नाम है। उस का अंग्रेजी अपभ्रंश food है। पुरानी अंग्रेजी में foda है।

अन्न ही धारण और पोषण करता है। निर्बल अपनी रक्षा नहीं कर सकता।

गौ के नामों में से उष्णा पद अधिकांश में गो रूपी किरणों का द्योतक है। मही अदिति और इला पृथिवी के नामों में भी हैं। जगती और शक्वरी छन्द हैं, पर अन्तरिक्ष में गौ के कई कर्म करते हैं अतः गो नामों में पढ़े गए हैं। गौ का अपभ्रंश अंग्रेजी का cow रूप है। पुरानी अंग्रेजी में cu और ग्रीक में bous रूप है।

क्रोधनामान्युत्तराण्येकादश।

गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशशतम्।

क्षिप्रनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। क्षिप्र कस्मात्। संक्षिप्तो विकर्षः।

अन्तिकनामान्युत्तराण्येकादश। अन्तिक कस्मात्। आनीत भवति।

संग्रामनामान्युत्तराणि षट्चत्वारिंशत्। संग्राम कस्मात्। सङ्गमनाद्वा। सङ्गरणाद्वा। सङ्गतौ ग्रामाविति वा। तत्र खल इत्येतस्य निगमा भवन्ति॥ ६॥

गति अर्थ वाले [हैं] अगले धातु एक सौ बाईस । क्षिप्र=आशु अथवा शीघ्र के नाम [हैं] अगले छब्बीस । क्षिप्र किस से । (संक्षिप्तः) छोटा किया जाता है, (विकर्षः) खिंचा हुआ ।

अन्तिक=समीप के नाम [हैं] अगले ग्यारह । अन्तिक किस से । (आनीतम्) [समीप] लाया हुआ होता है ।

संग्राम के नाम [हैं] अगले छयालीस । संग्राम किस से । (संगमनात्) एक साथ हो जाने से, भिड़ने से अथवा । (संगरणात्) एक साथ शब्द करने से अथवा । (संगतौ) एक साथ होते है (ग्रामौ) दो समूह=दल अथवा । इन [छयालीस नामों में एक नाम] खले है । इस के निगम होते हैं । [इस खले का गेहूँ के खलिहान वाचक से सन्देह नहीं होना चाहिए] ॥ ९ ॥

भाष्य—गति का अपभ्रंश अंग्रेजी में gait है । निघण्टु २ । १५ के क्षिप्र नामों में शु और आशु में वैसा ही अन्तर है, जैसा त्मन् और आत्मन्, अथवा उप-नयन और उप-नायन में है । शतपथ ब्राह्मण १२ । ३ । २ । ८ के अनुसार मुहूर्त, क्षिप्र, एतर्हि और इदानि आदि काल के अवान्तर विभाग हैं । मुहूर्त से १५ गुणा सूक्ष्म काल क्षिप्र होता है ॥ ९ ॥

अ॒भी॒३॒द॑मेक॒मेको॑ अस्मि नि॒ष्षाळ॒भी द्वा किमु॒ त्रयः॑ करन्ति ।
खले॒ न प॒र्षान्प्रति॑ हन्मि॒ भूरि॒ किं मा॑ निन्दन्ति॒ शत्र॑वोऽनि॒न्द्राः ॥
[ऋ० १० । ४८ । ७ ॥]

अभिभवामीदमेकमेकः । अस्मि निष्षहमाणः सपत्नान् । अभिभवामि द्वौ । किं मा त्रयः कुर्वन्ति । एक इता संख्या । द्वौ द्रुततरा संख्या । त्रयस्तीर्णतमा संख्या । चत्वारश्चलिततमा संख्या । अष्टावश्नोतेः । नव न वननीया । नावाप्ता वा । दश दस्ता । दृष्टार्था वा । विंशतिर्द्विर्दशतः । शतं दशदशतः । सहस्रं सहस्वत् । अयुतं नियुतं प्रयुतं तत्तदभ्यस्तम् । अर्बुदो[1] मेघो भवति । अरणमम्बु । तद्दः । [अम्बुदः] अम्बुमद्भातीति वा । अम्बुमद्भवतीति वा । स यथा

---

१. पाठान्तर—अम्बुदो ।

महान्बहुर्भवति वर्षन्नम्बुदम्। खले न पर्षान्प्रतिहन्मि भूरि। खल इव पर्षान्प्रति हन्मि भूरि। खल इति संग्रामनाम। खलतेर्वा स्खलतेर्वा। अयमपीतरः खल एतस्मादेव। समास्कन्धो भवति। किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः। य इन्द्रं न विविदुः। इन्द्रो ह्यहमस्मि। अनिन्द्रा इतरे इति वा।

अर्थ—[इन्द्र अपना सामर्थ्य कहता है—] (इदम्) इस सब को (एकम्) एक-एक को (एकः) अकेला [मैं] (अभि अस्मि) चारों ओर से [व्याप्त] हूं। (निःषाट्) प्रकर्षता से दबाने वाला [हूं] (अभी=अभि) दबाता हूं, दो को। क्या और तीन (करन्ति) कर सकते हैं। (खले न पर्षान्) खलिहान में जैसे धान्य पूलों को [बैल पाओं से रौंदते हैं, वैसे संग्राम में मैं] (पर्षान्) कठोर योद्धाओं को (प्रति हन्मि) पीस डालता हूं (भूरि) अत्यधिक। क्या मुझे निन्दते हैं शत्रु, जो इन्द्र नहीं हैं, अर्थात् ऐश्वर्य से रहित हैं।

(अभि भवामि) चारों ओर से दबा लेता हूं, (इदम्) इस सब को (एकम् एकः) एक को एक [मैं]। हूं, न सहा जा सकने वाला। (सपत्नान्) शत्रुओं को (अभि भवामि) दबा लेता हूं (द्वौ) दो को। क्या मुझे तीन कर सकते हैं। (एकः) एक (इता) [सर्वत्र] पहुँची हुई संख्या। [एक से आगे प्रत्येक संख्या में इस एक का योग है।] (द्वौ) दो (द्रुततरा) अधिक आगे दौड़ी [एक की अपेक्षा] संख्या। (त्रयः) तीन, [दो से आगे] (तीर्णतमा) सब से अधिक तैर कर गई हुई संख्या। (चत्वारः) चार बहुत आगे चली गई संख्या। (अष्टौ) व्यापने से। (नव) नौ, नहीं (वननीया) सकने योग्य। नहीं (अवाप्ता) प्राप्त की हुई अथवा। दश (दस्ता) क्षीण हुई [संख्या] (दृष्टार्था) देखे हुए अर्थ वाली अथवा। विंशति दो वार दश से। शतम्, दश, (दशत.) दश से [गुणन कर के।] सहस्रम्, (सहस्वत्) बलवाला, अयुतं, नियुतं, प्रयुतं, वह वह (अभ्यस्तम्) वार-वार हुआ होता है। अर्बुदः, मेघ होता है। अरणम्=अम्बु=जल। (तद् द) उस को देने वाला अम्बुद=मेघ। [अम्बुद और अर्बुद समान अर्थ वाले निर्वचन से है। (अम्बुमत्) जल वाला [मेघ हो कर] (भाति) भासता है अथवा। जब पूर्ण हो कर मेघ होता है अथवा। वह जैसा महान् [और] (बहुः) बहुत होता है, (वर्षन्)

वरसता हुआ बूंद रूप से, (तत् इव) उस के समान अर्बुदम्=अर्बुद=संख्या है।(खले न) खल=खलिहान में जैसे (पर्वान्) पुआलों को [वैसे संग्राम में शत्रुओं को] (प्रति हन्मि) नष्ट कर देता हूँ (भूरि) वहुतों को। न=इव [अर्थ में है।] खले यह संग्राम का नाम है। खलति=मथन किया जाता है, [इस मथनार्थ से] अथवा। स्खलति=लड़खड़ाना=फिसलना=गिरना से अथवा। यह भी जो दूसरा खल=खलिहान [है,] इस से ही [है।] (समास्कन्नः) मर्दन किए जाने पर [धान्य कणों से युक्त] होता है, क्या मुझे निन्दते हैं शत्रु लोग, जो नहीं हैं इन्द्र। जो [मुझ] इन्द्र के [महत्कर्मों को] नहीं जानते। इन्द्र ही मैं हूं, अनिन्द्र दूसरे अथवा।

भाष्य—एकम् एकः। एक के साथ एक। यह नियम किसी अंश में भारत युद्ध में पालन किया गया था। जब रथी के साथ रथी, पदाति के पदाति, अश्वारोही के साथ अश्वारोही और अश्वों के विरुद्ध अश्वों का युद्ध निश्चित हुआ था। करन्ति=कुर्वन्ति।[1] कभी करन्ति रूप लोक में प्रसिद्ध था। उसी का अपभ्रंश रूप पंजाबी में करता है, है। अभिभवामि के समान कभी अभि अस्मि प्रयोग भी था।

एकः आदि संख्याओं के निर्वचनों के सम्बन्ध में प्रो० उमाशङ्कर शर्मा ने हिन्दी निरुक्त पृ० ८२ पर लिखा है—इन संख्याओं पर यास्क ने व्यर्थ अपनी कल्पना शक्ति का दुरुपयोग किया जिस के कारण वे हास्यास्पद[2] हो जाते हैं इति। राजवाड़े ने भी लिखा है—The derivations of एक etc. are mere freaks. (p. 457) प्रतीत होता है, शर्माजी और राजवाड़े ने यास्क की प्रतिज्ञा पर ध्यान नहीं दिया। इसी लिए उन्होंने इस प्रसङ्ग में ईसाई-यहूदी लेखकों के कुतर्कों का अनुकरण किया है। देखिए यास्क लिखता है—अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यात् निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्। २।१॥ अब विचारिए, कि यास्क ऐसी प्रतिज्ञा क्यों करता है। यास्क अनवच्छिन्न परम्परा से जानता है कि वेद मन्त्र अनादि हैं। मन्त्रों के पद मनुष्य की बुद्धि से कल्पित नहीं किए गए।

---

१. करन्ति अति प्राचीन संस्कृत का रूप है। तुलना करो—तस्माद्धि वैरं न करोन्ति पण्डिताः। गिलगित हस्तलेख, कोशाम्बक वस्तु, पृ० १८४।

२. उपहासास्पद चाहिए। हास्यास्पद प्रयोग ठीक नहीं।

आधुनिक ईसाई यहूदी लेखकों और उन के उच्छिष्ट-भोजियों ने भाषा की उत्पत्ति के जितने भी मार्ग विकासमत के प्रभाव से अनुमानित किए हैं उन के विषय में इटली देश का मेरियो-पाई लिखता है—

If there is one thing on which all linguists are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech is still unsolved[1]

अर्थात्—मानव भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला। ऐसी अवस्था में एकमात्र सत्य बात पर विचार न करना दुराग्रह मात्र है। फलतः यास्क जब भाषा को देवों की देन मानता था, तो वह यह भी जानता था कि शब्द अर्थ और उन के सम्बन्ध सिद्ध=नित्य हैं। इस स्थिति में पुनीत आर्य बुद्धि से उस ने विचारा कि एक द्वौ आदि पदों का स्वाभाविक अर्थ, जो शब्द में सन्निहित है विचारना चाहिए। तदनुकूल उस ने अक्षर और वर्ण की सामान्यता से एक, आदि पदों का निर्वचन किया। एक=इता=सर्वत्र पहुंची संख्या। अथ इ+क=इ=इता=गई हुई अथवा पहुंची। एक ही आगे आगे आ कर सारी संख्या बनाता है। वही सब संख्याओं को प्राप्त होता है। द्वौ=द्रुततर, एक की अपेक्षा शीघ्र आगे दौड़ी संख्या। द की समानता से द्रुत। त्रय=तीर्णतमा। दो की अपेक्षा सब से अधिक तैर कर गई संख्या। द्वौ में तर और त्रय में तम प्रत्यय का कार्य माना गया है। चत्वार बहुत आगे बढ़ी संख्या। पञ्च पद का निर्वचन पूर्व ३। ८ में आ चुका है। षट् का नि० ४। २७ और सप्त का ४। २६ में निर्वचन किया है। आगे अष्टौ और नव के निर्वचन हैं। दश पर संख्या क्षीण हो जाती है। इस लिए यास्क ने इस पद का निर्वचन दस्ता=दसु उपक्षये धातु से दर्शाया। विंशति विंशत्, त्रिंशति-त्रिंशत् आदि दो-दो प्रकार के रूप अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। अंगरेजी के twenty, thirty, forty आदि रूप विंशति आदि के अपभ्रंश हैं। राजवाड़े ने पृ० ४२८ पर सुझाव देने का यत्न किया है कि त्रिंशत् आदि रूप त्रिंशति आदि के उत्तरकालिक रूप हैं। यह सुझाव संस्कृत भाषा के विशाल रूप के न जानने के कारण दिया गया है। अधिक विवेचन के लिए पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत संस्कृत व्याकरण

---

१ इस व ऐसे के लिए तथा इस विषय पर देखो हमारा, भाषा का इतिहास पहला व्याख्यान।

शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४०, द्वितीय सं० देखिए। अर्बुद संख्या का मेघ से सम्बन्ध बताया है। इस के अन्तर्गत जो गम्भीर वैज्ञानिक रहस्य है, वह शतपथ ब्रा० १२ । ३ । २ । ४—८ में अन्वेषणीय है।[1]

व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। तत्र द्वे नाम्नी आक्षाण आश्नुवानः। आपान आप्नुवानः।

वधकर्माण उत्तरे धातवस्त्रयस्त्रिंशत्। तत्र वियात इत्येतद् वियातयत इति वा। वियातयेति वा।

आखण्डल प्र हूयसे ॥ [ऋ० ८ । १७ । १२ ॥]

आखण्डयितः [खण्डं खण्डयतेः।] तळिदित्यन्तिकवधयोः संसृष्टकर्म। ताडयतीति सतः ॥ १० ॥

अर्थ—व्याप्ति अर्थ वाले [हैं] अगले धातु दस। (तत्र) इन दस धातुओं मे दो [स्पष्ट] नाम हैं। (आक्षाणः)=आ+अश्नुवानः=व्याप्त हुआ। (आपानः)=आप्नुवानः=व्यापता हुआ।

वध अर्थ वाले [हैं] अगले धातु तेंतीस। इन में=वहां वियातः यह [नाम है]। वियातयते [नाना प्रकार से शत्रुओं का] नाश=वध करता है। वियातय [इस रूप में] अथवा। नाश कर।

[आखण्डलः भी नाम पद है।] हे आखण्डल=मेघों के खण्ड-खण्ड करने वाले [इन्द्र] (प्र हूयसे) तू बुलाया जा रहा है।

आखण्डयितः=खण्ड-खण्ड करने वाले। खण्डम्, खण्डयति से [है।] तळित्, यह (अन्तिक) समीप और वध के (संसृष्टकर्म) संश्लिष्ट=जुडे हुए अर्थ में [है।] ताड़ना करता है, ऐसा होने से ॥ १० ॥

भाष्य—धातुओं में नामों का परिगणन ध्यान देने योग्य है। इस का प्रयोजन नाम पद से भी धात्वर्थ का परिज्ञान कराना है। मध्यमस्थानी इन्द्र मेघों का खण्ड-खण्ड कैसे करता है, यह विज्ञान जानने योग्य है। संसृष्ट रूप का प्राचीन ग्रन्थकार कौटल्यादि अधिक प्रयोग करते हैं। वर्तमान में संश्लिष्ट रूप अधिक प्रयुक्त हो रहा है।

---

१. वर्ष के ३६० दिन में ५४६७५००० प्राण होते हैं। जितने प्राण उतने अन, उतने निमेष, उतने लोमगर्त, उतने स्वेदायन=लोमकूप, उतने स्तोक वर्षते हैं। मेघ का अपना परिमाण है। उस में अर्बुदमात्र स्तोक हैं।

त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि ।
या नो दूरे तळितो या अरातयोऽभिसन्ति जम्भया ता अनप्नसः ॥
[ऋ० २ । २३ । ६ ॥]

त्वया वयं सुवर्धयित्रा ब्रह्मणस्पते स्पृहणीयानि वसूनि मनुष्येभ्य आददीमहि । याश्च नो दूरे तळितो याश्चान्तिके । अरातयोऽदानकर्माणो वा । अदानप्रज्ञा वा । जम्भय ता अनप्नस । अप्न इति रूपनाम । आप्नोतीति सत ।

विद्युत्तळिद्भवतीति शाकपूणि । सा ह्यवताडयति । दूराच्च दृश्यते । अपि त्विदमन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात् ।

दूरे चित्सन्तळिदिवाति रोचसे ॥ [ऋ० १ । ९४ । ७ ॥]

दूरेऽपि सन्नन्तिक इव सन्दृश्यस इति ।

यज्ञनामान्युत्तराण्येकादश । यज्ञ कस्मात् । यजतीति सत । तत्र कुत्स इत्येतत्कृन्तते । ऋषि कुत्सो भवति । कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यव । अथाप्यस्य वधकर्मैव भवति । तत्सख इन्द्र शुष्णं जघानेति ।

ऐश्वर्यकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वार ।

ईश्वरनामान्युत्तराणि चत्वारि । तत्र इन इत्येतत् सनित ऐश्वर्येणेति वा । सनितमनेनैश्वर्यमिति वा ॥ ११ ॥

अर्थ—तुझ द्वारा=तेरी सहायता द्वारा हम श्रेष्ठ बढाने वाले के द्वारा हे ब्रह्मणस्पते, (स्पार्हा) चाहे जाने योग्य (वसु) धनों को (मनुष्या=मनुष्य+आ) मनुष्येभ्य =मनुष्यों से (आ ददीमहि) ग्रहण करें। जो हमे दूर (तळित) समीप जो (अरातय) न देने वाले शत्रु (अभि सन्ति) [हमे] दबाते हैं, (जम्भय) निश्चेष्ट=नाश करो (ता) उन को (अन्+अप्नस) रूप रहित=बिना रूप वाला [बना कर] ।

तेरे [द्वारा हम, श्रेष्ठ बढाने वाले के द्वारा हे ब्रह्मणस्पते, स्पर्धायोग्य धनों को मनुष्यों से ग्रहण करें—लेवें जो और हमारे से दूर तळित जो और समीप (अरातय=अदानकर्माण) न देने के कर्म वाले । न देने

की प्रज्ञा=मति वाले। (जम्भय) निश्चेष्ट कर=नाश कर, उन (अनप्नसः) रूप रहितों को। अप्नः यह रूप का नाम है। (आप्नोति) व्यापता है, ऐसा होने से।

विद्युत् तळित् होता है, यह शाकपूणि [कहता है।] वह [विद्युत्] ही (अवताडयति) अति ताडती है [आंखों आदि को] दूर से और दिखाई देती है। फिर भी (इदम्) यह समीप का नाम ही अभिप्रेत हो सकता है।

(दूरे चित् सन्) दूर हुआ भी (तळित् इव) समीप के समान [तू] अतीव दीप्ति करता है, अर्थात् (सन्दृश्यसे) सुन्दर दीखता है।

वज्र के नाम [हैं], अगले अठारह। वज्र किस [कारण] से। (वर्जयति) वर्जित करता है, वन्द कर देता है [प्राण मार्ग को], ऐसा होने से। उन [वज्र नामों] में कुत्स, यह पद कृन्तति से [है।] ऋषि कुत्स होता है। कर्ता स्तोमों=स्तुति मन्त्रों का, यह औपमन्यव [कहता है।] यहां [इस ऋषि अर्थ में] भी इस [अन्तरिक्षस्थ ऋषि] का वध कर्म=अर्थ ही होता है। (तत्सखः) उस के साथ, वह सखा है जिस का, उस इन्द्र ने (शुष्णम्) शुष्ण=सुखाने वाले असुर को मारा। यह [प्रमाण] है।

ऐश्वर्य अर्थ वाले [हैं] अगले धातु चार।

ईश्वर के नाम [हैं] अगले चार। उन [नामों] में इनः यह (एतत्) इस प्रकार [है]—(सनितः) सङ्गत है ऐश्वर्य से अथवा [वह परमात्मा]। (सनितम्) सङ्गत किया है ऐश्वर्य को [भक्तों पर जिसने] अथवा ॥ ११ ॥

भाष्य—ब्रह्मणस्पते=ब्रह्मणः+पति=वेद का स्वामी। बृहस्पति के लिए कभी कभी यह पद प्रयुक्त होता है। जम्भय=दुर्ग, निश्चेष्ट करो, स्कन्द, नाश करो। जृम्भक अस्त्र भी निश्चेष्ट करता है। हिन्दी में जम्भाई लेना। मन्त्रगत तळित् के अर्थविषय में शाकपूणि और यास्क का थोड़ा सा अन्तर है।

वज्रनाम, वज्र का ही अर्बी में अपभ्रंश वर्क हुआ है। कुत्स भी वज्र का नाम है। और कुत्स ऋषि भी है। ऋषि कुत्स इन्द्र का सखा है। अनेक मन्त्रों और ब्राह्मण वचनों में कुत्स और इन्द्र का वर्णन है। वेद में इन्द्र मध्यस्थानी है, अतः कुत्स भी मध्यमस्थानी है। उस ने स्तोमों=छन्दों को अन्तरिक्ष में विस्तृत किया। ऐसा औपमन्यव का अभिप्राय है। इनः यह ईश्वर नाम है ॥ ११ ॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥
[ऋ० १ । १६४ । २१ ॥]

यत्र [सुपर्णाः] सुपतना आदित्यरश्मयः । अमृतस्य भागमुदकस्य । अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा । अभिप्रयन्तीति वा । ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायितादित्यः । स मा धीरः पाकमत्राविवेशति । धीरो धीमान् । पाकः पक्तव्यो भवति । विपक्वप्रज्ञ आदित्य । इत्युपनिषद्वर्णो भवति । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम् । यत्र [सुपर्णाः] सुपतनानीन्द्रियाणि । अमृतस्य भागं ज्ञानस्य । अनिमिषन्ता वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा । अभिप्रयन्तीति वा । ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायितात्मा । स मा धीरः पाकमत्रा विवेशति । धीरो धीमान् । पाकः पक्तव्यो भवति । विपक्वप्रज्ञ आत्मा । इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १२ ॥

अर्थ—यत्र (सु+पर्णा) भले प्रकार पतनशील [रश्मियाँ] (अमृतस्य) उदक विशेष के (भागम्) परमाणुओं को (अनिमेषम्) निमेष वर्जित अर्थात् निरन्तर बिना विश्राम (विदथा) किसी विधान से (अभिस्वरन्ति) ले जाती हैं व पाती हैं । (इनः) ईश्वर—ऐश्वर्यशाली स्वामी सम्पूर्ण भुवन का रक्षा करने वाला [आदित्य है ।] (सः) उसने मुझे (धीरः) प्रभावान [आदित्य] ने (पाकम्) अनके पाने वाले को (अत्र) इस अपने मण्डल में (आ विवेश) प्रवेश कराया ।

जहां सुपतनशील आदित्य रश्मियां उदक के (भागम्) अंश का निरन्तर (अभिस्वरन्ति) शब्द करता है अथवा पहुँचाती है । ईश्वर सारे भूतों का रक्षा करने वाला आदित्य । वह [आदित्य] मुझे धीरः—धीमान पाकः—जो पकाने योग्य होता है [अर्थात् मुझ अपक्व धी वाले को] वि+पक्व=अत्यन्त पकी हुई प्रज्ञा वाला आदित्य । यह उपनिषद् वर्णन होता है । यह अधिदैवतम्—देवता पक्ष वाला अर्थ है ।

अब अध्यात्मम् शरीर पक्ष में [अर्थ कहते हैं] जहां भले प्रकार [सम्पूर्ण विषयों में] गिरने वाली इन्द्रियां अमृत=ज्ञान के अंश को निरन्तर

ज्ञान-द्वारा गन्धायमान करती हैं, पहुँचाती हैं अथवा, ईश्वरः, सारी इन्द्रियों का रक्षक आत्मा । उस [आत्मा ने] मुझे, [जो आत्मा] धीर=धीमान् है, अपक्व ज्ञान वाले को (अत्र) इस अपने अन्तः ज्ञान में प्रवेश कराया । वि+पक्व=अत्यन्त प्रज्ञा वाला आत्मा । इस प्रकार आत्मगति को कहता है ॥ १२ ॥

भाष्य— प्रथम मण्डल के इस १६४ सूक्त के दो मन्त्र पहले निरुक्त २ । ८ में आ चुके हैं । प्रस्तुत मन्त्र सूर्य विद्या का अद्वितीय निदर्शन है । आदित्य मण्डल में रश्मि-समूह है । आदित्य के सृजन के साथ रश्मि-सृजन भी हुआ । तै० सं० २ । ३ । ६ का वचन है, रश्मिः, इत्येव आदित्यम् असृजत । अर्थात् रश्मिः, इस शब्द-ध्वनि के साथ ही आदित्य सृजा गया । ये रश्मियां सहस्र प्रकार की हैं । इन का वर्णन मद्रचित वेद-विद्या निदर्शन, आदित्य प्रकरण में देखिए । उन में से एक प्रकार की रश्मियां सुपर्णाः हैं । ये सुन्दर पर्णों वाली हैं, अतः ऊपर-नीचे उड़ती हैं । इन की लीला विचित्र है ।

अमृत—सूर्य अमृत का लोक है । ऋग्वेद का मन्त्र कहता है—आ रोह सूर्य अमृतस्य लोकम् । १० । ८५ । २० ॥ अर्थात् चढ़ो हे सूर्ये अमृत=दिव्य उदक के लोक को । यह मन्त्र निरुक्त १२ । ८ में भी है । जैमिनीय ब्राह्मण में भी इसी सत्य का कथन है—अथ यदेतन्मण्डलं ता आपस्तदन्नं तदमृतम् । २ । ६२ ॥ अर्थात् आदित्य मण्डल अमृतमय है । यही देवान्न का स्थान है । महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६ में एक महान् वैज्ञानिक तथ्य सुरक्षित है । तदनुसार वायु के षष्ठ परिवह नामक स्तर में ही आपः दिव्य हो जाते हैं और अमृत रूप धारण करते हैं ।[1] अतः मुनि यास्क ने अमृत का अर्थ उदक किया । ये आपः=अमृत-कण अनिमेषं गति शील रहते हैं । पूर्व निरुक्त २ । १६ के भाष्य में भी वेद मन्त्रों से यही प्रतिपादित किया गया है कि दिव्य आपः—अनिमिषं चरन्ती, निरन्तर गतियुक्त हैं ।

अभिस्वरन्ति—सूर्य मण्डल में अमृत के कण दिव्य स्वर उत्पन्न करते हैं । इन से विभिन्न छन्द बन रहे हैं । अभिप्रयन्ति, यह अर्थ यास्क के अलौकिक ज्ञान का परिचायक है । दिव्य आपः इन सुपर्णा रश्मियों द्वारा आदित्य

१. वेदविद्यानिदर्शन, पृ० २१५, २३७ ।

लोक में पहुंचते हैं। उन्हीं के कारण ताप वर्षा और शीत की उत्पत्ति ध्रुव के प्रभाव से होती है। हम ने सूर्य विद्या का यहां संकेतमात्र किया है। ऐसे ज्ञान को पूर्ण समझ कर हमारा विश्वास वेद ज्ञान पर अधिकाधिक हुआ है और योरोप और अमेरिका के साईन्स के अधूरे पन का पता चला है।

अधिदैवत और अध्यात्म पक्ष—इस ऋक् के उत्तरार्ध में आत्मा के सूर्य में पहुंचने का कथन है। वेद का अधिदैवत अर्थ समझे बिना अध्यात्म अर्थ समझ में नहीं आ सकता। अधिदैवत अर्थ में देवों के महत्कर्मों का विस्तार रहता है। योरोप और अमरिका के जिन ईसाई यहूदी लेखकों ने वेद पर लेखनी उठाई है वे यदि ईसाई पक्षपात से रहित भी होते तो भी ब्राह्मण ग्रन्थों और अ त्मार्थों दय करने वाले महाभारत आदि के अध्ययन के बिना वेदार्थ पर पहुँच न सकते। राजवाडे आदि में भी यही दोष है। उन को अधिदैवत पक्ष का अणुमात्र भी ज्ञान नहीं है। सुपर्णों का इन्द्रियां अर्थ जिस पद्धति से किया गया है वही निरुक्त पद्धति जिस में उपमा और लुप्तोपमाओं का प्रयोग हुआ है स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनाई थी। आत्म शब्द का अंग्रेजी में अपभ्रंश auto है॥ १३॥

बहुनामान्युत्तराणि द्वादश। बहु कस्मात्। प्रभवतीति सतः।

ह्रस्वनामान्युत्तराण्येकादश। ह्रस्वो ह्रसते।

महन्नामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः। महान् कस्मात्। मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिः। महनीयो भवतीति वा। तत्र ववक्षिथ विवक्षस इत्येते वक्तेर्वा वहतेर्वा साऽभ्यासात्।

गृहनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः। गृहाः कस्मात् गृह्णन्तीति सताम्।

परिचरणकर्माण उत्तरे धातवो दश।

सुखनामान्युत्तराणि विंशतिः। सुखं कस्मात्। सुहितं खेभ्यः। खं पुनः खनतेः।

रूपनामान्युत्तराणि षोडश। रूपं रोचतेः।

प्रशस्यनामान्युत्तराणि दश।

प्रज्ञानामान्युत्तराण्येकादश।

सत्यनामान्युत्तराणि षट् । सत्यं कस्मात् । सत्सु तायते । सत्प्रभवं भवतीति वा ।

अष्टा उत्तराणि पदानि पश्यतिकर्माणि [उत्तरे] धातवश्चायति-प्रभृतीनि च । नामान्यामिश्राणि ।

नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नानाय ।

अथात उपमाः । यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः । तदासां कर्म । ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाऽप्रख्यातं वोपमिमीते । अथापि कनीयसा ज्यायांसम् ॥ १३ ॥

अर्थ—वहुत के नाम [हैं] अगले वारह । वहु किस [कारण] से । प्रभूत होता है, ऐसा होते हुए से ।

ह्रस्व=छोटे के नाम [हैं] अगले ग्यारह । ह्रस्व ह्रसति से ।

महत्=वड़े के नाम [हैं] अगले पचीस । महान् किस [कारण] से । माप से दूसरों को त्यागता है, अर्थात् नीचे करता है, यह शाकपूणि [कहता है ।] (मंहनीयः) पूजनीय होता है अथवा । (तत्र) इन महत् नामों में ववक्षिथ और विवक्षसे, ये दोनों [आख्यात रूप] वक्ति से अथवा, वहति से अथवा । अभ्यास सहित से । अर्थात् वकार का द्वित्व प्रयोग होने पर ।

गृह के नाम [हैं] अगले वाईस । गृहाः किस [कारण] से, ग्रहण करते है । ऐसा होते हुए से ।

परिचरण=सेवा अर्थ वाले [हैं] अगले धातु दस ।

सुख के नाम [हैं] अगले वीस । सुखम् किस [कारण] से । (सु+हितम्) अच्छा हित वाला [हैं] (खेभ्यः) इन्द्रियों के लिए । खम् फिर खनति=खोदता है, से ।

रूप के नाम [हैं] अगले सोलह । रूपम्, रोचति से ।

प्रशस्य=प्रशंसनीय के नाम [हैं] अगले दस ।

प्रज्ञा के नाम [हैं] अगले ग्यारह ।

सत्य के नाम [हैं] अगले [illegible] । सत्य किस [कारण] से । (सत्सु) भले पुरुषों में (तायते) फैलता है । (सत्प्रभवम्) भले पुरुषों से उत्पन्न होने वाला होता है अथवा ।

आठ अगले पद पश्यति=देखना है अर्थ वाले धातु हैं । चायति आदि [अपठित धातु भी ।] और नाम [इन के साथ] मिले हुए [हैं] ।

नौ अगले पद सर्वपदसमाम्नाय के लिए अर्थात् इस निघण्टु में चारों प्रकार के पदों का संग्रह करने के लिए [हैं] ।

अब उपमाएं । (यत्) जो [वस्तु] (अतत्) वह तो नहीं, [पर] (तत्सदृशम्) उस से मिलती जुलती [है] [इस से उपमा बनती है] यह गार्ग्य [कहता है ।] यह इन का अर्थ [है] । बड़े गुण से अथवा, अतिप्रसिद्ध से अथवा, छोटे अथवा अप्रसिद्ध को (उपमिमीते) उपमित करता है । और भी छोटे से बड़े को [उपमित करता है] ॥ १३ ॥

भाष्य—यहां से निघण्टु का तृतीय अध्याय आरम्भ होता है । महत् नामों (निघण्टु ३ । ३) में यह्व एक नाम है । इसी नाम का अपभ्रंश पुरानी बाइबिल में Jehovah है । स्मरण रहे कि इब्रानी में यह ध्वनि JHVH ही रहती थी । उस पर पूरा स्वराघात नहीं था । अगले ३ । ४ के गृह नामों में एक दम नाम है । इस का लैटिन अपभ्रंश domus, और अंग्रेज़ी dome है । अगले ३ । ५ परिचरणकर्मा धातुओं में सपर्यति है । इस का नाम रूप सपर्या है । इस का अंग्रेज़ी अपभ्रंश serve है । प और व की महती समीपता है । तदनुसार अपद्रान और अनद्रान दोनों रूप ठीक हैं । आगे ३ । ९ के प्रज्ञा नामों में चेत और चित्तम् पद पढ़े गए हैं । चित्तम् अन्तःकरण चतुष्टय का एक अङ्ग है । योरोपीय psychology में इस का ज्ञान नहीं है । आगे ३ । १० में ऋतम् का पुरानी जर्मनी में riht और अंग्रेज़ी में right अपभ्रंश हुआ है । आगे ३ । १२ में चारों प्रकार के पदों का समाम्नान निघण्टु में दर्शाने के लिए बारह पदों का संग्रह है । आगे ३ । १३ में उपमाएं हैं । ब्राह्मणा व्रतचारिणः में लुप्तोपमा है ॥ १३ ॥

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् ॥

[ऋ० १० । ४ । ६]

तनूत्यक् तनूत्यक्ता । वनर्गू वनगामिनौ । अग्निमन्थनौ बाहू तस्कराभ्यामुपमिमीते । तस्करस्तत्करोति । [तत्करो भवति] यत्पापकमिति नैरुक्ताः । तनोतेर्वा स्यात् । सन्ततकर्मा भवति । अहोरात्रकर्मा वा । रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् । [अभ्यधीतामिति] अभ्यधाताम् । ज्यायांस्तत्र गुणोऽभिप्रेतः ॥ १४ ॥

अर्थ—'. इव (तनूत्यजा=तनूत्यजौ) शरीर को त्यागने वालों (तस्करा=तस्करौ) दो चोरों (वनर्गू) वन में घूमने वालों के (इव) समान (रशनाभिः दशभिः) दस रशनाओं अङ्गुलियों[1] से तुझे (अभ्यधीताम्) बांधे । ज्यायान्=बड़ा गुण [भुजाओं का] अभिप्रेत है ॥ १४ ॥

[चोर पक्ष में] तनूत्यक्=शरीर को त्यागने वाला । वनर्गू=वन में चलने वाले दो, [अग्निमन्थनबाहू पद में मन्थन-समय में] शरीर से दूर जाने वाले, मार्ग को खाने वाले अर्थात् फैले हुए दोनों बाहू । अग्नि को मन्थन करने वाले दोनों बाहू की, दो चोरों से उपमा देता है । तस्करः उस को करता है, उस को करने वाला होता है, पाप को [करता है जो] यह नैरुक्त [मानते हैं ।] तनोति=विस्तार करता है, से अथवा होवे । (सन्तत—) निरन्तर कर्म करने वाला होता है । दिन रात काम करने वाला अथवा । अङ्गुलियों से, दस से, अभ्यधाताम्=बांधें । बड़े का—यहां पर गुण अभिप्रेत है ॥ १४ ॥

भाष्य—अरणियों से मन्थन द्वारा जब अग्नि प्रादुर्भूत होता है, तो मन्थन कर्ता के दोनों बाहू दसों अङ्गुलियों से अग्नि को बांधते हैं । वन में घूमने वाले दो चोर भी इसी प्रकार किसी पथिक को बांध लेते हैं । राजवाड़े लिखता है—

The question is as to what two things are mentioned here; Yāska, Durga and Sāyana think that they are the two hands of the churner. But may not the two things be the two crushing stones that are used for extracting Soma-juice? (p. 487)

---

१. रशना इत्यङ्गुलिनामसु । नि॰ २ । ५ ॥

राजवाडे की कल्पना ठीक नहीं । बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी के अनुसार यह आग्नेय सूक्त है । अत यहा दोनों भुजाओं से अग्नि-मन्थन का दृष्टान्त है । राजवाडे ने प्रसङ्ग का ध्यान नहीं किया । दस रश्मियां दोनों भुजाओं के हाथों की दस अङ्गुलियां है ॥ १४ ॥

छोटे से ज्यायान् की उपमा का दूसरा उदाहरण ।

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥
[ऋ० १० । ४० । २ ॥]

क्व स्विद्रात्रौ भवथः । क्व दिवा । क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः । क्व वसथः । को वां शयने विधवेव देवरम् । [देवरः कस्मात् । द्वितीयो वर उच्यते ।] विधवा विधातृका भवति । विधवनाद्वा । विधावनाद्वेति चर्मशिरा । अपि वा धव इति मनुष्यनाम । तद्वियोगाद्विधवा । देवरो दीव्यतिकर्मा । मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा । योषा यौतेः । आकुरुते सहस्थाने ।

अथ निपाताः पुरस्तादेव व्याख्याताः । यथेति कर्मोपमा ।

अर्थ—कहा (दोषा) रात मे, कहा (वस्तो) दिन मे (अश्विनौ) हे अश्विद्वय कहा (अभिपित्वम्) अभिप्राप्ति वा अभिगमन (करतः= कुरुतः) करते हो । कहा (ऊषतुः) [तुम ने] वास किया । कौन तुम दोनों को (शयुत्रा) शयन स्थान पर विधवा जैसे देवर को, (मर्यम्) मनुष्य= पति को जैसे (योषा) स्त्री (आकृणुते) अपनी ओर करती है (सधस्थे) अपने साथ निवास के स्थान मे=बैठने के स्थान मे ।

(क्व स्वित्) कहा रात्री मे थे कहा दिन मे, कहा प्राप्ति वा अभिगमन करते हो । कहा बसते हो । कौन तुम दोनों का (शयने) शय्या पर विधवा के समान देवर को । [देवर किस कारण मे द्वितीय वर कहा जाता है] विधवा (वि+धातृका) बिना पालन पोषण करने वाले के होती है । (वि+धवनात्) विशेष कम्पन के कारण से । [पति के वियोग से कापती रहती है ।] (वि+धावनात्) विशेष इधर उधर दौडने से, यह चर्मशिरा

[आचार्य कहता है ।] और भी, धव यह मनुष्य का नाम [है ।] उस [मनुष्य=पति] के वियोग से विधवा । देवर=खेलने=रति-क्रीड़ा अर्थ वाला [है ।] मर्यः=मनुष्य=मरणधर्मा [है ।] योषा=यौति से [मिलती है, सङ्गत करती है] (आ कुरुते) अपनी ओर करती है (सहस्थाने) साथ [ठहरने के] स्थान में ।

अब निपात [भी उपमा अर्थ वाले हैं ।] पहले ही [१ । ४—११] में व्याख्यान किए गए हैं । यथा, यह कर्मोपमा=क्रिया की उपमा में है ।

भाष्य—घोषा नाम्नी ब्रह्मवादिनी की यह ऋक् है । अन्तरिक्ष में क्या वह क्या वस्तु है, यह मैं नहीं जान सका ।[1] इस पृथिवी पर भी किसी ब्रह्मिष्ठा ने अपना नाम घोषा रखा था । इस ऋक् में अश्विद्वय से प्रश्न है । करतः रूप उत्तर काल में लुप्त हो गया है । विधवेव देवरम् । यह उपमा नियोग-परक है । वर्णाश्रम धर्म में द्विजों में विधवा का विवाह वर्जित है । वह नियोगधर्म पालन कर सकती है । इस उपमा का नियोग-परक अर्थ आचार्य विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृति की बालक्रीड़ा टीका में किया है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी ऐसा ही अर्थ किया है । विधवा का अंग्रेजी में अपभ्रंश widow है । परन्तु widower शब्द को widow से er प्रत्यय नहीं लगा । यदि er प्रत्यय होता, तो widower का अर्थ विधवा करने वाला होता । widower वस्तुत विधुरः= मृतपत्नीकः का अपभ्रंश है । देवरः कस्मात् । द्वितीयो वर उच्यते । यह पाठ लघु पाठ में नहीं है । चर्मशिराः के समान शिराः अन्तवाले अन्य नाम भी प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं ।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ॥
[ऋ० ५ । ७८ । ८ ॥]

भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ [ऋ० १ । ५० । ३ ॥]

आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥
[ऋ० १० । ९७ । ११ ॥]

आत्माऽततेर्वा । आप्तेर्वा । अपि वाप्त इव स्यात् । यावद् व्याप्तिभूत इति ।

---

१. जैमिनि ब्राह्मण १ । १४३ में अन्तरिक्ष रथघोष, पर्जन्यघोष, ग्रामघोष आदि घोषों का मापन किया गया है ।

अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः ॥ [ऋ० १० । ७८ । २ ॥]

अग्निरिव ये । [मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णुरस्का] भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः ॥ १५ ॥

अर्थ—२ यथा—(१) जैसे वात, जैसे वन, जैसे समुद्र (एजति) [लहरो के रूप मे] (=दुर्ग—कम्पन्ते) कापता है=(स्वन्द-गच्छति) चलता है, [ऐसे दसवें मास का गर्भ जरायु के सहित माता के गर्भ मे ऊपर से थोडा थोडा=लहरो के समान खिसकता हुआ नीचे उतरे ।]

(२) भ्राजमान=चमकती हुई अग्निया जैसे, [वैसे रश्मिया ।]

(३) आत्मा क्षय रोग का नष्ट होता है [जब मै याज्ञिक वन ओषधियो को हाथ में लेता हूँ, उस से] पहले ही । (जीवगृभः) सजीव बन्दी होने वाले [पक्षी का आत्मा] जैसे ।

आत्मा, अतति से अर्थात् अतन=गतिशील, तनन=व्याप्त होने वाला, अथवा । आप्ति से, व्याप्तिमान् होने से । और भी व्याप्त के समान होवे । (यावद्) [छोटे बडे] जितने भी शरीर [हैं, उन मे] व्याप्तिभूत है ।

[३. न, का उपमा मे उदाहरण—]

अग्नि के समान, जो [मरुत भ्राजमान=चमकते हुए] ।

(रुक्मवक्षसः)=रोचिष्णु+उरस्का अर्थात् रोचिष्णु हैं छातिया जिन की [ऐसे] ॥ १५ ॥

भाष्य—गर्भ लहरों के समान नीचे उतरता है । रश्मिया दिखाई नहीं देतीं । उन की अदृश्य चमक की उपमा अग्नियों की चमक से है । आत्म शब्द का अंग्रेजी में अपभ्रंश auto है । यक्ष्म रोग ज्वर का एक रूप है । प्रश्न होता है ज्वर क्या है । इस का उत्तर पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र में नहीं है । फिर यह है क्या । उत्तर है, शरीर में आग्नेय परमाणुओं का पित्त रूप में आधिक्य, और उन के क्रम में रहने का विपर्यास । उस आधिक्य और विपर्यास को ठीक करने वाली ओषधि कभी ज्ञात थी । उसी का उत्तरकाल में वृक्षविशेष में प्रतिनिधि मान कर यव, कुश और पिञ्जूल प्रयोग में लाए जाते हैं । इस विषय में अन्वेषण की आवश्यकता है । आयुर्वेदीय चरक सहिता में भी ज्वर को रुद्रकोप का फल माना गया है । यह रुद्र भी आग्नेय परमाणुओं का एक रूपविशेष है ।

मरुतों की स्तुतियां हैं। आर्ष ज्ञान मरुतों की पूरी रचना जानता है। इन अदृश्य वस्तुओं को यथार्थ रूप में जानना कितना आश्चर्यकर है। रुक्म=सुवर्ण, यह इस पद का सामान्य अर्थ है। यास्क ने इस का अर्थ रोचिष्णु किया है, अर्थात् दीप्ति अथवा चमक वाली।

विशेष—जहां श्रेष्ठोपमा होती है वहां 'यथा' उदात्त होता है और जहां हीनोपमा होती है वहां 'यथा' सर्वनिघात होता है ॥ १५ ॥[1]

चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादा निधातोः । न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥
[ऋ० १ । ४१ । ९ ॥]

चतुरश्चिद् [अक्षान्] धारयत इति । तद्यथा कितवाद् बिभीयादेवमेव दुरुक्ताद् बिभीयात् । न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित् ।

आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः । अथाप्युपमार्थे दृश्यते ।

जार आ भगम् ॥ [ऋ० १० । ११ । ६ ॥]

जार इव भगम् । आदित्योऽत्र जार उच्यते । रात्रेर्जरयिता । स एव भासाम् । तथापि निगमो भवति ।

स्वसुर्जारः शृणोतु नः । [ऋ० ६ । ५५ । ५ ॥] इति ।

उषसमस्य स्वसारमाह । साहचर्यात् । रसहरणाद्वा । अपि त्वयं मनुष्यजार एवाभिप्रेतः स्यात् । स्त्रीभगस्तथा स्यात् । भजतेः ।

मेष इति भूतोपमा ।

मेषो भूतोऽभि यन्नयः ॥ [ऋ० ८ । २ । ४० ॥]

मेषो मिषतेः । तथा पशुः पश्यतेः ।

अग्निरिति रूपोपमा ।

---

१. विशेष द्र०, पं० युधिष्ठिर मीमांसककृत वैदिक छन्दोमीमांसा, पृ० ७७ ।

अर्थ—४. चित्—(चतुरः) चार [पासे] (ददमानात्) धारण करने वाले से (चित्) जैसे (बिभीयात्) डरे, (आनिधातोः) फेंकने तक, [वैसे डरे] और नहीं (दुरुक्ताय) दुर्वचन वाले के लिए (स्पृहयेत्) स्पृहा=कामना करे।

चारों अक्षों=पासों को (धारयतः) धारण करने वाले से, तो जैसा (कितवात्) जुआरिए से डरे, वैसे ही (दुरुक्तात्) अपवचन से डरे। नहीं अप-वचन की कामना करे कभी भी।

५. आ, यह आचार उपसर्ग पहले ही व्याख्या किया गया है। और भी, [आ, यह] उपमा अर्थ में देखा जाता है। जार के (आ) समान भग को। आदित्य (अत्र) इस प्रसङ्ग में जार कहा जाता है। रात्रि को जीर्ण करने वाला [=जार]। (सः) वह [आदित्य] ही [जीर्णकर्ता है, ग्रह और नक्षत्रों] की प्रभाओं का। वैसा भी निगम होता है। (स्वसुः) भगिनी=उषा का जीर्णकर्ता सुने (नः) हमारी [स्तुतियों को]। (उषसम्) उषा को (अस्य) इस [आदित्य] की स्वसा कहा। साहचर्य=साथ विचरने से, रस हरण करने से अथवा। और भी, यह मनुष्य-जार ही अभिप्रेत हो। [ऐसा होने पर] स्त्री का भग और हो। [भग] भजति से।

६. मेष, यह [इन्द्र की] [भूत=अभी हुए आचार से अथवा किसी प्राणी से उपमा] है। (मेषः भूतः) [मध्यम स्थानी इन्द्र को कहा है।] मेष हुआ हुआ=मेष के समान (अभि यन्) आभिमुख्य रूप से जाता हुआ (अयः) [तू] पहुंचा, [अब भी इसी प्रकार से जाओ।] मेषः मिषति से [है।] [निमेषमात्र इस का धर्म है। कोई ज्ञान इसे नहीं।] (तथा) इसी प्रकार पशु पश्यति से [है।] [देखना मात्र इस का धर्म है। कोई ज्ञान इसे नहीं।]

७. अग्नि यह रूप की उपमा है।

भाष्य—कितव और अक्षों का वर्णन वेद में अनेक स्थानों पर मिलता है। आधिदैविक पक्ष में कितव आदि क्या है, यह मैं नहीं जान सका।[1] इस का सम्बन्ध आसुरि शक्तियों से अवश्य है। दुरुक्त=अप-वचन की वेद में निन्दा है। इसी लिए मनु ने कहा था—सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

[1] १. [illegible] देखो काण्ड ५। २ में स्पष्ट परिलक्षित है।

४।१३८॥ वर्जयेद् उपर्तो वाचम् । शान्तिपर्व । दुरुक्त में गाली आदि कटु और अश्लील वचन सम्मिलित हैं। जार:=जीर्ण करने वाला । लौकिक भाव में भी जार जीर्णकर्ता है । स्मरण रखना चाहिए कि प्राकृतिक जगत् के सब व्यवहार अनुकरणीय नहीं हैं । ऋषियों ने इन में से अनुकरणीय को चुन कर धर्मशास्त्रों में निबद्ध कर दिया है । मेष: पर ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक प्रवचन हैं । इन्द्र मेषवत् हुआ । मेष के समान इन्द्र का कोई रूप अन्तरिक्ष में बना था, उसी पर यह कथन है । इस का पृथिवी पर के इन्द्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं । कई एक आधुनिक लेखक इस घटना को इन्द्र और अहल्या के आख्यान के साथ जोड़ने का यत्न करते हैं, पर यह बात जुड़ती नहीं ।

हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः ।

[ऋ० २ । ३५ । १० ॥]

हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम् ।

था इति च ।

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा । [ऋ० ५ । ४४ । १ ॥]

प्रत्न इव पूर्व इव विश्व इवेम इवेति । अयमेततरोऽमुष्मात् । असावस्तरोऽस्मात् । अमुथा । यथासाविति व्याख्यातम् ।

वदिति सिद्धोपमा । ब्राह्मणवद् वृषलवत् । ब्राह्मणा इव वृषला इवेति । [वृषलो वृषशीलो भवति । वृषाशीलो वा] ॥ १६ ॥

अर्थ—[अपांनपात् का सूक्त है] हिरण्य सदृश रूप वाला, [विद्युत् अग्निः] वह हिरण्य के समान परा प्रीति से दिखाई देने वाला (अपां नपात्) आप: का पौत्र (सः+इत्+उ) वह ही [उ, पदपूरक] (हिरण्यवर्णः) हिरण्य के तुल्य कान्ति वाला । हिरण्य की कान्ति=वर्ण के समान इस का रूप [है ।]

८. था—था, यह भी [उपमा का अर्थ देता है ।]

(तम्) उस [इन्द्र] को (प्रत्नथा) पुराने [यजमानों] के समान, (पूर्वथा) अपने पूर्वजों के समान, (विश्वथा) सब [भविष्य में होने वालों] के समान (इमथा) इन [वर्तमान में होने वालों] के समान ।

प्रत्न, पूर्व, विश्व, इम [इन चारों के समान ।] (अयम्)=एततर=अधिक आया हुआ, अधिक समीप है (अमुष्मात्) उस से । (असौ)=अस्ततरः=क्षिप्ततरः=अधिक फेंका हुआ=अधिक परे है (अस्मात्) इस से । अमुथा=जैसा—असौ, इसी [असौ] से व्याख्या किया गया है ।

१ यत्, यह सिद्ध=अति प्रसिद्ध उपमा [है ।] ब्राह्मणवत्, वृषलवत् । ब्राह्मणों के समान, वृषलों के समान । [वृषल=वृष=बैल के स्वभाव वाला होता है । वृष=बल=धर्म में अशील=न स्वभाव वाला ॥ १६ ॥

भाष्य—यह अपांनपात् सूक्त की ऋक् है । इसी अपांनपात् से अन्तरिक्षस्थ नदियों का सम्बन्ध है । अपांनपात्=आप का पुत्र अथवा पौत्र । यह वैद्युत अग्नि है । इस का रूप हिरण्य के सदृश है । सिद्ध उपमा अर्थात् सर्वस्वीकृत प्रसिद्ध उपमा है । वृषल में वृष का अर्थ बैल है । मनु ने इसे भगवान् धर्म कहा है । पुराने राजाओं के धर्मशासनों पर, ताम्रपत्रों पर बैल का चित्र प्रायः रहता था । अतः वृषल का एक अर्थ श्रेष्ठ पुरुष है । दूसरा अर्थ है सत्य, यज्ञादि धर्म में स्वभाव न रखने वाला, अर्थात् निकृष्ट । दोनों अर्थों के वाचक वृषल शब्द स्वर-भेद से पृथक् पृथक् हैं । धर्मात्मा अर्थ वाला वृषल शब्द आद्युदात्त होता है और अधर्मात्मा अर्थ वाला अन्तोदात्त ।[1] डा० लक्ष्मणस्वरूप के संस्करण में "ब्राह्मणवद् वृषलवत्" पर भी स्वर चिह्न हैं । इस से स्पष्ट है कि कभी पूरा निरुक्त ग्रन्थ सस्वर था । ध्यान रहे कि डा० स्वरूप के पाठ के स्वरचिह्न कुछ व्यस्त हैं ॥ १६ ॥

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् ।
अंगिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ॥
[ऋ० १ । ४५ । ३ ॥]

प्रियमेधः । प्रिया अस्य मेधा । यथैतेषामृषीणामेवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम् । प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः । कण्वप्रभवः । यथा प्राग्रम् । अर्चिषि भृगुः सम्बभूव । भृगुर्भृज्यमानो न देहे । अङ्गारेष्वङ्गिराः ।

१. आद्युदात्त—शतपथ १४ । ६ । ४ । १२ ॥ शंकर ने यहां भी नीच अर्थ ही माना है, वह चिन्त्य है । अन्तोदात्त—ऋ० १० । ३४ । ११ ॥ वृषल=जुआरी । विशेष पं० युधिष्ठिर मीमांसककृत वैदिक स्वरमीमांसा में देखें ।

अङ्गारा अङ्कनाः [अञ्चनाः] । अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुः । तस्मादत्रिः । न त्रय इति । विखननाद्वैखानसः । भरणाद्भरद्वाजः । विरूपो नानारूपः । महिव्रतो महाव्रत इति ॥ १७ ॥

अर्थ—प्रियमेध के समान, अत्रि के समान, हे जातवेदस् अग्ने, विरूप के समान, अङ्गिरा के समान, हे महिव्रत=महा कर्म वाले, प्रस्कण्व के सुन आह्वान को ।

(प्रियमेधः) प्रिय हैं इन को मेध=यज्ञ, जैसे इन ऋषियों के, ऐसे प्रस्कण्व के सुनो आह्वान को । प्रस्कण्वः=कण्व का पुत्र । कण्व से उत्पन्न हुआ । जिस प्रकार (प्र+अग्रम्) अग्र में होने वाला अथवा अग्र-प्रभव [रूप है, वैसे प्र+कण्व में, कण्व से उत्पन्न, अर्थ बना है ।] अर्चियों=ज्वालाओं में भृगु उत्पन्न हुआ । भृगुः=(भृज्यमानः)=पकता हुआ नहीं जला । अङ्गारों में अङ्गिरा [उत्पन्न हुआ] । अङ्गाराः=अङ्कन करने वाले=छाप लगाने वाले । अङ्कनाः और अञ्चनाः [समानार्थक हैं ।] [भृगु और अङ्गिरा के प्रभव के पश्चात्] यहां ही (तृतीयम्) तीसरे [ऋषि] को (ऋच्छत) ढूंढो, यह (ऊचुः) बोले [भूतोत्पन्न अन्य देव ।] इस लिए [अत्र+त्रि] अत्रि हुआ । नहीं तीन यह [भी ।] विखनन=खोदने से वैखानस । (भरणात्) पालन पोषण से भरद्वाज । विरूपः=नाना रूप युक्त । महिव्रत=महाव्रत=महान् कर्मों वाला ॥ १७ ॥

भाष्य—हे महाकर्म जातवेदः । महिव्रत जातवेद का विशेषण है । प्रियमेध, अत्रि, विरूप, अङ्गिरा और प्रस्कण्व, भौतिक पदार्थों के रूप में वर्तमान दिव्य ऋषियों के नाम हैं । इन्हीं ऋषि नामों पर पृथिवी पर के ऋषियों के नाम रखे गए । जातवेदः मध्यमस्थानी अग्निः है । कण्व और प्रस्कण्व क्या हैं, यह अन्वेषणीय है । आदित्य में जब ज्वालाएं थीं, तब वहां भृगु उत्पन्न हुआ । ज्वालाओं के पश्चात् जब अङ्गारे रह गए, तब अङ्गिरा उत्पन्न हुआ ।[1] इस विद्या का पूरा ज्ञान आदित्य की सब अवस्थाओं के जानने से हो सकता है । वस्तुतः भृगु और अङ्गिरा अग्निः के ही रूप हैं । अत्रि इन दोनों के पश्चात् उत्पन्न हुआ । अत्रि विषयक लगभग ऐसा भाव शतपथ ब्राह्मण में भी है—तद्ध स्म पृच्छन्ति, अत्रेव स्यादिति । ततो अत्रि सम्बभूव । १ । ४ । ५ । १३ ॥ इस अत्रि विषयक वेद के अनेक मन्त्र हैं । इस अत्रि से ब्रह्मा का सम्बन्ध जोड़ कर

१. ये ऽङ्गारा आसंस्ते ऽङ्गिरसो ऽभवन् । ऐ० ब्रा० ३ । ३४ ॥

वर्तमान लेखक वेदकाल विषयक अनेक कल्पनाएं कर रहे हैं। वे सब निराधार हैं। वेद तो आदि सृष्टि ■ चला आ रहा है। ऐतरेय ब्राह्मण ८। १४ में मरुतों और अङ्गिराओं को देव कहा है। इस निरुक्त भाष्यान्तर्गत यास्क के प्राय निर्वचन मूलविद्या की दृष्टि ■ किए गए हैं। ध्यान रहे कि यद्यपि प्रस्तुत ऋक् में भृगु वैखानस और भरद्वाज पद नहीं हैं तथापि उन का निर्वचन यास्क ने दर्शाया है। यास्क के इन निर्वचनों का अधिक महत्त्व जानने के लिए शतपथ ब्रा० प्रथम काण्ड का प्रारम्भ देखना चाहिए ॥ १७ ॥

शाब्दी उपमाएं कही गईं अब आर्थी उपमाएं कहते हैं।

अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते। सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्। श्वा काक इति कुत्सायाम्। काक इति शब्दानुकृतिः। तदिदं शकुनिषु बहुलम्। न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः। काकोऽपकालयितव्यो भवति। तित्तिरिस्तरणात्। तिलमात्रचित्र इति वा। कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः। कपिरिव जवते। ईषत्पिङ्गलो वा। कमनीयं शब्दं पिञ्जयतीति वा। श्वा। आशुयायी। शवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। श्वसितेर्वा। सिंहः सहनात्। हिंसेर्वा स्याद्विपरीतस्य। सम्पूर्वस्य वा हन्तेः। संहाय हन्तीति वा। व्याघ्रो व्याघ्राणात्। व्यादाय हन्तीति वा ॥ १८ ॥

अर्थ—अब लुप्तोपमा वाले [पद कहते हैं,] [इन को आचार्य] अर्थ उपमा वाले कहते हैं। सिंह, व्याघ्र, ये प्रशंसा में [जुड़ते हैं।] श्वा, काक ये निन्दा में। 'काक' यह शब्दानुकृति=[पक्षी के बोलने का] ध्वनि का अनुकरण मात्र है। (तद् इदम्) सो यह [ध्वनि के अनुकरण पर नामकरण] (शकुनिषु) पक्षियों में (बहुलम्) प्रायः कर के [देखा जाता है।] नहीं [इन नामों में] ध्वनि का अनुकरण विद्यमान है यह औपमन्यव कहता है। काक [का निर्वचन है] (अपकालयितव्य) [वस्तुओं को चोंच में गन्दा करता है अतः] बाहर निकालने योग्य होता है। तित्तिरि (तरणात्) उछल कर गति करने से। तिल के परिमाण तुल्य चित्रों वाला अथवा। कपिञ्जल वानर के समान (जीर्ण) मटमैले=धूसर [रंग वाला।] वानर के समान (जवन) वेग से जाता है। थोड़े पिङ्गल रंग वाला अथवा। सुन्दर शब्द बोलता है अथवा। श्वान (आशुयायी) शीघ्र चलने वाला। गति में अथवा होने वाली गति अर्थ वाले से। श्वसिति=श्व

अर्थ वाले से अथवा [तुलना करो, ३ । १० ॥] । सिंहः, [सम्पूर्ण प्राणियों के प्रहार को] (सहनात्) सहने से, [अथवा वलपूर्वक उन्हें दवाने से ।] हिंस से अथवा होने, आद्यन्त विपर्यय वाले से । संपूर्वक अथवा हन्ति से । (संहाय) [सारे अङ्गों को मिला कर, छलांग मार कर] मारता है अथवा । व्याघ्रः, (वि+आघ्राणात्) विशेप सब ओर से सूंघने से, [प्राणियों का समीप होना गन्ध से जानता है ।] (वि+आदाय) विशेप रूप से लाकर [उस के भाग निकलने के पूर्व स्थान पर] मारता है अथवा ॥ १८ ॥

भाष्य—अर्थोपमा, यह संज्ञा लोकभाषा विषयक ग्रन्थों के आचार्यों में प्रसिद्ध थी । इस से ज्ञात होता है कि अलङ्कार शास्त्र की प्रवृत्ति अति प्राचीन काल से है । शब्दानुकृतिः, किसी के बोलने की ध्वनि के अनुकरण पर उस के नाम का होना शब्दानुकृति होता है । यास्क ने पहले सामान्य विचार लिखा । पुनः उस ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि शब्दानुकृति का व्यवहार प्रायः पक्षियों में होता है । यास्क इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुआ । उस ने अपने पूर्वज औपमन्यव का सिद्धान्त लिखा । तदनुसार काक-नाम शब्दानुकृति पर नहीं है । यह क्यों । इस लिए कि काक का निर्वचन इस के मूलार्थ का पता देता है । लोग काक को घर से बाहर निकालते हैं । जब इस से मूलार्थ जान लिया जाता है, तो इस को शब्दानुकृति क्यों मानें । शब्दानुकृति का मत स्थूल बुद्धि वालों के सन्तोष के लिए है । यास्क ने औपमन्यव का कोई खण्डन नहीं किया । अतः यास्क उस से सहमत है ।

राजवाड़े लिखता है—औपमन्यव was a fanatic in respect of derivation, (p. 507) अर्थात् व्युत्पत्ति के विषय में औपमन्यव जोशीला ही था । राजवाड़े ने भाषा के मौलिक सिद्धान्त को न समझ कर यह लिखा है । शब्दानुकृति उत्तर काल की बात है । काक आदि नाम अनादि थे, उन में इस शब्दानुकृति की अपेक्षा नहीं ॥ १८ ॥

अर्चतिकर्माण उत्तरे धातवश्चतुश्चत्वारिंशत् ।

मेधाविनामान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः । मेधावी कस्मात् । मेधया तद्वान्भवति । मेधा मतौ धीयते ।

स्तोतृनामान्युत्तराणि त्रयोदश । स्तोता स्तवनात् ।

यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश । यज्ञः कस्मात् । प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः । याच्ञो भवतीति वा । यजुरुन्नो भवतीति वा । बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः । यजूंष्येनं नयन्तीति वा ।

ऋत्विङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ । ऋत्विक् कस्मात् । ईरणः । ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः । ऋतुयाजी भवतीति वा ।

याच्ञाकर्माण उत्तरे धातवः सप्तदश ।

दानकर्माण उत्तरे धातवो दश ।

अध्येषणाकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः ।

स्वपिति सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ।

कूपनामान्युत्तराणि चतुर्दश । कूपः कस्मात् । कु पानं भवति । कुप्यतेर्वा ।

स्तेननामान्युत्तराणि चतुर्दश । स्तेनः कस्मात् । संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः ।

निर्णीतान्तर्हितनामधेयान्युत्तराणि षट् । [निर्णीतं कस्मात् । निर्णिक्तं भवति ।]

दूरनामान्युत्तराणि पञ्च । दूरं कस्मात् । द्रुतं भवति । दुरयं वा ।

पुराणनामान्युत्तराणि षट् । पुराणं कस्मात् । पुरा नवं भवति ।

नवनामान्युत्तराणि षळेव । नवं कस्मात् । आनीतं भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—पूजा अर्थ वाले अगले धातु चवालीस [हैं ।] मधावी के नाम [हैं] अगले चौबीस । मधावी किस [कारण] से । मधा से (तद्वान्) उस वाला होता है । मधा मति बुद्धि में रमते जाते हैं । स्तोता के नाम [हैं] अगले तेरह । स्तोता स्तवन करने से । यज्ञ के नाम [हैं] अगले पन्द्रह । यज्ञ किस [कारण] से । (प्रख्यातम्) अति प्रसिद्ध है (यजतिकर्म) यजन कर्म यह नैरुक्त [कहते हैं ।] (याच्ञः) प्रार्थना योग्य होता है अथवा । (यजु + उन्न) यजुओं से भीगा हुआ होता है अथवा । बहुत (कृष्ण + अजिन) काले मृगों की छाला वाला यह औपमन्यव

[कहता है ।] याजुष मन्त्र उस [यज्ञ क्रिया] को (नयन्ति) [पार तक] ले जाते हैं । ऋत्विजों के नाम [हैं] अगले अठारह । ऋत्विक् किस [कारण] से । (ईरणः) प्रेरक [है ।] ऋचाओं से (यष्टा) यज्ञ करने वाला होता है, यह शाकपूणिः [कहता है ।] ऋतु ऋतु में यज्ञ करने वाला होता है, अथवा । याचना अर्थ वाले अगले धातु [हैं] सतारह । दान अर्थ वाले [हैं], अगले धातु दस । (अध्येषणा)=[दुर्ग—सत्कृत्य प्रार्थना=सत्कार करके प्रार्थना] अर्थ वाले [हैं] अगले धातु चार । स्वपिति, सस्ति, ये दो सोने अर्थ वाले [हैं ।] कूएं के नाम [हैं] अगले चौदह । कूपः किस [कारण] से । (कु—पानात्) [पानी नीचा होने से] कठिनता से पानकर्म [इस में] होता है । कुप्यति से अथवा । स्तेन=चोर के नाम [हैं] अगले चौदह । स्तेनः, किस [कारण] से, (सं-स्त्यानम्) भरपूर ढेर लगा [है] इस में पाप, यह नैरुक्त [कहते हैं ।] (निर्णीत+अन्तर्हित) निर्णय किए गए गुप्त [पदार्थ] के नामधेय [हैं] अगले छः । निर्णीतम् किस [कारण] से । निर्+निक्तम्=शोधा हुआ=मांजा हुआ होता है । दूर के नाम [हैं], अगले पांच । दूरम् किस [कारण] से, द्रुतम्=आगे आगे भागा हुआ होता है । (दुर्+अयम्) कठिनता से प्राप्य अथवा । पुराण के नाम [हैं] अगले छः । पुराणम् किस [कारण] से । पुरा=पहले= अतीत काल में (नवम्) नया होता है, [अब नया नहीं ।] नव, नए के नाम [हैं] अगले छः ही । नवम् किस [कारण] से । अभी अभी (आनीतम्) लाया गया होता है ॥ १६ ॥

भाष्य—स्वपिति अर्थ वाला दूसरा पद सस्ति है । इस सस्ति से हिन्दी भाषा में सुस्ताना अपभ्रंश बना है । आगे निघण्टु ३ । २४ में स्तेन नाम है । स्तेनः पद ही विकृत हो कर Satan=शैतान बना है । और स्तेननामों का प्रथम पद तृपुः है । इस का अंग्रेजी में अपभ्रंश thief है । निघण्टु ३ । २६ के दूर नामों में पराके, पराचैः, परावतः का अंग्रेजी अपभ्रंश far है । नवम् का new अपभ्रंश सुविज्ञात है ॥ १६ ॥

द्विश उत्तराणि नामानि षड्विंशतिः । प्रपित्वेऽभीक इत्यासन्नस्य । प्रपित्वे प्राप्ते । अभीकेऽभ्यक्ते ।

यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश । यज्ञ कस्मात् । प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ता । याच्ञो भवतीति वा । यजुरुन्नो भवतीति वा । बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यव । यजूंष्येनं नयन्तीति वा ।

ऋत्विङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ । ऋत्विक् कस्मात् । ईरण । ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणि । ऋतुयाजी भवतीति वा ।

याच्ञाकर्माण उत्तरे धातव सप्तदश ।

दानकर्माण उत्तरे धातवो दश ।

अध्येषणाकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वार ।

स्वपिति सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ।

कूपनामान्युत्तराणि चतुर्दश । कूप कस्मात् । कु पानं भवति । कुप्यतेर्वा ।

स्तेननामान्युत्तराणि चतुर्दश । स्तेन कस्मात् । संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ता ।

निर्णीतान्तर्हितनामधेयान्युत्तराणि षट् । [निर्णीत कस्मात् । निर्णिक्त भवति ।]

दूरनामान्युत्तराणि पञ्च । दूर कस्मात् । द्रुतं भवति । दुरयं वा ।

पुराणनामान्युत्तराणि षट् । पुराणं कस्मात् । पुरा नव भवति ।

नवनामान्युत्तराणि षळेव । नवं कस्मात् । आनीतं भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—*पूजा अर्थ वाले* अगले धातु चवालीस [हैं ।] मेधावी के नाम [हैं] अगले चौबीस । मधावी किस [कारण] से । मेधा से (तद्वान्) उस वाला होता है । मेधा मति बुद्धि में रखी जाती है । स्तोता के नाम [हैं] अगले तेरह । स्तोता स्तवन करने से । यज्ञ के नाम [हैं] अगले पन्द्रह । यज्ञ किस [कारण] से । (प्रख्यातम्) अति प्रसिद्ध है (यजतिकर्म) यजन कर्म यह नैरुक्त [कहते हैं ।] (याच्ञ) प्रार्थना योग्य होता है अथवा । (यजु +उन्न) यजुओं से भीगा हुआ होता है अथवा । बहुत (कृष्ण+अजिन) काले मृगों की खालों वाला यह औपमन्यव

वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम् ॥ [ऋ० ४ । १९ । ९ ॥]

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति ॥ [ऋ० ८ । १०२ । २१ ॥]

इत्यपि निगमौ भवतः ।

ऊर्दरं कृदरमित्यावपनस्य । ऊर्दरमुद्दीर्णं भवति । ऊर्जं दीर्णं वा ।

तमूर्दरं न पृणता यवेन । [ऋ० २ । १४ । ११ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । तमूर्दरमिव पूरयति यवेन । कृदरं कृतदरं भवति ।

समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनाम् । [यजुः २९ । १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

अर्थ—द्विशः, दो दो एक साथ पढ़े गए अगले नाम [हैं] छब्बीस, १. प्रपित्वे, अभीके ये (आसन्नस्य) समीप वाले के [हैं ।] प्रपित्वे= प्राप्ते, अभीके=अभ्यक्ते । आपित्वे=आपानकाले,=सोम पीने का समय (प्रपित्वे) समीप आने पर (नः) हम को (तूयम्) शीघ्र (आ गहि) प्राप्त होवो । (अभीके चित्) समीप आने पर भी [संग्राम के] (उ लोककृत्) संग्राम को बनाने वाला [इन्द्र] । ये भी दो निगम=[स्वयं अर्थ स्पष्ट करने वाले मन्त्र अथवा मन्त्रांश] हैं ।

२. दभ्रम्, अर्भकम् ये अल्प के [हैं ।] दभ्रं दभ्नोति से [है ।] सु दम्भम्=शीघ्र हो सकने वाला होता है । अर्भकम्=(अवहृतम्) अवहार किया गया=संकुचित किया गया । थोड़ा हुआ होता है । समीपता से समीपता से मेरा स्पर्श=आलिङ्गन करो, मत [मेरे उपस्थ के लोमों को] थोड़ा समझो । नमस्कार है बड़ों को, नमस्कार है छोटों को । ये भी दोनों निगम हैं ।

३. तिरः सतः, ये प्राप्त के [नाम हैं ।] तिरः=तीर्ण हुआ=तैर कर पार किया हुआ=प्राप्त किया होता है । सतः=संसृत=प्राप्त हुआ होता है । (तिरः चित्) ओझल [स्थान] से=दूर स्थान से=अपने प्राप्त स्थान से (अर्यया) ईश्वरीय अथवा देवगति [वाले अपने रथ] से (परि वर्तिः)

अभीके चिदु लोककृत् । [ऋ० १० । १३३ । १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । दभ्रमर्भकमित्यल्पस्य । दभ्रं दभ्नोतेः । सुदम्भं भवति । अर्भकमवहृतं भवति ।

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः ।

[ऋ० १ । १२६ । ७ ॥]

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः । [ऋ० १ । २७ । १३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

तिरः सत इति प्राप्तस्य । तिरस्तीर्णं भवति । सतः संसृतं भवति ।

तिरश्चिदर्यया परि वर्तिर्यातमदाभ्या ॥ [ऋ० ५ । ७५ । ७ ॥]

पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः । [ऋ० ७ । १०४ । २१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । त्वो नेम इत्यर्धस्य । त्वोऽपततः । नेमोऽपनीतः । अर्धं हरतेर्विपरीतात् । धारयतेर्वा स्यात् । उद्धृतं भवति । ऋध्नोतेर्वा स्यात् । ऋद्धतमो विभागः ।

पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति । [ऋ० १ । १४७ । २ ॥]

नेमे देवा नेमेऽसुराः । इत्यपि निगमो भवति ।

ऋक्षाः स्तृभिरिति नक्षत्राणाम् । नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः । नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम् । ऋक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते । स्तृभिस्तीर्णानीव ख्यायन्ते ।

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा ॥ [ऋ० १ । २४ । १० ॥]

पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः । [ऋ० ४ । ७ । ३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

वम्रीभिरुपजिह्विका इति सीमिकानाम् । वम्र्यो वमनात् । सीमिकाः स्यमनात् । उपजिह्विका उपजिघ्र्यः ।

वृम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम् ॥ [ऋ० ४ । १९ । ९ ॥]

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति ॥ [ऋ० ८ । १०२ । २१ ॥]

इत्यपि निगमो भवतः ।

ऊर्दरं कृदरमित्यावपनस्य । ऊर्दरमुद्दीर्णं भवति । ऊर्जं दीर्णं वा ।

तमूर्दरं न पृणता यवेन । [ऋ० २ । १४ । ११ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । तमूर्दरमिव पूरयति यवेन । कृदरं कृतदरं भवति ।

समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनाम् । [यजुः २९ । १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

अर्थ—द्विशः, दो दो एक साथ पढ़े गए अगले नाम [हैं] छत्तीस, १. प्रपित्वे, अभीके ये (आसन्नस्य) समीप वाले के [हैं ।] प्रपित्वे= प्राप्ते, अभीके=अभ्यक्ते । आपित्वे=आपानकाले,=सोम पीने का समय (प्रपित्वे) समीप आने पर (नः) हम को (तूयम्) शीघ्र (आ गहि) प्राप्त होवो । (अभीके चित्) समीप आने पर भी [संग्राम के] (उ लोककृत्) संग्राम को बनाने वाला [इन्द्र] । ये भी दो निगम=[स्वयं अर्थ स्पष्ट करने वाले मन्त्र अथवा मन्त्रांश] हैं ।

२. दभ्रम्, अर्भकम् ये अल्प के [हैं ।] दभ्रं दभ्नोति से [है ।] सुदम्भम्=शीघ्र हो सकने वाला होता है । अर्भकम्=(अवहृतम्) अवहार किया गया=संकुचित किया गया । थोड़ा हुआ होता है । समीपता से समीपता से मेरा स्पर्श=आलिङ्गन करो, मत [मेरे उपस्थ के लोमों को] थोड़ा समझो । नमस्कार है बड़ों को, नमस्कार है छोटों को । ये भी दोनों निगम हैं ।

३. तिरः सतः, ये प्राप्त के [नाम हैं ।] तिरः=तीर्ण हुआ=तैर कर पार किया हुआ=प्राप्त किया होता है । सतः=संसृत=प्राप्त हुआ होता है । (तिरः चित्) ओझल [स्थान] से=दूर स्थान से=अपने प्राप्त स्थान से (अर्यया) ईश्वरीय अथवा देवगति [वाले अपने रथ] से (परि वर्तिः)

[रोक वाले मार्ग में] मुड़ कर भी (आयातम्) आओ (अदाभ्या= अनाम्यी) हे अहिंस्य अश्विनो ॥ (पार्वेव) मट्टी के वलनों के समान (भिन्दन् सन्) भेदन करता ताडता फोड़ता हुआ (एति) आता है (रक्षांसि) राक्षसों को [इन्द्र] । ये भी दोनों निगम हैं ।

४ त्व , नेम ये आधे के [नाम हैं ।] त्व =अपतत =अलग तत= पृथक् हो कर उस [सारे] से । नेम अपनीत =अपभज्य नीत =पृथक् किया गया । अधम् हरति से (विपरीतात्) उलटा किए हुए से । धारयति से अथवा होवे । उद्धृतम् [सार भाग से] ऊपर उठा होना है । ऋध्नोति से अथवा होवे । (ऋद्धनम) बढ़ता बढ़ा हुआ पृथक् हुआ भाग [है ।] (पीयति)-हिनस्ति=नाश करता है [हे अग्ने तेरे न्याय नियम को] त्व आधा [असुरा-नास्तिकों का] भाग (त्व) आधा भाग (अनु गृणाति) • [तेरी] स्तुति करता है । (नेम , आधे देव आधे असुर । ये भी दोनों निगम हैं ।

५ ऋक्षा , स्तृभि ये नक्षत्रों के [नाम हैं ।] नक्षत्राणि नक्षति से गति अर्थ वाले से । (न इमानि) नहीं ये (क्षत्राणि) धन [निघण्टु २ । ६ में क्षत्र-धन] यह और ब्राह्मण [प्रवचन है] । ऋक्षा ,=नक्षत्र (उत् ईरणानि इव) ऊपर भेजे हुओं के समान (ख्यायन्त) कहे जाते हैं [अथवा] दिखाई देते हैं । (स्तृभि) नक्षत्रों से (स्तीर्णानि इव) [आकाश मार्ग में] ढके हुओं के समान (ख्यायन्त) कहे जाते हैं ।

ये जो (ऋक्षा) नक्षत्र [गगन में] (निहितासः) रखे हुए ऊंचे । (पश्यन्त) देखते हुए (द्याम् इव) द्यौ के समान [भरे हुए] (स्तृभि) नक्षत्रों से । ये भी दोनों निगम हैं ।

वम्रीभि उपजिह्विका ये (सीमिकानाम्) दीमकों [पंजाबी में—स्योंक] के [नाम हैं ।] वम्र्य=(वमनात्) [मट्टी और अन्न को नीचे से ऊपर] उगलने से । सीमिका (स्यमनात्) [मन्द] चलने से । उपजिह्विका -उपजिघ्रका=[तीव्र] सूघने वाला [होती है ।] (वम्रीभि) दीमकों से पुत्र को अग्र के (अद्यानम्) खाए जाते हुए को । (यत् अत्ति) जो खाती है उपजिह्विका जो (वम्र) वम्र अर्थात् दीमकों का राजा (अति सर्पति=[दुर्ग —अद्वया मृन्‍ परिकल्पनेन] जानी मट्टी में लटकता हुआ नाश करता अथवा पहुंचता है । ये भी दोनों निगम हैं ।

७. ऊर्दरम्, कृदरम्, ये आवपन, अर्थात् अनाज की कोठी=अन्न भण्डार के [नाम हैं ।] ऊर्दरम्=उर्दीर्णम् = ऊपर से दीर्ण = छेद वाला होता है । ऊर्ज=अन्नादि के लिए (दीर्णम्) छेद वाला अथवा । (तम्) उस [इन्द्र] को [सोम से], (ऊर्दरम् न) अन्न भण्डार के समान (पृणत) भरो (यवेन) जौ से । [ऊर्दरं न यवेन, ऐसा अन्वय करना है।] यह भी निगम होता है । उस [इन्द्र] को [सोम से भरता है, जैसे [ऊर्दर=अन्न भण्डार को भरता है जौ से । (कृदरम्) प्रदीप्त (कृत-दरं) किए हुए छेद वाला होता है । (समिद्धः) प्रदीप्त हुए (अञ्जन्) व्यक्त करते हुए [अपने को] (कृदरम्) अन्न भण्डार [के समान] (मतीनाम्) बुद्धियों के [भण्डार को] । यह भी निगम होता है ॥ २० ॥

भाष्य—इस खण्ड में सब निगम हैं । इन का अर्थ स्वयं स्पष्ट है । एक प्रकार के निघण्टुओं में इन्हीं का संग्रहमात्र था। १. वायु से आवेष्टित वैद्युत् ज्योति (दुर्गः—वैद्युतेन ज्योतिषावाय्वा वेष्टितेन—इन्द्राख्येन २ । १६) ही इन्द्र है । भौतिक विज्ञान से प्रतीत होता है कि विशेष वैद्युत परमाणु वायु के परमाणुओं से आवेष्टित होने पर इन्द्र हुआ है । वह सोम ग्रहण करता है । सोम परमाणु जब उस इन्द्ररूपी तेज में लीन होते हैं, तो इन्द्र शक्ति का बल, पराक्रम अपरिमित रूप से बढ़ता है । यहां लीन होना आपित्व=आपान है । इन्द्र लोककृत् है । अन्तरिक्ष में स्थान सीमा इन्द्र और मरुतों के कारण से है ।

२. उपोप मे परामृश—वैदिक विवाह में वधू के वयः का ज्ञान इस मन्त्र में है । इस पर गोभिलगृह्यसूत्र ३ । ४ । ३ सूत्र है—नाजातलोम्न्या उपहासम् इच्छेत् । अर्थात्—नहीं अजातलोमा से उपहास आदि चाहे । रोमशा=जातलोमा=जिस के गुह्य इन्द्रिय पर भूरि लोम हो गए हैं । कन्या इस अवस्था के उपरान्त विवाह योग्य होती है ।

३. अश्वियों के मार्ग में रोक आ सकती है । मन्त्र का संकेत है—(परिवर्तिः) उस मार्ग से मुड़ कर । (पात्र) मृत्तिका=मट्टी के बर्तन ।

४. नेमः, फारसी में अपभ्रंश=नीम । नेमे देवाः=आधे देव नेमेऽसुराः, आधे असुर । ये दोनों विरोधी शक्तियां अन्तरिक्ष में और पृथिवी पर हैं । ध्यान रहे कि असुर और राक्षस एक नहीं हैं । निरुक्त ३ । ८ में पञ्चजनाः की

व्याख्या में यास्क ने लिखा है—गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि, इत्येके ।[1] इस से और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक प्रवचनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन का परस्पर भेद है । टीकाकारों ने बहुधा इस सूक्ष्मता का ध्यान नहीं किया । इस के फलस्वरूप 'हिन्दी निरुक्त' के सम्पादक प्रो० उमाशङ्कर जी ने यहां नेमेऽसुराः का अर्थ राक्षस, अर्थ ठीक नहीं किया ।

५ नक्षत्र का न क्षत्र अर्थ वाला निर्वचन तै० ब्रा० २ । ७ । १८ । ३ में है—न वा इमानि क्षत्राणि अभूवन् इति । ऋक्षा=उत् ईरणानि । ऊपर भेजे हुए । अर्थात् समुद्र में ये आप कण थे । वे कण दिव्य तरङ्गों से ऊपर को उठ गए थे । सलिलं वा इदमन्त [=अन्तरिक्षे] आसीत् । यदतरन् तत्तारकाणां तारकत्वम् । तै० ब्रा० १ । ५ । २ । ५ ॥ नक्षत्र विद्या ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत अधिक है । स्तृभिः, इस पद का प्रथमा का बहुवचन रूप स्तारः है । उस का अपभ्रंश अंग्रेजी में star है । । वरुण ने ऋक्षा को रखा । वरुण आप का राजा है । उसी ने इन आप बिन्दुओं को आप तरङ्गों के कारण ऊपर कर दिया है । ग्रह और नक्षत्र सृष्टि बनने के बहुत उत्तर काल में इस वर्तमान स्थिति में आए हैं । राजवाड़े ने तार पद को स्तार से विकृत होने का अनुमान किया है (p. 799) । अनवच्छिन्न वैदिक परम्परा में इस का स्थान नहीं । पुनश्च इस से पूर्व पृ० २२६ पर राजवाड़े इस स्थान के क्षत्र पद का अनुवाद warrior करता है । यह भ्रष्ट अनुवाद है ।

६ वम्री=(पञ्जाबी—वम्मी हिन्दी—बांबी) । सीमिका=(पञ्जाबी—स्योंक=सेंक) । पञ्जाबी अपभ्रंश स्योंक सीधा अपभ्रंश है । यास्क ने सीमिकानाम् पद लिख कर अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि वम्री और उपजिह्विका दोनों [illegible] सेंक के भेदों में से हैं । वम्र=दीमकों की सब श्रेणियों का राजा, शाह दीमक । अन्तरिक्ष के पदार्थों में से इस का ज्ञान करना चाहिए । वही अग्रु का पुत्र है । वह वम्र से खाया जा रहा था । इन्द्र उसे ले आया । इन्द्र मध्यमस्थानी है । वह अग्रु के पुत्र को जो वम्र से खाया जा रहा था, लाया । यह रहस्य अद्भुत होगा ।

इस प्रकार निघण्टु ३ । २९ के १३ नामों में से यास्क ने इस खण्ड में ७ का व्याख्यान किया है ॥ २० ॥

---

१ असुरा रक्षांसि पिशाचा अन्यत । जै० ब्रा० १ । १५४ ॥

रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य । रम्भ आरभन्त एनम् ।

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भ । [ऋ० ८ । ४५ । २० ॥]

इत्यपि निगमो भवति । आरभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम् । पिनाकं प्रतिपिनष्ट्येनेन ।

कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोऽवततधन्वा । [काठक सं० ६ । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

मेना ग्ना इति स्त्रीणाम् । स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः । मेना मानयन्त्येनाः । ग्ना गच्छन्त्येनाः ।

अमेनाँश्चिज्जनिवतश्चकर्थ ॥ [ऋ० ५ । ३१ । २ ॥]

ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत । [मै० सं० १ । ६ । ४ ॥]

इत्यपि निगमो भवतः ।

शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य । शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः । वैतसो वितस्तं भवति ।

यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ॥ [ऋ० १० । ८५ । ३७ ॥]

त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन । [ऋ० १० । ९५ । ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवतः ।

अयैना इत्युपदेशस्य ।

अया ते अग्ने समिधा विधेम । [ऋ० ४ । ४ । १५]

इति स्त्रियाः ।

एना वो अग्निम् । [ऋ० ७ । १६ । १ ॥]

इति नपुंसकस्य ।

एना पत्या तन्वं संसृजस्व । [ऋ० १० । ८५ । २७ ॥]

इति पुंसः ।

सिषक्तु सचत इति सेवमानस्य ।

स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥ [ऋ० १ । १८ । २ ॥]

स नः सेवतां यस्तुरः ।

सचस्वा नः स्वस्तये ॥ [ऋ० १ । १ । ९ ॥]

सेवस्व नः स्वस्तये । स्वस्तीत्यविनाशनाम । अस्तिरभिपूजितः । स्वस्तीति ।

भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः ।

यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम् ॥ [ऋ० २ । १२ । १ ॥]

रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः ॥ [ऋ० ६ । ६६ । ९ ॥]

इत्यपि निगमौ भवतः ।

द्यावापृथिव्योर्नामधेयान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः । तयोरेषा भवति ॥ २१ ॥

अर्थ—रम्भ, पिनाकम्, ये दण्ड के [नाम हैं ।] रम्भ, आरभन्ते=पकड़ते हैं (एनम्) इस को [वृद्धावस्था में अवलम्बन के निमित्त] । (त्वा) [हे इन्द्र] तुझ को (रम्भं न) दण्ड को जैसे (जिव्रयः) वृद्ध [पकड़ते हैं, वैसे] (आ रम्भ) पकड़ते हैं । यह भी निगम होता है । (आरभामहे) पकड़ते हैं तुझे वृद्ध जैसे दण्ड को । पिनाकम् (प्रतिपिनष्टि) पूर्णतया पीस डालता है (अनेन) इस [दण्ड] से । [रुद्र के प्रति कहा है ।] (कृत्तिवासाः) चर्मवसना, (पिनाकहस्तः) दण्डपाणि (अवततधन्वा) झुकाए हुए=चढ़ाए हुए धनुष वाला [हो कर ।] यह भी निगम होता है ।

१ मेना, ग्ना ये स्त्रियों के [नाम हैं ।] स्त्रियः स्त्यायतिः (अपत्रपण) लज्जा अर्थ वाले से । मेना मान देते हैं (एना) इनको । (ग्ना, (गच्छन्ति) जाते हैं । [सन्तानादि के लिए] एनाः=इन को । (अमेनान्

चित्) स्त्रीरहितों को (जनिवतः) स्त्रियों वाला (चकर्थ) बनाया [तू ने हे इन्द्र ।] ग्नाः =स्त्रियों ने त्वा=तुझे अकृन्तन्=काता (अपसः) कर्मकर बालकों ने (अतन्वत)[1] [ताना-वाना बना कर] तना । ये भी निगम होते हैं ।

१०. शेपः, वैतसः, ये पुरुष के प्रजननेन्द्रिय के [नाम हैं] । शेपः शपति से, स्पर्श करता है, अर्थ वाले से । वैतसः, (वितस्तम्) संकुचित= क्षीण होता है । (यस्याम्) जिस [पत्नी] में (उशन्तः) [प्रजा की] कामना करते हुए (प्रहराम) डालें (शेपम्) प्रजननेन्द्रिय को । [उर्वशी की ऋक् है—] तीन बार (मा) मुझे (अह्नः) दिन में (श्नथयः स्म) ताड़न किया (वैतसेन) प्रजनन से । ये भी दोनों निगम हैं ।

११. अयां, एना, ये उपदेश [=वर्तमान वस्तु के जताने के [नाम हैं ।] इस से तेरी, हे अग्ने, समिधा से (विधेम)=परिचरेम=सेवा करें । यह (स्त्रियाः) [समिधा निमित्त) स्त्रीलिङ्ग का [उपदेश है ।] (एना) इस [नमसा=अन्नेन] से (वः) तुम्हारे लिए (अग्निम्) अग्नि को [बुलाता हूं ।] यह नपुंसकलिङ्ग का [उपदेश है ।] (एना) इस (पत्या) पति के साथ (तन्वम्) [अपने] शरीर को (संसृजस्व)=मिश्री कुरु=मिलाओ । यह पुंल्लिङ्ग का [उपदेश है ।]

१२. सिषक्तु, सचते ये सेवन करने वाले के [निर्देशक पद हैं ।] (सः) वह [ब्रह्मणस्पति] (नः) हमें (सिसक्तु) सेवे, जो (तुरः) आशु= [फलदायक है ।] वह हमें सेवे, जो शीघ्र [फलदाता है ।] (सचस्व) सेवो हमें (स्वस्तये) कल्याण के लिए । स्वस्ति यह अ+विनाश, नहीं विनाश=कल्याण का नाम [है] । अस्तिः अभिपूजितः शुभ अस्तित्व । सु+ अस्ति, इति । पूजा योग्य भाव=अस्तित्व ।

१३. भ्यसते रेजते, ये भय और वेपन=कंपन के [बोधक पद है ।] (यस्य) जिस [इन्द्र] के (शुष्मात्) बल से (रोदसी) द्यावापृथिवी

---

१. राजवाड़े के मूल में—अतन्वतेन, पाठ है । पर सरूप और दुर्ग में मैत्रा० सं० का उपरि मुद्रित पाठ ही है ।

(अभ्यसेनाम्) काँपते अथवा भयभीत होते हैं । (रजत) काँपती है (अग्ने) हे अग्ने भूमि (महत्म्य) महत्कर्मा मरतों से अथवा यत्न करने वालों से । ये भी दोनों निगम हैं ।

द्यावापृथिवी नाम वाले [हैं] आगे चौबीस नाम । उन दोनों की यह [ऋक्] है ॥ २१ ॥

भाष्य—८ कृत्तिवास चर्मवसना रुद्र रूप है । ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार आग्नेय परमाणुओं का एक रूपविशेष ही रुद्र है । उसी के पिनाकहस्त आदि विशेषण हैं । ९ 'गनियत' = स्त्रियों वाला । अग्नि का अपभ्रंश पंजाबी में अग्नि हुआ है । आजकल स्त्रियों का कम रहा है । तन्तुवायों के बालक भी यह कम करते थे । उन का वास अपने गुरुओं के पास ही होता है । १० उर्वशी अप्सरा कौन है । विद्युत् की कोई दशा उर्वशी है । वही आप में संचय करती है । वेतस = का कुछ ज्ञान शतपथ ब्राह्मण के अगले वचन से होगा : यत्रैते यत्रर्ते प्राणा ऋषयोऽग्र ऽग्निं समस्कुर्वन् । तमद्भिरभ्योक्षन् । ता आप समस्कन्दन् । ता मण्डूका अभवन् ॥ २१ ॥ ता प्रजापतिमब्रुवन् । यद्वै न कमभूत् । अवाक् तद्गादिति । सोऽब्रवीत् । एष वा एतस्य वनस्पति र्वेत्स्यतीति । वेत्तु स्वेम् । सोऽह वै तं वेतस इत्याचक्षते ॥ ९ । १ । २ । २२ ॥ अर्थात्—यत्र ■ प्राणरूपी ऋषियों द्वारा वेदि पर जल छिड़कते हैं । क्योंकि यहीं जबके समय ऋषियों प्राणों ने अग्नि का संस्कार करते समय जिस वह्नि पर आप ■ छिड़के थे । वे आप मण्डूक हुए । इस क्रिया के अगले रहस्य को जिन्हों ने जाना वे वेतस हुए । उन्हीं का रूप इस पृथिवी पर मण्डूक और वेतस हैं । [इसी क्रिया में अवका कमल हुए ।]

प्रस्तुत मन्त्र में वेतस रूपी दण्ड अथवा प्रजनन आप का कोई रूपान्तर है । मण्डूक वेतस और अवका ये तीनों आप्य परमाणुओं के अधिक योग से बनने के कारण आप में रह कर प्रसन्न रहते हैं । इन्हीं में से वेतस से अन्तरिक्ष स्थ उर्वशी स्त्री में तीन बार ताडित की गई थी । वेतस प्रजनन दण्ड क्यों है यह अन्वेषण योग्य है । वेद मन्त्र में उसी विज्ञान का उल्लेख है

खण्ड १३ के इस के अन्तर्गत इन्द्र का बल वर्णित है । इस बल से द्यावापृथिवी काँपते हैं । अतीत काल की यह घटना अनुमानमात्र से विचारी जा सकती है । महत्म्य का अर्थ दुर्ग ने महत्कर्मा मरतों से किया है प्रकरणानुसार यही अर्थ

ठीक सुहता है । अग्ने यह अग्नि का सम्बोधन है । इस पर राजवाड़े लिखता है—अग्ने was most probably अग्रे, for Agni has nothing to do here, (p. 540) अर्थात्—अग्ने के स्थान में संभवतः अग्रे पाठ चाहिए । इस कल्पना के अनुसार उस ने इस मन्त्रांश का अपना अर्थ भी कर मारा है । हमें यह कल्पना सारहीन दिखाई देती है । मरुतों की रचना आपों और आपः-परमाणुओं से हुई है । आपो वै मरुतः । ऐ० ब्रा० ६ । ३० ॥ ऋषि अग्निः का सम्बोधन कर के इस आपः परिणाम मरुतों के यज्ञ का कथन करता है ॥ २१ ॥

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को विवेद ।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव ॥
[ऋ० १ । १८५ । १ ॥]

कतरा पूर्वा कतरापरैनयोः । कथं जाते । कवयः क एने विजानाति । सर्वमात्मना बिभृतो यद्धैनयोः कर्म । विवर्तेते चैनयोः । अहनी अहोरात्रे । चक्रियेव चक्रयुक्ते इवेति । द्यावापृथिव्योर्महिमानमाचष्ट आचष्टे ॥ २२ ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

अर्थ—(कतरा) कौन (पूर्वा) पूर्वकाला, (कतरा) कौन (अपरा) उत्तरकाला (अयोः) इन [दोनों] द्यावापृथिवी में से । (कथा जाते) कैसे [दोनों] उत्पन्न हुईं । (कवयः) हे कवियो (कः विवेद) इसे कौन जानता है । (विश्वम्) यह सम्पूर्ण (त्मना)=आत्मना, आप से (बिभृतः) धारण किया हुआ (यत् ह) जो कुछ (नाम) नाम वाला [पदार्थ है ।] (विवर्तेते) घूमते हैं (अहनी) दिन और रात (चक्रिया इव) चक्र युक्त के समान ।

कौन पूर्वकाला, कौन पराकाला इन दोनों में से । कैसे दोनों उत्पन्न हुईं । हे कवियो कौन इन दोनों को जानता है । यह सब अपने द्वारा आप धारण किए हैं, जो कुछ इन दोनों का कर्म [है]। घूमते हैं इन दोनों में दिन और रात, चक्र से युक्त के समान, इति । द्यावापृथिवी की महिमा को कहता है ॥ २२ ॥

भाष्य—वैदिक विज्ञान में पृथिवी, भूतस्य प्रथमजाः (यजु १०।४) भुवनमात्र में प्रथम जन्मा है। शतपथ ब्रा० ६।१।३।१ में प्रवचन है—इयमु [भूमि] वा एषां लोकानां प्रथमा असृज्यत। ये दोनों कैसे उत्पन्न हुईं इस का व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों में है।[1] कश्यप से सम्वत्सर जात हैं, और भूमि पर के विकार। क्ष्मना=क्ष्मनता=क्ष्मामना, ये तीनों रूप अति प्राचीन काल में प्रयुक्त होते थे। अहोरात्र और संवत्सर का विज्ञान वेद में जानना चाहिए। द्यावापृथिवी की अगाध महिमा है ॥ २२ ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

---

१. देखो, मद्रचित वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ८८—।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम् । अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः । अनवगतसंस्कारांश्च निगमान् । तदैकपदिकमित्याचक्षते ।

जहा जघानेत्यर्थः ॥ १ ॥

अर्थ—एक अर्थ वाला=वाले, अनेक शब्दों वाला, यह [निघण्टु समाम्नाय का नैगम प्रकरण] कहा गया [है ।] अब जो अनेक अर्थो वाले, एक एक शब्द [हैं] उन को इस से आगे क्रम से कहेंगे । (अनवगत संस्कारान् च) और नहीं ज्ञात है [व्याकरण शस्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति, प्रत्यय आदि] संस्कार जिन का, उन निगमों को । तो [इस प्रकरण को] ऐकपदिक कहते हैं [आचार्य] ।

१. जहां=जघान=मारा, यह अर्थ है ।

भाष्य—ऐकपदिक संज्ञा पूर्वाचार्यों के निघण्टुओं में भी इस प्रकरण की थी । एकपदानां व्याख्यानम् ऐकपदिकम्—इति (स्कन्द) । जहा आदि एक एक पद का व्याख्यान यहां है ।

को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत् ।

जहा को अस्मदीषते ॥ [ऋ० ८ । ४५ । ३७ ॥]

मर्या इति मनुष्यनाम । मर्यादाभिधानं वा स्यात् । [मर्यादा मर्यैरादीयते] मर्यादा मर्यादिनोर्विभागः । मेथतिराक्रोशकर्मा । अपापकं जघान कमहं जातु । कोऽस्मद्भीतः पलायते ।

निधा पाश्या भवति । यन्निधीयते । पाश्या पाशसमूहः । पाशः पाशयतेः । विपाशनात् ॥ २ ॥

अर्थ—कौन भला (मर्याः) हे मनुष्यो—(अमिथितः)=अनाहत=न झिड़का हुआ (सखा) मित्र (सखायम्) सखा को (अब्रवीत्) बोला। (जहा) मारा [किस हम ने]। (कः) कौन (अस्मत्) हम से (ईषते) भागता है।

मर्या, यह मनुष्य का नाम [है।] मर्यादा का (अभिधानम्) कथन [इस मर्या पद से] अथवा होवे। [मर्यादा=मर्यैः=मनुष्यों से (आदीयते) पकड़ी जाती है।] मर्यादा=मर्यादिन [स्कन्द का पाठ मर्यादो] की [ग्राम] सीमाओं का विभाग। मथति आक्रोश=झिड़कना अर्थ वाला [है।] निष्पाप को मारा किस को मैंने कभी। कौन हम से डरके भागता है।

२. निधा (पाश्या)=पाशों का=फांसों का समूह होता है। (यत् निधीयते) जो [पक्षी पकड़ने के लिए भूमि पर] रखी जाती है। पाश्या अर्थात् फांसों का समूह। पाश पाशयतेः [है।] (विशसनात्) विशेष हिंसने से॥ २॥

भाष्य—मर्यादिन और मर्यादो, इन में से उत्तर पाठ स्कन्द में है। पर सकल संस्करणों के एक भी कोष में नहीं है। स्कन्द के अनुसार निधा पद अनवगत संस्कार है। अंग्रेजी में net इसी का अपभ्रंश प्रतीत होता है॥ २॥

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्॥
[ऋ० १०।७३।११]

वयो वेर्बहुवचनम्। [सुपर्णाः] सुपतना आदित्यरश्मयः। उपसेदुरिन्द्रं याचमानाः। अपोर्णुह्याच्छादितं चक्षुः। चक्षुः ख्यातेर्वा। चष्टेर्वा। पूर्धि पूरय देहीति वा। मुञ्चास्मान्पाशैरिव बद्धान्।

पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः। [यजु २१।४३]

पार्श्वं पर्शुमयमङ्गं भवति। पर्शुः स्पृशतेः। संस्पृष्टा पृष्ठदेशम्। पृष्ठं स्पृशतेः। संस्पृष्टमङ्गैः। अङ्गमङ्कनात्। अञ्चनाद्वा। श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलनकर्मणः। श्रोणिश्चलतीव गच्छतः। शितामं भवति।

दोर्द्रवतेः । योनिः शितामेति शाकपूणिः । शिपितो भवति । श्यामतो यकृत इति तैटीकिः । श्यामं श्यायतेः । यकृद्यथा कथा च कृत्यते । शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः । शिति श्यतेः । मांसं माननं वा । मानसं वा । मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा । मेदो मेद्यतेः ॥ ३ ॥

अर्थ—(वयः) [अन्तरिक्षस्थ] पक्षी [सदृश, अर्थात्] (सुपर्णाः) सुन्दर परों वाले आदित्य रश्मि (उप सेदुः) समीप आए (इन्द्रम्) इन्द्र के । [वे रश्मि थे], (प्रियमेधाः) प्रिय है यज्ञ जिन को, (ऋषयः) अत्यन्त वेग की गति वाले, तथा दृष्टिदाता (नाधमानाः) याचना करते हुए । (ध्वान्तम्) [जगत् के] अन्धकार को (अप ऊर्णुहि) दूर कर । (पृधि) पूर्ण करो (चक्षुः) चक्षु को=देखने में समर्थ बनाओ । (मुमुग्धि) मुक्त करो (अस्मान्) हम को, (निधया इव बद्धान्) जो पाशों में बन्धे हुओं के समान हैं ।

वयः, वि का बहुवचन है । [सुपर्णाः] सुन्दर प्रकार से नीचे=भूमि लोक की ओर गिरने वाले आदित्य के रश्मि, समीप आए इन्द्र के, याचना करते हुए । (अप ऊर्णुहि आध्वस्तं) दूर करो चारों ओर के अन्धकार को=आच्छादन को । चक्षुः को । [पृधि] पूर्ण करो । चक्षुः ख्याति=कहना से अथवा । चष्टि=देखना से अथवा । (पृधि) पूर्ण करो=भर दो, दो अथवा । मुक्त करो हम को पाशों से बन्धे हुए [पक्षियों को] जैसे ।

३. शिताम [अनवगत संस्कार और अनेकार्थ] (पार्श्वः) [दाएं बाएं] पासे से, (श्रोणितः) कमर से, (शितामतः) भुजा से, योनि से, यकृत् से, मेद से ।

(पार्श्वम्) पर्शुमय=पसलियों वाला=पसलियों से युक्त अङ्ग होता है । पर्शु, स्पृशति से [है ।] संस्पृष्टा, लगी हुई=स्पर्श करती हुई पृष्ठ=पीठ देश को [होती है पसली ।] पृष्ठम्, स्पृशति से [है ।] स्पर्श की हुई होती है अङ्गों से । अङ्गम् अङ्कनात्=अङ्कन लक्षण से [परिच्छिन्न अथवा सर्वथा पृथक् लक्षित करने से, यह बाहु, यह टांग, यह कमर ।] अञ्चनात्=गति युक्त [होने] से अथवा [पृथक् २ हिल सकता है ।] श्रोणिः श्रोणति=गतिशीला, [अथवा] चलना अर्थ वाले से । श्रोणिः, चलती हुई के समान [होती है] जाते हुए की । दोः=भुजा=बाहु शिताम होता है । दोः, द्रवति से [है ।]

योनि [अर्थ वाला] शिताम [पद है,] यह शाकपूणि [कहता है ।] (शिवित=वि सित) विकसित होनी है । श्यामत =यकृत हलके कालि= कृष्ण वर्ण वाले से [अर्थात्] यकृत् से, यह तैटीकि [कहता है ।] (श्यामम्) श्यायति=जाति अर्थक से [गुरुतः कृष्ण दो वर्णों की गति से श्याम वर्ण बनता है ।] यकृत (यथा कथा) जैसे वैसे [सरलता से] कृत्यते=काटा जाता है । (शितिमासत) श्वेत वर्ण वाले मास से= (मेदस्त) चर्बी से, [अत शिताम] यह गालव [कहता है ।] शिति, श्यति से=[तनूकरण=सूक्ष्म करने वाले अर्थ से ।] मासम् =माननं - मान करने योग्य अथवा । (मानमम्)=मन का अथवा । मन इस मे बैठता है[1] अथवा। मेद मेद्यति से [=स्नेह अर्थ वाला=स्निग्ध अर्थ वाला ।] ॥ ३॥

भाष्य—घस भूमि के पक्षी और अन्तरिक्ष के पक्षी । अन्तरिक्ष के पक्षी आग्नेय परमाणु रूप हैं । इन का अर्थविशेष वेदविद्यानिदर्शन पृ० १३७ १४२ पर देखें । इन के साथ भी सुपर्ण पद प्रयोत आदित्यरश्मि लगे रहते हैं । इन सुपर्णों को ऋपय करता है । वे गतिशील हैं और वृष्टि का हेतु हैं । इन्द्र के द्वारा अन्धकार दूर होता है । दुर्ग के अनुसार यह इन्द्र आदित्य है ।

इस से आगे शिताम का निर्वचन है । यह पद अनवगत संस्कार और अनेकार्थक है । इस पद के लिए यास्क ने पशु की हवि के सम्बन्ध प्रैष का एक अंश पढ़ा है । यह प्रैष दैवी यज्ञ को कहता है । उसी की प्रतिकृति उत्तरकाल में पशु के हनन में कल्पित की गई । ऋपि पद का अपभ्रंश यावनी बोली में arche हुआ ।

पार्श्व का पशावो में अपभ्रंश पासा बना । शिताम=योनि बालक उत्पन्न होते समय विकसित होती है फैलती है । अतः शाकपूणि ने शिताम का निर्वचन विशित विकसित किया । शिताम का यकृत अर्थ तैटीकि ने किया । यकृत श्याम वर्ण का होता है । श्याम वर्ण काला वर्ण नहीं होता । काले और सुफेद का मेल होता है । यास्क न शाकपूणि तैटीकि और गालव में से किसी के भी मत का खण्डन नहीं किया । यथा कथा प्रयोग वर्तमान संस्कृत में लुप्त हो चुका है । य+कृत य=यथा कथा कृत=कृत्यते । यह तैटीकि का निर्वचन है । तैटीकि आदि निर्वचन विद्या के आचार्य थ ॥ ३ ॥

---

१ 'स निति=बैठता है का अभिप्राय है मन का बैठना-घृणा को प्राप्त होना या गिरना । तुलना करो—त्रया हि एतेनो लोकः प्रमीदति न सीदति । अर्थशास्त्र १ । ३ ।

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः ।

राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर ॥ [ऋ० ५ । ३९ । १ ॥]

यदिन्द्र [चित्रं] चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति । यन्म इह नास्तीति वा । त्रीणि मध्यमानि पदानि । त्वया नस्तद् दातव्यम् । अद्रिवन् । अद्रिरादृणात्येनेन । अपि वात्तेः स्यात् ।

ते सोमादो । इति ह विज्ञायते ।

राध इति धननाम । राध्नुवन्त्यनेन । तन्नस्त्वं वित्तधनोभाभ्यां हस्ताभ्यामाहर । उभौ समुब्धौ भवतः ।

दमूना दममना वा । दानमना वा । दान्तमना वा । अपि वा दम इति गृहनाम । तन्मना स्यात् । मनो मनोतेः ॥ ४ ॥

अर्थ—४. [मेहना], (यत्) जो (इन्द्र) हे इन्द्र (चित्र) पूजनीय (मेहना) धन है, (त्वादातम्) तेरे द्वारा देने योग्य, (अद्रिवः) हे वज्र-वाले (राधः) धन (तत्) उस को (नः) हमारे लिए (विदद्वसः) हे धनों को प्राप्त करने वाले, (उभया हस्त्या) दोनों हाथो से (आ भर) ला=प्राप्त करा ।

जो हे इन्द्र (चित्र=चायनीय) पूज्य (मेहना) धन है, [अथवा जो) (म, इह, न) मेरे पास यहां नहीं (अस्ति) है। तीन मध्यम पद हैं । तेरे द्वारा हमारे लिए (तत्) वह (दातव्यम्) दिया जाना चाहिए, (अद्रिवन्) हे वज्र वाले । अद्रिः, आदृणाति=फाड़ देता है (एनेन) इस से । अथवा अत्ति=खाता है, से होवे ।

वे (सोमादः) सोम के खाने वाले । यह [अत्ति से अर्थ] विशेष जाना जाता है । [वहां अद्रियों को 'सोमादः' कहा है ।] राधः, यह धन का नाम [है ।] (राध्नुवन्ति) सिद्ध होते हैं [कार्य] (एनेन) इस से। वह हमारे लिए, तुम हे (वित्तधन) प्राप्त किए धन वाले, दोनों हाथों से (आहर) ला, उभौ (सम् उब्धौ) उभ=पूर्णे [धातुपाठ ६ । ३२] दोनों भरे हुए [हाथों से] ।

४ दमूना, दममना=दमन वाले मन वाला। दान वाले मन वाला अथवा। (दान्तमना) वशीभूतमना=शीघ्र में मन वाला। अथवा दम यह गृह का नाम [है।] उस में मन वाला होवे। मन, मनोति से॥४॥

भाष्य—निरुक्त का वर्तमान पाठ 'मित्र' चायनीय है। परन्तु यह अशुद्ध है। मन्त्र में मित्र पद सम्बोधन स्वर से युक्त है। अतः मित्र चायनीय यही शुद्ध पाठ है। सायण ने इसी मन्त्र के भाष्य में निरुक्त का मित्र चायनीय पाठ ही उद्धृत किया है।

मेहना, अवग्रह सहकार पद है। इस पद के विषय में स्कन्द स्वामी लिखता है—एकमिति शाकल्य। त्रीणीति गार्ग्यः। अर्थात्—तीन साध्य पद। मित्र म इह न अस्ति। इन पदों में म, इह, न ये तीन साध्य है। पदकार ने यहां गार्ग्य के पाठ को भी शुद्ध माना है। ध्यान रहे कि साम के मन्त्र पाठ में म इह नास्ति पाठ है। इस गार्ग्य पाठ में ऐसा मानना यह विचारणीय है। इन्द्र मनुष्य नहीं है। वह अन्तरिक्षस्थ देव है। वह वायु या आदित्य विद्युत् देव है। वह देवों का राजा और ऐश्वर्यवान् है। उस में मनुष्य के गुणों का आरोप मान कर कथन किया गया है॥४॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि॥
[ऋ० ५।४।५॥]

अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति। अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा। [पर] गृहाणीति वा। दुरोण इति गृहनाम। दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः। इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्। सर्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामाभर भोजनानि। विहत्यान्येषां बलानि शत्रूणां भवनादाहर भोजनानीति वा। धनानीति वा।

मूषो मूषिका इत्यर्थः। मूषिकाः पुनर्मुष्णातेः। मूषोऽप्येतस्मादेव॥५॥

अर्थ—(जुष्ट) सब से सेवित, सब के प्रिय (दमूना) दमन किए हुए मन वाला (अतिथि) अतिथि समान आदरणीय। (दुरोणे) [पर] गृह में (इमं नः यज्ञम्) इस हमारे यज्ञ को (उप याहि) तुम आओ

(विद्वान्) जानते हुए, (अग्ने) हे अग्ने । (विश्वा) सम्पूर्ण (अभियुजः) सामने ठहरी हुई सेनाओं को [स्त्रीलिङ्ग होने से सेनाओं का अभिप्राय है] (विहत्य) मार कर, (शत्रूयताम्) शत्रुता करने वाले के (आ भर) ला दो (भोजनानि) अन्न अथवा धनों को।

अतिथिः=अभ्यतितः गृहान् भवति । [अततिः=गतिकर्मा], प्राप्त हुआ घरों को होता है । (अभ्येति) आता है, तिथियों [पूर्णिमा आदि पर] दूसरों के कुलों को अथवा । दूसरों के घरों को अथवा । दुरोणः, यह घर का नाम [है ।] दुरवाः=दुः+अवाः=दुस्तर्पाः कठिनता से पूर्ण होने वाले होते हैं । इस हमारे यज्ञ को आओ, जानते हुए । सारी, हे अग्ने, सामना करने वाली सेनाओं को विविध प्रकार से मार कर, शत्रुता करने वालों के (आ भर) ला दो अन्न अथवा धन को । विविध प्रकार से मार कर परायों के बलों=सेनाओं को शत्रुओं के भवन से (आ हर) ले आओ अन्नों को अथवा, धनों को अथवा ।

६. मूषः, मूषिकाः=चूहियां, यह अर्थ है । मूषिकाः, फिर मुष्णाति से । मूषः भी इसी से [है] ॥ ५ ॥

भाष्य—अग्निः अतिथि है । वह यज्ञरूपी गृह में आता है । वह विशेष तिथियों पर आता है । वह शत्रुओं की सेनाओं को मारता है । जो रोग-उत्पादक विषैले जन्तु वायु में रहते हैं, उन्हें मारता है । वह अन्तरिक्षस्थ अन्न, ऊर्ज् आदि को वर्षा के साथ मिल कर पृथिवी पर ला कर हमें देता है । उस से हमारी खेतियां फलती हैं । ये विशेषण अग्निः के हैं, और उस में घटते हैं । पर इसी मन्त्र का उपमा से दूसरा अर्थ भी है । दुर्ग के पाठ में गृहाणीति के आगे पाठ है—अयमपीतरोऽतिथिरेतस्मादेव ।

मूषः, यह भी अनवगत है । इस का पुरानी अंग्रेजी में अपभ्रंश mus, अंग्रेजी में mouse और यवनी में mus है । इस का पंजाबी अपभ्रंश मुच्छना=ठगणा=धोखा देकर छीनना है । यह रात को चोरी करता है, चोरी से अन्नादिक खाता है । अतः मुष्=स्तेये से इस पद का अर्थ दर्शाते हैं ॥ ५ ॥

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो
वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ [ऋ० १ । १०५ । ८ ॥]

सन्तपन्ति मामभितः सपत्न्य इवेमाः पर्शवः कूपपर्शवः। मूषिका इवास्नातानि सूत्राणि व्यदन्ति। स्वाङ्गाभिधानं वा स्यात्। शिश्नानि व्यदन्तीति वा। सन्तपन्ति माध्यः कामाः। स्तोतारं ते शतक्रतो। [वित्तं मे अस्य रोदसी।] जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति।

त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति। त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव। अपि वा संख्यानामैवाभिप्रेतं स्यात्। एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः ॥ ६ ॥

अर्थ—मा=मुझे (सन्तपन्ति) सम्यक् तपाती हैं (अभितः) चारों ओर से (सपत्नीः इव) सौतिनों के समान (पर्शवः) [कूएं की] ईंटें। (मूषः न) चूहा जैसे (शिश्ना) [तन्तुवाय के माण्ड लगे] सूत्रों को (व्यदन्ति) विशेष खाता है [मा आध्यः] [वैसे] मुझे [मानसिक] व्याधियां। (स्तोतारम्) स्तुति करने वाले को (ते) तेरे (शतक्रतो) हे इन्द्र। जानो मेरे [इस दुःख को] हे द्यावापृथिवी [तुम भी।]

सम्यक् तपाती हैं मुझे चारों ओर से सपत्नियों के समान ये कूएं की ईंटें। चूहियों के समान (अस्नातानि) बिना धुले माण्ड लगे [तन्तुवाय के] सूत्रों को विशेष रूप से खाती हैं। अपने अङ्ग का कथन अथवा होवे। (शिश्नानि) शिश्न अर्थात् पूंछ को [जो तेल आदि से भीग जाती है वह] विशेष खाती=काटती हैं। सम्यक् तपाती हैं मुझे मानसिक कामनाएं। तेरे स्तोता को हे इन्द्र। जान लें मेरे इस [दुःख] को द्यावापृथिवी।

त्रित को कूप में (अवहितम्) गिरे हुए को यह सूक्त (प्रतिबभौ) प्रतिभासित=प्रकाशित हुआ। (तत्र) इस सूक्त में (ब्रह्म) मन्त्र [समूह] इतिहास से मिला हुआ ऋचाओं से मिला हुआ गाथा से मिला हुआ होता है। त्रित=अत्यन्त अधिक बढ़ा हुआ (मेधया) बुद्धि से हुआ। अथवा संख्या नाम ही अभिप्रेत हो। एकत द्वित त्रित, ये तीन हुए ॥ ६ ॥

मन्त्र—(सपत्नी इव यह होने योग्य है। सर्वत्र अनुकारयोग नहीं। सपत्नी हिन्दी भाषा—सौतेन। पंजाबी में—सौकन (कूप। वनरीव

में कभी अनेक कूप थे, बिल थे, पणियों की गौओं=रश्मियों को रोकने वाले बाड़े थे। वैसे ही कूप और वैसे ही त्रित के विषय का यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १०५ सूक्त है। त्रित भौतिक पदार्थ है, यह ब्राह्मण प्रवचन से ज्ञात होता है। सोऽङ्गारेणापोऽभ्यपातयत् तत एकतोऽजायत। स द्वितीयमभ्यपातयत् ततो द्वितः। स तृतीयं ततस्त्रितः, इति। मै० सं० ४।१।९॥ अतः अङ्गारों और आपः से त्रित आदि की उत्पत्ति स्पष्ट है। स्कन्द लिखता है—इतिहासमिश्रम्—त्रितः कूपे ऽवहितो देवान् हवत ऊतये। तच्छुश्राव बृहस्पतिः (ऋ० १।१०५।१७) गाथामिश्रम्—अरुणो मा सकृत् (ऋ० १।१०५।१८)। इस प्रकार ये मूल इतिहास गाथा आदि हैं, जहां से सृष्टि में इतिहास विद्या चली।[1] इस प्रस्तुत सूक्त के अनुसार त्रित के आह्वान को बृहस्पति ग्रह ने सुना। त्रित का रहस्य ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुधा मिलता है। कूप के पशु वात, रजः और आग्नेय परमाणुओं के स्थूल स्तर थे। स्थूलबुद्धि पुरुष इस रहस्य को समझने की चेष्टा नहीं करते॥ ६॥

इ॒षि॒रेण॑ ते॒ मन॑सा सु॒तस्य॑ भक्षी॒महि॒ पित्र्य॑स्येव रा॒यः।
सोम॑राजन्प्र ण॒ आयूं॑षि तारी॒रहा॑नीव॒ सूर्यो॑ वास॒राणि॑॥
[ऋ० ८।४८।७॥]

ईषणेन वैषणेन वार्षणेन वा। ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य। प्रवर्द्धय च न आयूंषि सोमराजन्। अहानीव सूर्यो वासराणि। वासराणि वेसराणि विवासनानि गमनानीति वा।

कुरुतनेत्यनर्थका उपजना भवन्ति। कर्त्तन हन्तन यातनेति।

जठरमुदरं भवति। जग्धमस्मिन्ध्रियते धीयते वा॥ ७॥

अर्थ—७. इषिरेण। ईषतः=गतिकर्मणः, इषेः=इच्छार्थात्, ऋषेः=दर्शनार्थात्। (इषिरेण) गतिशील, इच्छा वाले, दर्शन करने वाले (मनसा) मन से, (ते) तेरे (सुतस्य) उत्पन्न किए [सोम] को (भक्षीमहि) खाते हैं, (पित्र्यस्य इव रायः) पैतृक धन के समान। हे सोमराजन्, (नः) हमारे आयुओं को (प्र तारीः) तरतिः=वृद्ध्यर्थः, बढ़ा। बढ़ाता है (अहानि इव) दिनों को, जैसे (सूर्यः) सूर्य (वासराणि) [संसार के] बसाने वालों को।

---

१. ऋक्, यजु, साम, गाथा, इतिहास आदि भाषा शैलियां भी हैं। स्कन्द के अनुसार इस सूक्त के मन्त्र ही उन २ शैलियों के हैं। अतः यास्क ने लिखा कि यहां ब्रह्म=वेद मन्त्र गाथा और इतिहास शैली के हैं।

(ईरणेन) गति शील से अथवा, (एषणेन) इच्छा शील से अथवा, (अर्पणेन) दर्शनशील से अथवा । तेरे, मन से, उत्पन्न किए गए को खाते हैं, पैतृक धन को जैसे । बढ़ाओ और हमारे आयुओं को हे सोमराजन्। दिनों को जैसे सूर्य संसार के बसाने वालों को [बढ़ाता है ।] वासराणि= वेसराणि=बहुविध गमन वाले [दिनों को], विवासनानि=बहुविध निकाले जाते हैं [रात के परदे से जो] अथवा ।

८. कुस्तन, ये अनर्थक उपजन वाले होते हैं । [यथा—कुस्तन में अन्त का नकार अनर्थक है, कुस्त स्वयं अर्थ देता है । इसी प्रकार] कर्तन, हन्तन, यातन [में सर्वत्र न अनर्थक है लौकिक प्रयोग की दृष्टि से ।]

९ जठरम्, उदर होता है । खाया हुआ, इस में (ध्रियते) धारण किया जाता है, (धीयते) रखा जाता है अथवा ॥ ७ ॥

भाष्य—सोमराजन् न आयूंषि प्रतारीः । दीर्घमायुरस्तु देवाः । निरु॰ ८ । २३ ॥ देवा न आयु प्रतिरन्तु जीवसे । ऋ॰ १ । ८९ । २ ॥ प्रस्तुत मन्त्र में राजा सोम से आयुवृद्धि की प्रार्थना है । वस्तुतः ये सब पदार्थ जिनमें सोम का अंश है, आयुवर्धक हैं । गौ में भी सोम का अंश है ।[1] अतः गोदुग्ध अथवा गोघृत भी आयुवर्धक है । ईश्वर की अन्य विभूतियां, जो देव आदि हैं, वे भी आयुवर्धक हैं । इसी लिए अनेक मन्त्रों में देवों से भी आयुवर्धन की प्रार्थना है । पितृयज्ञ आदि । मनु आदि धर्मशास्त्रकारों ने ऐसे मन्त्रों से दायाद के नियम ग्रहण किए हैं । सूर्य दिनों को कैसे बढ़ाता है, इस विषय में अनेक ऊहापोह हैं ॥ ७ ॥

मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय ।
आ सिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम् ॥
[ऋ॰ ३ । ४७ । १ ॥]

मरुत्वानिन्द्र । [मरुद्भि] तद्वान् । वृषभो वर्षितापाम् । रणाय रमणीयाय संग्रामाय । पिब सोमम् । अनुष्वधमन्नमन्नम् । मदाय मदनीयाय जैत्राय । आसिञ्चस्व जठरे मधुन ऊर्मिम् । मधु सोममित्यौपमिकं माद्यते । इदमपीतरन्मध्वेतस्मादेव । त्वं राजासि पूर्वेष्वप्यहस्सु सुतानाम् ॥ ८ ॥

---

1. यत्रै राप्यायते सोमः स च गोषु प्रतिष्ठितः । अनुशासन पर्व ११२ । १४ ॥

अर्थ—(मरुत्वान्) मरुतों वाले (इन्द्र) हे इन्द्र (वृषभः) बरसाने वाला [तू जलों का]. (रणाय) संग्राम के लिए (पिब) पी, (सोमम्) सोम को (अनु स्वधम्) पश्चात् अन्न के, (मदाय) मद के लिए। (आसिञ्चस्व) सींचो (जठरे) पेट में (मध्वः) मधु=सोम की (उर्मिम) तरङ्ग को. (त्वं राजा असि) तुम राजा हो, (प्रदिवः) पूर्व दिनों में [भी] (सुतानाम्) उत्पन्न हुए [सोमों के]।

मरुत्वान् इन्द्र=मरुतों के साथ [अथवा] मरुतों वाला, वृषभः बरसाने वाला (अपाम्) आपः का, रणाय=रमणीय संग्राम के लिए, पी सोम को, पश्चात् अन्न के, मदाय जैत्राय=विजय देने वाले उत्साह के लिए। सींचो पेट में मधु के तरङ्ग को । मधु=सोम, उपमा के सम्बन्ध से। माद्यति से। यह भी दूसरा मधु (=शहद अथवा मदिरा) इस कारण से ही। तुम राजा हो पूर्व दिनों में भी उत्पन्न हुए [सोमों के] ॥ ८ ॥

भाष्य—मरुत् प्रजाएं हैं इन्द्र की । इन्द्र और मरुतः मध्यमस्थानी हैं । मरुतों की सहायता से इन्द्र वर्षा करता है । मरुतों का अधिक वर्णन हमारे वेद-विद्यानिदर्शन के अन्तरिक्ष प्रकरण में है । स्वधा अन्न होता है । यह ऊर्ग् आदि के साथ अन्तरिक्ष में है । इन्द्र इसे स्वायत्त कर के तदनु सोम पीता है । सोम के तरङ्ग द्युलोक और चन्द्र मण्डल से चलते हैं । उन्हें इन्द्र पीता है । सृष्टि बनने के समय, पूर्व दिनों में भी, इन्द्र ने सोम पिया था । तब से यह माया निरन्तर घट रही है ।

तितउ परिपवनं भवति । ततवद्वा । तुन्नवद्वा । तिलमात्रतुन्नमिति वा ॥ ६ ॥

अर्थ—१०. तितउ, परिपवन=चारों ओर से जिस में पावन कर्म हो= छाननी होती है । ततवत्=विस्तृत चमड़े वाला अथवा । तुन्नवत्=छेदों वाला अथवा । तिलमात्र छेदों वाला अथवा ॥ ९ ॥

भाष्य—वेद के तितउ को ईसाई यहूदी लेखक प्राकृत का शब्द कहते है । वे प्रउग पद को भी प्राकृत का रूप मानते हैं । उन का कथन है कि संस्कृत के पदों में दो स्वर एकत्र कहीं नहीं होते । तितउ में अकार तथा उस से आगे उ अक्षर पड़े हैं, यह पद प्राकृत का है । यह तर्क संगत नहीं । वेद में ओम् पद विद्यमान है । ओम् के ओ में अकार और उकार दोनों वर्तमान हैं । उन्हीं का सन्धियुक्त उच्चारण ओकार है । यदि ओकार सर्वत्र स्वतन्त्र अक्षर होता तो

वैयाकरण इसे सन्धियुक्त अक्षर की संज्ञा न देते। अतः तितउ में अ और उ का साथ साथ अक्लिष्ट उच्चारण प्रकृत के प्रभाव का फल नहीं है। हाँ वेद के उदाहरण में तितउ के अन्तिम दो स्वरों में सन्धि नहीं होती। वेद के सन्धि के अपने नियम हैं।

प्रउग में भी दो अव्यवहित असमान स्वरों का सन्धि नहीं होता। यहाँ कारण स्पष्ट है। पुरस्तात् के समान यहाँ भी 'प्रस्' सकारान्त है, अकारान्त नहीं। अत एव 'देव इच्छन्ति' के समान 'स्' लोप होने पर पुनः सन्धि नहीं होता। कात्यायन ने प्रातिशाख्य में प्रयुग का यकार लोप मान कर प्रउग माना है। तितउ में 'प्रउग' के समान मूल कारण अन्वेषणीय है।

तितउ का अंग्रेज़ी अपभ्रंश teat=थनों का स्तन है। जैसे छलनी के छेदों में से सूक्ष्म पदार्थ नीचे निकलते हैं, वैसे स्तन के छेदों में से दूध निकलता है।

परिपवनम्=इस पद का अंग्रेज़ी अपभ्रंश पैवन है ॥ १ ॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥
[ऋ० १० । ७१ । २ ॥]

सक्तुमिव परिपवनेन पुनन्तः। सक्तुः सचतेः। दुर्धावो भवति। कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य। विकसितो भवति। यत्र धीरा मनसा वाचमकृषत प्रज्ञानम्। धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तः। तत्र सखायः सख्यानि सञ्जानते। भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि [इति]। भद्रं भगेन व्याख्यातम्। भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयम्। भवद्रमयतीति वा। भाजनवद्वा। लक्ष्मीर्लाभाद्वा। लक्षणाद्वा [लप्स्यनाद्वा।] लाञ्छनाद्वा। लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणः। लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणः। लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः।

शिप्रे इत्युपरिष्टाद् [६ । १७] व्याख्यास्यामः ॥ १० ॥

अर्थ—(सक्तुम् इव) सत्तू को जैसे (तितउना) छलनी से (पुनन्तः) छानते। (यत्र) जहाँ पर (धीराः) ज्ञानवान् लोगों ने (मनसा) मन से (वाचम् अक्रत) वाग्ज्ञान को किया वहाँ समानज्ञानी मित्र मैत्री को (जानते) जानते हैं। भद्रा=कल्याणी (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (एषाम्) इन की (अधिवाचि) वाणी पर (निहिता) स्थापित [है।]

सक्तुम् इव सत्तु को जैसे (तितउना) परिपवनेन=छानने में जैसे छानते हुए । सक्तुः=सचति में=एकत्र जम जाता है । (दुर्धावः) कठिन है शोधना जिस का, ऐसा होता है। कसति=खिलना है, से अथवा होवे उन्नट किए हुए कस+तु=सक तु=सक्तु । खिला हुआ होता है । जहां प्रज्ञावानों= ध्यानवालों ने मन से (वाचम्) प्रज्ञान को अक्रत=अकृपत=प्रयुक्त किया, वहां सखा सख्यपन को (सञ्जानते) भले प्रकार जानते हैं । भद्रा=कल्याणी लक्ष्मी इन की वाणी के ऊपर स्थापित है । भद्रम्. भग से व्याख्यात है । भजनीयम=सेवा योग्य है (भूतानाम) प्राणधारियों का, (अभिद्रवणी- यम्)=अभिगमनीयम् प्राप्त करने योग्य । (भवत्) होता हुआ (रमयति) रमण कराता है अथवा । (भाजनवत वा) भाजन=पात्र वाला है अथवा । लक्ष्मी: लाभ से अथवा । लक्षण से=देखी[1] जाती है, चिन्तन की जाती है,[1] अथवा । [लप्स्यनात् प्राप्त करने की इच्छा से अथवा ।] लाञ्छन से अथवा । लपति से अथवा होवे, प्रेप्सा=प्र+ईप्सा=प्राप्तुम् इच्छा अर्थ वाले से । लग्यति=लगता है से अथवा आश्लेष=जुड़ी होने अर्थ से । लज्जति से अथवा होवे, अश्लाघा=अप्रशंसा अर्थ वाले से ।

११. शिप्रे, यह आगे [६ । १७ में] व्याख्या करेंगे ॥ १० ॥

भाष्य—धीराः=प्रज्ञावान् । ये धीर लोग वाणी को मन से छान कर बोलते हैं । वाक् के सत् प्रयोग से ही मैत्री रहती है । उन की वाणी पर लक्ष्मी का वास रहता है । लक्ष्मी के सात निर्वचन यास्क ने दिखाए । एक निर्वचन जो चतुरस्र कोष्ठ में दिया है, लघुपाठ में नहीं है । दुर्ग और स्कन्द ने भी उसे नहीं पढ़ा । पर सातों निर्वचन अर्थ की विशेषता दिखाते हैं ॥ १० ॥

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥
[ऋ० १ । ११५ । ४ ॥]

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत्कर्मणां क्रियमाणानां विततं संह्रियते । यदासावयुक्त हरणानादित्यरश्मीन् । हरितोऽश्वानिति वा । अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ।

---

१. लक्ष्यते चिन्त्यते सर्वेण—स्कन्दस्वामी ।

रश्मि संहार में कौन सा कारण है, यह भी मुझे अज्ञात है। जब वेदविद्या पुनः जीवित होगी, तो संसार में ज्ञान का अद्वितीय प्रकाश होगा। वेद पढ़ने वालों को उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए सतत अतुलनीय स्वाध्याय करना चाहिए। रात्रि और दिन क्या हैं, इस का भी अभी तक यथार्थ अभिप्राय जाना नहीं गया। वासः=वेसरम् पाठ पर स्कन्द स्वामी लिखता है—वासरम् अहरवयुवती··· इति पाठः, न वेसरम् अहरवयुवती···इति। परन्तु सरूप के संस्करण के किसी कोष में इस समय वैसा पाठ नहीं है ॥ ११ ॥

इन्द्रे॑ण॒ सं हि दृक्ष॑से सञ्जग्मा॒नो अबि॑भ्युषा ।

म॒न्दू स॑मा॒नव॑र्चसा ॥ [ऋ० १।६।७॥]

इन्द्रेण हि सन्दृश्यसे सङ्गच्छमानोऽबिभ्युषा गणेन। मन्दू मदिष्णू। युवां स्थः। अपि वा मन्दुना तेनेति स्यात्। समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

अर्थ—१२. मन्दू। (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् के साथ (संदृक्षसे) भले प्रकार दीखते हो, (सञ्जगमानः) साथ जाते हुए (अबिभ्युषा) भयवर्जित [मरुद्गण] के साथ। (मन्दू) सदा प्रमुदित इन्द्र और मरुद्गण (समानवर्चसा=समानवर्चसौ) समान दीप्ति वाले तुम दोनों।

इन्द्र के साथ भले प्रकार दीखते हो, साथ जाते हुए, भयवर्जित [मरुद्] गण के साथ। मन्दू=मदिष्णू=हर्ष से भरे (युवाम्) तुम दोनों हो। अथवा (मन्दुना) हर्ष से भरे हुए (तेन इति) उस [गण के] साथ, यह [भाव] होवे। (समानवर्चसा इति) यह पद (एतेन) इस [मन्दु पद] से व्याख्यात किया गया है अर्थात् मन्दुना पक्ष में तृतीया का एकवचन है ॥ १२ ॥

भाष्य—दुर्ग और स्कन्द के अनुसार मन्दू पद प्रथमा द्विवचन अथवा तृतीया एक वचन में हो सकता है। प्रथमा द्विवचन में इस का अर्थ इन्द्र और मरुद्गण है। तृतीया एकवचन में तृतीयान्त इन्द्रेण और अबिभ्युषा के साथ मरुद्गण का विशेषण है। इसी प्रकार समानवर्चसा भी एक पक्ष में प्रथमा का द्विवचन और दूसरे पक्ष में तृतीया का एकवचन है। अर्थ दोनों प्रकार युक्त होने से यास्क ने दोनों विभक्तियों का निर्देश किया है ॥ १२ ॥

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः ।
हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः ॥

[ऋ० १ । १६३ । १० ॥]

ईर्मान्ताः समीरितान्ताः । [सुसमीरितान्ताः] पृथ्वन्ता वा । सिलिकमध्यमाः संसृतमध्यमाः शीर्षमध्यमा वा । अपि वा शिर आदित्यो भवति । यदनुशेते सर्वाणि भूतानि । मध्ये चैषां तिष्ठति । इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव । समाश्रितान्येतस्मिन्निन्द्रियाणि भवन्ति । संशूरणासो [दिव्यासो अत्याः] । शूरः शवतेर्गतिकर्मणः । दिव्या दिविजाः । अत्या अतनाः । हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते । हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम् । [श्रेणिश इति] श्रेणिः श्रयतेः । समाश्रिता भवन्ति । यदाक्षिषुर्यदापन् । दिव्यमज्ममजनिमाजिमश्वाः ।

अस्त्यादित्यस्तुतिरश्वस्य । आदित्यादश्वो निस्तष्ट इति ।

सूरादश्वं वसवो निरतष्ट । [ऋ० १ । १६३ । २ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—२९ ईर्मान्तासः । [आदित्य के अश्वों की स्तुति है ।] (ईर्मान्तासः) विरली जंघो वाले (सिलिकमध्यमासः) संगत=सघन मध्यम भाग=उदर वाले (शूरणासः) शूर स्वभाव वाले (दिव्यासः)= दिविजाता=दिव्य (अत्याः) अश्व हंसो के समान (श्रेणिशः) श्रेणि बनाए हुए (संयतन्ते) सम्यक् गच्छन्ति=सम्यक् चलते हैं (यत्) जब (आक्षिषुः) व्याप्त करते है (दिव्यम् अज्मम्) दिव्य मार्ग को अश्व ।

ईर्मान्ताः=सम् ईरित अन्ताः=भले प्रकार प्रेरित=विरल अन्त वाले [सुन्दर विरले अन्त वाले] स्थूल अन्त वाले सिलिकमध्यमाः=संसृत मध्यमाः=संगत उदर वाले शिर मध्यम वाले अथवा । अथवा शिर आदित्य होता है । क्योंकि (अनुशेते) साथ स्थित है सब भूतों-प्राणियों के । [जब शिर चला जाए तो प्राण चला जाता है ।] मध्य में इन अश्वों के ठहरता है । यह भी दूसरा शिर इस [कारण] से ही । समाश्रित इस के इन्द्रियां होती हैं । सम्यक् शूर [दिव्य अश्व ।] शूर शवति=गत्यर्थक से ।

दिव्याः=द्युलोक में उत्पन्न । अत्याः=अतनाः=चलने वाले । हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते । हंसाः, हन्ति से, घ्नन्ति=मार देते हैं, समाप्त कर देते हैं, मार्ग को । (श्रेणिशः इति), श्रेणिः, श्रयति से, समाश्रित होते हैं । यत् आक्षिपुः=जब व्यापते हैं, दिव्य अजम को । अजमम्=अजनिम्=आजिम्= मार्ग को, अथवा दिव्य दौड़ को, अश्व ।

है आदित्य की स्तुति, [जो] अश्व की [स्तुति है ।] आदित्य से अश्व बनाया गया ।

(सूरात्) सूर्य से अश्व को (वसवः) हे वसुओ तुम ने बनाया । यह भी निगम होता है ॥ १३ ॥

भाष्य—सूर्य से निकलने वाले दिव्य आपः परमाणु, रश्मिसमूह, और अन्य दिव्य पदार्थ ही इन दिव्य अश्वों के जन्म में योग देते हैं । अप्सुजा उ वाऽ अश्वः । शतपथ ७ । ५ । २ । १८ ॥ अश्व आपः में जन्मा है । ये दिव्य अश्व सूर्य के रथ को चला रहे हैं । इन अश्वों की सूक्ष्म आकृति और इन के कर्म का मन्त्र में वर्णन है । जिस प्रकार चुम्बक की प्रेरणा से लोहकण श्रेणियों में बन्ध जाते हैं, वैसे ये दिव्य अश्व भी किसी शक्ति से श्रेणियों में बन्ध कर चलते है ।

इस सारी विद्या का गम्भीर अध्ययन अभीष्ट है ।

विशेष—यह मन्त्र ऋग्वेद के जिस सूक्त का है वह तथा उस से पूर्व (१६२) सूक्त कर्मकाण्ड के अनुसार अश्वमेध में विनियुक्त है । यह कर्मकाण्ड-गत अश्वमेध आधिदैविक अश्वमेध की प्रतिकृति है । सूक्त १६२ में जिस अश्व के संज्ञपन का संकेत उपलब्ध होता है वह दिव्य अश्व है । और इस संज्ञपन का अभिप्राय भी विचारणीय है । यह सूक्ष्म रहस्य यास्क ने अश्वमेधगत ईर्मान्तासः आदि मन्त्र के व्याख्यान द्वारा स्पष्ट कर दिया है । इतना विस्पष्ट संकेत होने पर भी सूक्त १६२ में घोड़ा मारने का विधान दर्शाना अज्ञानपूर्ण है ॥ १३ ॥

कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः । न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभवः ॥ [ऋ० ३ । ९ । २ ॥]

कायमानश्चायमानः । कामयमान इति वा । वनानि । त्वं यन्मातॄरपोऽगम उपशाम्यन् । न तत्ते अग्ने प्रमृष्यते निवर्तनम् । दूरे यत्सन्निह भवसि जायमानः ।

लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः ॥ [ऋ० ३ । ५३ । २३ ॥]

लुब्धमृषिं नयन्ति पशु मन्यमाना ।

शीरं पावकशोचिषम् ॥ [ऋ० ३ । ६ । ८ ॥]

पावकदीप्तिम् । अनुशायिनमिति वा । आशिनमिति वा ॥ १४ ॥

अर्थ—१५. चायमान । (चायमान) कामना करता हुआ (वना) वृक्षो को, या इन के विकार वालो को (त्वम्) तू (यत्) जब (मातृ) [जगत् बनाने वाली] माताओ को (अजगत्) गया (अप) और न। न=नहीं (तत् ते) उस तेरे (अग्ने) हे अग्न (प्रमृषे) [मन से] दूर किया जाता (निवर्तनम्) [अपने मूल स्थान आप] मे लौट कर आना। (यत् दूरे सन्) जो दूर म हो कर भी (इह) यहा [अरणियो म] (अभव) होते हो।

चायमान =चायमान=देखता हुआ । कामना करता हुआ अथवा। (वनानि) वृक्ष म=का ो म तू जब (मातृ अप) मातृ-रूपी आप मे (अगम) चला जाता है (उपशाम्यन्) शान्त हो कर । नहा यह तेरा ह अग्न (प्रमृष्यत) मिटता है दूर किया जाता है (निवर्तनम्) लौट आना । दूर म जब होकर यहा [अरणियो म] होते हो प्रकट होते हुए।

१६ लोधम् । (लोधम्) लोभी को ले जाते हैं पशु मानते हुए। [तप क्षीण न हो इस भाव स मौन साधे हुए मुस तप के] लुब्ध [धूलोंदस्य विश्वामित्र] ऋषि को ले जा रहे है पशु मानते हुए।

१७ शीरम् । सर्व भूतो म स्थित=व्यापक (पावक शोचिषम्) पावक =अन्तरिक्षस्थानी विद्युत् की शोचिषम्=दीप्ति वाले [अग्नि] को [गुण पूर्वक वर्णन करता हू] ॥ १४ ॥

भाष्य—चायमान और चायमान मे अर्थ भेद नहीं है। देखिए—

१ आ नो अग्ने सुचेतुना । ऋग्वेद १ । ७३ । ६ ॥
  आ नो अग्ने सुचेतुना । तै० ब्रा० २ । ४ । ५ । ३ ॥

२ शोकात् पृथिव्या । यजुर्वेद १३ । ४१ ॥
  शोचात् पृथिव्या । तै० सं० ४ । २ । १० । ४ ॥

अतः संस्कृत पद पञ्च से ही योरोपीय बोलियों में पांच अर्थ वाले अनेक अपभ्रंश बने हैं। इसे न समझ कर इस विषय पर अष्ट तालव्य नियम (palatal law) की कल्पना तुच्छबुद्धि का फल है । इस मत के पूरे खण्डन के लिए देखो, हमारा भाषा का इतिहास, पृ० १५२—१६४ ।

अग्निः महाभूत परमाणुरूप में द्यावा पृथिवी और उन से पहले लोकों में व्याप्त है । अन्तरिक्ष के अग्निः को वैदिक ग्रन्थों में पावक अग्निः कहा गया है ।[1] बृहद्देवता अध्याय प्रथम में इस अग्निः को वनस्पतिः अग्नि कहा है । यथा—

इहैष पवमानो ऽग्निर् मध्यमो ऽग्निर्वनस्पतिः ।
अमुष्मिन्नेव विप्रैस्तु लोके ऽग्निः शुचिरुच्यते ॥ ६६ ॥

इन तीनों अग्नियों के भेद जाने बिना वेद के ज्ञान का आनन्द लेना असम्भव है । योरोप और अमेरिका के ईसाई-यहूदी लेखक इस सूक्ष्म ज्ञान का स्पर्श भी नहीं कर पाए । मध्यम पावक अग्निः ही वनस्पति अग्निः है । वेद के अनेक मन्त्रों में अन्तरिक्ष के वनों और वृक्षों का वर्णन है । ये सब सूक्ष्म आप्य और आग्नेय परमाणुओं से बने हुए हैं । उन्हीं में आग्नेय परमाणुओं के वास से वह अग्निः वनस्पति अग्निः कहा जाता है । अग्निः पार्थिव वृक्षों में कैसे प्रविष्ट हुआ, इस का वर्णन वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ११६ से आगे देखिए । अग्निः का अपने मूल स्थानों में लौटना भी अद्भुत माया है ॥ १४ ॥

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके । बभ्रू यामेषु शोभेते ॥
[ऋ० ४ । ३२ । २३ ॥]

कनीनके कन्यके । कन्या कमनीया भवति । क्वेयं नेतव्येति वा । [कमनेनानीयत इति वा ।] कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः । कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः । विद्धयोर्दारुपाद्योः ।[2] दारु दृणातेर्वा । द्रूणातेर्वा । तस्मादेव द्रु । नवे नवजाते ।

---

१. देखो, वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ६४, ६५ । यह अग्निः आपः से उत्पन्न होता है ।

२. सरूप संस्करण का पाठ—व्यृद्धयोः । वि+ऋद्धयोः । पर व्यृद्धिः का सामान्य अर्थ होता है, चली गई है शोभा जिनकी । 'विविधा ऋद्धिर्यस्य' विग्रह में विशेष ऋद्धि वाले, अर्थ भी होता है ।

अर्भके । अवृद्धे । ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते एवं बभ्रू यामेषु शोभेते । बभ्रू अश्वयोः संस्तवः ।

इदं च मेऽदादिदं च मेऽदादित्यृषिः प्रसङ्ख्यायाह ।

सुवास्त्वा अधि तुग्वनि ॥ [ऋ० ८ । १९ । ३७ ॥]

सुवास्तुर्नदी । तुग्व तीर्थं भवति । तूर्णमेनदापन्ति ।

कुविदङ्ग नमसा ये वृधासः]

कुविदङ्गमन्ते मरुतः पुनर्नः ॥ [ऋ० ७ । ५८ । ५ ॥]

पुनर्नो नमन्ते मरुत । नमस्व इत्युपरिष्टाद् [७ । १७] व्याख्या स्याम ।

ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम् ॥

[ऋ० ९ । ७५ । ५ ॥]

ये ते मदा आहननवन्तो वञ्चनवन्तस्तैरिन्द्र चोदय दानाय मघम् ॥ १५ ॥

अर्थ—१८. विद्रधे । १९ द्रुपदे । (कनीनकाऽइव) दो पुतलियाँ=दो शालभञ्जिकाएं जैसे (विद्रधे) छेदा वाले (नवे) नए (द्रुपदे) पीढ़े पर (अर्भके) छोटे से पर [हो] [वैसे] (बभ्रू) भूरे वर्ण वाले [इन्द्र के] अश्व (यामसु)=[स्कन्द—रथेषु=रथों में] अथवा [दुर्ग—आजिस्थानेषु]=समय बांध कर होने वाले दौड़ के स्थानों में, शोभा देते हैं।

दो पुतलियां=छोटी कन्याएं । कन्या=सुन्दर, चाहने योग्य होती है। क इयम् नेतव्या=कहां यह ले जाई जानी चाहिए अथवा । (कमनेन आनीयते) चाहने वाले से लाई जाती है, अथवा । कनति से अथवा होवे, इच्छा अर्थ वाले से । (कन्ययो)दो कन्याओं के (अधिष्ठानप्रवचनानि) बैठने के आसन स्थान के=पीढ़े के व्याख्यान वाले [ये चार पद—विद्रधे, नवे द्रुपदे, अर्भके हैं] सप्तमी विभक्ति के एकवचन रूप के यह शाकपूणि [मानता है।] विद्रधे=बींधे हुए छेदों वाले, काष्ठ आसनों पर । दारु दृणाति [फोड़ता है] से अथवा । [द्रुणाति हिंसा करता है से अथवा ।] उसी से ■ है। नव=नए उत्पन्न हुए=बने । अर्भके=अवृद्धे=छोटे । ते=दोनों पुतलियां जैसे उन बैठन के आसनों पर शोभा देती है, वैसे दोनों [इन्द्र के]

भूरे अश्व यामों में शोभा देते हैं। बभ्र्वोः=अश्वयोः=[इन्द्र के] दोनों अश्वों का संस्तव है।

यह और मुझे [उस ने] दिया। यह और मुझे [उस ने] दिया। यह ऋषि (प्रसङ्ख्याय) गिन कर (आह) बोला।

२०. तुग्वनि, [तीर्थ के अर्थ में]। सुवास्तु के तट पर [पुरुकुत्स ने मुझे दिया]। सुवास्तुः नदी [है।] तुग्व तीर्थ=घाट होता है। (तूर्णम्) शीघ्र (पतत्) इस की ओर (आयन्ति) आते हैं, [स्नानार्थ।]

२१. [नंसन्ते।] (कुवित्) बहुत) (नंसन्ते)=नमन्ते=झुकते हैं, मुरुतः=मरुद्गण फिर हमारे लिए। फिर हमारे लिए झुकते हैं मरुद्गण।

२२. नसन्त। यह ऊपर [७ । १७] से=आगे व्याख्या करेंगे।

२३. [आहनसः।] [हे सोम], जो तेरे मद (आहनसः) उत्साह देने वाले [हैं] (विहायसः) महान=बड़े [हैं], उन से इन्द्र को (चोदय) प्रेरित करो, (दातवे) देने के लिए (मघम्) धन को। जो तेरे मद आहननवन्तः=उत्साह वाले शब्दों से भरने वाले=[शत्रुओं को प्राणों से] वञ्चित करने वाले, उन से इन्द्र को प्रेरो, देने के लिए धन को ॥ १५ ॥ ॥

भाष्य—इस मन्त्र पर दुर्ग और स्कन्द के अनुसार यास्क के पक्ष में नवे, अर्भके, ये दो पद दोनों पादपीठों पर आरूढ़ कन्यकाओं के विशेषण हैं, और प्रथमा विभक्ति के द्विवचन में हैं। शाकपूणि के अनुसार विदथे, नवे, द्रुपदे, अर्भके, ये चार पद सप्तमी विभक्ति के एकवचन में हैं, और कन्यकाओं के पाद-पीठों=पीढ़ों के=कथन में हैं। द्रुपदे=काष्ठ के पादपीठ=पीढ़े। भारतयुद्ध के प्रसिद्ध सेनानी पाञ्चालराज का द्रुपद नाम इसी पद के आधार पर पड़ा था। बभ्रू=इन्द्र के दोनों अश्व। बभ्रु का अर्थ भूरा वर्ण है। उस वर्ण का होने से ये अश्व भी बभ्रू कहाते हैं। इस बभ्रु पद पर विस्तृत लेख मद्रचित भाषा का इतिहास पृष्ठ ८६ पर देखें। यामेषु का अर्थ रात्रि के प्रहरों में भी हो सकता है। तो क्या ये बभ्रू रात्रि में इतने शोभा युक्त दीखते हैं, कि मन्त्र ऐसा कहता है।

सुवास्तु नदी उदीच्य दिक् के होती-मर्दान नामक नगरों के स्वात क्षेत्र में है।[1] यह प्रदेश अब पाकिस्तान में मान लिया गया है। पर यह नदी अन्तरिक्ष-

१. देखो भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग द्वितीय, पृ० १७६।

स्य भी है और वहीं अन्तरिक्ष में शुम्भ तीर्थ और पुरुकुत्स, त्रसदस्यु आदि का ज्ञान भी प्राप्त करना होगा। [शुम्भ अन्तरिक्षस्थ है, यह पूर्व (पृष्ठ १०१) कहा जा चुका है। वहीं पुरुकुत्स=अत्यन्त हिंसा करने वाला कोई अधिष्ठाता भी अन्वेषणीय है।] शुम्भ तीर्थ की ओर कौन शीघ्र आते हैं यह भी अन्वेषण योग्य है। वस्तुत वेद के आधिदैविक और आधिभौतिक पक्ष का अध्ययन गम्भीर प्रयास की प्रतीक्षा में है ॥ १५ ॥

उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि।
अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम् ॥

[ऋ० १ । १२४ । ४ ॥]

उपादर्शि शुन्ध्युवः। शुन्ध्युरादित्यो भवति। शोधनात्। तस्यैव वक्षो भासोऽध्यूढम्। इदमपीतरद्वक्ष एतस्मादेव। अध्यूढं काये। शकुनिरपि शुन्ध्युरुच्यते। शोधनादेव। उदकचरो भवति। आपोऽपि शुन्ध्युव उच्यन्ते। शोधनादेव। नोधा ऋषिर्भवति। नवनं दधाति। स यथा स्तुत्या कामानाविष्कुरुत एवमुषा रूपाण्याविष्कुरुते। अद्मसत्। अद्मान्नं भवति। अद्मसादिनीति वा। अद्मसानिनीति वा। ससतो बोधयन्ती। शश्वत्तमागात् पुनरेयुषीणाम्। [ससतो बोधयन्ती] शाश्वतिकतमागात् पुनरागामिनीनाम्।

ते वाशीमन्त इष्मिणः। [ऋ० १ । ८७ । ६ ॥]

ईषिणिन इति वैषिणिन इति वार्षिणिन इति वा। वाशीति वाङ्नाम। वाश्यत इति सत्याः।

शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम् ॥

[ऋ० ३ । ५३ । ३ ॥]

अभिवदनस्तुतिमभिप्रणयन्त्याद्याः स्तुतिं मन्यन्ते। ऐन्द्री त्वेव शस्यते।

परितक्म्येत्युपरिष्टाद् [११ । २५] व्याख्यास्यामः ॥ १६ ॥

अर्थ—२४. अभ्रसत् । [उषा] (उप उ अदर्शि) समीप दीखती है, (शुन्ध्युवः न वक्षः) शुन्ध्यु=आदित्य का वक्षः [=भास] जैसे । (नोधा इव) नोधा के समान (आविः अकृत) प्रकट करती है (प्रियाणि) प्रिय रूपों को । (अभ्रसन् न) अन्न देने वाली [माता] के समान (ससतः) सोते हुए में (बोधयन्ती) जगाती हुई, (शश्वत्तमा आगात्) नित्यता से सब से अधिक [उषा] आती है (पुनः एयुषीणाम्) पुनः-पुनः=लौट कर, आने वाली [गौओं] के समान ।

उपादर्शि शुन्ध्युवः=देखी गई है आदित्य की। शुन्ध्यु आदित्य होता है । [किरणों द्वारा] शोधन करने से । उस का ही वक्ष=भास=प्रकाश (अधि+ऊढम्) ऊपर उठा हुआ [उषा है ।] यह भी दूसरा वक्ष [मानव की छाती] इस कारण से ही । ऊपर उठी होती है शरीर में । शकुनि=[उदकचर] पक्षी भी शुन्ध्यु कहा जाता है । शोधन करने से ही । उदकचारी होता है । आपः भी शुन्ध्यु कहे जाते हैं । शोधन करने से ही । नोधा ऋषि होता है । (नवनम्) स्तवन को धारण करता है । वह जैसे स्तुति से कामनाओं को (आविष्कुरुते) प्रकट करता है, इस प्रकार उषा रूपों को प्रकट करती है । अभ्रसत्, अद्म=अन्न होता है । अन्न को (सादिनी) [बनाने के निमित्त] बैठने वाली अथवा । अन्न को (सानिनी) सेवन करने वाली अथवा । [(स्वपतः) सोते हुओं को (बोधयन्ती) जगाने वाली ।] (शाश्वतिकतमा) [सम्पूर्ण सृष्टि की देवियों में से] सब से अधिक नित्यता के नियम का पालन करने वाली (आगात्) आती है, (पुनः) फिर-फिर (आगामिनीनाम्) आने वालियों में से ।

२५. इष्मिणः । (ते) वे [मरुत] (वाशीमन्तः) ध्वनि वाले (इष्मिणः) गति वाले, इच्छा वाले, दृष्टि वाले । (ईषणिनः) गति वाले अथवा, (ऐषणिनः) इच्छा वाले अथवा, (अर्षणिनः) दृष्टि वाले अथवा । वाशी यह वाक् का नाम है । वाश्यते=बोली जाती है, ऐसा होते हुए से ।

२६. वाहः । (शंसाव) हम दोनों स्तुति करें, (अध्वर्यो) हे अध्वर्यो (प्रति मे गृणीहि) [तुम] मुझे [उत्तर में] प्रोत्साहन कर । इन्द्र के लिए (वाहः) स्तोत्र (कृणवाव) करें (जुष्टम्) [जो हो] प्रिय ।

(अभिगदनस्तुतिम्) [देवता को] लाने की स्तुति को, (अभिषवण=) (अभि+सवन+प्रसादां स्तुतिम्) [सोम रस के] निचोडने को कहने वाली स्तुति को मानते हैं। ऐन्द्री=इन्द्र देवता वाली (तु एष) तो ही [यह ऋक्] (शस्यते) कही जाती है।

२७ परितक्म्या,=रात्रि, यह आगे [११ । २५] में व्याख्या करेंगे ॥ १६ ॥

भाष्य—शृम्पु पद के यास्क ने चार अर्थ दर्शाए हैं । आदित्य, उदकचर पक्षी तथा आप । ये चार अर्थ शुद्ध यौगिक पक्ष के अनुसार ही संभव हुए हैं । निर्वचन का शोधन भाव इन सब में वर्तमान है। आदित्य का पक्ष —वह आग वाला पक्ष सूर्य चक्र से ऊपर उठा हुआ है। पक्ष का पञ्जाबी में पक्खी अपभ्रंश हुआ है। शृम्पु कौन सा उदकचर पक्षी है यह अन्वेषणीय है।' सौधा-यह ऋषि होता है। यास्क ने अग्निर्वभूव ऐसा नहीं लिखा। अतः स्पष्ट है कि यहां किसी भौतिक पदार्थ को दैवी स्तुति करने के विचार से सब कुछ कहा है। रूपों का आविष्कार उषा का काम है। शश्वत्तमा—देवमाया में जो घटनाएं पुनरावृत्ति में होती हैं उन में उषा का बार बार आना सब से अधिक नियमित है।

मन्त्र में मरुतों को यात्रा मग्ना कहा है। उन की यह ध्वनि क्या है, इसे समझना चाहिए। गुन वे इष्मिणः हैं, अर्थात् गति वाले इच्छा वाले और दृष्टि वाले। गति वाला भाव स्पष्ट है। मरुतों का चक्र पृथिवी मण्डल से सूर्य मण्डल तक चल रहा है। पर इच्छा और दृष्टि अगले दो भाव समझने चाहिएं।

प्रति गृणीहि—होता की अग्रगीत ऋचाओं द्वारा स्तुति शंसन कहाती है। इसी होता को अध्वर्यु देवता स्तुति के लिए प्रेरता है, वह प्रतिगर कहाता है। अध्वर्यु, ईसाई यहूदी लेखक और उनके चेले चाटे मिथ्या भाषामत के आधार पर यह घोषित करते हैं कि यजुर्वेद और यज्ञ क्रियाएं बहुत उत्तर काल की उपज हैं। उन मूर्खों को देखना चाहिए कि ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में यज्ञों का विधान है। और तृतीय मण्डल के इस प्रस्तुत मन्त्र में अध्वर्यो सम्बोधन पद है। अध्वरवेद=यजुर्वेद के अध्ययन आदि से ही अध्वर्यु कहाता है। तृतीय मण्डल

१. सायण इसे श्वेत वर्ण मानता है।

को ये ईसाई-यहूदी लेखक नया नहीं मानते । अतः उस से पहले भी यजुर्वेद था । पुनः ऋग्वेद के बहुत उत्तर काल में यजुर्वेद बना, ऐसी प्रमाण हीना उक्ति क्यों । वस्तुतः वेद अनादि हैं । जुष्टं वाहः=प्रिय स्तोत्र ॥ १६ ॥

सुविते सु इते । सूते । सुगते । प्रजायामिति वा ।

सुविते मा धाः । [मै० सं० १ । २ । ७ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

दयतिरनेककर्मा ।

नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम । [मै० सं० ४ । १३ । ७ ॥]

इत्युपदयाकर्मा ।

य एक इद्विदयते वसु । [ऋ० १ । ८४ । ७ ॥]

इति दानकर्मा वा । विभागकर्मा वा ।

दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि । [ऋ० ६ । ६ । ५ ॥]

इति दहतिकर्मा । दुर्वर्तु दुर्वारः ।

विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् । [ऋ० ३ । ३४ । १ ॥]

इति हिंसाकर्मा ।

इमे सुता इन्दवः प्रातरित्वना सजोषसा पिबतमश्विना तान् ।
अहं हि वामूतये वन्दनाय मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत् ॥

दयमान[1] इति ।

नूचिदिति निपातः पुराणनवयोः ।

नू चेति च ।

अद्या चिन्नू चित्तदपो नदीनाम् ॥ [ऋ० ६ । ३० । ३ ॥]

अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनाम् ।

---

१. 'डयमानः' स्कन्दपाठः, 'डीयमानः' दुर्गपाठः ।

नू च॑ पुरा च॒ सद॑नं रयीणाम् ॥ [ऋ० १ । ९६ । ७ ॥]

अद्य च पुरा च सदनं रयीणाम् । रयिरिति धननाम । रातेर्दान कर्मणः ॥ १७ ॥

अर्थ—२८. सुवित । सु इत अथवा सूत । सु इत=सुगत=श्रेष्ठ गमन अथवा श्रेष्ठ प्राप्ति । सूत=उत्पन्न हुए अथवा (प्रजायाम्) प्रजा [अर्थ] में । (सुवित) श्रेष्ठ=शोभन गमन है जहां एसे शुभ स्थान में, अथवा श्रेष्ठ प्रजाओं में मुझे धा=निधेहि=स्थापित कर । यह भी निगम–[स्पष्ट अर्थ द्योतक मन्त्र] होता है ।

२९ दयत । दयति अनेक [उपदया=रक्षा, दान विभाग, दहन हिंसा गति=उड़ना] अर्थ वाला [है ।] (नवन) नए [कमाए] से (पूर्वम्) पहले [कमाए] को (दयमाना) रक्षा करते हुए (स्याम) होवें । यह उपदया-रक्षा अर्थ वाला [है ।] (य) जो (एक इत्) एक ही (विदयते) विभाग करता है, (वसु) धन । यह दान अर्थ वाला अथवा विभाग अर्थ वाला । दुर्वर्तु=दुवार=न रुकने वाला दावरूप अग्नि भयानक (दयते) दहन करता है (वनानि) वनों को । यह दहन करता है, अर्थ में [है ।] दुर्वर्तु=दुर्वार । (विदद्+वसु) प्राप्त किए हुए धन वाला [इन्द्र] (निदयमानः) विशेषरूप से हिंसा करता हुआ (शवन) शत्रुओं की । यह हिंसा अर्थ वाला [है ।]

य उत्पन्न किए गए=निचोड़े गए [हैं] (इन्दव) सोम, (प्रातः+इत्वना) हे प्रातः काल में आने वालो (स+जोषसा) समान प्रीति वालो (पिवतम्) पियो (अश्विना) हे दोनों अश्वियो (तान्) उन को । (अह हि) मैं ही (वाम्) तुम दोनों से (ऊतय) रक्षा के लिए [और] (वन्दनाय) [तुम्हारी] वन्दना=स्तुति के लिए [हूं ।] मुझे (वायस) काक ने (दाशा... त को (दयमान) उड़ते हुए ने (अबूबुधत्) जगाया है । (दयमान) [उड़ना अर्थ वाला है] यह ।

३० नूचित् । यह निपात पुराने और नए के [अर्थ में है ।]

३१ नू च । और यह [भी ।]

(अप चित्) अब भी और (नू चित्) पहले भी (तत् अपः) वही कर्म है (नदीनाम्) नदियों का। अब और पहले भी वही कर्म [है,] नदियों का। (नू च) अब और (पुरा च) पहले भी (सदनम्) घर को (रयीणाम्) धनों के। अब और पहले भी घर को धनों के। रयिः, यह धन का नाम [है।] रानि दान अर्थ वाले से ॥ १७ ॥

भाष्य—एक आख्यात इयर्ति के [illegible] विभिन्न अर्थ भाष्यकार यास्क ने दर्शाए हैं, और ये सब अर्थ वेद-मन्त्रों से प्रमाणित किए गए हैं। इन में यत्किंचित् सन्देह नहीं। ईसाई-यहूदी भाषामत, जो अपभ्रंशों से ही थोड़ा सा सम्बन्ध रखता है, ऐसी सामग्री कहां से लाएगा। इयर्ति का [illegible] से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। पर अन्य अर्थों को [illegible] नहीं पाया जा सकता। इसे [illegible] का मूल स्थान अन्वेषणीय है। ऋजीपत्नी का अर्थ स्कन्द के मुद्रित पाठ में, सुन्दर उपमा है। है। लज्जा का साथ उन्मना अर्थ मान कर ऐसा अर्थ कितना ठीक है, यह विचारणीय है। अथवा स्कन्द का मूल पाठ ऋजोपमा हो। तथापि सामग्री के अभाव में ये बातें सहसा निर्णीत नहीं हो सकतीं। अश्विनों का काल ऊर्ध्वम् अर्धरात्रात् (निरुक्त १२ । १) होता है, और उषा का रात्रि के अवसान पर। पुनः इन का साथ होना कैसे बनेगा, यह भी ध्यान देने योग्य है। दोषा=दुर्ग—दोषायाम्। स्कन्द—रात्री। पायस रात को कहता है, यह अन्वेषण योग्य है।

अपः नदीनाम्, नदियों का कर्म सदा एकरस है। क्या अन्तरिक्षस्थ नदियां कभी जलपोदका या सूखापन लिए नहीं होतीं। अथवा इस का कोई अन्य अभिप्राय है। सदनं रयीणाम्। धन का सदन अग्निः है। धन के लिए अधिकांश प्रार्थनाएं अग्निः से ही हैं[1] ॥ १७ ॥

विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने। [ऋ० ५। ३९। २ ॥]

विद्याम तस्य ते वयमकूपरणस्य दानस्य। आदित्योऽप्यकूपार उच्यते। अकूपारो भवति दूरपारः। समुद्रोऽप्यकूपार उच्यते। अकूपारो भवति महापारः। कच्छपोऽप्यकूपार उच्यते। अकूपारो

१. धनमिच्छेद्धुताशनात्। द्र० निरुक्तसमुच्चय १। १४ व्याख्या, पृ० १४ लाहौर सं०। गौतम धर्मसूत्र, क्रियाकाण्ड १३ में भी उद्धृत।

न कूपमृच्छतीति । कच्छपः कच्छं पाति । कच्छेन पातीति वा । कच्छेन पिबतीति वा । कच्छः खच्छः खच्छदः । अयमपीतरो नदीकच्छ एतस्मादेव । कमुदकम् । तेन छाद्यते ।

शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे । [ऋ० ५ । २ । ६ ॥]

निश्यति शृङ्गे रक्षसो विनिक्षणाय । रक्षो रक्षितव्यमस्मात् । रहसि क्षणोतीति वा । रात्रौ नक्षत इति वा ।

अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः । [ऋ० १० । ३ । ७ ॥]

सुतुकन सुतुकनैरिति वा । सुप्रजाः सुप्रजोभिरिति वा ।

सुमायणाऽअस्मिन्यज्ञे नि श्रयन्ताम् ॥ [यजु० २८ । ५ ॥]

सुमगमना ॥ १८ ॥

अर्थ—३२. दावने=दानस्य । ३३ अकूपारस्य=अकूपरणस्य=अकुपरणस्य । (विदाम) लाभ ले=प्राप्त करे । (तस्य) उस (ते) तेरे (वयम्) हम (अकूपारस्य) नही पार हो सकने वाले, अथवा भरपूर (दावने) दान को, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । लाभ करे उस तेरे, हम, अपरिमित दान को । आदित्य भी अकूपार कहा जाता है । नही छोटे पार वाला=दूर पार वाला होता है । समुद्र भी अकूपार कहाता है । नही छोटे पार वाला=महापार वाला होता है । कच्छप=कछुआ भी अकूपार कहा जाता है । अकूप+अर: [अर्थात्] नही कूप को ऋच्छति=जाता है [तडागो और नदियो मे रहता है ।] कच्छप मुख संपुट की पालना=रक्षा करता है । कच्छ=मुख सम्पुट द्वारा [अपनी] पालना करता है । कच्छ से पीता है अथवा । कच्छ=ख+छ=ख+छद, आकाश रूपी खोखलेपन का छादन कर्ता=ढांपने वाला । यह भी दूसरा नदी का कच्छ=नदी समीप की भूमि इस [कारण] से ही । कम्=उदकम्=जल, उस [जल] से ढांपी जाती है ।

३४ शिशीते=निश्यति=तीक्ष्ण करता है=तनु=सूक्ष्म करता है । (शिशीत) तीक्ष्ण करता है (शृङ्गे) दोनो सीगो को [अग्निः] (रक्षसे) राक्षसो के लिए (विनिक्षे) नाश करने के लिए । सूक्ष्म करता है दोनो

शत्रुओं को राक्षसों के विनाश के लिए । रक्षः=रक्षा करनी चाहिए [अपनी] इस से । रहसि=एकान्त में (क्षणोति) मार डालता है अथवा । रात्रि में (नक्षते) चलता है अथवा ।

३४. सुतुकः=सुतुकनः=सुगमनः । अग्निः अच्छी गति वाला, अच्छी गति वाले अश्वों से । सुतुकनः=सुगमन वाला, सुगमन वालों से अथवा । श्रेष्ठ प्रजा वाला, श्रेष्ठ प्रजा वाले अश्वों से अथवा ।

३५. सुप्रायणाः=सुप्रगमनाः=बहुत श्रेष्ठ गति वाला ।

श्रेष्ठ गति वाली [ज्वालाएं] इस यज्ञ में (विश्रयन्ताम्) विवृत अर्थात् खुली हो जाएं ॥ १८ ॥

भाष्य—इस खण्ड में उद्धृत प्रथम ऋक् में अकूपारस्य दावने पदक्रम है । परन्तु निघण्टु ४ । ३ में, जिस पर यास्क भाष्य रच रहा है, दावने अकूपारस्य, पदक्रम है । इस से दुर्ग ने यह परिणाम निकाला है कि निघण्टु समाम्नाय यास्क द्वारा समाम्नात नहीं है । क्योंकि यदि यह यास्क द्वारा संगृहीत होता, तो इस का पदक्रम यास्क द्वारा उद्धृत ऋक् के पद क्रमानुसार होता । पर यह तर्क आधा ठीक है । यास्ककृत वर्तमान निघण्टु सर्वथा स्वतन्त्र संग्रह नहीं है । यह निघण्टु पुरातन निघण्टुओं के आधार पर संगृहीत हुआ है । यास्क ने पुराने निघण्टुओं के अनुसार पदक्रम तो पुराना ले लिया, पर इन पदों के लिए दो ऋचाएं उद्धृत न करके एक ही ऋक् को उद्धृत करना श्रेष्ठ समझा है।

निरुक्त १ । २० के अनुसार अति प्राचीन निघण्टु (देखिए पूर्व पृ० ६६ पर हमारा भाष्य) चार भागों (=तीन प्रकरणों) वाले थे । यास्क ने मान की दृष्टि से बहुधा उन्हीं का पदानुक्रम वर्ता है, पर भाष्यगत उदाहरणों में अपनी स्वतन्त्रता दिखाई है । इस साधारण बात को न समझ कर अनेक लोगों ने अनेक ऊहापोह किए हैं ।

एक और भी कारण मन्त्रगत पद परिवर्तन का हो सकता है । यास्क ने निघण्टु के चतुर्थ अध्याय खण्ड ३ में 'देवो देवाच्या कृपा' 'असूर्त्ते' सूर्त्ते' आदि में जहां मन्त्रानुरोध से अनेक पदों को इकट्ठा पढ़ा है, वहां मुख्यतया एक ही पद व्याख्येय माना है । परन्तु यहां पर [illegible] और दावने

दोनों का व्याख्येय समान है। मन्त्रक्रमानुसार पढ़ने पर यहां भी एक [illegible] पद दुर्व्याख्येय है यह भ्रान्ति न हो इसलिए यास्क ने मन्त्रान्त पर क्रम का विपरीत रूप से पढ़ा है।

मैत्रायणी सं० ३।२०२ का पाठ है—अकूपारो वै कश्यपः। कश्यपो वै समुद्रम्। अनिशापयितुम् अर्हति। तद् यद् अकूपारो भवति समुद्रस्यैवानिशापत्त्यै।

भौगोलिक दृष्टि से भारत के पश्चिम में गुजरात प्रान्त में आज भी कच्छ [illegible] है। कच्छ—[illegible] के पास से पञ्जाब में एक [illegible] का नाम कच्छ है।

अग्नि के दो सींग क्या हैं। दुर्ग के अनुसार ये ज्वालाएं हैं। पर इस का सूक्ष्म भाव ढूंढना चाहिए। रासभ क्या है। यह भी ज्ञातव्य है। इसी प्रकार अग्नि के पग भी जानने चाहिएं। वे उसके रथ के साथ जुड़ते हैं और [illegible] होते हैं। रोहितोऽग्ने (निघण्टु १।१५॥) पाठ करने पर यह रहस्य खुल सकता है॥ १८॥

देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥
[ऋ० १।८९।१॥]

देवा नो यथा सदा वर्धनाय स्युः। अप्रायुवोऽप्रमाद्यन्तः। रक्षितारश्च। अहन्यहनि।

च्यवन ऋषिर्भवति। च्यावयिता स्तोमानाम्। च्यवानमित्यप्यस्य निगमा भवन्ति।

युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः ॥
[ऋ० १०।३९।४॥]

युवं च्यवनम्। सनयं पुराणम्। यथा रथम्। पुनर्युवानं चरणाय ततक्षथुः। युवा प्रयौति कर्माणि। तक्षतिः करोतिकर्मा। रजो रजतेः। ज्योती रज उच्यते। उदकं रज उच्यते। लोका रजांस्युच्यन्ते। असृगहनी रजसी उच्येते।

[रजांसि चित्रा वि चरन्ति तन्यवः । [ऋ० ५ । ६३ । ५ ॥]
इत्यपि निगमो भवति ।]

हरो हरतेः । ज्योतिर्हर उच्यते । उदकं हर उच्यते । लोका हरांस्युच्यन्ते । असृगहनी हरसी उच्येते ।

[प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि । [ऋ० १० । ८७ । २५ ॥]
इत्यपि निगमो भवति ।]

अर्थ—३७. अप्रायुवः=अप्रमाद्यन्तः । (देवाः) देव हमारे लिए, जिस प्रकार, (सदम् इत् वृधे) सदा ही वर्धन=वृद्धि के लिए (असन्) होवें, (अप्रायुवः) न प्रमाद=न असावधानी करते हुए (रक्षितारः) रक्षा करने वाले दिन दिन । (देवाः) देव हमारी जिस प्रकार सदा वृद्धि के लिए हों, (अप्रायुवः) न प्रमाद करते हुए, रक्षक, दिन-दिन में ।

३८. च्यवन, च्यवन ऋषि होता है । च्यावयिता=चुआने वाला=निकालने वाला स्तोमों का । च्यवान, इस नाम से भी इस [च्यवन] के निगम होते हैं । (युवम्) तुम [अश्विद्वय] ने (च्यवानम्) स्तोम चुआने वाले (सनयम्) पुराने=वृद्ध को (यथा रथम्) जिस प्रकार [पुराने] रथ को (पुनः युवानम्) फिर युवा=नया (चरथाय) चलने के लिए (तक्षथुः) तक्षण करके, छील छाल कर, कर दिया । तुमने च्यवन को सनयम्=पुराने को, जैसे रथ को पुनः युवा चलने के लिए [करते हैं, वैसे] कर दिया । यु+वाः प्रयौति=[मिश्रणामिश्रणयोः] मिलाता वा पृथक् करता है, कर्मों को । तक्षति=करता है, अर्थ वाला [है ।]

३९. रजः, रजति से । ज्योतिः रज कही जाती है । उदक रज कहा जाता है । लोकाः रजांसि कहे जाते हैं । असृक्+अहनी=रक्त तथा दिन रजमी कहे जाते है । (रजांसि) लोकों को [जो] (चित्रा) कामना योग्य हैं, (वि चरन्ति) विविध प्रकार से चलते हैं [मरुतः] (तन्यवः) फैले हुए । यह भी निगम होता है ।

४०. हरः, हरति से । ज्योतिः हर कही जाती है । लोकाः हरांसि कहे जाते हैं । असृक्+अहनी=रक्त=रुधिर और दिन हरसी कहे जाते हैं । (अग्ने) हे अग्ने (हरसा) [अपनी] ज्योति से (हरः) हमारी ज्योति को । (प्रति शृणीहि) पका । यह भी निगम होता है ॥ १६ ॥

भाष्य—भगवान् की विभूतियां ही देव हैं। उन से सहायता ली जा सकती है। यह यज्ञ द्वारा सम्भव है। यज्ञों से देव बल प्राप्त कर के प्रमाद-रहित होते हैं। च्यावयिता=चुआने वाला=निकालने वाला। च्यावयिता का ठीक अर्थ ताण्ड्य ब्रा० से ज्ञात होता है यथा—पञ्चो वै लोकेभ्यो वृष्टिरपाक्रामत्। तां प्रजापति च्यावनेन अच्यावयत्, यद् अच्यावयत् तद् च्यावनस्य च्यावनत्वम्, च्यावयति वृष्टिं च्यावनेन तुष्टुवान ॥ १३। ५। १२॥ प्रो० उमाशङ्कर शर्मा ने हिन्दी निरुक्त में इस का अर्थ किया है—"स्तोत्रों का संग्रह करने वाले।" ताण्ड्य ब्रा० के प्रमाण से यह इस प्रकरण में युक्त नहीं। च्यवन=च्यावन। ये समानार्थक हैं। इन के दोनों रूप शुद्ध हैं। च्यवन आधिभौतिक है। सुकन्या का पति भी च्यवन था, पर वह मन्त्रगत च्यवन नहीं है। मन्त्रगत च्यवन किस प्रकार स्तोमों को चुआता है यह अन्वेषणीय है।

जुहुरे वि चितयन्तः। [ऋ० ५।१९।२॥]

जुह्विरे निचेतयमानाः।

व्यन्त इत्येषोऽनेककर्मा।

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः। [ऋ० ६।१।४।]

इति पश्यतिकर्मा।

वीहि शूर पुरोळाशम्। [ऋ० ३।४१।३॥]

इति खादतिकर्मा।

वीतं पातं पयस उस्रियायाः। [ऋ० १।१५३।४॥]

अश्नीतं पिबतं पयस उस्रियायाः। उस्रियेति गोनाम। उस्राविणोऽस्यां भोगाः। [उस्रेति च।]

त्वामिन्द्र मतिभिः सुते सुनीथासो वसूयवः।

गोभिः क्राणा अनूषत॥

गोभिः कुर्वाणा अस्तोषत।

आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः ॥

[ऋ० १० । १०१ । १० ॥]

आसिञ्च हरिं द्रोरुपस्थे द्रुममयस्य । हरिः सोमो हरितवर्णः । अयमपीतरो हरिरेतस्मादेव । वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः । वाशीभिरश्ममयीभिरिति वा । वाग्भिरिति वा ।

स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः ।

[ऋ० ७ । २१ । ५ ॥]

स उत्सहतां यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य । मा शिश्नदेवा अब्रह्मचर्याः । शिश्नं श्नथतेः । अपि गुर्ऋतं नः । सत्यं वा यज्ञं वा ॥ १६ ॥

अर्थ—४१. जुहुरे=जुह्विरे । हवियों को देते हैं, विविध रूप से जानते हुए ।

४२. व्यन्तः, यह अनेक अर्थों वाला है । पद को देव के नमस्कार से देखते हुए । यह, देखता है, अर्थ वाला [है ।] (वीहि) खाओ हे शूर [इन्द्र, हमारे दिए] पुरोडाश को । यह, खाता है, अर्थ वाला [है ।] (वीतम्) न अधिक द्रव, न अति कठिन उसे अशन करो, तथा जो द्रव (पातम्) [उसे] पीओ, [उस] पयस=पायस रूप हविः को (उस्त्रियायाः) गौ के [हे मित्रावरुणौ] । अशन करो, पियो पायस को गौः के । उस्त्रिया यह गौ का नाम [है ।] उत्स्राविणः=उत्=ऊपर, स्राविणः=स्रवण करने वाले=जाने वाले [क्षीर, दधि, नवनीत आदि क्रम से होते हैं] इस में भोग। उस्रा, यह भी [गौ का नाम है ।]

४३. क्राणाः=कुर्वाणाः । (त्वाम्) तुझे (इन्द्र) हे इन्द्र (मतिभिः) मेधावी अध्वर्युओं से (सुते) बहाए जाने पर [सोम के] (सुनीथासः) श्रेष्ठ, प्रशंसा योग्य [उद्गाता और होता] (वसूयवः) धन के चाहने वाले, (गोभिः) वाणियों से=मन्त्रों से [स्तवन] (क्राणाः) करते हुए (अनूषत) स्तुति की [करते हैं ।]

४४. वाशी=वाशिनी=तक्षणसाधनम्, सान । (आ सिञ्च)=प्रक्षिपत= डालो (हरिम्) हरितवर्णा लता सोम को (द्रोः उपस्थे) द्रुममय=लकड़ी

के [फलक] के ऊपर, *वाशीभि* तक्षत मानो से (अश्मन्मयीभि) पाषाण से बनी हुई से, छीलो=बनाओ । डालो हरित वर्ण [वाला ।] यह भी दूसरा हरि =मर्कट इस कारण से ही । वाशिया से अश्ममयी से । वाशिया स अथवा ।

४५ विपुलस्य=विषमस्य । (स अर्थात्) वह उत्साह करे [हमारे यज्ञ म आने को] (अर्य) जो समर्थ है (विषुणस्य) विषम (जन्तो) पुरुष का [दण्डदाता हीन में ।] मत (शिश्नदेवा) प्रजनन इन्द्रिय क उपासक=काम (अपि) भी (गु) आए (ऋतम्) यज्ञ को (न) हमारे। वह उत्साह कर जो विषम जन्तु का [दमन कर्ता है] मत ब्रह्मचर्य हीन [हमारे यज्ञ मे आएं । *शिश्नम्=श्नथति स । आए हमारे मत्य* [सच मे] वा यज्ञ म ॥ १९ ॥

भाष्य—वादन और अश्मन का अन्तर ध्यान रखना चाहिए। धीतम् का अर्थ स्कन्द के अनुसार किया है । हरित वर्ण मर्कटों का उल्लेख दुर्ग ने रामायण के श्लोक से बताया है । शिश्नदेवा , शिश्न को देवमान कर जो ब्रह्मचर्य का नाश करते रहते हैं । एव पुरुष सत्य जीवन का सदा साहस नहीं करते, न हो वे यज्ञ के योग्य होते हैं । आज समार में एस पतित पुरुषों का बाहुल्य है ॥ १९ ॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥
[ऋ० १० । १० । १० ॥]

आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि । यत्र जामय करिष्यन्त्यजामिकर्माणि । अजाम्यतिरेकनाम । बालिशस्य वा । समानजातीयस्य वा । उपजन । उपधेहि वृषभाय बाहुम् । अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातम् ॥ २० ॥

अर्थ—४६ जामि अनेकार्थ । (आ गच्छान्) आएंगे (ता=तानि) वे (उत्तरा=उत्तराणि) अगले युग जब भगिनियां (कृणवन्) करेंगी (अजामि) न भगिनियों वाला [कर्म ।] (उप बर्बृहि)=उपधानी कुरु= सिरहना बनाओ (वृषभाय) वृषभ=रेत सिंचन करने वाले के लिए (बाहुम्) [अपने] बाहु को दूसरे को चाहो हे सुभगे (पतिम्) पति को मत्=मत्त) मुझ से [अन्य को ।]

आएंगे वे उत्तर=अगले युग । जब बहनें करेंगी, न बहनों के काम, । जामि=अतिरेक:=पुनरुक्त का नाम [है], (बालिशस्य) मूर्ख का अथवा । समानजातीय=भगिनी का, अर्थात् जा=जन्मने वाली, [मि] उपजन [जा के साथ मिः] यह उपजन=प्रत्यय [है ।] (उपबर्हि) सिरहाना बनाओ, रेतः सिञ्चन मे समर्थ के लिए बाहु को । दूसरे को चाहो, हे सुभगे पति को, मेरे से [अपर को ।] यह [स्वयं] व्याख्यात है ॥ २० ॥

भाष्य—यह ऋक् यम यमी संवाद में है । यम यमी की प्रार्थना का निषेध करता है । यही भाव शौनक ने बृहद्देवता में लिखा है—

मैथुनार्थमभीप्सन्तीं प्रत्याचष्टे यमीं यमः । ६ । १४४ ॥

अब प्रश्न होता है कि ये यम और यमी कौन हैं ।

१. तैत्तिरीय संहिता में प्रवचन है—अग्निर्वाव यमः । इयं यमी । ३ । ३ । ८ ॥ शतपथ ब्राह्मण में यजुः १२ । ६३ के व्याख्यान में प्रवचन है—अग्निर्वै यमः । इयं [पृथिवी] यमी । आभ्यां हीदं सर्वं यतम् । ७ । २ । १ । १० ॥ और यास्क निरुक्त १० । २० में लिखता है—अग्निरपि यम उच्यते ।

२. पुनः यजुः ३७ । ११ के व्याख्यान में शतपथ का प्रवचन है—एष वै यमो य एष [आदित्यः] तपति । एष हीदं सर्वं यमयति । एतेनेदं सर्वं यतम् । १४ । १ । ३ । ४ ॥ निरुक्त १२ । २८ में ऋ० १० । १३५ । १ के द्वितीय पाद— देवैः संपिबते यमः. का व्याख्यान यास्क ने किया—देवैः संगच्छते यमः । रश्मिभिरादित्यः । अर्थात्—देवों=रश्मियों के साथ संगत होता है यम=आदित्य । इस महान् विज्ञानाविष्ट अर्थ के विपरीत पक्षपाती ईसाई मैक्डानल ने इस मन्त्र का भ्रष्ट, अभिप्राय-शून्य और स्पष्ट को अस्पष्ट बनाने वाला अर्थ अंग्रेजी में किया है—"Yama drinks together (in the note—drinks Soma) with the gods,"[1]

आदित्य का रश्मियों के साथ जुड़ना एक वैज्ञानिक घटना है । निरुक्तस्थ इस यथार्थ विज्ञान की अवहेलना कर के, इस मन्त्र का भद्दा अर्थ करना ईसाई-यहूदी गुट का घृणित काम है ।

१, वैदिक रीडर, पृ० २१३ ।

६ यम शब्द का एक अन्य अर्थ, यजु ३८ । ४ के व्याख्यान में शतपथ में ही है—अय वाव यमो योऽयं [वायु] पवते । १४ । २ । २ । ११ ॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि अग्नि, आदित्य और वायु आदि देवों का नाम यम होता है। और यमी देवी पृथिवी ही है। अतः अग्नि और पृथिवी अथवा आदित्य और पृथिवी आदि विषयक ही वेद का यह आलङ्कारिक आख्यानमय सूक्त है।

वेदगत यम और यमी के आधिदैविक आख्यान को अत्यन्त स्पष्ट करने वाला मैत्रायणी संहिता का अगला प्रवचन है—

यमो वा अम्रियत । ते देवा यम्या यममपाब्रुवन् । तां यदपृच्छन् सात्रवीत् । अद्यामृतेति । तेऽब्रुवन् । न वा इयम् इमम् इत्थं मृष्यते रात्रीं सृजामहा इति । अहर्वाव तर्हि आसीत्र रात्रिः । ते देवा रात्रिम सृजन्त । ततः श्वस्तनमभवत् । ततः सा तममृष्यत । १ । ५ । १२ ॥

यम और यमी की यह सारी गाथा उस काल की है जब पृथिवी पर मानव जन्मा भी न था। जब पृथिवी और आदित्य दूर हो रहे थे पर अभी राशि परिभ्रमण में स्थिर न हुए थे। इसी अभिप्राय से ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा है—एतेन वै यमी यमं स्वर्गं लोकम् अगमयत् । ११ । १० । २१ ॥ यमी=पृथिवी ने ही यम=आदित्य को स्वर्ग लोक में पहुँचाया था।

अपरञ्च, निरुक्त ११ । २२ से—अथातो मध्यस्थाना स्त्रियः का प्रकरण आरम्भ होता है। उन देवियों का निघण्टु ५ । ५ अन्तर्गत संख्या १६ की अदिति से नामकीर्तन है। यमी संख्या २४ पर गिनी गई है। यह मध्य स्थानी है। यह मानुष जाति की स्त्री हो ही नहीं सकती। इस २४ संख्यागत यमी के व्याख्यान में यास्क ने निरुक्त ११ । ३४ में जो ऋक् उद्धृत की है, वह यम यमी संवाद सूक्त की १४ वीं ऋक है। अतः ऋग्वेद १० । १० सूक्त पृथिवी पर जन्मे देहधारी यम यमी परक कदापि नहीं है। अतः वेदार्थ करते हुए केवल मूढ लेखक ही इस सूक्त को मानुष इतिहास में घटाते हैं। मैक्डानल वैदिक रीडर में लिखता है—

As the first father of mankind and the first of those that died, Yama appears to have originally

been regarded as a mortal who became the chief of the souls of the departed. p. 212.

अर्थात्—मानव का आदि पिता यम था, और वही सब से पहले मरा। यम मूल में मरणधर्मा मनुष्य था।

ऐसा लेख इतिहास से अनभिज्ञता का परिणाम है। मानुष इतिहास में त्रेता युग के आरम्भ में विवस्वान् के पुत्र और पुत्री यम और यमी थे। इन का पिता विवस्वान् कश्यप और अदिति का पुत्र था। अतः यम मानव का पिता नहीं था। मैक्डानल आदि का ज्ञान सर्वथा कलुषित है। देव यम और इस ऐतिहासिक मानुष यम के पार्थक्य बताने के लिए ही शौनक ने बृहद्देवता में लिखा है—

इह प्रजा प्रयच्छन्स संगृहीत्वा प्रयाति च।
ऋषिर्विवस्वतः पुत्रं तेनाह यमो यमम् ॥ २ । ४८ ॥

अर्थात्—[मानुष] ऋषि यम उस विवस्वान् के पुत्र [देव] यम को कहता है।

दोनों का भेद यहां अत्यन्त स्पष्ट है। कहां केवल त्रेता के आरम्भ का यम, और कहां उसे मानव का आदि पिता मानना। ऐसे पुरुषों के लिए ही व्यास ने लिखा था—बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदः।

ऐसे अल्पश्रुत लोग अज्ञानियों के लिए ही पण्डित बने बैठे हैं। निस्सन्देह देव यम का मानुष यम से ऐक्य नहीं माना जा सकता। मानुष यम ने देव यम के नाम के अनुकरण पर अपना नाम यम रखा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस आलङ्कारिक आख्यान से नियोग का वैदिक सिद्धान्त आकृष्ट किया है। वह अर्थ भी स्पष्ट ही है। यदि कोई ईसाई-यहूदी अथवा उन का उच्छिष्टभोजी कहे कि यास्क और ब्राह्मण-प्रवचनकर्ता वेदार्थ नहीं जानते थे, और वह स्वयं बहुत अधिक जानता है, तो ऐसे वृथाभिमानी मूढ पर विद्वान् धिक्कार करते हैं ॥ २० ॥

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥

द्यौर्मे पिता वा पालयिता वा जनयिता । नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महतीयम् । बन्धुः संबन्धनात् । नाभिः सनहनात् ।

नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते । इत्याहुः ।

एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते । सबन्धव इति च । ज्ञातिः संज्ञानात् । उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः । उत्तान उत्ततान । ऊर्ध्वतानो वा । तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ।

[शयुः सुखयुः]

अथा नः शं योररपो दधात् । [ऋ० १० । १५ । ४ ॥]

रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः । शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् । अथापि शयुर्बार्हस्पत्य उच्यते ।

तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये ।

[तै० सं० २ । ६ । १० । २ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । गमनं यज्ञाय । गमनं यज्ञपतये ॥ २१ ॥

अर्थ—(द्यौः पिता) द्यौ मेरा (पिता) रक्षक पालक (जनिता) [और] उत्पादक [है ।] (नाभिः) नाभिभूत भौम रस (अत्र) यहीं । बन्धु=शरीर को बाँधने वाली मेरी माता पृथिवी (मही इयम्) महती यह। (उत्तानयोः चम्वोः) दोनों दूर फैली हुईं, अथवा ऊपर को विस्तृत हुईं (योनिः) अन्तरिक्ष स्थान रूपी योनि (अन्तः) मध्य में (अत्र) यहाँ । (पिता) पालक रक्षक [पर्जन्य] ने (दुहितुः) दूर रखी हुई पृथिवी में (गर्भम्) गर्भ को (आ अधात्) धारण किया ।

द्यौ मेरा पिता=रक्षक अथवा पालक अथवा उत्पादक । नाभि यहीं । शरीर को बाँधन करने वाली मेरी माता पृथिवी महती [है] जो । बन्धु = भले प्रकार बाँधन करने में । नाभि बाँधन में । नाभि में सनद्ध=बाँधे हुए गर्भ उत्पन्न होते हैं यह [आयुर्वेदाचार्य] कहते हैं । इस कारण से ही ज्ञातियों को सनाभय [=समाना हि तेषां नाभिर्मातुः] यह कहते हैं । सबन्धव =

१ तुलना करो, निरुक्त ३ । ४—दूरे हिता । =दूरे धृता ।

सवन्धु यह भी । ज्ञातिः=संज्ञानात्=एक संज्ञा वाला होने से । दोनों दूर वा ऊपर फैली हुई द्यावापृथिवी के (अन्तः) मध्य में योनिः= अन्तरिक्ष [है ।] उत्तान:=उत्तम फैला हुआ । ऊपर को तान:=फैला हुआ अथवा । वहां [ठहरा] पिता=पालक [पर्जन्य] दुहितुः=दुहिता=दूर रखी हुई [पृथिवी] को गर्भम्=गर्भ दधाति=स्थापन करता है । पर्जन्य पृथिवी का ।

४८. शंयोः=शम् योः [दोनों उदात्त हैं, अतः दो पद हैं ।] शंयुः= सुख का मिलाने वाला । (अथ) और (नः) हमारे लिए (शं योः) रोगों और कष्टों की शान्ति (अरपः) निष्पाप होना (दधात) धारण करे । रपः और रिप्रम् ये दोनों पाप के नाम होते है । शमन=शान्त होना रोगों का, और परे हटाना भयों का । और भी शंयुः बृहस्पति का पुत्र कहाता है । (तत्) वह (शंयोः) शंयु से (आवृणीमहे) [हम] मांगते हैं (गातुं यज्ञाय) प्राप्ति तथा गमन यज्ञ का देवों के प्रति (गातुं) जाना (यज्ञपतये) सुख विशेष मे यज्ञपति का । यह भी निगम=स्पष्टार्थ प्रमाण होता है । (गमनम्) प्राप्ति यज्ञ के लिए (गमनम्) जाना [सुखविशेष में] यज्ञपति के लिए ॥ २१ ॥

भाष्य—पिता पद का यथार्थ भाव पालक वा रक्षक का है । इस के विना अर्थ पूरा नहीं जुड़ता । द्यौ पिता है, और मध्यस्थानी पर्जन्य भी पिता है, अर्थात् ये पालक और रक्षक हैं । पर्जन्य रूपी पिता ने दुहिता रूपी पृथिवी में गर्भ धारण किया । भौतिक पदार्थों अथवा देवों में जो अनेक घटनाएं होती हैं, वे सारी मानवों को अनुकरणीय नहीं, यह वैदिक सिद्धान्त है । इसी अध्याय के खण्ड २० में भी अन्यम् इच्छस्व सुभगे पतिं मत्, पाठ इसी सिद्धान्त को बताता है । इसी लिए उस मन्त्र से भी नियोग से अधिक कोई बात नहीं निकलती । तुलना करो—दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे नाभिः पृथिव्यामधि योनिः ॥ तै० सं० ४ । १ । १ । शंयुः बार्हस्पत्यः—अर्थशास्त्र के सुविख्यात आचार्य बृहस्पति का एक पुत्र भी शंयुः था । इन पिता, पुत्र, दोनों के नाम वैदिक पदों के अनुकरण पद है । बृहस्पति ग्रह का कोई पुत्र भी शंयुः है । तै० सं० गत पाठ में शंयु वही है ॥ २१ ॥

अदितिरदीना देवमाता ॥ २२ ॥

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

[ऋ० १ । ८९ । १० ॥]

इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे । एनान्यदीनानीति वा ।

यमेरिरे भृगवः । [ऋ० १ । १४३ । ४ ॥]

एरिर इतीरतिरुपसृष्टोऽभ्यस्तः ॥ २३ ॥

अर्थ—४९ अदिति—अदीना=नहीं दीन कभी=सदा परिपूर्णा=मूल प्रकृति । अदिति द्यौ [है] अदिति अन्तरिक्ष [है] अदिति माता [है] वह पिता [है] वह पुत्र [है ।] (विश्वे देवाः) सारे देव अथवा दिशाओं में सम्बद्ध विश्वेदेवा अदिति [है] पञ्चजन अदिति है । (जातम्) उत्पन्न हुई वस्तु अदिति [है] (जनित्वम्) जो वस्तु उत्पन्न होगी [वह अदिति है ।] यह अदिति=प्रकृति के ऐश्वर्य को कहता है [मन्त्र] । (एनानि) द्यौ आदि ये सारे वस्तु (अदीनानि) अक्षीण [हैं] अथवा ।

५० एरिरे=आ+ईरिरे । (यम्) जिस [अग्नि] को (एरिरे) प्रेरित किया (भृगवः) भृगुओं ने [नाभा पृथिव्या=नाभि में पृथिवी के ।] एरिरे यह ईर्ति से (उपसृष्ट) उपसर्ग से युक्त बनाया गया है और (अभ्यस्त) अभ्यास किया हुआ अर्थात् धातु का द्वित्व कर के ।

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु ।

नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम् ॥

[ऋ० ४ । ३८ । ५ ॥]

अपि स्मैनं वस्त्रमथिमिव वस्त्रमाथिनम् । वस्त्रं वस्तेः । तायुरिति स्तेननाम । संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः । तस्यतेर्वा स्यात् । अनुक्रोशन्ति क्षितयः संग्रामेषु । भर इति संग्रामनाम । भरतेर्वा । हरतेर्वा । नीचायमानं नीचैरयमानम् । नीचैर्निचितं भवति । उच्चैरुच्चितं भवति ।

जस्तमिव श्येनम्। श्येनः शंसनीयं गच्छति। अवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्। अवश्चाऽपि पशुमच्च यूथम्। प्रशंसां च यूथं च। धनं च यूथं चेति वा। यूथं यौतेः। समायुतं भवति।

इन्धा॑न एनं जरते स्वा॒धीः । [ऋ० १० । ४५ । १ ॥] गृणाति।

मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः।

प्र म॒न्दिने॑ पितु॒मद॑र्चता॒ वचः॑ । [ऋ० १ । १०१ । १ ॥]

प्रार्चत मन्दिने पितुमद्वचः।

गौर्व्याख्यातः (२ । ५–८) ॥ २४ ॥

अर्थ—५१. जसुरिः, [दधिक्रा देवता वाले सूक्त की यह ऋक् है।] (एनम्) इस [दधिक्रा=आग्नेय परमाणुओं से बने अश्व को देख कर], (वस्त्र-मथिं न तायुम्) वस्त्र मथिन्=अपहारिन्=चोर को [देख कर जिस प्रकार] (अनु क्रोशन्ति) [यह आया, यह आया, यह आया, ऐसा] एक के पश्चात् दूसरा चिल्लाते हैं, [उसी प्रकार] (क्षितयः) मनुष्य (भरेषु) संग्रामों में (उत स्म) भी [चिल्लाते हैं।] (नीचायमानम्) नीचे आते हुए (जसुरिं न श्येनम्) वेग से श्रान्त श्येन=बाज जैसे [पक्षी पर आ पड़ते हैं,] वैसे शत्रु पर पड़ते हैं।] (श्रवः च) और यश को (अच्छ) आप्तुम्=प्राप्त करने के लिए, (पशुमत् च) पशु और [जैसे] (यूथम्) यूथ को [मिलते हैं, वैसे अपने साथियों में मिलते हैं मनुष्य।]

और इस वस्त्र चुराने वाले पर जैसे। वस्त्र वस्ति से। तायु यह चोर का नाम [है।] संस्त्यानम्=इकट्ठा हुआ है इस में पाप, यह नैरुक्तों का [तायु=सं+त्यानम्, निर्वचन है।] तस्यति से अथवा होवे। एक के पश्चात् चिल्लाते हैं मनुष्य संग्रामों में। भर यह संग्राम का नाम [है।] भरति से अथवा। हरति से अथवा। नीचायमानम्=नीचे अयमानम्=आते हुए को। नीचैः=नि+चितम्=नीचे चिना हुआ होता है। उच्चैः=उत्+चितम्=ऊपर चिना हुआ होता है।

जसुरिं=[दुर्ग—जस्तं=बद्धम्। स्कन्द—बद्धस्ताडितो वाहनं वेगश्रान्तो जसुरिरुच्यते। सायण—क्षतम्] बन्धन से मुक्त किया गया बाज, जैसे।

श्येन=प्रशंसनीय जाता है। [यूनु] यूथ भी और यश भी। प्रशंसा और यूथ और। धन और यूथ और अथवा। यूथम्=यौति से। मिश्रित=एकत्रित=मिला हुआ होता है।

५२ जरते, (इन्धान) प्रज्वलित करता हुआ (एनम्) इस [अग्नि को] (जरत) स्तुति करता है (स्वाधी) सुप्रज्ञ—शोभन बुद्धि वाला। [जरत]=गृणाति=स्तुति करता है।

५३ मन्दी मन्दति से स्तुत्यर्थक से। (मन्दिने) स्तुति के योग्य [इन्द्र] के लिए (पितुमत्) अन्नयुक्त (प्र अर्चत) भले प्रकार उच्चारण करो (वच) स्तुतिरूप वाक् को। (प्रार्चत) उच्चारो (मन्दिने) स्तुति योग्य के लिए (पितुमत्) अन्नयुक्त=हविया वाले (वच) वचन।

५४ गौ व्याख्या किया गया है [२ । ५—८ ।]

भाष्य—अत्र पद का अर्थ ऊपर जाना है। असुरि पद के कई अर्थ किए गए हैं। श्येन ऊपर जा कर नीचे की ओर झपटता है। यह थका हुआ है। निघण्टु १। ७ के अनुसार पितु यह अन्न का नाम है।

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे।
[ऋ० १। ८४। १५॥]

अत्र ह गो सममंसतादित्यरश्मय स्वनाम। अपीच्यम्। अपगतम्। अपचितम्। अपहितम्। अन्तर्हितं वा। अमुत्र चन्द्रमसो गृहे।

गातुर्व्याख्यात।

[गातुं कृणवन्नुषसो जनाय। [ऋ० ४। ५१। १] इत्यपि निगमो भवति।]

दंसय कर्माणि। दंसयन्त्यनानि।

कृतानि दंसयः। [ऋ० १०। १३८। १] इत्यपि निगमो भवति।

स तूताव नैनमंहो अश्नोत्यहुतिः। [ऋ० १। ९४। २॥]

स तुताव। नैनमहतिरश्नोति। अहतिश्चाहश्चाहुश्च हन्त। निरूढो पधाद्विपरीतात्।

बृहस्पते चयस इत्पियारुम् । [ऋ० २ । २० । ५ ॥]

बृहस्पते यश्चातयसि देवपीयुम् । पीयतिर्हिंसाकर्मा ।

वियुते द्यावापृथिव्यौ । वियवनात् ।

समान्या वियुते दूरेअन्ते । [ऋ० ३ । ५४ । ७ ॥]

समानं सम्मानमात्रं भवति । मात्रा मानात् । दूरं व्याख्यातम् (३ । १९) । अन्तोऽततेः ।

अर्थ—(अत्र अह=ह) यहां ही (गोः) [सुषुम्ण] रश्मि के (अमन्वत) माना=मानती हैं, (नाम) नमन=झुकने=प्रतिहत हो कर परावर्तन को (त्वष्टुः) आदित्य की (अपीच्यम्) भिची हुई=सिकुड़ कर चन्द्रमण्डल में स्वायत्त होती हुई [अन्य रश्मियों ने ।] इस प्रकार चन्द्रमा के (गृहे) मण्डल में ।

यहां ही (गोः) सुषुम्ण रश्मि के, (सम् अमंसत) पूरा मान लिया आदित्य रश्मियों ने (स्वं नाम) झुकने को । अपीच्यम्=अपगतम्=अलग रखी, अपचितम्=अलग हुई, अपहितम्=ढकी हुई, अन्तर्हितम् वा=अन्दर रखी हुई अथवा । अमुत्र=वहां चन्द्रमण्डल में ।

५५. गातुः, व्याख्या किया गया है [४ । २१, गमन अर्थ में ।] (गातुम्) गमन के लिए (कृण्वन्) करती हुई [मार्गों को] (उषसः) उषाएं (जनाय) जनों के लिए । यह भी निगम होता है ।

५६. दंसयः=कर्म [हैं ।] दंसयन्ति=क्षीण करते हैं, एनानि=इनको, (कुत्साय) कुत्स=कर्षक के लिए (मन्मन्) स्तुति से [जल निकाले ।] (अह्यः च) अहि=वृत्र=मेघ के (दंसयः) कर्म विफल किए । यह भी निगम होता है ।

५७. [तूताव]—(सः तूताव) उस ने वृद्धि की, (न एनम्) नहीं इस को (अश्नोति) प्राप्त होता (अंहतिः) पाप । स तुताव, उस ने वृद्धि की, नहीं इस को पाप प्राप्त होता । अंहति=अंह.=अंहुः और हन्ति से [हैं ।] निरूढ+उपधात्=निकाल कर उपधा=अ को, विपरीतात् उलट कर [न् को ह् से पहले रख कर ।]

५८ चयसे=चातयसि=नाश करता है। हे बृहस्पते (चयसे) तू नाश करता है (इत् पियारुम्) [देवो के] हिंसक को। हे बृहस्पते जो तू नाश करता है देवो के पीयुम्=हिंसक को अथवा देवो द्वारा हिंस्य को। पियति. हिंसा अर्थ वाला [है।]

५६. वियुते=वि+युत=पृथक् होते हैं, द्यावापृथिवी । वियवनात्=पृथक् होने से, [पास पास स्थिति से पृथक् होने के कारण।] (समान्या=समान्यौ) समान कर्म मे प्रवृत्त (वियुते) पृथक् होती है (दूरेअन्ते) दूर किनारो वाली द्यावापृथिवी। समान=सम्+मान+मात्रम्=एक समान मान की मात्रा वाली। मात्र=मापने से। दूरं, व्याख्यान किया गया है [३। १९ मे।] अन्त, अतति से।

भाष्य—आदित्य सहस्ररश्मि है। उस के सम्पूर्ण रश्मि चन्द्रमण्डल में प्रवेश करते है। वहां से केवल एक रश्मि प्रत्याहत हो कर परावर्तित होता है। वह है सुषुम्ण रश्मि। शेष रश्मि चन्द्रमण्डल में विलीन हो जाते हैं, अथवा सूर्य के संहार का भाग बनते हैं। इसी सारी माया का मन्त्रों से गम्भीर अध्ययन अभीष्ट है। इस का संक्षिप्त वर्णन हमने वेदविद्यानिदर्शन पृ० २७०—२७१ पर किया है। वेद में गो-नाम=नमन, न्यायसूत्रों के वात्स्यायन=विष्णुगुप्त कौटल्य भाष्य में रश्मिपरावर्तन, स्कन्द के ऋग्भाष्य में प्रतिहत, सन् पराघृत्य, और देवपालकृत काठकगृह्य भाष्य, भाग २, पृ० १७४ पर उद्धृत एक श्लोक में प्रतिहत रश्मि लिखे हैं।[1] चन्द्र-गृह=चन्द्र मण्डल, वह मण्डल चन्द्रमा को कई सौ योजन ऊपर सब ओर से घेरे हुए है।

उषा का गमन अध्ययन योग्य है। कुत्स, एक कुत्स औरव था। तां० ब्रा० १४। ६। ८॥ वह इन्द्र के उरु से बना था। अर्थात् अति बलवान् था। जै० ब्रा० ३।१४२॥ एक कुत्स ऐतिहासिक राजा प्रतीत होता है। परन्तु वेद का कुत्स अन्तरिक्ष में किसी कर्षक का कर्म करता रहता है। उस का साथी और प्रतिद्वन्द्वी लुश है। इन दोनों की माया जै० ब्रा० १। २२८ में वर्णित है। बृहस्पति देवों की क्षति नहीं होने देता।

---

१. अम्भयस्वे ऽपि चन्द्रादे- सावित्रा एव रश्मयः।
प्राप्य प्रतिहतास्तत्र नेत्रसंसर्गभागिनः ॥

वियुते, पृथक् होते हैं । द्यावापृथिवी के पृथक् और शनैः शनैः दूर होने की घटना असीम महत्त्व की है । यह वैदिक विज्ञान की पराकाष्ठा है । इस का वर्णन हम ने वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ३१०, ३११ पर किया है । वहां पर दिए गए प्रमाणों के अतिरिक्त अगला वचन भी द्रष्टव्य है—द्यावापृथिवी सहास्ताम् । ते वियती अब्रूताम् । अस्त्वेव नौ सह यज्ञियम् इति । तै० सं० ५ । २ । ३ ॥ इन द्यावापृथिवी के पृथक् होने की माया विचित्र और परम आश्चर्यकरी है । तै० सं० ५ । १ । ५ में भी प्रवचन है—अग्न आ याहि वीतय इति वा इमौ लोकौ व्यैताम् । अग्न आ याहि वीतय इति यदाह—अनयोर्लोकयोर्वीत्यै ॥ शतपथ १ । ४ । १ । २२ में भी प्रवचन है—अग्न आयाहि वीतये इति । तद्वेति भवति वीतये-इति । समन्तिकमिव ह वा इमे ऽग्रे लोका आसुः इति । उन्मृश्या हैव द्यौरास ॥ निरुक्तस्थ ऋक् में इसी माया का संकेत है । ऐसे महान् और अतीन्द्रिय ज्ञान के बताने वाले वेद को जो मूढ साधारण ग्रन्थ कहता है, उस की मतान्धता का क्या कहना । इन सब प्रमाणों में वियती, वीतये, व्यैताम् आदि प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं ।

ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति । अथाप्यृध्नोत्यर्थे दृश्यते ।

ऋधंगया ऋधंगुताशमिष्ठाः ॥ [यजुः ८ । २० ॥]

ऋध्नुवन्नयाक्षीः । ऋध्नुवन्नशमिष्ठा इति च ।

अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे । अनुदात्तमन्वादेशे । तीव्रार्थतरमुदात्तम् । अल्पीयोर्थतरमनुदात्तम् ।

अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ अजाश्व ।

[श्रवस्यतामजाश्व ॥] [ऋ० १ । १३८ । ४ ॥]

अस्यै नः सातय उपभव । अवहेळमानोऽक्रुध्यन् । ररिवान् । रातिरभ्यस्तः । अजाश्वेति पूषणमाह । अजाश्व । अजा अजनाः ।

अथानुदात्तम् ।

दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ।

[ऋ० १० । ८५ । ३९ ॥]

दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवतु स शरदः शतम् । शरच्छृता अस्या ओषधयो भवन्ति । शीर्णा आप इति वा । अस्येत्यस्या इत्येतेन व्याख्यातम् ॥ २५ ॥

अर्थ—६० ऋधक्, यह पृथग्भाव=पृथक् होने का प्रवचनम्=विशेष कहने वाला होता है। और भी ऋध्नोति–वृद्धि करता है ये अर्थ में दीखता है। (ऋधक्) समृद्ध करके (अया) यज्ञ किया। (ऋधक् उत) और समृद्ध करके (अशमिष्ठा) शमन = शान्त किया। ऋध्नुवन्=समृद्ध करके अयाक्षी=यज्ञ किया। समृद्ध करके शान्त किया यह भी।

६१ ६२ अस्या और अस्य और, उदात्त [होते हैं,] प्रथम आदेश =कथन में। अनुदात्त अन्वादेश=दूसरी बार कथन में। तीव्र+अर्थतरम्=स्पष्ट रूप में पूर्ण अर्थ कहने वाला उदात्त [होता है।] अल्पीय अर्थतरम्=बहुत थोड़ा–अस्पष्ट अर्थ कहने वाला अनुदात्त [होता है।]

(अस्या=अस्यै) इस [लाभ] के लिए (ऊ षु) [पदपूरक हैं।] (नः) हमारे (सातये) दान के (उप भुवः) समीप हो (अहेळमान) न अनादर=क्रोध करते हुए (रविवान्) देते हुए (अजाश्व) हे अजरूपी अश्व वाले [पूषन्] (श्रवस्यताम्) धन की कामना करने वाले [हमारे पास] (अजाश्व) हे अजरूपी अश्व वाले।

इस [लाभ] के लिए हमारे सातये=दान के उपभव=समीप हो। अहेळ्मान=न क्रोध करते हुए, रविवान्=राति अभ्यस्त है [र को द्वित्व हुआ है।] अजाश्व यह पूषन् को कहा [मन्त्र ने।] अजा=बकरा वाले।

अब अनुदात्त [का उदाहरण है अस्या का।] (दीर्घायु) दीर्घ आयु वाला (अस्याः) इस [वधू] का जो (पतिः) पति [वह] (जीवाति) जीवे शरद् ऋतु सौ अर्थात् सौ वर्ष। दीर्घायु इस का जो पति, जीवे वह शरत् सौ। शरत् शृता पकी हुई इस में ओषधियां होती हैं। शीर्णा =विशीर्णा=अल्पीभूता=घटे हुए [इस में] आप अथवा। अस्य, यह अस्या इस से व्याख्यान किया गया है ॥ २५ ॥

भाष्य—वेदार्थ में स्वर की कितनी महिमा है, यह इस वास्तीय भाष्य से सुस्पष्ट है ।[1] इसी विद्या को न जान कर आधुनिक काल के अनेक पण्डितब्रुव वेदार्थ का घात करते हैं । स्कन्द के अनुसार अस्मे नः सातये. अपपाठ है । अस्या नः सातये यथार्थ पाठ है । पर निरुक्त के उपलब्ध कोषों में स्कन्द स्वीकृत पाठ नहीं है । [illegible], पृथक् [illegible] कर्मों मानता है, इस का [illegible] अभीष्ट है । मानव जीवन प्राप्त कर के सौ वर्ष जीना वेदोपदेश के अनुसार है । दीर्घायु में पुण्यों का सञ्चय अधिकाधिक होता है । ओषधयः, फलपाकान्ता ओषधयः । गेहूं, चने व्रीहि आदि । ओषधि, वनस्पति, गुल्म और वृक्ष आदि में जो उद्भिज्जों का वर्गीकरण है, उस से अत्यन्त निकृष्ट वर्गीकरण योरोपीय उद्भिज्ज्ञों ने बनाया है ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥

[ऋ० १ । १६४ । १ ॥]

अस्य वामस्य वननीयस्य । पलितस्य पालयितुः । होतुर्ह्वातव्यस्य । तस्य भ्राता मध्यमोऽस्त्यशनः । भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणः । हरते भागं, भर्तव्यो भवतीति वा । तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः । तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा । विश्पतिम् । सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रम् । सर्पणपुत्रमिति वा । सप्त सृप्ता संख्या । सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति ॥ २६ ॥

अर्थ—इस (वामस्य) सेवनीय (पलितस्य) पालनकर्ता (होतुः) आह्वान योग्य [जो आदित्य है,] (तस्य) उस का (भ्राता) भ्राता (मध्यमः) मध्यस्थानी वायु (अस्ति) है (अश्नः) व्यापी । तीसरा भ्राता (घृतपृष्ठः) स्नेहमय आपः से स्पर्श किया गया है [अग्निः] (अस्य) इस का (अत्र अपश्यम्) इन के मध्य मे देखा=देखता हूं मैं । (विश्पतिम्) विश्व के पालक [आदित्य को] सप्त पुत्र वाले को ॥ इस

---

१. वेदार्थ में स्वर की उपयोगिता और उस की उपेक्षा से होने वाले दुष्परिणामों के परिज्ञान के लिए पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखित 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' ग्रन्थ देखें ।

सेवनीय का पालक का, आह्वान योग्य का। उस का भ्राता मध्यम [वायु] है व्यापी। भ्राता, भरति से, हरने अर्थ वाले से। हरता है भाग को। भर्तव्य=पालन पोषण योग्य होता है अथवा। तीसरा भ्राता स्नेहमय आप से धारण किया गया यह अग्नि। इन मे देखा सब के रक्षक को अथवा पालक को अथवा। सप्तपुत्रम्=सातवें पुत्र को। सर्पणशील [रश्मि रूपी] पुत्र वाले को अथवा सप्त=फैली हुई संख्या। सात आदित्य की रश्मियां यह कहते है [विद्वान्] ॥ २६ ॥

भाष्य—ऋग्वेद सूक्त १६४ की यह ऋक् है। इस सूक्त की दो ऋचाएं पूर्व २। ८ तथा ९ में व्याख्यात हैं। इस का भूमिकात्मक वक्तव्य २। ८ के भाष्य में देखें। भूः व्याहृति से पृथिवी, भुवः से अन्तरिक्ष, और स्वः से द्यौ उत्पन्न हुए। अन्तरिक्ष में वायु व्याप्त हो गया। यह आदित्य का भ्राता माना गया है। तीसरा भ्राता घृतपृष्ठ अग्नि है। सम्पूर्ण स्नेहमय पदार्थ परमाणुओं के संयोग-विभाग से आप का ही रूपान्तर है। सप्तमपुत्रम्=अदिति का सातवां विशिष्ट पुत्र आदित्य है। अथवा सर्पणशील रश्मियां इस के पुत्रवत् हैं ॥ २६ ॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥
[ऋ० १। १६४। २ ॥]

सप्त युञ्जन्ति रथम्। एकचक्रमेकचारिणम्। चक्रं चकतेर्वा। चरतेर्वा। क्रामतेर्वा। एकोऽश्वो वहति सप्तनामादित्यः। सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसंनामयन्ति। सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा। इदमपीतरन्नामैतस्मादेव। अभिसंनामात्। संवत्सरप्रधान उत्तरोऽर्धर्चः। त्रिनाभि चक्रं त्र्यृतुः संवत्सरः। ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति। संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि। ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन्रसाः। वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः। हेमन्तो हिमवान्। हिमं पुनर्हन्तेर्वा। हिनोतेर्वा। अजरमजरणधर्माणम्। अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन्। यत्रेमानि सर्वाणि भूतान्यभिसंतिष्ठन्ते। तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति।

अर्थ—(सप्त) सात रश्मि रूपी अश्व (युञ्जन्ति) जोड़ते हैं (रथम्) रथ को (एकचक्रम्) एक चक्र=पहिए वाले को। एक अश्व [आदित्य] (वहति) ले जाता है (सप्तनामा) सात रश्मियां जिस में रसों को सब

ओर से ला कर झुकाती हैं। (त्रिनाभि चक्रम्) तीन नाभियों वाला पहिया=संवत्सर, (अजरम् अनर्वम्) जरा वर्जित और अप्रतिहत, जिस में ये सारे भुवना=भुवनानि=भूतजातानि (अधितस्थुः) ठहरते है ॥ सात जोड़ते है एक चक्र=एकाकी चलने वाले रथ को। चक्रम्=चकति से अथवा। चरति से अथवा। क्रामति से अथवा। एक अश्व=आदित्य ले जाता है सप्त नामा। सात इस के लिए रश्मियां रसों को (अभिसन्नामयन्ति) सब ओर से ला कर झुकाती हैं। सात इस को ऋषि स्तुति करते है अथवा। यह भी दूसरा (नाम) [प्राणियों तथा पदार्थो आदि का] नाम इस [कारण] से ही, (अभिसन्नामात्) [नामधारी पदार्थ की ओर] चारों ओर से झुकने से। [ऋक् के पूर्वार्ध का अर्थ हो गया ।] संवत्सर-प्रधान [अर्थ वाला] उत्तर आधा ऋक् है । त्रिनाभि चक्र=तीन ऋतुओं वाला संवत्सर। ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त ये । संवत्सरः=सम्यक् वसते, है इस में भूत। ग्रीष्मः=ग्रसे जाते है इस में रस । वर्षा=बरसता है इन मे पर्जन्य। हेमन्तः=हिम=बर्फ वाला। हिम पुनः हन्ति से अथवा । हिनोति से अथवा । अजरम्=अजरणधर्माणम् । जराधर्मवर्जितम् । अनर्वम्=अप्रत्यृतम् अन्यस्मिन्=नहीं आश्रित दूसरे में। जहां ये सारे भूतजात ठहरते है। उस [संवत्सर को] सर्वमात्राभिः=ऋतु आदि की सारी मात्राओं से स्तुति करता है [मन्त्र]।

भाष्य—सप्त=सात रश्मियां । सहस्ररश्मि-आदित्य की सात प्रधान रश्मियां हैं। उन में से सुषुम्णः, हरिकेशः आदि सात सर्वश्रेष्ठ हैं। इन सब की रचना भिन्न भिन्न प्रकार की है। सप्तरश्मि का वर्णन ऋ० २ । १२ । १२, यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्, में है। इस मन्त्र की व्याख्या जैमिनि आरण्यक १ । २८ । ७ में है—सप्त होता आदित्यस्य रश्मयः। ये सातों रश्मियां सूर्य के एकचक्र रथ में जुड़ी रहती हैं। रश्मियां ही उस के अश्वों का रूप बनती हैं। चक्र, सूर्य के रथ का चक्र विचित्र है। इसी सूक्त के मन्त्र १३ में कहा है—

तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः। अर्थात् उस चक्र का अक्ष भूरिभार होने पर भी, सदा घूमता हुआ कभी नहीं पीडित अथवा गरम होता। यह दैवी कला है। इस मन्त्र में दो वैज्ञानिक सत्य दर्शाए गए हैं। प्रथम, चक्रों के अक्ष, उन पर वहन किए जाने वाले भार के अनुकूल सुदृढ होने चाहिएं। तथा द्वितीय,

वे अक्ष तैल आदि द्वारा सदा इतने स्निग्ध रहें कि वे अधिक गरम न हो जाएं। पर सूर्य का अक्ष कभी गरम ही नहीं होता। यह अक्ष ध्रुव में निबद्ध है। वायु पुराण में इस का अधिक स्पष्टीकरण है—

> अक्ष चक्र निबद्ध तु ध्रुवे चाक्ष समर्पित ।
> सहचक्रो भ्रमत्यक्ष सहाक्षो भ्रमति ध्रुव ।
> अक्ष सहैव चक्रेण भ्रमते ऽसौ ध्रुवेरित ॥ ५२ । ६५ ॥

यह आदित्य एकाकी चरति । तै० आ० १ । ८ । ७ । ४ ॥ रश्मियां पार्थिव रस सूर्य मण्डल में पहुंचाती हैं। सात प्राण रूपी ऋषि सूर्य की स्तुति करते रहते हैं। द्रष्टव्य दक्षिण वेदविज्ञाननिदर्शन पृ० २४८-२५१। ये पार्थिव ऋषि नहीं हैं। वेदानभिज्ञ लोग इस ऋषि शब्द से अनेक परिणाम निकालते हैं।

संवत्सर एक देव है अतः भौतिक पदार्थ है। वह कालगणना के लिए विचारमात्र में कल्पित कोई पदार्थ नहीं है। बृहद्देवता में इसी अभिप्राय से कहा है—

> एतस्यैव तु विज्ञेया देवा सम्यग्विकास्त्रय ॥ १५ ॥
> चन्द्रमाश्चैव वायुश्च य च संवत्सरं विदु । अ० २ ।

अर्थात्—चन्द्रमा वायु और संवत्सर तीन वास्तविक देव हैं। अतः अत्यन्त स्पष्ट है कि चन्द्रमा और वायु के समान संवत्सर भी मूर्तों के योग का फल है। इसी संवत्सर की उत्पत्ति अघमर्षण सूक्त में कही है—समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो ऽजायत । अर्थात्—अर्णव समुद्र से संवत्सर अध्यजायत—उत्पन्न हुआ। यह घटना सूर्य और चन्द्र के वर्तमान रूप में आने से पहले की थी। अघमर्षण सूक्त के मन्त्र का क्रम इस अर्थ में भी पूरा ठीक बैठता है। उसी संवत्सर में अहोरात्र मास ऋतु और अयन भी परमाणुओं के विभिन्न संयोगों से बने हुए अपने अपने स्थानों में जुड़े हुए हैं। यदि अहोरात्र आदि मूर्तों से बने साकार न होते तो ब्राह्मण ग्रन्थ में यह पाठ कभी न होता—अहोरात्राणि वा एतद्रूपं यद्धानाः । शतपथ १३ । २ । १ । ४ ॥ अर्थात्—अहोरात्रों का स्वरूप धान के सदृश है। शतपथ ११ । २ । ७ । ५ में अहोरात्रों को धरने वाला लिखा है। यथा—अहोरात्रे परिविष्टी । संवत्सर एक अत्यन्त सूक्ष्म झिल्ली के समान है

---

१ मध्वाद्य षड् ऋतवस्तान् पितॄन् परिचक्षते । ऋतव पितरो देवा इत्येषा वैदिकी श्रुति । वायु पुराण ३० । ४ ॥

जो आदित्य के गिर्द घूमती है । यजुः १८। २६ तथा उस पर शतपथ ६ । ४ । १ । ८ में आदित्य को संहितः कहा है । एष हि-अहोरात्रे संदधाति । आदित्य द्वारा ही अहोरात्र की संधियां हैं । संवत्सर और आदित्य की गतियों का कारण ध्रुव है । पृथिवी का गतिचक्र इसी ध्रुव के आश्रय से सूर्य के सामने विचित्र प्रकार से होता रहता है । इस का उल्लेख पूर्व निरुक्त २ । १४ के भाष्य में हो चुका है ।

इस संवत्सर का सृजन आग्नेय और आप्य परमाणुओं से हुआ है । अग्निर्वाव संवत्सरः । तै० ब्रा० १ । ४ । १० । १ ॥ वायु पुराण ३० । २१ के अनुसार संवत्सर एक अग्निः है । इसे विद्वान् ऋत भी कहते हैं । संवत्सर का एक नाम सुमेरु है । शतपथ में प्रवचन है —सुमेरुः संवत्सरः १।७ २।२६ ॥ वायु पुराण ३० । १६ में संवत्सरः सुमेरुस्तु, और १७ में सुमेरुपुत्रा विज्ञेया ह्यष्टधा तु पट्, कहा है। जै० ब्रा० २ । २८, २६, ६० में अतिविभाग से आदित्य को भी संवत्सर कहा है । यह महीयसी विद्या अन्वेष्टव्या है ।

पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने । [ऋ० १ । १६४ । १३] इति पञ्चर्तु तया ।

पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणम् । [शतपथ १।५।२। १६॥]

हेमन्तशिशिरयोः समासेन । [ऐ० ब्रा० १ । १ । १]

षळर आहुरर्पितम् । [ऋ० १ । १६४ । १२ ॥]

इति षड्तुतया । अराः प्रत्यृता नाभौ । षट् पुनः सहतेः ।

द्वादशारं नहि तज्जराय ॥ [ऋ० १ । १६४ । ११ ॥]

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम् ॥ [ऋ० १ । १६४ । ४८ ॥]

इति मासानाम् । मासा मानात् । प्रधिः प्रहितो भवति ।

तस्मिन्त्साकं त्रिशता शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥
[ऋ० १ । १६४ । ४८ ॥]

षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः । [गो० ब्रा० १ । ५ । ५] इति च ब्राह्मणं समासेन ।

सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ [ऋ० १ । १६४ । ११]

सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः । [ऐ० ब्रा० ? । १७] इति च ब्राह्मणं विभागेन विभागेन ॥ २७ ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

अर्थ—पांच अरों वाले चक्र में, चारों ओर से घेर कर घूमने वाले में, [सब भूत ठहरे हुए हैं ।] यह पांच ऋतुओं वाला होने से [संवत्सर अभिप्रेत है ।] पांच ऋतु हैं संवत्सर के, यह और ब्राह्मण [है ।] हेमन्त और शिशिर के संक्षेप से । छः अरों [के चक्र पर] कहते हैं (अर्पितम्) ठहरे हुए को । यह छः ऋतुओं वाला होने से । अरा, (प्रति ऋता) बीच में गई हैं, धसी हुई हैं नाभि में । पट् फिर सहति से, अभिभव करता है=दबा लेता है ।

बारह अरों वाला, नहीं है यह [चक्र], जराय, जीर्ण होने के लिए । बारह (प्रधय) परिधियां=घेरे चक्र एक, यह मासों का [कथन है ।] मासा =मापने से । प्रधि =प्र-हित =पृथक् धरा हुआ होता है ।

(तस्मिन्) उस चक्र में (साकम्) साथ [ही] (त्रिशता षष्टि) तीन सौ साठ (न शङ्कव) मानो कील (अर्पिता) जड़े होते हैं (चला-चलासः) सदा चलने वाले । साठ और निश्चय से तीन सौ संवत्सर के अहोरात्र [हैं ।] यह और ब्राह्मण [प्रवचन है] संक्षेप से ।

सात सौ बीस और ठहरे [अग्नि के पुत्र जो मिथुन हैं] ।

सात सौ बीस संवत्सर के अहोरात्र [हैं ।] यह और ब्राह्मण [है] विभाग से, पृथक् पृथक् कर के ॥ २७ ॥

भाष्य—पञ्चारे चक्रे से इस खण्ड के अन्त तक का सारा पाठ एक ऐसी विद्या से सम्बन्ध रखता है, जो भारतीय विद्वानों में कभी सर्वविदित थी । उस का अद्भुत विस्तार और स्पष्टीकरण वायु पुराण ५२ । ४४—७६ तथा ब्रह्माण्ड पूर्व भाग २२ । ६०—८४ में मिलता है । सूर्य रथ के प्रत्येक अङ्ग की इस रथ के अङ्गों के साथ अंशतः कल्पित की गई तुलना वहां द्रष्टव्य है ॥ २७ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

सस्निमविन्दच्चरणे नदीनाम् ॥ [ऋ० १० । १२१ । ६॥] संस्नातं मेघम्।

वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा।

[ऋ० ८। २६। १६ ॥]

वोढृतमो ह्वानानां स्तोमो दूतो हुवन्नरो। नरा मनुष्याः। नृत्यन्ति कर्मसु।

दूतो जवतेर्वा। द्रवतेर्वा। वारयतेर्वा।

[दूतो देवानामसि मर्त्यानाम्। (ऋ० १०। ४। २) इत्यपि निगमो भवति।]

वावशानो वष्टेर्वा। वाश्यतेर्वा।

सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानः। [ऋ० १०। ५। ५] इत्यपि निगमो भवति।

वार्यं वृणोतेः। अथापि वरतमम्।

तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्। [ऋ० ८। २५। १३ ॥]

तद्वार्यं वृणीमहे। वर्षिष्ठं गोपायितव्यम्। गोपायितारो यूयं स्थ। युष्मभ्यमिति वा।

अन्ध इत्यन्ननाम। आध्यानीयं भवति।

आमत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः। [ऋ० २। १४। १॥]

आसिञ्चतामत्रैर्मदनीयमन्धः। अमत्रं पात्रम्। अमा अस्मिन्नदन्ति। अमा पुनरनिर्मितं भवति। पात्रं पानात्।

तमोऽप्यन्ध उच्यते। नास्मिन्ध्यानं भवति न दर्शनम्। अन्धन्तम इत्यभिभाषन्ते। अयमपीतरोऽन्ध एतस्मादेव।

परमंदघुपवाम वि चेतदन्धः ॥ [ऋ० १।१६४।१६ ॥] इत्यपि निगमो भवति ॥ १ ॥

अर्थ—१ सस्निम् । (सस्निम्) सम्यक् स्नात अथवा धौत मेघ को (अविन्दत्)=अलभत=पा लिया [इन्द्र ने] (चरणे) चलने वाले स्थान में (नदीनाम्) नदियों के, अर्थात् अन्तरिक्ष में । संस्नातं=सम्यक् स्नान किए हुए मेघ को ।

२ वाहिष्ठ:, वोढ्तम=स्तोमविशेष, सर्वश्रेष्ठ बुलाने वाला हवानां=ह्वानानाम् बुलाने वालों में से (वाम्) तुम दोनों को (स्तोम दूत) स्तोमरूपी दूत (हुवत्) बुलाए (नरा=नरौ) हे अश्वियो । सर्वश्रेष्ठ बुलाने वाला, बुलाने वालों में से, स्तोम रूपी दूत बुलाए, हे दोनों अश्वियो। नरा.=मनुष्या । नाचने हैं कर्मों में ।

३. दूत' जवति=[वेग से गति करता है=दो दलों में आता जाता है ।] से अथवा, द्रवति=[हठ से पिघलता है, पिघलता है] से अथवा, वारयति =[रोकता है अनर्थों को] से अथवा । दूत देवों के हो, [और] (मर्त्यानाम्) मरणधर्मा मनुष्यों के । यह भी निगम होता है ।

४ वावशान, वष्टि=कान्ति वाला है=चाहता, से अथवा । वाश्यति =शब्द करता है से अथवा । (सप्त स्वसृ') सात बहनों, अर्थात् ज्वाला में सात विभिन्न रूप वालियों (अरुषी) दीप्ति वालियों को (वावशान) चाहते हुए । यह भी निगम होता है।

५ वार्यम्, [=धन] वृणोति=वरता है, से, और भी वरतमम्=वरणीय पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ ॥ उस (वार्यम्) वरणीय=स्वीकरणीय को (वृणीमहे) हम वरते हैं, (वरिष्ठम्) अत्यन्त श्रेष्ठ को (गोपयत्यम्) रक्षणीय को ॥ उस वरणीय को स्वीकार करते हैं । (वरिष्ठम्) बहुत श्रेष्ठ गोपायित-व्यम्=रक्षणीय को । रक्षा करने वाले यूयम्=[मित्र, वरुण, अर्यमा] तुम [जिस धन के] स्थ=हो । युष्मभ्यम्=तुम्हारे लिए [जो धन रमणीय है] अथवा ।

६ अन्ध, यह अन्न का नाम [है] आ+ध्यानीयम्=प्रार्थनीय होना है ॥ (अमत्रेभि) [यज्ञ] पात्रों-सोम चमसों से (आ सिञ्चत) डालो (मदम् अन्ध) मदनीय=मद देने वाले अन्न को ॥ अमत्र=पात्र । अमा=

अ+मा=विना मात्रा के=विना गिनती के=अनेक [अम+त्र] अस्मिन् इस में खाते है। [एक पतीली में से अनेक खाते हैं।] अमा फिर अनिर्मित=अपरिमाण वाला होता है। पात्रं, पीने से। तमः=अन्धेरा भी अन्धः कहा जाता है। नहीं इस [अन्धेरे में] ध्यान=दर्शन होता। अन्धन्तमः ऐसा [लोक में] बोलते हैं। यह भी दूसरा अन्धः इस [कारण] से ही॥ पश्यत्=देखता है अक्षण्वान्=आंख वाला=ब्रह्मज्ञानी, न विचेतत्=नहीं जानता है अन्धः=नेत्रहीन=अज्ञानी। यह भी निगम होता है॥ १॥

भाष्य—इन्द्र अन्तरिक्ष में है। वह अन्तरिक्ष में ही नदन करने वाली नदियों को पा लेता है। नराः, मनुस्मृति में आपः ही नर=अग्निः के सूनवः हैं। पर नर जब मनुष्य अर्थ वाला होता है, तो अर्थ का सहायक निर्वचन कर्मों में नाचने वाला होता है। दूतः, दूत जव=वेगयुक्त गमन आगमन दोनों पक्षों के मध्य में करता है। वह दूत अपनी योग्यता और वाणी से दोनों पक्षों को पिघला कर सन्धि कराने का यत्न करता है। वही वारयति, रोकता है, निवारण करता है युद्धों=अनर्थों को। अग्निः की ज्वालायें सात बहनें हैं। इति+अभिभाषन्ते=लोक में बोलते है। ऐसा प्रयोग निरुक्त २। २ में भी आ चुका है। यास्ककालीन जन साधारण ऐसा बोलते थे॥ १॥

असंश्चन्ती भूरिवारे पयस्वती॥ [ऋ० ६। ७०। २॥]

असज्यमाने इति वा। अव्युदस्यन्त्याविति वा। बहुधारे। उदकवत्यौ।

वनुष्यतिर्हन्तिकर्मा। अनवगतसंस्कारो भवति।

वनुयाम वनुष्यतः। [ऋ० ८। ४०। ७॥] इत्यपि निगमो भवति।

दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः॥
[ऋ० ७। ८२। १॥]

दीर्घप्रततयज्ञमभिजिघांसति यो वयं तं जयेम पृतनासु। दूढ्यं दुर्धियं पापधियम्। पापः पाताऽपेयानाम्। पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा। पापत्यतेर्वा स्यात्।

इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम् । [ऋ० ७ । ४८ । २ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

अर्थ—७ (असश्च-न्ती)=नहीं परस्पर मिले हुए अथवा न क्षीण होने वाले (भूरिधारे) बहुत प्रकार से एक दूसरे को धारण करने वाले (पयस्वती) उदक वाले [द्यावापृथिवी घृत दुहाते=स्नेहमय उदक को बरसाते हैं] ॥ असज्यमाने=न मिले हुए अथवा अव्युदस्यन्त्यौ= न क्षीण होने वाले अथवा बहुत धाराओं वाले, [अथवा] बहुत धारण करने वाले उदक वाले [द्यावापृथिवी] ।

८ वनुष्यति, हन्ति=मारता है अर्थ वाला [है ।] अनवगत संस्कार =[यास्क के काल के व्याकरणों में] अज्ञात संस्कार वाला होता है ॥ (वनुयाम) हम मारें (वनुष्यत) मारते हुओं को । यह भी निगम होता है ॥ (दीर्घप्रयज्युम्) लम्बे काल तक फैले हुए यज्ञ वाले को (अभि यो वनुष्यति)=अभिजिघांसति —जो मारना चाहता है (वयं जयेम) हम जीतें (पृतनासु) युद्धों में (दूढ्यः) जो दुर्बुद्धि है [उसे] । दीर्घप्रततयज्ञम् = लम्बे काल तक विस्तृत किया है यज्ञ को जिसने, उसे अभिजिघांसति=मारना चाहता है जो हम उसको जीतें युद्धों में, दूढ्यम् =दुर्बुद्धि को=पाप बुद्धि को । पाप =पीने वाला अपेयों का [निषिद्धों का] पापत्यमान =बार-बार गिरता हुआ अथवा पत=अधः =नीचे ही गिरता है अथवा । पापत्यमि (स्कन्द—पततेर्यङ्लुग-तात्) से [है ।] बार बार गिरने वाला ।

६ तरुष्यति भी इसी अर्थ वाला [है ।] (इन्द्रेण) इन्द्र जैसे (युजा) युक्त=जुड़े हुए सहाय वाले=इन्द्र के साथी (तरुषेम) हम मारें (वृत्रम्) वृत्र=मेघ को ।

भाष्य—द्यावापृथिवी जो कभी साथ साथ थे परे जा कर फिर मिले हुए नहीं रहे । पर भूरिधारे एक दूसरे को अनेक प्रकार से धारण कर रहे हैं । ये लोक परस्पर ओत-प्रोत हो रहे हैं । घृतं दुहाते, परस्पर पृथक् होते हुए इन्होंने एक दूसरे से प्रतिज्ञा की कि हम एक दूसरे के साथ विवाह सम्बन्ध रखेंगे ।[१]

---

१ यह सारा रहस्य वेदविद्यानिदर्शन पृ० ३१०, ३११ पर देखें ।

तभी से ये स्नेहयुक्त उदक को वर्षाते हैं । वनुष्यतः, मारते हुओं को । भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने महाभारत, भीष्मपर्व के आरम्भ में बताया है—न वधः पूज्यते वेदे । यह स्पष्ट है कि युद्ध श्रेयस्कर नहीं है । पर यदि कोई दुर्बुद्धि व्यर्थ ही युद्ध करने पर उतारू हो जाए, तो उस को अवश्य मारना चाहिए । यही अभिप्राय वनुष्यतः से है । अभिजिघांसति, जो हमें मारने की इच्छा करता है, उसे तत्काल युद्ध कर के दण्ड देना चाहिए । दीर्घप्रततयज्ञम्, बारह-बारह वर्ष के भी यज्ञ हुआ करते हैं । उन की रक्षा राज्य पर होती है । इन पुण्यकर्मों में जो विघ्न डालता है, उसे नष्ट करना चाहिए । देवकीपुत्र भगवान् कृष्ण ने बहुधा कहा था—यज्ञविघ्नकरं हन्याम् ।

भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः ।

पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः । [ऋ० ३ । ३ । ४ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीः । [ऋ० ६ । ८६ । ४१] इति च ।

अन्येन मदाहनो याहि तूयम् ॥ [ऋ० १० । १० । ८ ॥]

अन्येन मदाहनो गच्छ क्षिप्रम् । आहंसीव भाषमाणेत्यसभ्यभाषणादाहना इव भवति । एतस्मादाहनः स्यात् ।

ऋषिर्नदो भवति । नदतेः स्तुतिकर्मणः ।

नदस्य मा रुधतः काम आ गन् ॥ [ऋ० १ । १७९ । ४ ॥]

नदनस्य मा रुधतः काम आगमत् । संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिणः । इत्यपिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते ॥ २ ॥

अर्थ—१०. भन्दनाः, भन्दति से, स्तुति अर्थ वाले से । (पुरुप्रियः) बहुत [धार्मिक जनों] का प्रिय [अग्निः] (भन्दते) स्तुति करता है (धामभिः) नाम और जन्मों से (कविः) मेधावी । यह भी निगम होता है ॥ वह (भन्दनाः) स्तुतियों को (उदियर्ति) [स्कन्द—उदीरणं= समुच्चारणं] उच्चारता है (प्रजावतीः) प्रजा वाली को । यह भी ।

११ [आहनः=आहनम्=चोट करने वाली।]—यम यमी के प्रति कहता है। (अन्येन) दूसरे के पास अथवा अन्य [मार्ग] से (मत्) मुझ से (आहनः) हे चोट करने वाली (याहि) जाओ (तूयम्) शीघ्र। दूसरे के पास मुझ से, हे चोट करने वाली जा। गच्छ=जा क्षिप्रम्=शीघ्र। आहंसि इव=चोट सी देती है, [तू] भाषमाणा=भाषण करती हुई इस असभ्य भाषण से चोट करती हुई के समान होती है। इस कारण से आहनः=हे चोट करने वाली [सम्बोधन में] होवे।

१२ [नद] [लोपामुद्रा और अगस्त्य के कल्पित संवाद में लोपामुद्रा कहती है]। ऋषि नद होता है। नदति से स्तुति अर्थ वाले से। (नदस्य) स्तुति करने वाले [अगस्त्य के कारण] मुझे (रुधतः) [इन्द्रिय वर्ग को] रोकने वाले के (कामः) काम (आ अगन्) प्राप्त हुआ॥ नदस्य=स्तोता के मुझे रुधतः=संयम प्रधान वाले ब्रह्मचारी [अगस्त्य के कारण] काम =काम आगमत्—प्राप्त हुआ है। यह ऋषि पुत्री [लोपामुद्रा] का विलाप बताते हैं [आचार्य]॥ २॥

भाष्य—भन्दृत सायण का अर्थ है, स्तुति किया जाता है ऋषि। पर भन्दृत का स्तुति करता है यह अर्थ ठीक बैठता है। वामदेव परमात्मा और [illegible] युक्त प्राण जो देवों के कवि हैं स्तुति करते हैं। अगला उदाहरण यम यमी संवाद का है। निरुक्त ४।२० में इसी सूक्त की दसवीं ऋक उद्धृत है। यास्क ने असभ्य भाषण कह कर बहन भाई का विवाह निषिद्ध बताया है। ऐसा भाषण आहनः चोट सी देता है। नद नामक कोई ऋषि है। इस सूक्त की प्रथम ऋक के अनुसार उस की पत्नी जरा अवस्था को आ चुकी है। अतः लोपामुद्रा का पूरा इतिहास इस मन्त्र वर्णन [illegible] पूरा सामञ्जस्य नहीं रखता। अतः इतिहास पक्ष में जैसा पूर्व भी लिख चुके हैं इस सूक्त का मेल नहीं है। वस्तुतः ये पति पत्नी के लिए उपदेश की ऋचाएं हैं॥ २॥

न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः।

[ऋ० १०।८९।६॥]

अक्षारित्येके।

अनूपे गोमान्गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः।

[ऋ० ९।१०७।९॥]

लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः । [ऋ० १० । २८ । ४ ॥]

क्षियतिनिगमः पूर्वः, क्षरतिनिगम उत्तर इत्येके । अनूपे गोमान् गोभिर्यदा क्षियत्यथ सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति । सर्वे क्षियति निगमा इति शाकपूणिः ।

श्वात्रमिति क्षिप्रनाम । आशु अतनं भवति ।

स पंतत्रीत्वरं स्थ जगद्यच्छ्वात्रम॒ग्निरकृणोज्जातवेदाः ॥
[ऋ० १० । ८८ । ४ ॥]

सं पतत्रि चेत्वरं स्थावरं जङ्गमं च यत्तत्क्षिप्रमग्निरकरोज्जातवेदाः।

ऊतिरवनात् ।

आ त्वा रथं यथोतये । [ऋ० ८ । ६८ । १ ॥] इत्यपि निगमो भवति । ह्वासमाने इत्युपरिष्टात् (६ । ३६) व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—१३. सोमो अक्षाः=सोम ही एक व्यापता है=पा लेता है। न जिस [इन्द्र] को द्यावापृथिवी, न (धन्व) अन्तरिक्षस्थ उदक, न अन्तरिक्ष, न पर्वत [पा सके, उसे ।]सोम ही (अक्षाः) व्यापता है, पा लेता है । अक्षाः=अश्नोति से, यह कई एक [आचार्य कहते हैं] ॥ (अनूपे) अनूप=जल से गीली रहने वाली भूमियों के देश में (गोमान्) गौओं वाला (गोभिः) गौओं के साथ (अक्षाः) क्षियति=निवसति=निवास करता है, [तो] (सोमः) सोम (दुग्धाभिः) दुही हुई गौओं से [अन्तिम बूंदों में] (अक्षाः) चरति =बहता है ।

क्षियति=वसता है अथवा गति करता है, [इस विषय का] पूर्व निगम=[न यस्य···अक्षाः । है] क्षरति=बहता है का उत्तर निगम [अनूपे··· अक्षाः । है] यह कई एक [आचार्य कहते हैं ।] अनूप भूमि पर गोमान् =गौओं वाला गौओं के साथ जब क्षियति=वसता है, अथवा अपनी गौएं ले कर चराता फिरता है, अथ=तब सोम दोही हुई गौओं से [भी] क्षरति बहता है।

सर्वे=सारे=[ये तीनों] क्षियति=निवासार्थक निगम है, यह शाकपूणि [कहता है ।]

१४. श्वात्रम्, यह क्षिप्र=शीघ्र का नाम [है ।] श्वा+अत्रम्=आशु+ अतनम् होता है=शीघ्र चला जाने वाला [समय] है ॥ (सः) उस ने

(पतत्रि)=उड़ने वाले, (इत्वर) गमनशील सरीसृपादि (स्था) स्थावर [और] (जगत्) जंगम (यत्) जो कुछ है [उस सब को] (क्षाप्रम्) शीघ्र (अग्नि) अग्नि ने (अकृणोत्) बनाया (जातवेदा) जो जातवेद है।

[यास्क ने अर्थ में दो चकार जोड़ दिए हैं।]

१५ ऊति, अवनात्=रक्षा से। (त्वा) तुझे रथ को जैसे रक्षा के लिए। यह भी निगम होना है।

१६ हासमाने=स्पर्धमाने हृषमाने यह आगे [९ । ३९] में व्याख्या करेंगे।

भाष्य—सोम द्यावापृथिवी आदि कोई भी जिसे नहीं व्यापता उस सोम व्याप लेता है। अतः सोम अत्यन्त सूक्ष्म व्याप्त सार है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। सोम—अस्ता। सोम संसार में जीवन का परम आधार है। पार्थिव पदार्थों में से यह गौ में सब से अधिक है।[1] अतः गव्य पदार्थ अति पवित्र समझे जाते हैं। यह सोम अनूप देश की स्थिति के कारण दोही हुई गौओं में से भी बहता है। आधिभौतिक पक्ष में यह सोम दो.ी हुई रश्मियों से भी बहता है, ऐसा संकेत मन्त्र में प्रतीत होता है।

शाकपूणि का निरुक्त—लोपाशः इति निगम यास्क के निरुक्त का अंग नहीं है। यास्क ने अगली पंक्ति में पूर्व और उत्तर दोनों ही निगम माने हैं। यास्क ने लोपाशः इति का अर्थ भी नहीं खोला। अपरञ्च दुर्ग और स्कन्द की वृत्तियों में भी यह निगम पढ़ा नहीं गया। पर श्री लक्ष्मण सरूप के संस्करण में यह पढ़ा गया है। इस विषय में एक गम्भीर बात विचारणीय है। यास्क लिखता है—सर्वे क्षियति निगमा इति शाकपूणि। यहां सर्वे बहुवचनान्त [illegible] है। अतः शाकपूणि के निरुक्त में अवश्य ही ये तीनों निगम पढ़े गए थे। अन्यथा दो निगमों के लिए बहुवचन पद न होता। शाकपूणि ने अपने निरुक्त में अस्ता,

---

१ न्यूयार्क स्थित विज्ञान अकादमी की सम्प्रति ही जो एक बैठक हुई थी उस में इस बात की पुष्टि की गई कि गाय के दूध में कोई ऐसी विशेषता है जो वह संखिया के विष को समाप्त कर देती है। डा० एस० ए० पीपल्स ने भी कहा है—आश्चर्य की बात तो यह है कि गाय के शरीर की अन्य मांस पेशियों इत्यादि में संखिये के चिह्न पाए जाते हैं परन्तु दूध में संखिये का एक कण भी नहीं पाया गया है। नवभारत टाइम्स देहली २ १ ६४। वस्तुत यह विशेष प्रभाव सोम का है।

अत्सा: ये दोनों रूप एक ही प्रकार के माने हैं। पर यास्क ने निघण्टु में यहां पर अत्साः पाठ नहीं पढ़ा। इस लेख से शाकपूणि के निरुक्त का थोड़ा सा आभास मिलता है।

जातवेदाः अग्निः पक्षी के समान उड़ता है। उसके परमाणुओं का संयोग-विभाग अन्वेषणीय है। उसी ने सब स्थावर जङ्गम को बनाया है। जातवेदा स्तुतो मध्ये। बृहद्देवता १। ६७॥ अर्थात् जातवेदा की स्तुति मध्यस्थान में है।

वम्रकः पड्भिरुप सर्पदिन्द्रम्। [ऋ० १०। ९९। १२॥]

पानैरिति वा। स्पाशनैरिति वा। स्पर्शनैरिति वा।

ससं न पक्वमविदच्छुचन्तम्। [ऋ० १०। ७९। ३॥]

स्वपनमेतन्माध्यमिकं ज्योतिरनित्यदर्शनम्। तदिवाविदज्जाज्वल्यमानम्।

द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः। [ऋ० ३। १७। ५॥]

द्वैधं सत्ता मध्यमे च स्थान उत्तमे च। शम्भुः सुखभूः।

मृगं न व्रा मृगयन्ते॥ [ऋ० ८। २। ६॥]

मृगमिव व्रात्याः प्रैषाः॥ ३॥

अर्थ—१७. पड्भिः—[सोम] पानों से॥ (वम्रकः) वम्रनामा [प्राण रूप] ऋषि अथवा ह्रस्वरूप वामन (पड्भिः) सोम पानो के साथ (उप सर्पत्) सरक कर समीप आया है, [आप] (इन्द्रम्) इन्द्र को॥ [पड्भिः]=पानों के साथ अथवा। स्पाशनैः=बन्धनों के साथ अथवा। स्पर्शनैः=स्पर्श करने वाले गुणों की स्तुतियों के साथ अथवा।

१८. ससम्=स्वप्न वाली=मासों तक विलीन हुई (न पक्वम्) के समान [पुनः] अभिव्यक्त को (अविदत्) उपलब्ध किया=पाया (शुचन्तम्) दीप्यमान को ससम्=स्वप्नम्, सोई हुई को। यह माध्यमिकम् =मध्यम स्थान=अन्तरिक्ष की ज्योतिः=विद्युत्, अनित्य दर्शन वाली है। तत् इव=उस के समान अविदत्=पाया जाज्वल्यमान को।

१६. द्विता=द्वैधम् ॥ (द्विता) दो प्रकार से और (सत्ता) [जिसकी] सत्ता [मध्यम स्थान में वैद्युत् रूप से और उत्तम में शुचि या आदित्य रूप में] (स्वधया) उदक अथवा अन्न के साथ (शम्भु) कल्याणकारी [है ।] द्वैध=दो प्रकार से सत्ता मध्यम स्थान में और, उत्तम में और । शम्भु= सुखकारी ।

२०. व्रा=व्रात्या ॥ मृग को जैसे (व्रा) व्रात्य रूपी लुब्धक, शिकारी (मृगयन्ते) ढूंढते हैं । व्रात्या=व्रैया=भयंकर ॥ ३ ॥

भाष्य—वस्तक ऋषि अन्तरिक्ष में जो पदार्थ है, वही सोम को ले जाता है । वही इस सोम के साथ इन्द्र के समीप सरकता है । ऋषियों ने इस विद्या का दर्शन किया । इसके निगम भी मध्यम स्थान की विद्या से सम्बन्ध रखने वाले हैं ॥ ३ ॥

वराहो मेघो भवति । वराहार ।

वरमाहारमाहार्षीरिति च ब्राह्मणम् ।

विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता । [ऋ० १ । ६१ । ७ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

अयमपीतरो वराह एतस्मादेव । वृहति मूलानि । वरं वरं मूलं वृहतीति वा ।

वराहमिन्द्र एमुषम् । [ऋ० ८ । ७७ । १० ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते ।

ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः । [ऋ० १० । ६७ । ७ ॥]

अथाप्येते माध्यमका देवगणा वराहव उच्यन्ते ।

पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून् ॥

[ऋ० १ । ८८ । ५ ॥]

स्वसराण्यहानि भवन्ति । स्वयं सारीण्यपि वा । स्वादित्यो भवति । स एतानि सारयति ।

उस्रा इ॒व स्वस॑राणि । [ऋ० १ । ३ । ८ ॥] इत्यपि निगमो भवति।

शर्या अङ्गुलयो भवन्ति । [सृजन्ति कर्माणि ।] शर्या इषवः शरमय्यः । शरः शृणातेः ।

शर्या॑भि॒र्न भर॑माणो॒ गभ॑स्त्योः । [ऋ० १ । १२० । ५ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

अर्को देवो भवति । यदेनमर्चन्ति । अर्को मन्त्रो भवति । यदनेनार्चन्ति । अर्कमन्नं भवति । अर्चति भूतानि । अर्को वृक्षो भवति । संवृतः कटुकिम्ना ॥ ४ ॥

अर्थ—२१. [वराहः=मेघ=असुर वराह ।] वराहः मेघ होता है। वर+आहारः=उत्तम [उदक] आहार वाला । वरम्=उत्तम आहारम्= आहार को आहार्षीः=[स्कन्द—आहार्षीत्] खाया । यह भी ब्राह्मण है। (विध्यत्) वींधा, वींधता है, ताडित किया (वराहम्) मेघ को (तिरः) पहुँच कर, प्राप्त हो कर (अद्रिम्) वज्र को (अस्ता) फेंकने वाले ने । यह भी निगम होता है।

यह भी दूसरा वराहः पशु वराह इस [कारण] से ही । वृहति= उखाड़ता है [स्कन्द—उद्वर्ह्मति, वक्त्रेण खनति] मूलानि=जड़ों को। (वरं वरम्) उत्तम उत्तम मूल को उखाड़ता है अथवा । वराहम्=असुर वराह=कृष्ण मेघ को हे इन्द्र एमुषम्=आ+ईम्+उपम्=सब ओर से जल को चुराने वाले को=चुरा कर उदकवान् बने हुए को । यह भी निगम होता है।

अङ्गिरस भी वराहाः कहे जाते हैं । ब्रह्मणस्पति=वेद का अधिपति वृषभिः=श्रेष्ठ वर्षा करने वाले (वराहैः) अङ्गिरसों=सूर्यस्थ अग्निः परमाणुओं के साथ।

और भी, ये माध्यमिक=अन्तरिक्षस्थ देवगण वराहवः कहे जाते हैं।) पश्यन्) देखते हुए (हिरण्यचक्रान्) हिरण्य चक्रों वाले (अयःदंष्ट्रान्) लोहे की दृढ दाढों वाले (विधावतः) विविध प्रकार से इधर उधर दौड़ते हुए (वराहून्) [illegible]

२२ स्वसराणि, दिन होते हैं । अपने आप सारीणि=चलने वाले भी अथवा । स्वर् आदित्य होता है, वह इन [दिनों] को सारयति=चलाता है । (उस्रा इव) रश्मियों के समान स्वसराणि=अहानि । यह भी निगम होता है ।

२३ शर्या=अंगुलियां होती हैं । शर्या=इषवः=बाण । शर के बने होते हैं । शरः शृणाति से [हिंसा करता है] ॥ (शर्याभिः न) बाणों से जैसे (भरमाणः) धारण करता हुआ [धनुष को] (गभस्त्योः) दोनों भुजाओं में । यह भी निगम होता है ।

२४ अर्कः, देव होता है । जो इस को पूजते हैं । अर्कः मन्त्र होता है । जो इस के द्वारा पूजा करते हैं । अर्कम् अन्न होता है, अर्चति=सत्कार=पूजा करता है भूतानि=प्राणियों को । अर्कः, वृक्ष [आक का] होता है । संवृत=ढका हुआ अथवा व्याप्त होता है कटुकिम्ना=कड़वे पन से ॥ ४ ॥

भाष्य—वराह=boar, यह अंग्रेजी का शब्द अवश्य ही वराह का अपभ्रंश है । वराह मेघ है क्योंकि उदक को खाता है । असुर वराह=कृष्ण मेघ । अङ्गिरसः, आदित्य और अङ्गिरसा, ये दोनों रश्मि भेदों में हैं । अङ्गिरसा दक्षिण दिशा में हैं । देखो वेदविद्यानिदर्शन, पृष्ठ ११६ । चक्र पद का अंग्रेजी अपभ्रंश circle है । यहां प्रथम c का उच्चारण अवश्य कभी चकार का था । स्वसराणि, संवत्सर में ये अहानि स्वयं सरकती हैं । अर्क=आक, यह पंजाबी में अपभ्रंश है ॥ ४ ॥

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥

[ऋ० १ । १० । १ ॥]

गायन्ति त्वा गायत्रिणः । प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणः । ब्राह्मणास्त्वा शतक्रत उद्येमिरे वंशमिव । वंशो वनशयो भवति । वननाच्छ्रूयत इति वा ।

पवी रथनेमिर्भवति । यद्विपुनाति भूमिम् ।

उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा । [ऋ० ५ । ५२ । ९ ॥]

तं मुरुतः क्षुरपविना व्ययुः । इत्यपि निगमौ भवतः ।

वज्रो व्याख्यातम् (४ । १६) ।

धन्वान्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादापः ।

तिरो धन्वाति रोचते । [ऋ० १० । १८७ । २ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

सिनमन्नं भवति । सिनाति भूतानि ।

येन स्मा सिनं भरथः सखिभ्यः । [ऋ० ३ । ६२ । १ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

इत्थामुथेत्येतेन व्याख्यातम् ।

सचा सहेत्यर्थः ।

वसुभिः सचाभुवा ॥ [ऋ० ८ । ३५ । १ ॥] वसुभिः सहभुवौ ।

चिदिति निपातोऽनुदात्तः पुरस्तादेव व्याख्यातः । अथापि पशुनामेह भवत्युदात्तः ।

चिदसि मनासि । [यजु० ४ । १९ ॥] चितास्त्वयि भोगाः । चेतयस इति वा ।

आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः (१ । ३) । अथाप्यध्यर्थे दृश्यते ।

अभ्र आँ अपः । [ऋ० ५ । ४८ । १ ॥]

अभ्र आ अपोऽभ्रे ध्यप इति । [अभ्रे आ अपः । अपोऽभ्रेऽधीति ।]

द्युम्नं द्योततेः । यशो वान्नं वा ।

अस्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि ॥ [ऋ० ७ ॥ ३ ॥]

अर्थ—गाते है तुझे (गायत्रिण) गायत्र साम के गाने वाले सामग (अर्चन्ति) पूजते है (अर्कम्) [देव अथवा पर ब्रह्म को] (अर्किण) मन्त्रों वाले होता । । (ब्रह्माण) ब्राह्मण ऋत्विक् तुझे (शतक्रतो) हे बहुकर्मन् इन्द्र अथवा हे परमात्मन (वशम् इव) वास को जैसे (उद् येमिरे) ऊपर ऊपर उठाते हैं, [वैसे तेरी महिमा को सर्वोपरि करते हैं] ॥ गाते हैं तुझे सामग । ॥ अर्चन्ति—बहुत पूजते है (अर्कम्) देव को (अर्किण) मन्त्रो वाले । ब्राह्मण तुझे हे शतक्रतो, ऊंचा उठाते हैं, जैसे बास को [ऊपर उठाते हैं ।] वश =वन मे ठहरने वाला होता है । वननात् =सेवन किए जाने से [गीत व्यसनियो से] श्रूयत =सुना जाता है अथवा ।

२५ पवि =रथ की नेमि—चक्र की धारा होती है । यत्=क्योंकि रिपुनाति=[स्कन्द—विपायति] लताडती है भूमि को ॥ और (पव्या) रथचक्र की धारा से (रथानाम्) अपने रथो के (अद्रिम्) घने मेघ रूपी पर्वतो को (भिन्दन्ति) विदारित करते हैं, तोड देते हैं (ओजसा) बल से ॥ (तम्) उस [वृत्रासुर] को (मरुत) मरुतो ने (क्षुरपविना) अपने क्षुर की धारा से (व्ययु) विश्लिष्टसर्वाङ्गबन्धन किया=तोड फोड से छिन्न भिन्न कर दिया । ये भी दोनो निगम होते ह ।

२६ वक्ष [पूर्व ४ । १६ मे] व्याख्यात है ।

२७ धन्व, अन्तरिक्ष [है ।] धन्वन्ति=आते हैं अस्मात् आप = इस से आप ॥ (तिर) तिरस्कृत्य=उलाघ कर (धन्व) अन्तरिक्ष= अन्तरालवर्ती स्थानो को (अति रोचते) सुदीप्त होता है । यह भी निगम होता है ।

२८ सिनम् अन्न होता है । सिनाति–[षिञ् बन्धने] बांधता है भूतानि=प्राणी समूह को ॥ [हे इन्द्र और वरुण] (यत्) जिस [कारण] से (स्म) पदपूरक (सिनम्) अन्न को (भरथ) धारते हो, या देते हो (सखिभ्य) मित्रो के लिए । यह भी निगम होता है ।

२९ इत्था, यह अमुथा इस [दे० ३ । १६ ॥] से व्याख्या किया गया है ।

३०. सचा=सह=साथ, यह अर्थ है ॥ वसुओं के (सचाभुवा)=सचा= साथ भुवौ=होने वाले [हे अश्वियो ।]

३१. चित्, यह निपात अनुदात्त पहले ही १।४ में व्याख्या किया गया है। और भी पशु का नाम इह=यहां=इस पृथिवी के पदार्थों में होता है, [तव] उदात्त [होता है।] (चित्) सोमक्रयणी गौः=संचित भोगों वाली (असि) तुम हो। (मनासि) कमनीया हो। चिताः= संचित है तुझ में भोग। चेतयसे=प्रज्ञा का हेतु वा चेतना देने वाली हो अथवा।

३२. आ, यह आकार उपसर्ग पूर्व ही [१। ३ में] व्याख्या किया गया है। और भी अधि=ऊपर के अर्थ में देखा जाता है। (अभ्रे) अभ्रों पर (आ) ऊपर (अपः) आपः। अपः अभ्रों के ऊपर।

३३. द्युम्नम्, द्योतति से। यश अथवा, अन्न अथवा। (अस्मे) हम में (द्युम्नम्) यश वा अन्न (अधि=नि) (रत्नं च) और रत्न (धेहि) स्थापित करो ॥ ५ ॥

भाष्य—पूर्व १। ८ में—गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु, अर्थात् उद्गाता गाता है, लिखा गया है। वैसा भाव गायन्ति त्वा गायत्रिणः, ऋगंश में है। पव्या रथानाम् में बहुवचन हैं। निस्सन्देह इस अन्तरिक्ष में इन्द्र के बहुत रथ हैं। क्षुरपविना, मरुतों के क्षुर तीक्ष्ण धारा वाले हैं। उन के इस गुण की सहायता से वृत्र के नाश में इन्द्र समर्थ हुआ। धन्व का अपभ्रंश रूप अंग्रेजी में heaven है। ध=hea न्व=ven, न्व का ven विपर्ययमात्र है। चित्, स्वरभेद से एक ही पद दो अर्थों में इस प्रकार होता है। अभ्रों के ऊपर आपः, यह विज्ञान जानने योग्य है ॥ ५ ॥

पवित्रं पुनातेः। मन्त्रः पवित्रमुच्यते।

येन॑ दे॒वाः प॒वित्रे॑णा॒त्मानं॑ पुनते॒ सदा॑। [सा० उ० ५।२।८।५॥]

इत्यपि निगमो भवति। रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते।

गभ॑स्तिपूतो [नृभि॒रद्रि॑भिः सु॒तः।] [ऋ० ९। ८६। ३४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति।

आपः पवित्रमुच्यन्ते।

शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः । [ऋ० ७ । ४७ । ३ ॥]

बहूदकाः ।

अग्निः पवित्रमुच्यते । वायुः पवित्रमुच्यते । सोमः पवित्रमुच्यते । सूर्यः पवित्रमुच्यते । इन्द्रः पवित्रमुच्यते ।

अग्निः पवित्रं स मां पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः ।

पवित्रं ते मां पुनन्तु ॥ [आप० श्रौ० १२ । ११ । ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

तोदस्तुद्यते' ॥ ६ ॥

अर्थ—३४. पवित्रम्, [इस प्रकरण में अनवगत संस्कारों का व्याख्यान हो रहा है । पुन इस अवगत संस्कार का व्याख्यान क्यों है । संज्ञा वाची अथवा नामकरण हुआ पवित्रम् पद यहां व्याख्यातव्य है ।] पुनाति से [है ।] मन्त्र पवित्र कहा जाता है ॥ जिस के द्वारा, देव, पवित्र के द्वारा, अपने आप को [अथवा] अपने शरीर को पवित्र करते हैं सदा । यह भी निगम होता है । रश्मय. पवित्र कहाते हैं । (गभस्तिपूत') रश्मियों से पवित्र हुआ, (नृभि) [मरुतों वे अङ्ग नेता रूपी] नरों से (अद्रिभि) मेघरूप ग्रावो से (सुत) निकाला या बहाया गया । यह भी निगम होता है । आप. पवित्र कहाती हैं । (शतपवित्रा') बहुत उदकों वाली (स्वधया) अन्न के साथ (मदन्ती) [सब प्राणियों को] तृप्त करती हुई शतपवित्रा'=बहूदका । अग्नि. पवित्र कहाता है । वायु पवित्र कहाता है। सोम पवित्र कहाता है । सूर्य पवित्र कहाता है । इन्द्र पवित्र कहाता है। अग्नि पवित्र है, वह मुझे (पुनातु) सोधे=पवित्र करे, वायु सोम, सूर्य, इन्द्र [सब] [पवित्रम्] पवित्र हैं, वे मुझे पवित्र करें । यह भी निगम होता है ।

३५. तोद , तुद्यति से ॥ ६ ॥

भाष्य—स्कन्द ने स्पष्ट किया है कि आठ पदार्थ—मन्त्र, रश्मय , आप , अग्नि , वायु, सोम, सूर्य और इन्द्र ये पवित्र नाम से वेदों में कहे गए हैं । इन में से मन्त्रवाची पवित्र [illegible] सर्व प्रथम गिनाया गया है । इस के उदाहरण में जो निगम पढ़ा गया है, वह इस समय सामवेद में मिलता है । निश्चय [illegible] वह किसी

आर्च शाखा में भी होगा । देवाः येन पवित्रेण, देव अपने आप को मन्त्र से पवित्र करते हैं । मन्त्र छन्दोमय हैं । वे छन्द अपने विभिन्न स्वरों और तरङ्गों से वायु आदि देवों को पवित्र करते रहते हैं । गभस्तिपूतः, सोम द्यौ से अन्तरिक्ष में उतरता है और वहां से पृथिवी पर । वह सोम रश्मियों से पवित्र होता रहता है। इसी प्रकार अग्निः आदि भी अपने अपने गुणों के कारण पवित्र संज्ञा धारण करते हैं ।

तोदः, तुद्यति से । स्कन्द लिखता है कि यास्क स्मृत तुद्यति धातु वर्तमान काल में स्वीकृत तुद्यति नहीं था । दुर्ग के अनुसार तोद का अर्थ श्वभ्र कूप वा श्वभ्र बिल है ॥ ६ ॥

पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
तोदस्येव शरण आ महस्य ॥ [ऋ० १ । १५० । १ ॥]

बहु दाश्वाँस्त्वामेवाभिह्वयामि । अरिरमित्र ऋच्छतेः । ईश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव । यदन्यदेवत्या अग्नावाहुतयो हूयन्त इत्येतद् दृष्ट्वैवमवदत् । तोदस्येव शरण आ महस्य । तुदस्येव शरणेऽधिमहतः ।

स्वञ्चाः सु अञ्चनः ।

आ जुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः । [ऋ० १ । १५० । १ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः । कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः ॥ ७ ॥

अर्थ—(पुरु) बहुत [हवि] (त्वा) तुझे (दाश्वान्) देते हुए (वोचे) बोलता हूं । (अरिः) ईश्वर=समर्थ [तू] (अग्ने) हे अग्ने (तव) तेरा (स्वित्) आत्मीय ही [मैं हूँ ।] (तोदस्य इव) गृहस्थ, शिक्षक वा स्वामी के जैसे (शरणे) घर में (आ) पदपूरक (महस्य) महान् के । [जैसे महान् स्वामी के घर में भृत्य आत्मीय भाव से रहता है, वैसे मैं तेरे साथ हूं, हे अग्ने ।] बहुत देता हुआ तुझे ही अभिह्वयामि= बुलाता हूं । अरिः=अमित्रः,=शत्रु, ऋच्छति से । ईश्वर=समर्थ भी अरिः इस ही [कारण] से । यत्, क्योंकि अन्यदेवत्याः दूसरे देवता की अग्नि

में आहुतियां हूयन्ते=होमार्थ डाली जाती हैं। इति यह देख कर ही ऐसा (अवदयत्) कहा होगा। तोदस्य-तुदस्य स्वामी के ही घर में जो महान् है।

३६ स्वञ्जाः अश्व अञ्चन गति वाला (आ जुह्वान) चारों ओर से आहूयमान अथवा आह्वनीय (घृतपृष्ठ) घृत है पृष्ठ पर जिस के अथवा घृत क्षरण से स्पृष्ट (स्वञ्जा) श्रेष्ठ गति वाला। यह भी निगम होता है।

३७ ३८ शिपिविष्ट [और] विष्णु ये विष्णु के दो नाम होते हैं। कुत्सितार्थीय-निन्दित अर्थ वाला पूर्वम्=पहला होता है यह औपमन्यव [अपने निरुक्त में लिखता है] ॥ ७ ॥

भाष्य—गृहस्थ अथवा शिक्षक के भृत्य अथवा अन्तेवासी इतने ही सुख से रहें जितने सुख से वह अपने घर में रहता है। इसी लिए महाभारत शान्ति पर्व में कहा है कि भृत्य का भोजन भी स्वामी के भोजन के समान ही होना चाहिए। ऐसा उत्तम जीवन केवल वैदिक शिक्षा से ही संभव या और होगा।

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्र प्र यद्वृवक्षे शिपिविष्टो अस्मि ।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥
[ऋ० ७ । १०० । ६ ॥]

किं ते विष्णोऽप्रख्यातमनद्भुतमप्रख्यापनीयं यत् प्रब्रूषे शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीत्यप्रतिपन्नरश्मिः। अपि वा प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात्। कि ते विष्णो प्रख्यातमनद्भुतं प्रख्यापनीयं यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टो ऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः। शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति। मा वर्पो अस्मदप गूह अस्मत्प गूह एतत्। वर्प इति रूपनाम। वृणोतीति सतः। यदन्यरूपः समिथे सङ्ग्रामे भवसि। संयतरश्मिः।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ८ ॥

अर्थ—(किम् इत् ते) क्या यह तेरा (विष्णो) हे विष्णो (परिचक्ष्यम्) ख्यापनीय-कहने योग्य [रूप] (भूत्) होता है ? [अश्लील उपमा के योग से नहीं ख्यापनीय यह अभिप्राय है।] (यत् प्रववक्षे) जो [तू] कहता है अ[illegible] प्रतिपादित करता है शिपिविष्टः)=

[यास्क, दुर्ग—शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीति स्कन्द—यादृशः शेपो निर्वेष्टितः] अर्थात् शेप के समान निर्वेष्टित=नंगा (अस्मि) हूं । (मा वर्पः) मत इस रूप को (अस्मत्) हम से (अप गूहः) छिपा अथवा ढांप, (एतत् यत् अन्यरूपः) यह जो तू अन्य रूप वाला (समिथे) संग्राम में (बभूथ) होता है ॥ क्या तेरा हे विष्णो, अप्रख्यातम्=अप्रसिद्ध यह होता है, अर्थात् न ख्यापनीय [रूप] होता है, जो हमें कहता है, [कि] शेप के समान नंगा हूं, इति । अप्रतिपन्नरश्मि=न युक्त रश्मियों से । [यह कुत्सित उपमा है, औपमन्यव के अनुसार ।] और भी प्रशंसा वाला नाम ही [यह शिपिविष्ट] अभिप्रेत हो । क्या तेरा हे विष्णो प्रसिद्ध करने योग्य यह [रूप] होता है, जो कहता है, शिपिविष्ट हूं, इति । युक्त रश्मियों से । शिपयः यहां रश्मियां कही जाती हैं । उन से घिरा हुआ होता है । मत रूप हम से ढांप यह । वर्पः यह रूप का नाम है । वर नेता है=स्वीकार करता है, ऐसा होने से । जो दूसरे रूप वाला समिथे=सङ्ग्राम में होता है [तू ।] संयतरश्मिः=[दुर्ग—संबद्धानेकरश्मिजालः । स्कन्द—संगृहीतरश्मिः ।]=संग्रह की है, अनेक रश्मियां जिस ने ।

तस्य=इस प्रशंसा नाम के अधिक निर्वचन के लिए उत्तर ऋक् है ॥ ८ ॥

भाष्य—वैदिक विज्ञान के परम रहस्यों को बताने वाला यह मन्त्र है । सूर्य रश्मियां क्या हैं, कभी सूर्य अप्रतिपन्न रश्मिः होता है और कभी संयुत रश्मिः, यह विद्या समझनी चाहिए । औपमन्यव ने अपने निरुक्त में शिपिः का अर्थ निर्वेष्टितः=नंगा किया होगा । सूर्य की यह अवस्था होती रहती है । प्रति प्रातः सायं कुछ काल के लिए सूर्य विरश्मि रहता है । योरोपीय लोगों को इस तथ्य का अभी ज्ञान नहीं हुआ । अपने अज्ञान में वे इस पर उपहास भी कर सकते हैं । इस विषय का अधिक वर्णन वेदविद्यानिदर्शन पृ० १९९—२०० पर है । इस विषय के एक अङ्ग पर प्रकाश डालने वाला एक मन्त्र पूर्व ४ । ११ में व्याख्यात है । उस में कहा है—मध्या कर्तोर्विततं सं जभार । सायं समय रश्मिसंहार होता है । विरश्मि रूप का ज्ञान करने के लिए अन्य मन्त्र भी जानने चाहिएं । यास्क ने प्रशंसा अर्थ दिखाते हुए ही अप्रतिपन्नरश्मि अर्थ किया है ॥ ८ ॥

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥

[ऋ० ७ । १०० । ५]

प्र तत्तेऽद्य शिपिविष्ट नामार्यः प्रशंसामि । अर्योऽहमस्मीश्वरः स्तोमानाम् । अर्यस्त्वमसीति वा । तं त्वा स्तौमि तवसमतव्यान् । तवस इति महतो नामधेयम् । उदितो भवति । निवसन्तमस्य रजसः पराके पराक्रान्ते ।

आघृणिरागतहृणिः ।

आघृणे सं सचावहै ॥ [ऋ० ६ । ५५ । १ ॥] आगतहृणे संसचावहै ।

पृथुज्रयाः पृथुजवः ।

पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः । [ऋ० ३ । ४९ । २ ।] प्रामापयदायुर्दस्योः ॥ ९ ॥

अर्थ—(तत् ते) तेरे (अद्य) आज (शिपिविष्ट) हे शिपिविष्ट-रश्मियुक्त (नाम) नाम को (अर्यः) समर्थ हुआ (शंसामि) स्तुति करता हूं (वयुनानि) [प्रज्ञान रूप] कर्मों को (विद्वान्) जानता हुआ । (तं त्वा) उस तेरी (गृणामि) स्तुति करता हूं (तवसम्) [जो तू महान् है]=महान् की (अतव्यान्) नहीं अधिक प्रभाववान् मैं (क्षयन्तम्) [तुझ] बसते हुए की (अस्य रजसः पराके) इस अन्तरिक्ष आदि लोक के बहुत दूर में ॥ यह तेरा आज हे शिपिविष्ट नाम [मैं] समर्थ प्रशंसामि=स्तुति करता हूं । अर्य हूं मैं समर्थ=ऐश्वर्यवान् स्तोमों का । समर्थ तुम हो अथवा । उस तुझ को स्तुति करता हूं । तवसम् अतव्यान् । तवस यह महान् का नामधेय [है ।] उदित=बढ़ा हुआ होता है । निवास करते हुए को इस [अन्तरिक्ष] लोक से पराके—दूर चले गए स्थान में ।

९१ आघृणि=[शब्द—आहतदीप्ति आगतक्रोधो वा ।] आगत हृणि=दीप्ति वाला ॥ (आघृणे) हे आई हुई दीप्ति वाले [पूषन्] (सचावहै) हम दोनों संगत हों ॥ हे आगतहृण इकट्ठे हों ।

४०. पृथुज्रयाः=बड़े वेग वाला । बड़े वेग वाला [इन्द्र] (अमिनात्) [संग्रामों में] मारता है, (आयुः) अन्न वा प्राण को (दस्योः) दस्यु के । प्रामापयत्=समाप्त किया जीवन को दस्यु के ॥ ९ ॥

भाष्य—वेद ने स्वयं बताया है कि शिपिविष्ट का रहस्य कौन जानता है । अर्थात्—वयुनानि विद्वान्, जो प्रकाश रूप कर्मों को जानता है । प्रकाश की विद्या का ज्ञान साधारण नहीं है । आघृणिः=आगत दीप्ति वाला । यह पद भी बताता है कि शिपिविष्ट में दीप्ति आती है । सदा दीप्ति एक समान नहीं रहती । पृथुज्रयाः, इन्द्र का वेग भी अध्ययन योग्य है ॥ ९ ॥

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् ।
दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् ॥ [ऋ० ७ । १ । १ ॥]

दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति । धीयन्ते कर्मसु । अरणी । प्रत्यृत एने अग्निः । समरणाज्जायत इति वा । हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्या । जनयन्त प्रशस्तम् । दूरेदर्शनं गृहपतिमतनवन्तम् ॥ १० ॥

अर्थ—४१. अथर्युम्, अतनवन्तम्=गमन वाले को । (अग्निम्) अग्नि को (नरः) ऋत्विजों ने (दीधितिभिः) अंगुलियों से (अरण्योः) अरणियों के अन्दर से (हस्तच्युती) हाथों के हिलाने से (जनयन्त) उत्पन्न किया (प्रशस्तम्) अन्य अग्नियों से श्रेष्ठ को । (दूरे दृशम्) दूर दीखने वा देखने वाले (गृहपतिम्) घर के स्वामी (अथर्युम्) [देवों के प्रति] गमन वाले को ॥ दीधितयः अंगुलियां होती हैं । धीयन्ते=लगाई जाती है कर्मों में । अरणी=प्रत्यृतः=चला गया है इन को अग्नि । सम् अरणात्=भले प्रकार हिलाने=मन्थन करने से [स्कन्द—सगमनाद्=साथ जुड़ कर रगड़ से] उत्पन्न होता है अथवा । हस्तच्युती=हाथों के बहुत हिलाने से । उत्पन्न किया प्रशस्त को । दूरे दीखने वाले गृहपति अतनवतम् =गमन करने वाले को ॥ १० ॥

भाष्य—प्रत्यृतः एने अग्निः, अग्निः का वेणु अश्वत्थ और जण्डी=शमी आदि उद्भिजों में कैसे प्रवेश हुआ, इस के लिए वेदविद्यानिदर्शन पृ० ११६–१२१ देखिए ॥ १० ॥

एकया प्रतिधा पिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम् ।
इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥ [ऋ० ८ । ७७ । ४ ॥]

एकेन प्रतिधानेनापिबत् । साकं सहेत्यर्थः । इन्द्रः सोमस्य काणुका । कान्तकानीति वा । क्रान्तकानीति वा । कृतकानीति वा । इन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा । कणेघात इति वा । कणेहतः कान्तिहतः ।

तत्रैतद्याज्ञिका वेदयन्ते । त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवन एकदेवतानि । तान्येतस्मिन्काल एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति । तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते । त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः । त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः । तद्या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति । तथापि निगमो भवति ।

यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति । [यजु० ५ । ७ ॥] इति ।

तं पूर्वपक्ष आप्याययन्ति । तथापि निगमो भवति ।

यथा देवा अंशुमाप्याययन्तीति ।

अध्रिगुर्मन्त्रो भवति । गव्यधिकृतत्वात् । अपि वा प्रशासनमेवाभिप्रेतं स्यात् । शब्दवत्त्वात् ।

अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगो इति
[ऐ० ब्रा० २ । ७ । ११ ॥ मै० सं० ४ । १३ । ४ ॥]

अग्निरप्यध्रिगुरुच्यते ।

तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः । [ऋ० ३ । २१ । ४ ॥]

अधृतगमन कर्मवन् ।

इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते ।

अध्रिगव ओहमिन्द्राय । [ऋ० १ । ६१ । १ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

आङ्गूषः स्तोम आघोषः ।

एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः । [ऋ० १ । १०५ । १९ ॥]

अनेन स्तोमेन वयमिन्द्रवन्तः ॥ ११ ॥

अर्थ—४२. काणुका=प्रिय। (एकया) एक (प्रतिधा)=[दुर्ग, स्कन्द—प्रणिधानेन] घूण्ट से (पिबत्) पिया (साकम्) साथ ही (सरांसि) सरोवर (त्रिंशतम्) तीस, (इन्द्रः) इन्द्र ने (सोमस्य काणुका) सोम के प्यारे ॥ एक प्रतिधानेन=चित्=मन से अपिबत्= पिया (साकम्)=साथ ही, यह अर्थ है। इन्द्र ने सोम के काणुका= कान्तकानि=प्यारे अथवा। ऊपर तक भरे हुए अथवा कृतकानि= संस्कृत किए, बनावटी अथवा। इन्द्र सोम का कान्तः=प्रिय अथवा। कणेघातः=कामना के घात अर्थात् समाप्ति तक [पीने वाला।] कणेहतः =कान्तिहतः, इच्छा की पूर्ति तक [पीने वाला।] इस विषय में यह याज्ञिक जनाते हैं। तीस उक्थ पात्र माध्यन्दिन सवन में एक [इन्द्र] देवता वाले [होते हैं।] उन सब को इस काल में एक प्रतिधान=घूंट=[पंजाबी- डीक] से पीते हैं। वे यहां सरांसि कहे जाते हैं। तीस अपर=कृष्ण पक्ष के अहोरात्र, तीस पूर्व शुक्ल पक्ष के, यह नैरुक्त [कहते हैं।] तो जो ये चन्द्रमा की रातों में आगामिन्यः आने वाली आपः=आपः होती हैं। रश्मियां उन को अपर=कृष्ण पक्ष में पीती हैं। वैसा ही निगम होता है— जिस (अक्षितिम्) न क्षीण होने वाले [चन्द्र] को (अक्षितयः) न क्षीण होने वाले [सूर्य रश्मि] पीते हैं। इति। उस [चन्द्र] को पूर्व पक्ष में आप्याययन्ति=वृद्धि को प्राप्त कराते हैं। वैसा ही निगम होता है। जैसे देव [रश्मिजाल] (अंशुम्) सोम को वृद्धि को प्राप्त कराते हैं।

४३. अध्रिगुः, मन्त्र होता है। गवि=गोः में अधिकृत होने से। अथवा प्रशासनम्=प्रेरण ही अभिप्रेत होवे। [क्योंकि मन्त्र वैसा [अध्रिगो इस सम्बोधन] शब्द युक्त होने से। अध्रिगो, हे अध्रिगो शमीध्वम्=काटो सुशमि=अच्छा काट काटो, काटो हे अध्रिगो।

अग्निः भी अध्रिगु कहा जाता है ॥ (तुभ्यम्) तेरे लिए (श्चोतन्ति) क्षरन्ति=चोती है [टप टप कर के गिरती हैं,] (अध्रिगो)=अधृतगमन= न रुकी गति वाले हे अग्ने (शचीवः) कर्म वाले। न रुकी गति वाले, कर्म वाले।

इन्द्र भी अध्रिगु कहा जाता है। (अध्रिगवे) अप्रतिहत=न रुकी गति वाले इन्द्र के लिए (ओहम्)=[स्वन्द—अत्यन्त उत्कृष्ट] (इन्द्राय) इन्द्र के लिए [स्तोम।] यह भी निगम होता है।

४४ आङ्गूष =स्तोम=ऊंचा घोषण। (एना)=अनेन=इस (आङ्गूषेण) स्तोम से हम (इन्द्रवन्तः) इन्द्र सहायभूत जिस का, ऐसे [हैं।] इस स्तोम से हम इन्द्रवान् [हैं] ॥ ११ ॥

भाष्य—अन्तरिक्षस्थ सरांसि क्या हैं, यह मैं अभी नहीं जान सका। याज्ञिकों का व्याख्यान यास्क ने स्वयं दे दिया है। नैरुक्त तीस अहोरात्रों को ही सरांसि मानते हैं। 'अक्षिति =न क्षीण होने वाले सूर्य रश्मि। चन्द्रमा से जो आप स्तोक चान्द्री रातों में अन्तरिक्ष से पृथिवी तक फैलते हैं इन्हें ही वे रश्मियां कृष्ण पक्ष में पीती हैं। अध्रिगु के-१ मन्त्र, २ अग्नि और ३ इन्द्र अर्थ यहां दिए गए हैं। अध्रिगु से याज्ञिक काटने वाले का अर्थ लेते हैं। वह काटने वाला वस्तुतः क्या था। इस का उत्तर ऐतरेय ब्राह्मण में है— अध्रिगुर्वै देवानां शमिता ऐ० २ । ७ । अर्थात् जो यज्ञ ऊपर के लोकों में होते हैं, उन में से काटने वाले यज्ञ में से काटने का कर्म करने वाला ही अध्रिगु है। वह काटने का कर्म इन्हीं अग्नि और इन्द्र नामक अध्रिगुओं द्वारा हो रहा है वहां जो काटना आदि कर्म था, उस का पृथिवी पर के यज्ञों में दोहराना उपादेय नहीं था। जिस प्रकार शर्करा द्वारा त्रिपिला पृथिवी के दृढ़ता की क्रिया को यज्ञ में केवल शर्करा रख कर ही याज्ञ भी काम चलाते हैं, और यज्ञ पूर्ण करते हैं, इसी प्रकार काटने के बिना पशु के स्पर्श मात्र[1] से ही यज्ञ फलदायक हो सकता है। शर्करा द्वारा दृढ़ता के कर्म का दोहराना आदि असम्भव है, तो हिंसा जैसे अनुचित कर्म से यज्ञ की पूर्ति भी हेय कर्म है। निस्सन्देह मांसप्रिय लोगों ने त्रेता से यज्ञों में यह विधि प्रचलित किया। वही का वर्णन कहीं कहीं ब्राह्मणों और श्रौतसूत्र आदिकों में दिखाई देता है। मन्त्रों में हिंसा मार्ग का सन्देश नहीं है ॥ ११ ॥

आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः ॥
[ऋ० १० । ८९ । ५ ॥]

---

१. अत एव इन यज्ञों का नाम "पशुवध" है, "पशुवध" नहीं।

आपातितमन्युः । तृप्रप्रहारी । [क्षिप्रप्रहारी स्तृप्रप्रहारी ।] सोमो वेन्द्रो वा । धुनिर्धूनोतेः । शिमीति कर्मनाम । शमयतेर्वा । शक्नोतेर्वा । ऋजीषी सोमः । यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषमपार्जितं भवति । तेनर्जीषी सोमः । अथाप्यैन्द्रो निगमो भवति ।

ऋजीषी वज्री । [ऋ० ५ । ४० । ४ ॥] इति ।

हर्योरस्य स भागो धानाश्चेति । धाना भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति । फले हिता भवन्तीति वा ।

युक्ष्वा ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रताम् । इत्यपि निगमो भवति ।

आदिनाभ्यासेनोपहितेनोपधामादत्ते । बभस्तिरत्तिकर्मा । सोमः सर्वाण्यतसानि वनानि । नार्वागिन्द्रं प्रति मानानि दभ्नुवन्ति । यैरेनं प्रतिमिमते नैनं तानि दभ्नुवन्ति । अर्वागेवैनमप्राप्य विनश्यन्तीति । इन्द्रप्रधानेत्येके । नैघण्टुकं सोमकर्म । उभयप्रधानेत्यपरम् ।

श्मशा शु अश्नुत इति वा । श्माश्नुत इति वा ।

अव श्मशा रुधद्वाः । [ऋ० १० । १०५ । १ ॥]

अवारुधच्छ्मशा वारिति ॥ १२ ॥

अर्थ—४५. आपान्तमन्युः । (आपान्तमन्युः) डाले गए मन्यु=दीप्ति वाला अथवा क्रोध (तृपलप्रभर्मा) शीघ्र प्रहारी (धुनिः) भय से कंपाने वाला (शिमीवान्) कर्म वाला (शरुमान्) शस्त्रधारी (ऋजीषी) ऋजीष वाला (सोमः) सोम, (विश्वानि अतसा वनानि) सारे [न क्षीण होने वाले=घने वन (न इन्द्रम्) नहीं, इन्द्र को (प्रतिमानानि) प्रतिनिधि रूप से (देभुः) मार सकते वा धोखा दे सकते, (अर्वाक्) पहले ही [स्वयं मर जाते हैं ।]

आपातितमन्युः=डाले गए तेज वाला, तृप्रप्रहारी=शीघ्र प्रहारी सोम अथवा इन्द्र अथवा । धुनिः, धूनोति से । शिमी यह कर्म का नाम [है ।] शमयति से अथवा । शक्नोति से अथवा । ऋजीषी=फोक वाला सोम

[है ।] जो सोम का पूयमानस्य=छाने गए का अतिरिच्यते=शेष बच जाता है, वह ऋजीष [है] अपामितम्=फेंका हुआ होता है। इस [कारण] से ऋजीषी सोम [है ।]

और भी इन्द्र देवता का निगम होता है । ऋजीषी=ऋजीष वाला (वज्री) वज्र वाला । इति । (हर्यो अस्य) इस के अश्वों का यह भाग, और धाना भी । धाना भ्राष्ट्रे=भट्टी में रखी होती हैं । फले=फल पर रखी हुई होती हैं अथवा । (वन्धाम्) ग्रहण करो (स हरी) तेरे दोनों अश्व [हे इन्द्र] (धाना) धाना को (उप) और (ऋजीषम्) ऋजीष को (जिघ्नताम्) सूंघे । यह भी निगम होता है । [वन्धाम् पद में] आदि के [व] के अभ्यस्य=द्वित्व से, उपहितस्य=समीप में रख गए से उसका [वन्धाम] को आदत्ते=लेता है अर्थात् लोप करता है । बभस्ति, खाने अर्थ वाला [है ।] सोम सारे बतसानि=घने वन, नहीं, ये इन्द्र को प्रतिनिर्विष्ट हो कर दम्भुवन्ति=धोखा देते । जिन में इस [इन्द्र] को प्रतिमिमते=सादृश्य से रखते हैं नहीं इस [इन्द्र] को वे धोखा देते अथवा मारते । बल्कि पूर्व ही, इस को न प्राप्त कर के ही नष्ट हो जाते हैं ।

इन्द्रप्रधाना [यह ऋक् है,] यह कई एक आचार्य कहते हैं । नैघण्टुक=गौण है सोमकर्म=सोम का वर्णन । [सोम और इन्द्र] दोनों प्रधानों वाली [है] यह दूसरा [मत है ।]

४९. धमनी, शीघ्र व्यापनी है [नहर या नदी] अथवा । धम=शरीर में व्यापनी है [नाड़ी] अथवा । (धमनी) नहर या नदी (अवरोधत्) रोकेगी (वा) धारण करेगी ॥ अवारुधत्=रोकेगी धमनी धा=धारण करेगी । इति ॥ १२ ॥

भाष्य—इस ऋक् का तात्पर्य गम्भीर है अतः इस के अर्थ में दो पक्ष दिए गए हैं । इन्द्रप्रधाना और उभयप्रधाना । यास्क ने दोनों पक्षों से अर्थ दिखाया है । भ्राष्ट्र में भूनने वाला=भड़भूजा, यह पंजाबी अपभ्रंश है । इन्द्र के अश्वों का खाना धाना भी अन्तरिक्ष में खोजनी चाहिएं । कौषीतकि ब्रा० १८ । १ में पशवो वै धाना कहा है । पर ऐसे प्रकरणों में क्या माना गया है यह अन्वेषण योग्य है ॥ १२ ॥

उर्वश्यप्सरा । उर्वभ्यश्नुते । ऊरुभ्यामश्नुते । उरुर्वा वशोऽस्याः । अप्सरा अप्सारिणी । अपि वा अप्स इति रूपनाम । अप्सातेः । अप्सानीयं भवति । आदर्शनीयम् । व्यापनीयं वा । स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिः ।

यदप्सं [यजु० ३० । १७ ॥ काठक सं० ९ । ४ ॥] इत्यभक्षस्य ।

अप्सो नाम । [मै० सं० २ । ८ । १० ॥]

इति व्यापिनः । तद्रा भवति रूपवती । तदनयात्तमिति वा । तदस्यै दत्तमिति वा । तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द । तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—४७. उर्वशी, अप्सरा [है ।] उरु=बहुत अथवा महत् [स्थान वा यश को] अश्नुते व्याप्त होती है । ऊरुओं से व्याप्त होती है । उरुः वा=महती निश्चय से वशः=इच्छा=कामना इस की । अप्सराः=आप में सर्पण करने वाली । अथवा अप्स, यह रूप का नाम [है ।] अप्साति से । अ+प्सानीयम्=नहीं भक्ष्य होता है, आदर्शनीयम्=देखने योग्य, व्यापने योग्य अथवा । स्पष्ट दर्शन के लिए, [नहीं स्पर्श के लिए] यह शाकपूणि [कहता है ।] (यत् अप्सः)=जो अभक्ष्य [खाया हम ने ।] यह अभक्ष्य का [कथन है ।] (अप्सः नाम) व्यापने वाली [है ।] यह व्यापने वाले का नाम [है ।] तत्+रा=उस वाली होती है । [अर्थात्] रूपवती । तत् अनया = वह इसे से अत्तम् = खाया गया अथवा । वह इस के लिए दिया गया अथवा । उस के दर्शन से मित्र और वरुण का रेतः चस्कन्द = गिरा । इस माया को कहने वाली यह ऋक् होती है ॥ १३ ॥

भाष्य—उर्वशी मध्यमस्थानी देवता है । उस की माया के विषय में अगले खण्ड के भाष्य में कहेंगे ॥ १३ ॥

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः ।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ॥
[ऋ० ७ । ३३ । ११ ॥]

अप्यसि मैत्रावरुणो वसिष्ठः । उर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः । द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन । द्रप्सः सम्भृतप्सानीयो भवति । सर्वे देवाः

पुष्करं त्वा अधारयन्त । पुष्करमन्तरिक्षम् । पोषति भूतानि । उदकं पुष्करं पूजाकरं पूजयितव्यम् । इदमपीतरत्पुष्करमेतस्मादेव । पुष्करं वपुष्करं वा । पुष्पं पुष्पतेः ।

वपुनं वेत । कान्तिर्वा । प्रज्ञा वा ॥ १४ ॥

अर्थ—और हे मित्र और वरुण के पुत्र हे वसिष्ठ (उर्वश्या) उर्वशी से हे ब्रह्मन् [तू] मन से (अधिजातः) उत्पन्न हो । [मित्र और वरुण की जब] (द्रप्सम्) वीर्य (स्कन्नम्) गिरा [तो] ब्रह्म दिव्य से (विश्वे देवाः) सारे देवों ने (पुष्करे) अन्तरिक्ष में (त्वा) तुझे (अदधन्त) धारण किया ॥ द्रप्सः सम्भृत-प्सानीय—पुष्ट हुआ भक्षण योग्य होता है । सारे देवों ने पुष्कर में तुझे धारण किया । पुष्कर=अन्तरिक्ष [है ।] पुष्ट करता है भूतों को । उदक पुष्कर [है ।] पूजा का करण [है ।] पूजनीय [है ।] यह भी दूसरा पुष्कर (—कमल) इस से ही । व पुष्कर=शरीर को सजाने का साधन अथवा । पुष्प पुष्पति से ।

४— वपुनम् वति से । कान्ति अथवा । प्रज्ञा अथवा ॥ १४ ॥

भाष्य—वेद की इतिविद्या में मित्र, वरुण उर्वशी और वसिष्ठ क्या पदार्थ हैं अब इस का उल्लेख करते हैं । मित्र और वरुण बारह आदित्यों में से हैं । इन की माता अदिति निरुक्त ११ । २२ के अनुसार मध्यस्थाना स्त्रियों में प्रथमा गामिनी है । वे दोनों द्युस्थानी हैं । पर ध्यान रहे कि मानव इतिहास में ये आदित्य पृथिवी पर भी हो चुके हैं । दैवी और पार्थिव देवों के अनेक कर्म समान और अनेक भिन्न भिन्न हैं । मित्र और वरुण दो हैं पर इन दोनों का रेत एक ही है । यह गम्भीर रहस्य है । एवा हि रेत । श० ब्रा० ४ । २ । १ । २६ ॥ रेत आज्यम् । श० ब्रा० १ । ३ । १ । १८ ॥ रेतो वै घृतम् । श० ब्रा० ३ । २ । ३ । १३ ॥ इन प्रमाणों से रेत का कुछ ज्ञान हो जाता है पर यह अभी मुझे ज्ञान नहीं कि इस में से मित्रावरुण के साथ किस का सम्बन्ध है । और यह रेत किस प्रकार से द्युलोक से गिरा ।

उर्वशी मध्यस्थाना है । उर्वशी का मन क्या है यह भी ज्ञातव्य है । उर्वशी अप्सराओं में से एक है । अप्सराएं सूर्य मण्डल में नृत्य करती हुई चलती हैं ।[1]

---

१ वेदविद्यानिदर्शन, पृ० २४८, २४६ ।

उर्वशी को मित्रावरुण ने किस समय देखा, यह विचारणीय है। इस प्रस्तुत मन्त्र की वृत्ति में स्कन्द ने लिखा है—नित्यपक्षे तु उर्वशी विद्युत् । वसिष्ठोऽप्याच्छादितः उदकसंघातः।......। मित्रावरुणावपि वाय्वादित्यौ । विश्वे देवा रश्मयः। अर्थात्—उर्वशी विद्युत् है । तारा, धिष्ण्या, उल्का, विद्युत् और अशनि के रूप से विद्युत् शक्ति का कर्म होता है। उर्वशी इन में से कोई एक है। अप्सराएं ५ रश्मियों के रूप में भी चलती हैं।[1] ये रश्मियां वैद्युत् प्रभाव से युक्त होनी चाहिएं।

वैदिक देवों का वर्णन बृहद्देवता ५ । १४८, १४६ में है। वहीं अगले श्लोकों में मित्र, वरुण और उर्वशी की माया का कथन है। तदनुसार उर्वशी के दर्शन पर मित्र और वरुण का रेतः वास्तीवर कुम्भ में गिरा । उस से मुहूर्तमात्र में अगस्त्य और वसिष्ठ जन्मे। परन्तु बृहद्देवता के मैक्डानल सम्पादित संस्करण के B संज्ञक पाठ में शुक्र का गिरना कलश में जल में और स्थल पर कहा है। स्थल पर वसिष्ठ, कलश=कुम्भ से अगस्त्य और जल से मत्स्य उत्पन्न हुए। प्रस्तुत मन्त्र में स्कन्न द्रप्स से अन्तरिक्ष में वसिष्ठ का धारण कहा है। बृहद्देवता के लेखानुसार अगस्त्य और वसिष्ठ भ्राता हैं। ऋग्वेद ७ । ३३ । १० में भी इस का स्पष्ट संकेत है। यह सारा वर्णन मानव इतिहास में कभी घट नहीं सकता । पर सृष्टि के इतिहास में हुई यह घटना अवश्य है ।

सृष्टि के इतिहास में अन्य अनेक उत्पत्तियां भी इस प्रकार हुई हैं । मित्रा-वरुण से सम्बन्ध रखने वाली एक दूसरी माया निम्नलिखित है —

आपो वै देवानां पत्नय आसन्। ता मिथुनम् ऐच्छन्त। ता मित्रा-वरुणाव् उपेताम्। ता गर्भमदधत । ततो रेवतयः पशवोऽसृज्यन्त। जै० ब्रा० १ । १४० ॥ सारी सृष्टि उत्पत्ति आपः से ही हुई है। उर्वशी अप्सरा भी आपः में ही सरकती है।

यह वसिष्ठ प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्मन् पद से सम्बोधित है। वह और उस के साथी वासिष्ठ अन्तरिक्ष में दैवी वाक् अथवा मन्त्रों के कर्ता हुए । इसीलिए ऋग्वेद १० । ६६ । १४ में कहा है—वसिष्ठासः पितृवद् वाचमक्रत । अर्थात् वसिष्ठों ने पिता के समान वाणी को किया। आकाशस्थ प्राणों का कोई

---

[1] १. वेदविद्यानिदर्शन, पृ० १६२ ।

प्रकार भी वसिष्ठ ऋषि है । प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः । श० ब्रा० ८ । १ । १ । ६ ॥ दशरथ और राम का मन्त्री मैत्रावरुणी वसिष्ठ मन्त्रों [illegible] कर्ता नहीं था । आकाशस्थ ऋषि [illegible] ईश्वरीय नियमों में चलते हुए देहधारक् को उत्पन्न कर रहे थे । वेद ईश्वरप्रेरणा का [illegible] फल है । वसिष्ठ के अन्तरिक्षस्थ भ्राता अगस्त्य की एक गाथा पूर्व १ । ५ में कही गई है ।

वेदविद्या का उद्धार तप चाहता है ॥ १४ ॥

स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्सूर्येण वयुनवच्चकार ॥

[ऋ० ६ । २१ । ३ ॥]

स तमो प्रज्ञानं तनन्वत् । स तं सूर्येण प्रज्ञानवच्चकार ।

वाजपस्त्यं वाजपतनम् ।

सनेम वाजपस्त्यम् । [ऋ० ९ । ९८ । १२ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

वाजगन्ध्यं गध्यमुत्तरपदम् ।

अश्याम वाजगन्ध्यम् । [ऋ० ९ । ९८ । १२ ॥] इत्यपि निगमो भवन्ति ।

गध्यं गृह्णातेः ।

ऊर्ध्वा वाजं न गध्यं युयूषन् । [ऋ० ४ । १६ । ११ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा ।

आगधिता परिगधिता । [ऋ० १ । १२६ । ६ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

कौरयाणः कृतयानः ।

पाकस्थामा कौरयाणः । [ऋ० ८ । ३ । २१ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

तौरयाणस्तूर्णयानः ।

स तौर्याण उप याहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः ॥

इत्यपि निगमो भवति ।

अह्रयाणोऽह्रीतयानः ।

अनुष्टुया कृणुह्यह्रयाणः । [ऋ० ४ । ४ । १४ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

हरयाणो हरमाणयानः ।

रजतं हरयाणे । [ऋ० ८ । २५ । २२ ॥] इत्यपि निगमो भवति।

य आरितः कर्मणिकर्मणि स्थिरः ॥ [ऋ० १ । १०१ । ४ ॥]

प्रत्यृतः स्तोमान् ।

व्रन्दी व्रन्दतेर्मृदूभावकर्मणः ॥ १५ ॥

अर्थ—(स इत्) उस [इन्द्र] ने ही (अवयुनम्) अज्ञात=न सूझने वाले=निरुद्धसर्वदृष्टि पथ वाले [वृत्र के उत्पन्न किए अन्धकार] को (ततन्वत्) विस्तृत किया । [तत्पश्चात्] (सूर्येण) [सूर्य को द्युलोक में पहुँचा कर] सूर्य के द्वारा (वयुनवत्) प्रज्ञा वाला अर्थात् प्रज्ञासाधन प्रकाश वाले के समान (चकार) बनाया ॥ उस [इन्द्र] ने तमः=अप्रज्ञान =सूझ न पड़ने वाले अन्धकार को फैलाया । उसी ने (तम्) उस [अप्रज्ञान] को सूर्य के द्वारा प्रज्ञानवत्=सूझ पड़ने के स्थान के समान किया ।

४६. वाजस्पत्यम्, वाज=अन्न, जिस पर पतन [होता है] ॥ (सनेम) सेवन करें (वाजगन्ध्यम्) [उस सोम] अन्न को जिस पर देव गिरते हैं। यह भी निगम होता है ।

५०. वाजगन्ध्यम्, गध्यति उत्तरपद है ॥ (अश्याम) प्राप्त करें (वाजगन्ध्यम्) [हम सोम रूप] अन्न को, जो [अन्य द्रव्यों के साथ] मिलने योग्य है । यह भी निगम होता है ।

५१. गध्यम्, गृह्णाति,=ग्रहण करता है, से [है ।] (ऋज्रा) कोमल [मार्ग] से (वाजं न गध्यम्) ग्राह्य=ग्रहण करने योग्य अन्न को जैसे (युयूषन्) [वैसे] मेल करता हुआ [इन्द्र ।] यह भी निगम होता है ।

५० गव्यति मिश्रीभाव अर्थ वाला [है] ॥ (आ गधिता) सब ओर से मिली हुई (परि गधिता) चारों ओर से मिली हुई। यह भी निगम होता है।

५३ कौरयाण[1]=कृत=पजित=अच्छा रथ वाला ॥ (पाकस्थामा) परिपक्व अथवा महाप्राण वाला=महाबल (कौरयाण) सज्जित रथ वाला। यह भी निगम होता है।

५४ तौरयाण —तूर्णयान=शीघ्र गामी रथ वाला ॥ वह [तू] (तौरयाण) शीघ्र गामी (उप याहि) समीप आओ (यज्ञम्) [हमारे] यज्ञ को (मरुद्भिः) मरुतों के साथ हे इन्द्र (सखिभिः) [अपने] सखाओं के साथ (सजोषाः) सम्यक् प्रीति करते हुए। यह भी निगम होता है।

५५ अह्रयाण=अह्रीन-यान=न ह्री=लज्जा वाली गति वाला ॥ (अनुष्टुया) अनुमान से (कृणुहि) करो (अह्रयाण) न लज्जा करते हुए। यह भी निगम होता है।

५६ हरयाण=हरमाणयान=[शत्रुओं के जीवन के] हरणशील यान वाला ॥ (रजतम्) चांदी के [रथ को] (हरयाणे) [शत्रु जीवन के] हर्ता यान में। यह भी निगम होता है।

५७ आरित (यः) जो (आरितः) पहुँचा=प्राप्त हुआ (कर्मणि कर्मणि) कर्म में कर्म में (स्थिरः) अविचलित ॥ प्रत्युत=प्राप्त हुआ (स्तोमान्) स्तोमों को।

५८ मन्दी, मन्दति से मृदुभाव अर्थ वाले से ॥ १५ ॥

भाष्य—सूर्य पहले ऊपर में नहीं था। वह पृथिवी से शनै शनैः दूर हो रहा था। उस समय वृत्र ने लोकों को घेर कर अन्धकार कर दिया। उस समय का द्योतक पूर्वार्ध है। इन्द्र सूर्य को पर कर रहा था पर जब तक सूर्य ठीक अवस्था में स्थिर न हो जाए वह अन्धकार को दूर नहीं कर सकता था।

---

[1] इस पद पर विशेष विचार पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार' पुस्तिका में किया गया है। वह द्रष्टव्य है।

अतः कहा है कि इन्द्र ने "न सूझने वाले तम को विस्तृत किया ।" पर जब सूर्य ठीक स्थिति और परिभ्रमण में टिक गया, तो प्रकाश हो गया । इस कर्म में भी इन्द्र सहायक था । ब्राह्मण ग्रन्थों में यह सत्य कई स्थानों पर वर्णित है । वस्तुतः ब्राह्मण ग्रंथों के अध्ययन के बिना ये रहस्य समझ में नहीं आ सकते । ईसाई-यहूदी लेखकों ने अल्प बुद्धि आदि के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों पर हीनतासूचक आक्षेप किए हैं । प्रस्तुत मन्त्रांश में देवविद्या का एक सूक्ष्म सत्य निहित है ।

वाजगन्ध्यम्, सो अन्य द्रव्यों के साथ मिल जाता है । घाणित होने का, घुलने का सोम में अद्भुत सामर्थ्य है । कौरयाणः आदि पद इन्द्र के रथों का ज्ञान कराते हैं । ऐसे यान सेनाध्यक्षों के पास होने चाहिएं । यानों की लज्जा वाली गति निषिद्ध है । इन्द्र का रथ रजत भी होता है । आरितः पद के विषय में स्कन्द का अभिप्राय है कि आ+ऋपति से कई एक मानते हैं । यास्क और पदकार यङ्लुगन्त अर्ति का रूप मानते हैं । उस का सारा लेख द्रष्टव्य है ॥ १५ ॥

नि यद्वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोरुवद्वना । [ऋ० १ । ५४ । ५ ॥]

निवृणक्षि यच्छ्वसनस्य मूर्धनि शब्दकारिणः । शुष्णस्यादित्यस्य [च] शोषयितुः । रोरूयमाणो वनानीति वा । वधेनेति वा ।

अव्रदन्त वीळिता । [ऋ० २ । २४ । ३ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

वीडयतिश्च व्रीडयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ । पूर्वेण सम्प्रयुज्येते । निष्पपी स्त्रीकामो भवति । विनिर्गतसपः । सपः सपतेः स्पृशतिकर्मणः ।

मा नो मघेव निष्पपी परा दाः । [ऋ० १ । १०४ । ५ ॥]

स यथा धनानि विनाशयति मा नस्त्वं तथा परादाः ।

तूर्णाशमुदकं भवति । तूर्णमश्नुते ।

तूर्णाशं न गिरेरधि । [ऋ० ८ । ३२ । ४ ॥] इत्यपि निगमो भवति ।

क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति । यत्क्षुम्प्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—(यत्) जिस कारण (नि वृणक्ति) [वृणक्ति=वधकर्मा निघण्टु २ । १९ ॥] तू समाप्त कर देता है (श्वसनस्य) [शब्दकारी] वायु के (मूर्धनि) ऊपर, (शुष्णस्य) सुखाने वाले आदित्य के (चित्) भी [ऊपर, आसुरी तत्त्वों को इन्द्र] (म्रदिन) [वह आदित्य जो] मृदु=कोमल करने वाला [है फलों का] (रोरुवत्) अत्यन्त शब्द करता हुआ (वना =वनानि) जलों को [वनम्=उदकनाम, निघण्टु १।१२] ॥

समाप्त करता है, जिस कारण श्वसनस्य=शब्दकारी वायु के ऊपर, शुष्णस्य=शोषयितु =सुखाने वाले आदित्य के और ऊपर । अत्यन्त शब्द करते हुए, जलों को अथवा, वध=वज्र से अथवा । (म्रदन्त) मृदु हो गए (व्रीडिता) कठिन =कठोर [भी ।] यह भी निगम होता है । वीडयति [और] व्रीडयति दोनों कठोर अर्थ वाले, पूर्व के [म्रन्द पद] में जुड़ते हैं । [अर्थात् म्रन्द=मृदु, वीडित=कठोर]

५१ निष्पपी=पुरुष =स्त्रीकाम होता है । निकले हुए प्रजननेन्द्रिय वाला । सप सपति से, स्पर्श अर्थ वाले से । (मा न) मत हमें (मघा इव) धनों को जैसे (निष्पपी) स्त्रीकामी [नष्ट] करता है, [वैसे] (परा दा) नष्ट कर ॥ वह [कामुक पुरुष] जैसे धनों को विशेष रूप से नष्ट करता है, मत हमें तू [हे मघवन्] नष्ट कर ।

६० तूर्णाशम्, उदक होता है । शीघ्र व्याप्त हो जाता है, (तूर्णाशम्) उदक को (न) जैसे (गिरः अधि) मेघ के ऊपर से । यह भी निगम होता है ।

६१. क्षुम्पम्, अहिच्छत्रक=खुम्भ होता है । यत्=क्योंकि=क्षुम्पते= हिल जाता है ॥ १६ ॥

भाष्य—निर्वृणक्षि दुर्गं=निवर्जयसि । स्कन्द इस प्रकरण में वर्जने अर्थ का खण्डन कर के अर्थ करता है—निवर्जयसि=प्रापयसि । स्कन्द [illegible] भाष्य में—हतप्राणसि अर्थ करता है । सीताराम ने—फेंकना ही अर्थ लिखा है । राजाराम—कुचलता है । इन्द्र आसुरि तत्त्वों को समाप्त करता है । कहां पर । श्वसन=वायु के मूर्धा पर । अन्तरिक्ष में वायु के सात स्तर हैं । इन में से श्वसन किस का नाम है, इस का स्पष्टीकरण मुझे कहीं नहीं मिला ।

शुष्णस्य=आदित्यस्य । आदित्य के ऊपर द्युलोक के किस स्थान में । इस का स्पष्टीकरण भी मुझे अभी तक नहीं मिला । अन्दिनः, सूर्य कठोर फलों में मृदुता उत्पन्न करने वाला है । यह विषय उद्भिज शास्त्र का है । सूर्य की कौन सी रश्मियां इस मार्दव को उत्पन्न करती हैं, इस का अध्ययन भी आवश्यक है । इन्द्र रोरूयमाणः है । यह सुविदित है ।

निष्पपी—यहां पर राजवाडे ने निष्पपि रूप मुद्रित किया है । इस पर अनेक मत हैं । हम ने लक्ष्मणसरूप का पाठ धरा है । वेद में स्त्रीकाम और उस के धन नष्ट करने की निन्दा है । गिरेः अधि, मेघ के ऊपर कैसा उदक है, यह अन्वेषणीय है । एक मन्त्र के आधे भाग में कितनी ज्ञातव्य बातों का संकेत है, जिन्हें हम नहीं जानते । इस पर भी अनेक अर्धपठित लोग कहें कि वे वेद जानते हैं, तो यह धृष्टतामात्र है ।

क्षुम्प=अहिच्छत्रक, इसे आज भी गङ्गा यमुना के द्वीप में रहने वाले लोग सांप की छतरी कहते हैं । पंजाबी का अपभ्रंश खुम्ब प्रसिद्ध है । साधारण हिलाने से खुम्ब जो क्षुभ्यते=हिल जाता है ॥ १६ ॥

कुदा मर्तमराधसं क्षुम्पमिव स्फुरत् ।
कुदा नः शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ [ऋ० १ । ८४ । ८ ॥]

कदा मर्त्तमनाराधयन्तं पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति । कदा नः श्रोष्यति च गिर इन्द्रो अङ्ग । अङ्गेति क्षिप्रनाम । अञ्चितमेवाङ्कितं भवति ।

निक्षुम्पुणः सोमः । निचान्तपृणः । निचमनेन प्रीणाति ॥ १७ ॥

अर्थ—कब (मर्तम्) मरणधर्मा मनुष्य को (अराधसम्) [इन्द्र= परमैश्वर्यवान् परमात्मा की] आराधना न करते हुए को (पदा) पैर से (क्षुम्पम् इव) खुम्ब को जैसे (स्फुरत्) ताडित करेगा । कब हमारी सुनेगा, स्तुतिरूप वाणियां (इन्द्रः) इन्द्र (अङ्ग) क्षिप्र=शीघ्र ॥ कब मनुष्य को अनाराधयन्तम्=न आराधना करते हुए को पांव से खुम्ब को जैसे, [वैसे] अवस्फुरिष्यति=ताडित करेगा, हिलाएगा । कब हमारी सुनेगा और स्तुतियां इन्द्र शीघ्र । अङ्ग यह शीघ्र का नाम है । अञ्चितम् एव=अङ्कितम्=पाया हुआ ही [अथवा] अत्यन्त लगा हुआ ही होता है ।

६- निचुम्पुण सोम [है।] निचान्तपृण -[स्कन्द—भक्षित प्रीणाति] खाया हुआ ही तृप्त करता है। निचमनन=भक्षण से तृप्त करता है ॥ १७ ॥

भाष्य—परमात्मा की आराधना मनुष्य करते हैं। परन्तु देव इन्द्र की आराधना अन्तरिक्षस्थ कौन सा मर्त करता है यह ज्ञातव्य है। मरुतों आदि में से ये कोई नर हैं। उन की आराधना कैसी होती है यह भी जानने योग्य है ॥ १७ ॥

पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये।

अपां जग्मिर्निचुम्पुणः ॥ [ऋ० ८। ९३। २२ ॥]

पत्नीवन्त सुता इमेऽद्भिः सोमाः कामयमाना यन्ति वीतये पानाय। अपां गन्ता निचुम्पुणः।

समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते। निचमनेन पूर्यते। अवभृथोऽपि निचुम्पुण उच्यते। नीचैरस्मिन् क्वणन्ति। नीचैर्दधतीति वा।

अवभृथ निचुम्पुण। [य० ३। ४८ ॥] इत्यपि निगमो भवति।

निचुम्पुण निचुङ्कुणेति च। पदिर्गन्तुर्भवति। यत्पद्यते ॥ १८ ॥

अर्थ—पत्नियों वाले (सुता) निचोड़े=निकाले हुए (इमे) ये [सोम] (उशन्त) कामना करते हुए (यन्ति) जाते हैं [इन्द्र को] (वीतये) [उस के द्वारा] पिए जाने के लिए। (अपाम्) आप [के प्रति] (जग्मि) जाने वाला तथा (निचुम्पुण) भक्षण से तृप्त करने वाला है ॥ पत्नियों वाले निकाले हुए ये। [पत्नीरूपी] आप के साथ सोम। कामना करते हुए जाते हैं। वीतये=पिए जाने के लिए। आप के प्रति जाने वाला पान से तृप्त करने वाला [सोम]।

समुद्र भी निचुम्पुण कहा जाता है। निचमनेन=[स्कन्द—निया न आचम्यन्ते] अर्थात् उदक से पूरा जाता है। अवभृथ=[सोम याग और अश्वमेधादि यज्ञों के अन्त में किया गया] स्नान भी निचुम्पुण कहा जाता है। नीचै=मन्दतम। स्वर में=उपांशु इस [अवभृथ] इष्टी में क्वणन्ति=शब्द

करते हैं । नीचैः दधति=अधोमुख पात्रों को धारण करते हैं [पुनः जल में छोड़ते हैं ।] हे अवभृथ, हे निचुम्पुण । यह भी निगम होता है । निचुम्पुणः [भी और] निचुङ्कुणः भी ।

६३. पक्षि, गन्तुः=चलने वाले का [नाम है ।] यत् क्योंकि पद्यते= [आकाश में] जाता है पक्षी ॥ १८ ॥

भाष्य—पत्नीवन्तः का यास्क ने अर्थ किया है, अद्भिः=आपः के साथ । हम जै० ब्रा० १।१५० के प्रमाण से पूर्व निरु० ५।१४ के भाष्य में लिख चुके हैं कि आपः ही देवपत्नियां थीं—आपो वै देवानां पत्न्य आसन् । तदनुसार सोम की पत्नियां ये आपः ही हैं। वीतये, पीतये के कई अर्थ हैं। अन्न था यहां वीतये में वीतयें का अर्थ शतपथ आदि के अनुसार है, पृथक् होने के लिए । निचमनम् का अर्थ उदक लेते हैं, इस का स्पष्टीकरण स्कन्द के लेख से पहले दे दिया है ॥ १८ ॥

सुगुर॑सत्सुहिर॒ण्यः स्वश्वो॑ बृहद॑स्मै॒ वय॒ इन्द्रो॑ दधाति ।
यस्त्वा॒यन्तं॒ वसु॑ना प्रातरित्वो मु॒क्षीज॑येव॒ पदि॑मुत्सि॒नाति॑ ॥
[ऋ० १ । १२५ ॥ २ ॥]

सुगुर्भवति । सुहिरण्यः । स्वश्वः । महच्चास्मै वय इन्द्रो दधाति । यस्त्वा यन्तमन्नेन । प्रातरागामिन्नतिथे । मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति । कुमारो मुक्षीजा मोचनाच्च सयनाच्च ततनाच्च ।

पादुः पद्यतेः ।

आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते ।
[ऋ० १० । २७ । २४ ॥]

आविष्कुरुते भासमादित्यः । गूहते बुसम् । बुसमित्युदकनाम । ब्रवीतेः शब्दकर्मणः । भ्रंशतेर्वा । यद् वर्षन् पातयत्युदकं रश्मिभिस्तत् प्रत्याददते ॥ १९ ॥

अर्थ—(सुगुः) शोभना गौओं वाला (असत्) होता है, (सुहिरण्यः) अच्छे सुवर्ण वाला, सुन्दर अश्व वाला, (बृहत् अस्मै) महत् इस के लिए (वयः) अन्न (इन्द्रः दधाति) इन्द्र [हवि रूपी]=

परमात्मा देता है जो (त्वा) तुझे (आयन्तम्) आते हुए को (वसुना) धन से (प्रातः इत्वा) हे प्रातः काल में आने वाले [अग्ने] (मुक्षीजया इव) जाल से जैसे (पदिम्) पक्षी को (उत्सिनाति) बाँध लेता है [वैसे तुझे यज्ञार्थ बाँधता है=प्रज्वलित करता है] ॥ शोभन गौओं वाला होता है । अच्छे हिरण्य वाला । सुन्दर अश्व वाला । प्रभूत और इस के लिए अन्न इन्द्र देता है जो तुझे आयन्तम्=आते हुए को प्रातरागामिन्=हे प्रातःकाल में आने वाले [अग्ने] हे अतिथे पाश जैसे पक्षी को बाँध लेता है [वैसे तुझे बाँध लेता है] कोई कुमार । मुक्षीजा—मोचनात् च=छुड़ाने से और सयनात् च=बाँधने से ततनात् च फैलाने से—जाल । [पैरों में बँधा पक्षी शिकार के लिए मुक्त किया जाता है । जाल में बाँधा जाता है । भूमि पर फैलाया जाता है ।]

६५ पातु पचति स । (आविः कृणुते) प्रकट-प्रकाशित करता है । (सः) सब कुछ [अथवा] आदित्य । (गूहते) ढाँपता है (बुसम्) जल को (स पातु) वह जो गति [है] (अस्य निर्णिजः) इस शोधन कर्ता को (न मुच्यते) नहीं छूटती ॥ प्रकाशित करता है भासम्=प्रकाश को आदित्य । छिपाता है बुस को । बुसम् यह उदक का नाम [है ।] ब्रवीति—शब्द करता है अर्थ वाले से । भ्रंशति से अथवा [गिरता है मेघ से ।] जो बरसता या गिराता है उदक को रश्मियों से उसे [ही फिर] प्रत्यादत्ते=अपने में लौटा लेता है ॥ १९ ॥

भाष्य—ऋग्वेद मण्डल प्रथम का सूक्त १२५ कक्षीवान् ऋषि का सूक्त है । अनुक्रमणी के अनुसार यह स्वनय नामक राजा की दानस्तुति है । बृहद्देवता ३ । १४२—१५६ में इस सूक्त पर एक आख्यान उल्लिखित है । इस सूक्त से अगला अर्थात् १२६ सूक्त भी दानस्तुति विषयक है । स्वनय नाम १२६ । १ में है । बृहद्देवता ३ । १५४ के अनुसार यह नाराशंसी सूक्त है । इन नाराशंसियों अथवा दानस्तुतियों के वास्तविक अर्थों की कुञ्जी इन सूक्तों में ही मिलती है । कक्षीवान् के लिए जो दान है उस में असुरस्य गोनाम असुर के बलीवर्द पार्थिव नहीं हैं अतः इस दानस्तुति का सम्बन्ध इस लोक में हुए दान से [illegible] ही नहीं सकता । पुनः एक और बात भी विचारणीय है । राजा स्वनय विवाह में अपनी कन्या देनी चाहता था फिर उस ने रथों पर दस वधूएँ दीं यह कैसे जुड़ेगा । जैसा हम पहले कह चुके हैं सारा इतिहास वेद में कदापि घट ही नहीं

सकता। इतिहास की आंशिक बात इन वेदमन्त्रों से जोड़ कर आख्यान बनाया गया है। इन स्तुतियों के पूरे अध्ययन के लिए वेदविद्या का उद्धार अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्तुत मन्त्र में यह अग्निः के प्रति उच्चारी गई ऋक् है।

आदित्य गूहते वसुम्, ढांपता है आपः को। आदित्य रश्मियां आपः को कैसे ढांपती हैं। अन्यत्र रश्मियों को अपो वसानाः कहा गया है। दोनों भाव विचारार्ह हैं। भूमि पर के आपः सूर्य में पहुंचते हैं, यह आश्चर्यकरी विद्या वेद में ही है। योरोप और अमेरिका में इस का ज्ञान नहीं है॥ १९॥

वृकश्चन्द्रमा भवति। विवृतज्योतिष्को वा। विकृतज्योतिष्को वा। विक्रान्तज्योतिष्को वा॥ २०॥

अर्थ—६५. वृकः, चन्द्रमा होता है। विवृत = खुली हुई ज्योति वाला अथवा। विकृत [= उष्ण से विकृत अर्थात् ठण्डी] ज्योति वाला अथवा। वि–क्रान्त = नक्षत्र आदिकों को उलांघ कर ज्योति वाला अथवा॥ २०॥

भाष्य—स्कन्द ने अविकृत और विकृत दो प्रकार से विग्रह किया है। अविकृत अर्थात् शीत होने से एक रस। और ह्रास वृद्धि वाली ज्योति होने से विकृत॥ २०॥

अरुणो मासकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी॥
[ऋ० १।१०५।१८॥॥]

अरुण आरोचनः। मासकृन्मासानां चाऽर्धमासानां च कर्ता [भवति]। चन्द्रमा वृकः। पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणम्। अभिजिहीते। निचाय्य येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमाः। तक्ष्णुवन्निव पृष्ठरोगी जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति।

आदित्योऽपि वृक उच्यते यदा वृङ्क्ते।

अर्थ—(अरुणः) प्रकाशक (मासकृत्) मासों का बनाने वाला (वृकः) चन्द्रमा (पथा यन्तम्) पथ पर चलते हुए [नक्षत्र गण] को [उन से नीचा होने से] (ददर्श) देखता है। (उज्जिहीते=उत् जिहीते) ऊर्ध्व जाता है। [प्रत्येक नक्षत्र के योग से], (निचाय्य) [उन को] देख

कर । (तष्टा इव) तरखान के समान (पृष्ठ-आमयी) जो पीठ म रोगी है [अर्थात् झुक कर काम करने से थकी हुई पीठ वाला होता है, और विश्राम के लिए उठता है, वैसे चन्द्र उठता है] (वित्तम्) जानो मेर इस स्तोत्र को (रोदसी) हे द्यावापृथिवी ।

अरुण =दीप्ति वाला=प्रकाशक । मास-कृत्=मासों का और, अर्धमासों का कर्ता होता है, चन्द्रमा [जो] वृक [है ।] अपने पथ पर जाते हुए नक्षत्र गण को देखता है । ऊपर उठता है [उन उन नक्षत्रों को] निचाय्य =देख कर, जिस जिस [नक्षत्र के साथ] जुड़ा हुआ होता है चन्द्रमा । तक्षणुवन् इव=तरखान वा काम=छीलना करता हुआ जैसे पृष्ठरोगी । जाने मेरे इस [स्तोम] को द्यावापृथिवी ।

आदित्य भी वृक कहाता है, वृक्‌ते=वर्जन करता है, अथवा विनाश करता है [अन्धकार को] ।

भाष्य—यथा पन्थाम्=आदित्य, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र आदि अपने-अपने पथों में चक्र काट रहे हैं । वेद में पथों का निर्देश है । नक्षत्र चन्द्रमा से ऊपर हैं । नक्षत्रयोग से चन्द्रमा ऊपर आता है । मास-कृत्, यह दूसरा परस्पर सम्बन्धयुक्त है । मास चन्द्रमा के कारण बनते हैं । इस का ज्ञान भी वेद द्वारा आदि सृष्टि [illegible] चला आ रहा है । चन्द्रमा कितना-कितना उठता है यह जानना चाहिए ।

अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य ।

[ऋ० १ । ११७ । १६ ॥]

आह्वयदुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता । तामश्विनौ प्रमुमुचतु रित्याख्यानम् ।

श्वापि वृक उच्यते । विकर्तनात् ।

वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः । [ऋ० ८ । ६६ । ८ ॥] उरण मथि ।

उरण ऊर्णावान्भवति । ऊर्णा पुनर्वृणोत । ऊर्णोतर्वा । वृद्धवा शिन्यपि वृक्युच्यत ।

शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार ।

[ऋ० १ । ११६ । १६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

जोषवाकमित्यविज्ञातनामधेयम् । जोषयितव्यं भवति ॥ २१ ॥

अर्थ—(अजोहवीत्) बुलाया=पुकारा (अश्विनो) हे अश्विद्वय, (वर्तिका) आवर्तन स्वभाव वाली [उषा ने] (वाम्) तुम दोनों को (आस्नः) मुख से, यत् जो (सीम् अमुञ्चतम्) छुड़ाया (वृकस्य) सूर्य से [ग्रसी हुई को]] ॥ आह्वयत् बुलाया उषा ने हे अश्विनौ, आदित्य से पूर्ण ग्रसी हुई ने । उस को अश्विद्वय ने प्रमुमुचतुः=छुड़ाया, यह आख्यान है ।

श्वा अपि=कुत्ता भी वृक कहा जाता है । विकर्तनात्=काटने फाड़ने से ॥ (वृकः चित्) कुत्ता भी (अस्य) इस [इन्द्र] का (वारणः) हटाने वाला [तथा] (उरा मथिः) उरा=मेढों को मन्थन करने वाला । उरामथिः =उरणमथिः । उरणः, ऊन वाला होता है । ऊर्णा, फिर वृणोति से=वरी जाती है [शीत पीड़ित से ।] ऊर्णोति=आच्छादित करती है अथवा, [शरीर को ढांपती है ।]

वृद्धवाशिनी=बढ़ा हुआ शब्द करने वाली=गीदड़ी भी वृकी कही जाती है ॥ (शतं मेषान्) सौ मेढों को (वृक्ये) गीदड़ी के लिए (चक्षदानम्) मारते हुए को अथवा देते हुए को (ऋज्राश्वम्) ऋज्राश्व को (पिता अन्धं चकार) पिता ने अन्धा कर दिया । यह भी निगम होता है ।

६६. जोषवाकम्, यह अविज्ञात=सर्वथा अज्ञात का नाम है । सेवनीय होता है ॥ २१ ॥

भाष्य—यह ऋगंश अश्वि देवताओं के विषय में है । अजोहवीत्—उषा आदित्य से अभिग्रस्ता हुई । उस ने अश्विद्वय का आह्वान किया । अश्वियों ने उसे छुड़ाया । अश्वियों ने उषा को आजि में जीता था (ऋ० १ । ११६ । १७ के स्कन्द भाष्य का आरम्भ) । इस आख्यान का आधिदैविक अर्थ गवेषण योग्य है । वृक्ये, वृकी के लिए सौ मेढे मारे जाएं । मेष वरुण का पशु है, श० ब्रा० २।५।२।१६॥ यह वृकी कौन सी है और सौ मेषों से क्या करेगी । ऋज्राश्वक।

पिता कौन है । इत्यादि अनेक प्रश्न प्रथम मण्डल के ११६ और ११७ सूक्त के अध्ययन से उत्पन्न होते हैं । वृक का अंग्रेजी अपभ्रंश wolf, और हिन्दी, पञ्जाबी में भेड़िया । वृकी को गीदड़ी भी कह देते हैं ॥ २१ ॥

य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत्तेष्वृतावृधा ।
जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवा भसथश्चन ॥
[ऋ० ६ । ५६ । ४ ॥]

य इन्द्राग्नी सुतेषु वा सोमेषु स्तौति तस्याश्नीथ । अथ योऽयं जोषवाकं वदति विजञ्जप प्रार्जितहोषिणौ न देवौ तस्याश्नीथ ।

कृत्ति. कृन्ततेः । यशो वान्नं वा ।

महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र । [ऋ० ८ । ९० । ६ ॥]

सुमहत्त इन्द्र शरणमन्तरिक्षे कृत्तिरिवेति । इयमपीतरा कृत्तिरेतस्मादेव । सूत्रमयी । उपमार्थे वा ।

कृत्तिं वसान आ चर पिनाकं बिभ्रदागहि । [य० १६ । ५१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

श्वघ्नी कितवो भवति । स्वं हन्ति । स्वं पुनराश्रितं भवति ।

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने । [ऋ० १० । ४३ । ५ ॥]

कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति देवने । कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृति । कृतवान्वाशीर्नामकः ।

सममिति परिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम् ॥ २२ ॥

अर्थ—(य) जो, (इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी (सुतेषु) सोम के निचोड़े जाने पर (वाम्) तुम दोनों की (स्तवत्) स्तुति करता है (तेषु)= तस्य=उस का [सोम आदि खाते हो] (ऋतावृधा=ऋतावृधौ) हे सत्य, यज्ञ वा उदक के बढ़ाने वालो, (जोषवाकम्) चुप वाक् को=जप करने वाले वा थोथा बोलने हुए के (पज्रहोषिणा=पज्रहोषिणौ) हे बहुत यत्न वाले (देवा=देवौ) देवो (न) नहीं (भसथश्चन) खाते हो ॥ जो, हे

इन्द्राग्नी, निचोड़े जाने पर, तुम दोनों की, सोमों के, स्तुति करता है, उस का अश्नीथः=तुम खाते हो। अब जो यह जोपवाकं=अज्ञात वाक् को बोलता है, विजञ्जपः=केवल जपशील है, प्राजितहोषिणी देवी=हे कृत यज्ञ वाले देवो, न उसका खाते हो।

६७. कृत्तिः, कृन्तति से [है। काटता है] यश अथवा, [काटता है शत्रु को], अन्न अथवा [अधिक भक्षित काटता है]। (महि इव कृत्तिः) बड़े यश वा अन्न के समान (शरणा=शरणम्) घर [अन्तरिक्ष में] तेरा हे इन्द्र ॥ बड़ा महान् तेरा हे इन्द्र घर अन्तरिक्ष में यश वा अन्न के समान है। यह भी दूसरी कृत्तिः सूत्रमयी कृत्ति=कन्था=गुदड़ी इस [कारण] से ही [है। कटे हुए टुकड़ों से बनी होती है।] उपमार्थ में अथवा, चर्ममयी। (कृत्ति वसानः) चर्ममयी ओढनी को पहने हुए (आ चर) आ। (पिनाकं बिभ्रत्) पिनाक [धनुष] को धारण किए हुए (आगहि) आ, [हे रुद्र] ॥ यह भी निगम होता है।

६८. श्वघ्नी=जुआरिया होता है। स्वं=धन को नष्ट करता है। स्वम्= अपने स्वामी के पुनः आश्रित होता है। (कृतम्) कृत को जैसे (श्वघ्नी) जुआरिया (वि चिनोति) ध्यान से ढूंढता है, (देवने) जुए में। कृत के समान जुआरिया ढूंढता है, जुए में। कि-तवः=किं तव क्या तेरे [पास] है, यह किं तव शब्द की अनुकृति है। कृतवान् कृत वाला=पूरे काम वाला [हो] अथवा। आशीः नामकः=यह आशीर्वाद के नाम वाला [है।]

६९. समम्, सम्पूर्ण=चारों ओर अर्थ वाला सर्वनाम और अनुदात्त है ॥ २२ ॥

भाष्य—य इन्द्राग्नी, मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि यज्ञों में मन्त्रोच्चारण द्वारा स्तुतियां होनी चाहिएं। कर्मकाण्ड के विधि का त्याग कर के उस में केवल जप द्वारा दैवी सहायता की इच्छा निष्फल होती है। संसार के पुराने इतिहास में तीन धनुष अति प्रसिद्ध थे, पिनाक, आजगव और गाण्डीव। पिनाक शिव का धनुष था। पिनाक नाम वेद के आश्रय से रखा गया था। आजगव भी शिव का ही धनुष था (हैम कोश)। गाण्डीव धनुष अर्जुन का प्रसिद्ध है। अग्नि ने उसे दिया था। कृतम्, जुआ खेलने के लिए जो ढीपा फेंकते हैं, उस के एक पार्श्व को कृत कहते हैं ॥ २२ ॥

मा नः समस्य दूढ्य१ः परिद्वेषसो अंहतिः ।

ऊर्मिर्न नावमा वधीत् ॥ [ऋ० ८ । ७५ । ६ ॥]

मा न सर्वस्य दुर्धियः पापधियः सर्वतो द्वेषसोऽहतिः । ऊर्मिरिव नावमावधीत् । ऊर्मिरूर्णोति । नौः प्रणोत्तव्या भवति । नमतेर्वा । तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् । दृष्टव्ययं तु भवति ।

उतो समस्मिन्ना शिशीहि नो वसो । [ऋ० ८ । २१ । ८ ।]

इति सप्तम्याम् । शिशीतिर्दानकर्मा ।

उरुष्या णो अघायतः समस्मात् । [ऋ० ५ । २४ । ३ ॥] इति पञ्चम्याम् । उरुष्यतिरकर्मक ।

अथापि प्रथमाबहुवचने ।

नभन्तामन्यके समे ॥ [ऋ० ८ । ३९ । १ ॥] ॥ २३ ॥

अर्थ—मत हमे (समस्य) सब के प्रति (दूढ्य) पाप बुद्धि वाले के (परिद्वेषस) सब ओर क द्वेष की (अंहति) हिंसा (वधीत्) मारे। (ऊर्मि न) जल तरङ्ग जैसे (नावम्) नौका को (आ वधीत्) मारती है ॥ मत हमे सब क प्रति दुर्धिय पापधिय पाप बुद्धि की सब ओर से द्वेष की अहति =हिंसा, तरङ्ग जैसे नाव को मारता है वैसे मारे । ऊर्मि =ऊर्णोति से आच्छादित करती है । नौ =प्रणोत्तव्या=पार के तट के प्रति प्रेरित की जाने वाली होती है । नमति से अथवा झुकती है। पर वैसे अनुदात्त स्वभाव वाला नाम होवे। [यह निपात होना चाहिए।] दृष्ट व्यय=[पर नहीं] देखे हुए व्यय वाला=विविध विभक्तियो के रूपों वाला होता है ॥ (उतो) और (समस्मिन्) सब बातो वा स्थानो मे (आ शिशीहि) वाञ्छित=अभीष्ट दो (न) हमे (वसो) हे धनवान [इन्द्र] यह सप्तमी मे [व्यय है।] शिशीति दान अर्थ वाला [है।] (उरुष्य) रक्षा करो=बचाओ (णः=न) हमे (अघायत) पाप चाहते हुए स (समस्मात्) सब से । यह पञ्चमी म [व्यय है।] उरुष्यति अकर्मक [है।] और भी प्रथमा के बहुवचन मे [व्यय है।] (नभन्ताम्) मत होवें (अन्यक) दूसरे [हमारे द्वेषी] (समे) सारे ॥ २३ ॥

भाष्य—पाप बुद्धि वाले के सब ओर के द्वेष की हिंसा। जो अपने स्वार्थ के कारण सब का द्वेषी है अर्थात् मानव में कलुषित भाव उत्पन्न कर देता है, वह महानीच है। उस की हिंसा हमें मत मारे। उसे ही नष्ट करें। नाव इतने सुदृढ़ होने चाहिएं कि तरङ्गे उन्हें हानि न पहुंचा सकें। यास्क और उसके पूर्ववर्ती नैरुक्तों के, कि जिन से ले कर उस ने विभिन्न विभक्तियों के प्रयोग निगमों में दर्शाए, ज्ञान का विस्तार इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है॥ २३॥

ह॒विषा॒ जा॒रो अ॒पां पिप॑र्ति॒ पपु॑रिर्नरा।

पि॒ता कु॑ट॑स्य च॒र्ष॒णिः। [ऋ० १। ४६। ४॥]

हविषापां जरयिता। पिपर्ति पपुरिरिति पृणातिनिगमौ वा। प्रीणातिनिगमौ वा। पिता कृतस्य कर्मणश्चायितादित्यः।

शम्ब इति वज्रनाम। शमयतेर्वा। शातयतेर्वा।

उ॒ग्रो यः शम्बः॑ पुरुहू॒त तेन॑। [ऋ० १०। ४२। ७॥]

इत्यपि निगमो भवति।

केपयः कपूया भवन्ति। कपूयमिति पुनाति कर्मकुत्सितम्। दुष्पूयं भवति॥ २४॥

अर्थ—७०. कुटस्य। (हविषा) हवि द्वारा, (जारः) जीर्ण करने वाला (अपाम्) आपः का (पिपर्ति) पूर्ण अथवा तृप्त करता है (पपुरिः) पूर्ण करने वाला (नरा=नरौ) हे अश्विद्वय, (पिता) [जो सब का] पालक (कुटस्य) किए गए कर्मों का (चर्षणिः) देखने वाला [आदित्य।]

७१. चर्षणिः। हवि से आपः का जीर्ण करने वाला। पिपर्ति [और] पपुरिः ये दोनों पृणाति=पूर्णकरता है, [का अर्थ देने वाले] निगम [हैं] अथवा। प्रीणाति [=तृप्त करता है का अर्थ देने वाले] निगम [हैं] अथवा। पालक [कुटस्य]=कृतस्य=किए गए कर्म का [चर्षणिः]= चायिता=देखने वाला आदित्य [है।]

७२. शम्बः। यह वज्र का नाम [है।] शमयति से अथवा। शातयति से अथवा॥ (उग्रः) कठोर जो (शम्बः) वज्र है, (पुरुहूत) हे इन्द्र (तेन) उस से [असुरों को मार।] यह भी निगम होता है।

७३. केपय, कपूया होते हैं। क पूयम् यह पवित्र करता है कुत्सित= निन्दित कर्म को। दुष्पूयम्=कठिनाई से धोया जाने योग्य होता है॥२४॥

भाष्य—अग्ना अग्यिता—आप का जीर्ण करने वाला। आप परमाणुओं को जीर्ण शान्ति किस ढंग से करता है, यह सूक्ष्म विषय है। पुनाति कर्म कुत्सितम्। यह किसी श्लोक का एक वाक्य भी हो सकता है॥२४॥

पृथक् प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥
[ऋ० १० । ४४ । ६ ॥]

पृथक् प्रायन्। पृथक् प्रयनः। प्रथमा देवहूतयः। ये देवानाह्वयन्त। अकुर्वत श्रवणीयानि यशांसि। दुरनुकराण्यन्यैः। येऽशक्नुवन्यज्ञियां नावमारोढुम्। अथ ये नाशक्नुवन्यज्ञियां नावमारोढुम्। ईर्मैव ते न्यविशन्त इहैव ते न्यविशन्त। ऋणे हैव ते न्यविशन्त। अस्मिन्नेव लोक इति वा। ईर्म इति बाहुनाम। समीरिततरो भवति।

एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे।
[ऋ० १० । ५० । ६ ॥]

एतानि सर्वाणि स्थानानि तूर्णमुपाकुरुषे। स्वयं बलस्य पुत्र यानि धत्स्व।

अस्तभ्नमहस आगमम्। धनुर्वा। कवचं वा। कवचं कु अञ्चितं भवति। काञ्चितं भवति। कायेऽञ्चितं भवतीति वा॥२५॥

अर्थ—(पृथक् प्रायन्) पृथक्=नाना=विभिन्न [मार्गों से] प्रायन्=पहुँचे हैं (प्रथमा) मुख्य [यज्ञरता अथवा योगाभ्यासी] (देवहूतयः) देवों का आह्वान करने वाले [=रश्मियों आदि देवों का, अथवा परमात्मा का आह्वान करने वाले] (अकृण्वत) किए हैं (श्रवस्यानि) श्रवणीय यश के काम (दुष्टरा=दु+तरा) [जो] दुस्तर=अत्यन्त कठिन हैं। (न) नहीं जो (शेकुः) समर्थ हुए (यज्ञियाम्) यज्ञ की (नावम्) नौका को (आरुहम्) चढ़ने को (ईर्म+एव) यहाँ [इस लोक में] ही वे (न्यविशन्त) [जन्म-जन्मान्तरों पर्यन्त] वास वाले हुए (केपयः) पापाचरण वाले॥

पृथक् प्रायन्=नाना मार्गो से पहुँचे । पृथक् प्रथति से । प्रथमाः= मुख्य=सब में प्रधान देवहूतयः=[यज्ञादिकों में] देवों के आह्वानकर्ता= जिन्होंने देवों का आह्वान किया । किया श्रवणीययश के कामों को, जो कठिनता से अनुकरणीय हैं, दूसरों के द्वारा । जो समर्थ न हुए यज्ञियां नावम् आरोढुम्=यज्ञीय नाव को चढ़ने को, ईर्म एव ते=इहैव=यहां, इस लोक में ही वे प्रविष्ट हुए । ऋणे=ऋण [देव-ऋण, पितृ-ऋण, मातृ-ऋण] में ही वे प्रविष्ट हुए । इस लोक मे ही अथवा ।

ईर्म=यह बाहु का नाम [है ।] सम्+ईरित+तर=अच्छे प्रकार [अन्य अङ्गों से] अधिक दूर गई होती है ।

७४. तूतुमाकृषे । (एता विश्वा सवना)=एतानि विश्वानि सवनानि =इन सारे स्थानों को (तूतुम्) शीघ्र (आकृषे) करते हो, बनाते हो, (स्वयम्) अपने आप (सूनो सहसः) हे पुत्र बल के, (यानि) जिन को (दधिषे) तू धारण करता है ॥ इन सारे स्थानों को शीघ्र बनाते हो, अपने आप, हे बल के पुत्र, जिन को धारण करते हो ।

७५. अंसत्रम्, अंहसः=पाप=कष्ट वा दुःख से त्राणम् बचाने का साधन । धनुष अथवा । कवच अथवा । कवचम्=कु+अञ्चितं=कुटिल वा टेढ़ा खिचा हुआ होता है । क+अञ्चितं=थोड़ा खिचा हुआ होता है । शरीर में खिचा हुआ होता है अथवा ॥ २५ ॥

भाष्य—जीव प्रायन्=पहुँचे है । कब पहुंचे हैं । मृत्यु के पश्चात् । यह भाव स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है । कौन जीव । मुख्य जीव=संसार के श्रेष्ठतम जीव कौन हैं । जो यज्ञों में देवों का अथवा महादेव=परमात्मा का आह्वान करते हैं । यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है । वे जीव मृत्यु के पश्चात् रश्मि आदि देवों की सहायता से देवयान मार्ग से जाते हैं । यज्ञ की महिमा अपार है । इन यज्ञों के साथ ही जिन्होंने दुस्तराणि श्रवस्यानि=अत्यन्त कठिन श्रवणीय कीर्ति और यश के कर्म किए हैं । जिनका यश श्रेष्ठ पुरुषों में संसार भर में फैल रहा है । इस के विपरीत जो यज्ञ नहीं करते, जो अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास से अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ नहीं करते, जो वेद मार्ग से परे रहते हैं, और जो दान, पुण्य में सदा रत नहीं हैं, उन का लोक इह लोक=मर्त्य लोक है । वे सदा जन्म-मरण के बन्धन में बन्धे रहते हैं । मुक्ति उन से परे है । वे केपयः=पापाचरण वाले हैं । मिथ्या भाषण, चोरी आदि भी पाप कर्म हैं, पर यज्ञ से परे रहना भी पाप है ।

वेद में पुनर्जन्म—सन् १९३४ से पूर्व की घटना है। प्रोफेसर मैक्डानल ने लाहौर में पंजाब विश्वविद्यालय में व्याख्यान दिया कि आर्यों का पुनर्जन्म का सिद्धान्त वेद में नहीं है। यह बहुत उत्तर काल में उपनिषदों में लिखा गया। इस व्याख्यान से अगले अथवा एक दो दिन पश्चात् वे दयानन्द महाविद्यालय लाहौर के अनुसन्धान विभाग में आए। पुनर्जन्म के विषय पर बात करते हुए मैंने ऋग्वेद का मन्त्रार्ध—अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ १० । १६ । ३ पढ़ा। तब अध्यापक मैक्डानल ने कहा कि वह इस पर विचार करेंगे। प्रस्तुत मन्त्र भी स्पष्ट शब्दों में पुनर्जन्म और मुक्ति का विधान करता है।

मध्य में प्रविष्ट होते हैं। मोक्ष मार्ग में सफलता के लिए कर्मों का बताना परमावश्यक है। वेद धर्म में देवयान आदि शब्द सुप्रसिद्ध हैं। ईर्म=बाहु का नाम है। अंग्रेजी में इस पद का अपभ्रंश arm है। अंसत्रम्=पाप अथवा कष्ट से बचाने का साधन होता है। धनुष दुष्ट, पापी चोर आदि दुष्टों से बचाता है और कवच सीधा शरीर की रक्षा करता है ॥ २५ ॥

प्रीणीताश्वान्हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम् ।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम् ॥

[ऋ० १० । १०१ । ७ ॥]

प्रीणीताश्वान्। हितं जयथ। जयनं वो हितमस्तु। स्वस्तिवाहनं रथं कुरुध्वम्। द्रोणाहावम्। द्रोणं द्रुममयं भवति। आहाव आह्वानात्। आवह आवहनात्। अवतोऽवातितो महान्भवति। अश्मचक्रमशनचक्रम्। असनचक्रमिति वा। अंसत्रकोशम्। अंसत्राणि वः कोशस्थानीयानि सन्तु। कोशः कुष्णातेः। विकुषितो भवति। अयमपीतरः कोश एतस्मादेव। संचय आचितमात्रो महान्भवति। सिञ्चत। नृपाणं नरपाणम्। कूपकर्मणा संग्राममुपमिमीते।

काकुदं तालुनित्याचक्षते। जिह्वा कोकुवा। सास्मिन्धीयते। जिह्वा कोकुवा। कोकूयमाना वर्णान्नुदतीति वा। [कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः।] जिह्वा जोहुवा। तालु तरतेः। तीर्णतममङ्गम्। लततेर्वा स्याद्विपरीतात्। यथा तलम्। लतेत्यविपर्ययः ॥ २६ ॥

अर्थ—(प्रीणीत) तृप्त करो (अश्वान्) अश्वों को, (हितम्) हित को, भलाई को (जयाथ) जीतो। [स्कन्द, हितमिति क्रियाविशेषणम्।] (स्वस्ति-वाहम्) अविनाश वाहन=उठाने वाला रथ (कृणुध्वम्) करो=वनाओ । (द्रोण+आहावम्) द्रोण=द्रुम=लकड़ी के आहाव स्थानीय (अवतम्) कूप को (अश्मचक्रम्) पत्थर के समान सुदृढ़ चक्र वाले को (अंसत्रकोशम्) कष्ट से वचाने वाले कोश वाले को (सिञ्चत) सिञ्चित करो (नृपाणम्) नरों के पानी वाले को, अथवा जहां नर मारे जाते हैं, ऐसे को ॥ तृप्त करो अश्वों को, श्रेष्ठ हित को जीतो । जयनम्=विजय तुम्हारा हित हो । अविनाश के वाहक रथ को वनाओ । द्रोण+आहावम्=लकड़ी के आहाव स्थानीय को। द्रोणं=लकड़ी का होता है । आहावः=आह्वान करने से । आवहः=ले चलने से । अवतः=अव+अतितः=नीचे को गया हुआ महान् होता है । अश्मचक्रम्=अशनचक्र=व्यापक चक्र वाला, असनचक्रम्, फेंकने के चक्र वाला अथवा । अंसत्रकोशम्=धनुष वा कवच तुम्हारे कोषों के स्थानीय हों । कोशः, कुष्णाति से, विकुषितः=अनेक स्थानों में फाड़ा हुआ होता है। [फाड़-फाड़ कर सिया होता है।] यह भी दूसरा [धन] कोश इस से ही है। सञ्चयः=कोश, आचितमात्रः=एकत्र की गई मात्रा वाला महान् होता है । सिञ्चत=सींचो । नृपाणम्=नरपाणम्=नर है पानी जिस [कूप] का। कूप के कर्म से संग्राम को उपमा देता है।

७८. काकुदम्, तालु को कहते हैं, जिह्वा कोकुवा [होती है।] वह इस [तालु] में धीयते=धारण की=रखी जाती है । जिह्वा कोकुवा [है।] कोकूयमाना=कूकती हुई=शब्द करती हुई वर्णान्=वर्णों को नुदति =प्रेरित करती है अथवा। [कोकूयति से अथवा होवे, शब्द अर्थ वाले से । जिह्वा=जोहुवा है=बार-बार बुलाते हैं। [अथवा उस से अन्न का] होम करते हैं। तालु, तरति से=तीर्णतमम्=फैला हुआ अङ्ग [है।] लतति से अथवा होवे, विपरीत किए गए से। जैसे तल। लता यह [उस लतति से] विना विपर्यय के [है] ॥ २६ ॥

भाष्य—युद्ध में अश्वों को, पशु अथवा यान्त्रिक अश्वों को सदा तृप्त करो । तुम्हारा विजय भी भलाई का कारण हो । इससे इन्द्रिय-लोलुपता और हेय-स्वार्थों की सिद्धि न हो । तुम्हारे रथ स्वस्ति ऐसे हों, जो नष्ट न हो सकें । ऐसा

रथ अर्जुन का था। तुम्हारे रथ स्थानी आयुध शत्रु द्वारा नष्ट न हो सकें। आग कूप से उपमा में। युद्ध भला नहीं। पर यदि सत्य के लिए युद्ध छिड़ जाए तो शत्रु शवों से कूप भर गये। तुम्हारा कोष-राजकोश युद्ध सामग्री से सदा भरपूर रहे ॥ २६ ॥

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।

अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥ [ऋ० ८।६९।१२ ॥]

[सुदेवस्त्वं कल्याणदेवः। कमनीयदेवो वा भवसि वरुण। यस्य ते सप्त सिन्धवः। सिन्धुः स्रवणात्। यस्य ते सप्त स्रोतांसि। तानि ते काकुदमनुक्षरन्ति। सूर्मिं कल्याणोर्मिं। स्रोतः सुषिरमनु यथा।

वीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह। पूर्वं वयतेः। उत्तरमिरतेः। वयांसीरन्त्यस्मिन्। भांसि वा। तदेतस्यामृच्युदाहरन्ति। अपि निगमो भवति ॥ २७ ॥]

[अपर पाठ] सुदेवस्त्वं कल्याणदेव। यस्य ते देव सप्त सिन्धवः प्राणायानुक्षरन्ति काकुदम्। सूर्म्यं सुषिरामिवेति। अपि निगमो भवति ॥२७॥

अर्थ—शोभन देव तुम कल्याण देव। सुन्दर देव अथवा होते हो तुम हे वरुण। जिस के तेरे सात सिन्धु। सिन्धु=स्रवणात्-बहने से। जिस के तेरे सात स्रोतांसि=झरने। वे [सातों] तेरे काकुदम्=तालु=समुद्र की ओर अनुक्षरन्ति=बहते हैं। सूर्मि=कल्याण तरङ्ग वाला। स्रोत=सुषिरम् अनु=अन्दर नाल के पीछे यथा।

७७ वीरिटे। वीरिटम् तैटीकि [का पाठ है।] अन्तरिक्ष को ऐसा कहा [तैटीकि ने।] पूर्व [भाग=वी] वयति से [है।] अगला [रिट] इरति से [है।] वयांसि=पक्षी ईरन्ति=उड़ते हैं इस में। भांसि=नक्षत्र अथवा। यह इस ऋक् में उदाहरण देते हैं। [यह ऋक्] निगम भी है ॥२७॥

भाष्य—सुदेव शब्द व्याकरण महाभाष्य १।१।१ में उद्धृत है। वरुण कल्याण देव है। प्राण के मध्य में ही वरुण आता है। मन्त्र कहता है— यासां राजा वरुणो याति मध्ये। ऋ० ७।४९।३॥ देव वरुण और

परमात्मा दोनों कल्याण के पुन्ज हैं। निरुक्त के लघुपाठ में देव का अर्थ दान किया गया है। इस का भी वही भाव है, अर्थात् कल्याण का दान देता है। अन्तरिक्षस्थ सातों नदियां अन्तरिक्षस्थ समुद्र की ओर दौड़ती हैं। उन की उर्मियां कल्याणकारिणी हैं।

विरिटे, यह यास्क पठित रूप है। परन्तु तैटीकि ने वीरिटम् रूप पढ़ा था। वह इस का अर्थ अन्तरिक्ष करता है। अन्तरिक्ष के वयांसि पक्षी, ये पार्थिव पक्षी नहीं हैं। देखो वेदविद्यानिदर्शन पृ० १२७-१४२ ॥ २७ ॥

प्र वांवृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते ।

विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ॥

[ऋ० ७। ३९। २॥]

प्रवृज्यते सुप्रायणं बर्हिरेषाम्। एयाते सर्वस्य पातारौ वा पालयितारौ वा। वीरिटमन्तरिक्षम्। भियो वा भासो वा ततिः। अपि वोपमार्थे स्यात्। सर्वपती इव राजानौ। वीरिटे गणे मनुष्याणाम्। रात्र्या विवासे पूर्वस्यामभिहूतौ। वायुश्च नियुत्वान्। पूषा च स्वस्त्ययनाय। नियुत्वान्नियुतोऽस्याश्वाः। नियुतो नियमनाद्वा। नियोजनाद्वा।

अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः।

परीं सीमिति व्याख्यातम्।

एनमेनामस्या अस्येत्येतेन व्याख्यातम्।

सृणिरङ्कुशो भवति सरणात्। अङ्कुशोऽञ्चतेः। आकुचितो भवतीति वा।

नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्। [य० १२। ६८॥] इत्यपि निगमो भवति।

अन्तिकतममङ्कुशादायात्। पक्वमोषधामागच्छत्विति। आगच्छत्विति॥ २८॥

इति पञ्चमोऽध्यायः।

अर्थ—(प्रवाहुवे)=[स्तम्भ—प्रवाहुवन, प्रस्थापित] बिठाई जाती है (सुमखा) सुख से गमन करने हेतु देवता जिस पर [गयी] (बर्हिः) कुशा अथवा दर्भ का बही, (एषाम्) इन [ऋत्विक् यजमानों] को (विश्पती) सब के स्वामी राजा होता (इव) सदृश (वीरिटे) अन्तरिक्ष में (का इथाने) जाने । (विशाम्) ऋत्विक् और यजमानों के (इयक्षवे) कल्याण के लिए (अक्तोः) रात्रि के [पश्चात्] उषा के (पूर्वहूती) प्रथम बुलाने में (वायु पूषा नियुत्वान्) वायु नियुतों वाला और पूषा ॥ प्रवृज्यते=बिठाई जाती है सुमखायन्=[देवताओं के लिए] कल्याण पूर्वक गति वाली बर्हि=कुशा अथवा दर्भ एषामेन=[देवताओं] को । इयान=का । इयान=जाने सब के राजा या पालक अथवा । वीरिटम्= अन्तरिक्षम् । [इस अन्तरिक्ष में] जिसमें वा=भय का अथवा भास का प्रकाश का अथवा तनि=विस्तार होता है । अथवा उसका अर्थ में होगा । रथ के रक्षक राजन्यों=रथस्थाः=राजा और प्रथम सेनापति के समान [जैसे वे] वीरिटेभ्यः मनुष्याणाम्=अपने मनुष्यों=सैनिकों के समूह में ठहरे हुए । रात्रि की बिताने=समाप्ति पर, पहले बुलाने में, वायु जो नियुतों वाला [=नियत नामक अश्वों वाला] और पूषा कल्याण के लिए । =नियुत्वान्=अश्ववान् [है] इस के घोड़े । नियुत=नियमनात् या=नियमन में रखने=रोकने में अथवा । नियोजन=जोड़ने से अथवा ।

७८ अच्छ अभि [अव्यय] से, आप्तुमिच्छन् के लिए, यह शाकपूणि [कहता है ।]

७९ परि ८० ईम् ८१ सीम् यह [१ । ३, १ । ६ १ । ७ में] व्याख्यान है ।

८२ एनम् ८३ एनाम् । अस्या, अस्य [इन दो पदों में व्याख्या किया गया [है ।]

८४ सृणिः अंकुश होता है, सरणात्=सरकने से, चलने से । अंकुश अञ्चनि से चलता है [हाथी के सिर पर ।] आकुञ्चित कुञ्चित अर्थात् टेढ़ा होना है अथवा ॥ (नेदीय) अत्यन्त समीप (इत्) सदृश (सृण्य) अङ्कुश [समीप] में [पहले ही] (पक्वम्) अन्न (पेयात्) आवे [हमारे घर में ।] यह भी निगम होता है । अन्तिकतमम्=अत्यन्त समीप अङ्कुशात्=अङ्कुश से [पहले] आयात्=आवे । पक्वम्+औषधम् =तथा औषध=अन्न आवे । आवे ॥ २८ ॥

भाष्य—बर्हि, वेदी पर कुशा के बिछाने पर जर्मन ओल्डनबर्ग ने उपहास किया है ।[1] वह कहता है कि यह असभ्य पुरोहितों का कर्म है ।[1] अज्ञानी को दर्भ की पवित्रता का ज्ञान नहीं था । ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है—ता हैताः शुद्धा मेध्या आपो वृत्राभिप्रक्षरिता यद्दर्भाः । अर्थात्—वृत्र=महान् मेघ से गिरने वाले वे शुद्ध, पवित्र आपः थे, जो दर्भ के रूप में ओषधि बन कर उगे । इसी लिये दर्भ वेदि में बिछाये जाते हैं । इस लिए इस के पवित्रे बनते हैं। पुनश्च मैत्रायणी संहिता में प्रवचन है—अच्छिद्रेण पवित्रेण-इति । एतद्वा अच्छिद्रं पवित्रं यत्सूर्यस्य रश्मयः ।……इन्द्रो वै वृत्रमप्सु अध्यहन् । तासां यद्यज्ञियं मेध्यमासीत् तदुदक्रामत् । ता इमा ओषधयोऽभवन् । तासां वा एतत्तेजो यद्दर्भाः । एता वै शुष्का आपः । यदेवासांस्तेजस्तदवरुन्धे । त्रयीर्वा आपः । दिव्याः पार्थिवाः समुद्रियाः । ताः सर्वा दर्भो विधस्यैत् । तस्माद्दर्भः पवित्रम् । ३ । ६ । ३ ॥ दर्भ की पवित्रता का यह रहस्य है। पक्षपाती ईसाई इसे क्या जान सकता है। यह पवित्रता गिरजाघरों की पवित्रता से शतशः गुणा बड़ी है । ईसाई यहूदी गुट के पक्षपाती लोग इसे क्या जानें । अन्तरिक्ष में भय=अन्धकार और प्रकाश का विस्तार होता है । लोकालोक यहीं हैं । प्रकाशमयी रश्मियों के लिए यहां खुला क्षेत्र है । वायु अपने नियुतों के साथ और पूषा स्वस्ति के लिए । वायु के अश्व वायव्य परमाणुओं के योग-विभाग से- बने है । आपः का उन में प्रभाव है । पक्व=रसमय अन्न ॥ २८ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

---

१. वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ६ पर उद्धृत ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥

[ऋ० २ । १ । १ ॥]

त्वमग्ने द्युभिरहोभिः त्वमाशुशुक्षणिः । आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः । क्षणिरुत्तरः । क्षणोतेः । आशु शुचा क्षणोतीति वा । सनोतीति वा । शुक् शोचतेः पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा । तथा हि वाक्यसंयोगः । आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तात् । चिकीर्षितज उत्तरः । आशुशोचयिषुरिति । शुचिः शोचतेः । ज्वलतिकर्मणः । अयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव । निःषिक्तमस्मात्पापकमिति नैरुक्ताः ।

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।

[ऋ० २ । ४१ । १२ ॥]

आशा दिशो भवन्ति । आसदनात् । आशा उपदिशो भवन्ति । अभ्यशनात् ।

काशिर्मुष्टिः प्रकाशनात् । मुष्टिर्मोचनाद्वा । मोषणाद्वा । मोहनाद्वा ।

इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते ।

[ऋ० ३ । ३० । ५ ॥]

इमे चिदिन्द्र रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ । विरोधनात् । रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः । कूलं रुजतेः । विपरीतात् । लोष्टोऽविपर्ययेण । अपारे दूरपारे । यत्संगृभ्णासि मघवन् । काशिस्ते महान् ।

अहस्तमिन्द्र सं पिणक्कुणारुम् । [ऋ० ३ । ३० । ८ ॥]

अहस्तमिन्द्र कृत्वा सम्पिण्ड्ढि परिक्वणनं मेघम् ॥ १ ॥

अर्थ—१. आशुशुक्षणिः, तू हे अग्ने (द्युभिः) अहोभिः=अहः से, [उत्पन्न होता है], तू (आशु शुक्षणि)=आशु+शु+क्षणिः=शीघ्र दीप्ति द्वारा [अन्धकार का] हिंसक [है], तू (अद्भ्यः) आपः से [आदित्य मण्डल में], (त्वम्) तू (अश्मनः) अश्मा पृश्नि के घर्ष से (परि) चारों ओर से [उत्पन्न होता है ।] तू (वनेभ्यः) [अन्तरिक्षस्थ] वनों से, तू ओषधियों से, तू नरों के हे नरपते (जायसे) उत्पन्न होते हो, [तुम जो] शुचिः [हो] ॥

तू अग्ने, द्युभिः=अहोभिः=अहों से, तुम आशुशुक्षणिः । आशु और शु शीघ्र के नाम होते हैं । [आशु और शु से] क्षणिः उत्तर [पद है ।] क्षणोति से, नाश करता है । शीघ्र दीप्ति से क्षय करता है [अन्धकार का] अथवा । सनोति=देता है अथवा । शुक्, शोचति से, दीप्त करता है । पञ्चमी के अर्थ में अथवा आशुशुक्षणि प्रथमा [मे है ।] वैसा ही [मन्त्र के अधिक पदों अद्भ्यः, अश्मनः आदि में—] वाक्य का संयोग है । [आशुशुक्षणिः में] आ यह [जो] आकार [है] उपसर्ग [है] पहले । चिकीर्षितजः=सन्नन्त से उत्पन्न हुआ उत्तर [भाग शुशुक्षणिः है ।] आशुशोचयिषुः इति=वार-वार प्रदीप्त करने वाला [यजमान ।] शुचिः, शोचति से, ज्वलति अर्थ वाले से [है ।] यह भी दूसरा शुचिः [=शुद्ध=अर्थशोचता वाला] इस [कारण] से ही [है ।] निः षिक्तम्=निकला गया है इस से पापकम्=पाप, यह नैरुक्त [कहते हैं ।]

२. आशाभ्यः (इन्द्र) इन्द्र (आशाभ्यः) दिशाओं और उपदिशाओं से (सर्वाभ्यः) सारी से (अभयम्) निर्भय हमें (परि करत्) [आप] करो ॥ आशा, दिशाएं होती हैं । आसदनात् [स्कन्द—शदिर्गत्यर्थः । तं तमर्थं प्रत्यागमनात् ।] आ+सदनात्=एक दूसरे के प्रति ठहरने से । आशाः, उपदिशाएं होती है । अभ्यशनात् सर्वत्र व्यापने से ।

३. काशिः=मुष्टिः=मुट्ठी, प्रकाश करने से । मुष्टिः=मोचन करने से अथवा । मोषणात्=चुराने से अथवा, [इस में चोरी करके छिपा कर ले जाते हैं ।] मोहनात्=अज्ञान में डालने से अथवा [इस में क्या है, इस का ज्ञान न होने से] ॥ (इमे चित्) इमे वा=ये अथवा (इन्द्र) हे इन्द्र (रोदसी) द्यावापृथिवी (अपारे) नहीं पार वाले=अति दूर पार वाले (यत्) जिस से

(संगृभ्णा) [तुम] पकड़े हुए हो, (मघवन्) हे महान् धन, (काशि) मुष्टि म (इत्) अहो [वह] (ते) तेरी [मुष्टि ।] ये अथवा हे इन्द्र रोदसी=रोधसी=द्यावापृथिवी । विरोधनात्=विशेष रोकने से । रोध= कूलम्=किनारा [होता है ।] नि+रुणद्धि=रोकता है, स्रोत=प्रवाह को । कूलम्, रुजति से है, [रुज् से] विपरीतात्=उलटा करने [illegible] रुक=कूल । लोष्ट [उस रुज्+त से, अर्थात् लुष्+त=लोष्ट] अविपर्ययेण=बिना उलटा करने से । अपारे=दूर पारे=दूर किनारे वाले । जो पकड़े हुए हो, हे मघवन् [वह] मुष्टि तेरा महान् [है] ॥

४ कुणारुम्, (अहस्तम्) बिना हाथ [का करके] इस को (इन्द्र) हे इन्द्र (संपिणक्)=संपिण्ढि=सचूर्णय=पीस दे, कुणारुम्=[इस] क्वणन=शब्द करने वाले [मेघ] को । बिना हाथ का हे इन्द्र कर के सम्यक् पीस दो इस शब्दशील मेघ को ॥ १ ॥

भाष्य—शुचि —यह मन्त्र शुचि अग्नि की स्तुति में है । शुचि अग्नि आदित्य में है । वायु पुराण २६ । २ का श्लोकार्ध है—शुचि सौरस्तु विज्ञेय । इसी प्रकार बृहद्देवता १ । ६६ का उत्तरार्ध है— अमुष्मिन्नेष विभिस्तु लोके ऽग्नि शुचिरुच्यते ॥ पवमान=भूमिस्थ, पावक=अन्तरिक्षस्थ और शुचि= सौर, इन तीनों का भेद न समझने से वेदार्थ कदापि ज्ञात नहीं होता । इन तीनों में परमाणुओं का योग विभाग विभिन्न है । शुचि अग्नि के रूप पर प्रकाश डालने वाला एक ऋक् का उत्तरार्ध है—घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि भाति भरतेभ्य शुचि ॥ ऋ० ५ । ११ । १ ॥ अर्थात्—घृत की प्रतीक वाला, महान् तेज से युक्त, दीप्तिमान् विशेष चमकता है, भरताग्नि के परमाणुओं से शुचि =सौराग्नि ।

द्युभि जायसे । इस अग्नि की उत्पत्ति में अनेक कारण हैं । एक कारण द्यु =अह है । निघण्टु १ । ९ में द्यु पद अहर्नामों [illegible] पढ़ा गया है । यदि यास्क का यह परम्परागत प्रामाणिक अर्थ न माना जाए तो एक महान सत्य दृष्टि से ओझल हो जाएगा । दुर्ग और स्कन्द ने याज्ञिक प्रक्रिया में [illegible] निमज्जित होने के कारण इस अर्थ के मूल तत्त्व पर विचार नहीं किया । अहोरात्र में अह क्या पदार्थ है यह जानना आवश्यक है । अहोरात्र संवत्सर का विभाग है । आदित्य मण्डल में [illegible]सर का घेरा है । यह संवत्सर वैश्वानर अग्नि का योग रखता है ।

मै० सं० में प्रवचन है—संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः । २ । १ । २ ॥ इस संवत्सर में ३६० अहः और ३६० रात्रि हैं। इन का चक्र चल रहा है। अहः के सम्मुख भाग विशेष के आने से शुचिः अग्निः उत्पन्न होता रहता है। अहः सुवर्णा कुशी है—शै० ब्रा० का प्रवचन है—स यद्वादित्य उदेति । एतामेव तत्सुवर्णां कुशीमनुसमेति । ... अहरेव सुवर्णा [कुशी] अभवत् । १ । ५ । १० । ७ ॥ इसी के कारण शुचि अग्निः उत्पन्न होता है। वहीं आदित्य में—अद्भ्यः=आपः परमाणुओं से भी यही अग्निः उत्पन्न होता है। अश्मा भी यहीं पर और अन्तरिक्ष में भी है। असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निः । श० ब्रा० ६ । २ । ३ । १४ ॥ यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान । ऋ० २ । १२ । ३ ॥ अर्थात् अश्मा के अन्दर इन्द्र अग्नि को उत्पन्न करता है। वन और ओषधियां अन्तरिक्ष में हैं। ये सब ही शुचि अग्निः की उत्पत्ति में योग देते हैं। ऐसी भाषा का स्पष्ट करना भविष्य के वेदाभ्यासियों का काम है।

आशा=दिशाओं और उपदिशाओं से ही द्यावापृथिवी स्तम्भित हैं। इन की महिमा भी अनुपम है। इसी प्रकार इन्द्र की मुष्टि से बाहर के वैद्युत घेरे से अपारे रोदसी, पकड़े गए हैं। जैसा आरम्भ में ये दूर दूर हो रहे थे, अब ये दूर नहीं हो रहे हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों का यह विचार सत्य नहीं कि ये अब भी दूर-दूर हो रहे हैं[1]। कृणारुम्=मेघ। इसे इन्द्र पीसता है ॥ १ ॥

अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार ।
सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः ॥
[ऋ० ३ । ३० । १० ॥]

अलातृणोऽलमातर्दनो मेघः। वलो वृणोतेः। व्रजो व्रजत्यन्तरिक्षे गोरेतस्या माध्यमिकाया वाचः। पुरा हननाद्भयमानो व्यार। सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः। सुगमनान्पथोऽकरोत्। निर्गमनाय[2] [=निरजाय] गवाम्। प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः। आपो वा वदनात्। वाचो वा वदनात्। बहुभिराहूतमुदकं भवति। धमतिर्गतिकर्मा ॥ २ ॥

अर्थ—४. अलातृणः। (अलातृणः) अल=अलम्, आतृणः= आतर्दनः जो समर्थ=पर्याप्त है आतर्दन=छेदन के लिए, (वलः) मेघः

---

१. जैनियों का भी यही मन्तव्य है।

२. सायण द्वारा ऋग्भाष्य में स्वीकृत पाठ।

(इन्द्र) हे इन्द्र, (व्रजः) [जो मेघ] चलने-फिरने का स्थान है (गोः) माध्यमिक स्तनयित्नु वाक् का (पुरा) पूर्व ही (हन्तोः) [वृक्ण] हिनन= ताडन के ताडन से (भयमानः) डरता हुआ (व्यार) विश्लिष्ट हो गया । (सुगान्) सरलता से गमन योग्य (पथः) मार्गों को (अकृणोत्) बनाया (निरजे) निर्गमन के लिए (गाः) जलों के (प्र आवन्) निकल आईं (वाणीः) आप. (पुरुहूतम्) बहुतों से आहूत की गई=उदक रूप वाली (धमन्तीः) गति करती हुई ॥ छेदन योग्य मेघ, वलः=वृणोति से, [आवरण करता है भूमि पर] व्रज=चलना है अन्तरिक्ष में, गोः=इस माध्यमिक वाक् का । पूर्व हनन से डरता हुआ छिन्न भिन्न हो गया। सरलता से गमन योग्य मार्गों को बनाया, निर्गमनाय=निकलने के लिए गोओं के । प्रावन्=निकल आईं वाणी=आप, उदक स्तोक, बहुतों से बुलाई गईं। चलती हुई । वाणी=आपः अथवा, वहनात्=वहने से, वाच अथवा, बोलने से, पुरुहूतम्=बहुतों से बुलाया गया उदक होता है । धमति गत्यर्थक है ॥ २ ॥

भाष्य—वलावृण , जो घेरा जा सके । मेघ घेरा जा सकता है, ऐसा मेघ । वल =पादित्य को अथवा भूमि को ढांपने वाला मेघ । यह नाम इन्द्र के विषय में बहुधा मिलता है । व्रज =मेघ । ये तीनों नाम मेघ के हैं । पहले गो पद का वाक् अर्थ है, और अगले गा पद का अर्थ उदक है । वाणी और पुरुहूतम् पद भी उदक अर्थ में हैं । योरोप का कल्पित "भाषा विज्ञान" यहां अणुमात्र सहायक नहीं हो सकता । वह वृथा आडम्बर है ॥ २ ॥

उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि ।
आ कीवतः सललूकं चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य ॥
[ऋ० ३ । ३० । १७ ॥]

उद्धर रक्ष. सहमूलमिन्द्र । मूलं मोचनाद्वा । मोषणाद्वा । मोहनाद्वा । वृश्च मध्यम् । प्रति शृणीह्यग्रम् । अग्रमागतं भवति । आ कियतो देशात् । सललूकं संलुब्धं भवति । पापकमिति नैरुक्ता । सररुकं वा स्यात् । सर्तेरभ्यस्तात् । तपुषिस्तपतेः । हेतिर्हन्तेः ।

त्वं चि॑दि॒त्था क॑त्प॒यं शया॑नम् ॥ [ऋ० ५ । ३२ । ६ ॥]

सुखपयसं सुखमस्य पयः ।

विस्रुह आपो भवन्ति । विस्रवणात् ।

व॒या इ॑व रुरुहुः स॒प्त वि॒स्रुहः॑ । [ऋ० ६ । ७ । ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवन्ति ।

वीरुध ओषधयो भवन्ति । विरोहणात् ।

वी॒रुधः॑ पारयि॒ष्ण्वः॑ । [ऋ० १० । ६७ । ३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

नक्षद्दाभम् । अश्नुवानदाभम् । अभ्यशनेन दभ्नोतीति वा ।

न॒क्षद्दा॑भं ततु॑रिं पर्वते॒ष्ठाम् । [ऋ० ६ । २२ । २ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अस्कृधोयुरकृध्वायुः । कृध्विति ह्रस्वनाम । निकृत्तं भवति ।

यो अस्कृ॑धोयुर॒जरः॒ स्व॑र्वान् । [ऋ० ६ । २२ । ३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

निशृम्भा निश्रथ्यहारिणः ॥ ३ ॥

अर्थ—६. सललूकम् । (उत् वृह) उखाड़ो (रक्षः) राक्षस को (सह मूलम्) साथ मूल के (इन्द्र) हे इन्द्र (वृश्च) छेदन करो (मध्यम्) मध्य को, (प्रति अग्रम्) जो आगे हुआ (शृणीहि) उसे नष्ट करो । (आ कीवतः) किसी स्थान से=दूर से (सललूकम्)=संलुब्धं= लोभी को (चकर्थ) [समाप्त] करो । (ब्रह्मद्विषे) वेद अथवा ब्राह्मण द्वेषी के लिए (तपुषिं हेतिम्) तापक वज्र को (अस्य) फेंक ॥ उखाड़ो राक्षस को साथ मूल के हे इन्द्र । मूलं=छुड़ाने से, मोषणात्=चुराने से । मोहनात्=धोखा देने से, मोहित कर देने से । काटो मध्य को, नाश करो अग्र को । अग्रम्=[बढ़ कर]-आया हुआ होता है । आ कियतो देशात्=

किसी देश में ले कर। सनलूकम्=लोभी होता है। पापी यह नैरुक्त [कहते हैं।] सरूक [मायण पाठ – सरूक] अथवा होवे। सनि म अभ्यास=द्वित्व हो कर। सपुषि तनानि स। हेति हन्ति से।

७ कत्पयम्। (त्यम् चित्) उस को ही (इत्था) उस अन्तरिक्ष में (कत्पयम्) सुखकर पय वाले को (शयानम्) ठहरे हुए को [इन्द्र ने मारा।] सुखकर पय वाले को। सुखकर है इस का पय।

८ विस्रुह आप होते हैं। विस्रवणात्=विविध रूप से बहने से। (वया इव) शाखाओं के समान (रुरुहुः) उगे सात (विस्रुह:) विविध स्रवण करने वाले नद। यह भी निगम होता है।

९ वीरुध ओषधियां होती हैं। वि+रोहणात्=विशेष उगने से॥ (वीरुध) ओषधियां (पारयिष्णव:) पार ले जाने वाली। यह भी निगम होता है।

१० नक्षद्दाभम्=अश्नुवानदाभम्=अभ्यशनेन=समीप पहुंच कर दभ्नोति=मारता है॥ (नक्षद्दाभम्) समीप पहुंच कर मारने वाले को (ततुरिम्) त्वरित गति वाले को (पर्वतेष्ठाम्) पर्वत=मेघ पर स्थित [इन्द्र को।] यह भी निगम होता है।

११ अस्कृधोयु=अकृ+आयु=न अल्प आयु वाला। कृधु यह ह्रस्व= अल्प का नाम है। निकृत्तम्=कटा हुआ होता है। (य) जो (अस्कृधोयु) न अल्प आयु वाला=चिर स्थायी (अजर) न जीर्ण होने वाला (सुवीरम्) सुख वाला [धन है तम् ईमहे=उसे हम चाहते हैं।] यह भी निगम होता है।

१२ निश्रम्भा=निश्रथ्य हारिण=अशिथिल गति से ले जाने वाले॥ ३॥

भाष्य—अन्तरिक्षस्थ राक्षस और उसके मूल का ज्ञान आवश्यक है। वह मेघ आदि असुर नहीं हो सकता। उस का मन्त्र और प्रथम भी जानना चाहिए। राक्षसों का अमीरा=दीन से सम्बन्ध अवश्य है। यथाऽऽह द्विषो रक्षसी अमीरा। तै० स० ४। १। १ ॥ ब्रह्मद्विषे वेद और ब्राह्मण द्वेषी को

पति अभीष्ट है । आज संसार में ज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानता से ही लोग मद्धद्वेषी हो रहे हैं । (स्तलूकम्) लोभ से सृष्टि में मानव का दुःख बढ़ता है । यह लोभ त्रेता युग से सारी कलह का प्रधान कारण बन रहा है । वीरुधः— उद्भिज्जों का जो वर्गीकरण है, तदनुसार इन के चार भेद हैं—ओषधि, वनस्पति, वीरुध और वृक्ष । पर इस मन्त्र में वीरुध भी ओषधि माने गए हैं । ऐसा क्यों । वीरुधः पद के प्रयोग के नियमों पर सूक्ष्म विचार की आवश्यकता है । इन्द्र समीप पहुंच कर मारता है, नक्षद्दाभं, इस का भाव जानना चाहिए ॥ ३ ॥

आजासः पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम् ।
देवं वहन्तु बिभ्रतः ॥ [ऋ० ६ । ५५ । ६ ॥]

आवहन्त्वजाः पूषणं रथे । निश्रथ्यहारिणस्ते । जनश्रियं जातश्रियम् ।

नृदुक्थो महदुक्थः । वक्तव्यमस्मा उक्थमिति । वृत्रदुक्थो वा ।

वृत्रदुक्थं हवामहे । [ऋ० ८ । ३२ । १० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

ऋदूदरः सोमः । मृदूदरः । मृदुरुदरेष्विति वा ।

ऋदूदरेण सख्या सचेय । [ऋ० ८ । ४८ । १०]

इत्यपि निगमो भवति ।

ऋदूपे इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ।

पुलुकामः पुरुकामः ।

पुलुकामो हि मर्त्यः । [ऋ० १ । १७९ । ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

असिन्वती असङ्खादन्त्यौ ।

असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः । [ऋ० १० । ७९ । १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

कपनाः कम्पनाः । क्रिमयो भवन्ति ।

मोर्षुया वृक्षं कृपने वेधसः । [ऋ० ४ । ५४ । ६ ॥]
इत्यपि निगमो भवति ।

माकृजीक । प्रसिद्धभा ।

धूमकेतुः समिधा भाकृजीकः । [ऋ० १० । १२ । २ ॥]
इत्यपि निगमो भवति ।

रुशन्तो भवन्ति । रुजन्ति कुलानि ।

सं रुशन्तो पिपिषु इन्द्रशत्रुः । [ऋ० १ । ३२ । ६ ॥]
इत्यपि निगमो भवति ।

जूर्णिर्जवनत्वा । द्रुवत्वा । दुमोहत्वा ।

क्षिप्रा जूर्णिर्न वक्षति । [ऋ० १ । १२६ । ८ ॥]
इत्यपि निगमो भवति ।

परि प्रसमीमनां वा षयो गात् । [ऋ० ७ । ६६ । ४ ॥]
पर्यगाद्वा प्रसमहरवनायायम् ॥ ४ ॥

अर्थ -(आ) (अजासः) अजा =पूपन के अश्व (पूषणम्) पूषा को (रथे) रथ मे (निश्रुम्भा) अनिथिल गति से ले जाने वाले=शाघ्र गामी [अश्व] (जनश्रियम्) दीप्त (देवम्) देव [पूषा] को (आवहन्तु) वहन कर के लावें (विभ्रत) सम्यक् धारण करते हुए ।

आवहन्तु=लावे अजा पूपा के अश्व पूषण को रथ मे निथथ्य+ दारिए-विना विश्राम=अशिथिल गति से वहन करने वाले वे ऐसे [अश्व] । जनश्रियम्=उत्पन्न हुई श्री=दीप्ति वाले को ।

१३ वृवदुक्थ =महत्+उक्थ =महान स्तोत्र वाला । कहना चाहिए (अस्मै) इस के लिए उक्थ अथवा वृवदुक्थ यह [है ।]

(वृवदुक्थम्) वृहत् उक्थ=स्तोत्र वाले [इन्द्र] को (हवामहे) हम बुलाते हैं । यह भी निगम होता है ।

१४. ऋदूदरः=सोमः=ऋदु=मृदु उदर वाला। मृदु उदरों में [हो] अथवा॥ (ऋदु उदरेण) मृदु उदर वाले (सख्या) सखा सोम से (सचेय) संगत होऊं। यह भी निगम होता है।

१५. ऋदूपे, यह ऊपर=आगे [६ । ३३ में] व्याख्या करेंगे।

१६. पुलुकामः=पुरुकामः=बहुत कामनाओं वाला। (पुलुकामः) बहुत कामनाओं वाला निश्चय से (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य होता है। यह भी निगम होता है।

१७. असिन्वती=अ+सम्+खादन्त्यौ=नहीं अच्छे प्रकार खाती हुईं, [प्रत्युत चूर्ण करती हुईं।] (असिन्वती) न खाती हुईं भी मानो चूर्ण करती हुईं (बप्सती) खाती हुईं (भूरि) बहुत (अत्तः) खा लेती हैं, [अन्य देवों का भाग भी, ये अग्निः के ज्वाला रूपी हनू।] यह भी निगम होता है।

१८. कपनाः=कम्पनाः=कांपते वा कंपाते हुए। क्रिमयः घुण रूपी कृमि॥ (मोषथा)=मुष्णीथ=चुराओ=निरुदक करो (वृक्षं कपना इव) वृक्ष को जैसे कपना=घुण आदि क्रिमि निस्सार वा निरुदक करते हैं (वेधसः) मेधावी अर्थात् ज्ञान से बींधने वाले, [वैसे हे मरुतः, उदकवान् मेघ को।] यह भी निगम होता है।

१९. भाऋजीकः=प्रसिद्ध भाः=कोमल, सरल, प्रसिद्ध दीप्ति वाला॥ (धूमकेतुः) धूम के केतु वाला समिधा से प्रसिद्ध दीप्ति वाला। यह भी निगम होता है।

२०. रुजानाः, नदियां होती हैं। रुजन्ति=तोड़ती हैं किनारों को॥ (रुजानाः) नदियों को (सं पिपिषे) पीस डाला (इन्द्रशत्रुः) इन्द्र है शातयिता जिस का, उस वृत्र ने। यह भी निगम होता है।

२१. जूर्णिः, जवति से अथवा। गति करता है। द्रवति से अथवा। बहता है। दूनोति से अथवा। तापित करता है, मारता है। [सेना वा शक्ति : अर्थ है।] (क्षिप्ता) फेंकी हुई (जूर्णिः) शक्ति वा [युद्ध क्षेत्र में झोंकी हुई] सेना, (न वदाति) नहीं प्राप्त होती। यह भी निगम होता है।

२२. ओमना=[अवनाय, अवनेन वा ।] (द्य सम्) प्रति दिन (ओमना) रक्षा द्वारा (वाम्) तुम दोनो [अश्वियो] को, (वय) [हविर्लक्षण] अन्न (परि गात्) सब ओर से प्राप्त होता है ॥ परि+अगात्=प्राप्त होता है. वाम्=तुम दोनो को [रक्षा द्वारा] द्य सम्=अहं, दिन दिन । अवनाय=रक्षा के लिए अन्न ॥ ४ ॥

भाष्य—अजा रूप में हैं पूषा के अश्व । गति में वे थकते नहीं अन अविश्राम चलते हैं । करना", ये कैसे कृमि हैं, यह भेद जानना चाहिये । दुर्ग और स्कन्द ने काष्ठ के घुण का संकेत दिया है । धूमकेतु यह शब्द अग्नि विषयक है । पर धूमकेतु नामक केतु से इस का सम्बन्ध अन्वेषणीय है । रुजाना, किन नदियों को वृत्र ने पीसा, यह ज्ञातव्य है । जूर्णि, यह किसी शक्ति रूपी आयुध का वाची है, यह भी अन्वेषणीय है ॥ ४ ॥

उपलप्रक्षिणी । उपलेषु प्रक्षिणाति । उपलप्रक्षेपिणी वा ।

[इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ । दुर्भिक्षे केन जीवतीति । तत्रामेक प्रत्युवाच ।

शकटं शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम् ।

उदधिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तयः ॥

इति सा निगदव्याख्याता] ॥ ५ ॥

अर्थ—२३ उपलप्रक्षिणी, उपल=पत्थर वालुका पर प्रक्षिणी=प्रक्षिणाति=पीसने वाली । उपलो पर [भूनने वा पीसने के लिए] प्रक्षेपण करने वाली अथवा=सत्तू बनाने वाली । [मानव=पृथिवी पर के] इन्द्र ने [सप्त] ऋषियों से पूछा । दुर्भिक्ष [के दिनों] में [मनुष्य] किस [उपाय से] जीता है । उन [सप्त ऋषियों] में से एक ने प्रत्युत्तर दिया । शकटम्=छकड़ा शाकिनी=[जगली] शाक वाली भूमि, गौएं, जाल अस्यन्दनम् बहने जल का रोकना, वन, समुद्र, पर्वत और राजा [ये] दुर्भिक्ष मे नौ जीवनोपाय [हैं ।] यह [कारिका] पाठ मात्र से व्याख्या की गई है ॥ ५ ॥

भाष्य—इन्द्र ऋषीन् "से इस खण्ड के अन्त तक का पाठ निरुक्त के लघु पाठ में नहीं है । दुर्ग और स्कन्द की टीकाओं में भी यह पाठ नहीं है । दुर्ग जम्बू

मार्ग आश्रम वासी था। स्कन्द वलभी का रहने वाला था। इस प्रकार ये दोनों सौराष्ट्र के हैं, और इन का निरुक्त लघुपाठ का है। महाराष्ट्र पाठ दीर्घ अथवा बृहत्पाठ में है। उस में उपस्थित पाठ विद्यमान है। अतः यह पाठ तत्काल त्याज्य नहीं। बृहत्पाठ के अनेक अधिक पाठ निरुक्त का निर्विवाद अङ्ग हैं। इसी खण्ड के अगले छठे खण्ड के अन्त में च्चोणस्य, से आरम्भ हो कर खण्डान्त तक का पाठ लघुपाठ में नहीं है। परन्तु यह निरुक्त का आवश्यक अङ्ग है। कारण स्पष्ट है। निघण्टु ४। ३ में २८ संख्या वाला पद च्चोणस्य है। उस का व्याख्यान यास्क ने अवश्य किया है। अतः यह निरुक्त का प्रामाणिक पाठ है। उसी प्रकार संभवतः यास्क ने ही यह दीर्घ पाठ पढ़ा है। बृहद्देवता ६। १२८ के एक पाठ में यही कारिका पठित है। पर इस पद्य में एक अल्पा कठिनाई है। इस पाठ का यहां दूर का ही प्रसङ्ग दिखाई देता है। यह कठिनाई अगले खण्ड के भाष्य के आरम्भ में स्पष्ट कर दी गई है। यदि यह पाठ प्राचीन पाठ है, जैसा कि बहुत संभव है, तो एक सत्य पद्य अधिक सुदृढ होता है।

शकटं शाकिनी—पाठ छागलेय स्मृति का वचन है। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार वीरमित्र ने इसे छागलेय वचन मान कर उद्धृत किया है।[1] तथाच वीरमित्र के पूर्ववर्ती लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ्य काण्ड, पृ० २२३ पर भी यह कारिका छागलेय के नाम से ही उद्धृत की है। मूल में यह सप्तर्षियों के चित्रशिखण्डी धर्मशास्त्र में थी। इसी लिए—इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ, पाठ में ऋषीन् बहुवचनान्त है ॥ ५ ॥

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥
[ऋ० ९। ११२। ३ ॥]

कारुरहमस्मि। कर्ता स्तोमानाम्। ततो भिषक्। तत इति सन्ताननाम। पितुर्वा पुत्रस्य वा। उपलप्रक्षिणी सक्तुकारिका। नना नमतेः। माता वा दुहिता वा। नानाधियो नानाकर्माणः। वसूयवो वसुकामाः। अन्वास्थिताः स्मो गाव इव लोकम्। इन्द्रायेन्दो परिस्रव। इत्यध्येषणा।

---

1. चौखम्बा संस्करण, पृ० ८२२।

आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति । [ऋ० १०-७।१२ ॥] उपस्थे

प्रकलविद् वणिग्भवति । कलाश्च वेद प्रकलाश्च ।

दुर्धर्षनामः प्रकलविन्मिमाना । [ऋ० ७ । १८ । १५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अभ्यर्धयज्वाभ्यर्धयन् यजति ।

सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा । [ऋ० ६ । ५० । ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

ईक्ष ईशिषे ।

ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन् । [ऋ० ६ । १९ । १० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

क्षोणस्य क्षयणस्य ।

महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय । [ऋ० १ । ११७ । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(कारु अहम्) कर्ता [हू] स्तोमों का मै (ततः) [सन्तान नाम यह] पिता या पुत्र (भिषक्) भेषजकृत् [यज्ञ का अर्थात् ब्रह्मा] [है] (उपलप्रक्षिणी) सत्तू [=धाना आदि सवनीय सामग्री को] बनाने वाली (नना) माता [है ।] (नानाधियः) नाना कर्मों वाले (वसूयवः) धन की कामना वाले (इव) गौओं के समान (अनु तस्थिम) [हम] ठहरे हुए हैं [जैसे गौएँ दूध आदि दे देने के कर्म में बाधा नहीं डालता, वैसे हम परोपकार के लिए ठहरे है ।]

इन्द्र के लिए (इन्दो) हे सोम (परिस्रव) [वैसे तू भी परोपकार के लिए] बह ॥ कारु मैं हू । कारु=कर्ता स्तोमों का । तत=यह सन्तान का नाम है । पिता का अथवा पुत्र का । [ये] भिषक् हैं । उपल प्रक्षिणी=

सत्तु बनाने वाली । नना=नमति से [है ।] माता अथवा दुहिता अथवा । नानाधियः=नाना कर्मों वाले । वसूयवः=वसु=धन की कामना करने वाले । अनु+आस्थिताः स्मः=वैसे ठहरे हुए हैं, जैसे गौएं लोक में । इन्द्र के लिए हे सोम, वह । यह अध्येषणा=प्रार्थना है ।

२४. उपसि । (आसीनः) बैठा हुआ (ऊर्ध्वाम्) ऊपर की (पृथिवी अन्तरिक्ष) पर (उपसि)=उपस्थे=निकट में [इन्द्र] क्षिणाति=नाश करता है [शत्रुओं का ।] उपस्थे=निकट में ।

२५. प्रकलवित्=वणिक्=बनियां होता है । प्र+कल कला तथा प्रकला को [व्यवहार के मान, उन्मान प्रतिमान को] वेद=जानता है ॥ (दुर्मित्रासः) दुष्ट मित्र=धन-परायण मित्र (प्रकलवित्) वणिक् के समान (मिमानाः) [सुवर्ण आदि को ध्यान से] मापते हुए [न दे सकने वाले से मैत्री त्यागते हैं ।] यह भी निगम होता है ।

२६. अभ्यर्धयज्वा=बढ़ा कर देता है ॥ (सिषक्ति) [रश्म्याहृत रस अथवा प्राण से] सेवता है (पूषा) देव पूषा (अभ्यर्धयज्वा) बढ़ा कर देने वाला । यह भी निगम होता है ।

२७. ईक्षे=ईशिषे । (ईक्षे) शासन करता है । (हि) क्योंकि (वस्वः) धन का (उभयस्य) [मानुष और दिव्य] दोनों प्रकार के, (राजन्) हे राजन् [इन्द्र ।] यह भी निगम होता है ।

२८. क्षोणस्य=क्षयणस्य=निवास=घर ॥ (महः) महत् (क्षोणस्य) निवास (अश्विना) हे अश्विद्वय [तुम ने] (कण्वाय) कण्व के लिए [अदत्तम्=दिया] ।

भाष्य—कारुः, इस ऋक् का ऋषि शिशुः आङ्गिरस है । एक शिशुः आङ्गिरस मानव ऋषि था । उस का वर्णन मनुस्मृति में है । दूसरा शिशुः दिव्य है । इस ऋक् में अहम् का संकेत उसी दिव्य ऋषि की ओर है । मानव आङ्गिरस उस का आरोप अपने में करता है । उस के विषय में एक आख्यान स्कन्द ने इस खण्ड की निरुक्तवृत्ति में दिया है । शिशुराङ्गिरसः । तस्यार्षम् । स हि दुर्भिक्षानन्तरं प्रवृत्तसोमयागः सन्……अनेन किलाध्येषणां चक्रे ।

दुर्भिक्ष का सङ्केत निरुक्त के पूर्व खण्ड में है। संभव है खण्ड ५ और ६ के पाठक्रम में कुछ विपर्यास हो। अग्नाश्रिता स्मो गार इव लोकम्। गौ का ससार पर महान् उपकार है। दूध तो बकरी और भैंस आदि भी देती है, पर सोम मिश्रित दुग्ध गौ का ही है। गौ का मूत्र और गोबर भी सोमयुक्त है। और गौ उस के देने में बाधा नहीं डालती। यह परोपकार का उत्कृष्टतम रूप है। ऐसा परोपकार हमें सीखना चाहिए।

प्रकलविद्। वाणिज्य में भी कलाएं और उपकलाएं मान आदि में होती हैं। उन का ज्ञान आवश्यक होता है। मणियां, सुवर्ण और धान्य आदि भिन्न भिन्न मान कलाओं से मापे तोले जाते हैं। ईंते वस्त्व, का शासन इन्द्र करता है। अत पृथिवी पर के धन के शासन के लिए राजा नियम बनाता है। ये नियम राष्ट्र रक्षा का साधन होते हैं। कदएराय, यह कथन भी दिव्य है, मानुष नहीं ॥ ६ ॥

अस्मे ते बन्धुः। [यजु० ४। २२ ॥] वयमित्यर्थः।

अस्मे यातं नासत्या सजोषाः। [ऋ० १। ११८। ११ ॥]

अस्मानित्यर्थः।

अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः। [ऋ० १। १६५। १० ॥]

अस्माभिरित्यर्थः।

अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्। [ऋ० ३। ३६। १० ॥]

अस्मभ्यमित्यर्थः।

अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु। [ऋ० ६। ४७। १३ ॥]

अस्मदित्यर्थः।

ऊर्वे इव पप्रथे कामो अस्मे। [ऋ० ३। ३०। १९ ॥]

अस्माकमित्यर्थः।

अ॒स्मे ध॑त्त वसवो॒ वसू॑नि । [यजु० ८ । १८ ॥]

अस्मास्वित्यर्थः ।

पाथोऽन्तरिक्षम् । पथा व्याख्यातम् ।

श्ये॒नो न दीय॒न्नन्वे॑ति॒ पाथः॑ । [ऋ० ७ । ६३ । ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

उदकमपि पाथ उच्यते । पानात् ।

आ च॑ष्ट आसां॒ पाथो॑ न॒दीना॑म् । [ऋ० ७ । ३४ । १० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अन्नमपि पाथ उच्यते । पानादेव ।

दे॒वानां॒ पाथ॒ उप॑ वक्षि वि॒द्वान् । [ऋ० १० । ७० । १० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

सवीमनि प्रसवे ।

दे॒वस्य॑ व॒यं स॑वि॒तुः सवी॑मनि । [ऋ० ६ । ७१ । २ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

सप्रथाः सर्वतः पृथुः ।

त्वम॑ग्ने स॒प्रथा॑ असि । [ऋ० ५ । १३ । ४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

विदथानि वेदनानि ।

वि॒दथा॑नि प्र चो॒दय॑न् । [ऋ० ३ । २७ । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—२६. अस्मे । [यही एक रूप सातों विभक्तियों में] (अस्मे)= वयम्, हम, तेरे बन्धु [हैं ।] (अस्मे)=अस्मान्, हम को, (आ यातम्)

आओ (नासत्या) हे अश्विद्वय (सजोषा=सजोषसौ) प्रीति वालो ! (अस्मे)=अस्माभिः, हमारे [=मरुतो के] साथ (समानेभिः) अपने समान वालों के साथ (वृषभ) हे वर्षित=इन्द्र, (पौंस्येभिः) बल वालों के साथ। (अस्मे)=अस्मभ्यम्=हमारे लिए (प्र यन्धि)=प्रयच्छ=दो (मघवन् ऋजीषिन्) धन वाले, सतमार सोम वाले । (अस्मे)=अस्मद् =हम से (आरात् चित्) दूर [चित्] भी (द्वेषः) द्वेषी को (सनुतः) छिपे-छिपे (युयोतु) पृथक् कर ॥ (ऊर्वे इव) बड़वाग्नि के समान (पप्रथे) विस्तार पकड़तो है (कामः) कामना (अस्मे)=अस्माकम्= हमारी । (अस्मे)=अस्मासु=हम में (धत्त) रक्खो (वसवः) हे वसुओ (वसूनि) धनों को।

३० पाथ, अन्तरिक्ष [है ।] पथा=पन्था से व्याख्या किया गया है। (श्येनः इव) श्येन के समान (दीयन्)=आद्रवन्=आते हुए=उड़ते हुए (अन्वेति) पोछे जाता है (पाथः) अन्तरिक्ष को। यह भी निगम होता है।

उदक भी पाथ कहा जाता है। पीने से । (आ चष्टे) देखता है (आसाम्) इन के (पाथ) उदक को (नदीनाम्) नदियों के । यह भी निगम होता है।

अन्न भी पाथ कहा जाता है। पोने से हो । (देवानाम्) देवों के (पाथः) अन्न को (उप वक्षि) पास वहन कर=ले जा (विद्वान्) जानता हुआ। यह भी निगम होता है।

३१ सवीमनि=प्रसवे=अभि अनुज्ञा में । (देवस्य) देव परमात्मा की हम (सवितुः) सकल जगत् उत्पादक की (सवीमनि) अनुज्ञा में। यह भी निगम होता है।

३२ सप्रथाः=सब ओर (पृथु) फैला हुआ । (त्वम् अग्ने) तू हे अग्ने, सब ओर फैले हुए हो। यह भी निगम होता है।

३३ विदथानि=वेदनानि=विज्ञानों को। विज्ञानों को (प्रचोदयन्) प्रेरित करता हुआ। यह भी निगम होता है ॥ ७ ॥

भाष्य—एक ही अस्मे पद सातों विभक्तियों का अर्थ कैसे देता है, इस का एक परिणाम स्पष्ट है कि भाषा में पद प्रधान नहीं है, प्रत्युत वाक्य प्रधान है ।

अतः वेदार्थ के जानने में मन्त्र और निगमों का ही अधिक साहाय्य है । और इन के अर्थ में अटूट परम्परा की महती सहायता है । इसी अटूट परम्परा का स्रोत आर्ष ग्रन्थ हैं । ऊर्व=वडवाग्निः । इसे ही ऋ० ८ । १०२ । ४ में अग्निं समुद्रवाससम्, कहा है । पराशर की ज्यौतिष संहिता का वचन अद्भुत सागर पृ० २६१ पर उद्धृत है । वह है—अतः परं महार्णवो यत्रौर्व-कोपजो[1] ऽग्निः वडवामुखः । भवभूति रचित उत्तररामचरित नाटक ५ । ६ में इसे—वडवावक्त्रहुतभुक्, कहा है । वायु पुराण अ० २६ में श्लोक है—

पुत्रः सोऽग्नेर्मन्युमतो घोरः संवर्तकः स्मृतः ।
पिबन्नपः स वसति समुद्रे वडवामुखः ॥ ३३ ॥

इस ऊर्व अग्निः के वडवामुख नाम का कारण है । समुद्र के नीचे जो ऊर्व अग्निः के पर्वत हैं, उन का समुद्र तल में खुलने वाला मुख वडवा मुख के समान होता है । उस मुख के छिद्र से समुद्र जल नीचे नहीं जाता । पर जब ऊर्व अग्निः अन्दर से निकलता है, तो वह समुद्र जल को चीरता और सुखाता हुआ ऊपर तक आ जाता है । वडवामुख का भाव दुर्ग के लेख से भी स्पष्ट होता है—यथा वडवामुखे ऽवस्थित ऊर्वो ऽग्निः अपः पिबन् । मन्त्र के अनुसार यह ऊर्व अग्निः फैलता है । आदित्य की गति को श्येन की गति से उपमा दी है ।

आयन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥
[ऋ० ८ । ६६ । ३ ॥]

समाश्रिताः सूर्यमुपतिष्ठन्ते । अपि वोपमार्थे स्यात् । सूर्यमिवेन्द्र-मुपतिष्ठन्त इति । सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्ष्यमाणाः । स यथा धनानि विभजति जाते च जनिष्यमाणे च । तं वयं भागमनुध्यायाम् । ओजसा बलेन । ओज ओजतेर्वा । उब्जतेर्वा ।

आशीराश्रयणाद्वा । आश्रपणाद्वा । अथेयम् इतराशीराशास्तेः ।
इन्द्राय गाव आशिरम् । [ऋ० ८ । ६६ । ६ ॥]
इत्यपि निगमो भवति ।

---

१. और्व कोष को भी जानना चाहिए । कोष ग्रन्थों में समुद्राग्नि को 'और्वक्रोधज' कहा है । अतः सम्भव है यहां 'और्वक्रोधजः' शुद्ध पाठ हो ।

सा मे सत्याशीर्देवेषु । [तै० स० ३ । २ । ७ ॥] इति वा ।

यदा ते मर्तो अनु भोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः ।

[ऋ० १ । १६३ । ७ ॥]

यदा ते मर्तो भोगमन्वापदथ ग्रसिष्ठतम ओषधीरगारी । जिगर्ति गिरतिकर्मा वा । [गृणातिकर्मा वा ।] गृह्णातिकर्मा वा ।

मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से ॥

[ऋ० १० । ४ । ४ ॥]

मूढा वयं स्मः । अमूढस्त्वमसि । न वयं विद्मो महत्त्वमग्ने । त्वं तु वेत्थ ।

शशमानः शंसमानः ।

यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति । [ऋ० १ । १५१ । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

देवो देवाच्या कृपा ॥ [ऋ० १ । १२७ । १ ॥]

देवो देवान्प्रत्यक्तया कृपा । [कृप् कृपतर्वा । कल्पतर्वा] ॥ ८ ॥

अर्थ—३८ श्रायन्त=समाश्रिता=आश्रय लिए हुए मानो [रश्मि समूह] (सूर्यम्) सूर्य के [पास आते हैं ।] (विश्वा इत्) सारी (इन्द्रस्य) इन्द्र के [धनों को] (भक्षत) विभागों म करते हैं=बांटते हैं । (वसूनि) [आरे कूर मे रहे] धनों को । (जात) उत्पन्न हुए (जनमाने) [तथा] उत्पन्न होने वाले म (ओजसा) बल से । (प्रति भागम्) उस भाग को [हम] (न) अनर्थक अथवा अनु (दीधिम) अनु दीधिम=ध्यान करते हैं।

समाश्रिता=आश्रय लिए हुए सूर्य के समीप आते हैं । [इव, इस अर्थ म अनर्थक है ।] अपि वा=अथवा=[यह इव पद] उपमा के अर्थ मे होवे । सूर्य के समान इन्द्र को उपतिष्ठन्ते समीप आते हैं । सारे इन्द्र के धनों को (विभक्षमाणा) बांटना चाहते हुए । वह [सूर्य अथवा इन्द्र] धनों को विभाग करता है उत्पन्न हुए और उत्पन्न होने वाले मे । उस हम भाग को (अनु ध्यायाम) ध्यान म करें ओजसा=बल से । ओज ओजतेः से अथवा । उब्जतेः से अथवा ।

३५. आशीः=आश्रयणात्=मिलाए जाने से [सोम के साथ] अथवा। आश्रपणात्=किञ्चित् पकाने से और इयम् इतरा=यह दूसरी [प्रार्थना रूपी] आशीः [आशीः=आशीष वाली] आशास्ति से [है।] (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (गावः) गौएं (आशिरम्) [सोम के मिलाने के लिए] दूध [दुदुह्रे=दुहाती हैं।] यह भी निगम होता है ॥ (सा) वह मेरी (सत्य आशीः) सत्य आशा (देवेषु) देवों में [पहुँचे।] यह भी।

३६. अजीगः=[निगरण=निगलना अथवा ग्रहण करता है।] जब तेरे (मर्तः) मनुष्य (भोगम्) भोग को (अनु आनट्) प्राप्त होता है=[तुझ अश्व का वाहन करता है] (आत् इत्) तब ही (ग्रसिष्ठः) बहुत खाने वाला हो कर (ओषधीः) ओषधियों को [तू] (अजीगः) निगलता है। जब तेरे [हे अश्व] मनुष्य भोग को अनु आपत्=प्राप्त होता है, अथ=तत्र ग्रसितृतमः=अत्यन्त खाने वाला [तू] ओषधियो को अगारीः= निगलता है। जिगर्तिः=गिरति खा जाता है, अर्थ वाला अथवा। गृणाति= शब्द करता है अर्थ वाला अथवा। गृह्णाति=ग्रहण करता है अर्थ वाला अथवा।

३७. अमूरः=अमूढः। (मूराः) मूढ [हम]. (अमूर) हे अमूढ (न वयम्) नहीं हम [जानते] (चिकित्वः) हे चेतन (महित्वम्) माहात्म्य [तेरा] (अग्ने) हे अग्ने, (त्वम् अङ्ग) तू ही (वित्से) जानता है ॥ हम मूढ हैं, अमूढ तू है। नहीं हम जानते महत्त्व [तेरा हे] अग्ने। तू ही जानता है।

३८. शशमानः=स्तुति करता हुआ। जो (वाम्) तुम दोनों को [हे मित्र और वरुण] (यज्ञैः)) यज्ञों द्वारा (शशमानः) स्तुति करता हुआ, (दाशति) देता है। यह भी निगम होता है।

३९. देवो देवाच्या कृपा=[निघण्टु मे एक साथ पढ़े गए तीन पद]= (देवः) दिव्य गुण युक्त (देवाच्या) देवों के प्रति प्राप्त हुई, (कृपा) सामर्थ्य से। देवः=देव, देवों को अक्तया=पहुँची हुई सामर्थ्य से। कृप्, कृपति से अथवा। कल्पति से अथवा ॥ ८ ॥

भाष्य—रश्मि सूर्य के समीप आते हैं। कहां से आते हैं। किस शक्ति के बल से आते हैं। ये गम्भीर प्रश्न हैं। इस का उत्तर वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों से

मिल सकेगा । दूसरे अर्थ में यह भी बताया है कि रश्मि ही इन्द्र के समीप भी आते हैं । किस लिए आते हैं । इस का उत्तर इसी मन्त्र में है । इन्द्र के अथवा सूर्य के धनों के विभाग में सहायक होने के लिए । इन्द्र अथवा सूर्य का धन क्या है । इन दोनों का धन आप परमाणु हैं । वे ही विभक्त होते रहते हैं । जातं च जनिष्यमाणं च । उत्पन्न हुए और उत्पन्न होने वाले । उस धन का विभाग होता है । प्रतिभागाः=उस भाग का हम स्पर्श करते हैं । यह मन्त्र परम गम्भीर तत्त्वों का संकेत कर रहा है । इस वेदविद्या पर पूरा प्रकाश पड़ना चाहिए ।

इन्द्राय गाव=अन्तरिक्षस्थ गौएं कौन सा दूध देती हैं जो सोम में मिलता रहता है । यह ज्ञातव्य है । चिकित्वान् अग्ने । हे चेतन प्रकाश स्वरूप अग्ने । यह स्पष्ट परमात्मा का वर्णन है । यज्ञैः शशमाने । यज्ञों के द्वारा मित्र और वरुण की स्तुति होती है । ये दैवी यज्ञ हैं । इन्हीं के अनुकरण पर पृथिवी के यज्ञ भी होने लगे थे । देवो देवाच्या कृपा । ये तीनों पद निघण्टु में एक साथ क्यों पढ़े गए इस विषय में अन्त की ऊहा द्रष्टव्य है ॥ ८ ॥

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात् ।
अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम् ॥

[ऋ० १ । १०९ । २ ॥]

अश्रौषं हि बहुदातृतरौ वाम् । विजामातुः । असुसमाप्ताज्जामातुः । विजामातेति शश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते । असुसमाप्त इव वरोऽभिप्रेतः । जामाता । जा अपत्यम् । तन्निर्माता । उत वा घा स्यालात् । अपि च स्यालात् । स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः । स्यात् लाजानावपतीति वा । लाजा लाजतेः । स्यं शूर्पं स्यतेः । शूर्पमशनपवनम् । शृणातेर्वा । अथ सोमस्य प्रदानेन युवाभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि [नव्यम्] नवतरम् ।

ओमासश्चर्षणीधृतः [नि० १२ । ४०] व्याख्यास्यामः ॥ ९ ॥

अर्थ—हे विजामातुः । [कुम्भ कहता है] (अश्रवम् हि) सुना क्योंकि [मैंने] (भूरिदावत्तरा) बहुत अधिक दान वाले (वाम्) तुम दोनों को (विजामातुः) विजामाता से [स्कन्द—विगता जामातृगुणा

यस्य सः] (उत वा घ) अपि च (स्यालात्) साले से । (अध) अब (सोमस्य) निकाले गए सोम के (प्रयती) प्रदान के साथ (युवभ्याम्=युवाभ्याम्) तुम दोनों के लिए (इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी (स्तोमम्) स्तोम को (जनयामि) उत्पन्न करता हूँ (नव्यम्) नए को ॥ सुना हि=क्योंकि बहुत अधिक देने वाला तुम दोनों को, विजामाता से असुसमाप्तात्=नहीं युक्त रूप से समाप्त=पूर्ण हुए जामाता से । विजामाता, यह शश्वत्=नित्य दाक्षिणाजाः=दक्षिणस्यां दिशि अजायन्त=दक्षिण देश में जन्मे क्रीतापतिम्=खरदी हुई के पति को कहते हैं । नहीं युक्त रूप से पूर्ण हुए के समान वर अभिप्रेत है [गुणहीन को स्त्री नहीं मिलती, अतः वह खरीदता है ।] जा+माता, जा=अपत्यम्=पुत्र आदि सन्तान तत् निर्माता= उस का बनाने वाला । अपि च साले से । स्यालः, आसन्नः=निकट ठहरता है, संयोगेन=सम्बन्ध से यह नैदाना=निदान शास्त्र ज्ञाता कहते हैं। स्यात्=शूर्प से लाजान्=लाजाओं को आवपति=देता है [भगिनी के विवाह के समय होमार्थ] अथवा। लाजाः, लाजति=राजति से, शोभा देती हैं। स्यम्= शूर्प=छाज [है ।] स्यति से । शूर्पम्=अशन=अन्न का पवनम्=पावक= शोधक । शृणाति से अथवा । अब सोम के प्रदान के साथ । तुम दोनों के लिए हे इन्द्राग्नी स्तोम को उत्पन्न करता हूं नूतनतर को।

८१. ओमासः । यह आगे [१२ । ४०] में व्याख्या करेंगे । ९ ॥

भाष्य—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १०६ सूक्त आङ्गिरस कुत्स का सूक्त है । वह इन्द्र का सखा है । ऋ० १ ९४-९८ तथा १ । १०१-१०४ कुत्स के सूक्त हैं । १ । १०५ का त्रित वा कुत्स ऋषि है । मन्त्रों के अनुसार ये दोनों कूप में पतित हैं । कूप दिव्य है। सायण ने यह वृत्तान्त अपने ऋग्भाष्य सूक्त १०५ की भूमिका में सप्रमाण स्पष्ट कर दिया है । एकत, द्वित और त्रित—अद्भ्यो ऽजायन्त [तै० ब्रा० ३ । २ । ८ । १०-११] अर्थात् आपः से उत्पन्न हैं । सायण ने तै० ब्रा० का प्रमाण दे कर भी इस दैवी माया को पूर्णतया नहीं समझा । इसी लिए उस के भाष्य में त्रित विषयक मन्त्रों के भाष्य में ऐतिहासिक झलक दिखाई देती है । कुत्स आङ्गिरस है । अतः वह आग्नेय है । त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः । ऋ० १ । ३१ । १ ॥ अर्थात् आग्नेय परमाणुओं का कोई रूप अङ्गिरा ऋषि है । कुत्स और त्रित के आख्यान दैवी जगत् से

सम्बन्ध रखते हैं। मन्त्र (ऋ० १ । १०६ । ६) स्वयं कहता है कुत्स ऋषि है [1] वह दिव्य कुत्स—स्तोम जनयामि नव्यम् नव्य स्तोमों का जनयिता है। उसी के नाम पर लौकिक ऋषि का नाम कुत्स हुआ। इस लौकिक के कुल में आगे कौत्स हुए। यदि कोई कहे कि कुत्स और त्रित आदि के दिव्य होने वाला पक्ष उस की समझ में नहीं आता, तो उसे किसी वैदिक विद्वान् स वेद्विद्या की ये आधार भूत बातें सीखनी चाहिएं। विजामाता और स्याल' का उदाहरण लोक में से है। दाक्षिणाजा । तुलना करें, निरुक्त ३। २—दाक्षिणाजी । यास्क दक्षिणा के स्थान में दाक्षिणा रूप का प्रयोग करता है। यह ध्यान देने योग्य है। क्रीतापति, खरीदी हुई स्त्री का पति हीन होता है, यह स्पष्ट है। कन्या विक्रय निन्दित क' है। युवभ्याम्=युवाभ्याम्। वेद का व अक्षर के साथ ह्रस्व अकार का प्रयोग स्पष्ट है।

सोमानं॒ स्वर॑णं कृणु॒हि ब्र॑ह्मणस्पते। क॒क्षीव॑न्तं॒ य औ॑शि॒जः ॥
[ऋ० १ । १८ । १ ॥]

सोमान सोतार प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पत कक्षीवन्तमिव य औशिज । कक्षीवान्कक्ष्यावान् । औशिज उशिज पुत्र । उशिग्वष्टे- कान्तिकर्मण' । अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेत स्यात् । तं सोमान सोतार मा प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पत ॥ १० ॥

अर्थ—४२ सोमानम्। (सोमानम्) सोम के बहाने वाले को (स्वरणम्) प्रकाश वाला (कृणुहि) करो (ब्रह्मणस्पत) हे वेद के पति=पालक, रक्षक। (कक्षीवन्तम्) कक्षीवान् को (य) जो (औशिज) उशिज् का पुत्र है ॥ सोमानम्=सोम के बहाने वाले को प्रकाशवान् करो हे ब्रह्मणस्पत कक्षीवान के समान जो औशिज है । कक्षीवान्= कक्ष्यावान्=कक्ष्या वाला । औशिज=उशिज का पुत्र । उशिक्=वशि= कामना करता है, ॥ [है ।] और भी अयम्=यह मनुष्य का कक्ष=वक्ष स्थल ही अभिप्रेत होवे। उस सोमो के बहाने वाले मुझ को प्रकाशवान् करो, हे ब्रह्मणस्पत ॥ १० ॥

१ ताण्ड्य ब्राह्मण ६ । २ । २२ ॥

भाष्य—मेधातिथि काण्व की यह ऋक् है । वेदविद्या में दिव्य अथवा भौतिक पदार्थों में भी उत्तरोत्तर उत्पत्ति के भाव से पुत्र, पौत्र माने गए हैं। यथा—अग्निः के वंश का कथन वायु पुराण अ० २९ में है। वहां दध्यङ् आयु, भरत आदि विभिन्न अग्नियों के पुत्र, पौत्र हैं। यह दध्यङ् ही वेद में ऋषि है। इन सूक्ष्मताओं को जाने विना वेदार्थ में प्रवेश बाललीला मात्र है । मेधातिथि का वैदिक आख्यान जैमिनि ब्राह्मण ३ । २३४, २३५ में है। वहां दिव्य ऋषियों के 'दिव्य सत्र' का निर्देश करते हुए अर्वाचीन लौकिक 'इन्द्र' के मेधातिथेमेंष संबोधन का कारण बताया है। इस प्रकरण में दिव्य और लौकिक इन्द्र का भेद स्पष्ट है। ब्रह्मणस्पति नामक वेद को पालने और रक्षा करने वाली परमात्मा की जो विभूति देवों में है, उसे जानना चाहिए। वह बृहस्पति से विभिन्न है ॥१०॥

इन्द्रा॑सोमा॒ सम॒घशं॑सम॒भ्य१॒॑घं तपु॒र्यय॑स्तु च॒रुर॑ग्नि॒वाँ इ॑व ।
ब्र॒ह्म॒द्विषे॑ क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे॒ द्वेषो॑ धत्तमनवा॒यं कि॑मी॒दिने॑ ॥
[ऋ० ७ । १०४ । २ ॥]

इन्द्रासोमावघस्य शंसितारम् । अघं हन्तेः । निर्ह्रसितोपसर्गः । आहन्तीति । तपुस्तपतेः । चरुर्मृच्चयो भवति । चरतेर्वा । समुच्चरन्त्यस्मादापः । ब्रह्मद्विषे [ब्राह्मणद्वेष्ट्रे । क्रव्यादे] क्रव्यमदते । [घोरचक्षसे] घोरख्यानाय । क्रव्यं विकृत्ताज्जायत इति नैरुक्ताः । द्वेषो धत्तम् । अनवायमनवयवम् । यदन्ये न व्यवेयुः । अद्वेषस इति वा । किमीदिने । किमिदानीमिति चरते । किमिदं किमिदमिति वा । पिशुनाय चरते । पिशुनः पिंशतेः । विपिंशतीति ॥ ११ ॥

अर्थ—४३. अनवायम् । ४४. किमीदिने । (इन्द्रासोमा = इन्द्रा सोमौ) हे इन्द्र और सोम (सम्) (अघशसम्) पाप की अन्यों के लिए प्रशंसा करने वाले को (अघम्) पापी को (अभि) संतप्त करो, (तपुः) संताप करता हुआ [वह] (ययस्तु) क्षीण हो. (चरुः अग्निमान् इव) जैसे अग्नि संयुक्त चरु [क्षीण होता है ।] (ब्रह्मद्विषे) वेद और ब्राह्मण के द्वेषी के लिए (क्रव्यादे) कच्चा मांस खाने वाले के लिए, [स्कन्द—जो परोक्ष मे=पीठ पीछे आक्रोश करता है उस के लिए] (घोरचक्षसे) भयंकर दृष्टि वाले के लिए (द्वेषः) सर्वलोक के द्वेष मे है, [उस को] (धत्तम्) धारण करो (अनवायम्)=अन् अवयवम्=सकल प्रकार से

(किमीदिने) पिशुन के लिए ॥ हे इन्द्रासोमौ, अघ=पाप के प्रशंसक को। अघम् हन्ति से । निर्ह्रसित+उपसर्ग =ह्रस्व हुआ आ उपसर्ग । आ+हन्ति =अ+हन्ति=अघ=सब ओर से चोट देता है। श्रेय को मार देता है । तपु तपति से । चरु =मृत्+चय =मट्टी का ढेर होता है । चरति से अथवा । सम्+उत्+चरन्ति=भले प्रकार ऊपर को निकलते हैं अस्मात्=इस [चरु] से भाप । ब्रह्मद्विषे=ब्राह्मण द्वेषी के लिए। क्रव्यादे=क्रव्यम् अदत =कच्चा मांस खाने वाले के लिए। घोर दर्शन वाले के लिए। क्रव्यम् काटने से उत्पन्न होता है, यह नैरुक्त [कहते हैं ।] द्वेष जिस का [उस को] धारण करो । अनवायम्=अन् अवयवम्=नहीं अवयवों वाला=पूरा। जिसे दूसरे नहीं व्यवेयु =हटा सके, [पाप के] अद्वेषी भी अथवा । किमीदिने= क्या अब [है], यह आचरण करने वाले के लिए । क्या है, क्या है, ऐसा [कहने वाले] पिशुनाय=चुगलखोरी के लिए जो आचरण करता है उस के लिए । पिशुन पिंशति से [है ।] वि पिंशति=विविध रूप बनाता है ॥ ११ ॥

भाष्य—पापी सतप्त हो, सभी वह पाप छोड़ेगा । ब्रह्मद्वेषी संसारमात्र का द्वेषी है । इस प्रकार पिशुन=दुर्जन आदि की निन्दा इस मन्त्र में है ॥ ११ ॥

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन ।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥
[ऋ० ४ । ४ । १ ॥]

कुरुष्व पाजः । पाजः पालनात् । प्रसितिमिव पृथ्वीम् । प्रसितिः प्रसयनात् ।[1] तन्तुर्वा । जाल वा । याहि राजेवामात्यवान् । अभ्यमन वान् । स्वया-वा । इराभृता गणेन । गतभयेन हस्तिनेति वा । तृष्व्यानु प्रसित्या द्रूणानः । तृष्वीति क्षिप्रनाम । तरतेर्वा । त्वरतेर्वा । असिता असि । विध्य रक्षसः । तपिष्ठैस्तप्ततमैः । तृप्ततमैः । प्रपिष्ठतमैरिति वा ।

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये ।
[ऋ० १० । १६२ । २ ॥]

---

१. सायण, ऋग्वेद भाष्य ४ । ४ । १—प्रबन्धनात् ।

अमीवाभ्यमनेन व्याख्यातः । दुर्णामा क्रिमिर्भवति । पापनामा । क्रिमिः क्रव्ये मेद्यति । क्रमतेर्वा स्यात्सरणकर्मणः । क्रामतेर्वा ।

अ॒ति क्राम॑न्तो दु॒रि॒ता॒नि॒ विश्वा॑ ।

[तुलना—अथ० १२ । २ । २८ ॥]

अतिक्रममाणाः । दुर्गतिगमनानि सर्वाणि ।

अप्वा । यदेनया विद्धोऽपवीयते । व्याधिर्वा । भयं वा ।

अप्वे॒ परे॑हि । [ऋ० १० । १०३ । १२ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अमतिः । अमामयी मतिः । आत्ममयी ।

ऊ॒र्ध्वा यस्या॒मति॒र्भा अदि॑द्युत॒त् [सवी॑मनि]

[अथ० ७ । १४ । २ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

श्रुष्टि इति क्षिप्रनाम । आशु अष्टीति ॥ १२ ॥

अर्थ—४५. अमवान् । [हे अग्ने] (कृणुष्व)=कुरुष्व=करो (पाजः) [तेजोमय] वल को [विस्तीर्ण] [प्रसितिं न पृथ्वी] जाल जैसे विस्तीर्ण अर्थात् फैला हुआ होता है । (याहि) जाओ (राजा इव) राजा के समान (अमवान्) अम=अमात्यों वाले, [तथा] (इभेन) गतभय हाथी के साथ, (तृष्वीम्) शीघ्र गति से (अनुप्रसितिम्) अनुवद्धा संतत गति से (द्रूणानः) मारते हुए, (अस्ता असि) फैंकने वाले हो [शत्रुओं के], (विध्य) ताडित करो (रक्षसः) राक्षसों को (तपिष्ठैः) परम तापित करने वाले [गुणों से] । करो=फैलाओ वल को पाजः=पालन करने से [वल से पालन होता है], जाल के समान फैली हुई । प्रसितिः=वान्धने से । तन्तुः= फन्दा अथवा । जाल अथवा । याहि=जाओ राजा के समान [जो] अमात्यों वाला [फैला हुआ जाता है ।] अभि+अमनवान्=रोग वाला [शत्रुओं पर रोग फैलाता हुआ] स्ववान्=अपने [विश्वस्त साथियों] वाला । इराभृता=अन्न [भण्डारों] के धारण करने वाले गणेन=जन समूहों के

साथ। इन्=इन, भेन=भय, गजभय हस्ति के साथ अथवा। तूष्ण्या अनु प्रसित्या द्रूणान=शीघ्र गति [के आक्रमण] से मारता हुआ। तूणी यह शीघ्र का नाम [है।] तरति स अथवा। त्वरति स अथवा। अस्तिा= फेंकने वाला है। विध्य रक्षस=वीघो=ताडित करो राक्षसों को। तपिष्ठैः= सततमैः=अत्यन्त तापन वालो से तृप्ततमैः=अत्यन्त तृप्तों से। प्रक्षिप्ततमैः =अत्यन्त सिमा हुई=अत्यन्त सूक्ष्म ज्वालाओं से।

४६ अमीवा। जो तेरे गर्भ में (अमीवा) रोग [रूप] (दुर्णामा)= बुरे नाम वाला [कीटाणु=क्रिमि] योनि में (आशये) सोता है। अमीवा अभि+अमतेन=अभि+अमन से [इसी खण्ड के आरम्भ में] व्याख्यान है। दुर्णामा क्रिमि होता है। पापनाम वाला। क्रिमि=क्रव्ये मांस से मदति= मदयुक्त=पुष्ट होता है। क्रमति से अथवा होवे, सरणे अर्थ वाले से=सरकना है। क्रामति से अथवा।

४७. दुरितम्। (अति क्रामन्त) अतिक्रमण=उल्लंघन करते हुए। (दुरितानि) दुर्गतियें=अयोगति प्राप्त होती है जिन से उन पापों को (विश्वा=विश्वानि) सब को। अतिक्रममाणा=उल्लंघन करते हुए दुर्गति को [न] जाने वाले सब पापों को।

४८ अप्वा=यत्=क्योंकि एतया=इस [व्याधि] से विद्ध=बींधा हुआ =ताडित [मनुष्य] अपवीयते=[प्राणों से] पृथक किया जाता है मर जाता है। व्याधि=रोग की कोई जाति अथवा। भय अथवा। (अप्वे) हे रोग अथवा हे भय (परेहि) परे=[दूरी से] चला जा।

४९ अमति। अमामयी=आत्ममयी=अपने [गुड़ रूप] में ठहरी मति=मति अथवा दीप्ति। (ऊर्ध्वा) ऊंची (यस्य) जिस का (अमति) आत्ममतन सातत्य वाली (भा) दीप्ति (अशिश्रितत्) चमकी वा चमकती है (सवीमनि)=उत्पत्ति समय में। यह भी निगम होता है।

५० श्रुष्टी यह शीघ्र का नाम [है।] आ+शु+अष्टिः=शीघ्र व्यापना ॥ १२ ॥

भाष्य—पाज=बल। यहां फेंकने वाला बल अभिप्रेत है। प्रसिति न पृथ्वीम्—जाल जैसे फैला हुआ काम करता है, वैसे ही अग्नि का बल फैलने से

प्रकट होता है । अग्निः के इसी बल से ये दोनों लोक पृथक्-पृथक् हो कर दूर में ठहर गए ।[1] राजा बल से दूर तक फैलाव रखे । आक्रमण के समय उस के साथ अमात्य, हाथी और अन्न आदि के भण्डारों के रक्षण और वहन करने वाले गण होने चाहिएं । हाथियों की शिक्षा ऐसी हो कि वे सदा गतभय रहें । युद्धों में राक्षसों का हनन होना चाहिए ।

। दुर्णामा, यह स्त्री के गर्भ में हो जाने वाला क्रिमि होता है वह कच्चे मांस से मोटा होता है । अतिक्रामन्तः, यह मन्त्रांश उपलब्ध वेद संहिताओं में नहीं है । अथर्ववेद १२ । २ । २८ मन्त्र से इस का थोड़ा सा पाठान्तर है । संभवतः यह आथर्वण पैप्पलाद आदि किसी संहिता में हो ॥ १२ ॥

ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम् ॥

[ऋ० ७ । ३९ । ४ ॥]

तानध्वरे यज्ञे । उशतः कामयमानान् । यज्ञाग्ने । श्रुष्टी भगम् । नासत्यौ चाश्विनौ । सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः । सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः । नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा ।

पुरन्धिर्बहुधीः । तत्कः पुरन्धिः । भगः पुरस्तात् । तस्यान्वादेश इत्येकम् । इन्द्र इत्यपरम् । स बहुकर्मतमः । पुरां च दारयितृतमः । वरुण इत्यपरम् । तं प्रज्ञया स्तौति ।

इमामू नु कवितमस्य मायाम् । [ऋ० ५ । ८५ । ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

रुशत् इति वर्णनाम । रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः ।

समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः । [ऋ० ५ । १ । २ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—(तान्) उन [देवों] को (अध्वरे) यज्ञ में (उशतः) कामना करते हुओं को (यक्षि)=यजामहे=हम पूजते हैं, (अग्ने) हे अग्ने (श्रुष्टी) शीघ्र, भग को (नासत्यौ) अश्विद्वय को [और] पुरन्धि को ।

---

१. देखो, वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ३१०–३१५ ।

४१ पुरन्धि । उन देवों को, यज्ञ में कामना करते हुओं को यज्ञ-पूजो हे अग्ने शीघ्र भग को, नासत्यों=अश्विद्वय को। सत्य ही [वे दोनों] नहीं असत्य, यह और्णवाभ [कहता है।] सत्य के प्रणेतारौ=चलाने वाले, यह आग्रायण [कहता है।] नासिका से प्रभवौ=उत्पन्न हुए थे अथवा। पुरन्धि=बहुत प्रजा वाला अथवा बहुत कर्म वाला। तो कौन [है] पुरन्धि। भग पुरस्तात्=जो नासत्यों से पूर्व स्मृत है, उस का अन्वादेश=अनु आदेश=पुनः आदेश=दोबारा कथन [है] यह एक मत है। पुरन्धि इन्द्र है, यह अपर मत है। वह [इन्द्र] बहुत में भी कहीं अधिक कर्म वाला [है।] पुराम=असुर सम्बन्धिनी पुरियों को अतिशय विदीर्ण करने वाला [है।] पुरन्धि वरुण है यह और मत है। उस [वरुण] को प्रज्ञया=बुद्धि से स्तुति करता है। (इमाम्) इस को (क्रतु) पद पूरक (कवितमस्य) अत्यन्त मेधा वाले [वरुण] की (मायाम्) प्रज्ञा को। यह भी निगम होता है।

४२ रुशत्, यह वर्ण=रंग का नाम [है।] रोचति=चमकता है अर्थ वाले से। (समिद्धस्य) प्रदीप्त [अग्नि] का (रुशत्) चमकता हुआ रंग (अदर्शि) [मुझ से] देखा गया है (पाजः) तेजोमय बल वाला। यह भी निगम होता है ॥ १३ ॥

भाष्य—पुरन्धि के अर्थ में तीन मत हैं। ऐसे अर्थों के विषय में जो वाद होते थे वे वेदवाद कहाते थे।[1] परन्तु ऐसे अति साधारण मत भेदों से यह नहीं समझना चाहिए कि यास्क के काल में वेदार्थ भूल चुका था। हां, इस बात से एक दूसरा ही परिणाम निकलता है। वह यह है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के काल और यास्क के काल में सहस्रों वर्ष का अन्तर अवश्य था ॥ १३ ॥

अस्ति॒ हि वः॑ सजा॒त्यं॑ रिशादसो॒ देवा॑सो॒ अस्त्याप्य॑म् ।

[ऋ० ८ । २७ । १० ॥]

अस्ति हि वः समानजातिता रिशादसो देवा । अस्त्याप्यम् । आप्यमाप्नोत ।

सुदत्र कल्याणदान ।

---

१. वेदवादरताः पार्थ भगवद्गीता ।

त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायः । [ऋ० ७ । ३४ । २२ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

सुविदत्रः कल्याणविद्यः ।

अग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् । [ऋ० १० । १५ । ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

आनुषक् इति नामानुपूर्वस्य । अनुषक्तं भवति ।

स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् । [ऋ० ८ । ४५ । १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

तुर्वणिः । तूर्णवनिः ।

स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये । [ऋ० १ । ५६ । ३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

गिर्वणाः देवो भवति । गीर्भिरेनं वनयन्ति ।

जुष्टं गिर्वणसे बृहत् । [ऋ० ८ । ८६ । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—५३. रिशादसः । (अस्ति) है (हि) क्योंकि (वः) तुम्हारी (सजात्यम्) आपस मे समान जातिता रिशादसः) हे हिंस्रों के फेंकने वाले (देवासः) देवो, (अस्ति) है [हमारे साथ] (आप्यम्) बन्धु भाव ।: है क्योंकि तुम्हारी समान जातिता, हे हिंस्रों के फेंकने वाले देवो । है बन्धु भाव [परस्पर और हमारे साथ । आप्यम् आप्नोति से ।

५४. सुदत्रः=श्रेष्ठ दान वाला ॥ त्वष्टा, श्रेष्ठ दान वाला, (वि दधातु) विविध प्रकार से देवे (रायः) धन यह भी निगम होता है ।

५५. सुविदत्रः=श्रेष्ठ विद्या वाला । (अग्ने) हे अग्ने (आ याहि) आओ, (सुविदत्रेभिः) श्रेष्ठ विद्या वाले [पितृभिः] पितरों के साथ (अर्वाङ्) हमारी ओर । यह भी निगम होता है ।

४६. आनुषक्=यह नाम [है], आनुपूर्वस्य=लगातार का, ऊपर-ऊपर आगे आगे लगे हुए का। अनुषक्तम्=अनु+सक्तम्=साथ लगा होता है॥ स्तृणन्ति=बिछाते है (बर्हि) कुशा को [वेदि पर] लगातार। यह भी निगम होता है।

४७. तुर्वणि=तूर्णवनि=शीघ्र सेवन करने वाला॥ (स) वह [इन्द्र] (तुर्वणि:) बिना विलम्ब=ठीक समय पर काम करने वाला (महान्) महा [है।] (अरेणु)=[स्वन्द-अरेणुनि] पांशुवर्जित (पौंस्ये) [सेना रूप] स्वरूप में [स्थित है।] यह भी निगम होता है।

४८. गिर्वणसे=गिर्वण:, देव होता है। गीर्भि=वाणियो से=स्तुतियो से एनम्=इस [देव] को वनयन्ति=सेवते हैं॥ (जुष्टम्) सेवन योग्य को (गिर्वणसे) स्तुतियो से (बृहत्) बृहत् साम द्वारा [गाओ।] यह भी निगम होता है॥ १४॥

भाष्य—सजात्यम्, आप्यम्। देवों की उत्पत्ति भौतिक नियमों के आधार पर हुई। वे भौतिक नियम प्रति सृष्टि समान रहते हैं। इसी कारण उत्पत्ति के सम्बन्धों के दृढ़ रहने से देवों की समान जातिता सदा से है और सदा रहेगी। ये नियम ईश्वर की मूल प्रेरणा से काम कर रहे हैं। उस के कारण देवों का परस्पर और हमारे साथ बन्धुभाव है। सुविदत्र, पितर अर्थात् ऋतुएं सुविद्य हैं। अग्नि इन ऋतुरूपी पितरों के साथ हमारी ओर आता है। निरुक्त ७। ६ में सुविदत्र का अर्थ धन भी किया है।

बृहत्, बृहत् एक साम है। पहले भी गायत्र आदि सामों का कथन हो चुका है। निस्सन्देह सार वेद एक साथ आ रहे हैं। ऋग्वेद पूर्वकाल का और सामवेद उत्तर काल का है, यह कल्पना निर्मूल है॥ १४॥

अमूर्तं सूर्तं रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि।

[ऋ० १०।८२।४१]

असुसमीरिता सुसमीरिते। वातसमीरिता। माध्यमिका देवगणा। ते रसेन पृथिवीं तर्पयन्तो भूतानि च कुर्वन्ति।

त आयजन्त । [ऋ० १० । ८२ । ४ ॥]

इत्यतिक्रान्तं प्रतिवचनम् ।

अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः । [ऋ० १ । १६९ । ३ ॥]

अमाक्तेति वा । अभ्यक्तेति वा ।

यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदत् । [ऋ० ५ । ४४ । ८ ॥]

यादृशेऽधायि तमपस्ययाविदत् ।

उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः ॥ [ऋ० ६ । १२ । ४ ॥]

उस्र इव गोपिता अजायि यज्ञैः ॥ १५ ॥

अर्थ—५९. असूर्ते सूर्ते । (असूर्ते सूर्ते) वात से प्रेरे हुए [माध्यमक देवगण] (रजसि) [अन्तरिक्ष] लोक मे (निषत्ते) निश्चल ठहरे हुए, (ये) जो (भूतानि) प्राणियों को (सम् अकृण्वन्) सब प्रकार से बनाते हैं, (इमानि) इन को ॥ असु-समीरिताः=वातसमीरिताः । सुसमीरिते । [ये] माध्यमिक देवगण [हैं ।] वे रस से पृथिवी को (तर्पयन्तः) तृप्त करते हुए प्राणों को उत्पन्न करते हैं । (त आयजन्त) उन्होंने मर्यादा पूर्वक यज्ञ किया+अथवा करते हैं । यह [इसी मन्त्र के आरम्भ मे] [अतिक्रान्तम्] पहले आ चुका (प्रतिवचनम्) अगले पाठ के उत्तर मे वचन है ।

६०. अम्यक् । (अम्यक्=अ+मा+क्तः) न मुझे प्राप्त हो, (सा) वह (ते) तेरी (इन्द्र) हे इन्द्र (ऋष्टिः) शक्तिका, बर्छी । अ+मा+अक्ता अथवा । अभि+अक्ता=सींची गई, अथवा ।

६१. यादृश्मिन् । (यादृश्मिन्)=यादृशे=जैसे ही [काम] में (धायि)=[स्कन्द-वत्ते] धारण करता है [मन को], (तम्) वैसे को ही (अपस्यया) कर्म से (विदत्) प्राप्त करता है ॥ जैसे [काम] में अधायि=धारण करता है, उसे कर्म से अविदत्=प्राप्त करता है ।

६२. जारयायि । (उस्रः पिता इव) गौओं के पिता [=बलीवर्द= बैल] के समान (जारयायि)=अजायत=उत्पन्न हुआ [अग्नि] (यज्ञैः)

[मानव और दैवी] यज्ञों द्वारा ॥ उस्र इव गोपिता=गोपिता=बैल के समान उत्पन्न हुआ [अग्नि] यज्ञों से ॥ १८ ॥

भाष्य—प्रसूर्ते सूर्ते रजसि, नियत्ते ये चारों पद सप्तमी में अन्तता ॥ सन्देह उत्पन्न करते हैं कि पहले दो पदों का क्या अर्थ है । अत यास्क ने स्पष्ट किया कि इन का अर्थ है—मर [illegible] । मधु=प्राण=वात । वात से प्रेरित । माध्यमिक देवगण=मरुत और मेघ आदि । वात और वायु का भी अन्तर अवश्य है । यह जानना चाहिए । ऋष्टि, यह आयुधविशेष है । इस का वास्तविक स्वरूप शक्तिका अथवा किसी प्रकार की बर्छी के समान होगा । यादृश्मिन् इस मन्त्रांश पर ब्राह्मण और धर्मशास्त्र का यह भाव है कि जो मन से ध्यान करता है उस वाणी से बोलता है । और जो वाणी से बोलता है वैसा कर्म करता है और जो कर्म से करता है उस का भाग होता है । अग्नि बैल के समान कैसे उत्पन्न या प्रकट हुआ यह ज्ञातव्य है । अथवा उस्र रश्मि=रश्मियों का पिता=गोपिता=गोपापिता=आदित्य ऐसा अर्थ होवे ॥ १६ ॥

प्र योऽग्ना शुशुचानामी अस्थुरभूत् निर्थे अग्नियोत वाजाः ॥
[ऋ० ५ । ३४ । ३ ॥]

प्रास्थुर्न्नी जोषयमाणा अभवत सर्वे । अभगामेनेति वा । [अप्रगर एनेति वा ।] अप्रसरणादिति इति वा । अपि वा अप्रमित्यनर्द् अनर्थकमुपबन्धमाददीत ।

अद्रीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम् ॥
[ऋ० १० । ११६ । ८ ॥]

अद्रीन्द्र प्रस्थितानीमानि हवींषि । चनो दधिष्व । चन इत्यन्ननाम । पचतिर्नामीभूत ।

तं मेद्रस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम् । [य० २१ । ६० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अपि वा मेद्रसश्च पशोश्च । सात्त्वं द्विवचनं स्यात् । यत्र होकवचनार्थं प्रसिद्धं तद्भवति ।

पुरोळा अग्ने पचतः । [ऋ० ३ । २८ । २ ॥] इति यथा।

शुरुधः आपो भवन्ति । शुचं संरुन्धन्ति ।

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः । [ऋ० ४ । २३ । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अमिनः अमितमात्रः । महान्भवति । अभ्यमितो वा ।

अमिनः सहोभिः । [ऋ० ६ । १६ । १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

जज्झतीः आपो भवन्ति । शब्दकारिण्यः ।

मरुतो जज्झतीरिव । [ऋ० ५ । ५२ । ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अप्रतिष्कुतः । अप्रतिष्कृतः । अप्रतिस्खलितो वा ।

अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः । [ऋ० १ । ७ । ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

शाशदानः शाशाद्यमानः ।

प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः । [ऋ० १ । ३३ । १३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—६३. अग्रिया । (वः) तुम्हारे लिए (जुजुषाणासः) सेवन करते हुए [सोम] (अच्छ=अभि । प्र अस्थुः=अभिप्रास्थुः) प्रस्थित हुए हैं । (अभूत) होवो (विश्वे) सारे [तुम] (अग्रिया) अग्रता के योग्य (उत वाजाः) हे ऋभुओ ॥ प्र अस्थुः=प्रस्थित हुए हैं, तुम्हारी ओर जोषयमाणाः=सेवन करते हुए । भवत=होवो सारे । आगे गमन करने से अथवा । [आगे गरणेन=निगलने से अथवा । आगे] सम्पादिनः=काम को सम्पादन करने वाले, अथवा । अथवा अग्रम्, इति एतत्=अग्र यही ठीक रूप है । अनर्थक है उपबन्ध=प्रत्यय जो आददीत=ग्रहण किया है । अर्थात् अग्र ही अग्रिया है ।

६४. घन । (अद्धि) खाओ (इत्) पदपूरक (इन्द्र) हे इन्द्र (प्रस्थित) प्रस्थित हुई (इमा) इन (हवींषि) हवियों को । (चन) अन्न को (दधिष्व) धारण करो और (पचता) पके हुए पुरोडाश आदि को (उत सोमम्) और सोम को । खाओ हे इन्द्र प्रस्थित इन हवियों को । चन' को दधिष्व=धारण करो । चन यह अन्न का नाम [है ।]

६५ पचता, पच् धातु, नाम हुआ है [क्रिया रूप नहीं ।] (तम्) उस को (मेदस्त) चर्बी से (पचता) पक हुए को (आभरेथाम्) ग्रहण करो । यह भी निगम होता है । अथवा मेद का और पशु का साहचर्म्= सत्त्व वाला=द्रव्यप्रधान द्विवचन होवे । [अश्विना के समान पचता द्विवचन, है । तब अर्थ होगा—पके हुओं को ।] यत्र हि=जहां क्योंकि एकवचनार्थ एक वचन का अर्थ है, प्रसिद्ध रूप वह होता है । (पुरोळा) पुरोडाश (अग्ने) हे अग्ने (पचत)=पक=पका हुआ [तेरे लिए ।] जैसा यह । [यहां 'पचत' शब्द एकवचन में स्पष्ट है ।]

६६ शुरुध , आप होती हैं । शुचम्=दीप्ति अथवा ताप को संरुन्धन्ति सम्यक् रोकती हैं । (ऋतस्य) ऋत की (हि) क्योंकि (शुरुध) आप (सन्ति) होती हैं (पूर्वी) बहुत । यह भी निगम होता है ।

६७ अमिन । अमित-मात्र =न मापी हुई मात्राओं वाला, महान् होता है । अभ्यमित=[मिनोति वधकर्मा] अभि+अमित =अहिंसित । (अमिन) महान् अथवा अहिंसित (सहोभि) बलो से [तू इन्द्र ।] यह भी निगम होता है ।

६८ जज्झती आप होती हैं । शब्द करने वालियां । (मरुत) मरुत [शब्द करते हैं] (जज्झती इव) आप के समान । यह भी निगम होता है ।

६९. अप्रतिष्कुत=अप्रतिस्खलित=न पराङ् मुख किया हुआ । न प्रति स्खलित=फिसला हुआ । (अस्मभ्यम्) हमारे लिए [अपावृधि= अपावृणु=खोल दे, मेघ को तुम जो] (अप्रतिष्कुत) किसी से पराङ् मुख नहीं किए गए । यह भी निगम होता है ।

७०. शाशदानः=शाशयमानः=बार-बार मारते हुए। (स्वां) अपनी (मतिम्) मति को (प्र अतिरत)=प्रकर्षेण अवर्धयत् बहुत बढ़ाया [इन्द्र ने] (शाशदानः) [वृत्र को] बार-बार मारते हुए । यह भी निगम होता है ॥ १६ ॥

भाष्य—वाजाः=ऋभु । ये अग्नियां हैं । अग्नियां का एक अर्थ अमगरण=निगलने वाले हैं । ये क्या गरण करते हैं, इस का अध्ययन होना चाहिए । इन्द्र घनः रूप किस घस को धारण करता है, यह ज्ञातव्य है । शुन्ध्युः=आपः । ये आपः दीप्ति तथा ताप को रोकती है । कहां और कैसे रोकती हैं, यह भी ज्ञातव्य है । ऋतस्य, ऋत की बहुत आपः हैं । इतने वचन से यह निश्चित है कि अनेक मन्त्रों में ऋत एक पदार्थविशेष है । उस की रूपान्तर अवस्थाएं आपः के अनेक रूप बना देती हैं । जञ्झतीः, ये शब्द करने वाली आपः हैं । इन का शब्द जानना चाहिए । मरुत भी ऐसा शब्द करते हैं । इन्द्र का अर्थ आत्मा और परमात्मा भी होता है । पर भौतिक इन्द्र की मति क्या है, यह समझना चाहिए ॥ १६ ॥

सृप्रः सर्पणात् । इदमपीतरत् सृप्रमेतस्मादेव । सर्पिर्वा । तैलं वा ।

सृप्रकरस्नमूतये । [ऋ० ८ । ३२ । १० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

करस्नौ बाहू । कर्मणां प्रस्नातारौ ।

सुशिप्रम् एतेन व्याख्यातम् ।

वाजे सुशिप्र गोमति । [ऋ० ८ । २१ । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

शिप्रे हनू नासिके वा । हनुर्हन्तेः । नासिका नसतेः ।

विष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने । [ऋ० १ । १०१ । १० ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

धेना दधातेः ।

रंसु रमणात् ।

स चित्रेण चिकिते रंसु भासा । [ऋ० २ । ४ । ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

द्विबर्हाः । द्वयोः स्थानयोः परिवृढः । मध्यमे च स्थान उत्तमे च ।

उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः । [ऋ० ६ । १९ । १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अक्रः । आक्रमणात् ।

अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम् । [ऋ० ३ । १ । १२ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

उराणः । उरु कुर्वाणः ।

दूत ईयसे प्रदिव उराणः । [ऋ० ४ । ७ । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

स्तियाः । आपो भवन्ति । स्त्यायनात् ।

वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम् । [ऋ० ६ । ४४ । २१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

स्तिपाः स्तियापालनः । उपस्थितान्पालयतीति वा ।

स नः स्तिपा उत भवा तनूपाः । [ऋ० १० । ६९ । ४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

जबारु जरमाणरोहि । जरमाणरोहि । गरमाणरोहीति वा ।

अग्रे रूपमारुपितं जबारु । [ऋ० ४ । ५ । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

जरूथं गरूथं गृणातेः ।

जरूथं हन्यदि राये पुरन्धिम् । [ऋ० ७ । ६ । ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

कुलिश इति वज्रनाम । कूलशातनो भवति ।

स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ।

[ऋ० १ । ३२ । ५ ॥]

स्कन्धो वृक्षस्य । समास्कन्नो भवति । अयमपीतरस्कन्ध एतस्मादेव । आस्कन्नं काये । अहिः शयते । उपपर्चनः पृथिव्याः ।

तुञ्जः तुञ्जतेर्दानकर्मणः ॥ १७ ॥

अर्थ—७१. सृप्रः । सर्पण करने=फैलने से । यह भी दूसरा सृप्र इस [कारण] से ही । सर्पिः अथवा । तैल वा । (सृप्रकरस्नम्) सृप्र + करस्नौ=फैली हुई भुजाओं वाले [इन्द्र] को (ऊतये) रक्षा के लिए [ह्वयामहे=बुलाते हैं ।] यह भी निगम होता है । करस्नौ=दो बाहू । प्रस्नातारौ=कर्मों के प्रकर्षता से स्नान करने वाले, संवारने वाले ।

७२. सुशिप्रः, सुशिप्रम्, एतेन=इस सृप्र से व्याख्या किया गया । (वाजे) संग्राम में, (सुशिप्र) हे श्रेष्ठ हनु वाले, अथवा हे श्रेष्ठ नासिका वाले, अथवा हे श्रेष्ठ हनु और नासिका वाले [इन्द्र] (गोमति) गौओं वाले, [संग्राम में ।] यह भी निगम होता है । शिप्रे=दोनों हनू, दोनों नासिकाएं अथवा । हनुः हन्ति से । नासिका नसति [=गतिकर्मा, नमतिकर्मा] से ॥ (विष्यस्व)=विमुञ्च=खोलो (शिप्रे) दोनों हनू [हविर्भक्षण के लिए] (वि सृजस्व)=प्रेरय=प्रेरित करो (धेने) जिह्वा और उपजिह्वा को । यह भी निगम होता है । धेना दधाति से ।

७३. रंसु, रमण से । [सोमाहुति नामक ऋषि की अग्निदेवता की ऋक् ।] (सः) वह [अग्निः] चित्रेण=विचित्रा–विचित्रा से (चिकिते) जाना जाता है (रंसु) रमणीय स्थानों में (भासा) नाना वर्णों की दीप्ति से । यह भी निगम होता है ।

७४. द्विबर्हाः, [महान् इन्द्र] दोनों स्थानों में परिवृद्धः=बढ़ा हुआ । [दोनों स्थान=] मध्यम स्थान में और, उत्तम स्थान में=द्यौः लोक में ।

(उत) और (द्विबर्हा.) दोनो मध्यम और उत्तम स्थानो मे बढा हुआ, (अमिन:) अपरिमित मात्रा वाला (सहोभि:) बलो से । यह भी निगम होता है ।

७५. अक्र:, आक्रमण से । (अक्र: न बभ्रि) प्राकार=कोट=दुर्ग के समान [सेना और उस की सामग्री को अथवा परचक्र के आक्रमण को] धारण करने वाला (समिथे) सग्राम मे (महीनाम्) महती शत्रु सेनाओं वाले । यह भी निगम होता है ।

७६ उराण , बहुत करता हुआ ॥ (ईयसे) दूतरूप मे [तू] जाता है, (प्रदिव) पुराना, चिरन्तन (उराण.) अल्प को बहुत करता हुआ । यह भी निगम होता है ।

७७ स्तियानाम् । स्तिया आप होती हैं। स्त्यायनात्=[हिमभाव से] संहत होने से, अथवा शब्द करने से ॥ (वृषा) [इन्द्र] वर्षिता=सेक्ता (सिन्धूनाम्) [अन्तरिक्षस्थ आदि] नदियो का (वृषभ:) [और] वर्षिता (स्तियानाम्) आप. का ॥ यह भी निगम होता है ॥

७८. स्तिपा , आप. का पालक । उपस्थितो को पालता है अथवा । =अस्ति+पा.=स्ति+पा ॥ वह [अग्नि] हमारी (स्तिपा:) उपस्थित [हवियो] का पालक (उत) और [भव] हो (तनूपा:) शरीरो का रक्षक । यह भी निगम होता है ।

७९ जराह । जरमान्=जग वाला [आदित्य मण्डल] रोहि= आरोहण करता है । जरमाण =जरण करता हुआ रोहि=आरोहण करता है । गरमाण=निगलता हुआ रोहि=आरोहण करता है, अथवा ॥ (अग्रे) सृष्टि के आरम्भ मे (रुप.)=रिप=पृथिवी से [ऊपर] (आरोपितम्)= आरोपितम्=रखा (जवारु) वेग से आरोहण करने वाले आदित्य मण्डल को [देवो ने] । यह भी निगम होता है ।

८० जरूथम्, गरूथम्=गृणाति से स्तुति वाला और गति वाला । (जरूथम्) स्तोत्र को (हन्) पहुँचाता या स्तुति करता हुआ (यक्षि) पूजो, (राये) धन के लिए (पुरन्धिम्) बहुकर्मा को वा बहुप्रज्ञा वाले को । यह भी निगम होता है ।

८१. कुलिशः, यह वज्र का नाम [है ।] कूलशातनः=किनारों को काटने वाला होता है ॥ (स्कन्धांसि इव) वृक्षों के स्कन्धों के समान, [जैसे वे] (कुलिशेन) वज्र से (विवृक्णा) विविध प्रकार से छिन्न होते हैं, [वैसे] (अहिः) [छिन्न हुआ] वृत्र (शयते) लेटता है (उपपृक् पृथिव्याः) आलिङ्गन कर के पृथिवी का ॥ स्कन्धः=कन्धा वृक्ष का । समास्कन्नः, भले प्रकार [वृक्ष पर] लगा हुआ होता है । यह दूसरा स्कन्ध [मनुष्य का] भी इसी कारण से [है ।] आ+स्कन्नं=लगा हुआ होता है, काये=शरीर पर । अहिः शयते=वृत्र लेटता है, उपपर्चनः=आलिङ्गन कर के पृथिवी का ।

८२. तुञ्जः, तुञ्जति, दान अर्थ वाले से ॥ १७ ॥

भाष्य—इन्द्र की फैली हुई भुजाएं । इन का भौतिक रूप अन्वेषणीय है । गोमति वाजे । गौओं वाले संग्राम में । रश्मिविशेषों के संग्राम का इन शब्दों में संकेत है । द्विबर्हाः । महान् इन्द्र मध्यम स्थान और द्युः स्थान में बढ़ा हुआ है । इन्द्र का अपना स्थान अन्तरिक्ष में है, पर वह तृतीय स्थान में भी बढ़ा हुआ है । इस वृद्धि का प्रकार भी मन्त्रों से देखना चाहिए । स्तियाः, ये कैसे आपः हैं । इन आपः से अन्तरिक्षस्थ नदियां कैसे भरी रहती हैं । इन का स्त्यायन किन नियमों के अन्तर्गत होता है, ये सब वेद की विद्याओं के विषय हैं ।

जयारु, वेग से आरोहण करने वाला आदित्य मण्डल देवों द्वारा पृथिवी से ऊपर चढ़ा कर आरोपित किया गया । इसी भाव को एक ऋक् कहती है— [इन्द्र] आ सूर्यं रोहयद् दिवि । १ । ७ । ३ ॥ इन्द्र ने सूर्य को आरोहयत्=चढ़ाया द्युलोक में । पुनश्च तैत्तिरीय संहिता का प्रवचन द्रष्टव्य है— असावादित्यो ऽस्मिन् लोक आसीत् । तं देवाः पृष्ठैः परिगृह्य सुवर्गं लोकम् अगमयन् । ७ । ३ । १० ॥ मै० सं० में भी ऐसा ही विज्ञान बताया गया है—इह वा असा आदित्य आसीत् । तमितो ऽमुं लोकम् अहरन् । १ । ११ । ७ ॥ यह सूर्य पहले पृथिवी के पास ही था । तदनु उसे देवों ने ऊपर-ऊपर चढ़ा कर द्युलोक में स्थापित किया । यास्क ने जयारु पद के निर्वचन जवमानरोहि=वेग पूर्वक आरोहण करने वाला कह कर सारा भाव स्पष्ट किया है । यास्क के इस पद के शेष दो निर्वचन भी गम्भीर तथ्यों का संकेत करते हैं । जब आदित्य मण्डल ऊपर की ओर वेग से चढ़ रहा था, तब वह अनेक पदार्थों को जीर्ण करता जा रहा था । और अनेक पदार्थों को गरमाया

करता हुआ, अर्थात् निगलता हुआ आ रहा था । दुर्ग और स्कन्द ने दोनों भावों को स्पष्ट नहीं किया । सायण इन भावों को समझ नहीं पाया । वेदविद्या बहुत काल से लुप्त सी हो रही है ॥ १८ ॥

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः ।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ [ऋ० १ । ७ । ७ ॥]

दाने दाने य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो नास्य तैर्विन्दामि समाप्तिं स्तुतेः ।

बर्हणा परिबर्हणा ।

बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः । [ऋ० १ । ५४ । ३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—(तुञ्जे-तुञ्जे) दान म, दान में (ये उत्तरे स्तोमा) जो उत्कृष्ट स्तोत्र हैं इन्द्र के, वज्र धारण करने वाले के, (न विन्धे) न जान सका हूँ (अस्य) इस की [उन से] (सु स्तुतिम्) पूर्ण स्तुति को, [इन्द्र के गुणाधिक्य के कारण ।] दान मे दान म जो उत्कृष्ट स्तोत्र [हैं] इन्द्र के वज्री के, नहीं इस की (तैः) उन स्तोत्रों से जानता हूं समाप्तिं स्तुतेः =स्तुति की समाप्ति को ।

८३ बर्हणा=परिबर्हणा=बढे हुए से । (बृहत् श्रवा) महाधन असुर बढे हुए [इन्द्र] स (कृत) किया गया । यह भी निगम होता है ॥ १८ ॥

भाष्य—इन्द्र की अर्थात् देव इन्द्र अथवा परमात्मा की विभूति मन्त्रों में स्तुति वाले कथनों स समाप्त नहीं होती । वह वर्णनातीत है । असुर', वेद में असुर पद वरुण और वृत्र आदि के लिए है ॥ १८ ॥

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह ।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः ॥
[ऋ० ५ । ३४ । ३ ॥]

घ्रंसः इत्यहर्नाम ।[1] अस्यन्तेऽस्मिन् रसाः । गोरूध उद्धततरं भवति । उपोन्नद्धमिति वा । स्नेहानुप्रदानसामान्याद्रात्रिरप्यूध उच्यते । स योऽस्मा अहन्यपि वा रात्रौ सोमं सुनोति भवत्यह द्योतनवान् । अपोहत्यपोहति । शक्रः । तितनिपुं धर्मसन्तानादपेतमलङ्करिष्णुमयज्वानम् । तनूशुभ्रं तनूशोभयितारम् । मघवा । यः कवासखः । यस्य कपूयाः सखायः ।

न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः ।

[ऋ० १ । ३३ । १२ ॥]

निरविध्यदिलाबिलशयस्य दृढानि । व्यभिनच्छृङ्गिणं शुष्णमिन्द्रः ॥१६॥

अर्थ—८४. ततनुष्टिम् । (यः) जो [यजमान, धर्म का पालक] (अस्मै) इस [इन्द्र] के लिए (घ्रंसे उत वा य ऊधनि) दिन में अथवा जो रात्रि में (सोमम्) सोम को (सुनोति) बहाता है, अर्थात् यज्ञ करता है, [वह] (भवति) होता है (द्युमान्) दीप्तिमान्, ऐश्वर्यवान् (अह) ही । (शक्रः) इन्द्र=परमात्मा (ततनुष्टिम्) [अधर्म में धन] फैलाने वाले को [अथवा इन्द्रिय विषय भोगों में रत रहने वाले को] (अप अप ऊहति) नष्ट करता है, नष्ट करता है, (तनूशुभ्रम्) तनू=शरीर को [स्रग् अनुलेपन आदि से] सजाने वाले को (मघवा) धनवान् इन्द्र (यः कवासखः=कवसखः) जो कुमखा अर्थात् पापमयी भोगवृत्ति वालों का सखा पुरुष है, [ऐसे पापी को ।]

घ्रंसः यह दिन का नाम है । अस्यन्ते=ग्रसे जाते हैं [आदित्य द्वारा] इस में रस । गोः ऊधः, उद्धततरम्=अन्य शरीर अङ्गों से अधिक ऊपर को उठा हुआ होता है उप उन्नद्धम्=[उदर के] समीप बन्धा होता है, अथवा । स्नेह अनुप्रदान=स्नेह के अनु+प्रदान की समानता से रात्रि भी ऊधः कहाती है । वह [पुरुष] जो इस [इन्द्र] के लिए दिन में अथवा रात्रि में सोम को उत्पन्न करता है, होता है निश्चय ही द्योतनवान्= ऐश्वर्यवान् । नष्ट करता है, नष्ट करता है शक्र, तितनिपुम्=धर्मसन्तानात् अपेतम्=धर्म के विस्तार करने से पृथक् हुए को, अलङ्करिष्णुम् =अपने को अलंकृत करते रहने वाले को, अयज्वानम्=यज्ञ न करने

१. निघण्टु १ । ६ ॥

वाले को, तनूशुभ्रम्=तनूशोभयितारम्=[सदा] शरीर को सजाते रहने वाले को। मघवा=धनयुक्त इन्द्र। यः कवासखः=जो कुत्सित=निन्दित=नीच पुरुषों का सखा है। जिस के कपूयाः=पापी साथी हैं।

८५ इलीबिशः। (नि आविध्यत्) नि=निकृत्य=चीर फाड कर बींध दिया (इलीबिशस्य)=इला+बिल+शयस्य=पृथिवी के बिल में शयन करने वाले [वृत्र] के (दृळ्हा) दृढ स्थानों को। (शृङ्गिणम्)=सींगों वाले=चोटियों वाले को (वि+अभिनत्)=विविध प्रकार से तोड दिया (शुष्णम्)=बल वाले [वृत्र] को (इन्द्रः) इन्द्र ने।

निर् अविध्यत्=पूरा बींध दिया=पृथिवी के बिल में शयन करने वाले के दृढानि=दृढ स्थानों को। वि+अभिनत्=तोड दिया सींग वाले, बलशाली वृत्र को इन्द्र ने ॥ १९ ॥

भाष्य—धर्म के पालक, यज्ञ कर्ता की महिमा का वर्णन इस मन्त्र में है। जो याज्ञिक दिन और रात में सोम बहाता है, धन्यवाद का पात्र है। जो केवल शरीर सजाता है और धर्म का विस्तार नहीं करता, वह नष्ट होता है। आज के युग में पापी पुरुष शरीर ही सजाते रहते हैं।

इलीबिश का अरबी में अपभ्रंश इबलीस–शैतान है। वृत्र के शृङ्ग या उस की चोटियां, मेघ के शृङ्ग हैं ॥ २० ॥

अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै ॥
[ऋ० १ । ६१ । १२ ॥]

अस्मै प्रहर। तूर्णं त्वरमाणः। वृत्राय वज्रमीशानः। कियेधाः कियद्धा इति वा। क्रममाणधा इति वा। गोरिव पर्वाणि विरद मेघस्य। इष्यन्नर्णांसि। अपां चरणाय।

भृमि भ्राम्यतेः।

भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्। [ऋ० १ । ३१ । १६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति।

विष्पितो विप्राप्तः।

पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन् ॥ [ऋ० ७ । ६० । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

अर्थ—८६. कियेधाः । (अस्मा=अस्मै) इस के लिए (इत उ) पदपूरणौ (प्र भर)=प्रहर=प्रहार कर (तूतुजानः)=त्वरमाणः=तेजी करता हुआ [हे इन्द्र] (वृत्राय) वृत्र के लिए (वज्रम्) वज्र को (ईशानः) [तू जो] ईशनकर्ता है [सब का] (कियेधाः)=कितने ही बल का धारक । (गोः न पर्व) रश्मि के पर्व=जोड़ों को जैसे (वि रद) [असुर काटता है, वैसे] काटो (तिरश्चा) टेढ़े [चोट करने वाले वज्र] से । (इष्यन्) चलाते हुए (अर्णांसि) आपः को । (अपाम्) आपः के (चरध्यै) चलाने को [पृथिवी की ओर ।]

इस के लिये प्रहार कर । तूर्णम्=त्वरमाणः=शीघ्र करते हुए । वृत्र के लिए वज्र को, ईशन करता हुआ [जो तू है ।] कियेधाः=कियत्= कितने [बल] का धारण करने वाला अथवा । क्रममाण=चलते हुए को धाः=धारण करने वाला अथवा । गोः इव पर्वाणि=रश्मि के पर्वों को जैसे [काटता है] वैसे काटो मेघ के [पर्वों को ।] इष्यन् अर्णांसि=गति देते हुए जलों को, [इन] आपः के [पृथिवी की ओर] जाने के लिए ।

८७. भृमिः, भ्राम्यति से । (भृमिः असि) [तीनों लोकों में] भ्रमण करने वाले=अप्रतिहतगति हो [हे अग्ने] (ऋषिकृत्) ऋषि बनाने वाले [दृष्टि देने वाले][1] हो (मर्त्यानाम्) मरणधर्मा मनुष्यों के । यह भी निगम होता है ।

८८. विष्पितः=वि प्राप्तः=विविध रूप से प्राप्त हुआ ॥ (पारम्) पार को (नः) हमें (अस्य) इस [नदी रूप संसार] के (विष्पितस्य) विविध रूप से प्राप्त हुए के (पर्षन्) ले जाएं [ये मित्र, वरुण और अर्यमा ।] यह भी निगम होता है ॥ २० ॥

भाष्य—अस्मा इदु ऋक् नोधा ऋषि की है । वेद का मन्त्रकृत् नोधा ऋषि पृथिवी पर का मानव नहीं है । गोः न पर्व=रश्मि के जोड़ों को जैसे ।

१. अग्नेर्वै मनुष्या नक्तं चक्षुषा पश्यन्ति । सूर्यस्य दिवा । एतौ वै चक्षुषः प्रदातारौ । मै० सं० २ । ३ । ६ ॥

यह सुविदित है कि इन्द्र अथवा सूर्य के जो हरि हैं वे रश्मय ही हैं। एक एक रश्मि के दो वर्ण गोपथ ब्रा० उ० ६। ६ में कहे हैं। समस्त वर्णों का सन्धि स्थान कहीं पर्व भी हो। मरुत भी रश्मियां रखते हैं। यथा—मरुतो रश्मयः। ताण्ड्य ब्रा० १४। १२। ९॥ रश्मियों के पर्व हैं। निरुक्त २। ६ में पूर्व कहा गया है—सर्वे ऽपि रश्मयो गावः उच्यन्ते। तथा च—आदित्यो ऽपि गौरुच्यते। औपमन्यव कहता है कि वत्स में भी पर्व हैं। यह बात यास्क ने एक अन्य मन्त्र के प्रमाण से दर्शाया है।

अब प्रश्न होता है कि हम ने इस ऋक् में गो पद का पशु रूपी गौ अर्थ न कर के रश्मि अर्थ क्यों किया है, तो इस का उत्तर स्पष्ट है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ६१ सूक्त में यह ऋक् है। उस का ऋषि नोधा है। वेदमन्त्रों में जितने ऋषि नाम हैं, वे सब दिव्य विभूतियां हैं। उन के द्वारा प्रजापति=ईश्वर की प्रेरणा से स्वाभाविक रूप में ही मन्त्र अथवा प्रकट किए गए। उन्हीं मन्त्रों और उन के अर्थों का दर्शन करने वाले पार्थिव ऋषि हुए। पार्थिव ऋषियों ने दिव्य विभूतियों के नाम पर ही अपने नाम रखे।

अब यास्क मुनि की महती सूक्ष्मेक्षिका देखिए। उस ने जब भी केवल दिव्य ऋषियों का स्मरण किया, तब उस ने उन के नामों के व्याख्यान के समय क्रिया के वर्तमान काल का रूप लिखा। ये दिव्य ऋषि अनादि हैं, वे सदा हैं। अतः उन के नामों के साथ वर्तमान काल के रूप का प्रयोग ही शोभा देता है। यथा—ऋषि कुत्सो भवति। ३। ११॥ नोधा ऋषिर्भवति। ४। १६॥ श्यावाश्व ऋषिर्भवति। ४। १६॥ ऋषिर्भेदो भवति। ९। ३॥ पर जब इन नामों के अनुकरण पर अपना नाम रखने वाले पार्थिव ऋषियों, पार्थिव राजाओं अथवा तद्विषयक पार्थिव घटनाओं का उल्लेख अभिप्रेत हुआ, तो वहां यास्क ने बभूव क्रियारूप का प्रयोग किया।

दिव्य नोधा—अब नोधा ऋषि का प्रसङ्ग देखिए। अस्मा इदु इस प्रतीक वाले १२ वें मन्त्र से आगे इस सूक्त के १४ वें मन्त्र में—सद्यो भुवद् धीयाय नोधाः। अर्थात्—नोधा ऋषि तत्काल वीर्यवान् हो गया ऐसा कथन है। यहां दिव्य नोधा का वर्णन है। अब नोधा विषयक ताण्ड्य ब्रा० ७।१०।१० का प्रवचन देखिए। तदनुसार सृष्टि बनाते समय देवों ने ब्रह्म=वेदमन्त्रों का विभाग करते हुए कक्षीवान् के पुत्र नोधा को एक साम दिया। वह नौधस साम हुआ। उस दिव्य कक्षीवान् के नाम पर किसी पार्थिव ऋषि ने भी अपना नाम कक्षीवान् रखा।

दिव्य नोधाः की गौएं—वही दिव्य नोधाः ऋक् १० में कहता है—गा न व्राणा अवनीरमुञ्चत् । गौएं हमारी [जो] वृत्र से आवृत हो गईं, [उन्हों ने] अवनीः=रक्षा करने वाली आपः अमुञ्चत्=छोड़ीं । ये वृत्रासुर से आवृत गौएं पार्थिव गौएं नहीं हैं । ये मरुतों की रश्मियां ही गावः हैं, जिन्होंने आपः छोड़ीं । मरुत ही आपः का च्यावन करते हैं । अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे । मरुतो ऽमुतश्च्यावयन्ति । मै० सं० २ । १ । ८ ॥ नोधा की वैसी गौएं=रश्मियां ही प्रस्तुत ऋक् में वर्णित हैं । ये पार्थिव गौएं नहीं हैं, प्रत्युत अन्तरिक्षस्थ रश्मियों का कोई प्रकार हैं । उन में से किसी रश्मि के पर्वों के कटने का संकेत यहां है ।

गौएं रश्मियां भी है, ऐसे प्रमाण वेद में बहुधा मिलते हैं । उपायन उषसां गोमतीनाम् । ऋ० २ । २८ । २ ॥ अर्थात्—आगमन पर उषाओं के, रश्मियों से युक्त हुईं के । गो का रश्मि अर्थ वेद के विद्वानों में अति प्रसिद्ध है ।

अतः इस मन्त्र से यह कभी सिद्ध नहीं हो सकता कि वेदधर्म को मानने वाले प्राचीन आर्य गोवध करते थे । ऐसा कथन वेदविद्या से अनभिज्ञ लोग ही करते हैं । यदि कोई कहे कि यह अर्थ उसे मान्य नहीं, तो उसे इन तर्कों का खण्डन तर्कयुक्त मार्ग से करना चाहिए ।

भारत के सर्वोच्च न्यायलय के एक निर्णय के प्रसङ्ग में—गौः के प्रसङ्ग में भारत के सर्वोच्च न्यायालय का एक निर्णय मेरे सामने है ।[1] उस निर्णय पर, १. श्री ऐस. आर. दास, प्रधान न्यायधीश, २. श्री टी. एल. वेङ्कट राम अय्यर, न्यायधीश, ३. श्री ऐस. के. दास, न्यायधीश, ४. श्री पी बी. गजेन्द्र गद्कर, न्यायधीश और ५. श्री विवीयन बोस, न्यायधीश के हस्ताक्षर हैं । इस निर्णय पर दी गई तिथि एप्रिल २३, सन् १६५८ है । मैंने उस निर्णय के विषय में कुछ नहीं कहना । पर उस के लगभग मध्य में लिखी गई निम्नलिखित पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं—

In Rig Vedic times goats, sheep, cows, buffaloes, and even horses were slaughtered for food and for religious sacrifice and their flesh used to be offered to the Gods. Agni is called the "eater of ox cow" in Rig Veda (VIII. 43, 11).

१. गो हत्या निरोध समिति, देहली, द्वारा मुद्रित ।

अर्थात्—ऋग्वेद के काल में बकरे, भेड़ें, गौएं, भैंसे और घोड़े तक भी भोजन और धार्मिक बलि के लिए वध किए जाते थे। और [illegible] का मांस देवताओं को भेंट किया जाता था। अग्नि को ऋग्वेद में 'बैल गाए का खाने वाला'' (८। ४३, ११) कहा है। इति।

मैंने शतपथ ब्राह्मण आदि से दी गई इस प्रसङ्ग की अगली पंक्तियां यहां उद्धृत नहीं कीं। उन का ऋग्वेद से सीधा सम्बन्ध नहीं है।

उक्षा और वशा का अर्थ—इस लेख में जिस ऋक् का प्रमाण है, वह निम्नलिखित है—

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नये॥ ऋ० ८। ४३। ११॥[1] इस ऋगन्तर्गत उक्षा और वशा पदों का ठीक अर्थ जानने के लिए इस ऋक् वाले सूक्त का ऋषि और देवता जानना आवश्यक है। ऋषि है इस का विरूप आङ्गिरस और देवता अग्नि। अङ्गिरा ऋषि अग्नि के योग से जन्मा एक प्राणविशेष है। उस के आठ पुत्र हैं। पार्थिव अङ्गिरा के आठ पुत्रों में से भी विरूप आङ्गिरस एक है।[2] दिव्य अङ्गिरा की सन्तति द्युलोक और अन्तरिक्ष में है। उपरिस्थित सूक्त में अन्तरिक्षस्थ जातवेद् अग्नि का भी कई बार (मन्त्र २, ६, १२ में) स्मरण है। अतः इस सूक्त की देवता अग्नि का सम्बन्ध अन्तरिक्ष लोक से अवश्य है। उस अन्तरिक्षस्थ अग्नि के प्रकरण में उक्षा पद का सङ्गत अर्थ आगे स्पष्ट करते हैं।

[1] उक्षा पद का अर्थ—उक्षा का साधारण अर्थ सेक्ता है। यह अर्थ ऋग्वेद से ही स्पष्ट है। यथा, मरुतों के सूक्त में उक्षन्ते अश्वान् [मरुत]। २। ३४। ३॥ अर्थात्—सींचते हैं [मरुत] अश्वों को [आदित्य आदि के अश्वों को।] यहां उक्षन्ते क्रियापद है। इस का दूसरा अर्थ बनता ही नहीं। ध्यान रहे कि मरुतों का यह सिञ्चन कर्म अन्तरिक्ष में है।

ऋग्वेद का अगला मन्त्रांश भी द्रष्टव्य है। प्राञ्चो मदन्त्युक्षणो अजुर्या देवा। ऋ० ३। ७। ७॥ अर्थात्—प्राची दिक् की ओर जाते हुए हर्ष को प्राप्त होते हैं, उक्षण [=साम] सेक्ता जीर्ण न होने वाले देव। यहां उक्षण विशेषण है देवों का।

---

१. तै० सं० १। २। १४। २१॥ मै० सं० ३। ११। ६४॥

२. महाभारत, अनुशासन पर्व १३२। ४३॥ कुम्भकोण सं०।

अगला अंश भी अत्यधिक स्पष्ट है । [देवाः] औक्षन् घृतैः ।

अर्थात्—[देवों ने] सींचा [इस अग्निः को] घृतों से ।

अतः उक्षा जब नाम पद होता है, तो वह सिञ्चन समर्थ पदार्थ का द्योतक है । क्योंकि बैल सिञ्चन समर्थ है, अतः वह भी उक्षा कहाता है । पर यह निर्विवाद है कि बैल के अतिरिक्त अन्य अनेक पदार्थ भी जो सिञ्चन समर्थ हैं, प्रकरणानुकूल उक्षा नाम धारते हैं ।

२. उक्षा अन्तरिक्ष में—ऋग्वेद का अगला मन्त्र उक्षा पद का अर्थ खोलने में अत्यन्त सहायक है—

उक्षा समुद्रो[1] अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश ।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥
॥ ५ । ४७ । ३ ॥

अर्थात्—उक्षा समुद्र है, अरुषः=दीप्तिमान् है, सुपर्णः श्रेष्ठ परों वाला है । उस ने पूर्वपिता की योनि को घेर लिया । मध्य में द्युलोक के रखा है अश्मा पृश्नि, वह घूमता है, रजसः=लोकों के, पाति=रक्षा करता है, अन्तौ किनारों को ।

मै० सं० गत समुद्रे पाठ के अनुसार अर्थ है—उक्षा समुद्र में [अन्तरिक्ष रूप समुद्र में ।]

निश्चय ही यहां उक्षा पद बैल का वाचक नहीं है । और पिता की योनि पद भी ध्यान देने योग्य हैं । क्योंकि पिता जो पुमान् है, उस की योनि नहीं होती । अतः यहां योनि का अर्थ उत्पत्ति-स्थान ही लिया जा सकता है । वह उक्षा पूर्व पिता (=द्युलोक ?) के उत्पत्ति-स्थान को घेरता है । अतः उक्षा का सर्वत्र बैल अर्थ करना वेदविद्या के नितरां विपरीत है ।

३. उक्षा पृश्निः—ऋग्वेद १ । १६४ । ४३ मन्त्र का उत्तरार्ध भी द्रष्टव्य है—

उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्[2]तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥

---

१. मै० सं० २ । १० । ४३ ॥ में समुद्रः के स्थान में समुद्रे पाठ है । तै० सं० ४ । ६ । ३, ११ में ऋग्वेद के समान ही पाठ है ।

२. वीराः, वेद में यह प्रायः मरुतों का विशेषण है । देखिए ऋ० ५।८५।४॥

अर्थात्—उक्षा पृश्नि को पकाया वीरों ने, वे धर्म पहले थे।

शौनक का प्रामाणिक अर्थ—इस मन्त्र पर बृहद्देवता ४। ४१ में एक शाखा के कोषों का पाठ है—सोम उक्षा। अर्थात्—इस मन्त्र में उक्षा पद का अर्थ सिञ्चन समर्थ सोम है। इस अर्थ की कोई विज्ञ पुरुष अवहेलना नहीं कर सकता। अनुक्रमणी ■ कात्यायन ने भी उक्षा पद स सोम का ग्रहण किया है। अत इस मन्त्रार्थ का अर्थ है—बहुवर्णी सोम को पकाया वीरों ने।

इस प्रकार ऋ० ५। ४७। ३ का स्पष्ट अर्थ हुआ, सोम ही समुद्र आदि है। यह समुद्र अन्तरिक्षस्थ है। अन्तरिक्ष में ही सोम का उक्षा रूप व्याप्त है। वहीं स वह पृथिवी पर की ओषधियों आदि में जीवन का सिञ्चन करता है। वही सोम पूर्व पिता=द्युलोक में होने वाले अपने उत्पत्ति स्थान में प्रविष्ट हो गया।

उक्षा, द्यावापृथिवी का धारक, पोषक—ऋग्वेद म एक और मन्त्रांश है—उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति। १०। ३१। ८॥ अर्थात्—उक्षा यह द्युलोक और पृथिवी लोक का धारणकर्ता है। द्युलोक का यह पार्थिव पशु बैल धारण करता है, यह कथन बनता ही नहीं। अत यह उक्षा बैल पशु नहीं है। यह सूक्ष्म सोम और परमात्मा है। इस प्रकार समझना चाहिए कि उक्षा पद देख कर उस का बैल अर्थ कर देना विज्ञ पुरुषों को शोभा नहीं देता।

८ देव पशु—वेद में जहां जहां देवों और पितरों=ऋतुओं के लिए पशुओं का किसी प्रकार का भी विधान है वह सब इन देव पशुओं का है। द्युलोक और अन्तरिक्ष के अनेक सूक्ष्म पदार्थ ही देव पशु हैं। उन का स्वरूप और ठीक अर्थ समझने के लिए वैदिक विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता है। इस विषय में निम्न उद्धृत प्रवचन बहुत प्रकाश डालता है—

स्वर्भानुर्वा आसुर सूर्यं तमसाविध्यत्। तस्य देवास्तमोऽपाघ्नन्। यत् प्रथम तमोऽपाघ्नन् सावि कृष्णाभवत्। यद् द्वितीयं। यदु अध्यस्ताद् अपाघ्नस्तत् साविर्वशाभवत्। त उद्यन् देवपशुमिमं कामायालभामहा इति। अथ या इयं तर्हि ऋक्षासीत्। अलोमिका।

अर्थात्—जब पृथिवी पर अभी कोई वनस्पति और ओषधि नहीं उगी थी, ■ असुर के पुत्र स्वर्भानु ने सूर्य को तम=अन्धकार ■ बींधा। उस सूर्य के

अन्धकार को देवों ने नष्ट किया। वह अन्धकार चार वार नष्ट किया गया। चौथी वार जो नीचे से तमः काटा गया, वह अविर्वशा हो गई।

आगे पाठ है—

अथो आहुः—यः प्रथमः तमस्यपढते सूर्यस्य रश्मिर्यूपस्य चषाले चातनोत् साविर्वशाभवत् इति। मै० सं० २।५।२॥[1]

अर्थात्—वेद ज्ञाता ब्रह्मवादी कहते हैं। उस दैवी यज्ञ में सूर्य की जो पहली रश्मि यूप के चषाल में फैली, वही अविर्वशा हुई।

५. वेद के ईसाई यहूदी अनुवादक—वैदिक पदों के इन गम्भीर अर्थों के होते हुए, जो अत्याचार इन ईसाई स्कालर नामधारी अनुवादकों ने वेदार्थ पर किया है, वह असह्य है। उन्हीं का अनुकरण कर के भारतीय लोग भी वेद में एक कसाई खाना मानने लगे हैं।

इसी प्रसङ्ग में वैदिक विद्वानों को एक दूसरा मन्त्र भी देखना चाहिए—

पीवानं मेषम् अपचन्त वीराः। ऋ० १०।२७।१७॥

अर्थात्—मोटे मेष को पकाया वीरों ने [इन्द्र के लिए।] मेष और मेषी विषयक अनेक मन्त्र वेद में हैं। इन्द्र स्वयं एक मेष बना था। उन को पार्थिव मेढा समझना सरासर भूल है। ये सब अन्तरिक्ष के पदार्थ हैं।

६. वशा—उषा पद के साथ वशा पद पर पहले कुछ प्रकाश डाल दिया गया है। अब अधिक देखिए। भगवान् ऐतरेय का प्रवचन है—यद् वशम् अस्रवत् सा वशाऽभवत्। तस्मात् सा हविरिव। १३।२६॥

अर्थात्—जब गायत्री छन्द सोम को नीचे ला रहा था, तब सोमपाल कृशानु ने उस के एक पाद में एक तीर मारा। उस तीर के व्रण से जो मेद वहा, वह वशा हुई। विचारने का स्थान है कि आग्नेय परमाणुओं का संयोगविशेष ही सोमपाल कृशानु है। उस का तीर कोई विद्युत् धारा है। उसी धारा से वायव्य

---

१. यह सारा प्रकरण तै० सं० २।१।१—८ से भी तुलना करने योग्य है। वहां खण्ड ७ में—शितिपृष्ठा वशा, द्विरूपा वशा, बहुरूपा वशा, उक्षवशः आदि स्मृत हैं। इन सब का भाव वहीं से जान लें।

देश में छन्दों में गतिरोध हो कर नया हुआ । उस से [illegible] मेरु दहा और तब वशा जन्मी । यह वशा पार्थिव वन्ध्या गौ नहीं है । परन्तु उस दैवी घटना की दृष्टि से याज्ञिक लोग किसी यज्ञ में किसी वशा=वन्ध्या गौ का आलम्भन करते थे । वही आलम्भन क्रिया उत्तर काल में बदली और मांस भक्षण प्रिय लोगों ने यज्ञ में पशु वध आरम्भ कर दिया । अतः मूल मन्त्र में वशा का अर्थ वन्ध्या गौ नहीं, अपितु आदित्य रश्मियों का कोई प्रकार है ।

७. मन्त्रार्थ—अतः ऋग्वेद ८ । ४३ । ११ का ठीक अर्थ है—उक्षान्नाय=सोम का एक प्रकार जिस का अन्न है[1], उस के लिए, वशान्नाय=आदित्य की रश्मि का अन्तरिक्षस्थ स्नेहांश युक्त जिस का अन्न है, उस के लिए, सोमपृष्ठाय='वियद् सोम जिस के पृष्ठ भाग पर है, उस अग्नि [illegible] लिए ।

इस देवपशु वशा का स्नेहांश ही वर्षा के साथ पृथिवी पर आकर ओषधियों और वनस्पति आदिकों में स्नेह का रूप धारण करता है । और अग्नि जो अमर-धर्मा हो कर अन्तरिक्ष में सदा जातवेद रूप में वर्तमान है वह अपना यह सोम और स्नेह से ग्रहण करता है । इस अर्थ के बिना इस मन्त्र की सूक्ष्मविद्या दर्शाने वाली स्थिति कदापि समझ में नहीं आ सकती । विदित रहे कि उक्षा और वशा के ही नहीं, प्रत्युत अज, मेष और अश्व आदि के अर्थ भी जानने चाहिए ।

व्रीहि और यव ही पशु—अन्तरिक्ष में अवस्थित पशु हैं । पार्थिव पशुओं में उन का क्या स्थान है और कौन उन का प्रतिनिधि है इस विषय में किसी को धोखा न रहे, अतः प्रवचनकर्ता मुनियों ने स्पष्ट कहा है—एते वै पशवो यद् व्रीहियवाः । मै० सं० १ । ६ । ११ ॥ अर्थात्—ये पशु हैं जो व्रीहि और यव हैं ।[2]

---

१ सोम स्वयं कहता है—अग्निरंगार तमर्य सोम आह सवाहमस्मि सख्ये न्योका ॥ ऋ० ५ । ४५ । १५ ॥

२ इसी भाव से पद्मपाद में लिखा है—ये यज्ञकर्मणि पशून् घातयन्ति तेऽपि मुग्धा. परमार्थं भुवनं जानन्ति । यज्ञ केनचिदुक्तम्—यवैर्यष्टव्यमिति । तत्रैवा व्रीहय इत्यभिहिता उच्यते । न आलम्भो, तत्कर्मणोऽनगात् । काण्डानुक्रम, श्लोक १५ के पश्चात् ।

सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय में, इस से आगे शतपथ ब्रा० ३ । ४ । १ । २ का उल्लेख है । जैसा वहां शतपथ का संकेत है, वैसा भाव ऐतरेय ब्राह्मण अध्याय ३ खण्ड ४ में भी है । ये लेख बहुत उत्तर काल के हैं । अतः उन पर यहां विचार नहीं किया ।

ऐतिहासिक वृत्तों से इतना ठीक प्रतीत होता है कि भारतीय इतिहास के बहुत उत्तर काल में यज्ञों में पशुवध आरम्भ हो गया था । परन्तु यह सत्य है कि सतयुग में और त्रेता के आरम्भ में जब मांसाहार ही नहीं था, तो गोमांस की बात कैसे हो सकती है ।[1] वेद मन्त्रों में गोमांस खाने आदि का विधान कहीं नहीं ।

भूमिः, अग्निः का तीनों लोकों में भ्रमण है । इन तीनों लोकों में इस के परमाणुओं का संयोग-विभाग विभिन्न प्रकार का हो जाता है । यह अग्निः मरण-धर्मा मनुष्यों को दृष्टि देता है । प्राणियों के नेत्रों में दर्शन की शक्ति इन आग्नेय परमाणुओं से ही है । पूर्व इस मन्त्र के अर्थ पर टिप्पण १ में इस का प्रमाण है । पारं नः अस्य, इस नदी रूप संसार के पार हो कर मोक्ष का प्राप्त करना मनुष्य का परम ध्येय है ॥ २० ॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना ।
त्वष्टा पोषाय वि ष्यतु राये नाभा नो अस्मयुः ॥

[ऋ० २ । १४२ । १० ॥]

तन्नः । तूर्णापि । महत् । सम्भृतम् । आत्मना । त्वष्टा धनस्य पोषाय विष्यतु । इति । अस्मयुः । अस्मान्कामयमानः ।

रास्पिनो रास्पी । रपतेर्वा । रसतेर्वा ।

रास्पिनस्यायोः । [ऋ० १ । १२२ । ४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा ।

---

१. देखो, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २१०–२१२ । द्वितीय संस्करण ।

[आ यं अप्नस तुर्णी व्युष्टिषु । [ऋ० १० । ७६ । १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।]

भद्यु इत्यप्यस्य भवति ।

ऋजुनीती नो वरुणः । [ऋ० १ । ९० । १ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

प्रतद्वसू प्राप्तवसू ।

हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभि स्वर । [ऋ० ८ । १३ । २७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २१ ॥

अर्थ—८८ तुरीपम् [दीर्घतमा कहता है] (तत् नः) हमारे लिए (तुरीपम्)=शीघ्र व्यापने वाला [उदक] (अद्भुतम्) महान्, आश्चर्य करने वाला इस प्रकार उपस्थित होने वाला (पुरुवारम्) बहुत स्थान को धारण= निवारण=ढापने वा [illegible]

स्थानी त्वष्टा (पोषा [illegible]

करे (राय) धन [[illegible]

म [अन्तरिक्ष म ठहरा त्वरा] (न) हमारी (अस्मयु) कामना करने वाला [त्वष्ट] ।

तत् न=हमारे लिए [तुरीपम्]=तूर्णापि=तूर्ण-यापि-शीघ्र व्यापने वाला [उदक] [अद्भुतम्]=महत्=महान् सम्भूत=अपने स्वरूप द्वारा । त्वष्टा धन की पुष्टि के लिए विष्यतु=मुक्त करे । इति । अस्मयु=हमें कामना करने वाला=हमारा भला चाहने वाला ।

८० रास्पिन । रास्पी । रपति से अथवा । रसति ▌ अथवा ॥ (रास्पिनस्य) शब्द करने वाले [उदक का] (आयोः) [अथवा] मनुष्य (स्तोता का है अग्निरे ।] यह भी निगम होता है ।

८१ ऋजुनीति =प्रसाधन=प्राप्त करने वाला [है ।] [(य) तुम्हें (आ अप्नस)=सुखे प्राप्त होता है (ऊर्णा व्युष्टिषु) उषा के सुनने पर । यह भी निगम होता है ।

६२. ऋजुनीती, ऋजु, यह भी इस [ऋञ्जतिः] का होता है। ऋजुनीती) सजी सजाई गति में हमें वरुण [चलाए।] यह भी निगम होता है।

६३. प्रतद्वसू=प्राप्तवसू=प्राप्त किए धन वाला। (हरी) [आत्मीय] दोनों अश्वों को, हे इन्द्र, (प्रतद्वसू) प्राप्त किए धन वालों को [जोड़ कर] (अभिस्वर)=अभिगच्छ= [यज्ञ की ओर] जाओ। यह भी निगम होता है ॥ २१ ॥

भाष्य—तुरीपम्, शीघ्र व्यापने वाला उदक। आपः और वायव्य परमाणु अति शीघ्र व्याप्त हो जाते हैं। वरुण के सूक्तों में परमात्मा की विभूतियों और कृपाओं का अतुलनीय वर्णन मिलता है ॥ २१ ॥

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।

ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः ॥

[ऋ० १० । ३० । ११ ॥]

प्रहिणुत नोऽध्वरं देवयज्यायै। प्रहिणुत ब्रह्म धनस्य सनयाय। ऋतस्य योगे। यज्ञस्य योगे। याज्ञे शकटे इति वा। शकटं शकृदितं भवति। शनकैस्तकतीति वा। शब्देन तकतीति वा। सुखवतीः। [श्रुष्टीवरीः] भूतनास्मभ्यमापः। [सुखवत्यो भवतास्मभ्यमापः।]

चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामम्। [ऋ० १ । ३३ । ३ ॥]

दददिन्द्र बहु वननीयम्।

एधमानद्विळुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्।

[ऋ० ६ । ४७ । १६ ॥]

व्युदस्यति। एधमानानहः द्वेष्टि असुन्वतः। सुन्वतोऽभ्यादधाति। उभयस्य राजा। दिव्यस्य च पार्थिवस्य च। चोष्कूयमाण इति चोष्कूयतेः चर्करीतवृत्तम्। सुमत् स्वयमित्यर्थः।

उप॑ प्रागा॑त्सु॒मन्मे॑ऽधायि॒ मन्म॑ । [ऋ० १ । १६२ । ७ ॥]

उपप्रैतु मा [स्वयं] यन्मे मनोऽध्यायि यज्ञेन । इत्याश्वमेधिको मन्त्रः ।

दिविष्टिषु दिवः एषणेषु ।

स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु । [ऋ० ८ । ४ । १९ ॥]

स्थूरः । समाश्रितमात्रो महान् भवति । अणुरनु स्थवीयांसम् । उपसर्गो लुप्तनामकरणः । यथा सम्प्रति । कुरुङ्गो राजा बभूव । कुरुगमनाद्वा । कुलगमनाद्वा । कुरुः कृन्ततेः । क्रूरमित्यप्यस्य भवति । कुलं कुष्णातेः । विकुषितं भवति ।

दूतो व्याख्यातः ।

जिन्वति प्रीतिकर्मा ।

भूमिं॑ प॒र्जन्या॒ जिन्व॑न्ति॒ दिवं॑ जिन्वन्त्य॒ग्नयः॑ ।

[ऋ० १ । १६४ । ५१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २२ ॥

१४ हिनोत । (हिनोता=हिनोत) भेजो (नः) हमारे (अध्वरम्) हिंसा रहित कर्म=यज्ञ को (देवयज्या)=देवयज्यायै=देवों के याग के लिए (हिनोत) भेजो (ब्रह्म) मन्त्ररूपी स्तुतियों को (सनये) प्राप्ति के लिए (धनानाम्) धनों की । (ऋतस्य) यज्ञ के (योगे) संयोग में (वि ष्यध्वम्)=विमुञ्चत=खोल दो [सोम स्रोत को] (ऊधः) हटाने को [जैसे गौ खोलती है] (श्रुष्टीवरी) सुखकरी (भूतन) होवो (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (आपः) हे आप ।

हिनोत–प्रहिणुत–भेजो हमारे अध्वर को देवयाग के लिए । भेजो ब्रह्म=मन्त्रों को धन की प्राप्ति के लिए । ऋतस्य योगे=यज्ञ के संयोग में । याज्ञ=यज्ञ सम्बन्धी छकड़े में अथवा । शकटम्=शकृत्+इतम्=गोबर से युक्त होता है । शनकैः=शनैः शनैः तकति=चलता है अथवा । शब्देन=शब्द करता हुआ चलता है अथवा । श्रुष्टीवरी=सुखवती होवें हमारे लिए आप ।

९५. चोष्कूयमाणः । (चोष्कूयमाणः) देते हुए, हे इन्द्र, (भूरि) बहुत (वामम्) वननीय=चाहने योग्य अत्यन्त उत्कृष्ट [धन ।] चोष्कूयमाणः=ददत्=देते हुए हे इन्द्र बहुत चाहने योग्य [धन ।]

९६. चोष्कूयते । (एधमानद्विट्) [अधर्म से] बढ़े हुओं का शत्रु (उभयस्य राजा) दोनों दिव्यों और पार्थिवों का राजा (चोष्कूयते) परे फेंकता है [अधर्मी अयज्ञशील को] (विशः) आत्मीय प्रजा को इन्द्र मनुष्यों को [धर्मशीलों को साथ रखता है । चोष्कूयते= व्युदस्यति=परे फेंकता है, एधमानान्+अह्नः=बढ़ते हुओं को ही द्वेष्टि, द्वेष करता है, असुन्वतः=सोम न बहाने वाले अयज्ञशील का । सुन्वतः= सोम बहाने वाले को अभि+आदधाति=चारों ओर से स्थापन करता है । दोनों का राजा । दिव्य का और, पार्थिव का और । चोष्कूयमाणः यह पद और चोष्कूयते चर्करीतवृत्तम्='कु' के यङ्लुगन्त के रूप हैं ।

९७. सुमत्=स्वयम्, यह अर्थ है । (उप+प्र+अगात्) प्रकर्षता से प्राप्त हो (सुमत्) स्वयं, (मे) मुझे (अधायि) रखा गया है (मन्म) जो मन में [मेरे, फल वा विज्ञान] ॥ उपप्रैतु=प्रकर्षता से प्राप्त हो मुझे स्वयं, जो मेरे मन में रखा गया=ध्यान किया गया है फल वा विज्ञान, यज्ञ द्वारा । यह आश्वमेधिकः=अश्वमेध विषयक मन्त्र है ।

९८. दिविष्टिषु=दिवः=द्युलोक के अथवा प्रकाशशील परमात्मा के एषणेषु=चाहने वालों में [यह पद प्रयुक्त होता है ।] (स्थूरम्) महान् (राधः) धन (शताश्वम्) सैकड़ों अश्वों वाला (कुरुङ्गस्य) कुरुङ्ग [राज्ञः] राजा की (दिविष्टिषु) दिव्य लोक चाहने वाली क्रियाओं में ।

स्थूरः । सम्+आ+श्रित+मात्रः=एक मूल का आश्रय लेने वाले अवयवों वाला, महान् होता है । अणुः, अनु=पीछे होता है स्थवीयांसम्= =स्थवीयान्=स्थूल के । [अनु] उपसर्ग है, लुप्तनामकरणः [जिस का] लुप्त हैं [अगला] प्रत्यय । जैसे सम्प्रति [में तद्धित प्रत्यय वाले साम्प्रतं का प्रत्यय लुप्त मान कर, रूप मान लिया जाता है ।] कुरुङ्ग राजा हुआ था । कुरुगमनात्=कुरुओं में चले जाने=लीन हो जाने से अथवा । कुलगमनात्=[मूल] कुल में चले जाने से अथवा । कुरुः कृन्तति से [है ।] क्रूरम् [पद] यह भी इसी का [एक रूप] होता है । कुलम्

कुष्णाति [वृद्धि अर्थ वाले] से [है ।] वि+कुषितम्=विशेष बढ़ा हुआ=फैला हुआ होना है ।

९९ दूतम्, व्याख्या किया गया है [पूर्व ५ । १ में ।]

१०० जिन्वति=प्रीति अर्थ वाला [है ।] (भूमिम्) भूमि को (पर्जन्या) पर्जन्य (जिन्वन्ति) प्रीति करते हैं । (दिवम्) द्युलोक को प्रीति करते है (अग्नय') पावन, पावक और शुचि अग्नियां । यह भी निगम होता है ॥ २२ ॥

भाष्य—हिनोता इति । कवष ऐलूष ऋषि ने आप विद्या का इस १०।३० सूक्त में दर्शन किया । यहाँ एकधना आप भी आया है । मन्त्र का धनानाम् पद धन का संकेत करता है । सूक्त की देवता आप भी है । अध्वर=हिंसा रहित कर्म । ऊध=इवाना । इस का जर्मनी में अपभ्रंश udder है । सुर्दानरी, सुस्वनरी । वसीवरी का रूप इसी प्रकार का है । एकधना और वसीवरी दोनों आप के भेद हैं । सुन्वत=यज्ञपति की भूरि महिमा है । उसे परमात्मा सुख का स्थान देता है । उप प्रायात् । जो मेरा मन ध्यान करता है, वह मेरे पास आए । ऋषि का मन सदा ज्ञान और कल्याण का ध्यान करता है । हम मनुष्यों का मन भी वैसा शुद्ध होना चाहिए । स्थूर राध', इति । यह कुरङ्ग की दानस्तुति के तीन ऋ० ८ । ४ । १६—२१ मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र है । कुरङ्ग अन्तरिक्षस्थ राजा था । यदि वह सदा रहता तो यास्क उस का उल्लेख भवति, क्रिया से करता । परन्तु यास्क ने यहाँ बभूव, क्रिया का प्रयोग किया है ।[1] यह कुरङ्ग दिविक्षिपु अर्थात् द्युलोक अथवा ईश्वर प्राप्ति का इच्छुक था । क्योंकि वह द्युलोक का इच्छुक था, और तदर्थ ही शुभ कर्म करता था, अत वह द्युलोक को प्राप्त हुआ । इसीलिए यास्क ने बभूव क्रिया लिखी । वह कुरङ्ग कुरुगमन कर गया । वेद के विद्वान् जानते हैं कि एक कुरुक्षत्र इस पृथिवी पर है, और एक कुरुक्षत्र दिव्य है । उस दिव्य कुरुक्षेत्र पर दिव्य देव वास करते रहे हैं । कुरङ्ग नामक राजा, जो भौतिक पदार्थों में स था, उसी कुरु स्थान को गया । वहीं पुण्यकर्मा [illegible] । वहां वह अपने कुल में चला गया । अन्तरिक्ष में ही कुरङ्ग सुदाम, अम्बरीष आज्ञाव आदि अन्य राजा भी कहे गए हैं ।

---

१. तुलना करो—एकतो द्विताश्रित इति त्रय बभूवु । निरुक्त ४ । ६ ॥

वेद में मानव इतिहास ढूंढने वाले विद्वद्ब्रुव वेदार्थ के समीप भी नहीं पहुंचे। वेद को मानव कृति समझने वाले और मिथ्या "भाषा विज्ञान" की डींग मारने वाले वेदार्थ को अणुमात्र भी नहीं जानते। कुरुङ्ग पार्थिव नहीं, इस सत्यता का प्रमाण इसी मन्त्र में है। इस मन्त्र के अन्त में तुर्वशेषु, यह पद है। अब ध्यान रखना चाहिए कि —यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, पूरु आदि सारे नाम[1] अन्तरिक्षस्थ पदार्थों के ही हैं। वैसे ही कुरुङ्ग भी उन के साथ का ही था। यास्क ने महती कृपा कर के ये सब पद मनुष्य नामों में पढ़े हैं। अतः कुरुङ्गो राजा बभूव, का जो गम्भीर अर्थ यास्क को अभिप्रेत था, यह हमने स्पष्ट कर दिया है। इस विषय में महान् वैदिक विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेदार्थ शैली ही ठीक है, जहां इन सब पदों के यौगिक रीति से अर्थ कर दिए गए हैं। यास्क के काल में ये सब तत्त्व ज्ञात थे, अतः यास्क ने अधिक नहीं लिखा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अधिक स्पष्टीकरण कर के साधारण पाठकों के भ्रम निवारण का भी उपाय कर दिया ॥ २२ ॥

अमत्रो ऽमात्रो। महान्भवति। अभ्यमितो वा।

म॒हाँ अम॑त्रो वृ॒जने॑ विर॒प्शी। [ऋ० ३।३६।४॥]

इत्यपि निगमो भवति।

स्तवे॑ व॒ज्र्यृ॒चीष॑मः। [ऋ० १०।२२।२॥]

स्तूयते वज्री ऋचा समः।

अनर्शरातिम् अनश्लीलदानम्। अश्लीलं पापकम्।

[१२।१]अश्रिमद्विषमम्।

अ॒नर्श॑रातिं वसु॒दामुप॑ स्तुहि। [ऋ० ८।९९।४॥]

इत्यपि निगमो भवति।

अनर्वा अप्रत्यृतो ऽन्यस्मिन्।

अ॒नर्वा॑णं वृष॒भं म॒न्द्रजि॑ह्वं बृह॒स्पतिं॑ वर्धया॒ नव्य॑म॒र्कैः।

[ऋ० १।१९०।१॥]

---

१. ऋ० १।१०८।८ में ये सब पद एक ही मन्त्र में हैं।

अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन् । वृषभम् । मन्द्रजिह्वं मन्दनजिह्वम् । मोदनजिह्वमिति वा । बृहस्पतिं वर्धय नव्यमर्कैः । अर्चनीयैः स्तोमैः ।

असामि सामिप्रतिषिद्धम् । सामि स्यतेः ।

असाम्योजो बिभृथा सुदानवः। [ऋ० १ । ३९ । १० ॥]

असुसमाप्तं बलं बिभृथ कल्याणदानाः ॥ २३ ॥

अर्थ—१०१ अमत्र =अमात्र=नहीं परिमाण जिस का । महान् होता है । अभि+अमित =सामने आने वाला अथवा । [इन्द्र] महान् (अमत्र) परिमाण रहित (वृजने) संग्राम में (विरप्शी) रुलाने वाला अथवा आह्वानकर्ता शत्रु का । यह भी निगम होता है ।

१०२ ऋचीषम । (स्तवे) स्तुति करता हूं=स्तुति किया जाता है। (वज्री) वज्र वाला [इन्द्र] [ऋची सम.] जो ऋक् के तुल्य है ॥ स्तूयते=स्तुति किया जाता है वज्री ऋचा सम =जो ऋक् के तुल्य है ।

१०३ अनर्शरातिम्=अन+अर्शरातिम्=अन+अश्लीलदानम्=नहीं अश्लील=नहीं पापमय दान वाले को । अश्लीलम्=पापकम्=पाप रूप । अ+श्रि+मत्=अ+श्री+मत्=नहीं श्री वाला=नहीं शोभा वाला, वि-सृमम्= जो टेढ़ा है, सम नहीं है ॥ (अनर्शरातिम्) नहीं पापमय दान वाले (वसुदाम्) धन दाता [इन्द्र को, परमात्मा को] (स्तुहि) स्तुति करो। यह भी निगम होता है ।

१०४. अनर्वा—अ+प्रति+ऋत =नहीं सहारा लिए अन्यस्मिन्=दूसरे पर ॥ (अनर्वाणम्) नहीं दूसरे पर आश्रित (वृषभम्) [सुख] वर्षक (मन्द्रजिह्वम्) स्तुति करने वाली वाक् वाले को (बृहस्पतिम्) बृहस्पति को (वर्धय) बढ़ाओ (नव्यम्) [स्कन्द—नवनीयम्=स्तुत्यम्] स्तुति योग्य (अर्कैः) स्तोत्रों से ॥ अनर्वम्=अ+पराश्रय को, वर्षक को, मन्दनजिह्वम्=प्रसन्न वाक् वाले को, मोदनजिह्वम्=हर्षदायी वाक् वाले को अथवा । बृहस्पति को बढ़ाओ, स्तुति योग्य स्तोत्रों से ।

१०५ असामि, सामि अर्थात् समाप्त का निषेध । सामि स्यतिः= समाप्त होना है, से । (असामि) न समाप्त होने वाले (ओजः) बल को

(विभृथ) धारण करो, (सुदानवः) कल्याण दान वाले मरुतो ।] अनुसमाप्त बल को विभृत=धारण करो हे कल्याणदानवाले [मरुतो] ॥२३॥

भाष्य —ऋचा समः, ईश्वर की वास्तविक स्तुति ऋचाओं से ही संभव है । मानव वाणी वहां तक पूरी नहीं पहुँचती । अत एव यज्ञ में भी मानुषवाक् का सर्वत्र निषेध है । वृषभम्, यहां बृहस्पति का विशेषण है । बृहस्पति मन्त्रजित् है ॥ २३ ॥

मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा ।
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत् ॥
[ऋ० ८ । १ । २० ॥]

मा चुक्रुध्यं त्वां सोमस्य गालनेन सदा याचन्नहम् । गिरा गीत्या स्तुत्या । भूर्णिमिव मृगम् । न सवनेषु चुक्रुधम् । क ईशानं न याचिष्यत[1] इति । [गल्दा धमनयो भवन्ति । गलनमासु धीयते ।]

आ त्वा विशन्त्विन्दव आ गल्दा धमनीनाम् ।[2]

नानाविभक्तीत्येते भवतः । आगलनाः धमनीनाम् । इति अत्रार्थः ॥ २४ ॥

अर्थ—१०६. गल्दया । (मा) मत, (त्वा) तुझे (सोमस्य) सोम के (गल्दया) गालने से=पूर्ण होने से (सदा याचन्) सदा याचना करता हुआ [भी] (अहम्) मैं (गिरा) गीति अथवा स्तुति से, (भूर्णिं मृगं न) भ्रमणशील सिंहादिक को जैसे (चुक्रुधम्) कोई क्रुद्ध करे, [वैसे नहीं क्रुद्ध करने वाला हुआ] (सवनेषु) सवनों मे । (कः) कौन (ईशानम्) अपने ईश=स्वामी से (न) नही (याचिषत्) याचना करता । [अतः मेरी याचना स्वीकार करो ।] मा=मत=नहीं क्रुद्ध किया तुझे, सोम के गालनेन=बहाने से सदा याचन्=याचना करते हुए, अहम्=मैंने गिरा=गीति से अथवा स्तुति से ।] भूर्णिम् इव मृगम्=भ्रमणशील सिंहादिक को जैसे । [मा=नहीं] सवनों में चुक्रुधम्=क्रुद्ध किया । कौन

१. याचिष्यति—लघुपाठ ।

२. ऋग्वेद ९ । १५ । १ में पूर्वार्ध मात्र । आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ८ । ७ । १० ॥ मानव श्रौत सूत्र १ । ७ । २ । १८ ॥

[है जो] ईशानम्=स्वामी को नहीं याचिष्यते=याचना करे । गल्दा धमनियां=नाडियां होती हैं । गलनम्=वहन करता रस [=रक्त अथवा प्राण] इनसे धीयते=रखा जाता है ॥ (त्वा) तुझ को (आ विशन्तु) सब ओर से प्रविष्ट हों (इन्दवः) विभिन्न सोम, (आ गल्दा धमनीनाम्) [स्कन्द—धमन्यो हि ग्रीवानाड्य उच्यन्ते] जहां तक कण्ठ नाडियां हैं, वहां तक [आगलनात्=पूर्ण हो कर ।] नानाविभक्ती =विभिन्न विभक्तियों में इति एते=ये दोनों पद [गल्दया, गल्दा, तृतीया एक वचन की चिह्न, और प्रथमा एक वचन] हैं । आ गलना=पूर्ण होते हुए धमनीनाम्=जाने की नाडियों के [=जाने की नाडियों में पूर्णता तक । स्कन्द के अनुसार उत्तर उदाहरण गल्दा पञ्चम्यन्त मधु सत् चिह्न में है ।] यह यहां अर्थ है ॥ २४ ॥

भाष्य—पूर्व मन्त्र का पदक्रम वर्तमान शैली के अनुसार दुर्व्याख्यी है । इस लिए यास्क ने मा चुक धम् को आरम्भ में ही लिख कर अर्थ स्पष्ट किया है । गल्दा, पद वाला उदाहरण इस समय आपस्तम्ब और आश्व श्रौत सूत्रों में ही उपलब्ध होता है । किसी मूल शाखा-संहिता में यह अवश्य होगा । स्कन्द ने अपने निरुक्तवृत्तिसमुच्चय में इस मन्त्र का उत्तरार्ध भी पढ़ा है । निघण्टु ४।३ में केवल गल्दया पद पढ़ कर तथा भाष्य में दूसरी विभक्ति वाले गल्दा रूप के पढ़ने और तदर्थ उदाहरण में किसी संहिता का पाठ देने से यास्क ने स्पष्ट किया है, कि मूल निघण्टु के संकलन में उस ने अपने से पूर्व के निघण्टुओं का अनुसरण किया है । परन्तु अपनी व्यापक बुद्धि के कारण उस ने भाष्य में दूसरा उदाहरण भी दे दिया है । पहले निघण्टुओं में ऋग्वेद का ही अधिक आश्रय होगा । स्कन्द के अनुसार धमनियां गले की नाडियां होती हैं । अन्यत्र सब नाडियां ही धमनी नाम से कही जाती हैं ॥ २४ ॥

न पा॒पासो॑ मनामहे॒ नारा॑यासो॒ न जल्ह॑वः ।
[ऋ० ८ । ६१ । ११ ॥]

न पापा मन्यामहे । नाधना । न ज्वलनेन हीनाः । अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपो दानकर्मेत्यृषिरवोचत् ।

बकुरो भास्कर । भयङ्करः । भासमानो द्रवतीति वा ॥ २५ ॥

अर्थ—१०७ जल्हवः । नहीं (पापासः) पापी (मनामहे) हम अपने को मानते हैं, नहीं (अरायासः) नहीं दान दे सकने वाले=निर्धन

हम, नहीं (जल्हवः) ज्वलन हीन=अग्नि: से रहित ॥ नहीं पापी [मनामहे] =मन्यामहे=हम अपने को मानते हैं। नहीं अवन=वनहीन । नहीं ज्वलन से हीन। अस्ति अस्मासु=है हमारे में, ब्रह्मचर्य, अध्ययनम्=स्वाध्याय, तप, दानकर्म, ऐसा ऋषिः=मन्त्रकृत् दिव्य ऋषि बोला।

१०८. बकुरः=भास्करः=भाः+कर=प्रकाश करने वाला । भय को करने वाला । भासमानः=चमकता हुआ द्रवति=बहता जाता है अथवा ॥ २५ ॥

भाष्य—ब्रह्मचर्य, अध्ययन और दान । ये तीनों गुण छान्दोग्य उपनिषद के धर्मस्कन्ध ब्राह्मण में कहे गए हैं। यास्क ने इन के साथ तप भी जोड़ा है। इन चारों से ही मानव जीवन पूर्णता को प्राप्त होता है। वेद के इस मन्त्र से ये सब गुण आकृष्ट किए गए हैं। दान की महती महिमा है । जल्हवः, स्वाध्याय और तप से पुरुष ज्वलन गुण युक्त होता है, ब्रह्म तेज प्राप्त करता है । ऋषिः अवोचत्—दिव्य ऋषि बोला। ऋग्वेद के इस सूक्त का ऋषि भर्गः प्रागाथः है। वह कौन दिव्य विभूति है, यह जानना चाहिए ॥ २५ ॥

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा ।
अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ॥

[ऋ० १ । ११७ । २१ ॥]

[यवमिव वृकेणाश्विनौ निवपन्तौ ।] वृको लाङ्गलं भवति । विकर्तनात् । लाङ्गलं लगतेः । लाङ्गूलवद्वा । लाङ्गूलं लगतेः । लङ्गतेः । लम्बतेर्वा । अन्नं दुहन्तौ मनुष्याय दर्शनीयौ । अभिधमन्तौ दस्युम् । बकुरेण ज्योतिषा वा । उदकेन वा । आर्य ईश्वरपुत्रः ।

बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति । द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा । द्विगुणं कामयन्त इति वा ।

इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि ॥

[ऋ० ८ । ६६ । १० ॥]

इन्द्रो [यः] सर्वान् बेकनाटान् । अहर्दृशः सूर्यदृशः । य इमान्यहानि पश्यन्ति न पराणीति वा । अभिभवति कर्मणा । पणींश्च वणिजः ॥ २६ ॥

अर्थ—(यवम्) जौ को (वृकेण)=लाङ्गल=हल से (अश्विना)=अश्विनौ हे अश्विनो (वपन्ता)=वपन्तौ=बोते हुए (इषम्) अन्न को (दुहन्ता)=दुहन्तौ=दुहते हुए (मनुष्याय) मनुष्य के लिए (दस्रा)=दस्रौ=हे सुन्दर रूप वालो। (दस्युम्) दस्यु को (बकुरेण) प्रकाश से (अभि धमन्ता)=अभि धमन्तौ=ताडते हुए (उरु) विस्तृत (ज्योतिः) ज्योति को (चक्रथुः) किया (आर्याय) आर्य के लिए [तुम दोनों ने]।

[जौ को जैसे हल से, हे अश्विनो, निवपन्तौ=बोते हुए ।] वृक, लाङ्गल=हल होता है, विकर्तनात्=[पृथिवी को] छेदन करने से। लाङ्गलम् लङ्गति से, चलता है। लाङ्गूलवत्=पूछ के समान अथवा पूछ वाला अथवा। लाङ्गूलम्, लगति से, लगा होता है। लङ्गति से, चलता है। लम्बति से अथवा, लम्बाई में लटकता है। अन्न को दुहन्तौ=दोहते हुए, मनुष्य के लिए, दर्शनीय=सुन्दर अश्वियो । अभिधमन्तौ=ताडते हुए दस्यु को। बकुरेण=प्रकाश से अथवा। उदक से अथवा। आर्य=ईश्वर का पुत्र।

१०९ बेकनाटान्। बेकनाटा, ये तो कुसीदिन=व्याज लेने वाले होते हैं। [मूल धन को] दुगना करने वाले अथवा। दुगने पर देने वाले अथवा। दुगने को चाहने वाले अथवा।

(इन्द्र) इन्द्र (विश्वान्) सारे (बेकनाटान्) वृद्धि जीवियों=वार्धुषिकों को (अहर्दृशः) [इसी जन्म में] दिन या सूर्य के देखने वालों को [=दृष्टप्रधान नास्तिकों को] (उत क्रत्वा) कर्मानुष्ठान से ही (पणीन्) वणिजों को=बनिया को (अभि+भवति) विनाश करता है।

इन्द्र [जो] सारे वणिजों का अहर्दृशः=सूर्यदृशः=[इसी जन्म में] सूर्य देखने वालों को। जो इन्हीं दिनों को=वर्तमान को देखते हैं, नहीं परवर्ती दिनों को अथवा। [धन के लोभ में पाप करते हुए जो पर जन्म का ध्यान नहीं रखते।] अभिभवति=नाश करता है, कर्म से । पणीन् पणि=और वणिज=बनियों को ॥ २६ ॥

भाष्य—अश्विद्वय कृषि के सहायक, दस्यु के ताडक और आर्य को ज्योति दायक हैं। आर्य का अर्थ है ईश्वर का पुत्र। आगे बेकनाटान् पद के व्याख्यान में वार्धुषिक की निन्दा है। जो एक वर्ष में द्विगुण करना चाहता है वो मानो वह पाप बुद्धि से व्यापार करता है, वह निन्द्य है। मनु कहता है-प्रेष्यान् वार्धुषिकां

कांश्च विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ ८। १०२ ॥ जो ब्राह्मण वार्धुषिक का काम करता है, उस के साथ शूद्र के तुल्य वर्ताव करे। इसी लिए मनु आदि ने वार्धिक वृत्ति की मर्यादा स्थिर की है। तथा नारद ने कुसीद व्यापार की बड़ी निन्दा की है ॥ २६ ॥

जीयाञ्चो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात् ।
कद्ध स्थ हवनश्रुतः ॥ [ऋ० ८। ६७। ५ ॥]

जीयन्तो नोऽभिधावतादित्याः पुरा हननात् । क्व नु स्थ ह्वानश्रुतः । इति ।

मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते । मत्स्या मधौ उदके स्यन्दन्ते । माद्यन्तेऽन्योन्यं भक्षणायेति वा । जालं जलचरं भवति । जलेभवं वा । जलेशयं वा ।

अंहुरः । अंहस्वान् । अंहूरणमित्यप्यस्य भवति ।

कृण्वन्नंहूरणादुरु । [ऋ० १। १०५। १७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।
[ऋ० १०। ५। ६ ॥]

सप्तैव मर्यादाः कवयश्चक्रुः । तासामेकामप्यभिगच्छन्नंहस्वान् भवति । स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति ।

बत इति निपातः । खेदानुकम्पयोः ॥ २७ ॥

अर्थ—१२०. अभिधेतन । [मत्स्य ऋषि वाले सम्मद पुत्र की यह ऋक् है ।] (जीयाञ्चः) जीते हुओं को हम को (अभिधेतन) दौड़ो (आदित्यासः) हे आदित्य रश्मियो (पुरा हथात्) पूर्व [हमारे] मारे जाने से । (कद्ध) कहां तुम (स्थ) ठहरे हो (हवनश्रुतः) हे आह्वान के सुनने वाले ।

जीते हुओं को हम को दीजो, हे आदित्यो पूर्व [हमारे] हनन से । कहां ठहरे हो, हे पुकार के सुनने वालो ।

मत्स्यों का जाल मे फंसे हुओं का यह ऋषि-वचन है [ऐसा आचार्य] बताते हैं । मत्स्याः=मछली अर्थात् उदक मे स्यन्दन्ते=बहते हैं । माद्यन्ते= प्रसन्न होते है एक दूसरे को खाने के लिए अथवा । जालम्=जल मे चरने वाला होता है । जल मे होने वाला अथवा । जल मे शयन करने=सोने वाला अथवा ।

१११. अंहुर=अंहस्वान्=पाप वाला । अंहुरणम्=यह शब्द इसी से इस का होता है । (उरु इरणवत्) विस्तीर्ण [रक्षा] करते हुए (अंहुरणात्) पाप वाले [अन्धकूप] से [निकालो ।] यह भी निगम होता है ।

सात मर्यादाएं (कवयः) क्रान्तदर्शी ऋषियों ने (ततक्षुः) [सम्पूर्ण धर्म को] तक्षण कर के बनाई हैं । (तासाम् एकाम् इत्) उन मे से एक को भी (अभि गात्) उल्लंघन कर के (अंहुरः) पापवान् [होता है मनुष्य ।] सात ही मर्यादाएं कवियों ने की । उन मे से एक को भी (अभिगच्छन्) अति क्रमण करता हुआ अंहस्वान्=पापी होता है । स्तेयम्=चोरी, तल्पारोहणम्=[दूसरे के] बिस्तर पर चढ़ना=व्यभिचार कर्म, ब्रह्महत्याम्=वेद पाठ करने वाले ब्राह्मण की हत्या, भ्रूणहत्याम्=गर्भ हत्या, सुरापानम्=सुरापान दुष्कृत कर्म की पुनः पुनः सेवा, पातके=पातक मे अनृतोद्यम्=असत्य बोलना, ये ।

१११ मत्स्य यह निपात है, वेद और अनुक्रमणी के अर्थ में ।

भाष्य मत्स्य रूपी ऋषि—अन्तरिक्ष और द्युलोकस्थ नदियों में कोई मत्स्य मत्स्यरूप में चलते हैं । वे इन नदियों के जाल में फंस कर अपनी रक्षा चाहते हैं । उन का वचन है । सूर्य में उत्तर और दक्षिण मुख हैं । उत्तर से आदित्य रश्मि-समूह चलते हैं । दक्षिण से आङ्गिरस । उत्तर के आदित्य उन मत्स्यों को जो नदी जाल में फंस रहे हैं, बचा सकते हैं । अतः उन के बुलाने के लिए वचन है । इस सम्बोध किया का पूरा ज्ञान अभीष्ट है । मत्स्य का निर्वचन है—मत्+स्य=मधौ+स्यन्दन्ते । जाल पद का जल से सम्बन्ध है । पक्षियों के फांसने वाला जाल इसी के अनुकरण पर नाम दिया गया प्रतीत होता है ।

सप्तमर्यादा—वर्तमान युग में वे पाप अतिकृष्ट पर हैं ॥ २७ ॥

वतो वंतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥
[ऋ० १० । १० । १३ ॥]

वतो वलादतीतो भवति । दुर्बलो वतासि यम । नैव ते मनो हृदयं च विजानीमः । अन्या किल त्वां परिष्वङ्क्ष्यते कक्ष्येव युक्तं लिबुजेव वृक्षम् । लिबुजा व्रततिर्भवति । लीयते विभजन्तीति । व्रततिर्वरणाच्च । सयनाच्च । ततनाच्च ।

वाताप्यम् उदकं भवति । वात एतदाप्याययति ।

पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम् । [ऋ० ६ । ६३ । ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

वने न वायो न्यधायि चाकन् । [ऋ० १० । २६ । १ ॥]

वन इव वायो वेः पुत्रः । चायन्निति वा । कामयमान इति वा । वेति च य इति च चकार शाकल्यः । उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत् । असुसमाप्तश्चार्थः ।

रथर्यति इति सिद्धः । तत्प्रेप्सुः रथं कामयत इति वा ।

एष देवो रथर्यति । [ऋ० ६ । ३ । ५ ॥]

अर्थ—[यमी यम के प्रति कहती है ।] (वतः) दुर्बल [अहो] (वत +असि) तुम अनुकम्पा योग्य हो, हे यम, तेरे मन और हृदय को (नैव अविदाम) नहीं जानते हैं । (अन्या) कोई दूसरी स्त्री अर्थात् कोई स्त्री स्थानी शक्ति (किल त्वाम्) निश्चय तुझे (कक्ष्या इव युक्तम्) कक्ष्या=रस्सी के समान [अपने से] युक्त=सम्बद्ध अश्व आदि को (परिष्वजाते)=परिष्वजते =आलिङ्गन करती है, [अथवा द्वितीयोपमा] (लिबुजा इव वृक्षम्) वल्ली जैसे वृक्ष को आलिङ्गन करती है ।

वतः=व[illegible]

[illegible] तेरे मन और

करेगी । रस्सी जैसे सम्बद्ध अश्व आदि को [आलिङ्गन करती है, अथवा] वल्ली जैसे वृक्ष को । लिबुजा-व्रतति=वल्ली होती है । लीयते=लीन होती है विभजन्ति इति=पृथक् होती हुई ही [वृक्ष में ।] व्रतति=वरणात् च=वरण=स्वीकार करने से । सयनात् च=भी देने, बांधने से । ततनात् च=फैलते जाने से ।

११३ धाताप्यम्=उदक होता है । धाम +प्यतत्=इस को आप्यायति=बढ़ाता है । (पुनान) पुना जाता हुआ [तू हे सोम] (धाताप्यम्) [वृष्टि से होने वाले] उदक को [देता है] (विश्व चन्द्रम्) सब को आनन्द देने वाले को । यह भी निगम होता है ।

११४ न्याकन्=(घने न) वनावयव वृक्ष पर जैसे (वाय) पक्षी का बच्चा (न्यधायि) रखा हुआ (चाकन्) देखता वा कामना-करता रहता है [अपने घोसले से उड कर गए माता पिता को ।] वृक्ष पर जैसे वाय =वः पुत्र -पक्षी का बच्चा । चायन् इति चा=देखता हुआ अथवा । कामना करता हुआ अथवा । [इस वाय पद को] वा इति, और य इति [इन दो में विभाग] किया [पदकार] शाकल्य ने । [यदि यही भाव होता, तो] उदात्त स्वर वाला इस प्रकार आख्यात [अधायि पद] होता । और असुसमाप्त =नहीं भले प्रकार समाप्ति वाला अर्थ [इस विभाग में, यत् को तत् की आकाङ्क्षा होने से ।]

११५ रथयति—यह सिद्ध रूप है । तत् प्रत्नु=रथ कामयते उस रथ को कामना करता है अथवा । (दृथ) यह (देव) देव सोम (रथयति) रथ को चाहता है । यह भी निगम होता है ।

भाष्य—यम यमी का आख्यान पूर्व ४ । १० में स्पष्ट किया गया है । धाताप्यम् वृष्टि का उदक वात से बढ़ता है । वात और वायु का भेद अन्वेष्य है । शाकल्य पदकार शाकल्य यास्क से अर्थात् भारत युद्ध से १०—१०० वर्ष से पहले था । यदि यास्क के काल में होता, तो दोनों का संवाद कहीं सम्भव हो सकता था । शाकल्य के पदपाठ का क्या कारण था, यह जानना चाहिए । देव सोम रथ को चाहता है । जब सोम द्युलोक में था तब भी इस नीचे लाने के लिए माध्यम की आवश्यकता थी । वह माध्यम अथवा वाहन आदि के बिना स्थानान्तर में नहीं आता ॥ २८ ॥

धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम् । [ऋ० ६ । ६३ । ८ ॥]

असङ्क्रमणीम् ।

आधवः । आधवनात् ।

मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम् । [ऋ० १० । २६ । ४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

अनवब्रवः अनवक्षितवचनः ।

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः । [ऋ० १० । ८४ । ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ २९ ॥

अर्थ—११६. असक्राम् । [हे प्रभूत देने वाले अश्विद्वय] (धेनुम्) दोग्ध्री गौ को (नः) हमारे लिए (इषम्) अन्न को और (पिन्वतम्) क्षारित करो अर्थात् दो, (असक्राम्)=असङ्क्रमणीम् [ऐसा अन्न जो] यावज्जीवन हम से परे न जाने वाला [हो ।]

११७. आधवः=आ+धवनात्=चारों ओर से कंपाने से । [हे देव पूषन्] (मतीनाम्) बुद्धियों के और (साधनम्) साधयिता को अथवा प्रज्ञाओं के प्रवर्तयिता को (विप्राणाम्) मेधावियों के और (आधवम्) सब ओर से कंपाने अर्थात् मेधाओं में स्फूर्ति देकर हिलाने वाले को [आप को स्तुति द्वारा पूजते हैं ।] यह भी निगम होता है ।

११८. अनवब्रवः=अन्+अव+क्षित+वचनः=नही अनादर जिस के वचन का कोई करे । [हे मन्यो] (विजेषकृत्) तू विजय का कर्ता (इन्द्रः इव) इन्द्र के समान [है] (अन्+अवब्रवः) तेरे वचन का कोई अनादर नही करता है । यह भी निगम होता है ॥ २९ ॥

भाष्य—मन्युः—इन्द्र सम्बन्धी मध्यम स्थान का जो गण बृहद्देवता १ । १२१ से गिनाया गया है, उस में मन्यु भी गिना गया है ।मन्यु का भौतिक रूप समझ कर ही मन्यु सूक्त, ऋ० १० । ८३, ८४ समझ में आ सकते हैं । उन का ऋषि मन्युः तापसः है । वह अवस्था किस ताप से उत्पन्न होती है, यह भी जानना चाहिए । प्रस्तुत ऋक् के अनुसार मन्यु इन्द्र के समान है ॥ २९ ॥

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे ।
शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि ॥

[ऋ० १० । १५५ । १ ॥]

अरायिणि काणे विकटे । काणो विक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः । कणतेर्वा स्यादणूभावकर्मणः । कणतिः शब्दाणूभावे भाष्यते । अनुकणतीति । मात्राणूभावात्काणः । दर्शनाणूभावात्काणः । विकटो विक्रान्तगतिरित्यौपमन्यवः । कुटतेर्वा स्यात् [विपरीतस्य] विकुटितो भवति । गिरिं गच्छ । सदानोनुवे शब्दकारिके । शिरिम्बिठस्य सत्वभिः । शिरिम्बिठो मेघः । शीर्यते बिठे । [बिठमन्तरिक्षम् ।] बिठं वीरिटेन व्याख्यातम् । [निरु० ५ । २७] तस्य सत्वैरुदकैरिति स्यात् । तेभिष्ट्वा चातयामः । अपि वा शिरिम्बिठो भारद्वाजः कालकर्णोपेतः । अलक्ष्मीनिर्णाशयाञ्चकार । तस्य सत्वैः कर्मभिरिति स्यात् । तेभिष्ट्वा चातयामः । चातयतिर्नाशने ।

पराशरः पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे ।

पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः । [ऋ० ७ । १८ । २१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते । [परा] शातयिता यातूनाम् ।

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरः । [ऋ० ७ । १०४ । २१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

क्रिविर्दती विकर्तनदन्ती ।

यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती । [ऋ० १ । १६६ । ६ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

करूळती कृत्तदती । [अपि वा देवं कश्चित् कृत्तदन्तं दृष्ट्वैवम् अवक्ष्यत् ॥ ३० ॥

अर्थ—११९. सदान्वे । १२०. शिरिम्बिठः । (अरायि) हे दान देने का विरोध करने वाली, (काणे) हे काणी (विकटे) हे विकृत अङ्गों वाली (गिरिं गच्छ) गिरि को चली जा (सदान्वे) हे सदा पुकार कराने वाली (अलक्ष्मी)। (शिरिम्बिठस्य) मेघ के (सत्त्वभिः) उदकों से, (तेभिः)=तैः=उन उदको से (त्वा) तुझे=तेरा (चातयामसि) नाश करते हैं।

हे न देने वाली, हे काणी, हे विकृत अङ्गों वाली । काणः विक्रान्त-दर्शनः=न पूरा देखने वाला=विगतचक्षू=जिस का एक नेत्र चला गया है, यह औपमन्यव ..... [कहता है।] कणतिः से अथवा होवे, अणुभाव-कर्मणः=सूक्ष्म होने अर्थ वाले से। कणतिः शब्द के अणुभाव=सूक्ष्म होने मे भाष्यते [लोक में] बोला जाता है। [यथा—] अनुकणति, इति । मात्राणूभावात्=मात्रा के अणूभाव=सूक्ष्म होने से काणः [कहा जाता है।] दर्शन के सूक्ष्म होने से काणः [होता है।] विकटः=विक्रान्तगति= विकृत गति वाला, यह औपमन्यव [कहता है।] कुटति से अथवा होवे [उलटा हुए का रूप है] विकुटित=कुब्जीभूत होता है। गिरि को जा सदा+नोनुवे =शब्दकारिके=सदा शब्द कराने वाली । शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिः । शिरिम्बिठ=मेघ है। शीर्यते=शीर्ण हो जाता है, टूट फूट जाता है बिठे= अन्तरिक्ष में। [बिठम्=अन्तरिक्ष है।] बिठं, बीरिट से व्याख्या किया गया है, [निरुक्त ५ । २७ में ।] उस के उदकों से, यह [अर्थ] होवे। उन उदकों से तुझे [अलक्ष्मी वाले अकाल=दुर्भिक्ष को] नष्ट करते हैं।

अपि वा=और भी अथवा शिरिम्बिठः, भारद्वाजः=भरद्वाज का पुत्र है। [वह] कालकर्णोपेतः=काले कानों वाली [अलक्ष्मी] से युक्त, [अथवा] कालकर्णि=अलक्ष्मी से युक्त [हुआ। उस ने इस सूक्त के जप से] अलक्ष्मी को निर्णाशयाञ्चकार=नाश किया। तस्य=उस के सत्त्वभिः कर्मों से होवे। उन के द्वारा तुझे नाश करते हैं। चातयति, नाशन अर्थ में [है।]

१२१. पराशरः=पराशीर्णस्य=बहुत शीर्ण हुए=अति वृद्ध हुए=स्थवि· वसिष्ठ से जज्ञे=जन्मा था । (पराशरः) पराशर (शतयातुः) सैकड़ो यातुधानों [वालों=से घिरा हुआ] (वसिष्ठः) और वसिष्ठ [इन्द्र के सख्य को नहीं भूलते] यह भी निगम होता है।

इन्द्र भी पराशर. कहा जाता है। [परा=दूर] शातयिता=मारने वाला यातूनाम्=राक्षसों का। (इन्द्र) इन्द्र [अपने रक्षोघ्न शस्त्र के कारण] (यातूनाम्) राक्षसों का (अभवत्) हुआ (पराशर) दूर तक मारने वाला। यह भी निगम होता है।

१२२ क्रिविर्दती=विकर्तन+दन्ती=काटने वाले दान्तों वाली। (यत्रा=यत्र) जहां (वः) [हे मरुतो] तुम्हारी (दिद्युत् रदति) विद्युत् रूप वाली [अथवा] वज्ररूपा काटती है (क्रिविर्दती) काटने वाले दातों वाली। यह भी निगम होता है।

१२३ करूळती=कृत्तदती=कटे दातों वाली। [और भी अथवा देवं कञ्चित्=देव किसी को कृत्तदन्तम्=कटे=टूटे हुए दान्तों वाले को देखकर अवदयत्=कहा,] ॥ ३० ॥

भाष्य—औपमन्यव। इस एक ही मन्त्र के व्याख्यान में दो बार औपमन्यव के निरुक्त में यह मन्त्र पढ़ा गया था, और व्याख्यात हुआ था। दुर्ग आदि के अनुसार जल में खड़े हो कर [illegible] सूक्त अथवा मन्त्र के जप से राक्षसों का नाश माना गया है। मन्त्रगत पराशर और वसिष्ठ मानव देहधारी नहीं हैं। वे अन्तरिक्ष के पदार्थ हैं और यातुओं का नाश करने वाले हैं। प्रसङ्ग से यास्क ने पराशर के जन्म की एक ऐतिहासिक घटना भी कह दी है। वही मानो इन्द्र वसिष्ठ से जन्मा था। दिद्युत् और क्रिविर्दती पद मरुतों के विशेषण हैं। मरुत् ही विद्युत् वाले कहे हैं ॥ ३० ॥

शमंशमं त आतुरे देवो ददात्वर्यमा।

शम पूषा शर्म भगो शर्म देवः करूळती ॥

[ऋ० ४ । ३० । २४ ॥]

शर्म शमनीयं भवति। आतुरिरादरणात्। तत्क करूळती। भग पुरस्तात्तस्याऽन्वादेश इत्येकम्। पूषेत्यपरम्। सोऽदन्तक:।

अदन्तकः पूषा। [गो० ब्रा० उ० १ । २ ॥ शत० ब्रा० १ । ७ । ४ । ७ ॥]

इति च ब्राह्मणम्।

दनो विशं इन्द्र मृध्रवाचः। [ऋ० १ । १७४ । २ ॥]

दानमनसो नो मनुष्यानिन्द्र मृदुवाच कुरु।

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते ॥ [ऋ० १०।८६।६ ॥]

अबलामिव मामयं बालोऽभिमन्यते संशिशरिपुः ।

इदंयुः, इदं कामयमानः । अथापि तद्वद्र्थे भाष्यते । वसूयुरिन्द्रः । वसुमान् इति अस्य अर्थः ।

अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुरिन्द्रः । [ऋ० १ । ५१ । १४ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ॥ ३१ ॥

अर्थ—(वामं वामं) चाहने योग्य=प्रशस्य (ते) तेरे लिए (आदुरे) हे [देवों के] आदर योग्य [यजमान] (देवः ददातु अर्यमा) देव देवे [धन] अर्यमा (वामं) प्रशस्य [धन] पूषा, प्रशस्य [धन], भग, प्रशस्य [धन] देव (करूळती) कटे हुए दान्त वाला ।

वामम्=वननीय=प्रशस्य=चाहने योग्य [उत्तम धन] होता है । आदुरि=आदर से । तो कौन कटे दान्त वाला है । भग [है ।] पुरस्तात्= पूर्व [लिखा है ।] तस्य अन्वादेशः=उस का पुनः कथन है, यह एक [दर्शन] है । पूषा [है] यह अपर दर्शन [है ।] वह बिना दान्त का है । अदन्त [है] पूषा, यह ब्राह्मण [वचन] है ।

१२५. दनः । (दनः) दान में मन वाला (विशः) प्रजाओं को= मनुष्यों को (इन्द्र) हे इन्द्र (मृध्रवाचः) मृदु वाणी वाला [बना दो ।] दान मन वाला हमारे मनुष्यों को हे इन्द्र मृदुवाणी वाला करो ।

१२६. शरारुः । (अवीराम् इव) अवीरा=वीर=बालक से हीना के सदृश (माम् अयम्) मुझे यह (शरारुः) मारने की इच्छा वाला (अभिमन्यते) [दुष्ट भाव से] दबाना चाहता है । अबला के समान मुझे यह बाल दबाना चाहता है, मारने की इच्छा वाला ।

१२७. इदंयुः=इदं+युः=इस वस्तु की कामना करता हुआ । और भी अथवा तद्वत्=उस वाले के अर्थ में [यु, लोक में] बोला जाता है । वसूयुः=धन वाला इन्द्रः=इन्द्र । वसुमान्=धन वाला, यह यहां अर्थ [है ।] (अश्वयुः) घोड़ों वाला (गव्युः) गोमान् (रथयुः) रथ वाला (वसूयुः) धन वाला इन्द्र । यह भी निगम होता है ॥ ३१ ॥

भाष्य—पूषा क्या है, उस के दांत क्या थे, वे कैसे टूट गए यह विद्या जाननी चाहिए । मृभ्रशाः =मृदुवाणी की महती प्रशंसा है ॥ ३१ ॥

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम् ।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ॥
[ऋ० ३ । ५३ । १४ ॥]

किं ते कुर्वन्ति कीकटेषु गावः । कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः । कीकटाः किंकृताः । किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा [वा] । नैव चाशिरं दुह्रे । न तपन्ति घर्मं हर्म्यम् । आहर नः प्रमगन्दस्य धनानि । मगन्दः कुसीदी । माङ्गदो मामागमिष्यतीति च ददाति । तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः । प्रमदको वा । योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः । पण्डको वा । पण्डकः पण्डगः । प्रार्दको वा । प्रार्दयत्याण्डौ । आण्डावाणी इव व्रीडयति तत् स्थम् । नैचाशाखम् । नीचाशाखो नीचैः शाखः । शाखा शक्नोतेः । आणिः अरणात् । तं नो मघवन् रन्धयेति । रध्यतिर्वशगमने ।

बुन्द इषुर्भवति । [भिन्दो वा ।] भिन्दो वा । भयदो वा । भासमानो द्रवतीति वा ॥ ३२ ॥

अर्थ—१२८ कीकटेषु । क्या तेरी करती हैं कीकटों में गौएं (न आशिरम्) नहीं सोम में मिलाने का दूध (दुह्रे) दुहाती हैं, नहीं (तपन्ति) तपाती हैं (घर्मम्) महावीर पात्र को । (आ भर)=आहर=लाओ (नः) हमारे लिए (प्रमगन्दस्य) अत्यन्त सूद ग्रहण करने वाले प्रमादी, यज्ञहीन के (वेद) धन को । (नैचाशाखम्) नीच वंश वाले को, स्वयं नीच और नीच ही पुत्र पौत्र आदि शाखा वाले को । (मघवन्) हे धनवान इन्द्र (रन्धय) वशीभूत करो (नः) हमारे ॥

क्या तेरा करती हैं बनाती हैं कीकटों में गौएं । कीकट नाम देश अनार्य निवास [है ।] कीकटा =किंकृता =क्यों उत्पन्न किए गए । क्या है [पुण्य और सुकृत] क्रियाओं से ऐसी इच्छा वाले अथवा । न ही और आशिरम्=सोम में मिलाए जाने वाले दूध को दुह्रे=दुहाती हैं न तपाती हैं घर्मं=हर्म्यं=महावीर पात्र को । आहर=ले आओ हमारे लिए प्रमगन्दस्य=

अत्यन्त कुसीदी के धनानि=धनों को । मगन्दः=कुसीदी=सूद लेने वाला । माङ्गदः=मेरे पास आएगा [यह धन, दुगना-चौगना होकर] इस विचार से और [सूद पर] देता है । उस का अपत्य प्रमगन्दः । अत्यन्त व्याज लेने वाले के कुल वाला । प्रमदकः=बहुत प्रमाद करने वाला अथवा । जो, "यह ही है लोक, नहीं परलोक" ऐसी इच्छा वा अभिप्राय वाला [है ।] पण्डकः= नपुंसक अथवा । पण्डकः=पण्डगः=नपुंसकता को प्राप्त हुआ । प्र+अर्दकः =बहुत पीड़ा देने वाला अथवा । प्र+अर्दयति=बहुत पीड़ा देता है, आण्डौ =अण्ड कोषों को । आण्डौ=आणी इव=रथचक्रों के समान मर्दन करके पीड़ित करते हैं, उन के समान ठहरे हुए को । नैचाशाखम्=नीचे हैं शाखाएं जिस की । शाखा, शक्नोति से । आणिः अरणात्=गति के कारण । उसे हे मघवन् रन्धय इति=वश में करो । रध्यति=वशगमन में ।

१२९. बुन्दः=बाण होता है । बिन्दः अथवा । भिन्दः=भेदन करने वाला अथवा । भय देने वाला अथवा । भासमानः=चमकता हुआ बहता जाता है अथवा ॥ ३२ ॥

भाष्य—गोदुग्ध और गोघृत यज्ञ के श्रेष्ठ साधन हैं । जब उन साधनों से यज्ञ नहीं होता, तो मानव जीवन निष्फल है । उन यज्ञहीन देशों वाले, अनार्य लोग गौओं से लाभ नहीं उठाते । ते=तेरी गौएं, मघवा अथवा इन्द्र की गौएं । ये रश्मि रूपी गौएं अन्तरिक्ष में हैं । उन्हीं की उपमा से पार्थिव गौओं से पूर्ण लाभ उठाने का तथ्य इस ऋक् में है । कीकट देश मूलार्थ में पृथिवी पर का नहीं है । प्रमगन्द=अत्यन्त कुसीदी की बहुत निन्दा है । जो लोग अपने वंश को धर्म, ज्ञान और सुकृत कर्मों में उन्नत नहीं करते, उन की भी निन्दा है । उन का धन राजा को ले कर श्रेष्ठ कर्मों में लगवाना चाहिए । इस लिए महाभारत, शान्तिपर्व में कहा है—

> अदातृभ्यो हरेद् वित्तं विख्याप्य नृपतिः सदा । १६३ । १० ॥
>
> यज्ञ कर्म में धन न देने वालों का वित्त राजा हर ले ॥ ३२ ॥

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे ।

तुचित्तं ते सुकृतं सुमयं धनुः साधुर्बुन्दो हिरण्ययः ।
उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिदृदूवृधा ॥

तुविक्षं बहुविक्षेपं महाविक्षेपं वा । ते सुहतं सुमयं सुसुखं धनुः । साधयिता ते शुन्ध्यो हिरण्मयः । उभौ ते बाहू [रण्यौ] रमणीयौ साङ्ग्राम्यौ [वा ।] ऋदूपे अर्दनपातिनौ गमनपातिनौ [शब्दपातिनौ दूरपातिनौ] वा । मर्मण्यर्दनवेधिनौ । गमनवेधिनौ [शब्दवेधिनौ दूरवेधिनौ] वा ॥ ३३ ॥

अर्थ—(तुविक्षम्) दूर फेंकने वाला (ते) तेरा (सुहतम्) श्रेष्ठ बना हुआ (सुमयम्) सुख वाला (धनुः) धनुष [उस के लिए] (साधु शुन्ध्यः) अति श्रेष्ठ बाण (हिरण्ययः) सुनहरी [है।] (उभा=उभौ ते बाहू) दोनों तेरी भुजाएं, (रण्या=रण्यौ) संग्राम योग्य (सुसंस्कृता)=सुसंस्कृतौ=अति सुदृढ बनाई गई। (ऋदूपे) [शत्रुओं के मर्दनार्थ] दूर तक फेंकने में समर्थ (चित् ऋदूवृधौ) मर्मवेधन करने वाली [हैं।]

तुविक्ष=बहु फेंकने वाला, दूर फेंकने वाला अथवा । तेरा सुहत सुमय=श्रेष्ठ सुख वाला धनु [है।] अति श्रेष्ठ कर्म सिद्ध करने वाला बाण [जो] सुनहरी [है।] दोनों तेरी भुजाएं [रण्यौ] सुन्दर और संग्राम योग्य अथवा । ऋदूपे=मर्दन=पीडन करके गिरने वाली, बार बार गमन कर के=तीव्र वेग से गिराने वाली, [टंकार का] [शब्द कर के गिराने वाली, दूर तक गिराने वाली] अथवा । मर्म में पीडापूर्वक बींधने वाली, वेग से बींधने वाली [शब्द कर के बींधने वाली, दूर बींधने वाली] अथवा ॥ ३३ ॥

भाष्य—धनुष, बाण और योद्धा की भुजाओं का अद्वितीय वर्णन इस मन्त्र में है। बाण को फेंकने की पूर्ण विद्या का भी यहां निदर्शन है ॥ ३३ ॥

निराविध्यद् गिरिभ्य आ धारयत्पक्वमोदनम् ।
इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् ॥ [ऋ० ८ । ७७ । ६ ॥]

निराविध्यद् गिरिभ्यः । आधारयत्पक्वमोदनम् । उदकदानं मेघम् । इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् ।

बुन्दं बुन्देन व्याख्यातम् । (निरु० ६ । ३२) । वृन्दारकश्च ॥३४॥

अर्थ—(निराविध्यत्) पूर्णरूपेण वींधा (गिरिभ्यः) मेघों में से (आ धारयत्) आभिमुख्यता से धारण किया (पक्वम् ओदनम्) पके हुए मेघ को (इन्द्रः) इन्द्र ने, (बुन्दम्) वाण को (स्वाततम्) सुन्दर रूप से खींच कर।

वींधा मेघों में से, धारण किया अथवा फाड़ा पके हुए ओदन को। ओदनम्=उदक के देने वाले मेघ को। इन्द्र ने वाण को सुन्दर रूप से खींच कर।

१३०. वृन्दम्। बुन्द से व्याख्या किया गया। वृन्दारक पद का भी [वही निर्वचन है]॥ ३४॥

भाष्य—पक्वम् ओदनम्=पका हुआ मेघ, यह विद्या अन्वेषणीया है॥३४॥

अ॒यं यो होता॒ किरु॒ स य॒मस्य॒ कम॒प्यूहे॒ यत्स॑म॒ञ्जन्ति॑ दे॒वाः।
अह॑रहर्जायते मा॒सि मा॒स्यथा॑ दे॒वा द॑धिरे हव्य॒वाह॑म्॥

[ऋ० १० । ५२ । ३॥]

अयं यो होता कर्ता स यमस्य। कमपि [ऊहे]। अन्नमभिवहति यत्समश्नुवन्ति देवाः। अहरहर्जायते। मासे मासे। अर्धमासे अर्धमासे वा। अथ देवा निदधिरे हव्यवाहम्।

उल्वम्। ऊर्णोतेः। वृणोतेर्वा।

म॒हत्तदु॒ल्वं॑ स्थवि॑रं॒ तदा॑सीत्। [ऋ० १० । ५१ । १॥]

इत्यपि निगमो भवति।

ऋचीसम् अपगतभासम्। अपहृतभासम्। अन्तर्हितभासम्। गतभासं वा॥ ३५॥

अर्थ—१३१. किः। सौचीकाग्निः और विश्वेदेवाः के संवाद में ऋक्। (अयम्) यह (यः) जो (होता) होता=आह्वानकर्ता [अग्निः है] (किः) कर्ता (उ) पदपूरक (सः) वह (यमस्य) वायु का, [अथवा] आदित्य का, (कम्) अन्न को (अपि ऊहे) भी=वहति=उठा कर ले जाता है। (यत्) जिसे (समञ्जन्ति) व्यापते हैं=खाते है

(देवा) देव । (अह अह) दिन दिन (आयत) उत्पन्न होता है [होम मे] (मासि मासि) मास मास म (अथ) क्योंकि (देवा) देवों ने (दधिरे) नियत किया [इमे] (हव्यवाहम्) हवियों के ले जाने वाले को ।

यह जो होता [अग्नि] कर्ता वह यम का । यम् अपि [अद्] =अन्न को अभिवहति=उठा कर ले जाता है । यत्=जिस को समश्नुवन्ति सम्यक् प्राप्त होते हैं देव । दिन दिन उत्पन्न होता है । मास मे मास मे । अर्धमास मे, अर्धमास म अथवा । क्योंकि देवा ने निदधिरे=नियत किया [इम] हवियों के ले जाने वाले को ।

१३२ उल्बम् [=गर्भाच्छादन] । ऊर्णोति से, आच्छादित करता है । वृणोति से अथवा । आवृत करता है । (महत् तत्) महान् वह (उल्बम्) जेर था, (स्थविरम्) बहुत वृद्ध (तत्) वह (आसीत्) था । यह भी निगम होता है ।

१३३ अमुर्यभासम्=[पृथिवी] चला गया है भास=प्रकाश=चमक जिस का । अपहृत=हरा गया है छीना गया है भासम्=प्रकाश जिस का । अन्तर्हित भासम्=छिप गया है, अन्दर चला गया है प्रकाश जिस का । गए हुए प्रकाश वाली ॥ ३५ ॥

भाष्य —सौचीक अग्नि उल्ब में आवेष्टित रूप में प्रविष्ट हुआ । इसी मन्त्र के अगले भाग में यह भाव है । सौचीक अग्नि का आख्यान बृहद्देवता ० ६१-६० में लिखा है । इस अग्नि का पृथिवी की प्राचीन अवस्था से सम्बन्ध है । प्राचीन अवस्था में यह पृथिवीलोक सदा भासमान था । उस में आग्नेय परमाणु अपना ऐश्वर्य दिखाते थे । मन्त्र कहता है—ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिम् । ऋ० १।१३६।३ ॥ चमकने वाली अदिति=अदीना—संपूर्ण जगतों वाली क्षिति को धारण किया । अदिति पद पृथिवी की उस चमकीली पूर्वावस्था के लिए है । पुन उन परमाणुओं का अधिकांश पृथिवी के अन्दर चला गया अथवा पृथिवी में छिप गया । अन्दर के भाग में वह प्रकाश कैसे छुप किया गया यह जानना चाहिए । भासन को देने वाले परमाणु उल्बन अणु रूप धारण करके पृथिवी के अन्दर चले गए । यह पृथिवी पर कान्ति रहित भासन रह गया । यह रात्रि के समय पक्षियों को [illegible] दिखाई देता है । पक्षियों की दृष्टि तीक्ष्ण होती है । अत पक्षी उस भासन को

देखते हैं । इसलिए तै० सं० में प्रवचन है—सर्त्रा ह वा इयं वयोभ्यो नक्तंदृशे दीप्यते । तस्मादिमां वयांसि नक्तं नाध्यासते । ५ । ६ । ४ ॥ वेद का एक-एक शब्द अपूर्व ज्ञान देता है । यास्क को इन तथ्यों का पूर्ण ज्ञान था । अतः उस ने निर्वचनों द्वारा वह ज्ञान प्रकट कर दिया । राजवाड़े और सिद्धेश्वर जी इस निर्वचन-विद्या को क्या जानें ॥ ३५ ॥

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम् ।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥

[ऋ० १ । ११६ । ८ ॥]

हिमेनोदकेन ग्रीष्मान्तेऽग्निं घ्रंसमहरवारयेथाम् । अन्नवतीं चास्मै ऊर्जमधत्तमग्नये । योऽयमृबीसे पृथिव्यामग्निरन्तरोषधिवनस्पतिष्वप्सु तमुन्निन्यथुः । सर्वगणं सर्वनामानम् । गणो गणनात् । गुणश्च । यद् वृष्टे ओषधय उद्यन्ति प्राणिनश्च पृथिव्यां तदश्विनो रूपम् । तेनैनौ स्तौति स्तौति ॥ ३६ ॥

इति षष्ठोऽध्यायः समाप्तः

॥ इति नैगमं काण्डं पूर्वार्धञ्च समाप्तम् ॥

अर्थ—(हिमेन) हिम से निकले उदक से (अग्निम्) अग्नि [सदृश] को (घ्रंसम्) दिन को (अवारयेथाम्) रोका [अर्थात् ठंडा कर दिया।] (पितुमतीम्) अन्न युक्त (ऊर्जम्) ऊर्क् रस को (अस्मै) इस अग्नि के लिए (अधत्तम्) दिया । (ऋबीसे) पृथिवी में [से] (अत्रिम्) [अन्दर गए] अग्नि को (अश्विनौ) हे अश्विद्वय (अवनीतम्)=अधोनीतम् =नीचे ले जाए गए को (उन्निन्यथुः) ऊपर निकाला (सर्वगणम्) [उस अग्निः को] सारे गणों वाले को (स्वस्ति) कल्याण रूप=अविनष्ट रूप= जीवित को ।

हिमेन=उदक से ग्रीष्म के अन्त में अग्नि को घ्रंसम्=दिन रूप को अवारयेथाम्=रोका । अन्न वाली और इस के लिए ऊर्ज्म्=रस को अधत्तम्=दिया, अग्निः के लिए । जो यह ऋबीसे=पृथिवी में अग्निः=अग्निः है, ओषधियों और वनस्पतियों और आपः में तम्=उस [अन्दर की अग्निः

को] उत् निष्पयु ऊपर निकाला । सारे गणों वाले अग्नि को और सब नामों वाले अग्नि को । गण=गिनने में । गुण भी [इस से ।] जो वर्षा होने पर ओषधि उचन्ति=उत्पन्न होने हैं, प्राणि भी पृथिवी पर, यह अश्विया का इन=ऐश्वर्य है । इस [ऐश्वर्य] से घनों=इन दोनों अश्विनों की [मन्त्र] स्तुति करता है, स्तुति करता है ॥ ३६ ॥

भाष्य—अश्विद्वय ग्रीष्म के अन्त में अपना ऐश्वर्य दिखाते हैं । अब पुरुष ऋक् को देख हैं । ऊर्ध्व विद्या भी पढ़ने योग्य है । इस पर वेदवाणी के विशेषाङ्क में मेरा लेख देखें । ओषधि, वनस्पति और आप में पृथिवी गर्भ का अग्नि आप और आप के योग से प्रवेश करता है । वह ऊपर को उठ जाता है । ओषधि की उत्पत्ति [illegible] और पृथिवी पर के प्राणियों के जीवनदान में अश्विद्वय का योग है । इन के अतिरिक्त अश्वियों के जो कर्म हैं, वे अनेक मन्त्रों में उपदिष्ट हैं ।

अश्वियों ने हिम से अग्नि को रोका । इन्द्र ने हिम से अर्बुद [illegible] बींधा—हिमेनाविध्यद् अर्बुदम् ॥ ८ । ३२ । २६ ॥ २६ ॥

॥ नैगम काण्ड और पूर्वषट्क समाप्त ॥

अथोत्तरषट्कं प्रारभ्यते

अथ दैवतकाण्डम्

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथातो दैवतम् । तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा । यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते । प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य ॥ १ ॥

अर्थ—अब दैवत [प्रकरण का आरम्भ होता है ।] तत्=तो जो नाम [निघण्टु के पञ्चम अध्याय में] प्राधान्यस्तुतीनां=प्रधान स्तुति वाले देवतानाम्=देवताओं के [हैं], तत् दैवतम्=उस को दैवत [प्रकरण] इति आचक्षते=इस नाम से कहते हैं । सा=वह [पूर्व १ । २० ॥ में कही] एषा=[और] यह [आगे लिखी] देवता की उप-परीक्षा=बहुत सूक्ष्म परीक्षा है । यत्कामः =जिस कामना वाला ऋषि [=ईश्वर वा दिव्य] ऋषि यस्याम् देवतायाम्=जिस देवता में आर्थपत्यम्=अर्थ=पदार्थ का बल, कर्म इच्छन्=चाहते हुए स्तुतिम्=स्तुति को प्रयुङ्क्ते=प्रयुक्त करता है, उसी देवता वाला वह मन्त्र होता है । ताः=वे त्रिविधाः=तीन प्रकार की ऋचः=ऋचाएं [वेद में हैं ।]परोक्ष कृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यः और । तत्र=उनमें से परोक्षकृताः सारी नाम की विभक्तियों से युज्यन्ते= युक्त होती हैं । प्रथम पुरुषों से और आख्यात के ॥ १ ॥

भाष्य—स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयंभुवा । यह श्लोकार्ध महाभारत, शान्तिपर्व, ३२९ । ४६ है । इस से ज्ञात होता है कि वेद में देवों की स्तुति का असाधारण रूप मिलता है । देवों का देव महादेव ईश्वर है । उसकी स्तुति भी अनायास ही वेद में है । इसी लिए शारीरक सूत्र १ । १ । ४ में कहा

है—तत्तु समन्वयात् । उस ब्रह्म का सम्पूर्ण श्रुतियों में समन्वय है। निरुक्त के उत्तर षट्क में अब देवस्तुति आरम्भ होती है । इन अध्यायों में अर्थ वैभव से ईश्वर स्तुति भी है पर ईश्वर स्तुति का प्रदर्शन यास्क ने परिशिष्टों में श्रुति स्तुतियों के अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्मता से किया है ।

ऋषि और देवता—वेद के ऋषि दो रूपों में हैं। एक हैं अन्तरिक्षस्थ अथवा द्युलोकस्थ[1] और दूसरे हैं पृथिवी पर होने वाले मानुष ऋषि । दिव्य ऋषियों के नामों को लेकर ही पार्थिव ऋषियों ने अपने वे ही नाम रखे थे । इतिहास में इसके सुदृढ़ प्रमाण हैं ।[2] मन्त्रपाठ में जो ऋषि नाम हैं वे नित्य दिव्य ऋषियों के नाम हैं । यथा—वसिष्ठ विश्वामित्र जमदग्नि, भरद्वाज आदि । इसी लिए यास्क आदि ने इन का प्रसङ्गानुसार, मनुष्य आदि सामान्य अर्थों में अर्थ दर्शाया है । वेद में पृथिवी पर के मनुष्यों का इतिहास नहीं है । वेद मन्त्र तो पार्थिव मानव सृष्टि से पहले ही सृष्टि में उपस्थित हो चुके थे, पार्थिव ऋषियों ने ईश्वर प्रेरणा और महाप्रेम से उन्हें ही सुना ।

महाभारत और बृहद्देवता में स्पष्ट कहा है—

(क) यस्य रश्मिसहस्रेषु शाखास्विव विहङ्गमाः ।
वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह ॥ शान्तिपर्व,

(ख) ऋषीन् यथायथं सर्वान् निविशन्ते स्वेषु रश्मिषु ॥
बृहद्देवता १ । ६६ ॥

अर्थात्—सूर्य रश्मियों के साथ अब भी ऋषि और देव रहते हैं ।

ये देव और ऋषि भौतिक हैं, और भूतों का परिणाम हैं, ईश्वर की महती शक्ति से उन की बहुविध क्रियाएं हो रही हैं । उन ऋषियों के द्वारा ही कभी मन्त्र सृष्ट हुए थे । यथा—

(क) एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासोऽअक्रन् ।
ऋ० १ । ६१ । १६ ॥

१ ऋषय सप्त दैव्या । ऋ० १० । १३० । ७ ॥
२. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २ पृ० १४८ ।

(ख) सनायते गोतम इन्द्र नव्यम् अतक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय।
ऋ० १।६२।१३॥

(ग) ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन्। ऋ० २।४०।८॥

(घ) ब्रह्मकृता मारुतेना गणेन। ऋ० ३।३२।२॥

(ङ) उप ब्रह्माणि सृजे वसिष्ठः।[1] ऋ० ७।१८।४॥

(च) ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
ऋ० ७।१०३।८॥

(ज) वसिष्ठासः पितृवद् वाचमक्रत। ऋ० १०।६६।१४॥

(छ) तस्मिन्नग्नौ सूक्तवाकेन देवा हविर्विश्व आजुहवुस्तनूपाः॥
ऋ० १०।८८।१०॥

(झ) सुपर्णा वाचमक्रत। ऋ० १०।९४।५॥

पूर्वोद्धृत नव प्रमाणों में (घ) प्रमाण में अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है कि मध्यमस्थानी मरुद्गण ब्रह्मकृत हैं। जब ये मरुद्गण ब्रह्मकृत हैं, तो अन्य देव क्यों नहीं। (ज) प्रमाण में कहा है कि विश्वे देवा "सूक्तवाक्" से हविः देते हैं। इस विषय का थोड़ा सा व्याख्यान पूर्व निरुक्त २।१०। के भाष्य में भी देखें।

वेद की इस अपूर्व महिमा को न समझ कर अनेक लोग अपने अधूरे ज्ञान से वेद को मानव कृति समझते और उस में पार्थिव मानव और राजाओं का इतिहास ढूंढते रहते हैं।

कविः—देव कविः हैं। मन्त्र कहते हैं—

(क) अग्निर्होता कविक्रतुः। ऋ० १।१।५॥

(ख) इदं कवेरादित्यस्य। ऋ० २।२८।१॥

(ग) कवी नो मित्रावरुणा। ऋ० १।२।९॥

इन मन्त्रों में ईश्वर परक अर्थ भी है, और भौतिक शक्ति-परक अर्थ भी। ये भौतिक शक्तियां ईश्वरीय नियमों में ही चल रही हैं। आधिदैविक पक्ष में ये घटनाएं अति स्पष्ट हैं।

---

१. तुल०—ब्रह्म कृण्वन्तो हरिवो वसिष्ठाः॥ ऋ० ७।३७।४॥

प्रमाण (ग) में जिन मित्रावरुणों का कथन है, उन के सदन से जो वैखरी वाणी निकल रही है उस का स्पष्ट उल्लेख देवकीपुत्र कृष्ण रचित साम्बपञ्चाशिका के श्लोक ५ में है।

जिस प्रकार गणित, उद्भिज शास्त्र और ज्योतिष आदि को पढ़े बिना उन उन शास्त्रीय विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता उसी प्रकार वाग्विद्या को पढ़े बिना वेद की अपौरुषेयता का ज्ञान भी नहीं हो सकता। निस्सन्देह मूल मन्त्र नित्य हैं, पर वेद शाखाओं में कहीं-कहीं प्रवचन भेद से पाठ विकल्प किया गया है।[1] वर्तमान काल के नामधारी अधिकांश वेदाध्यापक इस विद्या से वञ्चित हैं और वेद पाठकों का ही काम करते हैं। अस्तु।

छन्द और अभ्र—सूर्य के साथ जिन परमाणुओं और रश्मियों के संयोग से बने हैं वे छन्दों को उत्पन्न करते रहते हैं। मन्त्रों और ब्राह्मणों में उन का विस्तृत वर्णन है। उन की सुन्दर व्याख्या पुराणों के निम्नलिखित वचनों में देखिए—

(क) हयाश्च सप्त छन्दांसि तथा नामानि मे शृणु।
गायत्री च बृहत्युष्णिक् जगती त्रिष्टुबेव च।
अनुष्टुप् पंक्तिरित्युक्ताश्छन्दांसि हरयो रवेः॥
विष्णु द्वितीयांश ८ । ७॥

(ख) छन्दोभिर्वाजिरूपैस्तु यतश्चक्रं ततः स्थितैः।
सप्ताश्वरूपाश्छन्दांसि वहन्त वामतो ध्रुवम्॥
ब्रह्माण्ड, पूर्वभाग, २२ । ६५ ७१॥

(ग) अभ्रैः स्पन्दत वैद्युताय। ब्रह्माण्ड पूर्वभाग २२ । ४७॥

(घ) अभ्रैः ब्रह्मवादिभिः॥ २२ । ४०॥ वायु ५२ । ४६॥

यास्क आदि ऋषि मुनि इन तथ्यों को हम से शतधा गुणा अधिक जानते थे। अतः उन के वचनों का उन्हीं की दृष्टि से व्याख्यान युक्त है। तदनुसार "यत्काम ऋषिः"[2] की प्रतीक वाली पंक्ति में ऋषि पद से उन्हीं दिव्य ऋषियों

१ प्रवाक्तया श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्वयम स्मृता॥ वायु पु० ६१ । ७८॥
२ ऋषि स्तुति करता है। देखो—ऋषिर्न स्तुभ्वा विक्षु प्रशस्तः।
ऋ० १ । ६६ । २॥

का ग्रहण है, जो सृष्टि में वेद मन्त्रों के मूल में उच्चारण करने वाले थे । उन्हीं ऋषियों के द्वारा देवता निश्चित हुए । उस दैवत ज्ञान के बिना जो कोई मन्त्रार्थ करता है, वह वेद ज्ञान विहीन है । उस दैवत ज्ञान को स्पष्ट करने के लिए निरुक्त के उत्तरषट्क का भाष्य प्रारम्भ किया जाता है ।

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः । [ऋ० १० । ८९ । १० ॥]

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत् । [ऋ० १ । ७ । १ ॥]

इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः । [ऋ० ७ । १८ । १५ ॥]

इन्द्राय साम गायत । [ऋ० ८ । ९८ । १ ॥]

नेन्द्रादृते पवते धाम किं चन । [ऋ० ९ । ६९ । ६ ॥

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम् । [ऋ० १ । ३२ । १ ॥]

इन्द्रे कामा अयंसत । इति ।

अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगाः । त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना ।

त्वमिन्द्र बलादधि । [ऋ० १० । १५३ । २ ॥]

वि न इन्द्र मृधो जहि । [ऋ० १० । १५२ । ४ ॥] इति ।

अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति । परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि ।

मा चिदन्यद्वि शंसत । [ऋ० ८ । १ । १ ॥]

कण्वा अभि प्र गायत ॥ [ऋ० १ । ३७ । १ ॥]

उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम् । [ऋ० ३ । ५३ । ११ ॥] इति ।

अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगाः । अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना । यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठः । [ऋ० १० । ४७-४८] । लवसूक्तम् । [ऋ० १० । ११९] । वागाम्भृणीयम् । [ऋ० १० । १२५] इति ॥ २ ॥

अर्थ—इन्द्र द्यौ का इन्द्र शासन करता है पृथिवी का। [प्रथमा]

इन्द्र को (इत्) ही (गाथिनः) सामग विद्वानों ने (बृहत्) बृहत् साम से स्तुति किया। [द्वितीया]

(इन्द्रेण) इन्द्र के साथ (एते) ये (तृत्सवः) तृत्सु (वेविषाणाः) लगे हुए। [तृतीया]

इन्द्र के लिए साम को गाओ। [चतुर्थी]

नहीं इन्द्र के बिना (पवते) पवित्र करता है [सोम] (धाम) स्थान आदि किसी को। [पञ्चमी]

इन्द्र के (वीर्याणि) बल वाली [कर्मों को] (प्र वोचम्) कहता हूं। [षष्ठी]

इन्द्र में (कामाः) सारी कामनाएं (अयंसत) बंधी हुई हैं। [सप्तमी]

अब प्रत्यक्षकृता [ऋचाएं] । [ये] मध्यम पुरुष के योग वाली [हैं।] त्वम् इति, और इस सर्वनाम से [युक्त होती हैं।]

(त्वम्) तू (इन्द्र) हे इन्द्र (बलात्) बल से (अधि जातः) प्रकट हुआ है।

(न) हमारे (इन्द्र) हे इन्द्र (मृधः) शत्रुओं को (विजहि) विशेष रूप से नाश कर। इति।

और भी प्रत्यक्षकृत स्तोता होते हैं। परोक्षकृत [होते हैं] स्तोत व्यानि=स्तोतव्य।

(मा) मत (चित् अन्यत्) किसी और की (वि शंसत) स्तुति करो।

[अर्थ मारुतम्=बल को मरुतों के] (कण्वाः) हे कण्वो (अभि प्र गायत) गाओ।

(उप प्रेत) समीप पहुंचो (कुशिकाः) हे कुशिका (चेतयध्वम्) चेतो=सावधान होवो।

अब आध्यात्मिकी [ऋचाएं]। [ये] उत्तम पुरुष के योग वाली [हैं।] अहम् इति, और इस सर्वनाम से [युक्त होती हैं।] यथा एतत् =जैसे यह इन्द्र वैकुण्ठ [सूक्त], लव सूक्त, वाक्+अम्भृणीय [=अम्भृण की कन्या वाक् का सूक्त] इति ॥ २॥

भाष्य—गाथिनः, तृत्सवः, कण्वाः, कुशिका., ये सब इन्द्र के समान मध्यम स्थानी हैं। इन को पार्थिव ऋषि आदि समझने से वेदार्थ का ज्ञान नहीं होगा। वेदार्थ का आधिदैविक और आधिभौतिक पक्ष समझे विना वेदविद्या का महत्त्व अज्ञात रहेगा॥ २॥

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः। अल्पश आध्यात्मिकाः।

अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः।

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्। [ऋ० १। ३२। १॥] इति।

यथैतस्मिन्सूक्ते।

अथाप्याशीरेव न स्तुतिः। 'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन। सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्'' [मानव गृ० १। ६। २५] इति।

तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।

अथापि शपथाभिशापौ।

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि। [७। १०४। १५॥]

अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूयाः। [ऋ० ७। १०४। १५॥] इति।

अथापि कस्यचिद्भावस्याचिख्यासा।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि। [ऋ० १०। १२९। २॥]

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे। [ऋ० १०। १२९। ३॥]

अथापि परिदेवना कस्माच्चिद्भावात्।

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्। [१०। ९५। १४॥]

न वि जानामि यदि वेदमस्मि । [ऋ० १।१६४।३७ ॥] इति ।

अथापि निन्दाप्रशंसे ।

केवलाघो भवति केवलादी । [ऋ० १० । ११७ । ६ ॥]

भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म । [ऋ० १० । १०७ । १० ॥] इति ।

एवमक्षसूक्ते [ऋ० १० । ३४] द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च । एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ—परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत मन्त्र अधिक हैं । अल्पशः=थोड़े से आध्यात्मिक ।

और भी [अनेक मन्त्रो मे] स्तुति ही होती है, नही आशीर्वाद= प्रार्थना । [यथा—] इन्द्र के बलशाली [कर्मो को] (प्रवोचम्) कहता हूँ । इति । जैसे इस सूक्त मे ।

और भी आशी=कामना=प्रार्थना ही [होती है] नही स्तुति । (सुचक्षा) श्रेष्ठ देखने वाला मैं दोनो आखो से होऊं । श्रेष्ठ वर्चस्=तेज वाला मुख से । श्रेष्ठ सुनने वाला दोनो कानो से होऊं । इति । तो यह अधिक है आध्वर्यवे=अध्वर कर्म वाले=यजुर्वेद मे, यज्ञ विषयक और मन्त्रो मे ।

और भी शपथ और अभिशाप [भी मन्त्रो मे होते हैं ।]

आज ही (मुरीय) मै मरूं यदि मै (यातुधान) जादू करने वाला= किसी को वृथा रोकने वाला हूं ॥ और वह (वीरैः) वीर पुत्रो से (दशभिः) दस से (वि यूयाः) वियुक्त=रहित हो ।

और भी, किसी भाव के आचिख्यासा=कहने की इच्छा । [यथा—] नही मृत्यु था [सृष्टि रचना से पूर्व], अमृत नही तब । तम=प्रकृति थी= अन्धकारमयी प्रकृति, तमसा=प्राकृतिक अन्धकार से ढकी हुई ।

और भी, परिदेवना=विलाप [होता है ।] किसी स्थिति के कारण से । [यथा—] श्रेष्ठ देव [हो, जो] (अद्य)=आज, (प्रपतेत्) [कहीं से] आ गिरे (अनावृत्) बिना रोक के ॥ नही पूर्ण रूप से जानता हूँ [आत्म तत्त्व को] जैसा यह मैं हू ।

और भी, निन्दा तथा प्रशंसा [होती है ।] केवल (अघः) पाप होता है, [जो] केवल अकेला (आदी) खाता है । (भोजस्य) दाता का=खिलाने वाला का (इदम्) यह (पुष्करिणी) कमलों वाले सरोवर के (इव) समान (वेश्म) घर [है ।] एवम्=इस प्रकार अक्षसूक्त में द्यूतनिन्दा=जुआ खेलने की निन्दा और कृषि की प्रशंसा और [है ।] इस प्रकार उच्च+अवचैः=ऊँचे और नीचे अभिप्रायों से ऋषियों की मन्त्रदृष्टियां होती हैं ॥ ३ ॥

भाष्य—इस तीसरे खण्ड में मन्त्रों के प्रकार कहे हैं । यथा—

१. स्तुति । २. आशीर्वाद । ३. शपथ । ४. अभिशाप । ५. भाव-आचिख्यासा । ६. परिदेवना । ७. निन्दा । ८. प्रशंसा ।

इसी विषय में बृहद्देवता में निम्नलिखित श्लोक लिख कर आगे प्रकार गिनाए हैं—

मन्त्रा नाना प्रकाराः स्युर्दृष्टा ये मन्त्रदर्शिभिः ।
स्तुत्या चैव विभूत्या च प्रभावाद् देवतात्मनः ॥ १ । ३४ ॥

१. स्तुति । २. प्रशंसा । ३. निन्दा । ४. संशय । ५. परिदेवना । ६. स्पृहाशीः । ७. कत्थना । ८. याच्चा । ९. प्रश्न । १०. प्रैष । ११. प्रवल्हिका । १२. नियोग । १३. अनुयोग । १४. श्लाघा । १५. विलाप । १६. आचिख्यासा । १७. संलाप । १८. पवित्राख्यान । १९. आहनस्या । २० नमस्कार । २१. प्रतिराध । २२. संकल्प । २३ प्रलाप । २४. प्रतिवाक्य । २५. प्रतिषेध । २६ उपदेश । २७. प्रमाद । २८. अपह्नव । २९. उपप्रैष । ३० संज्वर । ३१. विस्मय । ३२. आक्रोश । ३३. अभिष्टव । ३४. क्षेप । ३५. शाप । बृहद्देवता में आगे इन के उदाहरण भी दिए हैं । संख्या १८ के अन्तर्गत पवित्र विशेषण का कारण जानना चाहिए । वररुचि ने निरुक्तसमुच्चय के चतुर्थ कल्प में ३६ प्रकार के मन्त्रों की व्याख्या की है ।

स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद भाष्य के आरम्भ में—मन्त्राः पञ्चप्रकाराः । १. प्रैषाः । २. करणाः । ३. क्रियमाणानुवादिनः । ४. शस्त्राभिष्टवनादिगताः । ५. जपानुवचनादिगताः, इति । लिखे हैं । यह विभाग यज्ञ के प्रयोगकाल का प्रतीत होता है ।

महाण्ड पुराण पूर्वभाग अ० ३३ में—मन्त्रा नवविधा प्रोक्ता ऋग्यजु:सामलक्षणा । ४२ । लिख कर—मन्त्रभेदांश्च वक्ष्यामि चतुर्विंशतिलक्षणान् ॥ ४३ ॥ लिखा है ।

वेदार्थ में परिश्रम करने वालों को ये सब स्थल ध्यान से देखने चाहिएँ ॥ ३१

तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा । यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति । अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिकाः । नाराशंसा इति नैरुक्ताः । अपि वा सा कामदेवता स्यात् । प्रायोदेवता वा । अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके । देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम् ।

याज्ञदैवतो मन्त्र इति । अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते । यथाश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि [निघण्टु ५ । ३ । १—२२] ।

अथाप्यष्टौ द्वन्द्वानि [निघण्टु ५ । ३ । २९—३६] ।

स न मन्येतागन्तूनिवार्थान् देवतानाम् । प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति ।

माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते । एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।

अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः ।

प्रकृतिसार्वनाम्याच्चेतरेतरजन्मानो भवन्ति । इतरेतरप्रकृतयः । कर्मजन्मानः । आत्मजन्मानः । आत्मैवैषां रथो भवति । आत्माश्वाः । आत्मायुधम् । आत्मेषवः । आत्मा सर्वं देवस्य ॥ ४ ॥

अर्थ—तो जो अन्+आदिष्ट=नहीं बताए गए देवता वाले मन्त्र उन में देवता की पूरी परीक्षा [करते हैं ।] जिस देवता वाला वह यज्ञ या यज्ञाङ्ग वा तद्देवता=उस देवता वाले [वे मन्त्र] होते हैं । और अन्यत्र यज्ञ से [किसी भी यज्ञ मे जो विनियुक्त नहीं] प्राजापत्या=प्रजापति देवता वाले [वे मन्त्र होते हैं] यह याज्ञिक [कहते हैं ।] [कहते हैं] नाराशंसा=नराशंस देवता वाले [वे मन्त्र होते हैं] यह नैरुक्त । और अथवा सा=वह [ऋक्] इच्छानुकूलदेवता वाली होवे । प्रायोदेवता=

बहुत देवता वाली [होवे ।] है निश्चय से आचारः=व्यवहार अधिकता से लोक में । देव रूपी देवता वाली, अतिथि रूपी देवता वाली, पितृदेवता वाली । [ऋक् ।] [ऐसी ऋचाओं में यथाविषय देवता होती है ।]

याज्ञदेवता वाला मन्त्र [होता है ।] और अदेवता देवतावत् स्तुति किए जाते हैं । यथा—अश्व से लेकर ओषधि [निघण्टु ५ । ३ । १–२२] पर्यन्त ।

और भी, आठ जोड़े [हैं ।] यथा—निघण्टु ५ । ३ । २०—३६] (सः) वह [निरुक्त पढ़ने वाला यह] न माने, आगन्तून् इव अर्थात् [कि ये अश्व आदि, सूर्य आदि के] बाहर से आए हुए पदार्थों के समान [हैं ।] [प्रत्युत सूर्य के अश्व सूर्य में ही उत्पन्न हुए हैं । वे दिव्य तो हैं, पर देवता नहीं ।] प्रत्यक्ष दृश्य यह [लोक में] होता है [कि मनुष्यों के घोड़े बाहर से आए हुए होते हैं ।]

माहाभाग्यात्=अत्यन्त ऐश्वर्य वाला होने से देवतायाः=देवता के एकः आत्मा=एक ही आत्मा, बहुत प्रकार से स्तुति किया जाता है । एक आत्मा के अन्य देव प्रत्यङ्ग होते हैं ।

और भी, सत्त्वानाम्=पदार्थों के प्रकृतिभूमभिः=मूल के महत्त्व से अपि स्तुति करते हैं, यह [आचार्य] कहते हैं । और प्रकृति=मूल के सब नाम होने से एक दूसरे से जन्म वाले होते है । एक दूसरे की प्रकृति=मूल होते हैं । कर्मजन्मानः=कर्मों से जन्म वाले [होते हैं ।] आत्मजन्मानः= अपने रूप अथवा शरीर से जन्म वाले [होते हैं ।] आत्मा=शरीर ही इन का रथ होता है । शरीर अश्व । शरीर आयुध । शरीर बाण । शरीर [ही] सब कुछ देव का ॥ ४ ॥

भाष्य—वेद शाखाओं में अग्निष्टोम आदि के प्रकरणों में जहां मन्त्र का देवता अनादिष्ट हो, उस का यहां कथन है । याज्ञिक लोग यास्क-प्रदर्शित इस प्रक्रिया को जानते हैं ।

अदेवता देवतावत् । निघण्टु के दैवत प्रकरण में ५ । ३ । १—२२ तक पठित सब पद इस प्रकार के हैं । यथा—अश्व, मण्डूक आदि भी देवतावत् माने गए हैं । इसी प्रकार निघण्टु ५ । ३ में इन से आगे विपाट्छुतुद्री आदि भी देवतावत् माने गए हैं । ऐसे सब स्थानों में—स न मन्येत, वेदाध्येता यह

न समझे कि यक्ष, गन्धर्व, पिशाच, सुपर्णी आदि मुख्य देवता वेद के अन्दर से बाहर कहे गये हैं। यद्यपि लोक में देवता होता है पर वेद में देवता नहीं है।

माहाभाग्यात्। परमेश्वर सामर्थ्य सम्पन्न ऐश्वर्य वाला है। वही समस्त देवों में व्याप्त है और विभिन्न देवों में उसी एक की स्तुति है। इसी प्रकार जब इन्द्र आदि देव स्तुति किए जाते हैं तो उस के सम्पन्न ऐश्वर्य वाला होने से उस एक ही इन्द्र की विभिन्न रूपों में स्तुति होती है। जब समस्त मन्त्रों में अन्य देवों का वर्णन हो जाता है, तो वे अन्य देव इन्द्र के ही अङ्ग मान लिए जाते हैं।

स्वरथास्य प्रकृतिमूलानि। वस्तुओं के मूल के सदृश स। यथा—अग्नि की स्तुति में जब उस के अश्वों और रथ आदि का वर्णन होता है तो वे अश्व और रथ आदि अग्नि से ही बने होते हैं। मण्डूक भी पृथिवी पर के मण्डूक नहीं हैं। इसी प्रकार विराट् और स्तुति आदि इन्द्र द्वारा ही अन्तरिक्ष में बने हैं। तथा इन्द्र और मरुतों के आयुध आदि भी उन्हीं से बने हुए बताए जाते हैं। अतः मन्त्रों में देवों के अश्व, रथ, आयुध आदिकों को बाहर से लाया हुआ नहीं समझना चाहिए। इसी प्रकार विराट और इन्द्राणी भी बाहर की पार्थिव स्त्रियाँ नहीं हैं। वे देवता के आत्मस्थानीय हैं। इस महान् तथ्य को न समझ कर भाष्यकार और पाश्चात्य वेदार्थ करने वालों ने वैदिक का विरूप और भद्दा रूप संसार के सामने रखा है। वस्तुतः इन का वेद से स्पर्श भी नहीं है॥ ४॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः। अपि वा पृथगेव स्युः। पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि। यथो एतत्कर्मपृथक्त्वादिति। बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः। तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपसितव्यम्। यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वम्। सम्भोगैकत्वं च दृश्यते। यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगः। अग्निना चेतरस्य लोकस्य। तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव॥ ५॥

अर्थ—तीन ही देवता [हैं] यह नैरुक्त [मानते हैं।] अग्नि पृथिवी स्थान वाला। वायु वा इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान वाला। सूर्य द्यु स्थान वाला। तासाम्=उन [तीनों] के महान् ऐश्वर्य वाला होने से एक एक के भी

वहुत से नामधेय होते हैं। और भी अथवा कर्म के पृथक् होने से। यथा--होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा- उद्गाता भी एक [याज्ञिक के कर्मभेद] के होते हुए से। अथवा पृथक् ही स्तुतियां होती हैं। तथा नाम [पृथक् पृथक् हैं।] यथो एतत्=जैसे यह [कहा है कि] कर्म के पृथक् होने से, इति । वहुत भी विभज्य=बांट कर कर्मों को करें। तत्र=ऐसी अवस्था में संस्थान का एकत्व, सम्भोग का एकत्व और, बहुत ध्यान से जानना चाहिए । जैसा पृथिवी पर मनुष्य, पशु, देव [एक स्थान के कारण से, यह] स्थान का एकत्व [है।] सम्भोग का एकत्व भी दिखाई देता है। जैसा—पृथिवी का [पृथक् स्थान वाले] पर्जन्य से और वायु और आदित्य से सम्भोग ।] अग्निः का और इतर लोक=द्युलोक [से सम्भोग।] तत्र=ऐसी अवस्था में यह नर-राष्ट्र के समान [है] ॥ ५ ॥

भाष्य—पृथिवी का पर्जन्य से सम्भोग। यहां पर्जन्य का अर्थ साधारण मेघ नहीं है। साधारण मेघ पृथिवी लोक से सम्बन्ध रखता है। पर्जन्य मध्यम स्थान वाला हैं। वह मेघ से वहुत पूर्व की अवस्था का द्योतक है ॥ ५ ॥

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम्। चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि।

अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते।

ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू। [ऋ० ६। ४७। ८॥]

यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते। [ऋ० ३। ३०। ५॥]

अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः।

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि। [ऋ० २। १८। ४॥]

कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। [ऋ० ३। ५३। ६॥]

अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः।

अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य। [ऋ० १०। ११६। ७॥]

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्। [ऋ० १। १०। ९॥] ॥ ६ ॥

अर्थ—अब आकार चिन्तन [करते हैं] देवताओं का । पुरुषों के समान हों यह एक [मत है ।] चेतना वालों के समान ही [उन की] स्तुतियां होती हैं । तथा=वैसे [उन के] अभिधानानि=कथन [होते हैं ।]

और भी पौरुषविधिकैः-पुरुषों के सदृश अङ्गों से [देवता] स्तुति किए जाते हैं ।

(ऋष्वा) बड़े अथवा दर्शनीय (ते) तेरे (इन्द्र) हे इन्द्र (स्थविरस्य) वृद्ध के (बाहू) दोनों बाहू ॥ (यत्) जो (संगृभ्णाः) पकड़े हुए हैं [द्यावापृथिवी को] हे मघवन्-धनवान् [यह] (काशिः) मुट्ठी ही है तेरी ।

और भी पुरुषों के सदृश द्रव्यों के संयोग से [भी स्तुति किए जाते हैं ।] (द्वाभ्याम्) दोनों (हरिभ्याम्) अश्वों के साथ (इन्द्र) हे इन्द्र (आ याहि) आओ ॥ (कल्याणीः) कल्याणकारिणी=भद्रा=सुन्दर रूप वाली (जाया) पत्नी [वाक्] (सुरणम्) शोभनध्वनि (गृहे) घर में तेरे ।

और भी, पुरुषों के सदृश कर्मों से [भी स्तुति किए जाते हैं ।] (अद्धि) खाओ हे इन्द्र पियो और (प्रस्थितस्य) अपनी ओर चले [सोम को] ॥ (आश्रुत्कर्ण) हे सब ओर से सुनने वाले कानों वाले [इन्द्र] (श्रुधि) सुनो (हवम्) [हमारे] आह्वान को ॥ ६ ॥

भाष्य—चेतनावद्वत् हि । चेतना वालों के समान । इस प्रयोग से ज्ञात होता है कि चेतना वाले न मानने पर भी उन देवताओं की स्तुतियां चेतना वालों की स्तुतियों के समान ही होती हैं । यत् संगृभ्णाः । इन्द्र ने ही द्यावापृथिवी को पकड़ा हुआ है कल्याणीर्जाया=माध्यमिका वाक् परम कल्याण कारिणी है वही इन्द्र की जाया है । सुरणम् गृहे ते । इन्द्र के घर में शोभना ध्वनियां होती रहती हैं । इन ध्वनियों का अन्तरिक्ष में क्या कारण है यह जानना चाहिए ॥ ६ ॥

अपुरुषविधा स्युरित्यपरम् । अपि तु यद् दृश्यते अपुरुषविधं तत् । यथाग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति । यथो एतच्चेतनाव

द्धि स्तुतयो भवन्तीति । अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते । यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि । [निघण्टु ५ । ३ । ४—२२] । यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इति । अचेतनेष्वप्येतद्भवति ।

अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः । [ऋ० १० । ९४ । २ ॥]

इति ग्रावस्तुतिः ।

यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरिति । एतदपि तादृशमेव ।

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम् । [ऋ० १० । ७५ । ९ ॥]

इति नदीस्तुतिः ।

यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरिति । एतदपि तादृशमेव ।

होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत । [ऋ० १० । ९४ । २ ॥]

इति ग्रावस्तुतिरेव ।

अपि वोभयविधाः स्युः । अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः । यथा यज्ञो यजमानस्य । एष चाख्यानसमयः ॥ ७ ॥

नहीं पुरुषों के समान हों, यह अपर [मत है ।] और तो, [देवताओं का रूप] जो दीखता है, अपुरुषविध है वह । यथा-अग्निः, वायुः, आदित्य, पृथिवी, चन्द्रमा, [इन का रूप ।] इसी प्रकार इन्द्र आदि भी पुरुषविध नहीं] यथो एतत्=जो यह [कहा कि] "चेतनावद्वद् हि", कि चेतना वालों के समान ही, स्तुतियां होती हैं, इति । [तो है कि] अचेतना वाले भी ऐसे स्तुति किए जाते हैं । यथा—अक्ष से लेकर ओषधिपर्यन्त [निघण्टु ५ । ३ । ४—२२] । यथो एतत्=जो यह [कहा कि] पुरुषों के सदृश अङ्गों से स्तुति किए जाते हैं, इति । [तो उत्तर है] अचेतनों में भी यह होता है ।

(अभि क्रदन्ति) सब ओर से क्रन्दन करते हैं [ये ग्राव] (हरितेभिः आसभिः) [सोम से गीले] हरित वर्ण के मुखों से । यह ग्रावस्तुति [है । ग्रावों=पत्थरों के मुख नहीं यह प्रत्यक्ष है, तद्वत् इन्द्र आदि के भी बाहू उपचार से वर्णित रहते हैं ।]

यथो एतत्—जो यह [कहा कि] पुरुषों के सदृश द्रव्यों के संयोग से, इति । यह भी [पूर्व बात के] समान ही [है ।] (सुखं रथं) सुख वाला रथ (युयुजे) जोड़ा (सिन्धुः) सिन्धु ने (अश्विनम्) अश्वों से युक्त । यह नदी स्तुति है । [सिन्धु का अश्वयुक्त रथ, यह आलङ्कारिक वर्णन है ।]

यथो एतत्—जो यह [कहा कि] पुरुषों के सदृश कर्मों से, इति । [यह भी] वैसा ही [है ।] (होतुः चित् पूर्वे) होता से पूर्व ही (हवि अद्यम्) खाने योग्य हवि को (आशत) खाते हो । यह ग्रावस्तुति ही [है ।]

अथवा दोनों प्रकार के हो सकते हैं । अथवा पुरुषविधों के ही होते हुओं के कर्मात्मान=कर्मशरीर ये होवें । यथा—यज्ञ यजमान का [कर्म शरीर है ।] यह आख्यान [के समान कहने] वालों का समय=सिद्धान्त है ॥ ७ ॥

भाष्य—खण्ड ६ के पक्ष का इस खण्ड के पूर्वभाग में प्रत्याख्यान है । पुरुषविध मानने वालों के सात तर्कों का यहां उत्तर दिया गया है । तदनु तीसरा पक्ष दिया गया है कि देवता उभयविध हो सकते हैं । चौथा पक्ष है, पुरुषविधों के ही होते हुओं का कर्मशरीर ये देवता होवें । यह अन्तिम पक्ष आख्यान समय वालों का है । ये आख्यान पार्थिव ऐतिहासिक घटनाएं नहीं हैं जर्मन अध्यापक ओल्डनबर्ग ने एक कल्पना प्रस्तुत की थी कि कभी लोगों में आख्यान प्रचलित थे । उन्हीं की सामग्री वेद मन्त्रों में भी विद्यमान है । ऐसा लेख वैदिक वाङ्मय से अनभिज्ञता का फल है इस कल्पना के लिए कोई हेतु नहीं है । सत्य यह है कि वेदमन्त्रों में वर्णित दैवी घटनाओं पर ऋषियों ने आख्यान कहे थे । इस का अभिप्राय था वेदार्थ का आकर्षक रीति से व्याख्यान । ऐसे अनेक इतिहास स्कन्द स्वामी ने ऋग्वेद भाष्य में दिए हैं । विशेषतः प्रथम मण्डल सूक्त ११२ से सूक्त ११६, तक ॥ ७ ॥

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात् । तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ।

अथैतान्यग्निभक्तीनि । अयं लोकः प्रातःसवनं वसन्तो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथन्तरं साम । ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे

स्थाने । अग्नायी पृथिवीळेति स्त्रियः । अथास्य कर्म । वहनं च हविषामावाहनं च देवतानाम् । यच्च [किञ्चिद्] दार्ष्टिविषयिकम् अग्निकर्मैव तत् । अथास्य संस्तविका देवाः । इन्द्रः सोमो वरुणः पर्जन्य ऋतवः । आग्नावैष्णवं हविः । न त्वृक्संस्तविकी दशतयीषु विद्यते । अथाप्याग्नापौष्णं हविः । न तु संस्तवः । तत्रैतां विभक्तस्तुतिम् ऋचमुदाहरन्ति ॥ ८ ॥

अर्थ—तीन ही देवता हैं, यह कहा है, पहले [७ । ५ में ।] उन [देवताओं] के भक्तिसाहचर्य=भाग में=हिस्से मे आए [लोक और छन्द आदि] और साहचर्य दूसरे देवताओं के साथपन] को व्याख्या करेंगे । अव एतानि=ये [आगे लिखे] अग्नि के [साथ] भाग लेने वाले [हैं ।] यह [पृथिवी] लोक । [यज्ञ मे] प्रातः सवन । वसन्त [ऋतु ।] गायत्री छन्द । त्रिवृत् स्तोम ।[1] रथन्तर साम । जो और देवगण एकत्र पढ़े गए हैं प्रथम स्थान [निघण्टु ५ । १—३ खण्डों] में [और] अग्नायी, पृथिवी, इळा ये स्त्रियां । अव इस [अग्निः] का कर्म [कहते हैं ।] ले जाना हवियों का, आवाहन और देवताओं का । जो और [कुछ] दृष्टि के विषय में होने वाला [कर्म आदि है] अग्निः का कर्म ही वह [है ।] अव इस [अग्निः] के संस्तविक देव [कहते हैं ।] इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतवः, अग्निः और विष्णु [देवता] सम्बन्ध वाला हविः । [परन्तु] नहीं [कोई] ऋक् [ऐसे] संस्तव वाली दश मण्डल वाली [आर्च संहिताओं] मे विद्यमान है । और भी, अग्निः और पूषा देवता वाला [ऋक् द्वारा ऋग्वेद में] हवि [है], नहीं तो संस्तव । उस में इस विभाग कर के [पृथक् करके] स्तुति वाली ऋक् को उदाहरन्ति=उदाहरण रूप में देते हैं [नैरुक्त आचार्य] ॥ ८ ॥

भाष्य—नैरुक्तों का क्षेत्र निर्वचनविद्या है । तदनुसार समस्त पदों के निर्वचन तीन देवताओं के कर्म आदि के अनुसार हो जाते हैं । अतः निर्वचनकर्ता

---

१. एक साम तीन ऋचाओं में गाया जाता है । उसी का तीन वार वर्तन (गान) त्रिवृत् स्तोम कहाता है । इसी प्रकार पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश आदि अनेक स्तोम हैं । इन स्तोमों के विविध उच्चारण प्रकारों का निर्देश ताण्ड्य ब्राह्मण आदि में किया है, वहां से जानना चाहिए ।

तीन ही देवता स्वीकार कर लेते हैं। वे दूसरे देवताओं के अस्तित्व और उन की भौतिक क्रियाओं से अपरिचित नहीं रहते पर अपना निर्वचन का काम इन तीन देवताओं से ही चला लेते हैं। दूसर देवताओं का अस्तित्व न होता तो निरुक्त के कई प्रकरण लिखे ही न जाते।

यच्च किञ्चिद् दार्ष्टिविषयिकम्। मानव आँख का सम्पूर्ण दृष्टि विषय अग्नि के योग का फल है। इन्हीं रश्मियों के कारण नेत्र से देखा जाता है। पाश्चात्य विज्ञान में यह विषय अभी पूर्णतया जाना नहीं गया। अग्नि से साहचर्य रखने वाले देव पृथिवी लोकस्थ ही नहीं हैं। वे दूसर लोकों में भी हैं। यथा मध्यम स्थानी इन्द्र का पार्थिव अग्नि के साथ साहचर्य हो जाता है।

काठक संहिता में इस विषय पर सुन्दर सन्दर्भ है। यथा—भूरिति इमामसृजत, अग्निं रथन्तरं त्रिवृतं गायत्रीम्। भुवरिति, अन्तरिक्षं वातं वामदेव्यं त्रिष्टुभम् पञ्चदशम्। स्वरिति, दिवं सूर्यं बृहत् एकविंशं जगतीम्। ६। ७॥ यह अग्नि क्या है। यह आग्नेय परमाणुओं का सघात है। इस सघात के पूर्ण रूप का ज्ञान वैदिक विज्ञान की पराकाष्ठा होगी। अग्नि पवमान अग्नि है। इस का पावक और शुचि अग्नियों से भेद है। इस भेद का आधार परमाणु सघात है॥ ८॥

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥

[ऋ० १० । १७ । ३ ॥]

पूषा त्वा इत प्र च्यावयतु विद्वान् अनष्टपशुः। भुवनस्य गोपा इति। एष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिता [आदित्यः।] स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्य इति सांशयिकस्तृतीय पादः। पूषा पुरस्तात्। तस्यान्वादेश इत्येकम्। अग्निरुपरिष्टात् तस्य प्रकीर्तना इत्यपरम्। अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः। सुविदत्रं धनं भवति। विन्दतेर्वैकोपसर्गात्। ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्॥ ९॥

अर्थ—(पूषा) पूषा (त्वा) तुझे [हे मृत] (इत) यहा से (प्र च्यावयतु) पूरा चला ले जाए (विद्वान्) सब प्रकार का ज्ञाता (अनष्टपशु) न नष्ट होने वाले पशुओं वाला (भुवनस्य) भूतों का

(गोपाः) रक्षक । (सः) वह (त्वा) तुझे (एतेभ्यः) इन के लिए (परि ददत्) चारों ओर से दे दे, (पितृभ्यः) पितरों=ऋतुओं के लिए, [और] अग्निः [दे दे] (देवेभ्यः) देवों के लिए (सुदत्रियेभ्यः) श्रेष्ठ ज्ञान वालों के लिए ॥

पूषा तुझे यहां पृथिवी लोक से चला ले जाए, ज्ञाता अनष्टपशुः, भुवनस्य गोपाः इति । यह ही सारे भूतों का रक्षक आदित्य । वह तुझे इन के लिए चारों ओर से दे पितृभ्यः=पितरों के लिए । यह [साधारण अध्येताओं के लिए] सांशयिकः=संशय करा देने वाला तीसरा पाद [है ।] पूषा [पद] पहले आया है । उस का अनु+आदेशः=फिर कथन है, यह [संशय का] एक स्थान [है ।] अग्निः उपरिष्टात्=आगे [वर्णित है ।] उस की प्रकीर्तना=कथन है, यह [संशय का] दूसरा स्थान [है ।] अग्निः देवों के लिए, श्रेष्ठ ज्ञान वा धन वालों के लिए । सुविदत्रम्—धन होता है । विन्दति से अथवा एक उपसर्ग वाले से । ददति से अथवा होवे, दो उपसर्ग वाले से ॥ ९ ॥

भाष्य—साधारण लोगों को तीसरे पाद में सन्देह हो सकता है । सन्देह के दो पक्ष भाष्यकार ने दर्शा दिए हैं . यास्क को दोनों पक्ष अभिमत प्रतीत होते हैं ॥ ९ ॥

अथैतानीन्द्रभक्तीनि । अन्तरिक्षलोको माध्यन्दिनं सवनं ग्रीष्मस्त्रिष्टुप्पञ्चदशस्तोमो बृहत्साम । ये च देवगणाः समाम्नाताः मध्यमे स्थाने याश्च स्त्रियः । अथास्य कर्म । रसानुप्रदानम् । वृत्रवधः । या च का च बलकृतिः । इन्द्रकर्मैव तत् । अथास्य संस्तविका देवाः । अग्निः सोमो वरुणः पूषा बृहस्पतिर्ब्रह्मणस्पतिः पर्वतः कुत्सो विष्णुर्वायुः । अथापि मित्रो वरुणेन संस्तूयते । पूष्णा रुद्रेण च सोमः । अग्निना च पूषा । वातेन च पर्जन्यः ॥ १० ॥

अर्थ—अब ये इन्द्र के साथ भाग लेने वाले [हैं ।] अन्तरिक्ष लोक [है ।] माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म [ऋतु], त्रिष्टुप् [छन्द], पञ्चदश स्तोम,[1] बृहत् साम । जो और देवगण एकत्र पढ़े गए हैं

---

१. तृच में गेय साम का पांच पर्याय विशेषों के गान ।

मध्यम स्थान [निघण्टु ५ । ४, ५] मे जो और स्त्रियाँ । अब इस [इन्द्र] का कर्म [कहते हैं ।] रस का अनुप्रदान=देना । वृत्रवध । जो और कोई और बल का कर्म, इन्द्र कर्म ही वह [है ।] अब इस [इन्द्र] के सस्तविक देव [कहते हैं] । अग्नि सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु । और भी, मित्र वरुण के साथ स्तुति किया जाता है । पूषा रुद्र और, सोम के [साथ ।] अग्नि के साथ पूषा । और वात के साथ पर्जन्य ॥ १० ॥

भाष्य—निरुक्त पढ़ने वाले को त्रिवृत्स्तोम और पञ्चदश स्तोम आदि का पूरा ज्ञान होना चाहिए । रथन्तर और बृहत् सामों के साथ पृथिवि और द्यौ लोकों का पृथक् होना सम्बद्ध है । इन का भी पूरा ज्ञान होना चाहिए । वैदिक विज्ञान के समझने में ये बातें अत्यन्त आवश्यक हैं । वर्तमान काल के पाश्चात्य और एतद्देशीय वेद पर लिखने वाले इन बातों से सर्वथा अपरिचित हैं । वे अद्भुत वेदार्थ को केवल बिगाड़ते हैं । इन्द्र के बिना रसानुप्रदान अर्थात् वर्षा आदि असम्भव होते । मरुतों की सहायता से इन्द्र का यह आश्चर्यमय कर्म हो रहा है । इन्द्र भी किन्हीं परमाणुओं के संघात का परिणाम है । हम पहले लिख चुके हैं कि वायु से आवेष्टित विद्युत् ज्योति ही इन्द्र है । यह सब भूत माया है । इस माया के ज्ञान के लिए इन्द्र की जन्मकथा का अद्भुत वृत्तान्त जानना चाहिए । यह जैमिनि ब्राह्मण ३ । २६४, २६५ में वर्णित है ॥ १० ॥

अथैतान्यादित्यभक्तीनि । असौ लोकस्तृतीयसवनं वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम । ये च देवगणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने याश्च स्त्रियः । अथास्य कर्म रसादानम् । रश्मिभिश्च रसाधारणम् । यच्च किंचित्प्रवल्हितम् आदित्यकर्मैव तत् । चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तव ।

एतेष्वेव स्थान व्यूहेष्वृतुच्छन्दस्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयीत । शरदनुष्टुबेकविंशस्तोमो वैराजं सामेति पृथिव्यायतनानि । हेमन्तः पङ्क्तिस्त्रिणवस्तोमः शाक्वरं सामेत्यन्तरिक्षायतनानि । शिशिरोऽतिच्छन्दास्त्रयस्त्रिंशस्तोमो रैवतं सामेति द्युभक्तीनि ॥ ११ ॥

अर्थ—अब ये आदित्य के साथ भाग लेने वाले [है ।] असौ=वह द्यौ. लोक [है ।] तृतीय सवन, वर्षा [ऋतु], जगती [छन्द ,]

सप्तदश स्तोम,[1] वैरूप साम । जो और देवगण एकत्र पढ़े गए हैं उत्तम स्थान [निघण्टु ५ । ६] में जो और स्त्रियां । अब इस [आदित्य] का कर्म [कहते हैं ।] रस का आदान=ले लेना=खींचना । रश्मियों के द्वारा रस का आधारण=अपने में थामना=सब ओर से धारण करना । जो और कुछ भी प्रवल्हितम्=वेग से गतिशील होना, आदित्य कर्म ही वह [है ।] चन्द्रमा, वायु, संवत्सर के साथ इस का संस्तव [है ।]

एतेषु एव=इन ही स्थान व्यूहेषु स्थानों के व्यूहों=क्रम से फैले हुए अवस्थाविशेषों में ऋतु, छन्द, स्तोम के पृष्ठ के विभाग-शेष की अनुकल्पयीत=[वेदार्थ और निर्वचन में] कल्पना करे । शरत् [ऋतु], अनुष्टुप्, एकविंश स्तोम [और] वैराज साम, ये पृथिवी के आयतनानि=स्थान वाले [हैं ।] हेमन्त, पंक्ति, त्रिणव स्तोम, शाकर [साम], ये अन्तरिक्ष स्थान वाले [हैं ।] शिशिर, अतिछन्दस्, त्रयस्त्रिंश स्तोम, रैवत [साम, ये द्यु के [साथ] भाग रखने वाले [हैं] ॥ ११ ॥

भाष्य—यास्क के ज्ञान की महिमा देखिए । आदित्य तक जो आपः परमाणु पहुंचते हैं, वे स्वतन्त्र ऐसी सत्ता नहीं रखते । वे आदित्य की रश्मियों के आश्रय से पहुँचते हैं । और रश्मियों के ही कारण वे आदित्य मण्डल में ठहरते हैं । तीनों लोकों में सब से अधिक वेग से गतियां आदित्य का ही कर्म है । इसी माया के द्वारा सूर्य रश्मियां तत्काल सर्वत्र फैल जाती हैं । आदित्य शुचि अग्नि का भण्डार है । उस में भरत, वैश्वानर, महः, काव्य, अथर्वा, दध्यङ्, भृगु और अङ्गिरा आदि अग्नियां हैं । इन में से कई एक नामों पर ऋषि-नाम रखे गए । इन सूर्यस्थ अग्नि रूपों को मनुष्य समझना अज्ञान है ॥ ११ ॥

मन्त्रा मननात् । छन्दाँसि छादनात् । स्तोमः स्तवनात् । यजुर्यजतेः । साम सम्मितमृचा । स्यतेर्वा । ऋचा समं मेने, इति नैदानाः ।

गायत्री गायते स्तुतिकर्मणः ।[2] त्रिगमना वा विपरीता ।

गायतो मुखादुदपतत् ।[3] इति च ब्राह्मणम् ।

---

१. तृच में गेय साम का पांच पर्यायों में पर्याय विशेष में दो मन्त्रों का पुनरावर्तन करके सप्तदश स्तोम सम्पादित किया है । इस के कई प्रकार हैं ।

२. देवताध्याय ब्रा० ३ । २ ॥ ३. देवताध्याय ब्रा० ३ । ३ ॥

उष्णिगुत्स्नाता भवति । स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः । उष्णीषिणी वेत्यौपमिकम् । उष्णीषं स्नायतेः । ककुप्ककुभिनी भवति । ककुप् च कुब्जश्च कुजतेर्वा । उब्जतेर्वा । अनुष्टुबनुष्टोभनात् ।

गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति ।[1] इति च ब्राह्मणम् ।

बृहती परिबर्हणात् । पङ्क्तिः पञ्चपदा । त्रिष्टुप्स्तोभत्युत्तरपदा । का तु त्रिता स्यात् ? तीर्णतमं छन्दः । त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोभतीति वा ।

यत् त्रिरस्तोभत्तत्त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वम् ।

इति विज्ञायते ॥ १२ ॥

अर्थ—मन्त्र मनन से । छन्दस् छादन करने=ढापने से । स्तोम स्तुति करने से । यजुस् यजति से । साम सम्मित=पूर्णतया मापा हुआ होता है ऋक् से । स्यति =अस्यति से अथवा [फेंका जाता है रखा जाता है ऋक् में ।] ऋक् के समान माना [प्रजापति ने इसे ।] यह नैदान [कहते हैं ।] गायत्री गायति से स्तुति अर्थ वाले से । त्रिगमना=तीन गमन=पाद वाली [त्रि+गाय] इसे विपरीता=उलट कर [गाय+त्रि बनता है ।] गायत =गाते हुए [ब्रह्म=प्रजापति] के मुख से अपतत्=गिरी=निकली । यह और ब्राह्मण [वचन] है ।[2]

उष्णिक्=उत्+स्नाता=[गायत्री से चार अक्षरों की अधिकता से] ऊपर लपेटी हुई होती है । स्निह्यति से अथवा होने कान्ति अर्थ वाले से [देवों का चाहा हुआ प्रिय छन्द है ।] उष्णीषिणी=पगड़ी वाली अथवा, यह उपमा से किया [नाम है ।] उष्णीष=स्नायति से [=शुद्ध करता है ।] ककुप्=ककुप् वाली होती है । ककुप और कुब्ज और कुजति से अथवा । [टेढ़ा होना है ।] उब्जति से अथवा । अनुष्टुप्=अनु+स्तोभात्=थामने से । गायत्री को ही त्रिपदा हुई को चौथे पाद से अनुस्तोभति=थामता है । यह और ब्राह्मण [पाठ है ।]

---

१ दैवत ब्रा० ३ ।

२ भौतिक प्रजापति द्वारा जो प्रथम शब्द उत्पन्न हुआ वह 'भूः' था । 'भूः' दैवी गायत्री छन्द है । द्र० 'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत ।'

बृहती=परिवर्हणात्=सब ओर से वृद्धि वाला होने से। पंक्तिः=पञ्चपदा =पांच पदों वाली [आठ-आठ अक्षरों के पांच पद=४० अक्षरों वाली] त्रिष्टुप्=त्रि+स्तोभति उत्तरपदा है। क्या वह त्रिता [अर्थात् त्रि पद अर्थ देने वाला] हो। तीर्णतमम्=अत्यन्त आगे गया हुआ छन्द है। त्रिवृत्=त्रिवृत् हुआ वज्र [है, इन्द्र का।] उस की स्तुति करने वाली अथवा। जिस कारण, त्रिः अस्तोभत्=तीन वार स्तुति [उस ने] की, वह त्रिष्टुप् का त्रिष्टुप् पन [है।] यह विज्ञान द्वारा ज्ञात होना है ॥ १२ ॥

भाष्य—मन्त्र और छन्द से ऋक् अभिप्रेत हैं साम और ऋक् सदा साथ-साथ हैं। साम को उत्तर काल का मानना ईसाई लेखकों का घोर पक्षपात है। गायत्री प्रजापति के मुख से निकली। प्रजापति=हिरण्यगर्भ के मुख से पहले ओम् की ध्वनि और तत्पश्चात् गायत्री निकली। ऋषियों ने यह तथ्य योगबल से जाना। छन्दों के निर्वचन-प्रदर्शन में पूर्ण वैज्ञानिक तथ्य यास्क के ध्यान में थे। विज्ञ अध्येता को इन्हें समझ कर आगे चलना चाहिए ॥ १२ ॥

जगती गततमं छन्दः। जलचरगतिर्वा।

जलगल्यमानोऽसृजत्। [दैवत ब्रा० ३] इति च ब्राह्मणम्।

विराड्विराजनाद्वा। विराधनाद्वा। विप्रापणाद्वा। विराजनात्सम्पूर्णाक्षरा। विराधनादूनाक्षरा। विप्रापणादधिकाक्षरा। पिपीलिकामध्येत्यौपमिकम्। पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः।

इतीमा देवता अनुक्रान्ताः सूक्तभाजो हविर्भाजः। ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः। काश्चिन्निपातभाजः। अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति।

इन्द्राय वृत्रघ्ने। [ऋ० ६। ६८। १० ॥]

[इन्द्राय वृत्रतुरे,] इन्द्रायाँहोमुचे। [मै० सं० २। १५। ११] इति।

तान्यप्येके समामनन्ति। भूयाँसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत्समामने।

अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवता स्तौति।

वृत्रहा पुरन्दरः। इति।

तान्यप्येके समामनन्ति। भूयाँसि तु समाम्नानात्। व्यञ्जनमात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति। यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि स्नाताया-नुलेपनम्। पिपासते पानीयम्। इति ॥ ३ ॥

अर्थ—जगती सब से अधिक आगे गया छन्द [है।] इस से परे कोई छन्द नहीं।] जलचर गति वाला अथवा। [सृष्टि बनते समय सलिल परमाणुओं में इस की तरङ्गें विशेष रूप की थीं।] जगल्यमान=शीघ्र होते हुए [सामग्री समाप्त करते हुए प्रजापति] ने [इसे] रचा। यह और ब्राह्मण [है।] विराट्=विशेष चमकने से अथवा। वि+राधनात्=विशेष घटने से अथवा। विशेष बढने से अथवा। विराजन=चमकने से पूर्ण अक्षरों वाली छन्द। विराधन=घटने से ऊनाक्षरा=न्यून अक्षरों वाली। विप्रापण=बढने से, अधिक अक्षरों वाली। पिपीलिकामध्या यह उपमा द्वारा किया [नाम] है। पिपीलिका पेलति से, गति अर्थ वाले से।

इस प्रकार इमा=ये तीनों देवता अनुक्रम से कहे गए। सूक्त में भाग वाले [सारे सूक्त में स्तुति किए गए, पर जिन के लिए हवि नहीं, हवि में भाग वाले। ऋचाओं में भाग वाले बहुत अधिक हैं। कुछ एक निपात भागी [गौण देवता के रूप में] हैं। अथ+उत=अब अभिधानै=विभिन्न नामों= भिन्न भिन्न विशेषणों से संयुज्य=जोड कर हवि को चोदयति=देता है प्रेरित करता है। [यथा—]

इन्द्र के लिए वृत्रवध करने वाले के लिए। [इन्द्र के लिए, वृत्र को मारने वाले के लिए]। इन्द्र के लिए, पाप से मुक्त कराने वाले के लिए। तानि अपि=इन [नाम विशेषणों] को भी एके=एक प्रकार के [निघण्टु संग्रहकर्ता] एकत्र पढते हैं। भूयासि=अधिक हैं [ऐसे नाम—विशेषण] समाम्नात कराने से। जो तो सविज्ञान भूतम्=सम्यक् विज्ञानभूत=पूरा ज्ञान करा देने वाला होवे प्राधान्यस्तुति=प्रधान रूप से देवता की स्तुति [वाला नाम] तत्=उसे समामने=मैं समाम्नान करता हूं।

और [देवता के] कर्मों से ऋषि देवता की स्तुति करता है [यथा-] (वृत्रहा) वृत्र को मारने वाला, (पुरन्दर) पुर को दीर्ण करने वाला इति। उन को भी एक प्रकार के संग्रहकर्ता] एकत्र पढते हैं। अधिक हैं समाम्नात करने से। ...रूप वाला केवल तो तत्=वह

[विशेषण] उस अभिधानस्य=नाम का होता है। यथा—ब्राह्मण के लिए, भूखे के लिए ओदनम्=भात दो। स्नाताय=स्नान कर चुके को अनुलेपनम्=लेप पदार्थ, चन्दन आदि।] पिपासते=पीने की इच्छा रखने वाले के लिए पानी। इति ॥ १३ ॥

भाष्य—तत्समाम्नने। यास्क से पूर्व के कई निघण्टुकार—वृत्रघ्ने, वृत्रतुरे, अंहोमुचे आदि अभिधानों से जोड़ कर इन्द्राय आदि पद अपने अपने निघण्टुओं में एकत्र करते थे। अन्य निघण्टुकार—वृत्रहा, पुरन्दरः आदि कर्म-प्रदर्शन पदों से युक्त इन्द्र आदि पद पढ़ते थे।[1] यास्क ने ग्रन्थ विस्तार के भय से उस मार्ग को नहीं अपनाया। उस ने प्राधान्यस्तुति के भाव से इस दैवत काण्ड का समाम्नाय किया। इस संकेत से उस ने बता दिया कि यह निघण्टु ग्रन्थ उस की अपनी रचना है। निघण्टु के पहले चार अध्यायों में उस ने कहीं पुराने मूल समाम्नाय का क्रम रखा और कहीं संक्षेप करते समय अपनी स्वतन्त्रता वर्ती। वर्तमान निघण्टु सूत्रग्रन्थ यास्क का प्रवचन है। इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले पूर्व निरुक्त ४। १८ पर हमारा भाष्य देखें ॥ १३ ॥

अथातोऽनुक्रमिष्यामः। अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति। न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात्। अक्ताद् दग्धाद्वा। नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते। गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा। नीः परः। तस्यैषा भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—अब इस से आगे [देवता] क्रमानुसार कहेंगे। अग्निः पृथिवी स्थान वाला है। उस को पहले व्याख्या करेंगे। अग्निः किस [कारण से ।] अग्रणीः=मुख्य में हो जाता है। आगे यज्ञों में प्रणीयते=लाया जाता है [=प्रज्वलित किया जाता है।] अङ्गं नयति=[अपने] अङ्ग की ओर ले

१. इस प्रकार के निघण्टु संग्रहीता याज्ञिक दृष्टि से विशेषण विशिष्ट पदों का स्वतन्त्र रूप से संग्रह करते थे। याज्ञिकों के मत में इन्द्र और महेन्द्र पृथक्-पृथक् देवता हैं। इसी प्रकार वृत्रघ्न इन्द्र से वृत्रतुर इन्द्र और पुरन्दर इन्द्र भी पृथक्-पृथक् हैं। यास्क ने स्वनिघण्टु संग्रह आधिदैविक दृष्टिकोण से किया है।

जाना [=अपना उसे अड्डी बना लेना है] समश्नमान=भुक्ता हुआ [किसी पर ।] अ+क्नोपन =नहीं गीला होता यह स्थौलाष्ठीवि [कहता है ।] नहीं गीला करता नहीं स्नेहयति=स्निग्ध करता । तीन आख्यातों से बनता है यह शाकपूणि [कहता है ।] इतात्=जानि से अक्तात्—दग्धात् या, प्रकट करने से दग्ध करने से अथवा, नीतात्=ले जाने से । वह तो एति से अकार ले लेता है। गकार अनक्ति से अथवा दहति से अथवा । नीं परे [लगता है ।] उस [अग्नि] की यह [ऋक्] है ॥ १४ ॥

भाष्य—ऋग्वेद की अनुक्रमणी या ऋग्वेद के मन्त्रों में केवल अग्नि पद साधारणतया पृथिवी स्थान वाले अग्नि का बोधक है। अन्तरिक्षस्थ अग्नि को जातवेदस्, धर्मस्थस्य अथवा पावक आदि नामों से पहचानते हैं 'द्यु' लोकस्थ अग्नि को शुचि, और वैश्वानर, आदि नामों से जान लेते हैं। इन भेद को जान कर ही वेदार्थ समझ में आता है। इन अग्नियों के सौचीक, पुरीष्य भरत आदि भेद हैं।

स्थूलाष्ठीव का पुत्र स्थौलाष्ठीवि। तीन आख्यातों से एक अग्नि पद निर्वचन भी ठीक है। इस की प्रक्रिया शाकपूणि के निरुक्त के मिलने पर ज्ञात हो सकती है ॥ १४ ॥

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥
[ऋ० १ । १ । १ ॥]

अग्निमीळेऽग्निं याचामि । ईळिरध्येषणाकर्मा । पूजाकर्मा वा । पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च । देवो दानाद्वा । दीपनाद्वा । द्योतनाद्वा । द्युस्थानो भवतीति वा । यो देवः सा देवता । होतारं ह्वातारम् । जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः । रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम् ।
तस्योत्तरा भवति ॥ १५ ॥

अर्थ—(अग्निम् ईळे) अग्नि को याचना करता हूँ पुरोहित को यज्ञ के देव को ऋत्विज् को होता को [और] रत्न के अतिशय दाता को ॥

अग्नि को याचना करता है। ईळि, अध्येषणा=याचना अर्थ वाला [है ।] पूजा अर्थ वाला अथवा। पुरोहित [निरुक्त २ । १२ में] व्याख्या किया गया है यज्ञ और [निरु० ३ । १९ में ।] देव दान से दीपन

काशन से, द्योतन=चमकने से अथवा । द्युः स्थान वाला होता है, इस से अथवा । जो देव [है], वही देवता [है ।] होतारम्=आह्वान करने वाले को । जुहोति से होता, यह और्णवाभ [मानता है ।] रत्नधातमम्=रमणीय धनों का सब से अधिक देने वाला ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ १५ ॥

भाष्य—सृष्टि निर्माण के समय हिरण्यगर्भ=प्रजापति=पुरुष से सर्वप्रथम भूमि पृथक् हुई । उस भूमि पर दिव्य गुण वाले अग्निः का सृजन हुआ । इसी लिए ऋग्वेद का आरम्भ आग्नेय सूक्त से है ।

अग्निः पद का अर्थ देव अग्निः भी है और देवों का देव महादेव ईश्वर भी है । ईश्वर अर्थ में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मनु और वेदादि के प्रमाण अपने ऋग्वेद भाष्य के प्रथम मन्त्र के भाष्य में दिए हैं । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस बात को स्पष्ट किया है, कि प्रार्थना के प्रसङ्ग में ईश्वरार्थ ही अभिप्रेत रहता है । अनेक आचार्यों का मत है कि प्रार्थना देवों से भी होती है । ऐसे आचार्य देवों को सजीव मानते हैं । यास्क इन अग्निः आदि पदों से ईश्वरार्थ भी मानता है, यह उस ने परिशिष्ट खण्ड में अतिस्तुतियों से स्पष्ट किया है ।

निरुक्त परिशिष्ट १२ । १० में—ऋचो अक्षरे, प्रतीक वाले मन्त्र से यास्क स्वयं स्पष्ट करता है कि अक्षर, वह अविनाशी ओम् है । यही वाक् है, यह शाकपूणि को स्वीकृत है । इसी मन्त्र का अधिदैवत अर्थ में शाकपूणि का पुत्र दूसरा अर्थ करता है । अतः मन्त्रों के अनेकपक्षी अर्थ हो जाते हैं । पर ईश्वर अर्थ सर्वत्र विद्यमान रहता है । इसी तत्त्व का संकेत स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वीय ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के प्रतिज्ञाविषय में इस प्रकार किया है—

परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रेऽत्यन्तं त्यागो भवति ।

पृष्ठ २९२. संस्क० ३ ।

स्वामी शङ्कराचार्य ने भी वेदान्त दर्शन १ । २ । २८ के भाष्य में लिखा है—

अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति ।

अग्निः सब से अधिक धनों का दाता है ॥ १६ ॥

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ॥

[ऋ० १ । १ । २ ॥]

अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीळितव्यो [वन्दितव्यो] ऽस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति ।

स न मन्येतायमेवाग्निरिति । अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते । ततो नु मध्यमः ॥ १६ ॥

अर्थ—अग्नि पूर्व ऋषियों से स्तुति योग्य है नयों से और । वह (देवान्) देवों को (इह) यहां (आ वक्षति) लावे ।

अग्नि जो पूर्व हुए ऋषियों से स्तुति योग्य=प्रार्थनीय [है], वन्दना योग्य है हम से भी और अत्यन्त नयों से, वह देवों को यहां आ वहतु= लावे, इति । वह न मन्येत=माने, यह [पृथिवी स्थानी] ही अग्नि है । ये दोनों ऊपर के ज्योति [पावक और शुचि] भी अग्नि कहे जाते हैं । इस से आगे मध्यम अग्नि का [कथन है] ॥ १६ ॥

भाष्य—पूर्व ऋषि—सृष्टि बनते समय सूर्य के शुचि अग्नि में भृगु और अङ्गिरा आदि प्राण रूपी ऋषि उत्पन्न हुए । शुचि अग्नि जब अङ्गारों के रूप में था तब अङ्गिरा प्राण की उत्पत्ति हुई । इन भृगु अङ्गिरा आदि सूक्ष्म प्राणों से भी अग्नि स्तुति योग्य है । भृगु आदि के पश्चात सृष्टि निर्माण के उत्तर काल में विश्वामित्र, अत्रि और मधुच्छन्दा आदि दिव्य ऋषि उत्पन्न हुए । उन के साथ अनेक मन्त्रों की उत्पत्ति सम्बद्ध है । उन नूतनों के द्वारा भी अग्नि स्तुति योग्य है । इसी भाव से मन्त्रों में पूर्व और नूतन=नव्य ऋषि कहे गये हैं ।

कोई कहे कि देव और ऋषि अग्नि की ऐसी बातें उस की समझ में नहीं आतीं, तो यह उस की बुद्धि का दोष है । उसे वेद विद्या को विधिवत् पढ़ना चाहिए । ईसाई यहूदियों के प्रदर्शित मार्ग से वेद नहीं पढ़ा जा सकता ॥ १६ ।

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥

[ऋ० ४ । ५८ । ८ ॥]

अभिनमन्त समनस इव योषाः । समनं समननाद्वा । सम्माननाद्वा । कल्याण्यः । स्मयमानासः । अग्निमित्यौपमिकम् । घृतस्य धारा उदकस्य धाराः । समिधो नसन्त । नसतिराप्नोतिकर्मा वा । नमतिकर्मा वा । ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः । हर्यतिः प्रेप्साकर्मा । विहर्यतीति ।

स॒मु॒द्राद्रू॒र्मिर्मधु॑माँ॒ उदा॑रत् । [ऋ० ४ । ५८ । १ ॥]

इति आदित्यमुक्तं मन्यन्ते ।

समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति । [कौषी० ब्रा० २५ । १ ॥]

इति च ब्राह्मणम् । अथापि ब्राह्मणं भवति ।

अग्निर्वै सर्वा देवताः । [ऐ० ब्रा० २ । ३ ॥] इति ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ १७ ॥

अर्थ—(अभि प्रवन्त) चारों ओर से झुकें (समना इव योषाः) [किसी कर्म में] समान मन वाली स्त्रियों के समान (कल्याण्यः) सुन्दर रूप वाली (स्मयमानासः) मुस्कराती हुई [स्त्रियों के समान] अग्नि को । [कौन झुकें] (घृतस्य धाराः) स्निग्ध आपः की धाराएं । (समिधः नसन्त) [ये धाराएं] समिध रूप हो कर व्याप्त होती हैं । (ताः) उन धाराओं को (जुषाणः) प्रेम करता हुआ (हर्यति) कामना करता है, (जातवेदाः) मध्यमस्थान=अन्तरिक्ष का पावक अग्निः ।

झुकें समान मन वाली स्त्रियों के समान । समनम्=समान मनन करने से अथवा । समान मान से अथवा । कल्याण्यः=सुन्दर रूप वालियां । स्मयमानासः=मुस्कराती हुईं, अग्निः को, यह उपमा से कथन है । घृतस्य धाराः=[स्निग्ध] उदक की धाराएं । समिध हो कर प्राप्त होती हैं । नसतिः, प्राप्ति अर्थ वाला है अथवा । झुकता है, अर्थ वाला अथवा । उन को प्रेम करता हुआ कामना करता है, जातवेदाः । हर्यतिः=चाहने अर्थ वाला [है ।] विशेष चाहता है, इति ।

(समुद्रात्) समुद्र से (ऊर्मि०) तरंग (मधुमान्) मधुयुक्त (उदारत) उठा। यहां आदित्यम्=आदित्य को उक्तम्=कहा गया मानते हैं। समुद्र से ही यह अद्भ्य=आप से उदेति=उदय होता है। यह और ब्राह्मण वचन [है।] और भी ब्राह्मण है। अग्नि निश्चय से सारे देवता [है।]।

तस्य=इस [अर्थ] की अगली ऋक् अधिक अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए ॥ १७ ॥

भाष्य—घृतस्य धारा=स्निग्ध उदक अन्तरिक्ष में हैं। ऐसा अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। वही उदक वैदिक वैज्ञानिक परिभाषा में घृत कहा जाता है। ऐसे उदक की धाराएं अर्थात् आप परमाणुओं की कुल्याएं। ये परमाणु कुल्याएं समान नमन वालियां=एक दूसरे का आकर्षण करने वालियां। सुन्दर रूप वालियां=माध्यमिक विद्युत् के कारण चमकती हुई। स्मयमानास=मुस्कराती हुई आप परमाणुओं का यह कर्म जानना चाहिए। सम्भवतः ये परमाणु हिलते और उछलते हुए चाले हैं। अग्निम्=जातवेदा अग्नि की ओर झुकी हुई जाती हैं। परमाणु धाराओं का यह नमन कर्म भी जानना चाहिए। ये परमाणु धाराएं जातवेदा के लिए इन्धन का काम देती हैं। जातवेदा अग्नि के लिए पुराण कहता है—वैद्युतो ऽब्गर्भस्तु विज्ञेय। वायु ५३। १० ॥ इसी अग्नि को अगले श्लोक में—अपागर्भ, कहा है। यास्क भी मध्यम स्थानी अग्नि को उदकेन्धन (निरु० ७। २३) कहता है। जातवेदा इन आप धाराओं को विशेष चाहता है।

यद्यपि मन्त्र के पूर्वार्ध में केवल अग्नि पद ही वर्तमान है, पर प्रकरण और मन्त्र के वर्णन तथा उत्तरार्ध में जातवेदा पद के होने से यहां स्पष्ट ही पहले अग्नि पद से अन्तरिक्षस्थ अग्नि का ही ग्रहण होता है। इस एक ही मन्त्र में जो आश्चर्यकर विज्ञान का प्रदर्शन है, वही वेद का वेदपन है। ऐसे वेद को इन अज्ञानी ईसाई यहूदी लेखकों और उन के चाटुकार करने वाले शिष्यों ने कैसे कलुषित करने का यत्न किया है ॥ १८ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
[ऋ० १। १६४। ४६ ॥]

इममेवाग्निं महान्तं [च] आत्मानम् एकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति । इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम् । दिव्यो दिविजः । गरुत्मान्गरणवान् । गुर्वात्मा । महात्मेति वा ।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निः । निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ १८ ॥

अर्थ—इन्द्र को, मित्र को, वरुण को । अग्नि को कहते हैं और [ऐसा अथवा इन नामों से ।] दिव्य है वह, सुपर्ण है, महान् आत्मा है । (एकं सत्) एक होते हुए को (विप्राः) मेधावी लोग (बहुधा) बहुत प्रकार से कहते हैं, अग्निः को, यम को, मातरिश्वा को कहते हैं ।

इस ही अग्निः को, महान् और आत्मा को, एक आत्मा को बहुत प्रकार से मेधावी जन कहते हैं । इन्द्र को, मित्र को, वरुण को, अग्निः को, दिव्य को और गरुत्मान् को । दिव्यः=द्यौः मे जन्मा अथवा दिव्य गुण युक्त । गरुत्मान्=गरणवान्=स्तुति वाला । गुरु आत्मा । महान् आत्मा अथवा ।

यः तु=जो [अग्निः] तो सूक्त का भागी है, जिस के लिए हवि दिया जाता है, यह ही वह [पृथिवीस्थानी] अग्निः है । निपातम्=गौण भाव से ही ये दोनो उत्तर ज्योति इस [अग्निः] नाम से सेवित होते हैं ॥ १८ ॥

भाष्य—यह मन्त्र अति प्रसिद्ध है, और वेद के परमेश्वर के वर्णन में सर्वत्र उद्धृत किया जाता है । नैरुक्त प्रक्रिया में दिव्यः सुपर्णः और गरुत्मान् पदों से इस का मध्यम अग्निः से भी सम्बन्ध बताया गया है, पर एकं सत् पदों से ईश्वर अथवा महान् आत्मा का भाव भी सुव्यक्त माना गया है । इस का अर्थ ईश्वर परक है, यह इस बात से भी प्रमाणित होता है कि अतिस्तुतियों वाले परिशिष्ट १३ । १४ में इसे दोबारा उद्धृत किया गया है । वहां इस मन्त्र से पुनः महान् आत्मा का ऐश्वर्य कहा गया है ।

इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि जब इस मन्त्र में अग्निः, इन्द्र, मित्र आदि पदों का ईश्वर अर्थ सिद्ध है, तो वेद के अन्य मन्त्रों में भी इन इन्द्र आदि पदों से ईश्वरार्थ ग्रहण हो जाता है । एक ही मन्त्र आधिदैविक और आध्यात्मिक पक्षों के अनुसार दो प्रकार का अर्थ देता है । यास्क के अर्थों में एक और सूक्ष्म बात भी है । यह अतिस्तुतियों १३ । १७ में कही है । तदनुसार महान् आत्मा से ईश्वर के अतिरिक्त महत्तत्त्व का अभिप्राय भी होता है ॥ १८ ॥

जातवेदाः कस्मात् । जातानि वेद । जातानि वैनं विदुः । जाते जाते विद्यत इति वा । जातवित्तो वा जातधनः । जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः ।

यत्तज्जातः पशूनविन्दत [इति] तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् । [मै० सं० १।८।२॥] इति ब्राह्मणम् ।

तस्मात्सर्वानृतून्पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति । [मै० सं० १।८।२॥]

इति च । तस्यैषा भवति ॥ १९ ॥

अर्थ—जातवेदाः किस [कारण] से । उत्पन्न हुओं को जानता है । उत्पन्न हुए अथवा [सब प्राणी] इस को जानते हैं । उत्पन्न हुए में, उत्पन्न हुए में विद्यमान रहता है अथवा । जातवित्त=उत्पन्न हुआ है धन जिस से अथवा । जातविद्य=[illegible] । यह जो उत्पन्न होते ही पशुओं को [उस ने प्राप्त किया], यह जातवेद का जातवेदस्त्व [है ।] यह ब्राह्मण [प्रवचन] है । इस कारण सब ऋतुओं में पशु [illegible] अग्नि की ओर [illegible] है । यह भी [illegible] प्रवचन है ।] उस [जातवेदा का] यह [मन्त्र] होता है ॥ १९ ॥

भाष्य—ब्राह्मण ग्रन्थों में न केवल [illegible] में ही जातवेदाः निर्वचन [illegible] अधिक उपलब्ध होता है । इस के अतिरिक्त [illegible] में थोड़ा सा कथन है । यथा—

(क) [illegible] जातो वै प्रजा [illegible] इदम् इति । [illegible] जातो वै प्रजा [illegible] अविदम् इति तत् जातवेदस्यम् [illegible] तत् जातवेदसो जातवेदस्त्वम् । ऐ० १।१६ ॥

(ख) प्राणो वै जातवेदाः स हि जातानां वेद । ऐ० २।३४ ।

(ग) वायुर्वै जातवेदाः । वायुर्हीदं सर्वं करोति यदिदं किञ्च ।
ऐ० २।३४ ॥

(घ) यत् तत् जातं जातं विन्दते तस्मात् जातवेदाः ।
शत० ९।५।१।६८ ॥

(क) और (घ) प्रमाणों में अविदम् और विन्दते से धात्वर्थ द्वारा जातवेदाः पद के वेदस्, अंश का अर्थ बताया गया है। पर (ख) और (ग) प्रमाणों में ऐतरेय ने प्राण और वायु का सम्बन्ध जातवेदाः अग्निः से बताया है। जातवेदाः अग्निः मध्यम स्थान वाला है। वायु भी मध्यम स्थानी है। इस से यह ज्ञात होता है कि जिस प्रकार वायु से आवेष्टित वैद्युत तेज इन्द्र है, उसी प्रकार जातवेदाः रूपी आग्नेय परमाणुओं का भी कोई सम्बन्ध वायु से है। यदि कोई कहे कि वेद में परमाणुओं का कोई वर्णन नहीं तो यह उस की भूल है। वेद के भुवन पद का यास्क ने बहुधा भूतानि अर्थ किया है। यह संकेत प्रायः भूतों की ओर है। और आपः आदि भूतों के परमाणु सर्वत्र माने गए हैं।

पशु पार्थिव हैं और अन्तरिक्षस्थ भी। इसीलिए वेद कहता है—पशूंस्तान् चक्रे वायव्यान्। ऋ० १०।६०।८॥ पशु उन को किया, जो वायव्य हैं। इन पशुओं के लिए अधिक देखो, वेदविद्यानिदर्शन, पृ० १५२ से आगे-आगे। यजुर्वेद में २४। १—४० तक जो पशु समाम्नाय है, उस के जानने के लिए इन अन्तरिक्षस्थ पशुओं का यथार्थ ज्ञान पूर्णतया अपेक्षित है। ये अन्तरिक्षस्थ पशु जातवेदा की ओर सरकते हैं। अभिसर्पन्ति क्रिया ध्यान देने योग्य है। अन्तरिक्षस्थ पशुओं की गति सर्पण विधि से होती है॥ १६॥

विशेष टिप्पण—इस से आगे निरुक्त के लघु पाठ में एक खण्ड है। यह खण्ड दीर्घ पाठ में नहीं है। महोपाध्याय लक्ष्मणसरूप ने अपने निरुक्त प्राक्कथन, पृ० १३ पर इस के विषय में लिखा है—

"It is clearly an interpolation as the commentary on the Vedic stanzas is identical with that of XIV. 33 with slight variations."

अर्थात्—यह पाठ प्रक्षिप्त है। यही पाठ स्वल्प पाठान्तरों से निरुक्त १४।३३ में मिलता है।

इस पाठ के विषय में राजवाड़े का टिप्पण है—इति अधिकः खण्डो गुर्जरपाठे। दुर्गवृत्ति यद्यपि लघुपाठ पर है, तथापि उस में यह पाठ नहीं है। पाठकों के लाभार्थ यह पाठ आगे लिखा जाता है।

[जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥

जातवेदस इति जातवेदस्यां येव जातवेदसे सुनवाम सोममिति । प्रसवायाभिषवाय सोमं राजानममृतमरातीयतो यज्ञार्थमिति स्मोः । निदहाति निश्चयेन दहति भस्मीकरोति । सोमो ददादित्यर्थः । स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वानि दुर्गमानि स्थानानि नावेव सिन्धुं सिन्धु नाम नदीं जलदुर्गां महाकूलां तारयति । दुरितात्यग्निरिति दुरितानि तारयति । तस्यैषापरा भवति ॥ २ ॥ २० ॥]

हमारी सम्मति में यह पाठ किसी अन्य निरुक्त का है, अथवा किसी निरुक्त-भाष्यकार का है।

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम् । इदं नो बर्हिरासदे ॥
[ऋ० १० । १८८ । १ ॥]

प्रहिणुत जातवेदसं कर्मभिः समश्नुवानम् । अपि वोपमार्थे स्यात् । अश्वमिव जातवेदसमिति । इदं नो बर्हिरासीदत्विति ।

तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किंचिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते ।

स न मन्येत अयमेवाग्निरिति । अप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते । ततो नु मध्यमः ।

अभि प्रवन्त समनेव योषाः । [ऋ० ४ । ५८ । ८ ॥] इति ।

तत्पुरस्ताद् [निरु० ७ । १७] व्याख्यातम् ।

उदु त्यं जातवेदसम् । [ऋ० १ । ५० । १ ॥] इति ।

तदुपरिष्टाद् [निरु० १२ । १५] व्याख्यास्यामः ।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदाः । निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ २० ॥

अर्थ—[इस मन्त्र का ऋषि—श्येन आग्नेय, और देवता—अग्नि जातवेदा है ।] (नूनम्) निश्चय से (जातवेदसम् अश्वम्) जातवेदा को, अश्ववत् व्यापनशील को, (प्रहिनोत) प्रेरित करो, (वाजिनम्) बली को । इस हमारे (बर्हिः) कुश रूपी आसन पर (आसदे) बैठने के लिए ।

प्रहिणुत=प्रेरित करो, जातवेदसं=कर्मों से सम्+अश्नुवानम्=सम्यक् व्यापने वाले को। अथवा उपमा अर्थ मे [अश्व पद] हो, अश्व के समान जातवेदा को। इस हमारे कुश पर आसीदतु=बैठे। तो यह एक ही जातवेदम् [देवता का] गायत्री छन्दोवद्ध तृचम् तीन ऋचाओं का सूक्त दश मण्डलों वाली [संहिताओं] में विद्यमान है। जो कुछ आग्नेय [सूक्त गायत्री छन्द मे है, वह] जातवेदसों के स्थान में प्रयुक्त किया जाता है।

वह [अध्येता] न समझे कि यह [पवमान अग्निः] ही जातवेदस् है। अपि=किन्तु ये दोनों ऊपर के ज्योति जातवेदस् कहे जाते हैं। तब मध्यम [जातवेदस् बताते हैं।]

(अभि प्रवन्त) यह [ऋक्] पूर्व [निरुक्त ४। १७ में] व्याख्या की गई है। [इस मन्त्र में मध्यम स्थानीय अग्नि को जातवेदाः भी कहा है।

अब वह सूर्य [जातवेदस् के अर्थ में कहते हैं।] ऊपर को उस जातवेदा को। यह आगे [१२। १५ मे] व्याख्या करेंगे।

जो सूक्त को सेवता है [=सूक्त का भागी है] जिस के लिए हवि दिया जाता है, यह ही वह अग्निः जातवेदा है। निपातम्=गौण रूप में एव=ही ये दोनों ऊपर के ज्योति इस नामधेय से सेवित होते हैं॥ २०॥

भाष्य—प्र नूनं मन्त्र का ऋषि श्येन आग्नेय है। इस नाम पर ध्यान देना चाहिए। यह अग्निः का कोई प्रकार है। वही यज्ञार्थ बिछाए अपने बर्हि पर बैठने के लिए जातवेदा का आह्वान करता है। जातवेदा के साथ श्येन आग्नेय का स्थान सम्भवतः अन्तरिक्ष है। वह क्या है, यह जानना चाहिए। जातवेदा की तुलना अश्व से की गई है। अश्व मार्ग को व्यापता है। यह अश्व दिव्य है। उस की व्यापने वाली गति ही जातवेदा की गति है।

ऋग्वेद की सम्पूर्ण शाखाएं दस मण्डल युक्त ही थीं।

सूर्य भी वेद में जातवेदा कहा गया है। उस में जातवेदस् अग्निः का कोई अंश अवश्य है॥ २०॥

वैश्वानरः कस्मात्। विश्वान्नरान्नयति। विश्व एनं नरा नयन्तीति वा। अपि वा विश्वानर एव स्यात्। प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि। तस्य वैश्वानरः। तस्यैषा भवति॥ २१॥

अर्थ—वैश्वानर किस [कारण] से । सारे नरों को ले जाता है । मार इस को नर ले जाते हैं अथवा । अथवा विश्वानर होवे प्रति+ऋत=पहुँचा हुआ सारे भूतों को । उस का [पुत्र] वैश्वानर । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २१ ॥

भाष्य—नरः का अर्थ केवल मनुष्य नहीं है । मरुतों में भी नर हैं । मरुत् सूक्तों में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है । वैश्वानर अग्नि मनुष्य को कर्मफल दिलाने के लिए ले जाता है । और यही वैश्वानर अन्तरिक्षस्थ मरुद्गणों के नरों को भी ले जाता है । ये नर भी इस को ले जाते हैं । अथवा माया ही विश्वानर है । इसी माया से उत्पन्न हुआ यह वैश्वानर अग्नि है ॥ २१ ॥

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥
[ऋ० १ । ९८ । १ ॥]

इतो जातः सर्वमिदमभिविपश्यति । वैश्वानरः संयतते सूर्येण । राजा यः सर्वेषां भूतानामभिश्रयणीय तस्य वय वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्यामेति ।

तत्को वैश्वानर । मध्यम इत्याचार्या । वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति ॥ २२ ॥

अर्थ—(वैश्वानरस्य) वैश्वानर की (सुमतौ) कल्याणी=शुभ=सुन्दर मति में (स्याम) हों, (राजा हि कम्) राजा=स्वामी निश्चय ■ (भुवनानाम्) भूतों का (अभिश्रीः) आश्रयणीय है । (इत जात) यहां से प्रकट हो कर (विश्वम् इदम्) इस सारे विश्व को । (वि चष्टे) देखता है । वैश्वानर (यतते) संगत होता है सूर्य के साथ ॥

यहां से प्रकट हो कर सब कुछ को अभिविपश्यति=चारों ओर से देखता है । वैश्वानर संगत होता है सूर्य के साथ । स्वामी जो सारे भूतों का, आश्रयणीय, उस की हम वैश्वानर की कल्याणी अर्थात् सुन्दर मति में होवें ।

तो कौन [है] वैश्वानर । मध्यम यह आचार्य (कहते हैं ।) [कारण कि] वर्षा के कर्म से [मन्त्र] इस को स्तुति करता है ॥ २२ ॥

भाष्य—वैश्वानर अग्निः यहां से उठ कर सूर्य तक पहुंचता है । कैसे पहुंचता है, यह क्रिया जाननी चाहिए । यह अग्निः भी देखने का साधन है । भुवनानाम् =भूतों का । प्राणी और महाभूत ही भुवन हैं । वैश्वानर मध्यम स्थानी भी है । इस का कारण है, इस की स्तुति वर्षाकर्म से की गई है । वर्षाकर्म इन्द्र और मरुतों द्वारा मध्यम स्थान से सम्बद्ध है ॥ २२ ॥

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते ।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥

[ऋ० १ । ५९ । ६ ॥]

प्रब्रवीमि तत् । महित्वं माहाभाग्यम् । वृषभस्य वर्षितुरपाम् । यं पूरवः पूरयितव्या मनुष्याः । वृत्रहणं मेघहनम् । सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः । दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात् । उपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः । उपदासयति कर्माणि । तमग्निर्वैश्वानरो घ्नन् । अवाधूनोदपः काष्ठाः । अभिनत् शम्बरं मेघम् ।

अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः ।

एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः । रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः । तामनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते सोऽपि न स्तोत्रियमाद्रियेत । आग्नेयो हि भवति । तत आगच्छति मध्यस्थाना देवता रुद्रं च मरुतश्च । ततोऽग्निमिहस्थानम् । अत्रैव स्तोत्रियं शंसति ।

अर्थ—(नू महित्वम्) महिमा=ऐश्वर्य को (वृषभस्य) आपः वर्षण करने वाले की (प्रवोचम्) भले प्रकार कहता हूँ, (यम्) जिस को (पूरवः) नर=मनुष्य (वृत्रहणम) वृत्रहन्ता को (सचन्ते) सेवते हैं । (वैश्वानरः अग्निः) [उन] वैश्वानर
(दस्युम्) [रस नाशक] राक्षस को (उ
धुना=कंपाया (काष्ठाः) वृष्टि वाले उद
(अवभेत्) फाड़ कर नीचे गिराया ।

भले प्रकार कहता हूं, उस महित्वं=माहाभाग्यम्=बड़े ऐश्वर्य को, वृषभस्य=वर्षितुः अपाम्=आपः के बरसाने वाले को । जिसको पूरवः=पूरयितव्या

असौ वा आदित्यो ऽग्निर्वैश्वानरः । [मैत्रा० सं० २ । १ । २ ॥] इति ।

अथापि निवित्सौर्यवैश्वानरी भवति ।

आ यो द्यां भात्यापृथिवीम् । [शा० श्रौ० ८ । २२ । १ ॥] इति ।

एष हि द्यावापृथिव्यौ आभासयति ।

अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति ।

दिवि पृष्ठो अरोचत । [य० ३३ । ९२ ॥] इति ।

एष हि दिवि पृष्ठो अरोचतेति ।

अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं [ऋ० १० । ८८] सौर्यवैश्वानरं भवति ।

अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः । विश्वानरावित्येते उत्तरे ज्योतिषी । वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते । कथं त्वयमेताभ्यां जायत इति । यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति यावदनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैव तावद्भवति । उदकेन्धनः शरीरोपशमनः । उपादीयमान एवायं सम्पद्यते । उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः ।

अर्थ—और भी, वैश्वानर देवता [के निमित्त] वाला [पुरोडाश] वारह कपाल वाला [वारह कपालों पर पकाया गया] होता है । एतस्य= इस [सूर्य] का ही वारह प्रकार का कर्म [होता है ।] और भी ब्राह्मण [प्रवचन] होता है । वह ही आदित्य अग्निः वैश्वानर [है ।] और भी, निवित् सौर्य—वैश्वानरी होती है । [यथा] जो द्युलोक तक प्रकाशित करता है, [और] पृथिवी तक । यह [सूर्य] ही द्यावापृथिवी को प्रकाशित करता है ।

और भी, छान्दोमिक सूक्त सौर्य वैश्वानर होता है । द्यौ में (पृष्ठः) स्थित (अरोचत) चमका । यह [सूर्य] ही द्यौ में स्थित चमका ।

और भी, हविष्पान्तीय सूक्त सौर्यवैश्वानर होता है । अयम् एव=यह पृथिवी स्थानी अग्निः ही वैश्वानर है, यह शाकपूणिः [कहता है ।]

विश्वानरौ इति अपि यमें=दोनों विश्वानर से भी [है विद्युत् और सूर्यस्थ] ऊपर के ज्योति । वैश्वानर यह [पृथिवी स्थानी] जो उन दोनों से उत्पन्न होता है । जैसे यह एताभ्याम्=इन दोनों [अन्तरिक्षस्थ विद्युत् और सूर्य] से उत्पन्न होता है । [यह प्रश्न है ।] जहां वैद्युत् अग्नि शरणम् जिस के शरण में जाता है, जिस पर पड़ता है, उस को अभिहन्ति=ताड़ित करता है नष्ट करता है, जब तक अनुपात्त=न पकड़ा गया होता है, मध्यमधर्मा=[विद्युत् के गुण वाला] ही तब तक होता है । उदक [के] इन्धन वाला, शरीर में शमन=चौन होने वाला । उपादीयमान =पकड़ा हुआ ही अयम्=यह पृथिवी स्थानी बन जाता है । [फिर] उदक में लीन होने वाला अर्थात् शान्त होने वाला और शरीर में चमकने वाला [बन जाता है]

भाष्य—वैश्वानर अग्नि सूर्य है, इस पक्ष के तर्क समाप्त हुए । कपाल । विभिन्न देवताओं के निमित्त पुरोडाश को बनाने के लिए विभिन्न संख्या के कपालों पर पुरोडाश पकाया जाता है । इस कपाल संख्या में गम्भीर वैज्ञानिक तत्त्व हैं । [illegible] का पृथक् अध्ययन वेद विद्या को अधिकाधिक चमकेगा । निवित्=कोई वाक् जिस का पाठ बाद किसी अन्य सूक्त विषयक शस्त्र के ऋचाओं में मिला मिला कर गाया जाए ।

आगे शाकपूणि का पक्ष है । इस में भी गम्भीरता है । शाकपूणि ने अन्तरिक्षस्थ विद्युत् और पृथिवी के अग्नि और विद्युत् में एक अत्यन्त सूक्ष्म भेद बताया है । अन्तरिक्षस्थ विद्युत् उदकेन्धन अथवा उदक में चमकने वाला और शरीरोपशमन होता है । परन्तु पृथिवी पर पार्थिव अग्नि से पैदा किया गया विद्युत् शरीरेन्धन=शरीर दीप्ति और उदकोपशमन होता है । यह गहराई निरुक्त ने ही बताई है । आज हमारे घरों में जो विद्युत् धारा काम देती है, वह तारों और लट्टुओं में अर्थात् शरीरों में दीप्त होती है । और अग्नि भी लोहे और पाकशाला के बर्तनों के अन्दर गया हुआ लोहे और बर्तनों को अत्यन्त गरम कर के दीप्त कर देता है । और जल में वह शान्त होती रहती है । जल को वह धूम बना कर उड़ा सकती है, पर उस में दीप्त कदापि नहीं होती । धन्य था शाकपूणि जिस ने इस स्पष्टता से यह तथ्य वर्णित कर दिया । वर्तमान विज्ञान में यह ज्ञान बुद्धि का कारण सिद्ध हो सकता है । आदीयमान=पकड़ा गया । प्राचीन काल में आर्य मन्दिरों पर लगाया गया त्रिशूल इस वैद्युत अग्नि के पकड़ने का ही साधन था ।

अथादित्यात्। उदीचि प्रथमसमावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्शयन्धारयति तत्प्रदीप्यते। सोऽयमेव सम्पद्यते। अथाप्याह—

वैश्वा॒न॒रो य॑तते॒ सूर्ये॑ण। [ऋ० १ । ९८ । १ ॥] इति।

न च पुनरात्मनात्मा संयतते। अन्येनैवान्यः संयतते। इत इममादधाति। अमुतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति। इतोऽस्यार्चिषः। तयोर्भासोः संसङ्गं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्।

अथ यान्येतान्यौत्तमिकानि सूक्तानि भागानि वा सावित्राणि वा [सौर्याणि वा] पौष्णानि वा वैष्णवानि वा [वैश्वदेव्यानि वा] तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा अभविष्यन्। आदित्यकर्मणा चैनमस्तोष्यन्। इत्युदेषि। इत्यस्तमेषि। इति विपर्येषीति। आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा भवन्ति। अग्निकर्मणा चैनं स्तौतीति। वहसीति। पचसीति। दहसीति।

यथो एतद्वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौतीति। अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते।

स॒मा॒नमे॒तदु॑द॒कमु॒च्चैत्यव॒ चाह॑भिः।

भूमिं॑ प॒र्जन्या॒ जिन्व॑न्ति॒ दिवं॑ जिन्वन्त्य॒ग्नयः॑ ॥

[ऋ० १ । १६४ । ५१ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ॥ २३ ॥

अर्थ—अब आदित्य से [उत्पन्न होता है, इस पर परीक्षण कहते हैं।] उदीचि=उत्तर दिशा में पहले समावृत्ते=समावर्तन=लौटने पर आदित्य के [=उत्तरायण होने पर] कांसे को अथवा [सूर्य] मणि को अथवा परिमृज्य =चारों ओर से मर्दन कर के=पूर्ण शोध कर प्रतिस्वरे=[सूर्य किरणों के] सामने जहां सूखा गोबर [है, वहां उस गोबर को] असंस्पर्शयन्=संस्पर्श न कराते हुए, अर्थात् थोड़ी दूर पर धारणा करता है, तो [गोबर] प्रदीप्यते=जल उठता है। वह [सूर्य से आया ताप] पार्थिव अग्नि ही बन जाता है। और भी [मन्त्र ने] कहा—वैश्वानर संगत होता है, सूर्य के साथ। नहीं और फिर आत्मा से=[अपने आप से] आत्मा संगत होता।

विश्वानरो इति अपि एते=दोनों विश्वानर से भी [हैं, विद्युत् और सूर्यस्थ] ऊपर के ज्योति । वैश्वानर यह [पृथिवी स्थानी] जो उन दोनों से उत्पन्न होता है । जैसे यह एताभ्याम्=इन दोनों [अन्तरिक्षस्थ विद्युत् और सूर्य] से उत्पन्न होता है । [यह प्रश्न है ।] जहां वैद्युत अग्नि शरणम्= जिस के शरण में जाता है, जिस पर पड़ता है, उस को अभिहन्ति=ताड़ित करता है, नष्ट करता है, जब तक अनुपात्तः=न पकड़ा गया होता है मध्यमधर्मा=[विद्युत् के गुण वाला] ही तब तक होता है । उदक [के] इन्धन वाला, शरीर में शमन=लीन होने वाला । उपादीयमान= =पकड़ा हुआ ही अयम्=यह पृथिवी स्थानी बन जाता है । [फिर] उदक में लीन होने वाला अर्थात् शान्त होने वाला और शरीर में चमकने वाला [बन जाता है]

भाष्य—वैश्वानर अग्नि सूर्य है, इस पक्ष के तर्क समाप्त हुए । कपाल । विभिन्न देवताओं के निमित्त पुरोडाश को बनाने के लिए विभिन्न संख्या के कपालों पर पुरोडाश पकाया जाता है । इस कपाल संख्या में गम्भीर वैज्ञानिक तत्त्व हैं । इन का पृथक् अध्ययन वेद विद्या को अधिकाधिक खोलेगा । निविद्=कोई ऋक् जिस का पाठ पाद किसी अन्य सूक्त विशेष शाखा के ऋचाओं में मिला, मिला कर गाया जाए ।

आगे शाकपूणि का पक्ष है । इस में भी गम्भीरता है । शाकपूणि ने अन्तरिक्षस्थ विद्युत् और पृथिवी के अग्नि और विद्युत् में एक अत्यन्त सूक्ष्म भेद बताया है । अन्तरिक्षस्थ विद्युत् उदकन्धन अथवा उदक में चमकने वाला और शरीरोपशमन होता है । परन्तु पृथिवी पर पार्थिव अग्नि से पैदा किया गया विद्युत् शरीर=प्रमन=शरीर दीप्ति और उदकोपशमन होता है । यह गहराई निरुक्त ने ही बताई है । आज हमारे घरों में जो विद्युत् धारा काम देती है, वह तारों और लट्टुओं में अर्थात् शरीरों में दीप्त होती है, और अग्निः लोहे और पाकशाला के बर्तनों के अन्दर गया हुआ लोहे और बर्तनों को अत्यन्त गरम कर के दीप्त कर देता है । और जल में वह शान्त होती रहती है । जल को वह धूम बना कर उड़ा सकती है, पर उस में दीप्त कदापि नहीं होती । धन्य था शाकपूणि जिस ने इस स्पष्टता से यह तथ्य वर्णित कर दिया । वर्तमान विज्ञान में यह ज्ञान वृद्धि का कारण सिद्ध हो सकता है । आदीयमान =पकड़ा गया । प्राचीन काल में आर्य मन्दिरों पर लगाया गया त्रिशूल इस वैद्युत अग्निः के पकड़ने का ही साधन था ।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आ ववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥
[ऋ० १ । १६४ । ४७ ॥]

कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य । हरयः सुपर्णाः । हरणा आदित्यरश्मयः । ते यदामुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते । सहस्थानादुदकस्यादित्यात् । अथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते । घृतम् इत्युदकनाम । [निघं० १ । १२ । १० ॥] जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः । अथापि ब्राह्मणं भवति ।

अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति । धामच्छद दिवि [खलु वै] भूत्वा वर्षति । मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति । यदा [खलु वा] ऽसावादित्यो न्यङ्रश्मिभिः पर्यावर्त्ततेऽथ वर्षति । इति ।[1]

यथो एतद् रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इति । आम्नायवचनादेतद्भवति ।

यथो एतद्वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति इति । अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति । अस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च ।

यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति । बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति ।

पृथिवी वैश्वानरः । संवत्सरो वैश्वानरः । ब्राह्मणो वैश्वानर इति ।[2]

यथो एतन्निवित्सौर्यवैश्वानरी भवति । इति अस्यैव सा भवति ।

यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत् । इति ।

एष हि विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते ।

यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीति । अस्यैव तद्भवति ।

जमदग्निभिराहुतः ।[3] इति ।

---

१. तुलना—काठक सं० ११ । ११ ॥ तै० सं० २ । ४ । १० ॥

२. शां० श्रौत ८ । २२ । १ ॥	३. आश्व० श्रौत० ८ । ६ ॥

दूसरे से दूसरा संगत होता है। इत=यहां से इमम्=इस [सूखे गोबर के अन्दर वर्तमान] अग्नि को आदधाति=स्थापित करता है। अमुत=वहां [सूर्य] से उस के रश्मि प्रादुर्भवन्ति=प्रभाव दिखाते प्रकट होते हैं, [और] यहां से इस अग्नि की अर्चियां [निकलती हैं ।] उन दोनों के भाव व पूर्ण ससङ्ग को देख कर इस प्रकार अभ्यवदत्=कहा हुआ।

अब जो ये औत्तमिकानि=उत्तम स्थान की देवताओं के सूक्त [हैं], भागानि=भग देवता के अथवा, सविता देवता के अथवा [सूर्य देवता के अथवा] पूषा देवता के अथवा विष्णु देवता के अथवा, [विश्वेदेवा देवता के अथवा] उन [सूक्तों] में वैश्वानर के प्रवाद=कथन होने, आदित्य कर्म के द्वारा और इस [वैश्वानर] की स्तुति करते। इस प्रकार [हे वैश्वानर] तू उदय होता है। इस प्रकार तू अस्त हो जाता है। इस प्रकार विपर्येषि=तू उलट जाता है। आग्नेय सूक्तों में ही वैश्वानरीय प्रवाद होते है। अग्नि कर्म से और इस को स्तुति करते हैं। [हे वैश्वानर तू हवि को] ले जाता है। तू पकाता है। तू जलाता है। यथो एतत्=जो यह कहा कि-वरकर्म में ही इस की स्तुति करता है। इस [पार्थिव अग्नि] में भी यह उपपन्न=युक्त हो जाता है। (समानम्) समान रूप से (एतत्) यह (उदकम्) उदक (उत् च एति) ऊपर जाता है (अव च) और नीचे आता है (अहभिः) दिनों [के परिवर्तन] के अनुसार। (भूमिम्) भूमि को (पर्जन्याः) पर्जन्य (जिन्वन्ति) तृप्त करते हैं (दिवम्) द्यौ को तृप्त करते हैं (अग्नयः) पृथिवी के अग्नि । यह ऋक् [अपने पाठ से] स्पष्ट व्याख्यान है ॥ २३ ॥

भाष्य—उदीर्य—इस का शब्दार्थ तो ऊपर कर दिया है, पर इस का वैज्ञानिक अभिप्राय अभी मुझे स्पष्ट नहीं हुआ। मणिम्=इस मणि का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में है। इन पंक्तियों में प्रत्येक शब्द अपनी महत्ता रखता है। आदित्य किरणों और अग्नि की अर्चियों के मेल से मास का मेल होता है। इस की क्रिया भी अध्ययन योग्य है। इति विपर्येषि-यास्क ऐसा ही अभिप्राय ऐतरेय ब्राह्मण में है—तं [आदित्यं] यदस्तमेतीति मन्यन्ते ऽह्न एव तदन्तमित्वा ऽथात्मानं विपर्यस्यते। ३। ४४ ॥ यहां विपर्यस्यते=उलट देता है का भाव समझना चाहिए। इस से कई गूढ रहस्य खुलेंगे। पर्जन्य मध्यमस्थानी है यह साधारण मेघ नहीं। २३ ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आ ववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥
[ऋ० १ । १६४ । ४७ ॥]

कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य । हरयः सुपर्णाः । हरणा आदित्यरश्मयः । ते यदामुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते । सहस्थानादुदकस्यादित्यात् । अथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते । घृतम् इत्युदकनाम । [निघं० १ । १२ । १० ॥] जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः । अथापि ब्राह्मणं भवति ।

अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति । धामच्छद् दिवि [खलु वै] भूत्वा वर्षति । मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति । यदा [खलु वा] ऽसावादित्यो न्यङ्रश्मिभिः पर्यावर्त्ततेऽथ वर्षति । इति ।[1]

यथो एतद् रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इति । आम्नायवचनादेतद्भवति ।

यथो एतद्वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति इति । अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति । अस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च ।

यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति । बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति ।

पृथिवी वैश्वानरः । संवत्सरो वैश्वानरः । ब्राह्मणो वैश्वानर इति ।

यथो एतन्निवित्सौर्यवैश्वानरी भवति । इति अस्यैव सा भवति ।

यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत् । इति ।

एष हि विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते ।

यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीति । अस्यैव तद्भवति ।

जमदग्निभिराहुतः ।[3] इति ।

---

१. तुलना—काठक सं० ११ । ११ ॥ तै० सं० २ । ४ । १० ॥

२. शां० श्रौत ८ । २२ । १ ॥ ३. आश्व० श्रौत० ८ । ६ ॥

जमदग्नय प्रजमिताग्नयो वा । प्रज्वलिताग्नयो वा । तैरभिहुतो भवति ।

यथो एतत् । हविष्पान्तीय सूक्त [ऋ० १० । ८८] सौर्यवैश्वानर भवतीति । अस्यैव तद्भवति ॥ २४ ॥

अर्थ—(कृष्णम्) कृष्ण (नियानम्) गति=[दक्षिणायन] मे (हरय) रश्मि (सुपर्णा) सुपर्ण नामक (अप वसाना) आप के वसन ओढे (दिवम् उत्पतन्ति) द्यो को उडती जाती हैं । (ते) वे [रश्मि जाल] (आववृत्रन्) लौटते हैं (सदनात् ऋतस्य) [सूर्यस्य] आप के स्थान मे (आत् इत्) तदनु (घृतेन) स्नेह युक्त आप से (पृथिवी) पृथिवी (वि+उद्यते) विविध प्रकार से गीली होती है ।

कृष्ण निरयणम्=रात्रि आदित्यस्य=सूर्य की काली रात=दक्षिणायन मे हरय सुपर्णा=[रसो को] हरण करने वाले आदित्य रश्मि । व [रश्मिसमूह] जब वहा [सूर्य मण्डल] से अर्वाञ्च=नीचे की ओर पर्यावर्तन्ते=लौटते हैं सहस्थानात् उदकस्य=आदित्यात्=आदित्य से, अथ=तब घृतेन=[स्नेहमय] उदक स पृथिवी गीली होती है । घृतम्, यह उदक का नाम [है ।] जिघर्ति, सिञ्चति अर्थ वाले से । और भी ब्राह्मण [प्रवचन] होता है । अग्नि ही यहा [पृथिवी] से वृष्टि को [धूम रूप मे] सम्+ईरयति=ऊपर की ओर प्रेरता है ।(धामच्छत् दिवि) धामों को ढापने वाला द्यो मे खलु वै भूत्वा=हो कर वर्षति=बरसता है । मरत् उत्पन्न की गई वृष्टि को ले जाते हैं । जब यह आदित्य न्यङ् रश्मिभि= नीचे हुए रश्मियो के द्वारा पर्यावर्तते=लौटता है अथ=तब वर्षा होती है ।

१ यथो एतत्=जो [पूर्व पक्ष मे—] रोहात्=चढ़ने से प्रति=उलट अवरोह =उतरना चिकीर्षित =[कर्म का करना] चाहा गया है [वह सूर्य को वैश्वानर समझने म हेतु नही ।] आम्नाय के वचन से यह होता है ।

२ यथो एतत्=और जो यह कहा कि—वैश्वानर का [पुरोडाश] बारह कपाल वाला होता है । [यह भी युक्त तर्क नही ।] अनिर्वचनम्=नही अर्थ द्वारा स्पष्ट पार्थक्य दिखाने वाले कपाल होते हैं । [क्यो कि—] होता ही है सूर्य का पुरोडाश एक कपाल का, पञ्चकपाल का और ।

३. यथो एतत्=और जो यह कहा कि—ब्राह्मण [प्रवचन] होता है। [यह भी युक्त तर्क नहीं। क्योंकि—] बहुत भक्तिवादीनि=उपचार से=[गुणों का अति सूक्ष्म] विभाग कर के कहने वाले ही ब्राह्मण [प्रवचन] होते हैं। पृथिवी वैश्वानर है। संवत्सर वैश्वानर है। ब्राह्मण वैश्वानर है।

४. यथो एतत्—और जो यह कहा कि—निवित् सौर्य वैश्वानरी होती है। [यह भी युक्त तर्क नहीं। क्योंकि—] इस [पार्थिव अग्निः] की ही वह होती है। [यथा—] यह [पार्थिव अग्निः] ही विड्भ्यः=प्रजाओं के लिए मानुषीभ्यः=मानुषी के लिए दीप्यते=चमकता है। [यदि वैश्वानर से सूर्य का ग्रहण होता, तो यह भी होता कि सूर्य दैवी प्रजाओं के लिए चमकता है।]

५. यथो एतत्—और जो यह कहा कि—छान्दोमिक सूक्त सौर्य वैश्वानर होता है। [यह भी युक्त तर्क नहीं। क्योंकि—] इस [पार्थिव अग्निः] का ही वह [सूक्त] होता है। [क्योंकि उस सूक्त में—] जमदग्नियों से आहुतः=होम किया गया। [यह इसी अग्निः में होम है। सूर्य में नहीं।] जमदग्नयः=प्रजमित=प्रभूत अग्नियों वाले अथवा। प्रज्वलित अग्नियों वाले अथवा तैः=उन से अभिहुतः=होमा हुआ होता है। [जमदग्निः पद का निर्वचन सूर्य अर्थ के विपरीत पड़ता है।]

६. यथो एतत्—और जो यह कहा कि—हविष्पान्तीय सूक्त सौर्य वैश्वानर होता है। [यह भी युक्त तर्क नहीं। क्योंकि—] इस [पार्थिव अग्निः] का ही वह होता है। [यथा—अगले मन्त्र में—]॥ २४॥

भाष्य—दक्षिणायन के दिनों में ही रश्मि जल ले कर उड़ते हैं, और उत्तरायण में नहीं, यह बात परीक्षा कर के समझनी चाहिए। हरयः=रस खींचने वाले रश्मि। यह बात भी समझने के योग्य है। इस के विषय में बृहद्देवता में लिखा है—

हरणं तु रसस्यैतत् कर्मामुत्र च रश्मिभिः।
येन नातिविजानन्ति सर्वभूतानि चक्षुषा॥ २। १६॥

अर्थात्—रश्मिकर्म नेत्रों से अधिक ज्ञात नहीं हो सकता। इस के लिए सूक्ष्म यन्त्र बना कर परीक्षा होना चाहिए। सूर्यरश्मि ऊपर क्यों जाते हैं वे कौन से रश्मि हैं। क्या "तिदिन के सहार होने वाले रश्मियों से वे भिन्न हैं ये सब इस अन्विद्या पढ़ने वाले को जानने चाहिएं। न्यङ् रश्मि का प्रकार भी जानने योग्य है।

लगभग इसी भाव वाला एक दूसरा मन्त्र तै० सं० ३।१।११ में है—

असितवर्णा हरयः सुपर्णा मिहो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनानि कृत्वाऽऽदित् पृथिवी घृतैर्व्युद्यते॥

इस मन्त्र में हरय का स्वरूप कहा है। वे असित वर्ण होते हैं।

वर्षाकर्म और मरुत् आदि की तत्सम्बन्धी क्रिया ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार में वर्णित है।

इस से आगे यास्क ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वैश्वानर अग्नि सूर्यस्थ अग्नि नहीं है। यह पार्थिव अग्नि ही है। पूर्वपक्ष के सब तर्कों का उत्तर उस ने दे दिया। पर इतने मात्र से कदाचित् पाठक को सन्तोष न हो इस लिये इस अध्याय के अन्त तक यास्क ने अन्य अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि भूलभाक वैश्वानर यह अग्नि ही है॥ २४॥

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया पप्रथन्त॥

[ऋ० १०।८८।१॥]

हविर्यत्पानीयम्। अजरम्। सूर्यविदि। दिविस्पृशि। अभिहुतं जुष्टमग्नौ। तस्य भरणाय च भावनाय च धारणाय च। एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यो देवा इममग्निमन्नेनाप्रथन्त। अथाप्याह॥ २५॥

अर्थ—(हविष्पान्तम्) जो पीने योग्य [सोम] हवि (अजरम्) जो जरा रहित (स्वर्विदि) सूर्य को जानने वाले (दिविस्पृशि) द्यौ को स्पर्श करने वाले (आहुतम्) जो होमी गई (जुष्टम्) [और जो] सेवित है (अग्नौ) अग्नि में। (तस्य) उस [हवि] को (भर्मणे) भरण पोषण

के लिए (भुवनाय) भावन=वृद्धि के लिए (देवाः) देवों ने (धर्मणे) धारण के लिए (स्वधया) [अन्ने] स्वधा रूप अन्न के द्वारा (अप प्रथन्त) फैलाया ।

हवि जो पीने योग्य [और] जरा रहित [है] सूर्य को जानने वाले, दिविस्पृशि=द्यौ को स्पर्श करने वाले अभिहुतम्=और जो होमी गई जुष्टम्=सेवित किए गए अग्नौ=अग्नि में । उस [हवि] के भरण पोषण [और] भावन=वृद्धि और धारण के लिए, इन सारे कर्मों के लिए देवों ने इस [पृथिवी स्थानी] अग्नि को अन्न के द्वारा अपप्रथन्त=फैलाया ॥ २५ ॥

भाष्य—पार्थिव अग्नि स्वर्विदु=सूर्य को जानता है, अर्थात् वहां सूर्य तक पहुंचता है, और दिविस्पृश्=द्यौ को भी स्पर्श करता है । यह अग्निः किस प्रकार वहां तक पहुंचता है, यह जानना चाहिए । वह जरा रहित है, अर्थात् सदा एक समान बना रहता है । इस का गम्भीर अभिप्राय भी ज्ञातव्य है । देवों का अन्न स्वधा है । स्वधा=अन्न के द्वारा भरण, वृद्धि और धारण के लिए देवों ने उस अग्निः को फैलाया, यह भी सूक्ष्म रहस्य है । अग्निः फैलने से क्या परमाणु फैलते हैं, अथवा विरले होते हैं, इन सब क्रियाओं को जानना चाहिए ॥ २५ ॥

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम् ।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥

[ऋ० ६ । ८ । ४ ॥]

अपामुपस्थे उपस्थाने । महत्यन्तरिक्षलोके आसीनाः । महान्त इति वा । अगृह्णत माध्यमिका देवगणाः । विश इव राजानं उपतस्थुः । ऋग्मियमृग्मन्तमिति वा । अर्चनीयमिति वा । [पूजनीयमिति वा ।] आहरद् दूतो देवानां विवस्वत आदित्यात् । विवस्वान्विवासनवान् । प्रेरितवतः । परागताद्वा । [अपि वा] अस्याग्नेः वैश्वानरस्य मातरिश्वानमाहर्तारमाह । मातरिश्वा वायुः । मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति । मातरि आशु अनिति इति वा ।

अथैनम् एताभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापादं स्तौति ॥ २६ ॥

अर्थ—(अपाम् उपस्थे) आपः के स्थान [अन्तरिक्ष] में (महिषाः) महान् [माध्यमिक देवगणों] ने (अगृभ्णत)=अगृह्णत=ग्रहण किया

[इस अग्नि को विद्युत् रूप में], (विशः राजानम्) प्रजाएं जैसे [अपने] राजा को (उप तस्थुः)=पास खड़ी हुई [हों वैसे] (ऋग्मियम्) ऋचाओं वाले अथवा पूजनीय [राजा अग्नि को] । (दूतः) [वायु] दूत (आ भरत्) ले आया (अग्निम्) अग्नि को (मातरिश्वा) [वह वायु जो] मातरिश्वा=अन्तरिक्ष में होने वाला है, (परावतः) बहुत दूर से ।

अपाम् उपस्थे=जल के उपस्थान में । महति [अन्तरिक्ष लोक में] आसीनाः=ठहरे हुए । महान्तः=स्वयं जो महान् हैं अथवा । अगृह्णन्=ग्रहण किया [इसे] माध्यमिक देवगणों ने । विश इव=प्रजाओं के समान राजा को उपतस्थुः समीप हो कर ठहरे । ऋग्मियम्=ऋचाओं वाले को अथवा । अर्चा=स्तुति के योग्य को अथवा । [पूजनीय को अथवा ।] आहरत्= लाया जिस को दूत देवों का आदित्य में । विवस्वान्=वि+शासनवान्= निकालने वाला [आप और रश्मियों को ।] प्रेरितवतः=प्रेरणा करने वाले से । दूर गए हुए से अथवा । [अथवा] इस अग्नि वैश्वानर के मातरिश्वा को आहर्तारम्=लाने वाले को आह=कहा [ऋक् में ।] मातरिश्वा=वायु [है ।] मातरि=माता रूप में अन्तरिक्ष में श्वसिति= श्वास लेता है । अन्तरिक्ष में आशु अनिति=शीघ्र प्राण लेता है अथवा ।

अथ एतम्=अब इस [वैश्वानर] अग्नि की एताभ्याम्=[अगली] दो ऋचाओं में सारे स्थानों में अभ्याशादम्=सब ओर से व्याप्त की स्तुति करता है ॥ २६ ॥

भाष्य—आप का स्थान अन्तरिक्ष है । मद्धिया का अर्थ जैसा भी होता । क्या ये आप परमाणु [illegible] अन्तरिक्ष में भैंसा आदि पशु रूपों में वर्तमान रहते हैं । अग्नि ऋचाओं वाला है । किस प्रकार से यह जानना चाहिए । मातरिश्वा वायु अग्नि वैश्वानर को विवस्वान् से कैसे लाता है । परावत का यास्क ने एक अर्थ प्रेरितवत किया है । आदित्य की यह प्रेरणा शक्ति कैसे उत्पन्न होती है, यह रहस्य खोजने योग्य है ।

खण्ड २५ और २६ में इन दो ऋचाओं को उद्धृत कर के यास्क ने अपने साधारण वेद ज्ञान का परिचय दिया है । ऐसे उदाहरणों यास्क पर युद्ध बुद्धि जवाहे और सिद्धेश्वर वर्मा ने अपने अज्ञान के कारण वृथा दोष लगाया है ॥ २६ ॥

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् ।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो तत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥

[ऋ० १० । ८८ । ६ ॥]

मूर्धा मूर्तमस्मिन्धीयते । मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां भवति नक्तमग्निः । ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्त्स एव । प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम् । अपो यत्कर्म चरति प्रजानन् । सर्वाणि स्थानान्यनुसञ्चरति त्वरमाणः ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २७ ॥

अर्थ—(मूर्धा) प्रधान अङ्ग (भुवः) भूमि अथवा सब प्राणियों का (भवति) होता है, (नक्तम्) रात को (अग्निः) अग्निः (ततः) इसी से (सूर्यः) सूर्य (जायते) हो जाता है, प्रातः काल उदय होता हुआ । (मायाम्) माया=प्रज्ञा को (यज्ञियानाम्) यज्ञ योग्य अथवा [सृष्टि यज्ञ को] सम्पादन करने वाले [देवों की] (एताम्) इस [माया को ज्ञानवान् पुरुष मानते हैं] (अपः तत्) उस कर्म को (तूर्णिः) अति शीघ्र (चरति) करता है (प्रजानन्) [अग्निः] जानता हुआ ।

मूर्धा=मूर्तम्=शरीर इस पर रखा जाता है । मूर्धा=मुख्य स्थान जो सारे भूतों का होता है रात्रि को अग्निः । तदनु सूर्य होता है, प्रातः उदय होता हुआ, वह ही । प्रज्ञा इस को मानते हैं यज्ञिय देवों की, [सृष्टि यज्ञ] सम्पादन करने वालों की । अपः जो कर्म करता है, पूर्ण जानते हुए । सारे स्थानों में अनुसञ्चार करता त्वरमाणः=अति शीघ्रता करता हुआ ।

उस को [बताने में] अगली ऋचा अधिक निर्वचन के लिए [है]
॥ २७ ॥

भाष्य—भूमि की मूर्धा यह अग्निः रात को क्यों होता है । एक कारण है, रात्रि समय इसी के योग से भूमि पर प्रकाश किया जाता है । इस के अतिरिक्त और कारण भी होंगे, वे हमें खोजने चाहिएं । यह सारी माया देवों की है । यह अग्निः अति शीघ्र सर्वत्र संचार कर जाता है, यह भी ध्यान रखने योग्य है
॥ २७ ॥

स्तोमे॑न॒ हि दि॒वि दे॒वासो॑ अ॒ग्निमजी॑जन॒ञ्छक्ति॑भी रोद॒सि॒प्राम् ।
तमू॑ अकृण्वन्त्रे॒धा भु॒वे कं स ओष॑धीः पचति वि॒श्वरू॑पाः ॥
[ऋ० १० । ८८ । १० ॥]

स्तोमेन हि यं दिवि देवा अग्निमजनयन् । [शक्तिभिः] कर्मभिः । द्यावापृथिव्योः [आ]पूरणम् । तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय । पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः ।

यदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्यः । इति [हि] ब्राह्मणम् । तदग्नीकृत्य स्तौति ।

अथैनमेतयादित्यीकृत्य स्तौति ॥ २८ ॥

अर्थ—(स्तोमेन) स्तोम से ही (दिवि) द्यौ में (देवासः) देवों ने (अग्निम्) अग्नि को (अजीजनन्) उत्पन्न किया (शक्तिभिः) [अपने] कर्मों से (रोदसिप्राम्) द्यावापृथिवी को पूर्ण करने वाले को । (तम् उ) उस ही को (अकृण्वन्) कर दिया (त्रेधा) तीन प्रकार का (भुवे कम्) होने █ लिए (सः) वह [अग्नि] (ओषधीः) ओषधियों को (पचति) पकाता है (विश्वरूपाः) सारे रूपों वालियों को ।

स्तोम से=छन्द विशेष से ही [यम्]=जिस द्यौ में देवों ने अग्नि को अजनयन्=उत्पन्न किया शक्तिभिः=कर्मभिः=[अपने] कर्मों से द्यावा पृथिवी के सब ओर से पूर्ण करने वाले को । तम्=उस [अग्नि] को अकुर्वन् =किया त्रेधाभावाय=तीन प्रकार का होने के लिए । पृथिवी में अन्तरिक्ष में द्यौ में, यह शाकपूणि [त्रेधा का भाव कहता है ।] जो इस [अग्नि] का द्यौ में तृतीय [प्रकार है] जो वह आदित्य [है ।] यह ब्राह्मण [प्रवचन है ।] तत्=उसे अग्निकृत्य=[वैश्वानर] अग्नि बना कर स्तुति करता है । अब इस [अग्नि] को एतया=इस [अगली ऋक्] से आदित्य बना कर स्तुति करता है ॥ २८ ॥

भाष्य—एक ही अग्नि के तीन प्रकार कैसे हुए । उत्तर है देवों के कर्म से । देवों ने पहले अग्नि को द्यौ में उत्पन्न किया । स्मरण रहे कि उस समय पृथिवी और द्यौ साथ साथ थे । तब वह अग्नि द्यावापृथिवी में भर गया । तब

उसे तीन प्रकार का कर दिया। पृथिवी और द्यौ पृथक्-पृथक् हो रहे थे। उसी समय उस मूल अग्निः के पावक और शुचि रूप भी बन रहे थे। विद्युत् के प्रभाव से पावक रूप पृथक् हो रहा था। मन्त्र की विधा अद्वितीया है। त्रेधा के अर्थ में यास्क ने शाकपूणि का अर्थ प्रमाण मान का उद्धृत किया है। उस अर्थ को उस ने अपने पक्ष के लिए समर्थन माना है। इस अर्थ में ब्राह्मण का प्रमाण है। यद् अस्य का अभिप्राय है, जो इस अग्नि का द्यौ में रूप है। ब्राह्मण के अस्य पद से इस अग्निः का ही तात्पर्य है ॥ २८ ॥

यदेदैनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम् ।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा ॥
[ऋ० १० । ८८ । ११ ॥]

यदैनमदधुर्यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यम् । [आदितेयम् ।] अदितेः पुत्रम् । यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूताम् । सर्वदा सहचारिणौ । उषाश्चादित्यश्च । मिथुनौ कस्मात् । मिनोतिः श्रयतिकर्मा । थु इति नामकरणः । थकारो वा । नयतिः परः । वनि वा । समाश्रितावन्योन्यं नयतः । वनुतो वा । मनुष्यमिथुनाऽप्येतस्मादेव । मेथन्तावन्योन्यं वनुत इति वा ।

अथैनमेतयाग्नीकृत्य स्तौति ॥ २९ ॥

अर्थ—(यदा) जब (इत्) ही (एनम्) इस [सूर्य] को (अदधुः) स्थापित किया (यज्ञियासः) यज्ञिय=यज्ञ सम्पादन करने वालों ने (दिवि) द्यौ में (देवाः) देवों ने (सूर्यम्) सूर्य को (आदितेयम्) अदिति के पुत्र को। (यदा) जब (चरिष्णू) सदा साथ घूमने वाला (मिथुनौ) युगल=जोड़ा (अभूताम्) हुआ (आत् इत्) तब ही (प्र+अपश्यन्) पूर्ण रूपेण देखा (भुवनानि) भूतों ने (विश्वा) सारों ने।

जब इस को स्थापित किया यज्ञिय सारे देवों ने द्यौ में सूर्य को, अदिति के पुत्र को। जब सहचर युगल प्रादुरभूत हुआ। सदा साथ घूमने वाले उषा और आदित्य और। मिथुन किस [कारण] से। मिनोति=आश्रय करता है, अर्थ वाला [है।] थु, यह प्रत्यय है। थ-कार अथवा। नयतिः परे [है।] वनिः अथवा [परे है।] समाश्रितौ=एक दूसरे से आश्रित=सटे हुए नयतः=लिए चलते हैं। वनुतः=सेवते हैं [एक दूसरे को] अथवा।

मनुष्यों का युगल भी इस [कारण] से ही। मैथुन्यौ एक दूसरे में मिलते हुए चक्षुत.=देखते हैं अथवा। अब एतम्=इस को [ऋक्] के द्वारा अभि' ष्र के स्तुति करता है ॥ २६ ॥

भाष्य—अब सूर्य को स्थापित किया द्यौ में। यज्ञ करते हुये देवों ने। इस विषय में देखो पूर्व ७। २८ में अश्वारू पद। इस तथ्य का सूक्ष्म रहस्य समझने के लिए अगले दो वचन ध्यान में रखने चाहिए—

१. असावादित्यो ऽस्मिन् लोक आसीत्। तै० सं० ७। ३। १० ॥

२ इह वा असा आदित्य आसीत्। तमितो ऽध्यमुं लोकमहरन्। मै० सं० १। ११। १० ॥

तत्पश्चात् देवों द्वारा सूर्य ऊपर चढ़ाया गया। इस विषय में निम्नलिखित प्रमाण देखने चाहिएं—

१ सो [आदित्यो] ऽस्मिन्नासीत् स एत स्तुत. सुवर्गं लोकम् अगमयत्। तै० सं० ३। २। ४ ॥

२. एकविंश एषः। एतेन वै देवा एकविंशेन आदित्यम् इत' स्वर्गं लोकम् आरोहयन्'' । काठक सं० ३२। ६ ॥

३ इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि। ऋ० १। ७। ३ ॥

४. सूर्यं दिव्या रोहयो दृशे। ऋ० १। ५१। ४ ॥

५ यत्सूर्यं दिव्यारोहयन्ति। ऋ० ५। १४। २ ॥

६ सूर्यो अरुहत् शुक्रमर्णः। ऋ० ७। ६०। ४ ॥

७. आ सूर्यं रोहयो दिवि। ऋ० ८। ८९। ७ ॥

८ भूमिर्यत' सूर्यमारोहयो दिवि। ऋ० ९। ८६। २२ ॥

९. य ऋतेन सूर्यमारोहयन्। ऋ० १०। ६२। ३ ॥

१० सूर्यं दिवि रोहयन्त'। ऋ० १०। ६५। ११ ॥

संख्या ३–१० में दिए गए निगमों और संख्या १ तथा २ में दिए गए प्रवचनों में एक महान् ज्ञान की अपूर्व छटा है। संसार में कौन सा विज्ञान का ग्रन्थ है, जहां इतना ज्ञान भरा पड़ा है। सूर्य के ऊपर चढ़ने की सारी गाथा एक पृथक् पुस्तक में लिखी जा सकती है। तुलना करो निरुक्त ६। १७ में अश्वारू पद का व्याख्यान।

पूर्व प्रमाणों में उल्लिखित घटनाओं के उत्तर काल की अवस्था का निदर्शन निरुक्त के इस खण्ड २१ में उद्धृत वेदमन्त्र में विद्यमान है। अर्थात्—

एनम् सूर्यम् आदितेयम् यज्ञियासो देवा दिवि अदधुः।

इस आदितेय सूर्य को यज्ञिय देवों ने द्यौ में स्थापित कर दिया। वे यज्ञिय देव कौन थे, इस पर भी लिखा जा सकता है, पर विस्तरभय से इतने पर ही अलम्। सृष्टि बनते समय देव यज्ञ में व्यापृत थे।

उषा और आदित्य मिथुन हैं। वे साथ ही घूमते हैं। इस वैदिक ज्ञान के सामने संसार नतशिर होगा। पक्षपाती और अज्ञानी ईसाई-यहूदी लेखकों ने वेद ज्ञान को कलुषित करने का जो आन्दोलन किया है, उस पर वज्रप्रहारों का अभी प्रारम्भ ही है॥ २१॥

यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।
आ शेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्॥
[ऋ० १० । ८८ । १७ ॥]

यत्र विवदेते दैव्यौ होतारौ। अयं चाग्निरसौ च मध्यमः। कतरो नौ यज्ञे भूयो वेदेति। आशक्नुवन्ति तत्सहमदनं समानख्याना ऋत्विजः। तेषां यज्ञं समश्नुवानानां को न इदं विवक्ष्यति इति।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ २०॥

अर्थ—(यत्र) जहां (वदेते) विवाद करते हैं, (अवरः) नीचे का [होता अग्निः] (परः च) और परला [वायु] (यज्ञन्योः) कि यज्ञ के नेताओं में से (कतरः) कौन (नौ) हम दोनों में से (विवेद) विशेष जानने वाला है। (आ शेकुः) समर्थ हो सकते हैं (इत्) [वे] ही (सधमादम्) साथ आनन्द लेने लेने (सखायः) सखा (नक्षन्त) [और जो] प्राप्त करते हैं (यज्ञम्) यज्ञ को, (क इदं विवोचत्) उन में से कौन इसे विशेष रूप से कहेगा।

जहां विवाद करते हैं, दोनों दिव्य होता। यह और अग्निः, वह और मध्यम स्थानी वायु। कौन हम दोनों में से यज्ञ के विषय में अधिक जानता है। समर्थ हो सकते हैं, वहां साथ आनन्द को [लेने वाले]

समान स्थानि वाले ऋत्विक् लोग। उन यज्ञ के प्राप्त करने वालों में से कौन हमें यह कहेगा। इस [प्रसङ्ग] को अगली [ऋक्] अधिक निर्वचन के लिए [कहती है ।] ॥ ३० ॥

भाष्य—वेद की परम काव्यमयी शैली का यह एक उत्कृष्ट निदर्शन है। सृष्टि में एक महान् यज्ञ हो रहा है। उस में ऊपर और नीचे के दो होता सब के उपकार में रत हैं। वे परस्पर विवाद करते हैं। हम दोनों में से कौन अधिक ज्ञानमें बढ़ा है। उन के साथ अन्तरिक्षस्थ ऋत्विक् भी हैं। वे साथ मिले आनन्द करते हैं, और सोचते हैं कि कौन इस यज्ञ को कह सकेगा। वस्तुतः सृष्टि यज्ञ की प्रत्येक क्रिया सोमवत्पादक हैं ॥ ३० ॥

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो३ वसते मातरिश्वः ।
तावद्दधात्युप यज्ञमायन्ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन् ॥
[ऋ० १० । ८८ । १९ ॥]

यावन्मात्रमुषसः प्रत्यक्तं भवति । प्रतिदर्शनमिति वा । अस्त्युपमानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः । इहेव निधेहीति यथा । सुपर्ण्यः सुपतनाः । एता रात्रयः । वसते मातरिश्वञ्ज्योतिर्वर्णस्य । तावत् उपदधाति यज्ञमागच्छन्ब्राह्मणो होतास्याग्नेर्होतुरवरो निषीदन् ।

होतृजपस्त्वनग्निर्वैश्वानरीयो भवति ।

देव सवितरेतं त्वा वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण ।
[ऐ० ब्रा० २ । ५ । ५ ॥ आश्व० श्रौ० १ । ३ । २३ ॥] इति । इममेवाग्निं सवितारमाह । सर्वस्य प्रसवितारम् । मध्यमं वोत्तमं वा पितरम् ।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरः । निपातमेवैत उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते । भजेते ॥ ३१ ॥

इति सप्तमोऽध्यायः ।

अर्थ—(यावत् मात्रम्) जितना मात्र=परिमाण (उषसः) उषा के (प्रतीकम्) मुख को (न) इव=सम्प्रति=अब (सुपर्ण्यः) शोभन पतन शीला [ये रात्रियां] (वसते) ढांपती हैं (मातरिश्वः) हे वायो !

(तावत्) उतना ही (दधाति) धारण करता है, (यज्ञम्) यज्ञ को (आयन्) आकर (ब्राह्मणः) [वह] ब्राह्मण (होतुः अवरः) [जो] होता [अग्निः] का (अवर) छोटा [है] (निषीदन्) बैठता हुआ।

जितना मात्र उषा का प्रतीकम्=प्रत्यक्तम्=मुख होता है, प्रतिदर्शन अथवा। है उपमान का सम्प्रति='अत्र' अर्थ में प्रयोग। [अतः न=अव।] इह इव निधेहि=यहां अब रख दे, यथा। सुपर्ण्यः सुपतनाः=शोभन पतनशीला। ये रात्रियां। वसते=ढांपती हैं, हे मातरिश्वन्, ज्योतिः वर्णस्य=ज्योति को रंग की। उतना ही उप दधाति=धारण करता है यज्ञ को आता हुआ ब्राह्मण होता. इस अग्निः [रूप] होता से छोटा, बैठता हुआ। [परन्तु] होता का जाप तो अनग्निः=अग्निः से पृथक् वैश्वानर का होता है। [यथा-] हे देव (सवितः) सवितः इस तुझे (वृणते) वरते हैं अग्नि को (होत्राय) होता के कर्म के लिए, साथ पिता वैश्वानर के। इस ही [पार्थिव] अग्निः को सविता को कहा है। सब के प्रेरक अथवा उत्पादक को। मध्यम [वायु] को उत्तमम्=उत्तम [सूर्य] को अथवा पिता को।

जो तो सूक्त का भागी है, और जिस के लिए हवि दी जाती है, यह ही वह [पार्थिव] अग्निः [है] वैश्वानर। निपातम्=गौण भाव को ही ये दोनों ऊपर के ज्योति [पावक और सूर्य] इस नामधेय से सेवन करते है, सेवन करते हैं ॥ ३१ ॥

भाष्य—यास्क ने शाकपूणि का पक्ष स्वीकार किया है। खण्ड २३ के मध्य में यास्क ने शाकपूणि का पक्ष उपस्थापित किया। अयमेवाग्निर्वैश्वानरः इति शाकपूणिः। पर पक्ष के खण्डन में उस ने सब तर्क उपस्थित कर यह दिखाया है कि यह अग्निः ही वैश्वानर है। परन्तु ऊपर के दोनों ज्योति अर्थात् पावक और सूर्य भी गौण भाव से वैश्वानर कहे जाते हैं ॥ ३१ ॥

इति सप्तमोऽध्यायः।

अथाष्टमोऽध्यायः

द्रविणोदाः कस्मात्। धनं द्रविणमुच्यते। यदेनमभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणम्। यदेनेनाभिद्रवन्ति। तस्य दाता द्रविणोदाः।

तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

अर्थ—द्रविणोदम् किस [कारण] से ? धन को द्रविणम् [यह] कहा जाता है। यत्-जिस कारण एनम्-इस की ओर दौड़ते हैं। बल अथवा द्रविणम् [है।] यत्=जिस कारण एनेन=इस [के ऐश्वर्य] से अभिद्रवन्ति=दौड़ते है। उस का दाता द्रविणोदाः। उस की यह ऋक् होती है ॥ १ ॥

भाष्य—शतपथ ब्रा० ६।२।३।१२ में यजु ११।३१ पर इसकी तथा ब्राह्मण निर्वचन भी ध्यान देने योग्य है—द्रविणोदा इति। द्रविणं ह्येभ्यो ददाति।

द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे। यज्ञेषु देवमीळते ॥

[ऋ० १।१५।७।]

द्रविणोदा यस्त्वम्। द्रविणस इति द्रविणसादिन इति वा। द्रविणसानिन इति वा। द्रविणसस्तस्मात्पिबतेति वा। यज्ञेषु देवमीळते। याचन्ति। स्तुवन्ति। वर्धयन्ति। पूजयन्तीति वा।

तत् को द्रविणोदाः। इन्द्र इति क्रौष्टुकिः। स बलधनयोर्दातृतमः। तस्य च सर्वा बलकृतिः।

ओजसो जातमुत मन्य एनम् ॥ [ऋ० १०।७३।१० ॥]

इति चाह। अथाप्यग्निं द्राविणोदसमाह। एष पुनरेतस्माज्जायते।

अर्थ—(द्रविणोदाः) धन दाता [को] (द्रविणसः) धन की इच्छा करने वाले (ग्रावहस्तासः) [सोम कूटने के] पत्थर हाथ में लिए [ऋत्विक्] (अध्वरे) [ज्योतिष्टोम आदि] हिंसा रहित में (यज्ञेषु) यज्ञों में (देवम्) देव की (ईळते) स्तुति करते हैं।

धनदाता जो त्वम्=तू [उस की] द्रविणसः=धन पाने की इच्छा वाले, [धनार्थ यज्ञ में] बैठने वाले अथवा, द्रविण-सानिनः=धन [हवि] को देने वाले अथवा। द्रविणसः=[पञ्चमी विभक्ति का रूप] तस्मात्=उस से पिए अथवा। यज्ञों में देव को, याचना करते हैं, स्तुति करते हैं, बढ़ाते हैं, पूजते हैं अथवा।

तो कौन [है] द्रविणोदाः। इन्द्र [है] यह क्रौष्टुकि [कहता है] वह बल और धन का दातृतमः=सब से अधिक देने वाला [है।] उस [इन्द्र] की सारी बल की कृति [है।]

(ओजसः) ओज से (जातम्) उत्पन्न हुए को (उत्) (मन्ये) मानता हूँ (एनम्) इस को। इति च=और ऐसा आह=कहा [मन्त्र ने।]

और भी अग्निः को द्राविणोदस=द्रविणोदा से उत्पन्न कहा।

यह [अग्निः] पुनः एतस्मात्=इस [इन्द्र] से उत्पन्न होता है।

भाष्य—द्रविणोदाः पद का देवम् पद के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः यास्क ने अर्थ में यस्त्वम् अथवा तम् [जो कतिपय हस्तलेखों में ही है] का अध्याहार कर के अर्थ किया है। इसी प्रकार अध्वर और यज्ञेषु पदों में हुआ। स्कन्द स्वामी ने ऋग्वेद भाष्य में इन दोनों पदों के विषय में अगला स्पष्टीकरण दिया है। अध्वरशब्दः समस्तज्योतिष्टोमादिवचनः। यज्ञश्च तदवयवभूताभ्यासविशेषवचनः।

यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान। [ऋ० २।१२।३॥]

इत्यपि निगमो भवति। अथाप्यृतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति। तेषां पुनः पात्रस्यैन्द्रपानमिति भवति।

अथाप्येनं सोमपानेन स्तौति। अथाप्याह—

द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः। [ऋ० २।३७।४॥]
इति।

अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः। आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति।

अर्थ—(यः) जिस ने (अश्मनोः अन्तः) दो पत्थरों-[मेघों] के बीच में (अग्निम्) अग्नि को (जजान) उत्पन्न किया।

यह भी निगम होता है। और भी ऋतुयाजेषु=ऋतुयाजों में द्राविणोदसाः=द्रविणोदा के प्रवादाः=कथन होते हैं। तथा=उन [ऋतुयाजों] के पुनः पात्रस्य=पात्र को इन्द्रपानम्=इन्द्रपान, यह [संज्ञा] होती है।

और भी, एनम्=इस [द्रविणोदा] का सोमपान से स्तौति=स्तुति करता है।

और भी कहा है—द्रविणोदः पिए (द्राविणोदस) द्रविणोदा का पुत्र अग्नि।

[यहां पर क्रौष्टुकि के पक्ष के पांच तर्क समाप्त हुए।]

यह ही अग्नि द्रविणोदा है यह शाकपूणि [कहता है।] आग्नेयों में ही सूक्तों में द्राविणोदसा=द्रविणोद सम्बन्धी कथन होते हैं।

भाष्य—प्रतीत होता है यास्क पर शाकपूणि का प्रभाव अधिक है। पहले भी निरुक्त ७।१२ २१ में आचार्यों और पूर्वयाज्ञिकों का वैश्वानर विषयक पक्ष लिख कर यास्क ने शाकपूणि का पक्ष ही माना है। उसी प्रकार यहां क्रौष्टुकि का पक्ष दे कर अब पुनः शाकपूणि का पक्ष मान्य रूप से लिया है। ये विषय अति गम्भीर हैं। जब वेद के आधिभौतिक पक्ष का निर्मल ज्ञान हो जाएगा तब ये विचार पूर्ण स्पष्ट होंगे।

दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयन्द्रविणो॒दाम्। [ऋ० १।९६।१॥]

इत्यपि निगमो भवति।

यथो एतत्। ■ बलधनयोर्दातृतम। इति। सर्वासु देवतास्वैश्वर्यं विद्यते।

यथो एतत्।

आ॒जमो जा॒तमु॒त मे॑न्य एनम्। [ऋ० १०।७३।१०॥]

इति चाहेति।

अयमप्यग्निरोजसा बलेन मथ्यमानो जायते। तस्मादेनमाह—

सहसस्पुत्रम् । [ऋ० २ । ७ । ६ ॥]

सहसः सूनुम् । [ऋ० ८ । ७५ । ३ ॥]

सहसो यहुम् । [ऋ० १ । ७६ । ४ ॥]

अर्थ—(देवाः) देवों ने (अग्निम्) अग्नि को (धारयन्) स्थापित किया (द्रविणोदाम्) [हवि नामक] धन के देने वाले को ।

यह भी निगम होता है । [अब क्रोष्टुकि-पक्ष का खण्डन]

१. यथो एतत्—जो यह [कहा]—वह बल और धन का सब से अधिक देने वाला [है,] इति । सारी देवताओं में ऐश्वर्य विद्यमान है ।

यथो एतत्—जो यह [कहा]—ओज से उत्पन्न हुए को और (मन्ये) मानता हूं (एनम्) इस को । यह और कहा, इति ।

यह भी अग्निः ओज [और] बल से मथ्यमानः=मथन किया गया जायते=उत्पन्न होता है । इस लिए इस को कहा—(सहसः पुत्रम्) बल के पुत्र को, (सहसः सूनुम्) बल के सूनु को, (सहसः यहुम्) बल के सन्तान को ।

भाष्य—यथो एतत् लिख कर आगे जो वचन दिया है, उस से अन्त में इति पद है । इस से निश्चित है कि इति पद से पूर्व का वाक्य क्रौष्टुकि के निरुक्त में था । इस से पूर्व भी इति चाह । अथाप्याह आदि पदों द्वारा क्रौष्टुकि का लेख ही प्रायः उद्धृत है । यास्क से पूर्व शाकपूणि और उस से भी पूर्व क्रौष्टुकि था । निरुक्त १३ । ११ के अनुसार यास्क से पहले शाकपूणि के पुत्र का पाण्डित्य भी प्रख्यात हो चुका था । उस का प्रमाण देते हुए—इति पुत्रः शाकपूणेः, यह लेख यास्क का है । इस प्रकार १. यास्क, २. उस से पूर्व—शाकपूणि पुत्र, ३. उस से भी पूर्ववर्ति—शाकपूणि और ४. शाकपूणि से पूर्व—क्रौष्टुकि हो चुका था । वायु पुराण में मेरु के वर्णन में उस की कर्णिका के विषय में ऋषियों के जो मत दिए हैं. वहां कहा है, क्रौष्टुकिः परिमण्डलम् ॥ ३४ । ६३ ॥ नैरुक्तों की परम्परा अति प्राचीन काल से है ।

यद्यो एतत् । अग्नि द्राविणोदसमाहेति । ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस उच्यन्ते । हविषो दातारः । ते चैनं जनयन्ति ।

ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः । [अथर्व ४ ।,३९ । ६ ॥ मै० सं० १ । २ । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

यद्यो एतत् । तेषां पुन पात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति । भक्तिमात्र तद्भवति । यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम् ।

यद्यो एतत् । सोमपानेनैनं स्तौति इति । अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते ।

सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः । [ऋ० ५ । ६० । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

यद्यो एतत् ।

द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः ॥ [ऋ० २ । ३७ । ४ ॥] इति । अस्यैव तद्भवति ॥ २ ॥

अर्थ—२ यद्यो एतत्—जो यह [कहा]—अग्नि को द्राविणोदस कहा, इति । ऋत्विज यहां द्रविणोदस कहे जाते हैं । हविष=हवि-रूप [धन] के देने वाले । और वे इस [अग्नि] को उत्पन्न करते हैं । (ऋषीणाम) ऋषियों का पुत्र [यही वा] (अधिराज) अधिराज (एष) यह [अग्नि] । यह भी निगम होता है ।

३ यद्यो एतत्—जो यह [कहा]—उन के पुन पात्र की, इन्द्रपान यह [संज्ञा] होती है, इति । भक्तिमात्र=उपचारमात्र यह होता है । यथा—वायव्यानि=वायु के म, [यह] सारे सोमपात्रों का [नाम है ।]

४. यद्यो एतत्—जो यह [कहा]—सोमपान से इस [द्रविणोदा] की स्तुति करता है, इति । इस [अग्नि] में भी यह उपपन्न=युक्त होता है । [यथा—] (सोम पिब) सोम को पी, (मन्दसान) प्रसन्न होता हुआ (गणश्रिभि) गणों में रहने हुए [मरुतों के] साथ । यह भी निगम होता है ।

५. यथो एतत्—जो यह [कहा]—द्रविणोदा पिए द्रविणोदा का पुत्र अग्निः, इति । इस [अग्निः] का ही वह [वर्णन] होता है ॥ २ ॥

भाष्य—यास्क ने शाकपूणि का पक्ष उचित समझा है । शाकपूणि ने क्रौष्टुकि के पांचों तर्क काटे हैं । सोमपान मध्यम स्थान से सम्बन्ध रखता है । अतः सोमपात्र वायव्य कहे जाते हैं । पार्थिव सोमपान उस की प्रतिकृति है ।२॥

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन् वीळयस्वा वनस्पते ।
आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥
[ऋ० २ । ३७ । ३ ॥]

मेद्यन्तु ते वह्नयः । वोढारः । येर्यास्यरिष्यन् । दृढीभव । आयूय धृष्णो । अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयाद्धिष्ण्यात् । धिष्णो धिष्ण्यो धिषणाभवः । धिषणा [वाक् ।] धिषेर्दधात्यर्थे । धीसादिनीति वा । धीसानिनीति वा । वनस्पते इति एनमाह । एष हि वनानां पाता वा पालयिता वा । वनं वनोतेः । पिबतु भिः कालैः ॥ ३ ॥

अर्थ—(मेद्यन्तु) मेदयुक्त=मोटे बनें (ते) तेरे (वह्नयः) वाहक=ले जाने वाले (येभिः) जिन के द्वारा (ईयसे) [तू] प्राप्त होता है, (अरिषण्यन्) न हिंसा करता हुआ, (वीळयस्व) दृढ होवो (वनस्पते) हे वनस्पते । (आयूय) मिला कर (धृष्णो) हे धर्षक=दबाने वाले (अभिगूर्य) तय्यार हो कर (त्वम्) तू (नेष्ट्रात्) नेष्टा के [याग] से (सोमम्) सोम को (द्रविणोदः) हे द्रविणोदा (पिब) पी (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ ।

मेद्यन्तु ते=मोटे अथवा तृप्त हों तेरे वाहक । जिन के द्वारा जाते हो, न हिंसा करते हुए । दृढ होवो, मिला कर हे धर्षक । तय्यार हो कर तुम नेष्ट्रीयात्=नेष्टा नामक ऋत्विक् के (धिष्ण्यत्) धिष्णा नामक अग्निः के स्थान से । धिष्ण्यः=धिषण्यः=धिषणा से होने वाला । धिषणा=वाक् [है ।] धिषि से धारण करता है, इस अर्थ वाली से । धीसादिनी=बुद्धि में बैठने वाली अथवा । बुद्धि का सेवन करने वाली अथवा । हे वनस्पते । यह इस [द्रविणोदा को] कहा । यह ही वनों का पाता है अथवा, पालयिता है [अथवा । वनम्, वनोति से] । पिओ ऋतु=कालों के साथ ॥ ३ ॥

यथो एतत् । अग्निं द्राविणोदसमाहेति । ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस उच्यन्ते । हविषो दातारः । ते चैनं जनयन्ति ।

ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः । [अथर्व ४ । ३९ । ९ ॥ मै० स० १ । २ । ७ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

यथो एतत् । तस्य पुत्र पात्रस्येन्द्रपानमिति प्रवदन्तीति । भक्तिमात्रं तद्भवति । यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम् ।

यथो एतत् । सोमपानेन स्तौति इति । अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते ।

सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः । [ऋ० ५ । ६० । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

यथो एतत् ।

द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः ॥ [ऋ० २ । ३७ । ४ ॥] इति ।
अस्यैव तद्भवति ॥ २ ॥

अर्थ—२ यथो एतत्—जो यह [कहा]—अग्नि को द्राविणोदस कहा इति । ऋत्विज यहां द्रविणोदस कहे जाते हैं । हविष=हवि रूप [धन] के देने वाले । और वे इस [अग्नि] को उत्पन्न करते हैं । (ऋषीणाम्) ऋषियों का पुत्र [यज्ञों का] (अधिराज) अधिराज (एष) यह [अग्नि] । यह भी निगम होता है ।

३ यथो एतत्—जो यह [कहा]—उन के पुत्र पात्र की इन्द्रपान यह [संज्ञा] होती है इति । भक्तिमात्र=उपचारमात्र वह होता है । यथा—वायव्यानि=वायु के ये [यह] सारे सोमपात्रों का [नाम है ।]

४. यथो एतत्—जो यह [कहा]—सोमपान से इस [द्रविणोदा] की स्तुति करता है इति । इस [अग्नि] में भी यह उपपन्न=युक्त होता है । [यथा—] (सोमं पिब) सोम को पी, (मन्दसानः) प्रसन्न होता हुआ (गणश्रिभिः) गणों में रहते हुए [मरुतों के] साथ । यह भी निगम होता है ।

५. यथो एतत्—जो यह [कहा]—द्रविणोदा पिए द्रविणोदा का पुत्र अग्निः, इति । इस [अग्निः] का ही वह [वर्णन] होता है ॥ २ ॥

भाष्य—यास्क ने शाकपूणि का पक्ष उचित समझा है । शाकपूणि ने क्रौष्टुकि के पांचों तर्क काटे हैं । सोमपान मध्यम स्थान से सम्बन्ध रखता है । अतः सोमपात्र वायव्य कहे जाते हैं । पार्थिव सोमपान उस की प्रतिकृति है ।।२।।

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन् वीळयस्वा वनस्पते ।
आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥
[ऋ० २ । ३७ । ३ ॥]

मेद्यन्तु ते वह्नयः । वोढारः । यैर्यास्यरिष्यन् । दृढीभव । आयूय धृष्णो । अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयाद्धिष्ण्यात् । धिष्ण्ये धिष्ण्यो धिषणाभवः । धिषणा [वाक् ।] धिषेर्दधात्यर्थे । धीसादिनीति वा । धीसानिनीति वा । वनस्पते इति एनमाह । एष हि वनानां पाता वा पालयिता वा । वनं वनोतेः । पिबर्तुभिः कालैः ॥ ३ ॥

अर्थ—(मेद्यन्तु) मेदयुक्त=मोटे बनें (ते) तेरे (वह्नयः) वाहक=ले जाने वाले (येभिः) जिन के द्वारा (ईयसे) [तू] प्राप्त होता है, (अरिषण्यन्) न हिंसा करता हुआ, (वीळयस्व) दृढ होवो (वनस्पते) हे वनस्पते । (आयूय) मिला कर (धृष्णो) हे धर्षक=दबाने वाले (अभिगूर्य) तय्यार हो कर (त्वम्) तू (नेष्ट्रात्) नेष्ट्रा के [याग] से (सोमम्) सोम को (द्रविणोदः) हे द्रविणोदा (पिब) पी (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ ।

मेद्यन्तु ते=मोटे अथवा तृप्त हों तेरे वाहक । जिन के द्वारा जाते हो, न हिंसा करते हुए । दृढ होवो, मिला कर हे धर्षक । तय्यार हो कर तुम नेष्ट्रीयात्=नेष्ट्रा नामक ऋत्विक् के (धिष्ण्यत्) धिष्णा नामक अग्निः के स्थान से । धिष्ण्यः=धिषण्यः=धिषणा से होने वाला । धिषणा=वाक् [है ।] धिषि से धारण करता है, इस अर्थ वाली से । धीसादिनी=बुद्धि में बैठने वाली अथवा । बुद्धि का सेवन करने वाली अथवा । हे वनस्पते । यह इस [द्रविणोदा को] कहा । यह ही वनों का पाता है अथवा, पालयिता है अथवा । वनम्, वनोति से । पिओ ऋतु=कालों के साथ ॥ ३ ॥

भाष्य—शीव्यस्ता आयूया, अभिगूर्या। इस एक मन्त्र में ये तीन पद संहिता पाठ में आकारान्त हैं। पदपाठ में वर्तमान व्याकरण की दृष्टि से दीर्घ अ=आ के स्थान में सर्वत्र ह्रस्व अ=अ रह जाता है। ऐसा वेद में प्राय देखा जाता है जिन ऋषियों ने मूल में अर्थोपयोगी न होते हुए भी इस आकारान्त रूप का संरक्षण किया, और मूल पाठ का अणुमात्र भी न बदला, वे वेद के वास्तविक पाठ को ठीक नहीं जानते थे यह आक्षेप राजवाड़े एर्टैलर और विश्वबन्धुजी आदि ने वैदिक परम्परा के न जानने के कारण किया है।

धिषणा—ब्राह्मण ग्रन्थों में वाग्वै धिषणा। शत० ६।५।४।५॥ निद्रा वै धिषणा। तैत्ति० ३।२।२।२॥ और अन्तो वै धिषणा। ऐ० ५।२॥ निर्देश हैं। शतपथ ३।६।२।११ में—स्वान, भ्राज, अङ्घारि, बम्भारि, हस्त, सुहस्त, कृशानु ये सात नाम धिष्ण्यों के पढ़े हैं। धिषणाभन पद के साथ वायु पुराण के अगले वचन की तुलना कीजिए—धिष्णीषु अह्निरे यस्माद् धिष्ण्यस्तेन कीर्तिता ॥ २८। १६ ॥ ३ ॥

अथात आप्रिय। आप्रिय कस्मात्। आप्नोते। प्रीणातेर्वा। आप्रीभिराप्रीणाति। [ऐ० ६।४] इति च ब्राह्मणम्। तासामिध्म प्रथमागामी भवति। इध्म समिन्धनात्। तस्यैषा भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—अब आप्री [देवता हैं। निघ० ५।२। २—२३ तक।] आप्रिय किस [कारण] से। आप्नोति से। प्रीणाति ॥ अथवा। (आप्रीभि) आप्री ऋचाओं से (आप्रीणाति) [आप्री देवताओं को] तृप्त करता है। यह और ब्राह्मण [पाठ है।] उन में इध्म, प्रथमागामी होता है।

[१ आप्री] इध्म ठीक चमकने से [है।] उस की यह [ऋक्] है ॥ ४ ॥

भाष्य—आप्री ऋचाओं में बारह देवता स्तुत हैं। वे इध्म आदि हैं। एकादश आप्री सूक्त आगे ८। २२ में कहे गए हैं।

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥
[ऋ० १०।११०।१ ॥]

समिद्धोऽद्य मनुष्यस्य मनुष्यस्य गृहे देवो देवान्यजसि जातवेदः । आ च वह मित्रमहः । चिकित्वाँश्चेतनावान् । त्वं दूतः कविरसि । [प्रचेताः] प्रवृद्धचेताः ।

यज्ञेध्मः इति कात्थक्यः । अग्निः इति शाकपूणिः ।

तनूनपात् [आज्यमिति कात्थक्यः ।] नपादित्यनन्तरायाः प्रजाया नामधेयम् । निर्णततमा भवति । गौरत्र तनूरुच्यते । तता अस्यां भोगाः । तस्याः पयो जायते । पयस आज्यं जायते ।

अग्निरिति शाकपूणिः । आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते । तता अन्तरिक्षे । ताभ्यः ओषधिवनस्पतयो जायन्ते । ओषधिवनस्पतिभ्य एष जायते । तस्यैषा भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—(समिद्धः) प्रदीप्त हुआ (अद्य) आज (मनुषः) मानुष के (दुरोणे) घर में (देवः) देव [तू] (देवान्) देवों को (यजसि) पूजता है (जातवेदः) हे जातवेदः । (आ-वह च) लाओ और (मित्रमहः) हे मित्रों का आदर करने वाले (चिकित्वान्) जानते हुए (त्वम्) तू, दूत, कवि हो (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञान वाले ।

प्रदीप्त आज मनुष्य के मनुष्य के घर में, देव, देवों को तू पूजता है, हे जातवेदः । और लाओ हे मित्र का आदर करने वाले । चिकित्वान्= चेतना वाला । तू दूत कवि हो । [प्रचेताः] बढ़े हुए ज्ञान वाला । यज्ञेध्म=यज्ञ की समिधा, [यह आप्री देवता है] इति=यह कत्थक का पुत्र कात्थक्य [कहता है ।] अग्निः यह शाकपूणि [कहता है ।]

[२. आप्री], तनूनपात्=आज्यम्=पिघला हुआ घृत, यह कात्थक्य [कहता है ।] नपात् यह अन्+अन्तरायाः=विना व्यवधान वाली का प्रजा का नामधेय [है ।] निर्णततमा=सब से अधिक नत=झुका हुआ [तीसरी पीढ़ी में] होता है । गौ, यहां तनू कही जाती है । तताः=विस्तृत =फैले हुए इस में भोग [होते हैं ।] उस [गौ] से दूध उत्पन्न होता है । पयसः=दूध से आज्यम्=घृत उत्पन्न होता है ।

[तनूनपात्] अग्नि [है।] यह शाकपूणि [कहता है।] आप यहां तन्त कही जाती हैं। तता=विस्तृत होता है अन्तरिक्ष में। उन [आप] से ओषधि वनस्पति उत्पन्न होते हैं। ओषधि वनस्पतियों से, एष=यह [अग्नि] उत्पन्न होता है। उस [तनूनपात्] की यह [ऋक्] होती है ॥ ५ ॥

भाष्य—सारा अन्तरिक्ष आप्य परमाणुओं से परिपूर्ण है। अन्तरिक्ष में अवकाश [= space] नहीं है। शाकपूणि और यास्क आदि इस सिद्धान्त को जानते थे। उन ऋषियों को विज्ञान का अद्वितीय बोध था ॥ ५ ॥

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥
[ऋ० १०।११०।२॥]

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान्। यज्ञस्य यानान्। मधुना समञ्जन् स्वदय कल्याणजिह्व। मननानि च नो धीभिर्यज्ञं च समर्धय। देवान्नो यज्ञं गमय।

नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः। नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति। अग्निरिति शाकपूणिः। नरैः प्रशस्यो भवति। तस्यैषा भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(तनूनपात्) हे तनूनपात् (पथः) मार्गों को (ऋतस्य) यज्ञ के (यानान्) पहुंचाने वालों को (मध्वा) मधु से (सम्—अञ्जन्) चुपड़ कर (स्वदय) स्वादु बनाओ (सुजिह्व) हे सुन्दर जिह्वा वाले। (मन्मानि) मनन योग्य (धीभिः उत) प्रज्ञाओं से और (यज्ञम्) यज्ञ को (ऋन्धन्) समृद्ध करते हुए (देवत्रा) देवों को और (कृणुहि) पहुंचाओ (अध्वरं नः) अध्वर को हमारे।

हे तनूनपात् मार्गों को ऋतस्य=ऋत के=यज्ञ के यानान्=पहुंचाने वालों को मधुना=मधु से समञ्जन्=चुपड़ कर स्वदय=स्वादु बनाओ हे सुन्दर जिह्वा वाले। मननानि मनन के योग्य और हमारे [छन्दों को] धीभिः=प्रज्ञाओं तथा कर्मों से समर्धय=समृद्ध करो। देवों को हमारे यज्ञ को पहुंचाओ।

[३. आप्री] नराशंसः, यज्ञ [है], यह कात्थक्य [कहता है।] नर इस मे बैठे हुए शंसन्ति=स्तुति करते हैं।

अग्निः [है], यह शाकपूणि [कहता है।] नरों के द्वारा प्रशस्यः= स्तुति के योग्य होता है।

उस [नराशंस] की यह [ऋक्] होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—तनूनपात् के कर्म किस प्रकार हो रहे है, यह ज्ञातव्य है। ऋत के मार्गों को यह कैसे स्वादु बनाता है। मनन योग्य छन्दों को कैसे समृद्ध करता है, देवों को यज्ञ को कैसे पहुंचाता है, ये विषय साधारण नहीं हैं। इन का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। उपनिषद् में मधु विद्या का व्याख्यान है। इस मन्त्र में मध्वा समञ्जन् पद उसी प्रकार के मधु का संकेत कर रहे हैं ॥ ६ ॥

नराशंसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः ।
ये सुक्रतवः शुचयो धियंधाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥

[ऋ० ७ । २ । २ ॥]

नराशंसस्य महिमानमेषामुपस्तुमो यज्ञियस्य यज्ञैः। ये सुकर्माणः शुचयो धियं धारयितारः। स्वदयन्तु देवा उभयानि हवींषि। सोमं चेतराणि चेति वा। तान्त्राणि चावापिकानि चेति वा।

इळः, ईट्टेः स्तुतिकर्मणः। इन्धतेर्वा। तस्यैषा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(नराशंसस्य) नराशंस की (महिमानम्) महिमा की (एषाम्) इन में से (उप स्तोषाम) हम स्तुति करते हैं, (यजतस्य) जो यज्ञिय है, उस की (यज्ञैः) यज्ञों के द्वारा। जो [देव] (सुक्रतवः) सुन्दर कर्मों वाले (शुचयः) पवित्र और प्रदीप्त (धियंधाः) कर्मों के धारक (स्वदन्ति) स्वादु बनाते हैं (देवाः) देव (उभयानि) दोनों प्रकार के (हव्या) हव्यों को।

नराशंस की महिमा की इन में से हम उपस्तुमः=पूरी स्तुति करते हैं। [कैसा नराशंस], यज्ञियस्य=जो यज्ञ के योग्य है, यज्ञों के द्वारा। जो सुकर्मा, पवित्र और प्रदीप्त धियम्=प्रज्ञा और कर्मों को धारण करने वाले।

स्वादु बनाएं देव, दोनों प्रकार के हवि पदार्थों को। सोम को और अन्यो को अथवा। तान्त्राणि=स्वतन्त्र सिद्ध और आवापिकानि=आवाप द्वारा =यज्ञ मे विशेषतया डालने से सिद्ध अथवा।

(४ आप्री) ईळ ईट्टि स, स्तुति अर्थ वाले से। इन्धति से अथवा। उस [ईळ] की यह [ऋक्] होती है ॥ ७ ॥

भाष्य—दोनों प्रकार के हव्य पदार्थों को। सोम स्वाभाविक अथवा स्वतन्त्र ही हव्य है। वह जगत् में व्यापक है। पृथिवी पर गौ आदि में और अन्तरिक्ष और द्यौ में परमाणु रूप में। दूसरे हव्य पदार्थ यज्ञ में डाले गए स्वादु होते हैं ॥ ७ ॥

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥
[ऋ० १० । ११० । ३ ॥]

आह्वयमान ईळित-व्यो वन्दितव्यश्च। आयाह्यग्ने वसुभिः सहजोषणः। त्वं देवानामसि यह्व होता। यह्व इति महतो नामधेयम्। यातश्च हूतश्च भवति। स एनान्यक्षीषितो यजीयान्। इषित प्रेषित इति वा। अधीष्ट इति वा। यजीयान्यष्टृतर ।

बर्हिः परिबर्हणात्। तस्यैषा भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—(आजुह्वान) बुलाया हुआ (ईड्य) स्तुति योग्य (वन्द्य च) और नमस्कार योग्य (आ याहि) आओ (अग्ने) हे अग्ने (वसुभि) वसुओं के साथ (सजोषा) समान प्रीति वाला हुआ। (त्वम्) तू (देवानाम् असि यह्व) देवो का है हे महान् (होता) होता, बुलाने वाला (स) वह [तू] (एनानि) इन [देवो] को (यक्षि) यजन कर (इषित) [हमारे द्वारा] प्रेरा हुआ (यजीयान्) अधिकतर पूजने वाला है।

बुलाया हुआ, स्तुति योग्य, वन्दना योग्य और, आओ हे अग्ने वसुओ के साथ समान प्रीति वाले हुए। तुम देवो के हो महान् होता। 'यह्व' यह महान् का नामधेय है। यात च=गया हुआ और बुलाया हुआ होता है।

वह [तू] इन [देवों] को (यक्षि) यजन कर। इषितः=चाहा हुआ यजीयान् [है।] इषितः=प्रेरा हुआ अथवा। अधि+इष्टः=सत्कार पूर्वक प्रेरा हुआ[1]=प्रार्थना किया गया अथवा। यजीयान्=अधिकतर पूजने वाला [है।]

[५. आप्री] बर्हिः. परिबर्हणात्=चारों ओर से काटने, [अथवा] बढ़ने से [=कुशा।]

उस [बर्हिः] की यह [ऋक्] होती है ॥ ८ ॥

भाष्य—ये आग्नेय परमाणु कैसे आते हैं। इन की गति किस प्रकार काम करती है। यह प्रक्रिया विज्ञान से सम्बद्ध है। अग्निः ही होता और अनेक देवों को अधिकतर पूजने वाला है। इष्टः=चाहा हुआ वा प्रार्थना किया गया, एक ही अर्थ में है ॥ ८ ॥

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥

[ऋ० १० । ११० । ४ ॥]

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तनाय। अस्याः प्रवृज्यतेऽग्रेऽह्नां बर्हिः पूर्वाह्णे। तद्विप्रथते। [वितरं] विकीर्णतरमिति वा। विस्तीर्णतरमिति वा। वरीयो वरतरम्। उरुतरं वा। देवेभ्यश्चादितये च स्योनम्। स्योनम् इति सुखनाम। स्यतेः। अवस्यन्त्येतत्। सेवितव्यं भवतीति वा।

द्वारो जवतेर्वा। द्रवतेर्वा। वारयतेर्वा। तासामेषा भवति ॥ ९ ॥

अर्थ—(प्राचीनम्) पूर्व दिशा में मुख की हुई (बर्हिः) [जो] कुशा [उसे] (प्रदिशा) विधि पूर्वक (पृथिव्याः) पृथिवी [=वेदी] के (वस्तोः) वसन=ओढ़ने वा ढांपने के लिए (अस्याः) इस के (वृज्यते) काटा जाता है, (अग्रे अह्नाम्) पूर्वाह्ण समय में। (वि-उ-प्रथते) [वह कुशा=दर्भ] फैलता है, (वितरम्) काटा वा बिछाया हुआ, (वरीयः) [जो] अत्यन्त श्रेष्ठ होता है (देवेभ्यः) देवों के लिए (अदितये) अदिति के लिए (स्योनम्) सुखरूप होता है।

---

१. अधीष्टः सत्कार पूर्वको [illegible] । काशिका [illegible]

पूर्व दिशा की ओर मुख किया हुआ दर्भ प्रदिशा=विधिपूर्वक पृथिव्याः अस्याः=इस पृथिवी के वस्तनाय=ढांपने के लिए वृज्यते=काटा जाता है, अग्रे अह्नाम्=पूर्वाह्णे=पूर्वाह्ण काल में। वह बहुत फैलता है। विस्तरम्=बहुत फैला हुआ अथवा। वरीयः=वरतरम्=जो अधिक श्रेष्ठ [होता है।] उरुतरम्=बहुत घना अथवा। देवों के लिए और, अदिति के लिए और स्योनम्=सुखकारक। स्योनम्, यह सुख का नाम [है।] स्यति में। अवस्यन्ति=अवसान में करते हैं एनत्=इसे। [सारे कर्म का फल अन्त में सुख इष्ट होता है।] सेवा योग्य होता है अथवा।

[६. आप्री] द्वारः। जवति में अथवा। द्रवति में अथवा। वारयति में अथवा। उन की यह [ऋक्] है॥ ६॥

भाष्य—बर्हि की महिमा पहले भी कही गई है। यहां पूर्व दिशा की ओर मुख की हुई बर्हि की अधिक महिमा दिखाई गई है। उस बर्हि को विधिपूर्वक काटना चाहिए। वह विधि सूत्र ग्रन्थों में उल्लिखित है। बर्हि को सदा पूर्वाह्ण काल में काटना चाहिए। देवों में आधिभौतिक दृष्टि से वैद्युत् प्रभाव अधिक है। उस के प्रभाव को भूमि स्वायत्त कर के देवों को निस्तेज न करे, अतः यज्ञों में वेदी के चारों ओर बर्हि बिछाया जाता है। यहां बर्हि पर देवों की आधिभौतिक सत्ता प्रकट हो सकती है, ऐसा इस बर्हि के प्रयोग का रहस्य प्रतीत होता है। यही बर्हि अन्तरिक्ष में हो सकता है, पर अति सूक्ष्म रूप में। अतः इस बर्हि पर वैज्ञानिक परीक्षण होने चाहिएं। जो बर्हि दक्षिण आदि की ओर मुख किए हैं उन का प्रभाव भी देखना चाहिए। तब वेदविद्या में प्रवेश हो सकेगा।

बर्हि अदिति के लिए किस प्रकार सुखदायक है यह भी देखना चाहिए। अदिति सप्तम स्थानी है। अदिति का केवल पृथिवी अर्थ मान कर सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए॥ ५॥

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥

[ऋ० १०।११०।५॥]

व्यञ्चनवत्य उरुत्वेन विश्रयन्ताम् । पतिभ्य इव जायाः । ऊरू मैथुने धर्मे । शुशोभिषमाणाः । वरतममङ्गमूरू । देव्यो द्वारः । बृहत्यो महत्यः । विश्वमिन्वा विश्वमाभिरेति यज्ञे । गृहद्वार इति कात्थक्यः । अग्निरिति शाकपूणिः ।

उषासानक्ता । उषाः च नक्ता च । उषाः व्याख्याता । नक्ता इति रात्रिनाम । अनक्ति भूतान्यवश्यायेन । अपि वा नक्ताऽव्यक्तवर्णा । तयोरेषा भवति ॥ १० ॥

अर्थ – (व्यचस्वतीः) विशेष आने जाने वाले [कर्म में सहायक] (उर्विया) विस्तार से (विश्रयन्ताम्) खुल जाएं, (पतिभ्यः) पतियों के लिए (न) जैसे (जनयः) स्त्रियां (शुम्भमानाः) शोभा युक्त बनी हुई । (देवीः द्वारः) हे द्वार-देवियो, (बृहतीः) विशाल (विश्वम् इन्वाः) सर्वत्र गमनागमन वाली (देवेभ्यः) देवों के लिए (भवत) होवो (सुप्रायणाः) श्रेष्ठ प्रकार से जाने आने योग्य ।

वि+अञ्चनवत्यः=विशेष आने जाने वाली उरुत्वेन=विस्तार से विश्रयन्ताम्=खुल जाएं । पतियों के लिए जैसे स्त्रियां [खुलती हैं ।] ऊरू =जंघाओं को मैथुन धर्म में [जैसे खुला करती हैं ।] शुशोभिषमाणाः= शोभायमाना बनाने की इच्छा करती हुई । वरतमम्-अङ्गम् ऊरू=श्रेष्ठतम अङ्ग हैं जंघाएं । देव्यः द्वारः=हे द्वार देवियो, बृहत्यः=महत्यः=विशाल, विश्वम्+इन्वाः=सारे आभिः=इन के मार्ग से एति=प्राप्त होते हैं यज्ञे=यज्ञ में । गृह द्वार=घर के अथवा यज्ञशाला के द्वार हैं यह कात्थक्य [कहता है ।] अग्निः है, यह शाकपूणि, [कहता है ।]

[७. आप्री] उषासानक्ता । उषा और रात्रि और । उषा [पहले २ । १८ में] व्याख्या की गई है । नक्ता यह रात्रि का नाम [है ।] अनक्ति=गीला करती है, भूतानि=प्राणियों को अवश्यायेन=ओस से । अथवा न+अक्ता=नहीं व्यक्त=स्पष्ट रंग वाली । उन दोनों की यह [ऋक्] होती है ॥ १० ॥

भाष्य—देवों के आने जाने के मार्ग और द्वार हैं । उसी प्रकार यज्ञों में और शालाओं में विद्वानों आदि के आने जाने के भी द्वार हैं ।

श्रयन्ताम् खुल जाएं । ये द्वार साधारणतया सग होते हैं अतः श्रुति में कहा कि वे खुल जाएं । कैसे खुलें । उस का उदाहरण स्त्री की जघाओं के खुलने से दिया है । स्त्री, जो शोभना बनने की इच्छा वाली होती है । यहां कात्थक्य और शाकपूणि इन दोनों के मत प्रशस्त हैं । शाकपूणि सूक्ष्म भौतिक अर्थ को दर्शाता है ॥ १० ॥

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥

[ऋ० १० । ११० । ६ ॥]

सेष्मीयमाणे इति वा । सुष्वापयन्त्याविति वा । आसीदतामिति वा । न्यासीदतामिति वा । यज्ञिये । उपक्रान्ते । दिव्ये योषणे । बृहत्यौ महत्यौ । सुरुक्मे सुरोचने । अधिदधाने शुक्रपेशसं श्रियम् । शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । पेश इति रूपनाम । पिंशतेः । विपिंशितं भवति ।

दैव्या होतारा । दैव्यौ होतारौ । अयं चाग्निरसौ च मध्यमः । तयोरेषा भवति ॥ ११ ॥

अर्थ—(सुष्वयन्ती) [परस्पर] मुस्काती हुई । (यजते) यज्ञ कराने वाली—यज्ञ के योग्य (उपाके) एक दूसरे के निकट लाई गई (उषासानक्ता) उषा और रात्रि (आ सदताम्) बैठें (योनौ) [यज्ञ] स्थान में । (दिव्ये) द्युलोक में उत्पन्न हुई (योषणे) स्त्री रूपिणियां (बृहती) बड़ी (सुरुक्मे) सुन्दर चमकने वालियां (श्रियम्) शोभा को शुक्रपि(शम्) चमकने के रूप को (अधिदधाने) धारण करती हुई ।

सेष्मीयमाणे मुस्कराती हुई अथवा सु+स्वापयन्त्यौ—सुन्दर प्रकार से सुलाती हुई अथवा । आ सीदताम्=बैठें अथवा । नि+आ+सीदताम्=पकड़ी हुई बैठें अथवा । यजत=यज्ञिये यज्ञ के योग्य उपक्रान्ते—एक दूसरे के निकट लाई गईं दिव्य योषणे—दिव्य स्त्रियां बृहत्यौ—महत्यौ—बड़ी सुरुक्मे—सुरोचने सुन्दर दीप्ति वालियां अधि दधाने—धारण करती हुई शुक्रपेशसम्—चमकने के रूप को श्रियम्—शोभा को । शुक्रम् शोचति से चमकने अर्थ वाले से । पेश यह रूप का नाम [है ।] पिंशति से । विशेष रंगा हुआ होता है ।

[८, आप्री] दैव्या होतारा=दैव्यौ होतारौ=यह [पृथिवी स्थानी] अग्निः और, वह मध्यमः=अन्तरिक्ष स्थानी [वायु ।] उन दोनों की यह [ऋक्] होती है ॥ ११ ॥

भाष्य—उषा और रात्रि सुरुक्मे हैं । रात्रि भी अपना रुक्म=रोचन रखती है । पूर्ण अन्धेरी रात में अन्तरिक्ष स्वल्प चमक वाला सदा दिखाई देता है । यह रात्रि में मरुतों का प्रकाश है । मरुतों के कारण रात्रि रुक्म वाली है । ऐसे शुक्रपिश को रात्रि धारण किए रहती है ॥ ११ ॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥

[ऋ० १ । ११० । ७ ॥]

दैव्यौ होतारौ प्रथमौ सुवाचौ निर्मिमानौ यज्ञं मनुष्यस्य [मनुष्यस्य] यजनाय । प्रचोदयमानौ यज्ञेषु कर्त्तारौ पूर्वस्यां दिशि यष्टव्यमिति प्रदिशन्तौ ।

तिस्रो देवीः । तिस्रो देव्यः । तासामेषा भवति ॥ १२ ॥

अर्थ—(दैव्यौ होतारौ) दैव्य होता [अग्निः और वायु], (प्रथमौ) [देवों में] मुख्य अथवा पहले जन्मे, (सुवाचौ) सुन्दर वाणी वाले (मिमानौ) निर्माण करने वाले (यज्ञम्) यज्ञ को (मनुषः) मनुष्य के (यजध्यै)=यजनाय=यज्ञ के लिए । (प्रचोदयन्तौ) प्रेरणा करने वाले (विदथेषु) यज्ञों में (कारू) कर्म कर्ता (प्राचीनं ज्योतिः) पूर्व दिशा में होने वाले [आहवनीय] अग्निः को (प्रदिशा) विधि के अनुसार (दिशन्तौ) [यज्ञ करने का] उपदेश करने वाले [हैं ।]

दिव्य गुण युक्त दोनों होता, प्रथमौ=मुख्य, सुवाचौ=सुन्दर वाणी वाले [मिमानौ]=निर्मिमानौ=निर्माण करने वाले यज्ञ को मनुष्य के मनुष्य के यज्ञ के लिए । प्रेरणा करने वाले यज्ञों में कर्मकर्ता पूर्वस्यां दिशि=पूर्व दिशा में यज्ञ करना चाहिए यह विशेष बताने वाले [हैं ।]

[९, आप्री ।] तिस्रो देवीः । तीन देवियां । उन की यह [ऋक्] होती हैं ॥ १२ ॥

भाष्य—अग्नि और वायु दैव्य होता हैं। ये मुख्य अथवा अन्य देवों की अपेक्षा पूर्व जन्मे हैं। इन्द्र बहुत उत्तर काल म जन्मा है। इन्द्र है ही विद्युत् सज जो वायु स आवष्टित है। अत वायु का अस्तित्व पहले हो गया था। इन का आदेश है कि आहवनीय अग्नि में यज्ञ करना चाहिए। अपरञ्च मनुष्य का यज्ञ भी पूर्वाभिमुख होना चाहिए ॥ १२ ॥

आ नो॑ य॒ज्ञं भार॑ती॒ तूय॑मे॒त्विळा॑ मनु॒ष्वदि॒ह चे॒तय॑न्ती ।
ति॒स्रो दे॒वीर्ब॒र्हिरेदं स्यो॒नं सर॑स्वती॒ स्वप॑सः सदन्तु ॥
[ऋ० १० । ११० । ८ ॥]

एतु नो यज्ञं भारती क्षिप्रम्। भरत आदित्य। तस्य भा। इळा च। मनुष्यवदिह चेतयमाना। तिस्रो देव्यो बर्हिरिदं सुखं सरस्वती च सुकर्माण आसीदन्तु।

त्वरा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्ता। तिरपर्गो स्याद् दीप्तिकर्मणः। त्वरयतेर्वा स्यात्करोतिकर्मणः। तस्यैषा भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—(न यज्ञम्) हमारे यज्ञ को (भारती) भरत=आदित्य की भा–दीप्ति (तूयम्) शीघ्र (एतु) आवे (इळा) इळा [और] (मनुष्वत्) मनुष्य के समान (चेतयन्ती) सज्ञान रखती हुई। (तिस्र देवी) तीनो देवियां (बर्हि इदम्) इस कुशा पर (स्योनम्) सुखकारी पर (सरस्वती) सरस्वती [और] (सु+अपस)=सुकर्माण=उत्तम कर्म वाली (आ+सदन्तु) बैठे।

आवे हमारे यज्ञ को भारती शीघ्र। भरत: आदित्य [है।] उसकी भा =दीप्ति। इळा और। मनुष्य के समान यहा चेतना व ली मनान रखनी हुई। तीनो देवियां इस कुशा पर सुखपूर्वक, सरस्वती और श्रेष्ठ कर्म वालियां बैठें। -

[१० आप्री] त्वष्टा। शीघ्र व्याप्त करता है यह नैरुक्त [कहते हैं।] त्विषि से अथवा होवे दीप्ति अर्थ वाले से। त्वक्षति से अथवा होवे करोति अर्थ वाले से। उसकी यह [ऋक्] होती है। १३ ॥

भाष्य—सरूप जी के पाठानुसार यास्क के भाष्य में—एतु पाठ है। तदनुसार आ उपसर्ग सदन्तु क्रिया के साथ जुड़ना चाहिए। यास्क ने अपने भाष्य में अर्थ भी ऐसा ही दर्शाया है। राजवाड़े ने पेतु पाठ रखा है। तिस्रः देवीः—१ भारती, आदित्यस्थाना। २. इळा, पृथिवी-स्थाना। ३. सरस्वती, मध्यमस्थाना=वाक्। वर्हि पर बैठने वाली ये तीनों देवियां=दिव्य रूप वाली हैं। इन में परमाणु संघात कैसा है, यह ज्ञातव्य है ॥ १३ ॥

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा ।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥

[ऋ० १० । ११० । ६ ॥]

य इमे द्यावापृथिव्यौ जनयित्र्यौ रूपैरकरोत्। भूतानि च सर्वाणि। तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यज विद्वान्।

माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुः। मध्यमे च स्थाने समाम्नातः। अग्निरिति शाकपूणिः। तस्यैषापरा भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—(यः) जिस ने (इमे) इन दोनों (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवी को (जनित्री) [अनेक भुवनों को] जनने वालियों को (रूपैः) नाना रूपों से (अपिंशत्) किया, (भुवनानि विश्वा) [और] सारे भूतों को। (तम्) उस को (अद्य) आज (होतः) हे होतः (इषितः) चाहा गया (यजीयान्) बहुत यज्ञ करने वाला [तू] (देवं त्वष्टारम्) देव त्वष्टा को (इह) यहां [यज्ञ में] (यक्षि) यज्ञ करो (विद्वान्) [तू जो] जानने वाला [है]।

जिस देव ने इन दोनों द्यावापृथिवी को [जो अनेक भुवनों की] जनने वाली हैं रूपैः=विविध रूपों से अकरोत्=किया। और सम्पूर्ण भूतों को। उस [देव] को आज हे होतः इषितः प्रेरा हुआ=चाहा हुआ, बहुत यज्ञ करने वाला [तू] देव त्वष्टा को यहां यज्ञ करो [तू जो] विद्वान्=जानने वाला [है।]

माध्यमिक [है] त्वष्टा, यह [वेदज्ञ] कहते हैं। मध्यम स्थान में [अनेक निघण्टु समाम्नायों में] समाम्नात है। [त्वष्टा] अग्निः [है], यह शाकपूणि [कहता है।] उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ १४ ॥

भाष्य—द्यावापृथिवी अनेक भुवनों=भूतों की जनने वालियां हैं। पृथिवी ने सहस्रश भूतों को जन्म दिया है। और द्यौ ने भी सहस्रश भूतों को जना है। पर इन दोनों को त्वष्टा ने ही अनेक रूपों से सज्जित किया है आदित्य, उस के रथ और उस रथ के अश्वों को त्वष्टा आदि ने ही यह रूप दिया है। त्वष्टा ने तो सूर्य का तक्षण भी किया था। यह त्वष्टा मध्यम स्थानी है। उस मध्यम स्थान से ऊपर जाते हुए ही सूर्य का तक्षण हुआ था। शाकपूणि इस अग्नि को भी त्वष्टा मानता है ॥ १४ ॥

आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे ।
उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात् प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते ॥

[ऋ० १ । ९५ । ५ ॥]

आविरावेदनात्। तत्त्यो वर्धते चारुरासु। चारु चरतेः। जिह्म जिहीतेः। ऊर्ध्वमुद्धृतं भवति। स्वयशा आत्मयशाः। उपस्थ उपस्थाने। उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्। [प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते।] द्यावापृथिव्याविति वा। अहोरात्रे इति वा। अरणी इति वा। प्रत्यक्ते। सिंहः सहनम्। प्रत्यासेवते ॥ १५ ॥

अर्थ—(आविष्ट्य) आविः+त्य=प्रकाश का विस्तार करने वाला (वर्धते) बढ़ता है (चारु) चलने वाला (आसु) इन [क्रियाओं] में (जिह्मानाम्) तिरछों में (ऊर्ध्वम्) ऊपर को (स्वयशा) अपने ही यश वाला (उपस्थे) उपस्थान में। (उभे) दोनों [द्यावापृथिवी] (त्वष्टुः) त्वष्टा से (बिभ्यतुः) डर गईं (जायमानात्) उत्पन्न हुए से। (प्रतीची)= प्रत्यक्ते=इस [त्वष्टा के] सामने गई हुई या लौटती हुई [द्यावापृथिवी] (सिंहं प्रति) सहने को, उस सिंह की (जोषयेते) सेवा करती हैं।

आविः=प्रकाश, आवेदनात्=आवेदन करने=बताने से। तत् त्य=उस में होने से, अथवा वह विस्तृत हुआ बढ़ता है सुन्दर इन [क्रियाओं] में। चारु=चरति से। जिह्म जिहीति(=ओहाक् त्यागे) से। ऊर्ध्वम्=उद्धृत होता है। स्वयशा अपने ही यश वाला। उपस्थे–उपस्थान=पास में। उभे–दोनों द्यावापृथिवी अथवा। अहोरात्र अथवा। दोनों अरणियां अथवा। प्रत्यक्ते= सामने गई। सिंह=सहन करना। प्रति+आसेवते=सेवा करती हैं ॥ १५ ॥

भाष्य—देवजन्म में त्वष्टा भी द्यावापृथिवी के पश्चात् जन्मा । उस के जन्म से ये दोनों डरीं, और उस की सेवा में लग गईं ॥ १५ ॥

वनस्पतिर्व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—[११. आप्री], वनस्पतिः । [निरुक्त ८ । ३ में] व्याख्या किया गया है । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १६ ॥

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥
[ऋ० १० । ११० । १० ॥]

उपावसृजात्मनात्मानं समञ्जन् देवानामन्नमृतावृतौ हवींषि काले काले । वनस्पतिः शमिता देवो अग्निरित्येते त्रयः स्वदयन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च ।

तत्को वनस्पतिः । यूप इति कात्थक्यः । अग्निरिति शाकपूणिः । तस्यैषापरा भवति ॥ १७ ॥

अर्थ—[हे वनस्पते] (उप अवसृज) समीप हो कर उत्पन्न करो=दो, (त्मन्या) आत्मा से [आत्मा को=अपने आप को] (समञ्जन्) प्रकट करते हुए (देवानाम्) देवों के (पाथः) अन्न को (ऋतुथा) कालकाल में (हवींषि) [और] हवियों को । वनस्पति, (शमिता) शमिता [और] (देवः अग्निः) अग्निः देव (स्वदन्तु) स्वादु बनाएं, (हव्यम्) हव्य को मधु से [और] घृत से ।

[हे वनस्पते] उप+अवसृज=समीप हो कर उत्पन्न करो=दो आत्मना +आत्मानम्=अपने द्वारा अपने को, समञ्जन्=प्रकट करते हुए देवानाम् अन्नम्=देवों के अन्न को । ऋतु में, ऋतु में=समय-समय पर हवियों को । वनस्पति, शमिता, देव अग्निः, ये तीनों स्वादु बनाएं हव्य को, मधु से और, घृत से और ।

तो कौन है वनस्पति । यूप [है], यह कात्थक्य [कहता है ।] अग्निः [है], यह शाकपूणि [कहता है ।] उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ १७ ॥

भाष्य—वेद में दैवी यज्ञों के सङ्केत और उन यज्ञों की क्रियाएं भरी पड़ी हैं। देवों का अन्न और हवियां बहुधा वर्णित हैं। उपस्थित मन्त्र के मधु और घृत पार्थिव समझे जा सकते हैं पर हैं अन्तरिक्षस्थ ॥ १७ ॥

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन ।
यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे ॥
[ऋ० ३ । ८ । १ ॥]

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवान् कामयमाना वनस्पते मधुना दैव्येन च घृतेन च । यदूर्ध्वः स्थास्यसि । द्रविणानि च नो दास्यसि । यद्वा ते इह क्षयो मातुरस्या उपस्थ उपस्थाने ।

अग्निरिति शाकपूणिः । तस्यैषापरा भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—(अञ्जन्ति) चुपड़ते हैं (त्वाम्) तुझे (अध्वरे) अध्वर में (देवयन्तः) देवों की इच्छा करने वाले (वनस्पते) हे वनस्पते (मधुना दैव्येन) दैव्य मधु से [और घृत से ।] (यत् ऊर्ध्वः) जो [तू] ऊपर की ओर उठा हुआ (तिष्ठ) खड़ा होगा, (द्रविणा) धनों को (इह) इस लोक में (धत्तात्) देगा । (यत् वा) जो और [तेरा] (क्षयः) घर=निवास स्थान (मातुः अस्याः) इस [पृथिवी] माता की (उपस्थे) गोद में [हो ।]

चुपड़ते हैं तुझे अध्वर में देवों की इच्छा करने वाले हे वनस्पते, मधु दैव्य से और घृत से और । जो ऊर्ध्व ठहरेगा । धन और हमें देगा । जो और तेरा किया गया क्षय=निवास इस [पृथिवी] माता की गोद में ।

अग्नि [है ।] यह शाकपूणि [कहता है ।] उस की यह अपरा=और [ऋक्] होती है ॥ १८ ॥

भाष्य—इस मन्त्र का तात्पर्य यूप और अग्नि इन दोनों से सम्बन्ध रखता है ॥ १८ ॥

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम् ।
प्रदक्षिणिद्रशनया नियूय ऋतस्य वक्षि पथिभी रजिष्ठैः ॥
[मै० सं० ४ । १३ । ७ ॥]

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि । हिरण्यपर्ण ऋतपर्ण । अपि वा— उपमार्थे स्यात् । हिरण्यवर्णपर्णेति । प्रदिवस्ते अर्थम् । पुराणस्ते सोऽर्थो यं ते प्रब्रूमः । यज्ञस्य वह पथिभिः । रजिष्ठैर्ऋजुतमैः । रजस्वलतमैः । तपिष्ठतमैरिति वा । तस्यैषापरा भवति ॥ १९ ॥

अर्थ—(देवेभ्यः) देवों के लिए (वनस्पते) हे वनस्पते (हवींषि) हवियों को (हिरण्यपर्ण) हे हिरण्य [सदृश] पत्तों वाले, (प्रदिवः) पुराना=सदा से चला आया [यह] (ते) तेरा (अर्थम्) अर्थ [है।] (प्रदक्षिणित्) प्रदक्षिण जाते हुए=देवहवि ले जाने के मार्ग से (रशनया) रस्सी से (नियूय) बांध कर (ऋतस्य) यज्ञ को (वक्षि)=वह=ले जाओ (पथिभिः) मार्गों से (रजिष्ठैः) सरलतमों से ।

देवों के लिए हे वनस्पते हवियों को, हे हिरण्य-[सदृश] पत्तों वाले, ऋत=यज्ञ रूप पत्तों वाले । अथवा उपमा अर्थ में होवे । हिरण्य रंग के पत्तों वाले, इति । प्रदिवः=पुराणः=सदा से चला आया तेरा वह अर्थ, जिस को तेरे लिए विशेष कहते हैं । [ऋतस्य]=यज्ञस्य=यज्ञ के ले जाओ मार्गों से । रजिष्ठैः=सरलतमों से । रजस्वलतमैः=आपः से अत्यन्त आर्द्र हुए [मार्गों से], तपिष्ठतमैः=अत्यन्त आग्नेय मार्गों से अथवा । उस की यह अपरा=और [चौथी ऋक्] होती ॥ १९ ॥

भाष्य—देवों को हवि ले जाने के मार्ग रजिष्ठतम, रजस्वलतम और तपिष्ठतम हैं । हवि ले जाना अग्निः का सदा से चला आया कर्म है । ऊपर के मार्गों में दो स्तर हैं । एक आप्य परमाणुओं से आर्द्र और दूसरा आग्नेय परमाणुओं से अत्यन्त तपा हुआ ॥ १९ ॥

वनस्पते रशनयां नियूयं पिष्टतंमया वयुनांनि विद्वान् ।
वहं देवत्रा दिधिषो हुवींषि प्र चं दातारंममृतेषु वोचः ॥
[मै० सं० ४ । १३ । ७ ॥]

वनस्पते रशनया नियूय । सुरूपतमया । वयुनानि विद्वान् । प्रज्ञानानि प्रजानन् । वह देवान् [यज्ञे] दातुर्हवींषि । प्रब्रूहि च दातारममृतेषु देवेषु ।

स्वाहाकृतयः । स्वाहा इत्येतत्सु आहेति वा । स्वा वागाहेति वा । स्वं प्राहेति वा । स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा । तासामेषा भवति ॥ २० ॥

अर्थ—(वनस्पते) हे वनस्पते (रशनया) रस्सी से (नियूय) बाध कर (पिप्तमया) सुरूप वाली से (वयुनानि) प्रज्ञानों=प्रकृष्ट ज्ञानों को (विद्वान्) जानता हुआ। (वह) ले जाओ (देवत्रा) देवों के प्रति (दिधिष) दाता=देने वाले की (हवींषि) हवियों को (च) और (दातारम्) दाता को (अमृतेषु)=देवेषु=देवों में (प्रवोच) कहो= उद्घोषित करो।

हे वनस्पते रस्सी से बाध कर सुरूपतमया=अत्यन्त रूप वाली से वयुनानि=उत्कृष्ट ज्ञानों को विद्वान्=प्रजानन्=पूर्ण जानता हुआ, ले जा देवों को [यज्ञ में] दाता की हवियों को। प्रब्रूहि=विशेष कहो और दाता को [=दाता के विषय में] देवों में।

[१२ आप्री] स्वाहाकृतय । स्वाहा, यह सु+आह=सुन्दर कहना अथवा। स्वा वाग्=अपनी वाक् कहती है अथवा। स्वम्=अपने को आह= कहता है अथवा। सु+आहुतम्=सुन्दर होम योग्य हवि को जुहोति= होमता है अथवा। तासाम्=उन [स्वाहाकृतियों] की यह [ऋक्] होती है ॥ २० ॥

भाष्य—वनस्पति अथवा अग्नि की सुरूपतमा रशनायें=रस्सियां क्या हैं, यह जानना चाहिए। हवि वाहक अग्नि का इन रशनाओं के साथ कैसा रूप है यह अन्वेषण्य है। ये हवियां अमृतों=देवों में क्यों कही जाएं, ये सब विचारणीय हैं ॥ २० ॥

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥
[ऋ० १० । ११० । ११ ॥]

सद्यो जायमानो निरमिमीत यज्ञम्। अग्निर्देवानामभवत् पुरोगामी। अस्य होतुः प्रदिशि ऋतस्य वाचि आस्ये स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवा, [इति यजन्ति]।

इतीमा आप्रीदेवता अनुक्रान्ता।

अथ किंदेवताः प्रयाजानुयाजाः। आग्नेया इत्येके ॥ २१ ॥

अर्थ—(सद्यः) तत्काल (जातः) उत्पन्न हुआ (वि अमिमीत) बनाता है (यज्ञम्) यज्ञ को (अग्निः) अग्निः (देवानाम्) देवों का (अभवत्) हुआ (पुरः गाः) आगे जाने वाला । (अस्य होतुः) इस होता की (प्रदिशि) पूर्व दिश में [=आहवनीय में] (ऋतस्य) आए हुए की (वाचि) वाक् में (स्वाहाकृतम्) स्वाहा की हुई को (हविः) हवि को (अदन्तु) खाएं (देवाः) देव ।

तत्काल उत्पन्न हुआ हुआ बनाता है । अग्निः देवों का हुआ पुरोगामी =अग्रगामी । इस होता की प्र-दिशि=प्रकृष्ट दिशा में=पूर्व दिशा में, आए हुए की वाक् में, मुख में स्वाहा की हुई हवि को खाएं देव । [इस अभिप्राय से यज्ञ करते हैं ।]

ये आप्री देवता अनुक्रम से कह दिए ।

अब किस देवता वाले प्रयाज और अनुयाज [हवियाग होते हैं ।] अग्निः देवता वाले हैं, यह एक [पक्ष के आचार्य कहते हैं] ॥ २१ ॥

भाष्य—ब्राह्मण ग्रन्थों में संसार के मूलभूत अग्निः की उत्पत्ति कई बार हुई, कही गई है यह किस बार की अग्निः की उत्पत्ति का उल्लेख है, यह विचारणीय है । पुरोगाः पद के आधार पर अग्निः का अग्रणी निर्वचन विचारा गया ॥ २१ ॥

प्रयाजान्मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम् ।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः ॥

[ऋ० १० । ५१ । ८ ॥]

तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः ।
तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः ॥

[ऋ० १० । ५१ । ९ ॥]

आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् ।

छन्दोदेवता इत्यपरम् ।

छन्दांसि वै प्रयाजाश्छन्दांस्यनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् ।

ऋतुदेवता इत्यपरम् ।

ऋतवो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् ।

पशुदेवता इत्यपरम् ।

पशवो वै प्रयाजाः पशवोऽनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् ।

प्राणदेवता इत्यपरम् ।

प्राणा वै प्रयाजाः प्राणा वा अनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् ।

आत्मदेवता इत्यपरम् ।

आत्मा वै प्रयाजा आत्मा वा अनुयाजाः । इति च ब्राह्मणम् । आग्नेया इति तु स्थितिः । भक्तिमात्रमितरत् । किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन् । [ऐ० ब्रा० ११ । ८] इति ह विज्ञायते ।

तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि तेषां । वासिष्ठम् आत्रेयं वाध्र्यश्वं गार्त्समदम्-इति नाराशंसवन्ति । मैधातिथं दैर्घतमसं प्रैषिकम्-इत्युभयवन्ति । अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति तनूनपात्वन्ति ॥ २२ ॥

इत्यष्टमोऽध्याय ।

अर्थ—[सौचीक अग्नि और विश्वेदेवा के संवाद में सौचीक अग्नि कहता है ।] (प्रयाजान्) प्रयाज होमों को (अनुयाजान् च) और अनुयाज होमों को (केवलान्) केवल [मेरे निमित्त, यहाँ और देवताओं के लिए] (ऊर्जस्वन्तम्) ऊर्जस्वन्तरूप सारभूत (हविषः) हवि के (दत्त) दो (भागम्) भाग को । (घृतम्) घृत को और (अपाम्) आप के, (पुरुषं च ओषधीनाम्) और सारभूत भाग को [दो] ओषधियों के । (दीर्घम् आयुः अस्तु) दीर्घ आयु [मेरा] हो (देवाः) हे [विश्वे] देवाः ।

[उत्तर में विश्वे देवा ने कहा—]

(तव) तेरे प्रयाज होम और अनुयाज होम (केवलाः) केवल (ऊर्जस्वन्तः) [और] सारभूत (हविषः) हवि के (सन्तु) हों, भाग । तेरा हे अग्ने, यज्ञ यह हो (सर्वः) सारा । तेरे लिए (नमन्ताम्) झुकें दिशाएं चारों।

[इस प्रकार प्रयाज और अनुयाज आग्नेय=अग्निः देवता के हैं ।] आग्नेय निश्चय ही प्रयाज [और] आग्नेय अनुयाज [है ।] यह और ब्राह्मण [है ।]

छन्दो देवता [वाले] यह अपर [दूसरा] मत [है ।]

छन्द निश्चय से प्रयाज [और] छन्द अनुयाज [हैं ।] यह और ब्राह्मण [है]

ऋतु देवता [वाले] यह अपर [तीसरा] मत [है ।]

ऋतुएं निश्चय से प्रयाज [और] ऋतुएं अनुयाज [है ।] यह और ब्राह्मण [है ।]

पशु देवता [वाले] यह अपर [चौथा] मत [है ।]

पशु निश्चय से प्रयाज [और] पशु अनुयाज [हैं ।] यह और ब्राह्मण [है ।]

प्राण देवता [वाले] यह अपर [पांचवां] मत [है ।]

प्राण निश्चय से प्रयाज [और] प्राण अनुयाज [हैं ।] यह और ब्राह्मण [है ।]

आत्म देवता [वाले] यह अपर [छठा] मत [है ।]

आत्मा निश्चय से प्रयाज [और] आत्मा अनुयाज [है ।] यह और ब्राह्मण [है ।]

आग्नेय [हैं], यह वस्तुस्थितिः=निष्कर्ष है । भक्तिमात्रम्=उपचार मात्र=गुणों का सूक्ष्म विभाग मात्र इतरत्=दूसरे [मत हैं ।]

किस लिए फिर यह कहा जाता है ?, जिस देवता के लिए हवि ग्रहण की हुई हो, उस का मन से ध्यान करे वषट् करिष्यन्=वषट् [कार] करते हुए । यह विशेष ज्ञान है ।

तो ये एकादश आप्री सूक्त [हैं ।] तेषाम्=उन मे से वासिष्ठम्=वसिष्ठ का [७ । २ । २] आत्रेयम्=अत्रि का [५ । ५ । ५] वाध्यश्वम्=वध्र्यश्व का [१० । ६ । २] और गार्त्समदम्=गृत्समद का [२ । ३ । २] ये नराशंस देवता वाले [हैं ।] मेधातिथि का [१।१३।२] दीर्घतमा का [१ । १४२ । २] [और] प्रैषों [मैं० सं० ३ । ११ । १ ॥] मे कहा, ये दोनों देवता [=नराशंस और तनूनपात्] वाले [हैं ।] इन से भिन्न [अर्थात्—अगस्त्य का अङ्गिरा का १ । १८८ । ६, विश्वामित्र का ३ । ४ । ४, कश्यप का ९ । ५ । ८, जमदग्नि का १० । ९ । ११] तनूनपात् वाले हैं ॥ २२ ॥

भाष्य—भौतिक अग्नि और विद्युत् आधिदैविक या आधिभौतिक हैं । अथवा घृतम्, संसार में स्नेहारा प्राण का ही एक रूप है । अन्तरिक्ष और द्यौ में यह कैसे बनता है यह जानना चाहिए । आप्री देवता में नराशंस और तनूनपात् देवता का विकल्प माना गया है । अतः वेद में आप्री सूक्तों भी में कहीं नराशंस, कहीं तनूनपात् और कहीं दोनों ही देवता हैं ॥ २२ ॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ।

अथ नवमोऽध्यायः

अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः । तेषामश्वः प्रथमागामी भवति । अश्वो व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

अर्थ—अब जो पृथिवी मण्डल के आश्रय वाले सत्त्वानि=पदार्थ स्तुति को प्राप्त करते हैं, उन्हें यहां से आगे क्रम से कहेंगे ।

१. अश्वः । उन में से अश्व प्रथमागामी [निघण्टु ५ । ३ । १] होता है । अश्व व्याख्यात हो चुका है [निरु० २ । २७ ॥] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १ ॥

भाष्य—अब निघण्टु के पांचवें अध्याय के तीसरे खण्ड से यास्क का भाष्य आरम्भ होता है । निघण्टु का पांचवां अध्याय दैवत प्रकरण का है । उस का आरम्भ अग्निः देव से हुआ है । अग्निः पृथिवी स्थानी है अब इस दैवत प्रकरण में उन दिव्य पदार्थों की व्याख्या है । जिन का आयतन पृथिवी मण्डल तक है । वेद में अश्वः, शकुनिः, मण्डूकाः आदि ऐसे अनेक पद हैं, जो दिव्य पदार्थों के द्योतक हैं । उन की गणना दैवत प्रकरण में ही ठीक थी ।

उन पदार्थों का आयतन पृथिवी तक है । पृथिवी के प्रसङ्ग में उन की स्तुति देवतावत् नहीं, प्रत्युत साधारण पदार्थवत् होती है । उन की स्तुति प्रयुक्त नहीं हुई, पर उन को स्तुति प्राप्त हो गई है । अतः यास्क ने स्पष्ट लिखा कि—

यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते । इस पृथिव्यायतनानि पद की व्याख्या शौनक ने बृहद्देवता में की है । यथा—

यद्यत्र पृथिवीस्थानं पार्थिवं चाग्निमाश्रितम् । १ । १०५ ॥

इन पदार्थों की पहुंच पृथिवी तक इस लिए है कि वे पार्थिव अग्नि का आश्रय भी लिए हुए हैं । इसी अभिप्राय से द्यावापृथिवी भी पार्थिव अग्निः के आश्रय को लेते हैं । अन्यथा द्यौ का पृथिवी आयतन हो ही नहीं सकता । पार्थिव अग्नि के आश्रय पर होने से ही ये ३६ पदार्थ जिन में द्यावापृथिवी आदि भी हैं, निघण्टु

के इस ४ । ३ खण्ड में पढ़े गए हैं। हां, इतना ठीक है कि इन में से कई एक पदों से पार्थिव पदार्थों के नाम भी सर्गारम्भ में रखे गए थे। इस विषय पर विचार करते समय पूर्व निरुक्त २ । २४ का हमारा भाष्य भी देखना चाहिए।

इन सब पदों का दिव्य अर्थ वेदविद्या की सूक्ष्मता पर आश्रित है। जब इन्द्र दिव्य है, तो उस का धनु, ज्या और इषु भी दिव्य हैं। वे दिव्य होते हुए भी देवता नहीं हैं। इसी लिए निरुक्त ७ । ४ में कहा—अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते। यथा—अश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि। • • इतरेतरजन्मानो भवन्ति।

अर्थात्—यथा सूर्य के अश्व और रथ सूर्य से उत्पन्न हुए हैं, वैसे इन्द्र के धनु आदि भी इन्द्र से ही उत्पन्न हुए हैं। पर यह धनु पृथिवी और पार्थिव अग्नि पर आश्रित है। अतः देवता न होने पर भी पृथिवी अग्नि पर आश्रित पदार्थों ने भी स्तुति प्राप्त की है ॥ १ ॥

अश्वो वोळ्हा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।

शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥

[ऋ० ९ । ११२ । ४ ॥]

अश्वो वोढा। सुखं वोढा [रथं वोढा।] सुखमिति कल्याणनाम। कल्याणं पुण्यम्। सुहितं भवति। [सुहितं गम्यतीति वा। हसनीता वा। पाता वा पालयिता वा। शेपमृच्छतीति। वारि वारयति।] मण्डूको व्याख्यातः। तस्यैषा भवति ॥ २ ॥

अर्थ—[इस मन्त्र का ऋषि शिशु आङ्गिरस है। देवता बृहद् देवता के अनुसार इन्द्र और अन्यत्र पवमान सोम है।] (अश्व) अश्व, (वोळ्हा) वाहक=सेचने वाला (सुखम्) सुन्दर कल्याणयुक्त और पुण्य (रथम्) रथ को। (हसनाम्) हसना को (उप मन्त्रिणः) मन्त्रणा वाले का (शेप') शेप। (रोमण्वन्तौ भेदौ) रोमों वाले दो भेद। (वारिन्) वारि को (मण्डूक) मण्डूक (इच्छति) चाहता है। (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (इन्दो) हे सोम (परि स्रव) बह जाओ।

अश्वः वोढा=अश्व वाहक । सुखपूर्वक वाहक । [रथ को खींचने वाला ।] सुख यह कल्याण का नाम है । कल्याण पुण्य [है ।] सुहितम्=सुन्दर हित होता है । [सुन्दर हित को गम्यति=पहुँचाता है अथवा । हसैता वा । पालक अथवा, रक्षक अथवा । शेप को प्राप्त होता है । वारि=[तृषा को निवारण करता है ।] मा नो व्याख्यात है । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २ ॥

भाष्य—इस मन्त्र में अनेक संकेत हैं । इन्द्राय इति पाठ इस सूक्त के चारों मन्त्रों के अन्त में है । उस से पूर्व का सारा पाठ एक अनुष्टुप् सा है । इस मन्त्र के भाष्यांश का कोष्ठगत पाठ भी निरुक्त की एक शाखा में नहीं है । दुर्गवृत्ति इस सारे पाठ पर नहीं है । संभवतः यह खण्ड किसी अन्य निरुक्त से यहां समाविष्ट हुआ है । इस के विषय में सरूप के संस्करण का टिप्पण ५ द्रष्टव्य है ॥ २ ॥

मा नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो अ॒र्य॒मायुरिन्द्र॑ ऋभु॒क्षा म॒रुतः॒ परि॑ ख्यन् ।
यद्वा॒जिनो॑ दे॒वजा॑तस्य॒ सप्तेः॑ प्रव॒क्ष्यामो॑ वि॒दथे॑ वी॒र्या॑णि ॥

[ऋ० १ । १६२ । १ ॥]

यद्वाजिनो देवैर्जातस्य सप्तेः सरणस्य प्रवक्ष्यामो यज्ञे विदथे वीर्याणि । मा नस्त्वं मित्रश्च वरुणश्चार्यमा चायुश्च वायुः । अयनः । इन्द्रश्चोरुक्षयणः । ऋभूणां राजेति वा । मरुतश्च परिख्यन् ।

शकुनिः । शक्नोत्युन्नेतुमात्मानम् । शक्नोति नदितुमिति वा । शक्नोति तकितुमिति वा । सर्वतः शङ्करोऽस्त्विति वा । शक्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—(मा) मत (नः) हमें, मित्र, वरुण, अर्यमा, आयु, इन्द्र [जो] ऋभु+क्षा=विस्तृत निवास वाला, [और] मरुतः (परिख्यन्) प्रतिवाद करें ।

(यत् वाजिनः) जो वाजी के (देवजातस्य) देवों से उत्पन्न हुए के (सप्तेः) अश्व के (प्रवक्ष्यामः) भले प्रकार कहेंगे (विदथे) यज्ञ में (वीर्याणि) पराक्रमों को । जो वाजी के, देवों से उत्पन्न हुए के, सप्तेः=अश्व

के सरण्यु=सरकने वाले के, अने प्रकार कहेंगे, यज्ञ में पराक्रम को। सन हम तुम, मित्र और वरुण और, अर्यमा और, आयु=वायु और अयन। इन्द्र और, उरुक्षयण=विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में निवास वाला। ऋभुओं का राजा अथवा, मरुत और, परिख्यन्=प्रतिवाद करें।

४. शकुनि। शक्नोति=समर्थ होता है उन्नेतुम्=ऊपर ले जाने को आत्मानम्=अपने आप को। समर्थ होता है नदितुम्=नाद करने को=बोलने को अथवा। समर्थ होता है तकितुम्=उड़ने को अथवा। सब ओर से कल्याणकारी हो अथवा। शक्नोति से अथवा। उस की यह [ऋक्] होती है॥ ३॥

भाष्य—अश्ववाची वाजी शब्द गन्धर्वों में प्रयुक्त होता है, यथा—

[अश्वो] वाजी [भूत्वा] गन्धर्वान् [अवहत्]

शत० १०। ६। ४। १॥

अयन पद अस्पष्ट है। अथवा वायुरयन इन्द्रश्च, होवे। इन्द्र ऋभुओं का राजा है। प्रब्रवाम बहुवचन का प्रयोग द्रष्टव्य है। वेदमन्त्र स्पष्ट कहता है कि यहां देवजातस्य वाजी का वर्णन है। यह वाजी सूर्य [illegible] सम्बन्ध रखता है। पर यज्ञ का आश्रय पार्थिव अग्नि देव भी है। जिस प्रकार वैश्वानर अग्नि सूर्य से सम्बन्ध रख कर भी यह पार्थिव अग्नि होता है वैसे ही इस अश्व के विषय में समझना चाहिए। अवर कालीन याज्ञिकों ने इस मन्त्र का सम्बन्ध यज्ञ में घोड़े के काटने आदि के साथ जोड़ा है यह पक्ष प्रशस्त नहीं॥ ३॥

कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा का चिदभिभा विश्व्या विदत्।

[ऋ० २। ४२। १॥]

न्यक्रन्दीज्जन्म प्रब्रुवाणः। यथाऽस्य शब्दस्तथा नाम। ईरयति वाचम्। ईरयितेव नावम्। सुमङ्गलश्च शकुने भव। कल्याणमङ्गलः। मङ्गलं गिरतेर्गृणात्यर्थे। गिरत्यनर्थानिति वा। अङ्गलमङ्गवत्। मज्जयति पापकमिति नैरुक्ताः। मा गच्छत्विति वा। मा च त्वा काचित्। अभिभूतिः सर्वतो विदत्।

गृत्समदमर्थमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे । तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—(कनिक्रदत्) वार-वार कूजता हुआ (जनुषम्) [अपने] जन्म को (प्रब्रुवाणः) कहता हुआ (इयर्ति) प्रेरता है (वाचम्) वाणी को, (अरितेव) नाविक जैसे (नावम्) नाव को । (सुमङ्गलः च) सुन्दर मङ्गल वाला (शकुने) हे शकुने (भवासि) हो, (मा त्वा) मत तुझे [हे शकुने] (का चित्) कोई भी (अभि भा) तिरस्कार (विश्व्या) किसी ओर से (विदत्) जाने ।

नि+अक्रन्दीत्=वार-वार कूजता है; जन्म को बहुत कहता हुआ ।

जैसा इस [शकुनि] का शब्द है, वैसा [इस का] नाम [है ।] ईरयति वाचम्=प्रेरता है वाणी को, ईरयिता इव=नाविक के समान नाव को । सुन्दर मङ्गलमय हे शकुने=चिड़े होवो । कल्याण=सुन्दर मङ्गल वाला । मङ्गलम्=गिरति से, गृणाति=स्तुति करता है, अर्थ में । गिरति=निगलता है अनर्थों को अथवा । अङ्गलम्=अङ्ग वाला । मज्जयति=डुबा देता है पाप को, यह नैरुक्त [कहते हैं ।] मुझे प्राप्त हो अथवा । मत ओर त्वा=तुझे कोई [अभिभा]=अभिभूतिः किसी ओर से विदत्=जाने ।

गृत्समद को अर्थम् अभ्युत्थितम्, किसी अर्थ के लिए उठ कर तय्यार हुए को [शकुनिः]=कपिञ्जल=चिड़ा ने अभिववाशे [सिद्धि सूचक] शब्द किया । उस की कहने वाली यह ऋक् होती है ॥ ४ ॥

भाष्य—जैसा कूजन शब्द वैसा कपिञ्जल नाम । शब्दानुकृति की छाया इस नाम में दिखाई देती है । ईरयिता=प्रेरक=नाविक । अरित, यावनी अपभ्रंश eretes=नाविक । अङ्गरेजी अपभ्रंश oar=चप्पु इसी से सम्बन्ध रखता है । मङ्गल पद के निर्वचन में यास्क ने अपूर्व ऊहा प्रदर्शित की है । पक्षियों के वाशन विषय में पराशर आदि की ज्योतिष संहिताओं में उल्लेख मिलता है ॥ ४ ॥

भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद ।
भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जलः ॥

[खिल—२ । ४२ । १ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता । गृत्समदो गृत्समदन । गृत्स इति मेधाविनाम । गृणातेः स्तुतिकर्मणः ।

मण्डूका मज्जूका मज्जनात् । मदतेर्वा मोदतिकर्मणः । मन्दतेर्वा । तृप्तिकर्मणः । मण्डयतेरिति वैयाकरणाः । मण्ड एषामोक इति वा । मण्डो मदेर्वा । मुदेर्वा । तेषामेषा भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—भद्र कहो दक्षिण से भद्र उत्तर से कहो । भद्र सामने से हमारे लिए कहो भद्र पीछे से हे कपिञ्जल ।

यह यह [ऋक्] स्पष्ट व्याख्यात है । गृत्समद =मेधा और हर्ष वाला । गृत्स यह मेधावि का नाम [है ।] गृणाति से स्तुति अर्थ वाले से ।

३ मण्डूकाः । मज्जूका =डुबकी लगाने से । मदति से अथवा । मोदति=हर्षित होता है अर्थ वाले से । मन्दति से अथवा तृप्ति अर्थ वाले से । मण्डयति से यह वैयाकरण [बताते हैं ।] मण्ड=जल मे इन का ओक =निवास [है] अथवा । मण्ड मद=हर्ष से अथवा मुद से अथवा । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ५ ॥

भाष्य—वैयाकरणों ने मण्ड धातु कल्पित किया है । भद्र पद प्रतीक वाला मन्त्र खिल पाठ में मिलता है । यास्क ने पूर्व खण्ड के अन्त में इसे ऋक् कहा है । निस्सन्देह यह मन्त्र किसी आर्ष शास्त्र में था ॥ ५ ॥

सं॒व॒त्स॒रं श॑शया॒ना ब्रा॑ह्म॒णा व्र॑तचा॒रिणः॑ ।
वाचं॑ प॒र्जन्य॑जिन्वितां॒ प्र म॒ण्डूका॑ अवादिषुः ॥

[ऋ० ७ । १०३ । १ ॥]

संवत्सरं शिश्याना ब्राह्मणा व्रतचारिणोऽब्रुवाणाः । अपि वोपमार्थे स्यात् । ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति । वाचं पर्जन्यप्रीता प्रावादिषुर्मण्डूकाः ।

वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव । तं मण्डूका अन्वमोदन्त । स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव । तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(संवत्सरम्) संवत्सर पर्यन्त (शशयानाः) [मूक] लेटे रहने वाले (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (व्रतचारिणः) व्रतचारी । (वाचम्) वाणी को (पर्जन्यजिन्विताम्) मेघ से प्रीति की गई को [अनुमोदन करते हुए] (मण्डूकाः) मण्डूक (प्र अवादिषुः) बोले ।

संवत्सर पर्यन्त शिश्याना:=लेटे हुए ब्राह्मणा=ब्राह्मण, [मौन] व्रत पर आचरण करने वाले । अथवा उपमा अर्थ मे होवे । ब्राह्मणों के समान व्रतधारी । वाणी को पर्जन्य से प्रीति की गई को बोले मण्डूक । वसिष्ठ ने वर्षा की कामना वाले ने पर्जन्य की स्तुति की । उस को मण्डूकों ने अनुमोदन किया । वह [वसिष्ठ] मण्डूकों को अनुमोदन करते हुओ को देख कर तुष्टाव=स्तुति करता हुआ । उस के कहने वाली यह ऋक् होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—संवत्सर पद का उपचार मात्र है । अधिक से अधिक मण्डूक दस मास लेटे रहते हैं । ये मण्डूक मध्यम स्थान के देवी ब्राह्मण है । वे ही सोमिनः है । इसी लिए इस सूक्त की आठवीं ऋक् में कहा है—

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित् ॥

अर्थात्—ब्राह्मणों ने सोम वालों ने [वेद] वाक् को किया । ब्रह्म=वेद को करते हुए वार्षिक को । अध्वर्यु तपे हुए, स्वेद वाले होते हुए प्रकट होते हैं, गुह्य नहीं कोई भी ।

इस सरल पर अत्यन्त गूढ रहस्य वाले मन्त्र का एच. डी. वेलङ्करजी ने निम्न उद्धृत अनुवाद अंग्रेजी में किया है—

"These Soma-offering priests have raised their voice, reciting their annual prayer. These perspiring priests surrounded by heat, all come out, none lies concealed."

यहां ब्राह्मणासः और अध्वर्यवः इन दो भिन्न पदों का एक ही अर्थ priests उचित नहीं ठहरता । और ब्रह्म पद का अर्थ भी ठीक नहीं किया गया । यदि वेलङ्करजी को वेद ज्ञान का मूल तत्त्व ज्ञात होता, और वे मन्त्रों की उत्पत्ति का दिव्य क्रम ध्यान में किए होते, तो ऐसा भद्दा अर्थ न करते । मण्डूकों को केवल पार्थिव मण्डूक समझना ही इस भूल का कारण है ।

मैकडानल ने ब्राह्मणास और अध्वर्यव' पदों का अर्थ नहीं किया। यह अच्छा किया। पर ब्रह्म का prayer अर्थ उस ने भी युक्त नहीं किया। यहां ब्रह्म पद मन्त्र के लिए और वाचम् पद मन्त्रों अथवा वाणी के लिए ही हैं। यह भाव समझते ही वेद का दैवी स्वरूप सामने आ जाता है। मैकडानल और वेल्डनर ने वाचमक्रत का यह अनुवाद किया—'raised their voice'

इस के साथ तुलना कीजिए द्वितीय, सप्तम और दशम मण्डल के अगले मन्त्रों की—

१. उक्षा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि। २।२३।२॥

२ ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन्॥ २।४०।८॥

३ ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्ति विप्राः। ७।२२।९॥

४. प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य॥ ७।३६।१॥

५. ब्रह्म कृण्वन्तो हरिवो वसिष्ठाः॥ ७।३७।४॥

६ स्युमाक्ष वभ्रवः वाचमक्रत॥ १०।९४।२॥

७ वसिष्ठासो पितृवद् वाचमक्रत।[1] १०।६६।१४॥[2]

८ सुपर्णा वाचमक्रत। १०।९४।५॥[3]

जो मण्डूक दिव्य वाक् के करने वाले हैं वे वेतस आदि के साथी भौतिक परमाणुओं के समान अन्तरिक्ष्य हैं। उन्हीं के कुछ गुणों के आधार पर पृथिवी पर के मण्डूकों का नामकरण हुआ है। इन का आश्रय पार्थिव अग्नि पर है। अतः मण्डूक सूक्त में पार्थिव मण्डूकों का ग्रहण प्रधान है पर सर्वत्र ग्रहण नहीं हो सकता। यास्क की महती सूक्ष्मेक्षिका है। अतः उस ने पार्थिव अंश के जानने के लिए प्रस्तुत मन्त्र का एक दूसरा अर्थ भी बता दिया। वह है—ब्राह्मणा इव व्रतचारिणः इति। ब्राह्मणों के समान व्रत का आचरण करने वाले। इस उपमा से मन्त्र में पार्थिव मण्डूकों का कुछ आभास मिल जाता है।

आधिभौतिक मण्डूकों का वर्णन शतपथ में है। यथा—

---

१ बृहद्देवता ७।१०७ के अनुसार यह—स्तौति " वाचं च मध्यमाम्। मध्यमा वाक् की स्तुति है।

२ पूर्व २। २४ के भाष्य में भी उद्धृत। तथा देखो पूर्व ६।६॥

एतद्ध यैतं प्राणा ऋषयो ऽग्रे ऽग्नि समकुर्वंस्तमङ्गिरसोऽस्ता आपः समस्कन्दंस्ते मण्डूका अभवन् । ६ । १ । २ । २१ ॥

मन्त्र में ब्राह्मण के मन की महती प्रशंसा है। इस मन्त्रगत ब्राह्मण पद के निर्वचन का उदाहरण देते हुए, भट्ट कुमारिल ने—ब्राह्मणो.........ब्रवणात् इति, पाठ निरुक्त से उद्धृत किया है। इस पर कुमारिल ने व्यङ्ग से उपहास भी किया है। यह बात सरूप जी के संस्करण के पृ० १६० के १६ टिप्पण में व्यक्त की गई है। यह टिप्पण मेरे द्वारा लिखाया गया था। निरुक्त के उपलब्ध पाठों में यह निर्वचन बदल कर, और अब्रुवाणाः निर्वचन दिया कर, उस का व्रतचारिणः पद से सम्बन्ध जोड़ा गया है। सम्भवतः कुमारिल की चोट से भयभीत हो कर यह पाठ बदला गया है। पर कुछ हस्तलेखों से उस पुराने पाठ का अस्तित्व अब भी ज्ञात हो जाता है।

यहां पूरे प्रसङ्ग में वसिष्ठ और मण्डूक दोनों दिव्य हैं ॥ ६ ॥

उप प्र वद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि ।
मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥
[अथ० ४ । १५ । १४ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ।

अक्षाः । अश्नुवत एनानिति वा । अभ्यश्नुवत एभिरिति वा । तेषामेषा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—समीप में बोल, हे मण्डूकि, वर्षा को कहो हे तैरने वाली, मध्य में ह्रद=तड़ाक के तैरो पृथक् (=फैला) कर के चारों पैरों को ।

यह स्पष्ट व्याख्यात है ।

७. अक्षाः । व्यापते हैं इन को [द्यूत खेलने वाले] अथवा । सब ओर से प्राप्त करते हैं, [धन को] इन [अक्षों] के द्वारा अथवा । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ७ ॥

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः ।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥
[ऋ० १० । ३४ । १ ॥]

प्रवेपिणो मा महतो विभीदकस्य फलानि मादयन्ति । प्रवातेजा प्रवतेजा । इरिणे वर्तमाना । इरिणं निर्ऋणम् । ऋणातेः । अपार्णं भवति । अपरता अस्मादोषधय इति वा । [सोमस्येव मौजवतस्य भक्ष ।] मौजवतो मूजवति जात । मूजवान् पर्वत । मुञ्जवान् । मुञ्जो विमुच्यत इषीकया । इषीका इषतेर्गतिकर्मण । इयमपीतरेषीका एतस्मादेव । विभीदको विभेदनात् । जागृविर्जागरणात् । मह्यमचच्छदत् ।

प्रशंसत्येनान्प्रथमया । निन्दत्युत्तराभि । ऋषेरक्षपरिद्यूनस्यैतदार्षं वेदयन्ते ।

प्रावाणो हन्तर्वा । गृणातर्वा । गृह्णातेर्वा । तपामपा भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—(प्रावेपा) आगे पीछे हिलते हुए–कांपते हुए (मा) मुझे (बृहत) महान् [वृक्ष के फल अक्ष] (मादयन्ति) मद युक्त करते हैं (प्रवात+जा) प्रकृष्ट वात स्थान में जन्मे (इरिणे) निरृण स्थान में (वर्तमाना) वर्तमान । (सोमस्य) सोम के (मौजवतस्य) मूजवान् पर्वत के (भक्ष इव) भक्ष=ग्रास के समान (विभीदक) विभीदक [वृक्ष का फल–अक्ष] (जागृवि) जगाने वाला (मह्यम्) मेरे लिए (अचच्छदत्) प्रशंसा करता है ।

प्रवेपिण=कांपते हुए मा–मुझे महान विभीदक वृक्ष के फल हर्षित करते [illegible] । प्रवातेजा=प्रवतजा=उत्तम वातस्थान में जन्मे इरिणे=निर्ऋणे ऋण रहित [जहां का ऋण पुत्र पौत्र में नहीं जाता] स्थान में वर्तमान । ऋणाति से अप ऋण–जल रहित [भूमि] होती है । अपरता=चली गई हैं इस [स्थान] से ओषधियां अथवा । सोम के मूजवान् पर्वत पर उगे के भक्ष के समान । मौजवत=मूजवान में जन्मा । मूजवान् पर्वत [है ।] मुञ्जवान्–मुञ्ज वाला । मुञ्ज विमुक्त की जाती है इषीकया=इषीका–तीली से । इषीका इषति से, गति अर्थ वाले से । यह भी दूसरी इषीका इस से ही [है ।] विभीदक विभेदन=तोड़ने-फोड़ने से । जागृवि–जागरण से । मुझे अचच्छदत्=उत्साहित किया ।

प्रशंसा करता है एनान्–इन [अक्षों] को पहली ऋचा से । निन्दा करता है अगली [ऋचाओं] [illegible] । ऋषि का अक्ष परिद्यूनस्य=अक्षों से उदास हुए का यह आर्ष [है ऐसा] बताते हैं ।

५. ग्रावाणः । हन्ति से अथवा । गृणाति से अथवा । गृह्णाति से अथवा । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ८ ॥

भाष्य—प्रावेपा मा इति, मन्त्र का ऋषि कवष ऐलूष, अथवा अक्ष मौजवत है । यह कवष दाशराज युद्ध में स्मरण किया गया है । यह युद्ध एक विशुद्ध आधिभौतिक घटना है । उस में भाग लेने वाले भी आधिभौतिक हैं । अक्ष मौजवत भी आधिभौतिक है । वह द्यूत का ठीपा अथवा नर्द नहीं । मूजवान् पर्वत पृथिवी और अन्तरिक्ष दोनों स्थानों में है । सोम उसी से सम्बन्ध रखता है । वेद में बताया अक्ष का ठीपा मूजवान् पर्वत के वृक्ष से बना माना गया है । निस्सन्देह यह समस्त वर्णन साधारण पार्थिव द्यूत-विषयक नहीं । हां, पार्थिव द्यूत की छाया इस में अवश्य है । इसी लिए यास्क ने अक्षाः को पार्थिव आयतन का कहा है ।

यास्क के अनुसार इस सूक्त में द्यूत निन्दा और कृषि प्रशंसा है । सर्वानुक्रमणी में अन्तरिक्ष प्रशंसा और अक्षकितव निन्दा दोनों हैं । इसी से स्पष्ट है कि अक्ष प्रशंसा का अंश दिव्य और निन्दा वाला पार्थिव है ।

अक्षसूक्त में, न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत । ५ ॥ त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा । ८ ॥ दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः । ९ ॥ पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून् सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥ ११ ॥ तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥ १३ ॥ ये पाठ द्रष्टव्य हैं ।

बभ्रु अश्वों का सम्बन्ध इन्द्र से है । दिव्य अङ्गार क्या हैं । सविता का कवष एलूष से क्या सम्बन्ध है । ये सब तथ्य इस सूक्त के आधिदैविक अर्थ का संकेत करते हैं ।

इस से आगे ग्रावाणों का कथन है ॥ ८ ॥

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः ।
यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः ॥
[ऋ० १० । ९४ । १ ॥]

प्रवदन्त्वेते । प्रवदाम वयम् । ग्रावभ्यो वाचं वदत वदद्भ्य । वदद्भ्य पर्वता । अदरणीया । सह सोमम् । आशव क्षिप्रकारिण । श्लोकं शृणोत । घोषो घुष्यत । सोमिनो यूय स्थेति वा । सोमिनो गृहेष्विति वा ।

येन नरा प्रशस्यन्त स नाराशस मन्त्र । तस्यैषा भवति ॥ ९ ॥

अर्थ—[अर्बुद काद्रवेय सर्प ग्रावाण को मूर्तिमान् के समान मान कर स्तुति करता है ।] (एते) ये [ग्राव] (प्रवदन्तु) पूरा बोले (वयम्) हम (प्रवदाम) पूरा बोले । (ग्रावभ्य) ग्रावों के लिए (वाचं वदत) वाक् को बोलो (वदद्भ्य) बोलते हुओं के लिए । (यत्) जब (अद्रय पर्वता) न दरण योग्य पर्वतासमान ग्रावो (साकम् आशव) साथ हो कर शीघ्रता करते हुए (श्लोक घोषम्) श्लोक रूप घोष को (भरथ) धारण करते हो (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (सोमिन) [तब] सोम वाले ठहरते हो ।]

प्रवदन्तु एते=पूरा बोलें ये ग्राव । पूरा बोलें हम ग्रावो के लिए वाक को बोलो, बोलते हुओं के लिए । जो अद्रय=अदरणीया=न दरण योग्य ग्राव सह=साथ मिल कर सोम को आशव=शीघ्रकारी । श्लोक शृणोति से । घोष घुष्यति से । [तब] सोम वाले तुम ठहरते हो अथवा । सोम वाले घरो मे अथवा ।

९ नाराशंस । जिस के द्वारा नर प्रशंसा किए जाते हैं वह नाराशंस मन्त्र [होता है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ९ ॥

भाष्य—अर्बुद काद्रवेय सर्पों का राजा था । ऐसा लेख शतपथ ब्राह्मण १३ । ४ । ३ । ९ में है । उस की माता कद्रू थी । उस के विषय में बृहद्देवता मे लिखा है—

प्रैते इत्युत्तरं तु यत् ।
तत्रार्बुदस्तु ग्रावाणं मूर्तिमन्तमिवार्चति ॥ १४६ ॥

अर्थात्—प्र एते इति ऋक् द्वारा ऋषि अर्बुद ग्राव को मूर्तिमान् के समान

ये सर्प कौन हैं । पृथिवी पर एक नाग जाति थी । उन का राजा नागराज अर्बुद था । उन का देश भारत के उत्तर पश्चिम में था । और सूर्य की रश्मियों में भी सर्प हैं । मन्त्र में कहा है—

ये अमी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु ।
ये अप्सु षदांसि चक्रिरे तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ यजुः १३ । ८ ॥

इन का राजा भी अर्बुद काद्रवेय है । यह भौतिक माया है । इस का सम्बन्ध अन्तरिक्षस्थ ग्रावों से है । द्यौ और अन्तरिक्ष के सोम को ये ग्राव निचोड़ते हैं , उन्हीं की माया का रूपक इस मन्त्र में वर्णित है ।

पृथिवी पर भी यज्ञों में ग्रावों द्वारा सोम निकाला जाता है । उन का पार्थिव सम्बन्ध बताने के लिए यास्क ने लिखा—सोमिनो गृहेषु, इति वा ॥ ६ ॥

अमन्दान्त्स्तोमान्प्र भरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य ।
यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः ।

[ऋ० १ । १२६ । १ ॥]

अमन्दान्त्स्तोमान् । अबालिशाननल्पान्वा । बालो बलवर्ती भर्तव्यो भवति । अ धा ऽस्मा अलं भवतीति वा । अस्थास्मै बलं भवतीति वा । बलो वा प्रतिषेधव्यवहितः । प्रभरे । मनीषया मनस ईषया । स्तुत्या प्रज्ञया वा । सिन्धावधि निवसतो भावयव्यस्य राज्ञः । यो मे सहस्रं निरमिमीत सवान् । अतूर्तो राजा । अतूर्ण इति वा । अत्वरमाण इति वा । प्रशंसामिच्छमानः ॥ १० ॥

अर्थ—[दिव्य कक्षीवान् कहता है—] (अमन्दान्) नहीं मन्द=थोड़े (स्तोमान्) स्तोमों को (प्र भरे) पूर्ण रूप से रचता हूं, (मनीषा) स्तुति अथवा प्रज्ञा से (सिन्धौ) सिन्धु पर (अधि क्षियतः) निवास करते हुए (भाव्यस्य) भाव्य के । (यः मे सहस्रम्) जिसने मेरे लिए सहस्र को (अमिमीत) बनाया (सवान्) सोमयागों को (अतूर्तः) न शीघ्रता करने वाले (राजा) (श्रवः) यश को (इच्छमानः) चाहने वाले ने ।

अमन्द्रान्=अशलिशान=नहीं वधो के योग्य को, अनल्पान्=नहीं थोड़ों को अथवा । याल=वन से वर्तता है, भर्तव्य=भरण पोषण योग्य होता है [माता पिता द्वारा ।] अम्बा=माता अलम्=पर्याप्त अस्मै=इसके लिए भवति होती है, अथवा । माता इन के लिए [मात्र] वन होती है अथवा प्रतिषेध-व्यवहित=निषेध के व्यवधान वाला । प्रभरे=पूर्णतया रचता हूं । मनीषया=मन द्वारा गतिशीला स्तुति से अथवा प्रज्ञा से । सिन्धु पर निवास करने गए भावयव्य राजा को । जिस ने मेरे लिए बनाए सहस्र सोम याग । अतूर्त राजा न बचने ने अथवा । न शीघ्रता करने वाले ने अथवा । प्रशंसा को चाहते हुए ने ॥ १० ॥

भाष्य—विश्वामित्र उशिक् और कक्षीवान् आदि का वर्णन वेद में बहुधा मिलता है । विश्वामित्र सूर्य में रहने वाले ऋषियों में से कोई एक है । ऋषि अथवा कवि सूर्य की रक्षा करते हैं । वेद स्वयं कहता है—

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् । ऋ० १० । १५४ । ५॥

उशिक् और कक्षीवान् का ज्ञान करना चाहिए । राजा वरुण की अनेक नदियां द्यौ और अन्तरिक्ष में हैं । उन में सिन्धु भी है । उस सिन्धु पर कोई दैवी सोमयाग हुए । उन का ज्ञान करना चाहिए ।

इन दिव्य राजाओं की स्तुति में जो मन्त्र हैं वे नाराशंस कहाते हैं । भाव्य भी एक ऐसा राजा है । संभव है उसी के नाम पर किसी पार्थिव राजा ने भी अपना नाम भावयव्य रखा ।

इस मन्त्र में और भी गूढ़ अभिप्राय है । यज्ञकर्म में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए । यहीं से यश भी प्राप्त करना चाहिए ॥ १० ॥

यज्ञसंयोगाद्राजा स्तुतिं लभेत । राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि । तेषां रथः प्रथमागामी भवति ।

रथः रंहतेर्गतिकर्मणः । स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य । रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा । रपतेर्वा । [रसतेर्वा ।] तस्यैषा भवति ॥ ११ ॥

अर्थ—७ रथः । यज्ञ के संयोग से राजा स्तुति को प्राप्त करता है । राजा के संयोग से युद्ध के साधन । उन [युद्ध के साधनों] में से रथ प्रथम आने वाला होता है ।

रथः=रंहति से, गति अर्थ वाले से। स्थिरति से अथवा होवे, उलटा हुए से। रमण करता हुआ इस पर ठहरता है अथवा। रपति से अथवा। रसति से अथवा। उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ११ ॥

भाष्य—दिव्य रथ के साहाय्य से पार्थिव रथ का भी वर्णन आगे किया जाता है ॥ ११ ॥

वन॑स्पते वी॒ड्व॑ङ्गो॒ हि भू॒या अ॒स्मत्स॑खा प्र॒तर॑णः सु॒वीरः॑ ।
गोभिः॒ सन्न॑द्धो असि वी॒ळय॑स्वाऽऽस्था॒ता ते॑ जयतु॒ जेत्वा॑नि ॥
[ऋ० ६ । ४७ । २६ ॥]

वनस्पते दृढाङ्गो हि भव। अस्मत्सखा प्रतरणः। सुवीरः कल्याणवीरः। गोभिः सन्नद्धो असि। वीळयस्वेति संस्तम्भस्व। आस्थाता ते जयतु जेतव्यानि।

दुन्दुभिः, इति शब्दानुकरणम्। द्रुमो भिन्न इति वा। दुन्दुभ्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः। तस्यैषा भवति ॥ १२ ॥

अर्थ—(वनस्पते) हे वनस्पति के विकार रथ, (वीड्वङ्गः) दृढ अङ्गों वाला (हि भूयाः) निश्चय से हो। (अस्मत् सखा) हमारा सखा (प्रतरणः) [संग्रामों से] भले प्रकार पार ले जाने वाला (सुवीरः) सुन्दर वीर [स्वरूप हो।] (गोभिः सन्नद्धः असि) गोविकार चर्म और चर्बी=सरेश से जुड़ा हुआ तू है, (वीळयस्व) दृढ हो। (आस्थाता ते) चढ़ने वाला तेरे पर (जयतु) जीते (जेत्वानि) जीतने योग्य [शत्रुओं] को ॥

हे वनस्पते, दृढ अङ्गों वाला ही हो। हमारा सखा, [संग्रामों से] पार ले जाने वाला, कल्याण वीर [हो।] गोविकार चर्म से जुड़ा हुआ है। वीळयस्व=संस्तम्भस्व=थामो [अपने को, टूटो मत।] ठहरने वाला तुझ पर जीतने योग्यों को।

८. दुन्दुभिः। यह शब्द के अनुकरण पर है। द्रुम=वृक्ष तोड़ा हुआ अथवा। दुन्दुभ्यति से अथवा होवे, शब्द अर्थ वाले से। उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १२ ॥

भाष्य—इस मन्त्र में भी दिव्य और पार्थिव दोनों अंशों की छाया है मध्यम स्थान तो है ही वानस्पत्य स्थान ॥ १२ ॥



उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून् ॥
[ऋ० ६ । ४७ । २९ ॥]

उपश्वासय पृथिवीं च दिवं च । बहुधा ते घोषं मन्यतां विष्ठितं स्थावरं जङ्गमं च यत् । स दुन्दुभे सहजोषण इन्द्रेण च देवैश्च । दूराद् दूरतरमपसेध शत्रून् ।

इषुधि, इषूणां निधानम् । तस्यैषा भवति ॥ १३ ॥

अर्थ—(उप श्वासय) अनु प्राणित कर गो-गुंजा दो पृथिवी को और द्यौ को (पुरुत्रा) बहुत (ते) तेरे [शब्द को] (मनुताम्) माने (विष्ठितम्) स्थावर [और] (जगत्) जङ्गम । (स) वह [तू] (दुन्दुभे) हे दुन्दुभे (सजू) प्रीति युक्त हुआ (इन्द्रेण) इन्द्र के साथ [और] (देवै) देवो के साथ (दूरात् दवीय) दूर से भी बहुत दूर (शत्रून्) शत्रुओ को (अप सेध) हटा दे।

गुंजा दो पृथिवी को और द्यौ को और । बहुत तेरे घोष को माने स्थावर और जगम और जो कुछ । वह [तू] हे दुन्दुभे दूर से अधिक दूर हटा दे शत्रुओ को ।

१ इषुधि । तीरो का कोष । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १३ ॥

भाष्य—यह मन्त्र स्पष्ट कह रहा है कि जिस दुन्दुभि का यहां वर्णन है, वह द्यौ तक को अनुप्राणित कर देता है । उस शब्द को मानें स्थावर और जङ्गम ।' स्थावर कैसे शब्द को माने । यह विज्ञान का विषय है । स्थावरों में भी शब्द की यात्रा होती है । वह दुन्दुभि इन्द्र और देवों के साथ प्रीतियुक्त होता है । वस्तुत उस का स्थान इन्द्र और देवों का स्थान है । इन्द्र मध्यम स्थानी और देवों में से एक अग्नि पृथिवी स्थानी है । इस पार्थिव अग्नि के कारण दुन्दुभि को पृथिवी आश्रित भी माना है । दिव्य दुन्दुभि से दूर से दूर तक के असुर हटते हैं । पार्थिव दुन्दुभि से साधारण प्रभाव होता है ।

१ तूण फौज का फारसी अपभ्रंश 'तरकश' है ॥ १३ ॥

व॒ह्वीनां पि॒ता ब॒हुर॑स्य पु॒त्रश्चि॒श्चा कृ॑णोति॒ सम॑नाव॒गत्य॑ ।
इ॒षु॒धिः सङ्काः पृत॑नाश्च॒ सर्वाः॑ पृ॒ष्ठे निन॑द्धो जयति॒ प्रसू॑तः ॥
[ऋ० ६ । ७५ । ५ ॥]

बह्वीनां पिता । बहुरस्य पुत्रः । इतीषूनभिप्रेत्य । प्रस्मयत इवापाव्रियमाणः । शब्दानुकरणं वा । सङ्काः सचतेः । संपूर्वाद्वा किरतेः । पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः । इति व्याख्यातम् ।

हस्तघ्नः हस्ते हन्यते । तस्यैषा भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—[यह इषुधि] (बह्वीनाम्) बहुतों का (पिता) पिता [और] (बहुः) बहुत (अस्य) इस का (पुत्रः) पुत्र [है ।] (चिश्चा) चिश्चा शब्द (कृणोति) करता है । (समना) संग्राम में (अवगत्य) पहुँच कर । (इषुधिः) यह तूणीर (सङ्काः) संकटों (पृतनाः च) और [शत्रु] सेनाओं को (सर्वाः) सब को (पृष्ठे) पीठ पर (निनद्धः) बंधा हुआ (जयति) जीतता है (प्रसूतः) [धनुषधारी से] फेंका गया ।

बहुतों का पिता, बहुत इस का पुत्र [है ।] यह इषुओं को अभिप्राय में रख कर [कहा है ।] चिश्चा कृणोति=प्रस्मयते इव=बहुत हंसता है, जैसे, अपाव्रियमाणः खोला जाता हुआ । [चिश्चा=चि-चि-चा का] शब्दानुकरण [है] अथवा । सङ्काः सचति से । संपूर्वक किरति से । पीठ पर बंधा हुआ जीतता है फेंका गया । यह व्याख्यात हुआ ।

१०. हस्तघ्नः । हाथ पर [बंधा हुआ धनुष की डोरी से] ताडित होता है । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १४ ॥

भाष्य—मण्डल ६ का ७५ सूक्त पायु-भारद्वाज का है । भरद्वाज धनुर्वेद का महान् ज्ञाता था । उस के कुल वाले और शिष्य प्रशिष्य भी धनुर्वेद-वेत्ता थे । यह पायु भी इस विद्या में प्रवीण था । पायु नाम इतिहास में मेरी दृष्टि में नहीं आया । अतः पायु का अभिप्राय समझना चाहिए । पायु का एक अर्थ रक्षक भी है । इस सूक्त में धनुः, ज्या, इषुधिः आदि ही देवता हैं । रुद्र का इषु होता है । रुद्रस्य हीषुः । शत० ६ । ५ । २ । १० ॥ यद्यपि ये इषु आदि दैवी भी हैं, पर इस मन्त्र में इषुधिः का वर्णन पार्थिव अर्थ में भी पूरा स्पष्ट है ॥ १४ ॥

अहि॑रिव भो॒गैः पर्ये॑ति बा॒हुं ज्याया॑ हे॒तिं प॑रि॒बाध॑मानः ।
ह॒स्त॒घ्नो विश्वा॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान्पुमा॒न्पुमां॑सं॒ परि॑ पातु वि॒श्वतः॑ ॥
[ऋ० ६ । ७५ । १४ ॥]

अहिरिव भोगैः परिवेष्टयति बाहुम् । ज्याया वधात्परित्रायमाणः । हस्तघ्नः सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रजानन् । पुमान्पुरुमना भवति । पुंसतेर्वा । अभीशवो व्याख्याताः । तेषामेषा भवति ॥ १५ ॥

अर्थ—(अहि इव) सर्प के समान (भोगैः) शरीरों से (परि एति) लपेटता है (बाहुम्) भुजा [की कलाई] को (ज्याया) पतञ्चा=डोरी की (हेतिम्) चोट को (परिबाधमान) सब ओर से रोकता हुआ [यह] (हस्तघ्न) हस्तघ्न (वयुनानि विद्वान्) सारे विज्ञानों को जानता हुआ (पुमान्) पुरुष [के समान] (पुमांसम्) (इस योद्धा) पुरुष की (परि पातु) रक्षा करे (विश्वत) चारों ओर से ॥

अहि के समान शरीरों से लपेटता है बाहु (की कलाई) को । डोरी के वध से चारों ओर से रक्षा करता हुआ । हस्तघ्न सारे विज्ञानों को जानता हुआ । पुमान्=बहुत=उदार मन वाला होता है [स्त्री की अपेक्षा ।] पुंसति से अथवा पुरुषार्थ करता है ।

११ अभीशव [३ । ९ मे] व्याख्यात किए गए हैं । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ १५ ॥

भाष्य—अहिरिव भोगैः इति मन्त्र अन्तर्गत भोगैः पद का शरीरैः अर्थ व्याकरण महाभाष्य में दिया गया है ॥ १५ ॥

रथे॒ तिष्ठ॑न्नयति वा॒जिनः॑ पु॒रो यत्र॑यत्र का॒मय॑ते सुषार॒थिः ।
अ॒भीशू॑नां महि॒मानं॑ पनायत॒ मनः॑ प॒श्चादनु॑ यच्छन्ति र॒श्मयः॑ ॥
[ऋ० ६ । ७५ । ६ ॥]

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरस्तात्सतः । यत्र यत्र कामयते । सुषारथिः कल्याणसारथिः । अभीशूनां महिमानं पूजयामि । मनः पश्चात्सन्तोऽनुयच्छन्ति रश्मयः ।

अहि॑रिव भो॒गैः पर्ये॑ति बा॒हुं ज्याया॑ हे॒तिं प॑रि॒बाध॑मानः ।
ह॒स्त॒घ्नो विश्वा॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान्पुमा॒न्पुमां॑सं॒ परि॑ पातु वि॒श्वतः॑ ॥

[ऋ० ६ । ७५ । १४ ॥]

अहिरिव भोगैः परिवेष्टयति बाहुम् । ज्याया वधात्परित्रायमाणः । हस्तघ्नः सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रजानन् । पुमान्पुरुमना भवति । पुंसतर्वा । अभीशवो व्याख्याताः । तेषामेषा भवति ॥ १५ ॥

अर्थ—(अहि इव) सर्प के समान (भोगैः) शरीरों से (परि एति) लपेटता है (बाहुम्) भुजा [की कलाई] को (ज्यायाः) प्रत्यञ्चा =डोरी की (हेतिम्) चोट को (परिबाधमानः) सब ओर से रोकता हुआ [यह] (हस्तघ्नः) हस्तघ्न (वयुनानि विद्वान्) सारे विज्ञानों को जानता हुआ (पुमान्) पुरुष [के समान] (पुमांसम्) [इस योद्धा] पुरुष को (परि पातु) रक्षा करे (विश्वतः) चारों ओर से ॥

अहि के समान शरीरों से लपेटता है बाहु [की कलाई] को। डोरी के वध से चारों ओर से रक्षा करता हुआ। हस्तघ्न सारे विज्ञानों को जानता हुआ। पुमान्=बहुत=उदार मन वाला होता है [स्त्री की अपेक्षा ।] पुंसति से अथवा पुरुषार्थ करता है।

११ अभीशव [३ । ९ में] व्याख्यात किए गए हैं। उन की यह [ऋक्] होती है ॥ १५ ॥

भाष्य—अहिरिव भोगैः इति मन्त्र अन्तर्गत भोगैः पद का शरीरैः अर्थ व्याकरण महाभाष्य में दिया गया है ॥ १५ ॥

रथे॒ तिष्ठ॑न्नयति वा॒जिनः॑ पु॒रो यत्र॑यत्र का॒मय॑ते सुषार॒थिः ।
अ॒भीशू॑नां महि॒मानं॑ पनायत॒ मनः॑ प॒श्चाद॑नु यच्छन्ति र॒श्मयः॑ ॥

[ऋ० ६ । ७५ । ६ ॥]

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरस्तात्सतः । यत्र यत्र कामयते । सुषारथिः कल्याणसारथिः । अभीशूनां महिमानं पूजयामि । मनः पश्चात्सन्तोऽनुयच्छन्ति रश्मयः ।

धनुः । धन्वतेर्गतिकर्मणः । वधकर्मणो वा । धन्वन्त्यस्मात् इषवः । तस्यैषा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—(रथे) रथ पर (तिष्ठन्) ठहरा हुआ (नयति) ले जाता है (वाजिनः) अश्वों को (पुरः) [रथ के] आगे [जुते हुओं को] (यत्र यत्र) जहां-जहां (कामयते) चाहता है (सु-सारथिः) चतुर सारथि । (अभीशूनाम्) रासों की (महिमानम्) महिमा को (पनायत) पूजा करता हूं (मनः पश्चात्) [जो सारथी के] मन के पीछे-पीछे (अनु यच्छन्ति) नियम से चलती हैं (रश्मयः) रासें ।

रथ पर ठहर कर ले जाता है अश्वों को [जो] आगे [जुते] हैं । जहां-जहां चाहता है । सु-सारथिः=कल्याणसारथिः=चतुर सारथि, रासों की महिमा को पूजता हूँ । [जो] मन के अनुकूल होती हुईं नियम में चलाती हैं रासें ।

१२. धनुः । धन्वति से गति अर्थ वाले से । वध अर्थ वाले से अथवा । धन्वन्ति=निकलते हैं इस से तीर । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १६ ॥

भाष्य—सु-सारथिः । ऐसे स्थानों में यास्क ने सु, उपसर्ग का अर्थ प्रायः कल्याण पद से किया है । कल्याण पद का अर्थ सुन्दर आदि है, पर यहां चतुर अधिक युक्त है । यहां चतुर ही सुन्दर है ॥ १९ ॥

धन्व॑ना॒ गा धन्व॑ना॒जिं ज॑येम॒ धन्व॑ना ती॒व्राः स॒मदो॑ जयेम ।
धनुः॒ शत्रो॑रपका॒मं कृ॑णोति॒ धन्व॑ना॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॑ जयेम ॥

[ऋ० ६ । ७५ । २ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता । समदः समदो वात्तेः । सम्मदो वा मदतेः ।

ज्या जयतेर्वा । जिनातेर्वा । प्रजावयतीषूनिति वा । तस्या एषा भवति ॥ १७ ॥

अर्थ—(धन्वना) धनु से (गाः) गौएं (धन्वना) धनु से (आजिम्) शर्त वाली दौड़ (जयेम) जीतें (धन्वना) धनु से (तीव्राः)

तीव्र-तुमुन (समद) युद्धों को (जयम) जीतें । (धनु:) धनुष (शत्रो) शत्रु को (अप कामम्) विगत काम (कृणोति) करता है । (धन्वना) धनुष से (सर्वाः प्रदिशः) सारी दिशाओं को (जयेम) जीतें ।

यह वह [ऋक्] स्पष्ट ही व्याख्यात है । समद्=सम्+अद्= अथवा, अत्ति से, खाता है । सम्+मद् अथवा, मदति से, हर्षित होना है ।

१३ ज्या । जयति से अथवा । जिनाति से, अथवा । प्रजावयति निकालती-फेंकती है तीरों को अथवा । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १७ ॥

वृक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना ।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वन् ज्या इयं समने पारयन्ती ॥
[ऋ० ६ । ७५ । ३ ॥]

वक्ष्यन्तीवागच्छति कर्णं प्रियमिव सखायमिषुं परिष्वजमाना । योषेव [शिङ्क्ते ।] शब्दं करोति । वितताधि धनुषि ज्येयं समने संग्रामे पारयन्ती । पारं नयन्ती ।

इषु: । ईषतेर्गतिकर्मणः । वधकर्मणो वा । तस्यैषा भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—(वक्ष्यन्ती इव इत्) कहती, इस के समान ही (आ गनीगन्ति) पास आती है (कर्णम्) कान को, (प्रियं सखायम्) प्रिय सखा [बाण] को [जैसे] (परिषस्वजाना) आलिङ्गन करती हुई । (योषा इव) स्त्री के समान (शिङ्क्ते) शब्द करती है, (वितता) तनी हुई (अधि धन्वन्) धनुष पर (ज्या इयम्) यह धनुष की डोरी (समने) संग्राम में (पारयन्ती) पार पहुँचाती हुई ॥

वक्ष्यन्ती इव=कहती ऐसी आती है कान को । प्रिय जैसा सखा [उस] को । इषु को आलिङ्गन करती हुई । स्त्री के समान शब्द को करती है । तनी हुई धनुष पर प्रत्यञ्चा यह । संग्राम में पार ले जाती हुई ।

१४ इषु: । ईषति से गति अर्थ वाले से । वध अर्थ वाले से अथवा । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १८ ॥

भाष्य—जब धनुष पर बाण रख कर डोरी को बल से खींचते हैं, तो वह धनुष के कोने पर लगी कान तक पहुंचती है। मानो स्त्री के समान प्रिय सखा को कान में कुछ कहेगी ॥ १८ ॥

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता ।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ॥

[ऋ० ६ । ७५ । ११ ॥]

सुपर्णं वस्त इति वाजानमभिप्रेत्य। मृगमयोऽस्या दन्तः। मृगयतेर्वा। गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूतेति व्याख्यातम्। यत्र नराः सन्द्रवन्ति च विद्रवन्ति च। तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यच्छन्तु । शरणं सङ्ग्रामेषु ।
अश्वाजनीं कशेत्याहुः। कशा प्रकाशयति भयमश्वाय । कृष्यतेर्वाणुभावात्। वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान् । खशया । क्रोशतेर्वा । अश्वकशाया एषा भवति ॥ १९ ॥

अर्थ—(सुपर्णम्) सुन्दर पंख को (वस्ते) धारते हैं [बाण], (मृगः) मृग का [विकार] (अस्याः) इस का (गोभिः) दान्त [=अगला तीक्ष्ण भाग] (गोभिः) गोविकार=से चर्म से (सन्नद्धा) लपेटा हुआ (पतति) गिरता है (प्रसूता) [धानुष्क से] फेंका गया । (यत्र) जहां (नरः) नर=वीर पुरुष (सं-द्रवन्ति च) मिल कर धावा करते हैं और (वि-द्रवन्ति च) पृथक्-पृथक् धावा करते हैं (तत्र) वहां (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (इषवः) बाण (शर्म) कल्याण (यंसन्) देवें।

सुपर्णं वस्ते, यह वाजान्=अश्वों के अभिप्राय से [कहा है । यथा सुन्दर पक्ष वाला बाज पक्षी उड़ता है, वैसे घोड़े संग्राम में दौड़ते हैं ।] मृगमय=मृग के दान्त का इस का दान्त=अगला भाग होता है। मृगयति से अथवा=ढूंढता है [शत्रुओं को ।] गोभिः······ । यह [पूर्व २ । ५ में] व्याख्या किया गया है। जहां वीर पुरुष एकत्र धावा करते हैं और, पृथक् धावा करते हैं और वहां हमारे लिए बाण शरण देवें संग्रामों में।

१५. अश्वाजनी, कशा [है], ऐसा कहते हैं। कशा=प्रकाशित करती है भय को अश्व के लिए। कृष्यति से अथवा, अणुभावात्=सूक्ष्म होने के

अर्थ में। वाक् पुनः [कहा है।] प्रकाशित करती है अर्थों को। अथवा-[मुख के] आकाश में रहती है। वाशति से अथवा। शब्द करती है। अवकाश की यह [वाक्] होती है॥ १९॥

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय॥

[ऋ० ६। ७५। १३॥]

आघ्नन्ति सानून्येषाम्। सरणानि सक्थीनि। सक्थि सचतेः। आसक्तोऽस्मिन्कायः। जघनानि चाघ्नन्ति। जघनं जङ्घन्यतेः। अश्वाजनि। प्रचेतसः प्रवृद्धचेतसोऽश्वान्। समत्सु समरणेषु सङ्ग्रामेषु चोदय।

उलूखलम्। उरुकरं वा। ऊर्ध्वखं वा। ऊर्करं वा।

उरु मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुलूखलमभवत्। उरुकरं वैतत्। उलूखलमित्याचक्षते परोक्षेण। [शत० ब्रा० ७। ५। १। २२॥] इति च ब्राह्मणम्। तस्यैषा भवति॥ २०॥

अर्थ—(आ जङ्घन्ति) आघात करते हैं (सानू) उठे हुए ऊरुओं को (एषाम्) इन [अश्वों] के (जघना) [और] जघनों को (उप जिघ्नते) ताडित करते हैं [जिस से] (अश्वाजनि) हे कशा=हे चाबुक, [वह तू] (प्रचेतसः) बढ़े हुए चित्त वाले (अश्वान्) अश्वों को (समत्सु) संग्रामों में (चोदय) प्रेरित कर॥

आघ्नन्ति—चोट पहुँचाते हैं सानूनि=उठे हुए ऊरुओं को इन [अश्वों] के। सानूनि—सरणानि=सरकने वाले सक्थीनि=ऊरुओं को। सक्थि=सचति से। लगी होती है इस में काया। जघनों को और ताडित करते हैं। जघनम्=जङ्घन्यति=अत्यधिक ताडा जाता है। हे अश्वाजनि=चाबुक, प्रचेतस=प्रवृद्धचेतस=बढ़े हुए चित्त वाले, अश्वों को। समत्सु=संग्रामों में प्रेरित कर।

१६. उलूखलम् । बहुत करने वाला अथवा, ऊपर खम्=छेद वाला अथवा, ऊर्क्=अन्न को करने वाला अथवा । उरु=बहुत मे=मेरे लिए कुरु =करो, यह बोला [प्रजापति ।] अतः वह उलूखल हो गया उरुकरं । और यह [है ।] उलूखल यह कहते हैं परोक्ष से । यह और ब्राह्मण [प्रवचन है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २० ॥

भाष्य—ब्राह्मण का प्रवचन किसी बहुत पूर्व की अवस्था को बताता है । तब उलूखल सृष्टि में बना । यह अवश्य दैवी है । ब्राह्मण ग्रन्थ कहता है—अन्तरिक्षं वा ऽ उलूखलम् । श० ७ । ५ । १ । २६ ॥ यह अन्तरिक्ष ही कभी विस्तृत हुआ था । यह पार्थिव उलूखल उसी की छाया पर बना और इस ने भी स्तुति प्राप्त की ॥ २० ॥

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे ।

इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥ [ऋ० १ । २८ । ५ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ॥ २१ ॥

अर्थ—(यत् चित् हि) जो ही (त्वम्) तुम (गृहे गृहे) घर-घर में (उलूखलक) हे उलूखल (युज्यसे) काम में युक्त होता है, (इह) यहां (द्युमत् तमम्) अत्यन्त तेजोमय (वद) शब्द करो, (जयताम् इव दुन्दुभिः) जय प्राप्त करते हुए [राजाओं की] दुन्दुभि के समान ॥

यह वह स्पष्ट ही व्याख्या की गई है ॥ २१ ॥

भाष्य—यह ऐन्द्र सूक्त की ऋक् है । वहां का वर्णन सर्वथा मध्यम स्थान का है । उसी सूक्त में दुन्दुभि का भी कथन है । वस्तुतः ये पदार्थ दिव्य हैं । पर पार्थिव स्थान से भी इस दुन्दुभि का सम्बन्ध जुड़ जाता है ॥ २१ ॥

वृषभः । प्रजां वर्षतीति वा । अतिबृहति रेत इति वा । तद्वर्षकर्मा । वर्षणाद् वृषभः । तस्यैषा भवति ॥ २२ ॥

१७. वृषभः । प्रजा को बरसाता है अथवा । बहुत बढ़ कर रेतः, यह बरसाता है अथवा । तो वर्षकर्मा=बरसाने अर्थ वाला । बरसने से वृषभ [है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २२ ॥

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन्वृषभं मध्य आजेः ।

तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय ॥

[ऋ० १० । १०२ । ५ ॥]

जर्य में। वाक् पुनः [कशा है।] प्रकाशित करती है अर्थों को। खशया= [मुख के] आकाश में लटता है। क्रोशति से अथवा। शब्द करती है। अश्वकशा की यह [ऋक्] होती है॥ १९॥

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय॥

[ऋ० ६। ७५। १३॥]

आघ्नन्ति सानून्येषाम्। सरणानि सक्थीनि। सक्थि सचतेः। आसक्तोऽस्मिन्कायः। जघनानि चोपघ्नन्ति। जघनं जङ्घन्यते। अश्वाजनि। प्रचेतसः प्रवृद्धचेतसोऽश्वान्। समत्सु समरणेषु सङ्ग्रामेषु चोदय।

उलूखलम्। उरुकरं वा। ऊर्ध्वखं वा ऊर्करं वा।

उरु मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुलूखलमभवत्। उरुकरं वैतत्। उलूखलमित्याचक्षते परोक्षेण। [शत० ब्रा० ७। ५। १। २२॥] इति च ब्राह्मणम्। तस्यैषा भवति॥ २०॥

अर्थ—(आ जङ्घन्ति) आघात करते हैं (सानु) उठे हुए ऊरुओं को (एषाम्) इन [अश्वों] के (जघना) [और] जघनों को (उप जिघ्नते) ताडित करते हैं [जिसमें] (अश्वाजनि) हे कशा=हे चाबुक, [वह तू] (प्रचेतसः) बढ़े हुए दिल वाले (अश्वान्) अश्वों को (समत्सु) संग्रामों में (चोदय) प्रेरित कर॥

आघ्नन्ति=चोट पहुँचाते हैं सानूनि=उठे हुए ऊरुओं को इन [अश्वों] के। सानूनि—सरणानि=सरकने वाले सक्थीनि=ऊरुओं को। सक्थि= सचति से। लगी होती है इसमें काया। जघनों को और ताडित करते हैं। जघनम्=जङ्घन्यते से=बहुत ताडा जाता है। हे अश्वाजनि=चाबुक, प्रचेतस=प्रवृद्धचेतस=बढ़े हुए दिल वाले, अश्वों को। समत्सु=संग्रामों में प्रेरित कर।

१६. उलूखलम् । बहुत करने वाला अथवा, ऊपर खम्=छेद वाला अथवा, ऊर्क्=अन्न को करने वाला अथवा । उरु=बहुत मे=मेरे लिए कुरु =करो, यह बोला [प्रजापति ।] अतः वह उलूखल हो गया उरूकरं । और यह [है ।] उलूखल यह कहते हैं परोक्ष से । यह और ब्राह्मण [प्रवचन है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २० ॥

भाष्य—ब्राह्मण का प्रवचन किसी बहुत पूर्व की अवस्था को बताता है । तब उलूखल सृष्टि में बना । यह अवश्य दैवी है । ब्राह्मण ग्रन्थ कहता है—अन्तरिक्षं वा ऽ उलूखलम् । श० ७ । ५ । १ । २६ ॥ यह अन्तरिक्ष ही कभी विस्तृत हुआ था । यह पार्थिव उलूखल उसी की छाया पर बना और इस ने भी स्तुति प्राप्त की ॥ २० ॥

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे ।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥ [ऋ० १ । २८ । ५ ॥]
इति सा निगदव्याख्याता ॥ २१ ॥

अर्थ—(यत् चित् हि) जो ही (त्वम्) तुम (गृहे गृहे) घर-घर में (उलूखलक) हे उलूखल (युज्यसे) काम में युक्त होता है, (इह) यहां (द्युमत्तमम्) अत्यन्त तेजोमय (वद) शब्द करो, (जयताम् इव दुन्दुभिः) जय प्राप्त करते हुए [राजाओं की] दुन्दुभि के समान ॥

यह वह स्पष्ट ही व्याख्या की गई है ॥ २१ ॥

भाष्य—यह ऐन्द्र सूक्त की ऋक् है । वहां का वर्णन सर्वथा मध्यम स्थान का है । उसी सूक्त में दुन्दुभि का भी कथन है । वस्तुतः ये पदार्थ दिव्य हैं । पर पार्थिव स्थान से भी इस दुन्दुभि का सम्बन्ध जुड़ जाता है ॥ २१ ॥

वृषभः । प्रजा वर्षतीति वा । अतिबृहति रेत इति वा । तद्वर्षकर्मा । वर्षणाद् वृषभः । तस्यैषा भवति ॥ २२ ॥

१७. वृषभः । प्रजा को बरसाता है अथवा । बहुत बढ़ कर रेतः, यह बरसाता है अथवा । तो वर्षकर्मा=बरसाने अर्थ वाला । बरसने से वृषभ [है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २२ ॥

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन्वृषभं मध्य आजेः ।
तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय ॥
[ऋ० १० । १०२ । ५ ॥]

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनमिति व्याख्यातम् । अमेहयन्वृषभं मध्ये । [आजे] आजयनस्य । आजयनस्यति वा । तेन [वै] सूभर्वं राजानम् । भर्वति अत्तिकर्मा । तद्वा । सूभर्वं सहस्रं गवाम् । मुद्गलः प्रधने जिगाय । प्रधन इति संग्रामनाम । प्रकीर्णान्यस्मिन्धनानि भवन्ति ।

द्रुघण । द्रुममयो घनः । तत्रेतिहासमाचक्षते—मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामं व्यवहृत्याजिं जिगाय । तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ॥ २३ ॥

अर्थ—(नि अक्रन्दयन्) [उन शत्रुओं ने] भूरि क्रन्दन किया=शोर मचाया, (उप यन्त) समीप जा कर (एनम्) इस के (अमेहयन्) मूत्र कराते हुए (वृषभम्) वृषभ के (मध्य) मध्य में (आजेः) शर्त वाली दौड़ अथवा संग्राम के । (तेन) इस [बैल] से (सुभर्वं) सुभर्व से (शतवत्) सौ वाला (सहस्रम्) सहस्र (गवाम्) गौओं को (मुद्गल) मुद्गल ने (प्रधने) संग्राम में (जिगाय) जीता ॥

न्यक्रन्दयन्=शोर मचाया, उप यन्त=समीप जा कर इस के, यह व्याख्यात है । मूत्र कराया वृषभ को मध्य में । आजेः=आजयनस्य-संग्राम के । वा वाली दौड़ के अथवा । उस [बैल] से उस को सुभर्व राजा को । भर्वति, खाता है, अर्थ वाला है । उस [खाता है अर्थ वाले से] अथवा । सुभर्व को सहस्र गौओं का । मुद्गल ने संग्राम में जीता । प्रधन यह संग्राम का नाम [है ।] बिखरे हुए इस में धन होते हैं ।

१८ द्रुघण । =[मुद्गर] द्रुममय=वृक्षमय ठोस । इस विषय में इतिहास को कहते हैं—मुद्गल, भृम्यश्व का पुत्र ऋषि ने वृषभ को और मुद्गर को जोड़ कर संग्राम में व्यवहृत्य=व्यवहार ला कर, शर्त वाली दौड़ अथवा संग्राम को जीता । उस [घटना के] कहने वाली यह ऋक् होती है ॥ २३ ॥

भाष्य—न्यक्रन्दयन् इति मन्त्र ऋग्वेद के दशम मण्डल के १०२ सूक्त का है । इस सूक्त १०२ के विषय में शौनक के बृहद्देवता अध्याय ८ का लेख द्रष्टव्य है—

प्रेतीतिहासमूक्तं तु मन्यते शाकटायनः ।
यास्को द्रौघणमैन्द्रं वा वैश्वदेवं तु शौनकः ॥ ११ ॥

आजावनेन भार्म्यश्व इन्द्रासोमौ तु मुद्गलः ।
अजयद् वृषभं युक्त्वा ऐन्द्रं च द्रुघणं रथे ॥ १२ ॥

अर्थात्—प्र इति सूक्त इतिहास का स्वरूप लिए है, ऐसा मानता है शाकटायन । यास्क इस सूक्त को द्रौघण अथवा इन्द्र देवता-परक मानता है । शौनक स्वयं इसे वैश्वदेव सूक्त कहता है ॥ ११ ॥ इस सूक्त से भार्म्यश्व मुद्गल ने आजि में इन्द्र और सोम देवों को जीता, वृषभ को और ऐन्द्र द्रुघण को रथ में जोड़ कर ॥ १२ ॥

जो पुण्यात्मा यत किञ्चित भी वेदाभ्यास करता है, वह इस वर्णन से सहसा कह उठेगा कि इन्द्रासोम के जीतने की आजि आधिदैविक है । उस में भाग लेने वाला भार्म्यश्व मुद्गल भी मानव ऋषि नहीं हो सकता । वह भार्म्यश्व मुद्गल कौन है, यह जानना चाहिए । सूक्त में कही गई मुद्गलानी भी दिव्य है ।

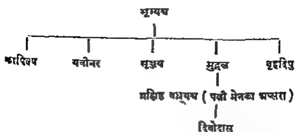
इस सूक्त के विषय में शाकटायन सारे सूक्त में इतिहास को प्रकट करने की छाया मानता है । यास्क इस को द्रौघण अथवा ऐन्द्र मानता है । यास्क ने द्रुघण का वर्णन बताने के लिए ऐसा माना है । और शौनक इसे विश्वेदेवा का सूक्त मानता है । सूक्त में वर्णित आजि के विषय में सब सहमत हैं । ऐसी दैवी आजियां ब्राह्मणों के प्रवचनों में बहुधा बताई गई हैं । शौनक धन्यवाद का पात्र है, जिस ने आजि=बाज़ी में भाग लेने वालों का स्पष्ट परिचय दिया है ।

इतने लेख के पश्चात् यह कहना भी युक्त है कि भार्म्यश्व मुद्गल एक मानव ऋषि भी हुआ है । उस का एक मत भी बृहद्देवता में सुरक्षित है—

महानैन्द्रं प्रतवत्याम् अग्निं वैश्वानरं स्तुतम् ।
मन्यते शाकपूणिस्तु भार्म्यश्वश्चैव मुद्गलः ॥ ६ ॥ ४६ ॥

अर्थात्—महान्, ऋ० ८ । ६ सूक्त इन्द्र का है । उस की प्रत्न प्रतीक वाली छठी ऋक् में अग्नि वैश्वानर स्तुत है, ऐसा शाकपूणि मानता और भार्म्यश्व मुद्गल भी ।

मानव मुद्गल आदि का वृत्तान्त जानने के लिए मद्रचित भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ० १२८-१३३ देखना चाहिए । मानव भृम्यश्व उत्तर पाञ्चाल का राजा था । उसका पुत्र था मुद्गल । यथा—



भृम्यश्व के कुल के अनेक जनों के सृञ्जय आदि नाम वेद मन्त्रों के आधार पर रक्खे गए प्रतीत होते हैं। वेद मन्त्रों में इन ऐतिहासिक पुरुषों का वर्णन नहीं है। इस में एक प्रबल तर्क है। वेद इन से बहुत पहले विद्यमान थे। यह तथ्य इतिहास से ही ज्ञात होता है। इतिहास को न जानने वाला वेदाध्ययन से यथार्थ लाभ नहीं उठा सकता।

शतवत्सहस्रम्। राजाराम इस का अर्थ करता है, ११००। सीताराम शास्त्री, एक लाख। सुभर्व पद वेद में ही है। यह नाम किसी मानव राजा ने भी रखा था, वा नहीं इस का पता नहीं चलता। यास्क ने सामान्य रूप से सुभर्वं राजानम् प्रयोग किया है। सुभर्वा राजा बभूव, ऐसा नहीं लिखा। अतः इस प्रसङ्ग को मानव इतिहास से आंशिक रूप से भी जोड़ा नहीं जा सकता॥ २३॥

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्।
येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु॥
[ऋ० १०। १०२। ९॥]

इमं तं पश्य वृषभस्य सहयुजं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्। येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु। पृतनाज्यम् इति संग्रामनाम। पृतनानामजनाद्वा। जयनाद्वा। मुद्गलो मुद्गवान्। मुद्गगिलो वा। मदनं गिलतीति वा। मदङ्गिलो वा। मुद्गिलो वा। भार्म्यश्वो भृम्यश्वस्य पुत्रः। भृम्यश्वः। भृमयोऽस्याश्वाः। अश्वभरणाद्वा।

पिनु, इति अन्ननाम। पातेर्वा। पिबतेर्वा। प्यायतेर्वा। तस्यैषा भवति॥ २४॥

अर्थ--इस को उस को देखो वृषभ के साथ (युञ्जम्) संयुक्त काष्ठायाः=आज्यन्त के' (मध्ये) मध्य में (द्रुघणम्) मुद्गर को (शयानम्) लेटे हुए को । (येन) जिस के द्वारा (जिगाय) जीता सौ सहित सहस्र गौओं का मुद्गल ने (पृतनाज्येषु) पृतनाओं=सेनाओं के गमन स्थान=युद्धों में ॥

इस को उस को देखो वृषभ के साथ जुड़ने वाले को । आज्यन्त के मध्य में द्रुघण को लेटे हुए को । जिस के द्वारा जीता सौ सहित सहस्र गौओं का मुद्गल ने युद्ध में । पृतनाज्यम्, यह संग्राम का नाम [है ।] सेनाओं के [ऊपर] अजनात्=चढ़ने से अथवा । जीतने से अथवा । मुद्गल=मूंग वाला । मूंग निगलने=खाने वाला अथवा । मदनम्=काम को निगलता है अथवा । मद को निगलने वाला अथवा । हर्ष को निगलने वाला । भार्म्यश्वः =भृम्यश्व का पुत्र । भृम्यश्वः=घूमने वाले इस के अश्वाः । अश्वों के भरण पोषण से अथवा ।

१६. पितुः । यह अन्न का नाम [है ।] पाति से अथवा । रक्षा करता है । पिबति से अथवा । प्यायति से अथवा । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २४ ॥

भाष्य—मुद्गल पद के पांच निर्वचन हैं । यदि यह किसी पुरुष का नाम विशेष होता, तो उस संज्ञा के इतने निर्वचन न होते ।

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम् ।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥

[ऋ० १ । १८७ । १ ॥]

तं पितुं स्तौमि महतो धारयितारं बलस्य । तविषीति बलनाम । तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः । यस्य त्रित ओजसा बलेन । त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं विपर्वाणं व्यर्दयति ।

नद्यो व्याख्याताः । तासामेषा भवति ॥ २५ ॥

अर्थ—(पितुम्) अन्न को (स्तोषम्) स्तुति करता हूं, (महः) बड़े (धर्माणम्) धारण करने वाले (तविषीम्) बल के । (यस्य) जिस

१. आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते । निरुक्त २ । १५ ॥

के (त्रित) त्रिस्थान में [प्रभाव करने वाले=इन्द्र ने] (ओजसा) बल से (वृत्रम्) वृत्र को (विपर्वम्) विविध=अनेक पर्व को (वि अर्दयत्) विशेष रूप से मारा।

उस अन्न की स्तुति करता हू, महान् धारण करने वाले बल के। सविषी यह बल का नाम [है।] तवति से अथवा, वृद्धि अर्थ वाले से। यस्य त्रित) ओजसा=बलेन=बल से अथवा, वृद्धि से। त्रित, तीन स्थानों वाला इन्द्र। वृत्र को विविध पर्व को वि अर्दयति=विशेष मारता है।

२० मन्त्र। व्याख्यात [हैं, निरुक्त २। २४ में।] उन की यह [ऋक्] होती है ॥ २५ ॥

भाष्य—इस मन्त्र वाले सूक्त का देवता—ओषधय है। विद्युत् तेज जो वायु से आवेष्टित है, वह इन्द्र है। वह मध्यमस्थानी है। पर उस का प्रभाव तीनों स्थानों में है। उस का अन्न यह पार्थिव अन्न नहीं है। उस का अन्न तो पावक अग्नि वायु और मध्यम स्थाना वनस्पतियों से पूर्ण होता है। उसी इन्द्र ने वृत्र का मर्दन किया। उस दिव्य अन्न के व्याज से यह पार्थिव अन्न भी स्तुति को प्राप्त कर लेता है। अत इस अध्याय के आरम्भ में कहा—यानि पृथिव्या यतनानि सत्त्वानि स्तुति लभन्ते। यास्क ने मानव जीवन के साथ मन्त्रों का पूरा सम्बन्ध जोड़ने के लिए ये २६ सत्त्व, निघण्टु के दैवत प्रकरण में पढ़े हैं ॥ २५ ॥

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥
[ऋ० १० । ७५ । ५ ॥]

इम मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुष्णि स्तोममासेवध्वम्। असिक्न्या च सह मरुद्वृधे। वितस्तया चार्जीकीये। आशृणुहि सुषोमया च। इति समस्तार्थ।

अथैकपदनिरुक्तम्—गङ्गा गमनात्। यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा। प्रवियुत गच्छतीति वा। सरस्वती। सर इत्युदकनाम। सर्तेस्त द्वती। शुतुद्री शुद्राविणी। क्षिप्रद्राविणी। आशु तुन्नेव द्रवतीति वा। इरावतीं परुष्णीत्याहु। पर्ववती [भास्वती] कुटिलगामिनी। असिक्नी

अशुक्ला असिता। सितमिति वर्णनाम। तत्प्रतिषेधोऽसितम्। मरुद्-वृधाः सर्वाः नद्यः। मरुत एना वर्धयन्ति। वितस्ताविदग्धा। विवृद्धा महाकूला। आर्जीकीयां विपाडित्याहुः। ऋजीकप्रभवा वा। ऋजुगामिनी वा। विपाड् विपाटनाद्वा। विपाशनाद्वा। विप्रापणाद्वा।

पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः।

तस्माद्विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा ॥[1]

सुषोमा सिन्धुः। यदेनामभिप्रस्रुवन्ति नद्यः। सिन्धुः स्यन्दनात्।

आपः। आप्नोतेः तासामेषा भवति ॥ २६ ॥

अर्थ—(इमं मे) इस मेरे को, हे गङ्गे, हे यमुने, हे सरस्वति, हे शुतुद्रि, स्तोम को (आ सचत) सेवो, हे परुष्णि। (असिक्न्या) असिक्नी के साथ (मरुद्वृधे) हे मरुद्वृधे, (वितस्तया) वितस्ता के साथ (आर्जीकीये) हे आर्जीकीये, (आशृणुहि) सुनो (सुषोमया) साथ सु-सोमा के ॥

[प्रियमेध का पुत्र सिन्धुक्षित् कहता है—] इस मेरे को, हे गङ्गे, यमुने, सरस्वति, शुतुद्रि, परुष्णि स्तोम को सेवो। असिक्नी के साथ हे मरुद्वृधे। वितस्ता के साथ हे आर्जीकीये। सब ओर से सुनो, सुसोमा के साथ और। यह समस्तार्थ [है।]

अब एक-एक पद का निर्वचन—गङ्गा, गमन करने से। यमुना [दूसरी नदी के साथ] मिलती हुई जाती है अथवा। [मिल कर भी पृथक् हुई ही जाती है अथवा। सरस्वती, सरः यह उदक का नाम [है।] सर्ति से, उस [उदक] वाली। शुतुद्री=शु+द्राविणी=क्षिप्र+द्राविणी=शीघ्र बहने वाली। शु+तु+द्रु=आशु+तुन्नेव+द्रवति=शीघ्र बन्धी हुई के समान बहती है, अथवा। इरावती को परुष्णी कहते हैं [भूगोल-ज्योतिष के आचार्य] पर्वों वाली, भासों वाली कुटिल गामिनी। असिक्नी=अशुक्ला=असिता=नहीं श्वेत। सित यह वर्ण=रङ्ग का नाम [है] उस का प्रतिषेध असित [है।] मरुद्वृधाः=सारी [अन्तरिक्षस्थ] नदियां [हैं।] मरुतः इन को बढ़ाते हैं। वितस्ता=नहीं दग्ध हुई। बढ़ती हुई, महाकूलों वाली। आर्जीकीया

१. निचृद् अनुष्टुप्। प्राचीनमतानुसार लौकिक छन्दों के भी निचृद्, भुरिक् भेद होते थे। द्र० वैदिक स्वर मीमांसा पृष्ठ २१३-२१७।

को विपाट यह कहते हैं [ज्योतिष आचार्य ।] ऋजीक [पर्वत] से निकली हुई अथवा । ऋजु चलने वाली अथवा । विपाट्=विपाप पाटन से । [भूमि को फाडती है ।] पाश से पृथक् कर देने से अथवा । विशेष प्राप्ति से अथवा ।

पाश इस में वि+अपाश्य-त=विपाप खुल गई वसिष्ठ की मरने की इच्छा करते हुए की । इस लिए विपाट् कही जाती है । पूर्व [युगों में] थी उरुञ्जिरा [नाम वाली ।] सुषोमा=सिन्धु । जो इस की ओर बही जाती हैं नदियां । सिन्धु=स्यन्दन=बहने से ।

२१ आप । आप्नोति से, व्याप्त हो जाते हैं । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ २६ ॥

भाष्य—१. गङ्गा २ यमुना, ३ सरस्वती, ४ शुतुद्री, ५ परुष्णी, ६ असिक्नी,[1] ७ मरुद्वृधा, ८ वितस्ता, ९. आर्जीकीया, १० सुषोमा । ये दस नदियां इस मन्त्र में वर्णित हैं । यदि मरुद्वृधा सब नदियों का विशेषण है तो सब नौ नदियां यहां गिनी गई हैं । इन में से—

१ इरावती को परुष्णी[2] और

२ आर्जीकीया को विपाट् कहते हैं ।

पर पहले यह नदी न विपाट् और न आर्जीकीया कही जाती थी । इस का प्राचीन नाम उरुञ्जिरा था । मन्त्र के अर्थ को पार्थिव भूगोल विषय में घटाने के लिए ही परुष्णी का ऊपर नाम इरावती मान लिया गया ।

इस से यह स्पष्ट है कि मन्त्र में वर्णित नदियां उत्तर भारत की गङ्गा आदि प्रसिद्ध नदियां नहीं हैं । मन्त्रस्थ नामों का साम्य पार्थिव नदियों से उत्तर काल में जोड़ा गया है । अभी सब नामों का साम्य जुड़ नहीं सका । पार्थिव नदियों ने उत्तर काल में स्तुति ग्रहण की है, पर वह स्तुति भी पूरी पुष्ट नहीं बैठी ।

सरस्वती नदी का मन्त्रों में वरुण के साथ सम्बन्ध है । वह भी पार्थिव नहीं है । ये नदियां अन्तरिक्ष में हों, अथवा पृथिवी तल से ऊपर आकाश पर में, हैं

---

१ असिक्नि एक आथर्वि भी है । तुलना करो—पैप्पलाद संहिता १।२९।१, २ । अथर्व –१ । २१ । १ ॥

२ ऋ॰ ८ । ६२ । ११ में परुष्णीषु तथा ८ । ७४ । १५ में महेनदि परुष्णी देखिए ।

ये पृथिवी पर की नदियों से भिन्न है ; इन का मरुद्वृधा विशेषण सर्वथा ठीक है। ये मरुतों के कारण बढ़ती हैं। सिन्धुक्षित् इन्हीं नदियों को पुकारता है। यह दैवी माया विचित्र है। वेद में पार्थिव नदी पूजा नहीं है।

इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र में सूक्तवर्णित नदियों के विषय में कहा है—
प्र सप्त-सप्त त्रेधाहि चक्रमुः।

पृथिवी के वायव्य घेरे में, और अन्तरिक्ष में आग्नेय और आपः परमाणुओं की नदियां है। पृथिवी की नदियों में स्थूल जल है। यह भेद समझना चाहिए ॥ २६ ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥
[ऋ० १० । ९ । १ ॥]

आपो हि स्थ सुखभुवः। ता नोऽन्नाय धत्त। महते च नो रणाय। रमणीयाय [च] दर्शनाय।

ओषधयः। ओषद्धयन्तीति वा। ओषत्येना धयन्तीति वा। दोषं धयन्तीति वा। तासामेषा भवति ॥ २७ ॥

अर्थ—(आपः हि स्थ) हे आपः, [तुम ही व्याप्त होने वाले] हो, (मयोभुवः) सुख के उत्पादक हो, (ताः) वे [तुम] (नः) हमें (ऊर्जे) अन्न के लिए (दधातन) धारण करो (महे रणाय चक्षसे) महान् रमणीय दर्शन के लिए ॥

व्याप्त होने वाले ही हो, सुख के उत्पादक, वे [तुम] हमें अन्न के लिए धारण करो। महान् के लिए और हमें रणाय=रमणीय के लिए और दर्शन के लिए।

२२. ओषधय.। ओषत्=अग्नि [समान दाह करने वाले रोग] को धयन्ति=पी जाती हैं अथवा। ओषति=अग्नि समान [रोग से] संतप्त होने पर एनाः=इन को धयन्ति=पीते हैं अथवा। दोष को पीती हैं अथवा। उन की यह [ऋक्] होती है ॥ २७ ॥

भाष्य—अग्नि का एक अति सूक्ष्म रूप ऊष्म होता है। ताप का ओषधि स्थान में क्या भाग है यह जानना चाहिए। ताप व्याप्त हो जाते हैं। गौओं (६।१५।६३) में व्याप्ति इस ताप के कारण ही होती है। गौओं में ताप का अंश भरपूर होता है।

अन्तरिक्ष में ताप की ही माया है द्यौ में भी, द्यावांऽग्ना सदनम्। यजु० १।२।२।२६॥ पार्थिव जल उसी का स्थूल रूप है।

शतपथ ब्राह्मण में ओषधय के विषय में कहा—ओष धयेति। २।२।४।५॥ अर्थात्—ताप को धारण करो। वनस्पति आदि में आग्नेय परमाणु नहीं थे। पश्चात् वायु द्वारा आदि में ये परमाणु प्रविष्ट हुए। तभी से काष्ठ जलने लगे। जहाँ जितने न्यूनाधिक परिमाण में आग्नेय परमाणु हैं वहाँ उसी परिमाण में अग्नि जलता है। वनस्पतियाँ आदि अन्तरिक्ष में हैं और पृथिवी पर भी ॥१०॥

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥

[ऋ० १० । ९७ । १ ॥]

या ओषधयः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रीणि युगानि पुरा। मन्ये नु तद् बभ्रूणामहम्। बभ्रुवर्णानां हरणानां भरणानामिति वा। शतं धामानि सप्त च [इति]। धामानि त्रयाणि भवन्ति। स्थानानि नामानि जन्मानीति। जन्मान्यत्राभिप्रेतानि। सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणाम्। तेष्वेना दधातीति वा।

पृथिवी व्याख्याता। तस्या एषा भवति ॥ २८ ॥

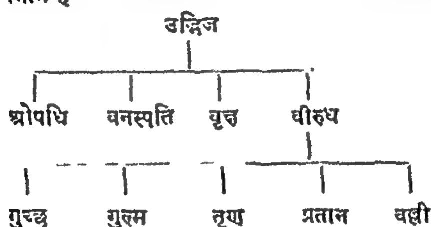
अर्थ—जो ओषधियाँ पहले उत्पन्न हुईं, देवों से तीन युग पहले। (मनै) मानता हूँ (बभ्रूणाम्) [उन] भूरे रंग वालियों को (अहम्) मैं (शतम्) सौ (धामानि) जन्म=जातियाँ, (सप्त च) सात और॥

जो ओषधियाँ पूर्व [काल में] उत्पन्न हुईं, देवों से तीन युग पहले। मानता हूँ निश्चय से उन भूरे [रंग वालियों का] मैं। बभ्रूणाम्=भूरे रंग वालियों का अथवा [हरण करने वालियों का] भरणानाम्=पालन करने वालियों को

अथवा ! १०७ धाम [उन के हैं ।] धाम तीन होते हैं । स्थान, नाम और जन्म । जन्मानि=जातियां यहां अभिप्रेत [हैं ।] १०७ पुरुष के मर्म [होते हैं ।] उन में इन को स्थापन करते हैं अथवा ।

२३. रात्रिः । [निरुक्त २ । १८ में] व्याख्यात [है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २८ ॥

भाष्य—ओषधयः । मनुस्मृति १ । ४७-४६ में उद्भिज स्थावरों का निम्नलिखित विभाग है—



महाभारत, अनुशासन पर्व अ० ६३ में स्थावरों की षट् जातियां कही हैं—

स्थावराणां च भूतानां जातयः षट् प्रकीर्तिताः ।
वृक्ष-गुल्म-लता-वल्ल्यस्त्वक्साराः तृणजातयः ॥ २३ ॥

तृणों के ८४ भेद भुवनदेवविरचित अपराजितपृच्छा में कहे हैं—

तृणयास तृणानि जातानि चतुरशीतिः संख्यया ।
तृणानां दूर्विकादीनां समस्तानां ततो भवः ॥ ७ । १० ॥

उद्भिज शास्त्र के विस्तृत ग्रन्थ कभी अवश्य थे ।

ओषधियां देवों से पहले उत्पन्न हुईं, इस का उल्लेख महाभारत, शान्ति पर्व अ० ३१६ में भी है । यथा—

सृजत्योषधिमेवाग्रे जीवनं सर्वदेहिनाम् ॥ २ ॥
ततो ब्रह्माणमसृजद् हैरण्याण्डसमुद्भवम् ॥ ३ ॥

इस से स्पष्ट है कि ओषधि-सृष्टि ब्रह्मा से पूर्व हो चुकी थी । निस्सन्देह यह सृष्टि पृथिवी पर की ओषधियों से पूर्व अन्तरिक्ष में थी । प्रस्तुत वेदमन्त्र की व्याख्या ही शान्तिपर्व के इस श्लोक में मिलती है । ब्रह्मा आदि देवों से तीन युग पहले ओषधियां सलिल रूप आपः में उत्पन्न हो चुकी थीं ।

या ओषधी, इति म त्र की एक दूसरी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में है। यथा—या ओषधी पूर्वा जाता । देवेभ्यस्त्रियुग पुरा। इति । ऋतवो वै देवा । तेभ्य एतास्त्रि पुरा जायन्त। वसन्ता प्रावृषि शरदि । मनै नु बभ्रूणामहमिति। सोमो वै बभ्रु । सौम्या ओषधय । ओषधय पुरुष । शतं धामानि सप्त चेति। य एवम सप्त शीर्षन् प्राणास्तान तदाह ॥ ७ । २ । ४ । २६ ॥

ओषधि लक्षण—मनुकृत लक्षण आगे लिखा जाता है—

ओषध्य फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगा ॥ १ । ४६ ॥

पाराशर्य संहिता ३ । ६ पृ० ३८८ पर यह लक्षण देखा है—तत्र स्तम्भवस्य फलपाकान्ता ओषध्य ।[1]

आ रा॑त्रि॒ पार्थि॑वं॒ रजः॑ पि॒तुर॑प्रायि॒ धाम॑भिः ।
दि॒वः सदां॑सि बृह॒ती वि ति॑ष्ठस॒ आ त्वे॒षं व॑र्तते॒ तमः॑ ॥
[अथ० १९ । ४७ । १ ॥]

आपूपुरस्त्व रात्रि पार्थिव रज । स्थानैर्मध्यमस्य। दिव सदांसि। बृहती महती। वितिष्ठसे। आवर्तत त्वष तमो रज ।

अरण्यानी अरण्यस्य पत्नी । अरण्यमपार्ण ग्रामात् । अरमण भवतीति वा। तस्या एषा भवति ॥ २९ ॥

अर्थ—(रात्रि) हे रात्रि (पार्थिवम्) पृथिवी नाश क (रज) रज को (पितु) पिता अन्तरिक्ष के साथ (आ अप्रायि) सब ओर स भर दिया है (धामभि) स्थानों क साथ [नू न।] (दिव सदांसि) द्यो क स्थानों को [भी] (बृहती) बड़ी [तू] (वि तिष्ठसे) विशेष ठहरती है (त्वषम्) महान् (आ वर्तत) लौटता है (तम) अन्धकार ॥

१ इस लक्षण में फलपाकान्त लता ओं से भेद करने क लिए स्तम्भवस्य विशेषण दिया है।

आपूपुरः=भर देती है, तू हे रात्रि, पृथिवी लोक को, स्थानों सहित
ाम=अन्तरिक्ष के। द्यौ के स्थानों को। बड़ी ठहरती है। लौटता है
ान् अन्धकार, इस लोक में।

२४. अरण्यानी। अरण्य की पत्नी। अरण्य-परे होता है ग्राम से।
मणम्=नहीं रमण योग्य होता है अथवा। उस की यह [ऋक्] होती
। २९॥

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ३॥

[ऋ० १०। १४६। १॥].

अरण्यानि, इति एनामामन्त्रयते। यासावरण्यानि वनानि पराची
व नश्यसि। कथं ग्रामं न पृच्छसि। न त्वा भीर्विन्दतीवेति। इवः
रिभयार्थे वा।

श्रद्धा। श्रद्धानात्। तस्या एषा भवति॥ ३०॥

अर्थ—(अरण्यानि) हे अरण्यानि [सम्बोधन एक वचन में],
अरण्यानि) [द्वितीया, बहुवचन, नपुं०] वनों के प्रति (असौ) वह
तू] जो (प्रेव) आगे-आगे जाती (नश्यसि) नष्ट हो जाती है। कैसे
ग्राम को नहीं पूछती, (न त्वा भीः) नहीं तुझे भय (इव) सा (विन्दति)
ाप्त होता॥

हे अरण्यानि, यह इस को सम्बोधन करता है। जो वह वनों के प्रति
आगे-आगे जाती सी नष्ट हो जाती है। कैसे ग्राम को नहीं पूछती हो। नहीं
तुझे भय सा प्राप्त होता। इवः, डर के अर्थ में अथवा।

२५. श्रद्धा। श्रत्=सत्य के धानात्=धारण करने से। उस की यह
[ऋक्] होती है॥ ३०॥

भाष्य—इस सूक्त का ऋषि ऐरम्मदः देवमुनि है। आधिदैविक पक्ष में वह
कौन है, यह स्पष्ट नहीं। बृहद्देवता २। ७४ के अनुसार अरण्यानी रूप है वाक्
का। ऋषि से सम्बोधित यह अरण्यानि, इन्द्र की इन्द्राणि के समान है॥ ३०॥

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

[ऋ० १० । १५१ । १ ॥]

श्रद्धयाग्नि साधु समिध्यते । श्रद्धया हवि साधु हूयते । श्रद्धा भगस्य भागधेयस्य मूर्धनि प्रधानाङ्गे वचनेनावेदयाम ।

पृथिवी व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ३१ ॥

अर्थ—श्रद्धा से अग्नि प्रदीप्त किया जाता है श्रद्धा से होमी जाती है हवि । श्रद्धा को सेवनीय [धर्म] के मूर्धा पर वचन द्वारा [हम] जनाते हैं ॥

श्रद्धा से अग्नि साधु रूप से प्रदीप्त किया जाता है । श्रद्धा से हवि साधु रूप से होमी जाती है । श्रद्धा को भगस्य=भागधेय=सेव्य धर्म के मूर्धनि=प्रधान अङ्ग मे वचन द्वारा आवेदयाम =आवेदन करते हैं ।

४६ पृथिवी । [निरु० १ । १४ म] व्याख्यात की गई [है ।] उस की यह [ऋक] होती है ॥ ३१ ॥

भाष्य—बृहद्देवता २ । ७४ के अनुसार श्रद्धा भी वाक् का रूपान्तर है ॥ ३१ ॥

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म सप्रथः ॥

[ऋ० १ । २२ । १५ ॥]

सुखा न पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी । ऋक्षर कण्टक । ऋच्छत । कण्टकं कंतपो वा । कृन्ततर्वा । कण्टतर्वा स्याद् गति कर्मण । उद्गततमो भवति । यच्छ न शर्म । [यच्छन्तु] शरणम् । सर्वत पृथु ।

अप्वा व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ३२ ॥

अर्थ—(स्योना) सुखरूपा (पृथिवी) हे पृथिवी (भव) हो (अन्-ऋक्षरा) नही कांटो वाली (निवशनी) वास योग्य । (यच्छ) दे (न) हमे (शर्म) शरण=स्थान (सप्रथ) साथ विस्तृत हुआ ॥

सुख वाली हमारे लिए हे पृथिवी हो, अनृक्षरा [और धारण योग्या । ऋक्षराः=कांटा । ऋच्छति से । कण्टकः=कंतपः=कित को तपः=गति करने वाला अथवा । कृन्तति से अथवा । कण्टति से अथवा होवे, गति अर्थ वाले से । उद्गततम=अत्यन्त ऊपर को उठा हुआ होता है । यच्छ=दो हमें शर्म=शरण । सब ओर से पृथु=विस्तृत । [पृथिवी जैसे विस्तृत हुई, यह पहले कहा गया है ।]

२७. अप्वा । [नि० ६ । १२ में व्याधि वा भय अर्थ में] व्याख्यात [है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३२ ॥

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥
[ऋ० १० । १०३ । १२ ॥]

अमीषां चित्तानि प्रज्ञानानि । प्रतिलोभयमाना गृहाणाङ्गानि अप्वे । परेहि । अभिप्रेहि । निर्दहैषां हृदयानि शोकैः । अन्धेनामित्रास्तमसा संसेव्यन्ताम् ।

अग्नायी । अग्नेः पत्नी । तस्या एषा भवति ॥ ३३ ॥

अर्थ—(अमीषाम्) इन [शत्रुओं] के (चित्तम्) चित्तों को (प्रति लोभयन्ती) उलटी ओर लोभित करती हुई, (गृहाण) पकड़ो (अङ्गानि) [इन के] अङ्गों को (अप्वे) हे अप्वे, (परेहि) [और] परे चली जा । (अभि प्रेहि) [इन के] अभिमुख जा, (निर्दह) सर्वथा जला दे (हृत्सु) हृदयों में (शोकैः) शोकों से, (अन्धेन अमित्राः तमसा) अत्यन्त अन्ध-अन्धकार से शत्रुओं को (सचन्ताम्) सेवन=युक्त कर ॥

इन [शत्रुओं] के चित्तों को=प्रज्ञानों को प्रतिलोभन करती हुई ग्रहण कर अङ्गों को, हे अप्वे । परे जा, [शत्रुओं के] अभिमुख जा । सर्वथा जला दे इन के हृदय को शोकों से । अन्धा करने वाले से, शत्रुओं को, अन्धकार से युक्त कर ।

२८. अग्नायी । अग्नि: की पत्नी । उस की यह [ऋक्] होती है ॥३३॥

इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये । अग्नायीं सोमपीतये ।
[ऋ० १ । २२ । १२ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता । ३४ ॥

अर्थ—(इह) यहाँ [इस कर्म में] इन्द्र की पत्नी को (उप ह्वये) बुलाता हूँ वरुण की पत्नी को कल्याण के लिए। अग्नि की पत्नी को सोम पान के लिए।

यह [ऋक्] स्पष्ट व्याख्यात [है।] ॥ ३४ ॥

अथातोऽष्टौ द्वन्द्वानि ।

[उलूखलमुसले ।] उलूखलं व्याख्यातम् । मुसलं मुहुःसरम् । तयोरेषा भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ—अब आगे आठ द्वन्द्व [निघण्टु ५ । ३ । २०–२६ तक हैं।]

२६ [उलूखलमुसले ।] उलूखल [नि० ९ । २० में] व्याख्या किया गया [है।] मुसलम्=बार बार [नीचे ऊपर] सरकने वाला। उन दोनों की यह [ऋक्] होती है ॥ ३५ ॥

आयजी वाजसातमा ता ह्युच्चा विजर्भृतः ।
हरी इवान्धांसि बप्सता ॥ [ऋ० १ । २८ । ७]

आयष्टव्ये अन्नानां संभक्ततमे । ते ह्युच्चैर्विह्रियेते हरी इवान्नानि भुञ्जाने ।

हविर्धाने हविषां निधाने । तयोरेषा भवति ॥ ३६ ॥

अर्थ—(आयजी) चारों ओर से यजनीय (वाजसातमा) अन्नों के बहुत अधिक दाता (ता) वे [उलूखल और मुसल] (हि) ही (उच्चा) ऊँचे स्वर से (विजर्भृतः) विहार करते हैं, [व्यापार करते हैं।] (हरी इव) इन्द्र के दोनों अश्वों के समान (अन्धांसि) अन्नों को (बप्सता) खाते हुए ॥

आयण्ड्ये=चारों ओर से यजनीय, अन्नों के बहुत अधिक दाता वे हि=वे दोनों उलूखल-मुसल ऊँचे स्वर से विहार करते हैं, दोनों अश्वों के समान अन्नों को खाते हुए।

३०. हविर्धाने। [सोम रूपी] हवियों के रखने के दो शकट=गाड़ियां। उन दोनों की यह [ऋक्] होती है ॥ ३६ ॥

भाष्य—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सूक्त २८ में सारे ६ मन्त्र हैं। बृहद्देवता के लेख में १-४ की देवता भागुरि के अनुसार इन्द्र और यास्क और कात्थक्य के अनुसार इन्द्र-उलूखल है। ५-८ की देवता उलूखल और उलूखल और मुसल है। शतपथ ७। ५। १। २२ के अनुसार सृष्टि बनते समय प्रजापति की वाक् से उलूखल बना। आधिदैविक पक्ष में—अन्तरिक्षं वा उलूखलम्। श० ७। ५। १। २६ है। इन्द्र और उलूखल का सम्बन्ध अवश्य है। दोनों मध्यम स्थानी हैं। इसी प्रसङ्ग से पार्थिव उलूखल-मुसल ने भी स्तुति प्राप्त की है ॥ ३६ ॥

आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः। इहाद्य सोमपीतये ॥
[ऋ० २। ४१। २१ ॥]

आसीदन्तु वामुपस्थमुपस्थानम्। [अद्रोग्धव्ये इति वा।] यज्ञिया देवाः। यज्ञसम्पादिनः। इहाद्य सोमपानाय।

द्यावापृथिव्यौ व्याख्याते। तयोरेषा भवति ॥ ३७ ॥

अर्थ—(वाम्) तुम दोनों की (उपस्थम्) पीठ पर (अद्रुहा) हे द्रोह रहित [हविर्धाने] (देवाः) देव (आ सीदन्तु) चारों ओर से [आ कर] बैठें। (यज्ञियाः) यज्ञ सम्पादिन [देव] (इह अद्य) यहां आज (सोमपीतये) सोम पीने के लिए ॥

बैठें तुम दोनों की पीठ पर। [नहीं द्रोह के योग्य अथवा।] यज्ञियाः देवाः=यज्ञसम्पादिनः=यज्ञ सम्पादन करने वाले। यहां आज सोम पीने के लिए।

३१. द्यावापृथिव्यौ। [निरुक्त २। २३ में] व्याख्या किए गए। उन दोनों की यह [ऋक्] होती है ॥ ३७ ॥

द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम् ।
यज्ञं देवेषु यच्छताम् ॥ [ऋ० २ । ४१ । २० ॥]

द्यावापृथिव्यौ न इमं साधनमद्य दिविस्पृशं यज्ञं देवेषु नियच्छताम् । विपाट्छुतुद्र्यौ व्याख्याते । तयोरेषा भवति ॥ ३८ ॥

अर्थ—द्यावापृथिवी (नः) हमारे (इमम्) इस (सिध्रम्) साधन [रूपी यज्ञ] को (अद्य) आज (दिविस्पृशम्) द्यौ को छूने वाले को (यज्ञम्) यज्ञ को देवों में (यच्छताम्) दें ॥

द्यावापृथिवी इस साधन को आज द्यौ को छूने वाले यज्ञ को देवों में दें ।

३९ विपाट्छुतुद्र्यौ । [निरुक्त २ । २४ २५ में] व्याख्या की गई । उन दोनों की यह [ऋक्] होती है ॥ ३८ ॥

भाष्य—पृथिवी पर किए गए यज्ञ की आहुति द्यौ तक पहुँचती है । आप, वायु, आग्नेय परमाणु और सूर्य की रश्मियाँ आदि पार्थिव हवि को द्यौ तक के देवों में बाँटती हैं । इस प्रकार द्यौ का सम्बन्ध पार्थिव अग्नि के साथ भी रहता है । इसी अभिप्राय से द्यौ को पार्थिव आयतन का कहा है ॥ ३८ ॥

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने ।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥
[ऋ० ३ । ३३ । १ ॥]

पर्वतानामुपस्थात् उपस्थानात् । उशत्यौ कामयमाने । अश्वे इव । विमुक्ते इति वा । विषण्णे इति वा । हासमाने । हासतिः स्पर्धायाम् । हर्षमाणे वा । गावाविव [शुभ्रे] शोभने । मातरौ संरिहाणे । विपाट् छुतुद्री पयसा प्रजवेते ।

आर्त्नी । आर्तन्यौ वा । अरण्यौ वा । आरिषण्यौ वा ।
तयोरेषा भवति ॥ ३९ ॥

अर्थ—(प्र पर्वतानाम्) पर्वतों की (उशती) कामना करती हुई [समुद्र को] (उपस्थात्) गोद से (अश्वे इव), घोड़ियों के समान

(विषिते) [अश्व शाला से] विमुक्त हुईं, (हासमाने) स्पर्धा करती हुईं (गावा इव=गावौ इव) दो गौओं के समान (शुभ्रे) शोभा वाली (मातरा=मातरौ) माताओं के समान (रिहाणे) चाटने की इच्छा करती हुईं, (विपाट् शुतुद्री) दोनों विपाट् और शुतुद्रि [नदियां] (पयसा) पयः से (प्रजवेते) पूरे वेग से दौड़ती हैं ॥

पर्वतों की उपस्थात्=उपस्थानात्=गोद से उशत्यौ=दोनों कामना करती हुईं, दो घोड़ियों के समान, [अश्वशाला से] विमुक्त हुईं अथवा, विषण्णे=इकट्ठी जुड़ी हुईं अथवा । हासमाने=हामनि स्पर्धा [अर्थ] में [है ।] प्रसन्न होती हुईं अथवा, दो गौओं के समान शोभा वाली, दो माताएं संरिहाणे=[मानों वत्सों को] चाटती हुईं विपाट् और शुतुद्रि पयः से वेग से दौड़ती हैं ।

३२. आर्त्नी । अर्त्न्यौ=धनुष के सिरे=धनुष कोटि अथवा, [चलाने वाली बाणों को] । अरण्यौ=अरणी=गमन योग्य अथवा, आरिपण्यौ= मारने वाली [शत्रुओं को] अथवा । उन दोनों की यह [ऋक्] होती है ॥ ३६ ।

भाष्य—पयः साधारण जल नहीं है । आगे खण्ड ४० में स्पष्ट है कि पयः द्यौ में वायु और आदित्य के कारण बनता है । पयः का अग्निः से साक्षात् सम्बन्ध है । समानजन्म वै पयश्च हिरण्यञ्च । उभयं ह्यग्निरेतसम् । श० ३ । २ । ४ । ८ ॥ सोमः पयः । श० १२ । ७ । ३ । १३ ॥ अन्तरिक्षस्य आपः भी पयः है । पयः का गम्भीर अर्थ है । अतः पयसा जवेते, से साधारण जल अर्थ समझना युक्त नहीं । यहां प्रकरण नदियों का है । वे अन्तरिक्ष में हैं, और पृथिवी पर भी । मन्त्रों का सम्बन्ध नित्य नदियों से है । नदियों पर कथन विशेष पहले २-२४, २५ के भाष्य में हो चुका है ॥ ३६ ॥

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे ।
अप शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान् ॥

[ऋ० ६ । ७५ । ४ ॥]

ते आचरन्त्यौ समनसाविव योषे । मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थ उपस्थाने । अपविध्यतां शत्रून्त्संविदाने आर्त्न्याविमे विघ्नत्यावमित्रान् ।

शुनासीरौ । शुनो वायुः । शु एत्यन्तरिक्षे । सीर आदित्यः । सरणात् । तयोरेषा भवति ॥ ४० ॥

अर्थ—(ते) वे दोनों [धनुष कोटी] (आचरन्ती) आचरण करती हुई (समना इव योषा) समान मन वाली दो स्त्रियों के समान (माता इव पुत्रम्) माता जैसे पुत्र को (बिभृताम् उपस्थे) धारती है गोद में । (शत्रून्) शत्रुओं का (अप विध्यताम्) वींधें (संविदाने) [मानो] संवाद करती हुई (आर्त्नी इमे) धनुष्कोटी ये दोनों (विस्फुरन्ती) नष्ट करती हुई (अमित्रान्) शत्रुओं को ॥

वे दोनों आचरण करती हुई, समान मन वाली दो स्त्रियों के समान माता जैसे पुत्र को धारती है गोद में । वींधें शत्रुओं को, संहार करती हुईं आर्त्नी इमे=ये दोनों धनुष्कोटी, विघ्नती=मारती हुई अमित्रों को।

३७ शुनासीरौ । शुन=वायु । शु=शीघ्र चलता है अन्तरिक्ष में । सीर=आदित्य । सरकने से । उन दोनों की यह [ऋक्] होती है ॥ ४० ॥

भाष्य—वायु और आदित्य ऊपर के लोकों में हैं । ऐसा यास्कीय भाष्य से स्पष्ट है । पर उन का आयतन पृथिवी पर भी सम्बद्ध है । अतः यह द्वन्द्व भी यहां गिना गया है ॥ ४० ॥

शुनांसीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पर्यः ।
तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ [ऋ० ४ । ५७ । ५ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ।

देवी जोष्ट्री देवी जोषयित्र्यौ । द्यावापृथिव्याविति वा । अहोरात्रे इति वा । सस्यं च समा च इति कात्थक्यः ।

तयोरेषा सम्प्रैषो भवति ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे शुनासीरौ=वायु और आदित्य इस वाणी को (जुषेथाम्) सेवन करो, जो द्यौ में (चक्रथुः) तुम दोनों ने किया पयः । उस [पय] से इस [पृथिवी] को (उप सिञ्चतम्) सींचो ॥

यह स्पष्ट ही व्याख्यात [है ।]

३५. देवी जोष्ट्री। दो देवियां, तृप्त करने वालियां । द्यावापृथिवी अथवा। अहोरात्र अथवा। सस्यम्=धान्य आदि और संवत्सर और, यह कात्थक्य [कहता है ।] उन दोनों का यह सम्प्रैष:=[अध्वर्यु का मन्त्रान्त में यज इति पद बोल कर होता को प्रार्थना का कथन] होता है ॥ ४२ ॥

भाष्य—इन दोनों आधिदैविक पदार्थों का भी पृथिवी का अग्निः आश्रय है। सम्प्रैष: । इस पर स्कन्द लिखता है—न ऋक्, न यजुः न साम। इति ॥ ४१ ॥

दे॒वी जो॒ष्ट्री वसु॑धिती॒ ययो॑र॒न्याघा द्वेषां॑सि यू॒यव॒दान्या
व॑क्ष॒द्वसु॒ वार्या॑णि॒ यज॑मानाय वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥
[मै० सं० ४ । १३ । ८ ॥ तै० ब्रा० ३ । ६ । १३ ॥]

देवी जोष्ट्री देव्यौ जोषयित्र्यौ । वसुधिती वसुधान्यौ । ययोरन्याघानि द्वेषांस्यवयावयति । आवहत्यन्या वसूनि वननीयानि यजमानाय । वसुवननाय च वसुधानाय च । वीतां पिबेताम् । कामयेतां वा । यजेति सम्प्रैष: ।

देवी ऊर्जाहुती । देव्या ऊर्जाह्वान्यौ । द्यावापृथिव्याविति वा । अहोरात्रे इति वा । सस्यं च समा च इति कात्थक्य: ।

तयोरेष: सम्प्रैषो भवति ॥ ४२ ॥

अर्थ—(देवी जोष्ट्री) दो देवियां तृप्त करने वालियां, (वसुधिती) धन को रखने वालियां (ययो: अन्या) जिन दो में से एक (अघा द्वेषांसि) पापों [और] द्वेषों को (यूयवत्) दूर करती है, (अन्या) दूसरी (आवक्षद्वसु) लाती है धनों को (वार्याणि) चाहने योग्यों को (यजमानाय) यजमान के लिए (वसुवने) धन के भाग के लिए (वसुधेयस्य) [और] धन के संग्रह के लिए । (वीताम्) [दोनों देवियां] पिएं, कामना करें अथवा, (यज) [हे होत:] यज ।

दो देवियां तृप्त करने वालियां । वसुधिती=धन को धारण करने वालियां। ययो:=जिन दो में से अन्या=एक अघानि=पापों को [और] द्वेषांसि=द्वेषों को अवयावयति=दूर करती है। आवहति=वहा लाती है दूसरी वसूनि=धनों

को यजमीयानि=चाहने योग्यों को यजमान के लिए। वसुवननाय च=धन के बांटने के लिए और वसुधानाय च=धन के संग्रह के लिए और, वीताम्=पिबेताम्=पिए, कामना करें अथवा। यज्ञ, यह कथन सम्प्रैष [है।]

३६ देवी ऊर्जाहुती। दो देवियां अन्न रस के बुलाने वालियां। द्यावापृथिवी अथवा। अहोरात्र अथवा। धान्य और संवत्सर और, यह कात्थक्य [कहता है।] उन दोनों का यह सम्प्रैष होता है ॥ ४२ ॥

देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्या वक्षत्सग्धिं सपीतिमन्या नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम पुराणेन नवं तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने। अधातां वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥

[मै० सं० ४। १३। ८॥ तै० ब्रा० ३। ६। १३॥]

देवी ऊर्जाहुती देव्यौ ऊर्जाह्वान्यौ। अन्नं च रसं चावहति [आवहति] अन्या। सहजग्धिं च सहपीतिं चान्या। नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम। पुराणेन नवम्। तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधाताम्। वसुवननाय च। वसुधानाय च। वीतां पिबेताम्। कामयेतां वा। यजेति सम्प्रैषः। यजेति सम्प्रैषः ॥ ४३ ॥

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

अर्थ—(देवी ऊर्जाहुती) दो देवियां, अन्न रस को बुलाने वालियां, [अन्न पूर्ण एं] (इषम् ऊर्जम् अन्या) धान्य आदि इष को, ऊर्ज=रस को (अन्या) एक (आ वक्षत्) लाती है। (स ग्धिम्)=सह जग्धिम्=एकत्र खाने को (स पीतिम्) एकत्र पीने को (अन्या) दूसरी। (नवम् पूर्वम्) [संवत्सर के] नए [धान्य से] पूर्व के [धान्य को] (दयमानः) रक्षा करते हुए (स्याम) हम होवें। (पुराणेन) पुराने [धान्य] से (नवम्) नए को। (ताम् ऊर्जम्) उस अन्न रस को (ऊर्जाहुती) अन्नरस के बुलाने वालियां (ऊर्जयमाने) बल करती हुई (अधाताम्) [हमें] देवें। (वसुवने) धन के विभाग के लिए (वसुधेयस्य) [और] धन के संग्रह के लिए। (वीताम्) पिएं, (यज) [हे होतः] यज ॥

देवी ऊर्जाहुती=दैव्यौ ऊर्जाह्वान्यौ=दो देवियां अन्न-रस को बुलाने वालियां, अन्न को और, रस को और लाती है एक। सहभोजन को और दूसरी। नए से पुराने को रक्षा करते हुए होवें। पुराने से नए को। उस ऊर्ज को ऊर्जाहुती, अन्न रस वालियां, बल करती हुईं हमें देवें। वसु को बांटने के लिए और, वसु के संग्रह के लिए और। पिएं, कामना करें अथवा। यज, यह सम्प्रैष [है।] यज, यह सम्प्रैष [है] ॥ ४२ ॥

भाष्य—ऊर्ज का अन्न रस केवल स्थूल अर्थ है। यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है, और अन्न-रस में विद्यमान रहता है। यह अर्थ मन्त्र और ब्राह्मण में प्रदर्शित है। इस के लिए वेदवाणी में हमारा लेख द्रष्टव्य है ॥ ४२ ॥

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथातो मध्यस्थाना देवताः । तासां वायुः प्रथमागामी भवति । वायुर्वातेः । वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः । एतेरिति स्थौलाष्ठीविः । अनर्थको वकारः । तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

अर्थ—अब मध्यमस्थान वाले देवता [कहते हैं ।]

उन में से वायुः प्रथम आने वाला होता है । वायुः वाति से । वेति से अथवा होवे, गति अर्थ वाले से । एति से, यह स्थौलाष्ठीवि [कहता है ।] [=एति चलना है ।] अनर्थक [है] वकार [वायु=आयु] । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १ ॥

भाष्य—जब सृष्टि बनने लगी, तो पञ्च महाभूतों के पश्चात्—

अग्नि , आप और वायु अपना काम करने लगे । तब प्रजापति=हिरण्यगर्भ =पुरुष उत्पन्न हुआ । प्रजापति पुरुष से पहले पृथिवी और द्युलो के विभिन्न अङ्ग उत्पन्न हुए । तब द्यावापृथिवी साथ साथ थे । वे जब दूर होने लगे, तब अन्तरिक्ष वरीय होने लगा । उस के कारण अन्तरिक्ष के देवगण भी उत्पन्न हुए । देव उत्पत्ति का स्वरूप निदर्शन हम ने पूर्व २ । २२ के अपने भाष्य में किया है । अन्तरिक्ष के वर हो जाने पर देव-निर्माण का सङ्केत पूर्व ९ । ११ में उद्धृत मन्त्र में वर्णित है—

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् । ऋ० १० । २७ । २३ ॥

इस मन्त्र पर यास्क का भाष्य है—देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन् । माध्यमिका देवगणाः । प्रथम इति मुख्यनाम ।

माध्यमिक देवगण भी तब क्रमशः उत्पन्न हुए । वायु पहले स था, पर उत्तर काल में अन्य देवों के साथ वह भी अमर हो गया । उस का वर्णन यहां किया गया है ।

प्रजापति और देव ही ईश्वरीय नियम के अनुसार मन्त्र-उत्पत्ति का कारण थे। अतः इस देवविद्या को समझे विना वेदार्थ का ज्ञान और वेदतत्त्व की अनुभूति असंभव है। योरोपीय ईसाई-यहूदी अध्यापकों ने यह अनुभूति प्राप्त नहीं की। फलतः उन की वेद-विषयक धारणाएं निस्सार हैं।

स्थौलाष्ठीविः का निर्वचन अद्भुत है। उस को ऐसा करने का अधिकार था। वस्तुतः व्याकरण शास्त्र में सौकर्य के लिए ही धातु और प्रकृति प्रत्यय की कल्पना की गई है॥ १॥

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ [ऋ० १। २। १॥]

वायवायाहि दर्शनीय। इमे सोमा अरङ्कृता अलङ्कृताः। तेषां पिब। शृणु नो ह्वानमिति। कमन्यं मध्यमाद् एवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति॥ २॥

अर्थ—(वायो) हे वायो (आ याहि) आओ, (दर्शत) हे दर्शनीय (इमे) ये (सोमाः) बहुविध सोम (अरङ्कृताः) अलङ्कृत किए गए हैं, (तेषां पाहि) उन को पियो, स्वायत्त करो, (श्रुधि) सुनो (हवम्) [हमारे] आवाहन को॥

हे वायो, आओ, हे दर्शनीय। ये सोम अलङ्कृत हैं। उन को पियो। सुनो हमारे आह्वान को। किस अन्य को [इस] मध्यम से ऐसा अवक्ष्यत्=कहता। उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है॥ २॥

भाष्य—दर्शत। यास्क इस का अर्थ करता है—दर्शनीय। क्या वायु दर्शन का विषय है। सोमाः, यहां बहुवचनान्त है। अन्तरिक्ष में बहुविध सोम होने चाहिएं। वे सोम अलङ्कृत किए गए हैं। वायु और इन्द्र उन्हें ग्रहण करते हैं। हमारे इस बुलावे को सुनो। देवता को मनुष्यवत् मान कर यह प्रार्थना है। वायु का एक अद्भुत गुण है—न खलु वै किंचन वायुना अनभिगतम् अस्ति। मै० सं० २। २। ७॥ २॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथातो मध्यस्थाना देवता । तासां वायुः प्रथमागामी भवति । वायुर्वातेः । वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः । एतेरिति स्थौलाष्ठीविः । अनर्थको वकारः । तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

अर्थ—अब मध्यमस्थान वाले देवता [कहते हैं ।]

उन में से वायु प्रथम आने वाला होता है । वायु वाति से । वेति से अथवा होवे, गति अर्थ वाले से । एति से, यह स्थौलाष्ठीवि [कहता है ।] [=एति चलना है ।] अनर्थक [है] वकार [वायु–आयु] । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १ ॥

भाष्य—जब सृष्टि बनने लगी तो पञ्च महाभूतों के पश्चात्—

अग्नि आपः और वायु अपना काम करने लगे । तब प्रजापति=हिरण्यगर्भ =पुरुष उत्पन्न हुआ । प्रजापति पुरुष से पहले पृथिवी और तदनु द्यौ के विभिन्न अङ्ग उत्पन्न हुए । तब द्यावापृथिवी साथ साथ थे । वे जब दूर होने लगे तब अन्तरिक्ष वरीय होने लगा । उस के कारण अन्तरिक्ष के देवगण भी उत्पन्न हुए । देव उत्पत्ति का स्पष्ट निदर्शन हम ने पूर्व २ । २२ के अपने भाष्य में किया है । अन्तरिक्ष के उरु हो जाने पर देव-निर्माण का संकेत पूर्व २ । २१ में उद्धृत मन्त्र में वर्णित है—

देवाना माने प्रथमा अतिष्ठन् । ऋ० १० । २७ । २३ ॥

इस मन्त्र पर यास्क का भाष्य है—देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन् । माध्यमिका देवगणाः । प्रथम इति मुख्यनाम ।

माध्यमिक देवगण भी तब क्रमशः उत्पन्न हुए । वायुः पहले से था, पर उत्तर काल में अन्य देवों के साथ वह भी अमर हो गया । उस का वर्णन यहां किया गया है ।

प्रजापति और देव ही ईश्वरीय नियम के अनुसार मन्त्र-उत्पत्ति का कारण थे। अतः इस देवविद्या को समझे विना वेदार्थ का ज्ञान और वेदतत्त्व की अनुभूति असंभव है। योरोपीय ईसाई-यहूदी अध्यापकों ने यह अनुभूति प्राप्त नहीं की। फलतः उन की वेद-विषयक धारणाएं निस्सार हैं।

स्थौलाष्ठीविः का निर्वचन अद्भुत है। उस को ऐसा करने का अधिकार था। वस्तुतः व्याकरण शास्त्र में सौकर्य के लिए ही धातु और प्रकृति प्रत्यय की कल्पना की गई है ॥ १ ॥

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः ।
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ [ऋ० १ । २ । १ ॥]

वायवायाहि दर्शनीय। इमे सोमा अरङ्कृता अलङ्कृताः। तेषां पिब। शृणु नो ह्वानमिति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति ॥ २ ॥

अर्थ—(वायो) हे वायो (आ याहि) आओ, (दर्शत) हे दर्शनीय (इमे) ये (सोमाः) बहुविध सोम (अरङ्कृताः) अलङ्कृत किए गए हैं, (तेषां पाहि) उन को पियो, स्वायत्त करो, (श्रुधि) सुनो (हवम्) [हमारे] आवाहन को ॥

हे वायो, आओ, हे दर्शनीय। ये सोम अलङ्कृत हैं। उन को पियो। सुनो हमारे आह्वान को। किस अन्य को [इस] मध्यम से ऐसा अवक्ष्यत् =कहता। उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २ ॥

भाष्य—दर्शत। यास्क इस का अर्थ करता है—दर्शनीय। क्या वायु दर्शन का विषय है। सोमाः, यहां बहुवचनान्त है। अन्तरिक्ष में बहुविध सोम होने चाहिएं। वे सोम अलङ्कृत किए गए हैं। वायु और इन्द्र उन्हें ग्रहण करते हैं। हमारे इस बुलावे को सुनो। देवता को मनुष्यवत् मान कर यह प्रार्थना है। वायु का एक अद्भुत गुण है—न खलु वै किंचन वायुना अनभिगतम् अस्ति। मै० सं० २। २। ७ ॥ २ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथातो मध्यस्थाना देवताः । तासां वायुः प्रथमागामी भवति । वायुर्वातेः । वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः । एतेरिति स्थौलाष्ठीविः । अनर्थको वकारः । तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

अर्थ—अब मध्यमस्थान वाले देवता [कहते हैं ।]

उन में से वायु प्रथम आने वाला होता है । वायुः वाति से । वेति से अथवा होवे, गति अर्थ वाले से । एति से, यह स्थौलाष्ठीवि [कहता है ।] [=एति चलना है ।] अनर्थक [है] वकार [वायु=आयु] । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १ ॥

भाष्य—जब सृष्टि बनने लगी, तो पञ्च महाभूतों के पश्चात्—

अग्नि, आप और वायु अपना काम करने लगे । तब प्रजापति=हिरण्यगर्भ पुरुष उत्पन्न हुआ । प्रजापति पुरुष से पहले पृथिवी और तदनु द्यौ के विभिन्न भाग उत्पन्न हुए । तब द्यावापृथिवी साथ साथ थे । वे जब दूर होने लगे, तब अन्तरिक्ष प्रतीत होने लगा । उस के कारण अन्तरिक्ष के देवगण भी उत्पन्न हुए । देव उत्पत्ति का स्पष्ट निदर्शन हम ने पूर्व २ । २२ के अपने भाष्य में किया है । अन्तरिक्ष के उत्पन्न हो जाने पर देव-निर्माण का संकेत पूर्व ९ । २२ में उद्धृत मन्त्र में वर्णित है—

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् । ऋ० १० । २७ । २३ ॥

इस मन्त्र पर यास्क का भाष्य है—देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन् । माध्यमिका देवगणाः । प्रथम इति मुख्यनाम ।

माध्यमिक देवगण भी तब क्रमशः उत्पन्न हुए । वायुः पहले से था, पर उत्तर काल में अन्य देवों के साथ वह भी अमर हो गया । उस का वर्णन यहां किया गया है ।

आसस्त्राणास इत्यस्यां वायुरिन्द्रश्च संस्तुतौ ।

इन्द्रः प्राधान्यतो वात्र स्तुतो वायुर्निपातभाक् ॥ ५ । १०७ ॥

सर्वानुक्रमणी में ऐसा कोई संकेत नहीं है ।

वायोः अमृतम् । वायु का अमृत=भक्ष कैसा है । वायु किस प्रकार दिव्य रूप धारण किए रहता है । इस का उत्तर है, सोम के भक्ष से वायु सदा अमृत है । वायु का वैद्युत् रूप सोम के कारण है । यास्क के अनुसार सुचक्रे= कल्याणचक्रे है । निरुक्त में मन्त्रगत सु उपसर्ग का यास्क प्रायः कल्याण अर्थ करता है ॥ ३ ॥

नीचीनबारं वरुणः कबन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् ।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥
[ऋ० ५ । ८५ । ३ ॥]

नीचीनद्वारं वरुणः । कबन्धं मेघम् । कवनमुदकं भवति । तदस्मि-न्धीयते । उदकमपि कबन्धम् उच्यते । बन्धिरनिभृतत्वे । कमनिभृतं च । ससृजति । द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च । महत्त्वेन तेन । सर्वस्य भुवनस्य राजा । यवमिव वृष्टिर्व्युनत्ति भूमिम् ।

तस्यैषापरा भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—(नीचीनवारम्) नीचे वार=द्वार वाले को (वरुणः) वरुण ने (कवन्धम्) मेघ को [कर के] (प्र ससर्ज) विशेष रूप से उत्पन्न किया (रोदसी) द्यावापृथिवी को [और] (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को । (तेन) इस [महत्त्व] से (विश्वस्य) सम्पूर्ण (भुवनस्य) भुवन का राजा, (यवम् न) जौ को जैसे [सींचते हैं, वैसे] वृष्टिः (वि—उनत्ति) गीला करती है (भूम) पृथिवी को ॥

नीचे द्वार वाले को, कवन्धम्=मेघ को । कवन उदक होता है । वह [उदक] इस [मेघ] में रखा जाता है । उदक भी कवन्ध कहा जाता है । बन्धिः, अ-निभृतत्वे=नहीं निभृत=गुप्त=बन्धा हुआ रखने के अर्थ में । कम्=सुख अथवा उदक, अनिभृतं च=नहीं बन्धा=चञ्चल । उत्पन्न करता है, द्यावापृथिवी को और, अन्तरिक्ष को और । इस [कर्म के]

आसस्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः ।
अभि श्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत् ॥
[ऋ० ६।३७।३ ॥]

आसस्राणासः । अभिबलायमानमिन्द्रम् । कल्याणचक्रे रथे योगाय । रथ्या अश्वाः । रथस्य वोढारः । ऋजुगामिनः । अन्नमभिवहेयुर्नवं च पुराणं च । श्रवः इत्यन्ननाम । श्रूयत इति सतः । वायोश्चास्य भक्तो यथा न विदस्येदिति ।

इन्द्रप्रधानेत्येके । नैघण्टुकं वायुकर्म । उभयप्रधानेत्यपरम् ।
वरुणः । वृणोतीति सतः । तस्यैषा भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—(आसस्राणासः) चारों ओर से सरकने वाले, (शवसानम्) अधिक बली मानते हुए (इन्द्रम्) इन्द्र को, (सुचक्रे) सुन्दर चक्र वाले [रथ] पर (रथ्यासः) रथ में जुड़े हुए (अश्वाः) अश्व (श्रवः) अन्न की ओर (ऋज्यन्तः) ऋजुगति वाले (अभि वहेयुः) ले जाएं=वहन करें, (नू चित् नु) जिस से नहीं (वायोः) वायु का (अमृतम्) अमृत (वि दस्येत्) बुझे, घटे, विकृत होवे ॥

आसस्राणास=चारों ओर से सरकने वाले, अभिबलायमानम्=अधिक बली मानते हुए इन्द्रम्=इन्द्र को, कल्याणचक्रे=सुन्दर पहियों वाले रथ पर योगाय=जुड़ने के लिए, रथ्या=रथस्य वोढारः=रथ के ले जाने वाले घोड़े, ऋजुगति वाले, अन्न को [अन्न की ओर] नए को और, पुराने को और, अभिवहेयु=ले जावें । श्रवः यह अन्न का नाम है । श्रूयते=सर्वत्र सुना जाता है, ऐसा होते हुए से । इस वायु का भक्त जैसे न विकृत हो।

इन्द्रप्रधाना [ऋक्] यह कई [आचार्य कहते हैं ।] नैघण्टुक=गौण है [इस में] वायु का कर्म । दोनों प्रधानों वाली, यह अपर [पक्ष है ।]
२ वरुण । घेरता (=आच्छादित करता) है, ऐसा होते हुए से । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३ ॥

भाष्य—बृहद्देवता ५ । १०० में पठित—आसस्राणासः पद का अर्थ मैकडानल ने 'Bringing hither' किया है । यह ठीक नहीं । इस मन्त्र की देवता के विषय में बृहद्देवता का लेख है—

आसस्त्राणास इत्यस्यां वायुरिन्द्रश्च संस्तुतौ ।
इन्द्रः प्राधान्यतो वात्र स्तुतो वायुर्निपातभाक् ॥ २ । १०७ ॥

सर्वानुक्रमणी में ऐसा कोई संकेत नहीं है ।

वायोः अमृतम् । वायु का अमृत=भक्ष कैसा है । वायु किस प्रकार दिव्य रूप धारण किए रहता है । इस का उत्तर है, सोम के भक्ष से वायु सदा अमृत है । वायु का वैद्युत रूप सोम के कारण है । यास्क के अनुसार सुचक्रे= कल्याणचक्रे है । निरुक्त में मन्त्रगत सु उपसर्ग का यास्क प्रायः कल्याण अर्थ करता है ॥ ३ ॥

नीचीनवारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् ।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥

[ऋ० ५ । ८५ । ३ ॥]

नीचीनद्वारं वरुणः । कवन्धं मेघम् । कवनमुदकं भवति । तदस्मिन्धीयते । उदकमपि कवन्धम् उच्यते । बन्धिरनिभृतत्वे । कमनिभृतं च । प्रसृजति । द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च । महत्त्वेन तेन । सर्वस्य भुवनस्य राजा । यवमिव वृष्टिर्व्युनत्ति भूमिम् ।

तस्यैषापरा भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—(नीचीनवारम्) नीचे वार=द्वार वाले को (वरुणः) वरुण ने (कवन्धम्) मेघ को [कर के] (प्र ससर्ज) विशेष रूप से उत्पन्न किया (रोदसी) द्यावापृथिवी को [और] (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को । (तेन) इस [महत्त्व] से (विश्वस्य) सम्पूर्ण (भुवनस्य) भुवन का राजा, (यवम् न) जौ को जैसे [सींचते हैं, वैसे] वृष्टिः (वि—उनत्ति) गीला करती है (भूम) पृथिवी को ॥

नीचे द्वार वाले को, कवन्धम्=मेघ को । कवन उदक होता है । वह [उदक] इस [मेघ] में रखा जाता है । उदक भी कवन्ध कहा जाता है । वन्धिः, अ-निभृतत्वे=नहीं निभृत=गुप्त=बन्धा हुआ रखने के अर्थ में । कम्=सुख अथवा उदक, अनिभृतं च=नहीं बन्धा=चञ्चल । उत्पन्न करता है, द्यावापृथिवी को और, अन्तरिक्ष को और । इस [कर्म के]

महत्त्व से। सारे भुवन का राजा। जो को जैसे वृष्टि गीला करती है भूमि को।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ४ ॥

भाष्य—धारम्, इस वैदिक पद से पञ्जाबी का बारी=खिड़की अपभ्रंश हुआ है। मेघ को नीचे द्वार वाला वरुण ने किया। मेघ का उदक पृथिवी पर क्यों पड़ता है। क्या पृथिवी के किसी आकर्षण से अथवा आन्तर्य सिद्धान्त के कारण। ध ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्। वरुण ने उत्पन्न किया द्यावापृथिवी को और अन्तरिक्ष को। इस कथन में वरुण की वह महत्ता है, जिस के द्वारा द्यावापृथिवी दूर दूर हो कर अपना वर्तमान रूप धारण कर रहे थे, और अन्तरिक्ष क्षीण हो रहा था। प्रतीत होता इस कारण से वरुण सारे भुवन का राजा है। सम्भवतः इन्द्र आदि ने इस कर्म में उतना भाग नहीं लिया ॥ ५ ॥

तम् षु समना गिरा पितृणां च मन्मभिः।

नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा

स मध्यमो नभन्तामन्यके समे ॥ [ऋ० ८। ४१। २ ॥]

तं स्वभिष्टौमि। समानया गिरा। गीत्या स्तुत्या। पितृणां च मननीयैः स्तोमैः। नाभाकस्य प्रशस्तिभिः। ऋषिर्नाभाको बभूव। यः स्यन्दमानानामासामपामुपोदये। सप्तस्वसारमेनमाह वाग्भिः। स मध्यम इति निरुच्यते। अथैष एव भवति। नभन्तामन्यके समे। मा भूवन्नन्यके सर्वे। ये नो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः। पापसङ्कल्पाः।

रुद्रः। रौतीति सतः। रोरूयमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा। यदरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्। यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्। तस्यैषा भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—(तम् उ) उस [वरुण] को ही (सु) सुन्दर [स्तौमि= स्तुति करता हूं] (समना गिरा) [उस के लिए] योग्य वाणी से (पितृणां च) और पितरों के (मन्मभिः) स्तोमों से, (नाभाकस्य) ऋषि नाभाक की (प्रशस्तिभिः) प्रशंसाओं से (सिन्धूनाम्) [जो]

वहती हुई नदियों के (उपोदये) प्रकट होने पर (सप्तस्वसा) सात भगिनियों वाला [होता है ।] (सः) वह [वरुण] (मध्यमः) मध्यम [है ।] (नभन्ताम्) न होवें (अन्यके समे) अन्य सारे [हमारे द्वेषी ।]

उस [वरुण] को सुन्दर स्तुति करता हूं। उस की अनुरूप वाणी से =गीति [और] स्तुति से। पितरों के और मनन योग्य स्तोमों से। नाभाक की प्रशंसाओं से। ऋषि नाभाक हुआ था। जो वहने वालियों के इन के उपोदये=उदय पर, सात भगिनियों वाले को इस को बोला, वाणियों से। वह [वरुण] मध्यम [है], यह कहा जाता है [मन्त्र में], वह यही होता है। मत हों दूसरे सारे, जो हमें द्वेष करते हैं, पाप बुद्धि वाले, पाप सङ्कल्प वाले।

३. रुद्रः। रौति=शब्द करता है=कोलाहल करता है, ऐसा होने से। रोरूयमाणः=बहुत अधिक शब्द करता हुआ द्रवति=दौड़ता है अथवा। रोदयति से [रुलाता है] अथवा। जो रोया, वह रुद्र का रुद्रपन है, यह काठक [संहिता अथवा ब्राह्मण] है। जो रोया वह रुद्र का रुद्रपन है, यह हारिद्रविक [प्रवचन] है।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ५ ॥

भाष्य—पितरों के स्तोम क्या हैं। वरुण मध्यम स्थानी है और पितर भी माध्यमिक देवगणों में हैं। वहां इन का परस्पर सम्बन्ध जानना चाहिए। नाभाक कौन था। कोई ऋषि था। इस दिव्य नाभाक और किसी मानव नाभाक का ज्ञान करना चाहिए। सप्तस्वसा—सात भगिनियों वाला वरुण। ये ही मध्यम स्थानी सात सिन्धुएं हैं।

रुद्र एक स्वतन्त्र देव है। कई उसे मेघ कहते हैं। रुद्र का अग्निः से गहरा सम्बन्ध है ॥ ५ ॥

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ॥
[ऋ० ७ । ४६ । १ ॥]

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवायाधस्तेऽषाढायान्यैः । सहमानाय । विधात्रे तिग्मायुधाय भरत । शृणोतु नः । तिग्मं तेजतेः उत्साहकर्मणः । आयुधमायोधनात् ।

तस्यैषापरा भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(इमाः) इन को रुद्र के लिए, दृढ़-धनुष वाले के लिए, (गिरः) स्तुतियों को (क्षिप्रेषवे) अति वेग से बाण फेंकने वाले के लिए, देव के लिए (स्वधाव्ने) अन्न वाले के लिए, (अषाढाय) न दबने वाले के लिए (सहमानाय) [शत्रुओं को] तिरस्कार करने वाले के लिए (वेधसे)=विधात्रे=जगत् बनाने वाले के लिए (तिग्मायुधाय) तीक्ष्ण आयुध वाले के लिए (भरत) धारण करो, (शृणोतु नः) [वह] सुने [हमारी स्तुतियों को] ॥

इमाः=इन को रुद्र के लिए, दृढधन्वी के लिए गिरः=स्तुतिओं को, शीघ्र इषु वाले के लिए, देव के लिए, अन्नवान् के लिए, न दबने वाले के लिए दूसरों से, दबाने वाले के लिए, विधाता के लिए, तीक्ष्ण आयुध वाले के लिए, भरत=धारण करो। सुने हमारी [स्तुतियों को]। तिग्मम्, तेजति, उत्साह अर्थ वाले से । आयुधम्=आयोधनात्=[: इस के साथ] युद्ध करने के [कारण] से।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—रुद्र के अनेक गुण इस मन्त्र में गिने हैं ॥ ६ ॥

या ते॑ दि॒द्युदव॑सृष्टा दि॒वस्परि॑ क्ष्म॒या चर॑ति॒ परि॒ सा वृ॑णक्तु नः ।
स॒हस्रं॑ ते स्वपिवात भेष॒जा मा न॑स्तो॒केषु॒ तन॑येषु रीरिषः ॥
[ऋ० ७ । ४६ । ३ ॥]

या ते दिद्युदवसृष्टा । दिवस्परि दिवोऽधि । दिद्युद् द्युतेर्वा । [द्योततेर्वा ।] क्ष्मया चरति । क्ष्मा पृथिवी । तस्यां चरति । तया चरति । विक्ष्मापयन्ती चरतीति वा । परिवृणक्तु नः सा । सहस्रं ते स्वाप्तवचन भैषज्यानि । मा नस्त्वं पुत्रेषु च पौत्रेषु च रीरिषः । तोकं तुद्यतेः । तनयं तनोतेः ।

अग्निरपि रुद्र उच्यते । तस्यैषा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(या ते) जो तेरी (दिद्युत्) चमकने वाली शक्ति=अशनि (अवसृष्टा) छोड़ी हुई (दिवस्परि) द्यौ से (क्ष्मया चरति) पृथिवी पर चलती है (सा) वह (परि वृणक्तु) बचाए हमें । सहस्र तेरे (स्वपिवात) हे सुन्दर आप्त वचन (भेषजा)=भैषज्यानि ओषध [हैं ।] मत हमारे पुत्रों में [और] पौत्रों में (रीरिषः) हानि पहुँचा ।

जो तेरी शक्ति छोड़ी हुई द्यौ से । दिद्युत्, द्युति से अथवा । द्योतति से अथवा । क्ष्मा=पृथिवी । उस पृथिवी पर चलती है । उस [पृथिवी] के द्वारा चलती है । हिंसा करती हुई विचरती है अथवा । बचाए हमें वह । सहस्र तेरे, हे सुन्दर आप्तवचन, ओषध [हैं ।] मत हमारे तू पुत्रों में और पौत्रों में और हानि पहुँचा । तोकम्, तुद्यति से । तनयम्, तनोति से ।

अग्निः भी रुद्र कहा जाता है । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ७ ॥

भाष्य—द्यौ से छोड़ी पृथिवी पर चलती है । मध्यम स्थानी रुद्र की शक्ति द्यौ से कैसे छोड़ी जाती है, यह समझना चाहिए । यास्क के भाष्य में दूसरा अर्थ है—तया चरति । उस पृथिवी के द्वारा चलती है । रुद्र की शक्ति का चलना द्यौ और पृथिवी के किसी प्रकार के संयोग का फल है । यह बात भी ध्यान देने योग्य है । यास्क एतद्विषयक कोई गम्भीर तत्त्व जानता था ।

ब्राह्मण प्रवचनों में अग्निः को बहुधा रुद्र कहा है ॥ ७ ॥

जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय ।

स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥ [ऋ० १ । २७ । १० ॥]

जरा स्तुतिः । जरतेः स्तुतिकर्मणः । तां बोध । तया बोधयितरिति वा । तद्विविड्ढि । तत्कुरु । मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय । स्तोमं रुद्राय दर्शनीयम् ।

इन्द्रः इरां दृणातीति वा । इरां ददातीति वा । इरां दधातीति वा । इरां दारयते, इति वा । इरां धारयते, इति वा । इन्दवे द्रवतीति वा ।

इन्द्रो रमते, इति वा । इन्धे भूतानीति वा । तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम् । इति विज्ञायते । इदं करणादित्याग्रायणः । इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः । इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः । इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा । द्रावयिता वा । आदरयिता वा । आदरयिता च यज्वनाम् ।

तस्यैषा भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—(जराबोध) हे स्तुति को जानने वाले (तत् विविड्ढि) वह करो, मनुष्य के मनुष्य के (यज्ञियाय) यज्ञ के योग्य [रुद्र के लिए ।] (स्तोमम्) स्तोम को (रुद्राय) रुद्र के लिए (दृशीकम्) दर्शन योग्य को ॥

जरा=स्तुति. । जरति से स्तुति-अर्थ वाले से । उस को जान । उस से बोधयित=जताने वाले अथवा । उसे करो । मनुष्य के मनुष्य के यजन के लिए । स्तोम को रुद्र के लिए दर्शनीय को ॥

४ इन्द्रः । इरां=[अन्न] अथवा पृथिवी को दृणाति=फाडता है अथवा, पृथिवी को देता है अथवा, पृथिवी को धारण करता है अथवा, पृथिवी को

[illegible] को

प्राणैः=प्राणों से समैन्धन्=प्रदीप्त किया, यह इन्द्र का इन्द्रत्व है । यह विशेष जाना जाता है । इदं करणात्=इसे को करने से, यह आग्रायण [कहता है ।] इस को देखने से, यह औपमन्यव [कहता है ।] इन्दति से अथवा ऐश्वर्य अर्थ वाले से । इन्दन्=ऐश्वर्य वाला होता हुआ शत्रुओं का दारयिता=फाड़ने वाला अथवा । भगाने वाला अथवा । आदर देने वाला और यज्ञ करने वालों का ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ८ ॥

भाष्य—इन्द्र—वृत्तिकारों ने इरा का केवल अन्न अर्थ माना है । पर इरा=इळा का पृथिवी अर्थ अधिक युक्त है । इन्द्र के वैद्युत् कर्मों से पृथिवी फटती है, पृथिवी का मथन हो कर मनुष्य के लिए दी जाती है । इन्द्र पृथिवी को धारण भी करता है । इरा का अन्न अर्थ निघण्टु में दिया गया है, पर यहां पृथिवी से अर्थ ठीक बैठता है ।

वायु से आवेष्टित वैद्युत् तेज ही इन्द्र है। वह प्राणों से दीप्त होता है। प्राण दीप्ति का कारण है। इस भाव को दृष्टि में रख कर ही इन्द्र का महत्कर्म समझ में आता है ॥ ८ ॥

अर्दर्दुरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्बद्बधानाँ अरम्णाः ।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव दानवं हन् ॥

[ऋ० ५ । ३२ । १ ॥]

अदृणाः, उत्सम् । उत्सः [उत्सरणाद्वा] । उत्सदनाद्वा । उत्स्यन्दनाद्वा । उनत्तेर्वा । व्यसृजोऽस्य खानि । त्वमर्णवानर्णस्वतः । एतान्माध्यमिकान्संस्त्यायान् बाबध्यमानानरम्णाः । रम्णातिः संयमनकर्मा । विसर्जनकर्मा वा । महान्तमिन्द्र पर्वतं मेघं यद् व्यवृणोः । व्यसृजोऽस्य धारा अवाहन्नेनं [दानवं] दानकर्माणम् ।

तस्यैषापरा भवति ॥ ९ ॥

अर्थ—(अर्दर्दः)=अदृणाः=फाड़ा (उत्सम्) मेघ को (वि–असृजः) खोल दिया (खानि) छेदों को (त्वम्) तू ने [हे इन्द्र], (अर्णवान्)= अर्णस्वतः=उदक से भरे [मेघों को] (बद्बधानान्) बन्धे हुओं को (अरम्णाः) क्षारित किया, बहाया । (महान्तम्) महान् को (इन्द्र) हे इन्द्र (पर्वतम्) मेघ को (यत्) जो [तू ने] (वि वः) खोला (वि सृजः) वहा दीं (धाराः) धाराएं (दानवम्) दानव असुर को अथवा मेघ को (अवहन्) मार गिराया ॥

फाड़ा उत्स=मेघ को । उत्सः=ऊपर सरकने से अथवा । ऊपर रहने से अथवा । ऊपर बहने से अथवा । उनत्ति से अथवा, गीला करता है । वि–असृजः=खोल दिया इस के खानि=छेदों को=आकाशों को । त्वम्= तूने अर्णवान्=जल वाले इन माध्यमिक संस्त्यायान्=मेघ समूहों को बाबध्यमानान्=बंधे हुओं को=पीड़ित होते हुओं को अरम्णाः=बहाया । रम्णातिः, संयमन अर्थ वाला । विसर्जन अर्थ वाला अथवा । महान् को इन्द्र ने पर्वतम्=मेघ को जब खोला । बहाईं इस की धाराएं । अवाहन्=मारा इस दानवम्=दान कर्म वाले को ।

इस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ९ ॥

भाष्य—निघण्टु ३, २३ के अनुसार उत्स कूप वाची है । पर यहां उत्स पद मेघ अर्थ दता है । संभवत अन्तरिक्ष में मेघों के अन्दर कूप भी होते हैं । मघ माध्यमिक हैं । मेघों में खानि=अवकाश या छिद्र कितना है यह जानना चाहिए । दानन का अर्थ दानकर्मा ध्यान योग्य है ॥ ९ ॥

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥

[ऋ० २ । १२ । १ ॥]

यो जात [जायमान] एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् । क्रतुना कर्मणा । पर्यभवत् पर्यगृह्णात् । पर्यरक्षत् । अत्यक्रामदिति वा । यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीताम् । नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन । स जनास इन्द्र । इति ।

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता ।

पर्जन्य' तृपे । आद्यन्तविपरीतस्य । तर्पयिता जन्य । पर जेता वा । परो जनयिता वा । प्रार्जयिता वा रसानाम् ।

तस्यैषा भवति ॥ १० ॥

अर्थ—जो उत्पन्न होते हुए ही मुख्य हुआ, (मनस्वान्) मेधावी (देव) देव, (देवान्) [अन्य] देवों को (क्रतुना) अपने कर्म से (परि-अभूषत्) सर्वोपरि हुआ । (यस्य शुष्मात्) जिस के बल से (रोदसी) द्यावापृथिवी (अभ्यसेताम्) कांपते हैं, (नृम्णस्य मह्ना) [जिस के] बल के महत्त्व स [भी], वह हे जनो, इन्द्र [है ।]

जिसने जात=जायमान=उत्पन्न होते हुए ही मुख्य, मेधावी देव ने, [अन्य] देवों को [अपने] कर्म स तिरस्कृत किया, [उन्हें अपने] आधीन किया [उन्हें असुरों से] रक्षित किया, अत्यक्रामत्=उल्लंघित किया अथवा । जिस के बल से द्यावापृथिवी भी अबिभीताम्=भयभीत हुए, बल के महत्त्व से भी । वह, हे जनो इन्द्र [है ।] ऋषेः=ऋषि के दृष्टार्थस्य=देखे हुए अर्थ की प्रीति होती है, आख्यान से संयुक्त हुई ।

५. पर्जन्यः । तृपि से, आद्यन्त के [वर्णों के] उलटे क्रम से । तर्पयिता=तृप्त करने वाला, जन्यः=जनों का हितकर । परः जेता वा=श्रेष्ठ जीतने वाला अथवा । श्रेष्ठ उत्पादक अथवा । भरपूर अर्जयिता=कमाने वाला रसों का ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १० ॥

भाष्य—आधिदैविक इन्द्र की उत्पत्ति का संकेत मन्त्र में है । वह मनस्वी है । सब देवों के ऊपर विराजमान हो गया । उस के बल से द्यावापृथिवी कांपते हैं । भ्यस्=भय और वेपन अर्थ में है । स जनासः इति से पूर्व का मन्त्रभाग ऋषि के दृष्टार्थ का मूल है । उस में इन्द्र के गुण और कर्म व्याख्यात है । पर, स जनास इन्द्रः इति, भाग आख्यानवत् है । जैसे कोई आख्यान कहने वाला श्रोताओं को कहता है, हे जनो, वैसे इस मन्त्र में यह अन्त का भाग आख्यान है । वह ऋषि के दृष्टार्थ में प्रीति उत्पन्न कराता है । जिस प्रकार निरुक्त ४ । ६ में—तत्र ब्रह्म, इतिहासमिश्रं, ऋङ्मिश्रं, गाथामिश्रं भवति से यास्क ने यह बताया है कि ऋ० १ । १०५ सूक्त में मन्त्र ही इतिहास का, मन्त्र ही स्तुति मात्र का और मन्त्र ही गाथा का रूप लिए हैं, वैसे ही यहां भी यह बताया है कि मन्त्र के पूर्व भाग में उत्तर का आख्यान-समान भाग संयुक्त है । मन्त्रों में ऐसा ही इतिहास और आख्यान है, लौकिक इतिहास आदि नहीं ॥१०॥

वि वृक्षान्हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात् ।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति दुष्कृतः ॥

[ऋ० ५ । ८३ । २ ॥]

विहन्ति वृक्षान्विहन्ति च रक्षाँसि । सर्वाणि चास्माद् भूतानि बिभ्यति महावधात् । महान्ह्यस्य वधः । अप्यनपराधो भीतः पलायते वर्षकर्मवतः । यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति दुष्कृतः पापकृतः ॥

बृहस्पतिः बृहतः पाता वा । पालयिता वा ।

तस्यैषा भवति ॥ ११ ॥

अर्थ—(वृक्षान्) वृक्षों को (वि हन्ति) पूर्णतया नष्ट करता है (उत) और (रक्षसः) राक्षसों को (वि हन्ति) मारता है । (विश्वम)

सारे को (विभाय) भय होता है (भुवनम्) भूत मात्र को (महावधात्) [इस] महान् वधकर्त्ता [पर्जन्य] से । (उत) और (अनागा) पाप रहित भी (ईषते) भागता है (वृष्ण्यावतः) [इस] वर्षाकर्म वाले से । (यत्) जो (पर्जन्य) पर्जन्य (स्तनयन्) गर्जता हुआ (हन्ति) मारता है (दुष्कृत) पाप करने वालों को ॥

विहन्ति=विविध रूप से मारता है वृक्षों को, विविध रूप से मारता है और राक्षसों को । मारे और इस से भूत डरते हैं, महान् वधकारी से । महान् ही इस का वध [है ।] अनपराधी भी डर कर भागता है [इस] वर्षाकर्म वाले से । जब पर्जन्य गर्जता हुआ मारता है पापकर्मकर्त्ता को ॥

६ बृहस्पति । बृहत =बड़े का रक्षक अथवा । पालक अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ११ ॥

भाष्य—मध्यम स्थानी पर्जन्य पृथिवी मण्डलान्तर्गत मेघ से पूर्व और ऊपर में होने वाली दशा प्रतीत होती है । यह पर्जन्य अन्तरिक्ष को और अति वृष्टि से पार्थिव वृक्षों को मार देता है । इसी प्रकार वह अन्तरिक्षस्थ राक्षसों को भी मारता है । पर्जन्य जलप्लावन भी उत्पन्न कर देता है । अतः भूतमात्र उस से भय पाता है । वह महावध है । पर्जन्य की गर्ज भी भयप्रद योग्य है । दुष्कृत, जो ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करते हैं ॥ ११ ॥

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम् ।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ॥
[ऋ० १० । ६८ । ८ ॥]

अश्नवता मेघेनापिनद्धं मधु पर्यपश्यत् । मत्स्यमिव दीने उदक निवसन्तम् । निर्जहार तच्चमसमिव वृक्षात् । चमसः कस्मात् । चमन्त्यस्मिन्निति । बृहस्पतिर्विरवेण शब्देन विकृत्य ।

ब्रह्मणस्पतिः । ब्रह्मणः पाता वा । पालयिता वा ।

तस्यैषा भवति ॥ १२ ॥

अर्थ—[बृहस्पति ने] (अश्ना-अपिनद्धम्) व्यापनशील [मेघ] [से] घिरे हुए (मधु) उदक को (परि-अपश्यन्) चारों ओर से देखा, (मत्स्यं न) मत्स्य को जैसे (दीने उदनि) थोड़े उदक में (क्षियन्तम्) वास करते हुए को [कोई देखे ।] (निः जभार) उसे [बाहर] निकाला, (चमसं न वृक्षात्) चमस [सोम पात्र] को जैसे वृक्ष से [तक्षक निकालता है=बनाता है ।] बृहस्पति ने (वि-रवेण) विशेष शोर से (विकृत्य) काट कर ॥

अश्नवता=व्यापनशील मेघ से अपिनद्धम्=ढके हुए मधु=उदक को चारों ओर से देखा । मत्स्य को जैसे स्वल्प उदक में वसते हुए को [देखते हैं ।] निकाला उस को, चमस को जैसे लकड़ी से [काट कर निकालते हैं ।] चमस जिस [काष्ठ] से । चमन्ति=पीते हैं इस में । बृहस्पति ने विशेष शोर से=शब्द से काट कर ।

७ ब्रह्मणस्पति । ब्रह्म=मन्त्र समूह का रक्षक अथवा, पालक अथवा । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १२ ॥

भाष्य—मेघ क्या है, और वह उदक को कैसे ढांपता है, यह [सब] कोई गंभीर रहस्य रखती है । आधुनिक विज्ञान तो और प्रकार से मानता है । वेद के अभ्यास करने वालों को ये रहस्य खोलने चाहिएं । बृहस्पति यह अन्तरिक्ष में है, अथवा द्यौ में यह भी निश्चय करना चाहिए । भौतिक अर्थों में और कोई बृहस्पति नहीं है । उस का रव=शोर किन मूलभूत कारणों से उत्पन्न होता है । वह अपने शोर से मेघ को कैसे काटता है, मैं इन बातों पर आश्चर्य करता हूं, पर अभी वैज्ञानिक पद्धति से इन्हें समझ नहीं सकता । इस में प्रयोग शाला में परीक्षणों की आवश्यकता है । पुनश्च मधु कैसे उदक है, यह भी अन्वेषणीय है ।

याज्ञिक प्रक्रिया वाले चमस आदि पात्रों से सुपरिचित होते हैं । बृहस्पति की कोई अवस्थाविशेष ही ब्रह्मणस्पति नाम वाली प्रतीत होती है । उस अवस्था से ब्रह्म मन्त्र=ज्ञान का सम्बन्ध है ॥ १२ ॥

अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत् ।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ॥
[ऋ० २ । २४ । ४ ॥]

अश्मनवन्तमास्यन्दनवन्तम् । अवातितं ब्रह्मणस्पतिं मधुधारम् । अभि यमोजसा तृणन्नाभ्यतृणत् । तमेव सर्वे पिबन्ति रश्मयः सूर्यस्य । बहुन सह सिञ्चन्त्युत्सम् । उद्रिणमुदकवन्तम् ॥ १३ ॥

अर्थ—(अश्मास्यम्)=अश्मनवन्तम् आस्यन्दनवन्तम्=व्यापनशील [और] बहनशील को (अवतम्)=अव अवितम्–नीचे [पृथिवी पर] गिरे हुए को (ब्रह्मणस्पति) ब्रह्मणस्पति न (मधुधारम्) उदक धारण करने वाले को (यम् ओजसा)=बलेन–जिस को बल से (अभि अतृणत्) सम्मुख फाड़ा । (तम् एव) उस को ही (विश्वे)=सर्वे=सारे (पपिरे)=पिबन्ति=पीते हैं (सूर्यदृशः)=रश्मयः सूर्यस्य–रश्मि सूर्यवत् दर्शन में हुए । (बहु साकम्)–बहु धनम् सह–बहुत इस को साथ मिल कर (सिसिचुः)=सिञ्चन्ति=सींचते हैं [ये रश्मि] (उत्सम् उद्रिणम्)–उदकवन्तम्–[उस] मेघ को उदक वाले को ॥ १३ ॥

भाष्य—मेघ के फाड़ने में ब्रह्मणस्पति का ओज बल भी साधन बनता है । इस पृथिवी पर गिरे उदक को रश्मि पीते हैं । क्या रश्मि उस उदक अन्दर व्याप्त करते हैं अथवा उदक परमाणु रश्मियों के साथ चिपक जाते हैं । उदक पीने पर रश्मि का भार बढ़ता है या नहीं । एक रश्मि उदक का एक परमाणु पीती है या अधिक । ये सूक्ष्म बातें समझने योग्य हैं । रश्मयः सूर्यदृशः=यह भी मननीय है ।[1] मन को रश्मि सींचते हैं । ये सब तत्त्व ज्ञातव्य हैं । अभी वेद का अभ्यास आरम्भ मात्र है । इस ओर संसार का ध्यान नहीं है ॥ १३ ॥

क्षेत्रस्य पतिः । क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मणः । तस्य पाता वा । पालयिता वा ।

तस्यैषा भवति ॥ १४ ॥

८ क्षेत्रस्य पतिः । क्षेत्रम्, क्षियति से निवास अर्थ वाले से उस का रक्षक अथवा । पालक अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १४ ॥

---

१ केतव भी सूर्यदृशः कहे गए हैं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक् । [ऋ० २ । ३५ । १० ॥]

इति यथा ।

यथारूपा च विशेषोऽजामि भवतीत्यपरम् ।

मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव ॥

[ऋ० १० । १६६ । ५ ॥]

इति यथा ।

वास्तोष्पतिः । वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः । तस्य पाता वा पालयिता वा । तस्यैषा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—(क्षेत्रस्य पते) हे क्षेत्र के पति, (मधुमन्तम् ऊर्मिम्) अत्यन्त मधु स्वाद युक्त उदक संघात को, (धेनुः इव पयः) धेनु जैसे दुग्ध को [वैसे] (अस्मासु) हमारे अन्दर (धुक्ष्व)—[स्यन्द कारय] बहाओ । (मधुश्चुतम्) मधु जिस से चूता हो, उस को (घृतम् इव सुपूतम्) घृत के समान, जो सुन्दर पवित्र हो उस को [हमारे अन्दर बहाओ ।] (ऋतस्य) ऋत के, हमें, (पतयः) रक्षक, (मृळयन्तु) सुख दें ॥

[पतयः]=पातारो वा=रक्षा करने वाले अथवा, पालने वाले अथवा । मृळयन्तु । मृळतिः उपदया कर्मा=रक्षा अर्थ वाला [है ।] पूजा अर्थ वाला अथवा । [अब मन्त्र में पुनरुक्त पद वा पदों पर विचार करते हैं ।] समान्याम् ऋचि=एक ऋक् में समान अभिव्याहारम्=[एक पद के] समान अर्थ को कहने वाला [दूसरा पद] होता है वह जामि=पुनरुक्त होता है यह एक [मत है । प्रस्तुत ऋक् में] मधुमन्तम्, [इस प्रथम पद के ही अर्थ वा भाव को कहने वाला उत्तर पाद में दूसरा पद] मधुश्चुतम् है यह जिस प्रकार [उदाहरण है । दोनों पदों में 'मधु' अंश समान है ।]

जो ही समान पाद में समान अभिव्याहारम्=समान अर्थ को कहने वाला होता है, वह जामि होता है, यह दूसरा [मत है ।]

हिरण्यरूप वाला वह हिरण्यवत् दीखने वाला [है ।] यह जिस प्रकार [उदाहरण है । यहां एक ही पाद में श्रूयमाण दोनों पदों में 'हिरण्य' अंश समान है ।]

यथा कथा च=और यथा कथञ्चित् [स्वल्पतम भी] जो विशेष [कथन रहता है, वह] अजामि=अपुनरुक्त होता है, यह और [मत है ।] (मण्डूका इव उदकात्) मण्डूक जैसे उदक से, (मण्डूका उदकात् इव) मण्डूक उदक से जैसे । यह जिस प्रकार [उदाहरण है ।] [यहां कथन में जो स्वल्पतम भेद हो गया है, उसी से अजामि है ।] अर्थात् उभयत्र मण्डूकाः इव उदकात् तीनों पद एक जैसे हैं तथापि प्रथम में इव का सम्बन्ध मण्डूक के साथ है दूसरे में उदकात् के साथ । यह थोड़ा सा भेद है ।

६. वास्तोष्पतिः । वास्तु, वसति से, निवास अर्थ वाले से । उस [वास्तु] का रक्षक अथवा, पालक अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १६ ॥

भाष्य—स्कन्द-महेश्वर ने निरुक्त विवरण समुच्चय में इस पुनरुक्त के विषय में तुल्य श्रुति का कथन कर के भामह का यमक का लक्षण उद्धृत किया है । भामह की प्रसिद्धि स्कन्द सदृश वैदिक विद्वान् तक पहुंचे चुकी थी । अतः भामह कलिसंवत् ३७४० से पूर्व का ग्रन्थकार है ।

पुनरुक्त विषय पर यास्क ने सब मत दे दिये हैं । यास्क से पूर्व इन विषयों पर सूक्ष्म विचार होते रहते थे ॥ १६ ॥

अ॒मी॒व॒हा वा॑स्तोष्पते॒ विश्वा॑ रू॒पाण्या॑वि॒शन् ।
सखा॑ सु॒शेव॑ एधि नः । [ऋ० ७ । ५५ । १ ॥]

अभ्यमनहा वास्तोष्पते सर्वाणि रूपाण्याविशन् । सखा नः सुसुखो भव । शेव इति सुखनाम । शिष्यतेः । वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः । शिवम् इत्यप्यस्य भवति । यद्यद्रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति ।

रू॒पंरू॑पं म॒घवा॑ बोभवीति ॥ [ऋ० ३ । ५३ । ८ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

वाचस्पतिः । वाचः पाता वा । पालयिता वा । तस्यैषा भवति ॥१७॥

अर्थ—(अमीव हा)=अभ्यमन हा=रोगों का नाशक (वास्तोष्पते) हे वास्तोष्पते=हे वास्तु=निवास के स्वामिन् (विश्वा रूपाणि) सारे रूपों में (आविशन्) आवेश=प्रवेश करते हुए (सखा) सखा (सुशेवः)= सुसुख=सुन्दर सुखकारी (एधि)=भव=होवो (नः) हमारा ॥

शेवः यह सुख का नाम [है ।] शिष्यति से । वकार प्रत्यय [है ।] अन्तस्थ अन्तरोपलिङ्गी=अन्त में स्थित [प्] के स्थान में आता है, वि-भाषितगुण=विकल्प से गुण होना है [=शिपू+व=शिव, गुण हो कर शेव] शिवम्, यह भी इस का [रूप] होता है । जो-जो रूप चाहता है, वह वह देवता होता है ।

रूप को रूप को (मघवा)=इन्द्र (बोभवीति) हो जाता है । यह भी निगम होता है ।

१०. वाचस्पतिः =वाक् का रक्षक अथवा, पालक अथवा । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १७ ॥

भाष्य—घरों में नीरोगता और सुन्दर सुख होने चाहिए ॥ १७ ॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते नि रामय मय्येव तन्वं मम ॥

इति सा निगदव्याख्याता ।

अपानपात् । तनूनपात्रा व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—(पुनः) फिर (एहि) आओ (वाचस्पते) हे वाचस्पते देव मन के साथ । (वसोष्पते) हे धन के स्वामिन् (नि रामय) निरन्तर रमण कराओ (मयि एव) मुझ में ही (तन्वम्) शरीर (मम) मेरा हो ।

यह वह स्पष्ट व्याख्यात है ।

११. अपानपात् । तनूनपात्रा=तनूनपात् से व्याख्यात है ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १८ ॥

भाष्य—पुनरेहि आथर्वण शौनक संहिता का पाठ है—

वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ १ । १ । २ ॥

पैप्पलाद संहिता १ । ६ । २ का पाठ है—

उप न एहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते नि रमय मय्येव तन्वां मम ॥

यास्क उद्धृत पाठ किसी अन्य आथर्वण संहिता का है ॥ १८ ॥

यो अ॒नि॒ध्मो दीद॑यद॒प्स्व१॒॑न्तर्यं विप्रा॑स॒ ईळ॑ते अध्व॒रेषु॑ ।
अपां नपा॒न्मधु॑मतीर॒पो दा॒ याभि॒रिन्द्रो॑ वावृ॒धे वी॒र्या॑य ॥

[ऋ० १० । ३० । ४ ॥]

योऽनिध्मो [दीदयद्] दीप्यतेऽभ्यन्तरमप्सु । यं मेधाविनः स्तुवन्ति यज्ञेपु । सोऽपांनपान्मधुमतीरपो देह्यभिपवाय । याभिरिन्द्रो वर्धते । वीर्याय वीरकर्मणे ।

यमः । यच्छतीति सतः । तस्यैषा भवति ॥ १९ ॥

अर्थ—(यः) जो (अनिध्मः) विना इन्धन (दीदयत्)=दीप्यते= दीप्त रहता है (अप्सु अन्तः)=अभ्यन्तरमप्सु=आपः के बीच में, (यम्) जिस को (विप्रासः)=मेधाविनः=वुद्धिमान् जन (ईळते)=स्तुवन्ति=स्तुति करते हैं (अध्वरेषु)=यज्ञेषु=यज्ञों में । (अपां नपात्)=सो=वह अपां नपात् (मधुमतीः अपः) मधु से भरे उदक (दाः)=देहि=दो [हमें] अभिपवाय=सोम निकालने के लिए । (याभिः) जिन आपः से (इन्द्रः) इन्द्र (वावृधे)=वर्धते=वढ़ता है (वीर्याय)=वीरकर्मणे=वीर कर्म के लिए ॥

१२. यमः । यच्छति=नियम में रखता है, ऐसा होते हुए ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १९ ॥

भाष्य—पार्थिव अथवा पवमान अग्निः काष्ठ आदि इन्धनों वाला है। पावक और शुचि अग्निः, तथा जठराग्निः अपांगर्भ हैं । यह अपांनपात् अनिध्मः=

समिन्धन है। वह होता ही आप में है। वहीं दीख होता है। अपांनपात् मधुमान् आप का हन्ता है। इन आप से इन्द्र वीरकर्म के लिए बढ़ता है। ऐसा इन्द्र क्या कभी मानव हो सकता है। वह स्पष्ट भौतिक सत्ता मात्र और दिव्य गुण युक्त होने से देव है। वदतिरिक्त इन्द्र जीवात्मा, परमात्मा और सूर्य आदि भी है ॥ १६ ॥

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥
[ऋ० १० । १४ । १ ॥]

परयिवासं पर्यागतवन्तम्। प्रवत उद्वतो निवत इति । अवतिर्गतिकर्मा । बहुभ्य पन्थानमनुपस्पाशयमानम् । वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्। यमं राजानं हविषा दुवस्य । इति । दुवस्यतिराप्नोतिकर्मा । अग्निरपि यम उच्यते। तमेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति ॥ २० ॥

अर्थ—(परयिवासम्)=पर्यागतवन्तम्=सब ओर से घेरने वाले को (प्रवत) मनुष्यों को (मही अनु) [और] भूमियों को (बहुभ्य पन्थानम्) सब के लिए मार्ग को (अनु पस्पशानम्)=अनुपस्पाशयमानम्=दिखाने वाले को (वैवस्वतम्) वैवस्वत को (सङ्गमनम् जनानाम्) सब जनो के सगति स्थान को (यम राजानम्) यम राजा को (हविषा =हवि से (दुवस्य) आराधना कर ॥

प्रवत , उद्वत , निवत [इन मे उपसर्ग के साथ वत् प्रत्यय है।] [अथवा] प्र वत , मे, वत , अवति से गति अर्थ वाले से। दुवस्यति = आप्नोति=प्राप्त करता है, अर्थ वाला है। [पाठान्तर-राध्नोतिकर्मा, आराधना अर्थ वाला।]

अग्नि भी यम कहा जाता है। उस को य ऋचाएं अनुप्रवचन करती है ॥ २० ॥

भाष्य—इस ऋक् में सारे विशेषण यमराज के हैं। दुवस्यति का अर्थ दो पाठों में है। प्रतीत होता है, यम को प्राप्त करने के भाव से भयभीत हो कर

राधोतिकर्मा वाला अर्थ पढ़ा गया है। दुर्ग वाले लघुपाठ में यही पाठ है। स्कन्द ने इस मन्त्रार्थ के अन्त में लिखा है—

दुवस्य=परिचर। आप्नुहि यज्ञान् हे वायो, हे अन्तरात्मन्, यजमान वा।

वैवस्वत द्यौ स्थानी है और उस का पुत्र यम मध्यम स्थानी है। मध्यम स्थान इन्द्र और वायु का है। वेद मन्त्रों में अग्निः भी यम है॥ २०॥

[१] सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका॥

[२] यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्॥

[३] तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्॥

इति द्विपदाः। [ऋ० १। ६६। ७, ८, ९॥[1]]

[१] सेनेव सृष्टा। भयं वा। बलं वा। दधाति। अस्तुरिव दिद्युत्त्वेषप्रतीका। भयप्रतीका। [बलप्रतीका यशःप्रतीकाः।] महाप्रतीका। दीप्तप्रतीका वा।

[२] यमो ह जात इन्द्रेण सह सङ्गतः।
यमाविहेहं मातरा॥ [ऋ० ६। ५९। २॥]

इत्यपि निगमो भवति।

यम इव जातः। यमो जनिष्यमाणः। जारः कनीनाम्। जरयिता कन्यानाम्। पतिर्जनीनाम्। पालयिता जायानाम्। तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति।

तृतीयो अग्निष्टे पतिः॥ [ऋ० १०। ८५। ४०॥]

इत्यपि निगमो भवति।

---

१. द्विपदागणानुसार यह मन्त्र संख्या दी है। मैक्समूलर ने स्वसम्पादित ऋग्वेद में दो दो द्विपदाओं को एक एक चतुष्पदा बना कर छापा है।

[२] तं त्र । चराथा चरन्त्या पश्वाहुत्या । वसत्या च निरस न्त्यौपधाहुत्या । अस्त यथा गाव आप्नुवन्ति तथाप्नुयाम । इदं समृद्धं भोगं ।

मित्र । प्रतीतस्त्रायते । सम्मिन्धानो द्रवतीति वा । मेदयतर्वा । तर्म्मेण वरति ॥ २१ ॥

अर्थ—[मनापति म] (सेना इव) सना जैसे (सृष्ण) आशा दी गई (आमम्) अन्न को (दधाति) देती है वा धारती है [तथा] (अस्तु न दिद्युत्) फेकन वाल की जैसे शक्ति (त्वषप्रतीका) दीप्त दाना=उज्ज्वला [अन्न को दनी है] ॥

(यम) जोड़ (ह)—इन्द्र के समान (जात) सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थ । (यम) जोड़ा है (जनित्वम्) जो उत्पन्न होगा । (जार कनीनाम्) जीर्णकर्ता कनीनाम्=कन्याओं का । पति=रक्षक, पालक है (जनीनाम्) =भार्याओं=विवाहिताओं का ॥

(तम्) उस (व—राम्) तुम को । (चराथा) अवदानाहुति द्वारा (वयम्) हम (वसत्या) [और] पुरोडाश आ्नि स (नक्षन्त) व्यापत हैं (अस्तं न गाव) घर को जैसे गौए व्यापती हैं, जाती हैं (इद्धम्) दीप्त को ॥

य [तीनों ऋचाएं] द्विपदा हैं ।

सना जैसे आशा दी गई अन्न को अथवा, बल को अथवा दधाति=देनी है वा धारण करनी है । फेकन वाल की शक्ति जैसे त्वषप्रतीका=त्वष प्रतीका, [अथवा बल प्रतीका यश प्रतीका], महाप्रतीका, दीप्त मुख वाली अथवा ॥

यमो ह जात', इन्द्र के साथ सङ्गत । [अर्थात् युगपज्जन्म अग्नि और इन्द्र का यथा—]

[ह इ—ामी] (यमो) तुम जोड़े [हो] यहां यहां (मातरा) माता [अदिति] के साथ ॥

यह भी निगम होता है ।

[२] जोड़े के समान उत्पन्न । जोड़ा (जनित्वम्)=जनिष्यमाणः= जीर्ण कर्ता कन्याओं का । पालन करने वाला भार्याओं का । तत्प्रधाना= अग्निः प्रधाना ही यज्ञ के संयोग से [भार्याएं] होती है।

[हे कन्ये] तीसरा अग्निः तेरा पति है। यह भी निगम होता है।

[३] उस तुझ को (चराथा)=चरन्त्या=पश्वाहुत्या=जङ्गम=अवदान आहुति से वसत्या च=और बसती हुई से=निवास करती हुई से, ओषधियों की आहुति से। घर को जैसे गौएं प्राप्त होती हैं, वैसे [हम] प्राप्त हों। इद्धम्=समृद्धम्=समृद्ध को भोगैः=भोगों द्वारा।

१३. मित्रः । प्रमीतेः=मौत से बचाता है । सम्यक्=चारों ओर से मिन्वानः=मापता हुआ द्रवति=बहता है अथवा [अन्तरिक्ष में] मेदयति= स्निग्ध करता है अथवा।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २१ ॥

भाष्य—सेनेव, इति । यमो ह, इति । तं वः, इति । ये तीनों द्विपदा ऋचाएं हैं, अर्थात् केवल दो पादों वाली एक ऋक् । ऋग्वेद मण्डल प्रथम, सूक्त ६६ में ये ऋचाएं हैं। यह नियम है कि संहिता के अध्ययन काल में ऐसी दो ऋचाओं को मिला कर एक ही ऋक् पढ़ी जाती है । इसी लिए संहिता के कतिपय मुद्रित संस्करणों में दो ऋचाएं एक की गई हैं। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र भाष्य में आचार्य धूर्तस्वामी ने लिखा है—

द्विपदासु अवसानप्रयोगो नास्ति । समास एव।

उपचरणीयासु द्विपदात्वं नेष्यते। इति छन्दोविचिति वचनात । प्रश्न ६, पटल ५, खण्ड १७, सूत्र ७ ॥

निरुक्त में यास्क ने अध्ययन का नियम नहीं वर्ता।

आगे पाठ है—

यमो ह जात इन्द्रेण सह सङ्गतः।

इस पर निरुक्त विवरण समुच्चय में स्कन्द स्वामी लिखता है—

ब्राह्मणमन्त्रनिगमात् । ब्राह्मणं तावत्—यमो ह जातः । इन्द्रेण सह सङ्गतः । युगपदित्यर्थः । मन्त्रं च—यमाविहेह, इत्यस्य शेषः ।

स्कन्द द्वारा उद्धृत पाठ किस ब्राह्मण ग्रन्थ से है, यह मैं नहीं जान सका।

यम अग्नि है, इस का उदाहरण यास्क ने इन तीन ऋचाओं द्वारा दिया है। यम का अर्थ है जोड़ा। यह अर्थ कैसे हुआ। यास्क का अभिप्राय है—ब्राह्मण ग्रन्थ ■। इसी लिए इन्द्रम् सह सङ्गत, कहा है। इन्द्र के साथ कौन जन्मा। उत्तर है, अग्नि। अत यम का अर्थ अग्नि हुआ।

जार' कनीनाम्। इस पर स्कन्द लिखता है—अग्निसन्निधौ व्यूढाना कन्यानाम् व्यापरति। एतदुक्त=उच्यते। यह भी एक भाव है।

पश्वाहुति। मध्यम स्थानी यम के लिए मध्यम स्थानी पकते हुए पशुओं की आहुति। इस पर स्कन्द लिखता है—पश्वाहुत्या पुरोडाशाहुत्या चेत्यर्थः। पार्थिव यज्ञों में पुरोडाश ही पशु स्थानी है ॥ २१ ॥

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥

[ऋ० ३। ५९। १ ॥]

मित्रो जनानायातयति प्रब्रुवाणः शब्दं कुर्वन्। मित्रो दाधार पृथिवीं च दिवं च। मित्रः कृष्टीरनिमिषन्नभिविपश्यतीति। कृष्टय इति मनुष्यनाम। कर्मवन्तो भवन्ति। विकृष्टदेहा वा। मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोतेति व्याख्यातम्। जुहोतिर्दानकर्मा।

क। कमनो वा। क्रमणो वा। सुखो वा। तस्यैषा भवति ॥ २२ ॥

अर्थ—(मित्र) मित्र (जनान्) लोगों को (यातयति)=आयातयति=कर्म में प्रयत्न कराता है, [यती=प्रयत्ने–स्कन्द] (ब्रुवाण)=प्रब्रुवाण=[मध द्वारा] शब्द करता हुआ। मित्र ही ने (दाधार)=धारण किया, धारयति=[अथवा अब] धारता है (पृथिवीम् उत द्याम्)=पृथिवीं च दिवं च=पृथिवी को और, द्यौ को और। (मित्र) मित्र (कृष्टी)=कृष्टय, इति मनुष्यनाम=मनुष्यों का, कर्मवन्तो भवन्ति=कर्मवान् होते हैं, विकृष्टदेहा=लम्बे शरीरों वाले अथवा। (अ—निमिषा) बिना नेत्र झपके (अभि चष्टे) देखता है। मित्र के लिए (हव्यम्) हव्य पदार्थों को (घृतवत्) घृत युक्त को (जुहोत) होमो। यह व्याख्यान [है।] जुहोति दान अर्थ वाला [है] ॥

१४. कः । प्रिय अथवा । क्रमण करने वाला अथवा । सुख स्वरूप अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २२ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

[ऋ० १० । १२१ । १ ॥]

हिरण्यगर्भो हिरण्मयो गर्भः । हिरण्मयो गर्भोऽस्येति वा । गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे । गिरत्यनर्थानिति वा । यदा हि स्त्री गुणान्गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति । समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको वभूव । स धारयति पृथिवीं च दिवं च । कस्मै देवाय हविषा विधेम इति व्याख्यातम् । विधतिः दानकर्मा ।

सरस्वान् । व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ २३ ॥

अर्थ—हिरण्यगर्भ (सम् अवर्तत) प्रकट हुआ (अग्रे) पहले (भूतस्य) भुवनमात्र अथवा भूतमात्र का (जातः) प्रसिद्ध हुआ (पतिः एकः) स्वामी एक (आसीत्) था, है । उस ने धारण किया (पृथिवीम् इमाम्) इस पृथिवी को, और द्यौ को । [उस] सुख स्वरूप देव के लिए हवि को दें ॥

हिरण्यगर्भः=हिरण्यमय गर्भ । हिरण्यमय गर्भ इस का अथवा । गर्भः, गृभि से, गृणाति=स्तुति अर्थ में । गिरति=निगलता है, अनर्थान्=अनर्थों को अथवा । जब ही स्त्री [वीर्य के] गुणान्=परमाणुओं को ग्रहण करती है, और गुण [रज के परमाणु] इस के ग्रहण किए जाते हैं [वीर्य के परमाणुओं से] तब गर्भ होता है । [समवर्तत]=समभवत्=प्रकट हुआ, प्रादुर्भूत हुआ, पहले । भूतमात्र का प्रसिद्ध पति एक ही हुआ । वह धारण करता है पृथिवी को और, द्यौ को और । सुख स्वरूप देव के लिए हवि दें, यह व्याख्यात है । विधतिः—[से], दान अर्थ वाला [है ।]

१५. सरस्वान् । व्याख्यात [है, ९ । २६ में ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २३ ॥

भाष्य—वेद प्रतिपादित सृष्टि उत्पत्ति को सरलता से समझने के लिए शतपथ ब्राह्मण का अगला प्रवचन ध्यान में रखना चाहिए। उस में हिरण्यगर्भ की सुन्दर व्याख्या सन्निहित है—

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त। कथं नु प्रजायेमहि इति। ता अश्राम्यन्। तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं सम्बभूव। तदिदं यावत् संवत्सरस्य वेला तावत् पर्यप्लवत। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः। ११।१।६।१-२॥

अर्थात्—आप निश्चय ही आरम्भ में सलिलावस्था [एकार्णवीभूतावस्था] में ही थीं। उन में [स्वयम्भू ब्रह्म द्वारा] कामना हुई। कैसे हम प्रजारूप में फैलें। उन्होंने श्रम किया। उन्होंने तप तपा। उन तपती हुई [आपों] में हिरण्याण्ड उत्पन्न हुआ। वह हिरण्याण्ड जब तक [एक देव] वर्ष का काल तब तक परि प्लव (=चक्र में तैरना) करता रहा। तब संवत्सर बीत जाने पर पुरुष प्रकट हुआ। वह प्रजापति [है।][1]

प्रस्तुत ऋक् में, प्रयुक्त कतिपय पदों और उन में यास्ककृत अर्थों के साथ, शतपथ के कतिपय पदों की तुलना आगे दी जाती है—

ऋक्	यास्क	शतपथ
हिरण्यगर्भ	हिरण्यमय गर्भ	हिरण्यमाण्डम्
समवर्तत	समभवत्	सम्बभूव
भूतस्य पति	भूतस्य पति	प्रजापति

जब शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन हो रहा था, तो प्रवचनकार के मन में यह और अन्य ऐसे मन्त्र उपस्थित थे। वेद के अनेक रहस्यों को समझने का यह मूल मन्त्र है।

सृष्टि बनते समय कितनी शक्तियां थीं और पृथिवी को धारण कर रही थीं, और अब कितनी यह काम कर रही हैं इस का ज्ञान आवश्यक है। एतद्विषयक कुछ सामग्री आगे दी जाती है—

---

१ वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ७०। इस पुस्तक का गर्भ=प्रपद का सारा अध्याय पढ़ना चाहिए।

१. स [हिरण्यगर्भ] दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् ।

ऋ० १० । १२१ । १ ॥

२. मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् । ऋ० ३ । ५६ । १ ॥

३. अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः ।

ऋ० १ । ६७ । ३ ॥

४, उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति । ऋ० १० । ३१ । ८ ॥

वैदिक विज्ञान के सूक्ष्म तत्त्वों का अध्ययन आरम्भ होना चाहिए ॥ २३ ॥

ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः । तेभिर्नोऽविता भव ॥

[ऋ० ७ । ९६ । ५ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ॥ २४ ॥

अर्थ—जो तेरे (सरस्व) हे सरस्वन् (ऊर्मयः) कल्लोल (मधुमन्तः) मधुयुक्त (घृतश्चुतः) घृत को संरक्षरण करने वाले हैं, उन से हमारे रक्षक होवो।

यह वह पाठमात्र से स्पष्ट व्याख्यात है ॥ २४ ॥

भाष्य—सरस्व रूप भी ठीक है और सरस्वन् भी । कभी ये दोनों रूप प्रसिद्ध थे । यह सरस्वान् मध्यम स्थानी है । अतः अन्तरिक्ष में जो मधु और घृत द्रव्य हैं, उन का ज्ञान करना चाहिए ।

इस मन्त्र के अर्थ के टिप्पण में वेलङ्कर जी ने लिखा है—

मधु and घृत in the Rigveda usually stand for tasty and nourishing foods respectively. (p. 210)

यह बात युक्त नहीं । मधु और घृत का ऐसा अभिप्राय है, पर इस के साथ मधु और घृत द्यौ और अन्तरिक्ष में पदार्थविशेष भी हैं । वेद पढ़ने वाले को उन का ज्ञान भी करना चाहिए ॥ २४ ॥

विश्वकर्मा । सर्वस्य कर्त्ता । तस्यैषा भवति ॥ २५ ॥

अर्थ—विश्वकर्मा । सब का कर्ता । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २५ ॥

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः ॥

[ऋ० १० । ८२ । २ ॥]

विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता । धाता च विधाता च । परमश्च सन्द्रष्टा भूतानाम् । तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा । अद्भिः सह सम्मोदन्ते । यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि । तेभ्यः परः आदित्यः । तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ती त्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम् । विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणाम् । एषामिष्टानि वा कान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा । अन्नेन सह सम्मोदन्ते । यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाणि । एभ्यः पर आत्मा । तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ती त्यात्मगतिमाचष्टे ।

तत्रेतिहासमाचक्षते । विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार । स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार । तदभिवादिन्य एषर्भवति ।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत् ॥ [ऋ० १० । ८१ । १ ॥]
इति ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २६ ॥

अर्थ—(विश्वकर्मा) विश्वकर्मा (विमना) विशाल मन वाला (आत् विहाया) और महान्—व्याप्ता—महान् और व्याप्त, (धाता) धारण कर्ता (विधाता) जीवन विधाता (परम उत) परम भी (सन्दृक्) सम्यक् द्रष्टा [भूतों का आदित्य वा आत्मा] (तेषाम् इष्टानि) उन [जनों] के प्रिय कार्य (समिषा मदन्ति—इषा स—मदन्ति) आप के साथ आनन्द मनाते हैं (यत्र) जहां (सप्त ऋषीन्) सात ज्योतियों वा इन्द्रियों से (पर) परे (एकम् आहुः) एक आदित्य वा आत्मा को कहते हैं ॥

विश्वकर्मा, विभूतमना=व्यापक, धाता और विधाता और, परमः च=सब से परे अथवा सब से उत्तम और सम्यक् द्रष्टा भूतों का। उन भूतों के इष्ट=प्रिय अथवा, कमनीय अथवा, क्रान्त=उल्लंघित अथवा, प्राप्त अथवा, माने हुए अथवा, झुके हुए अथवा [कर्म] आपः के साथ संम्मोदन्ते=आनन्द प्राप्त करते हैं। जहां ये सात ऋषीणानि=ज्योतींषि=रश्मि ज्योतियां [है।] तेभ्यः=उन से परे आदित्य [है।] वे [सात ज्योतियां] उस [आदित्य में] एक होती हैं। यह अधिदैवत है।

अब अध्यात्म=शरीर विषयक [अर्थ में।] विश्वकर्मा, विभूतमना, व्याप्त, धाता और, विधाता और, परम और, सन्दर्शयिता=दिखाने वाला इन्द्रियों का। इन [इन्द्रियों] के प्रिय अथवा, कमनीय अथवा, उल्लंघित अथवा, प्राप्त अथवा, माने हुए अथवा, भुके हुए अथवा [कर्म] अन्न के साथ आनन्द प्राप्त करते हैं। जहां ये सात इन्द्रियां [हैं।] इन से परे आत्मा [है।] वे [सात इन्द्रियां] इस [आत्मा में] एक होती हैं। यह आत्मगति=शरीर और आत्मा की गति को कहता है।

यहां इतिहास को कहते हैं। विश्वकर्मा भौवन ने सर्वमेध में सारे भूतों को होम दिया। उस ने अपने शरीर को भी अन्त में होम दिया। उस के कहने वाली यह ऋक् होती है।

जो इन सारे भूतों को होमता हुआ। इति।

उस की अगली [ऋक्] अधिक निर्वचन के लिए [है]॥ २६॥

भाष्य—(इपा) आपः के साथ। इप आपः का कौन सा रूप है, यह अन्वेषण योग्य है। सात रश्मि उन इपः आपः के साथ आनन्द मनाते हैं। ऋषि के सामने वह सारी मोदन-क्रिया प्रत्यक्ष हुई होगी। आदित्य का मण्डल आपः के विचित्र व्यापार का स्थान है।

इस एक ही मन्त्र में दो अर्थ अत्यन्त स्पष्टता से यास्क ने दिखाए हैं। सात इन्द्रियां=पांच इन्द्रियां तथा बुद्धि और मन।

इतिहास—शतपथ ब्राह्मण में प्रवचन है—

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः ॥
[ऋ० १० । ८२ । २ ॥]

विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता । धाता च विधाता च । परमश्च सन्द्रष्टा भूतानाम् । तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा । अद्भिः सह सम्मोदन्ते । यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि । तेभ्यः पर आदित्यः । तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम् । विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणाम् । एषामिष्टानि वा कान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा । अन्नेन सह सम्मोदन्ते । यत्रेमानि सप्त ऋषीणानीन्द्रियाणि । एभ्यः पर आत्मा । तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे ।

तत्रेतिहासमाचक्षते । विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार । स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार । तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत् ॥ [ऋ० १० । ८१ । १ ॥]
इति ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २६ ॥

अर्थ—(विश्वकर्मा) विश्वकर्मा (विमना) विशेष मन वाला (आद् विहाया) अति महान्=व्याप्ता=महान् अत व्याप्त (धाता) धारण कर्ता (विधाता) जीवन विधाता (परम उत) परम भी (सन्दृक्) सम्यक् द्रष्टा [भूतों का आदित्य वा आत्मा] (तेषाम् इष्टानि) उन [जनों] के प्रिय कार्य (समिषा मदन्ति इषा सम्मदन्ति) आप" के साथ आनन्द मनाते हैं (यत्र) जहां (सप्त ऋषीन्) सात ज्योतियों वा इन्द्रियों से (पर) परे (एकम् आहुः) एक आदित्य वा आत्मा को कहते हैं ॥

विश्वकर्मा, विभूतमना=व्यापक, धाता और विधाता और, परमः च=सब से परे अथवा सब से उत्तम और सम्यक् द्रष्टा भूतों का। उन भूतों के इष्ट=प्रिय अथवा, कमनीय अथवा, क्रान्त=उल्लंघित अथवा, प्राप्त अथवा, माने हुए अथवा, झुके हुए अथवा [कर्म] आपः के साथ सम्मोदन्ते=आनन्द प्राप्त करते हैं। जहां ये सात ऋषीणानि=ज्योतींषि=रश्मि ज्योतियां [है।] तेभ्यः=उन से परे आदित्य [है।] वे [सात ज्योतियां] उस [आदित्य में] एक होती हैं। यह अधिदैवत है।

अब अध्यात्म=शरीर विषयक [अर्थ में।] विश्वकर्मा, विभूतमना, व्याप्त, धाता और, विधाता और, परम और, सन्दर्शयिता=दिखाने वाला इन्द्रियों का। इन [इन्द्रियों] के प्रिय अथवा, कमनीय अथवा, उल्लंघित अथवा, प्राप्त अथवा, माने हुए अथवा, झुके हुए अथवा [कर्म] अन्न के साथ आनन्द प्राप्त करते हैं। जहां ये सात इन्द्रियां [हैं।] इन से परे आत्मा [है।] वे [सात इन्द्रियां] इस [आत्मा में] एक होती हैं। यह आत्मगति=शरीर और आत्मा की गति को कहता है।

यहां इतिहास को कहते हैं। विश्वकर्मा भौवन ने सर्वमेध में सारे भूतों को होम दिया। उस ने अपने शरीर को भी अन्त में होम दिया। उस के कहने वाली यह ऋक् होती है।

जो इन सारे भूतों को होमता हुआ। इति।

उस की अगली [ऋक्] अधिक निर्वचन के लिए [है]॥ २६॥

भाष्य—(इषा) आपः के साथ। इष आपः का कौन सा रूप है, यह अन्वेषण योग्य है। सात रश्मि उन इषः आपः के साथ आनन्द मनाते हैं। ऋषि के सामने वह सारी मोदन-क्रिया प्रत्यक्ष हुई होगी। आदित्य का मण्डल आपः के विचित्र व्यापार का स्थान है।

इस एक ही मन्त्र में दो अर्थ अत्यन्त स्पष्टता से यास्क ने दिखाए हैं। सात इन्द्रियां=पांच इन्द्रियां तथा बुद्धि और मन।

इतिहास—शतपथ ब्राह्मण में प्रवचन है—

तेन ह्येतेन विश्वकर्मा भौवन ईजे । तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवत् । अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदं सर्वं भवति य एवं विद्वान् सर्वमेधेन यजते । यो वैतदेवं वेद ॥ १३।७।१।१४ ॥

यास्क का इतिहास इस से भिन्न है ।। २६ ।

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥

[ऋ० १०।८१।६ ॥]

विश्वकर्मन् हविषा वर्धयमानः स्वयं यजस्व पृथिवीं च दिवं च । मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनाः सपत्नाः । इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु प्रज्ञाता । तार्क्ष्यः । त्वष्ट्रा व्याख्यातः । तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति । तूर्णमर्थं रक्षति । अश्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति ॥ २७ ॥

अर्थ—(विश्वकर्मन्) हे विश्वकर्मन्, हवि से (वावृधानः) बढ़ाता हुआ [तू] स्वयं यजन करो पृथिवी को और द्यौ को । (मुह्यन्तु) मोह को प्राप्त हों अन्य चारों ओर से [अधार्मिक] जन । यहां हमारा (मघवा) धनवान् पूर्ण ज्ञाता हो ॥

हे विश्वकर्मन्, हवि से बढ़ाता हुआ स्वयं यजन कर पृथिवी को और द्यौ को और । मोहयुक्त हों, दूसरे, चारों ओर से शत्रुजन । यहां हमारा इन्द्र प्रज्ञाता=पूर्ण ज्ञाता हो ।

१७ तार्क्ष्य. । [निरुक्त ८ । १३, १४ में सम निर्वचन वाले] त्वष्टा से व्याख्या किया गया [है ।] फैले हुए अन्तरिक्ष में निवास करता है । शीघ्र अर्थम्=उदक को रक्षा करता है । [स्कन्द पाठ—क्षरति ।] अश्नोति से अथवा, व्याप्त होना है ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २७ ॥

भाष्य—विश्वकर्मा की हवि जाननी चाहिए ॥ २७ ॥

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥

[ऋ० १०।१७८।१ ॥]

तं भृशमन्नवन्तम् । जूतिर्गतिः । प्रीतिर्वा । देवजूतं देवगतम् । देवप्रीतं वा । सहस्वन्तम् । तारयितारं रथानाम् । अरिष्टनेमिम् । पृतनाजितम् । आशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिह ह्वयेमेति । कमन्यं मध्यमादेव-मवदयत् । तस्यैषापरा भवति ॥ २८ ॥

अर्थ—(त्यम्=तम्) उस को (सु वाजिनम्) सुन्दर अन्न वाले को (देवजूतम्) देवों से प्रेरित वा देवों की प्रीति वाले को (सहावानम्) वल वाले (तरुतारम्) चलाने वाले को (रथानाम्) रथों के (अरिष्टनेमिम्) अहिंसित वज्र को (पृतनाजम्) संग्रामों के जेता को (आशुम्) शीघ्र (स्वस्तये) कल्याण के लिए (तार्क्ष्यम्) मध्म स्थानी तार्क्ष्य को को (इह) यहां (हुवेम) वुलावें ॥

उस को वहुत अन्न वाले को । जूतिः, गति [है], प्रीति अथवा । देवजूतम्=देवों को प्राप्त को, देवों से प्रीति वाले को अथवा । सहस्वन्तम्=वल वाले को । चलाने वाले को रथों के । अरिष्टनेमि को । संग्राम विजेता को । शीघ्र कल्याण के लिए, यहां वुलावें । किस दूसरे को मध्यतम स्थानी से [अन्य को] इस प्रकार कहता ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २८ ॥

भाष्य—आदित्य, चन्द्र आदि रथों को तार्क्ष्य चलाता है ॥ २८ ॥

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान ।
सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम् ॥
[ऋ० १० । १७८ । ३ ॥]

सद्योऽपि यः शवसा वलेन तनोत्यपः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि । सहस्रसानिनी शतसानिन्यस्य सा गतिः । न स्मैनां वारयन्ति प्रयुवतीमिव शरमयीमिषुम् ।

मन्युः । मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः । क्रोधकर्मणो [वधकर्मणो] वा । मन्यन्त्यस्मादिषवः । तस्यैषा भवति ॥ २६ ॥

अर्थ—(सद्यः चित्) शीघ्र ही (यः) जो (शवसा) वल से (पञ्च कृष्टीः) पांच जन जातियों के प्रति (सूर्यः इव ज्योतिषा) सूर्य जैसे

ज्योति से [तीनों लोकों को वैसे] (अप ततान) [वृष्टि रूपी] उदक को विस्तृत करता है । (सहस्रसाः) सहस्रों (शतसाः) सैंकड़ों [मेघों को तोड़ने वाली] (अस्य) [उग्र] इस [तार्क्ष्य] की (रंहि.) गति [है] (न स्म वरन्ते) नहीं कोई उसे रोक सकता (युवतिं न शर्याम्) शत्रु शरीरों में] मिश्रण होने वाली वा धसने वाली शरमयी इषु को] जैसे कोई रोक नहीं सकता ।]

शीघ्र ही जो बल से विस्तृत करता है उदक को, सूर्य जैसे ज्योति से । पांच मनुष्यों, सप्रजों के प्रति । सहस्रों को देने वाली, सैंकड़ों [मेघों] को देने वाली इस [तार्क्ष्य] की यह गति । नहीं इस [गति को] रोक सकते हैं । [शरीर में] खूब धंसती हुई को जैसे शरमयी इषु को ।

मन्यु = मन्यु । मन्यति से, दीप्ति अर्थ वाले से । क्रोध अर्थ वाले से, वध अर्थ वाले से अथवा । चमकते हैं, इस से [निकलते हुए] बाण ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २९ ॥

भाष्य—तार्क्ष्य उदक को विस्तृत करता है, यह अन्वेषण योग्य है । वह मेघों को कैसे फाड़ता है, इस क्रिया का स्वरूप भी जानना चाहिए ॥ २९ ॥

त्वया॑ मन्यो स॒रथ॑मारु॒जन्तो॒ हर्ष॑माणासो॒ऽधृषि॒ता म॑रुत्वः ।
ति॒ग्मेष॑व॒ आयु॑धा सं॒शिशा॑ना अ॒भि प्र य॑न्तु॒ नरो॑ अ॒ग्निरू॑पाः ॥
[ऋ० १० । ८४ । १ ॥]

त्वया मन्यो सरथमारुह्य रुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वस्ति ग्मेषव आयुधानि संशिश्यमाना अभिप्रयन्तु नरः । अग्निरूपा अग्निकर्माणः सन्नद्धाः कवचिन इति वा ।

दधिक्राः । व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ ३० ॥

अर्थ—(त्वया) तेरे साथ (मन्यो) हे मन्यो (सरथम्) एक रथ पर (आरुजन्तः) चढ़ कर पीड़ा देते हुए [शत्रुओं को] (हर्षमाणाः) प्रसन्न होते हुए (अधृषिताः) न दबते हुए (मरुत्व.) हे मरुतों वाले [इन्द्र]

(तिग्मेषवः) तीक्ष्ण बाणों वाले (आयुधा संशिशानाः) शस्त्रों को तेज करते हुए (अभि प्रयन्तु) प्रबलता से जाएं [शत्रुओं के] प्रति, (नरः) (अग्निरूपाः) जो अग्निरूप हैं ॥

तेरे साथ हे मन्यो, एक रथ पर चढ़ कर पीड़ा देते हुए, प्रसन्न होते हुए; हे मरुतों वाले [इन्द्र] तीक्ष्ण बाणों वाले, शस्त्रों को तेज करते हुए प्रबलता से [शत्रुओं के] प्रति जाएं नरः । अग्निः के अथवा विद्युत् के कर्मों वाले । तय्यार कवच धारण करने वाले अथवा ।

१९. दधिक्राः । [निरुक्त २ । २७ में] व्याख्यात [है ।]

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३० ॥

भाष्य—तप के पुत्र मन्यु का यह आर्ष है । इस सूक्त का देवता मन्यु है । ऋषि के विषय में प्रो० मैकडानल बृहद्देवता २ । ५३ में लिखता है—

the name of the Rishi invented from the contents of the two hymns R. V. X. 83, 84. वेद के ऋषि केवल मानव पुरुष नहीं हैं, इस साधारण बात को न समझ कर मैकडानल ने यह लेख लिखा है । नरः मरुतों में से एक श्रेणी है । वे अग्निरूप होते हैं । इन्द्र मरुतों का साथी है । मन्यु केवल क्रोध नहीं, प्रत्युत इस का अपना भौतिक अस्तित्व भी है । तप नाम का अग्निः भी है । तपो वा ऽग्निः । शत० ३ । ४ । ३ । २ ॥ उस का पुत्र भी आग्नेय पदार्थ है । मानव राजधर्म में इन्द्र, मरुत, नर और मन्यु आदि के आधार पर सेनापति, सेना और शस्त्रों के विषय में लुप्तोपमाओं को समझ कर, उपनिबद्ध उपदेश जाने जाते हैं ॥ ३० ॥

आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान ।
सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि ॥
[ऋ० ४ । ३८ । १० ॥]

आतनोति दधिक्राः [शवसा] बलेनापः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि । सहस्रसाः शतसाः । वाजी वेजनवान् । अर्वरणवान् । सम्पृणक्तु नो मधुनोदकेन वचनानीमानीति । मधु धमतेर्विपरीतस्य ।

सविता सर्वस्य प्रसविता । तस्यैषा भवति ॥ ३१ ॥

अर्थ—(दधिक्राः) दधिक्रा ने (शवसा) बल से (पञ्च कृष्टीः) पांच मनुष्य समूहों के प्रति (सूर्य इव ज्योतिषा) सूर्य जैसे ज्योति से [वैसे] (अपः) उदकों को (आततान) फैलाया। सहस्रों, सैकड़ों [मेघों का सभक्त] (वाजी अर्वा) देने वाला, कमाने वाला, धकेलने वाला (सम् पृणक्तु) मिलावे (मध्वा) मधु उदक से (इमा) इन [स्तुति रूपी] (वचांसि) वचनों को॥

फैलाता है दधिक्रा बल से उदकों को, सूर्य जैसे ज्योति से पांच मनुष्य समूहों के प्रति। सहस्रों, सैकड़ा वाजी=वजनवान् कमाने वाला, अर्वा= ईरणवान्=धकेलने वाला, मिलावे हमें मधुरूप उदक से इन वचनों को। मधु, धमति से, उलटे हुए से।

२० सविता। सब का प्रेरक।

उस की यह [ऋक्] होती है॥ २१॥

भाष्य—तार्क्ष्य और दधिक्रा का स्वरूप बहुत सा समान है। अतः ११ खण्ड के मन्त्र का इस मन्त्र के साथ बहुत सा पार्थक्य है॥ ३१॥

स॒वि॒ता य॒न्त्रैः पृ॑थि॒वीम॑रम्णादस्कम्भ॒ने स॑वि॒ता द्याम॑दृंहत्।
अश्व॑मिवाधुक्ष॒द् धुनि॑म॒न्तरि॑क्षम॒तूर्ते॑ ब॒द्धं स॑वि॒ता स॑मु॒द्रम्॥
[ऋ० १०। १४६। १॥]

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरमयत्। अनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्यामदृंहत्। अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षे मेघम्। बद्धम् अतूर्ते। बद्धम् अतूर्ण इति वा। अत्वरमाण इति वा। सविता समुदितारमिति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्।

आदित्योऽपि सवितोच्यते। तथा च हैरण्यस्तूपे स्तुतः। अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति॥ ३२॥

अर्थ—सविता ने यन्त्रों से पृथिवी को (अरम्णात्) थामा। (अस्कम्भने) आश्रय रहित [अन्तरिक्ष] में सविता ने द्यौ को (अदृंहत्) दृढ़ किया। (अश्वम् इव अधुक्षत्) अश्व को [जैसे

झाड़ते हैं वैसे] झाड़ा (धुनिम्) हिलते हुए मेघ को (अतूर्तें) अचल [अन्तरिक्ष] में (बद्धम्) बंधे हुए को सविता ने (समुद्रम्) उदक के बहाने वाले को ॥

सविता ने यन्त्रों से पृथिवी को अरमयत्=स्थिर किया । आश्रय रहित =स्कम्भ-रहित अन्तरिक्ष में सविता ने द्यौ को दृढ़ किया । अश्व को जैसे [झाड़ते हैं, वैसे] झाड़ा• धुनि=मेघ को अन्तरिक्ष में । बंधे हुए को अतूर्तें=अतूर्णे=अत्वरमाणे=अचल मे अथवा । सविता ने [समुद्रम्]= समुदितारम्=समय पर आने वाले को, गीला करने वाले को । किस दूसरे को [इस] मध्यम स्थानी के [अतिरिक्त] ऐसे कहता ॥

आदित्य भी सविता कहाता है । और वैसे हिरण्यस्तूप [ऋषि के सूक्त] में स्तुति किया गया है । अर्चन्-स्तुति करते हुए हिरण्यस्तूप ऋषि ने इस सूक्त को प्रवचन किया ।

उस की कहने वाली यह ऋक् होती है ॥ ३२ ॥

भाष्य— सविता आदित्य से भिन्न है । इस खण्ड के अन्त में ही यास्क लिखता है—आदित्योऽपि सवितोच्यते । अन्यत्र भी मन्त्र में कहा है—

> हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिर् उभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते ।
> अप—अमीवां बाधते वेति सूर्यम् । ऋ० १ । ३५ । ६ ॥

सविता सूर्य नहीं है । संभवतः रश्मि-विशेष रखने वाले केवल प्रातः समय के अवस्था-विशेष वाले आदित्य को सविता कहते हैं । उस समय उसे सूर्य वा आदित्य पारिभाषिक अर्थ में नहीं कहते ।

अरम्णात्=अरमयत् का अर्थ राजाराम ने किया है—रमण कराता है । यह ठीक नहीं । सविता ने कांपने वाली पृथिवी को वर्तमान अवस्था में स्थिर किया था । द्यौ का स्कम्भन अथवा दृंहण अनेक देवों द्वारा हुआ था । इस क्रिया का विपद वर्णन अनेक मन्त्रों में मिलता है यथा—

१. वरुण ने—अस्तभ्नाद् द्याम् असुरो विश्ववेदाः । ऋ० ८ । ४२ । १ ॥

यही मन्त्र तैत्तिरीय संहिता में भी है—

अर्थ—(दधिक्राः) दधिक्रा ने (शवसा) बल से (पञ्च कृष्टीः) पाच मनुष्य समूहो के प्रति (सूर्यः इव ज्योतिषा) सूर्य जैसे ज्योति से [वैसे] (अपः) उदकों को (आततान) फैलाया । सहस्रों, सैकडो [मेघों का सपत्ता] (वाजी अर्वा) देने वाला, कपाने वाला, धकेलने वाला (सम् पृणक्तु) मिलावे (मध्वा) मधु उदक से (इमा) इन [स्तुति रूपी] (वचांसि) वचनों को ॥

फैलाता है दधिक्रा बल से उदकों को, सूर्य जैसे ज्योति से पाच मनुष्य समूहों के प्रति । सहस्रों, सैकडो वाजी=वेजनवान् कपाने वाला, अर्वा= ईरणवान्=धकेलने वाला, मिलावे हमें मधुरू। उदक से इन वचनों को । मधु, धमति से, उलटे हुए से ।

२०. सविता । सब का प्रेरक ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३१ ॥

भाष्य—तार्क्ष्य और दधिक्रा का स्वरूप बहुत सा समान है । अतः ■■ सपद के मन्त्र का इस मन्त्र के साथ बहुत सा सादृश्य है ॥ ३१ ॥

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् ।
अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम् ॥
[ऋ० १० । १४९ । १ ॥]

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरमयत् । अनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्यामदृंहत् । अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षे मेघम् । बद्धम् अतूर्ते । बद्धम् अत्वरमाणे इति वा । सविता समुदितारमिति । कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् ।

आदित्योऽपि सवितोच्यते । तथा च हैरण्यस्तूपे स्तुतः । अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच । तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ॥ ३२ ॥

अर्थ—सविता ने यन्त्रों से पृथिवी को (अरम्णात्) थामा । (अस्कम्भने) आश्रय रहित [अन्तरिक्ष] में सविता ने द्यौ को (अदृंहत्) दृढ़ किया । (अश्वम् इव अधुक्षत्) अश्व को [जैसे

हिरण्यस्तूपो हिरण्यमयः स्तूपः। हिरण्यमयः स्तूपोऽस्येति वा। स्तूपः स्त्यायतेः। संघातः। सवितः यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजेऽन्नेऽस्मिन्नेवं त्वार्चन्। अवनाय वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रतिजागर्म्यहम्।

त्वष्टा, व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥ ३३॥

अर्थ—हिरण्यस्तूप ने, हे सवितः, जिस प्रकार, तुझे (आङ्गिरसः) अङ्गिरा के=पुत्र ने (जुह्वे) बुलाया (वाजे) अन्न रूप (अस्मिन्) इस [हवि] में। ऐसे तुझे (अर्चन्) स्तुति करता हुआ [मैं हैरण्यस्तूप] (अवसे) रक्षा के लिए (वन्दमानः) स्तुति करता हुआ [बुलाता हूं।] (सोमस्य इव अंशुं) सोम के सोम के प्रति (जागर) जागता हूं मैं।

हिरण्यस्तूपः=हिरण्यमय स्तूप। हिरण्यमय स्तूप इस का अथवा। स्तूपः, स्त्यायति से। संघात=ढेर [हैं।] हे सवितः, जिस प्रकार तुझे आङ्गिरस ने बुलाया अन्नरूप इस [हवि] में, उसी प्रकार तुझे स्तुति करता हुआ, रक्षा के लिए स्तुति करता हुआ, सोम के सोम के प्रति जागता हूं मैं।

२१. त्वष्टा। [८। १३ में] व्याख्या किया गया।

उस की यह [ऋक्] होती है॥ ३३॥

भाष्य—अङ्गिरा=आग्नेय प्राण। उस का पुत्र आङ्गिरस। आङ्गिरस का पुत्र हिरण्यस्तूप। उस हिरण्यस्तूप का पुत्र अर्चन् हैरण्यस्तूप। इन्हीं नामों के अनुकरण पर मानव ऋषियों के नाम हुए॥ ३३॥

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।

इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्।

[ऋ० ३। ५५। १९॥]

देवस्त्वष्टा सविता सर्वरूपः पोषति प्रजा रसानुप्रदानेन। बहुधा चेमा जनयति। इमानि च सर्वाणि भूतान्युदकान्यस्य। महच्चास्मै देवानामसुरत्वमेकम्। प्रज्ञावत्त्वं वा। अनवत्त्वं वा। अपि वासुः, इति प्रज्ञानाम। अस्यत्यनर्थान्। अस्ताश्चास्यामर्थाः। असुरत्वमादिलुप्तम्।

वातः। वातीति सतः। तस्यैषा भवति॥ ३४॥

अस्तभ्नाद् द्याम् ऋषभो अन्तरिक्षम् । ऋ० १ । २ । ८ ॥

२. इन्द्र ने—यो द्याम् अस्तभ्नाद् स जनास इन्द्रः ।
ऋ० २ । १२ । २ ॥

अवंशे द्याम् अस्तभायद् बृहन्तम् । ऋ० २ । १५ । २ ॥

अयं द्यावापृथिवी विष्कभायत् । ऋ० ६ । ४४ । २४ ॥

तत् पृथिवीम् अप्रथय तदस्तभ्ना उत द्याम् । ऋ० ८ । ८९ । ५ ॥

३ सोम ने—अयं महान् महता स्कम्भनेन उद् द्याम् अस्तभ्नाद्
वृषभो मरुत्वान् । ऋ० ६ । ४७ । ५ ॥

४ विष्णु ने—व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते । ऋ० ७ । ९९ । ३ ॥

५ वैश्वानर ने—व्यस्तभ्नाद् रोदसी मित्रो अद्भुत । ऋ० ६ । ८ । ३॥

६ क ने—येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा । ऋ० १० । १२१ । ५ ॥

७ इन्द्रासोमौ ने—उप द्या स्कम्भथु स्कम्भनेन । ऋ० ६ । ७२ । २ ॥

८ विश्वेदेवा ने—द्यावाभूमी पृथिवीं स्कम्भुरोजसा ।
ऋ० १० । ६५ । ५ ॥

९ सविता ने—यह प्रस्तुत मन्त्र में कहा ही है ।

हमने यहां इस विद्या का संकेतमात्र किया है । द्यावापृथिवी के दृढ होने में जो जो क्रियाएं हुई होंगी, उन का स्पष्ट बोलता चित्र वेद में ही है । उन अतीन्द्रिय घटनाओं का सत्य उल्लेख विज्ञान की एक अमूल्य निधि है । ऐसे वेद को इन ईसाई यहूदी पाश्चात्य लेखकों ने अस्पष्ट से अस्पष्ट कर देने का पूरा यत्न किया है ।

धुनिम्=हिन्दी में धुनिया (=रूई पींजने वाला) इसी से मिलता जुलता अपभ्रंश है । हिरण्यपाणि कोई भौतिक सत्त्व भी था । हिरण्यस्तूप आदि के समान ही यह शब्द भी है ॥ ३२ ॥

हिरण्यस्तूपः सवितुर्यथा त्वाऽऽङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन् ।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम् ॥
[ऋ० १० । १४९ । ५ ॥]

२३. अग्निः । [निरुक्त ७ । १४ में] व्याख्या किया गया ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३५ ॥

भाष्य—वात में हृदय के रोगों का भेषज्य है । वायु द्वारा धमनियों में रक्त की गति होती है । प्राणायाम आदि उसे ठीक और शुद्ध करते हैं । इस पर पूरी खोज करनी चाहिए ॥ ३५ ॥

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥
[ऋ० १ । १९ । १ ॥]

तं प्रति चारुमध्वरं सोमपानाय प्रहूयसे । सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति । कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् । तस्यैषापरा भवति ॥ ३६ ॥

अर्थ—(त्यम्=तम्) उस (चारुम्) सुन्दर (अध्वरम् प्रति) अध्वर के प्रति (गोपीथाय) सोमपान के लिए (प्र हूयसे) बुलाया जाता है । मरुतों के साथ हे अग्ने (आ गहि) आओ ॥

किस अन्य को मध्यम स्थानी [के अतिरिक्त] ऐसा कहता ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ३६ ॥

भाष्य—यह पावक अग्निः का प्रकरण है । इस में दैवी अध्वर का कथन है । यहीं मुरुतों के साथ अग्निः बुलाया जाता है । यह मध्यमस्थान विषयक ऋक् है ॥ ३६ ॥

अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥
[ऋ० १ । १९ । ९ ॥]

अभिसृजामि त्वा पूर्वपीतये पूर्वपानाय सोम्यं मधु सोममयम् । सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति ॥ ३७ ॥

अर्थ—(त्वा) तेरे लिए (पूर्वपीतये) पहले पीने के लिए (अभि सृजामि) तय्यार करता हूँ (सोम्यं) सोम से युक्त (मधु) मधु को । मरुतों के साथ हे अग्ने आओ ॥

तय्यार करता हूं, तेरे लिए, पहले पीने के लिए सोमयुक्त मधु को । वह [तू] हे अग्ने मरुतों के साथ आ ॥ ३७ ॥

अर्थ—देव त्वष्टा ने (सविता) उत्पादक ने (विश्वरूप.) सर्वरूप ने (पुपोष) पुष्ट किया (प्रजा:) प्रजाओं को (पुरुधा) बहुत प्रकार से (जजान) उत्पन्न किया । (इमा च) और ये (विश्वा भुवनानि) सारे भूत अथवा भुवन अर्थात् उदक (अस्य) इस के [हैं ।] *(महत् देवानाम्)* महान् [है] देवो में इस का (असुरत्वम् एकम्) प्राज्ञपन एक मात्र ।

देव त्वष्टा, सविता, सर्वरूप, पुष्ट करता है प्रजाओं को रस के अनुप्रदान से। बहुत प्रकार से इन्हें उत्पन्न करता है। ये और सारे भूत उदक इस के [हैं।] महान् और इस के लिए देवों में एक असुरत्व एक मात्र। [असुरत्व]=प्राज्ञपन अथवा। प्राणपन अथवा। अथवा असु: यह प्रज्ञा का नाम [है।] फेंकता है अनर्थों को। अस्ता: च=डाले हुए [होते हैं] इस में अर्थ। असुरत्वम् में आदि लुप्त [है। वसुरत्वम्, धन देने का गुण, जो उदक में है।]

२२ वात: । बहता है, ऐसा होने हुए।

उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ३४ ॥

भाष्य—त्वष्टा उदक की सहायता से सारे रूप बनाता है । यह रहस्य विज्ञान द्वारा खोजना चाहिए ॥ ३४ ॥

वात॒ आ वा॑तु भेष॒जं श॒म्भु म॑यो॒भु नो॑ हृ॒दे ।

प्र ण॒ आयूं॑षि तारिषत् ॥ [ऋ० १० । १८६ । १ ॥]

वात आवातु भैषज्यानि । शम्भु मयोभु च नो हृदयाय । प्रवर्धयतु च न आयु: ।

अग्नि:, व्याख्यात: । तस्यैषा भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ—(वात:) वात (आ वातु) [हमारी ओर] बहा लाए (भेषजम्) रोगनिवारक पदार्थ को, कल्याणकारी, सुखकारी हुआ (न:) हमारे (हृदे) हृदय के लिए। (न:) हमारे (आयूंषि) आयुओं को (प्र तारिषत्) बढ़ाए।

वात बहा लाए भैषज्यों को । कल्याणकारक, सुखकारक और हमारे हृदयों के लिए [जो हों।] बढ़ाएं और हमारा आयु।

२५. असुनीतिः । प्राणों को ले जाता है ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३९ ॥

भाष्य—वेन मध्यम स्थानी देव है । वह आपः और सूर्य के संगम में अपनी क्रिया करता है । यह संगम कहां पर है, यह अभी मैं नहीं कह सकता । एक ऐसा संगम आदित्य मण्डल में सदा बना रहता है । वेन वाला संगम जानना चाहिए । वेनस्तत्पश्यन् इति श्रुति में वेन पद ईश्वर वाची है । वेन आपः को प्रेरण करता है । यह प्रक्रिया भी अध्ययन योग्य है ।

प्राणवर्णगर्भा आपः । प्रकट अट वर्ण हैं गर्भ में जिन के ऐसे आपः को । इस का अर्थ समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्रतिरा न आयुः ।
रारन्धि नः सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥
[ऋ० १० । ५९ । ५ ॥]

असुनीते मनोऽस्मासु धारय । चिरं जीवनाय प्रवर्धय च न आयुः । रन्धय च नः सूर्यस्य सन्दर्शनाय । रध्यतिर्वशगमनेऽपि दृश्यते ।

मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥ [ऋ० १० । १२८ । ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति ।

घृतेन त्वमात्मानं तन्वं वर्धयस्व ।

ऋतः, व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ ४० ॥

अर्थ—हे असुनीते, प्राण, मन को हम में धारण करो, [चिर काल तक] जीने के लिए (सु प्र तिर) सुन्दर रूप से बहुत बढ़ाओ (नः) हमारा (आयुः) आयु । (रारन्धि) सावो (नः) हमें सूर्य के [दीर्घकाल तक] सम्यक् दर्शन के लिए । घृत से तू [हे असुनीते (तन्वम्) [अपने] शरीर को (वर्धयस्व) बढ़ाओ ॥

हे असुनीते, मन हम में धारण करो, चिरजीवन के लिए । बहुत बढ़ाओ और हमारा आयु । सफल करो और हमें सूर्य के सम्यक् दर्शन के लिए । रध्यतिः—वशगमने, वश पड़ने के अर्थ में देखा जाता है ।

मत (रधाम) वश में पड़ें (द्विषते) शत्रु के, हे सोम राजन् ॥

वेनः वेनतेः कान्तिकर्मणः । तस्यैषा भवति ॥ ३८ ॥

अर्थ—३८. वेनः । वेनति से, कान्ति अर्थ वाले से ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३८ ॥

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने ।
इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति ॥

[ऋ० १० । १२३ । १ ॥]

अयं वेनश्चोदयत् । पृश्निगर्भाः । प्राष्टवर्णगर्भाः आप इति वा । ज्योतिर्जरायुः । ज्योतिरस्य जरायुस्थानीयं भवति । जरायु जरया गर्भस्य । जरया यूयत इति वा । इममपां च सङ्गमने सूर्यस्य च । शिशुमिव विप्रा मतिभी रिहन्ति । लिहन्ति । [स्तुवन्ति ।] वर्धयन्ति । पूजयन्तीति वा । शिशुः शंसनीयो भवति । शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणः । चिरलब्धो गर्भो भवति ।

असुनीतिः । असून्नयति । तस्यैषा भवति ॥ ३९ ॥

अर्थ—इस वेन ने (चोदयत्) प्रेरित किया, (पृश्निगर्भाः) [जो] पृश्नि के गर्भ [में हैं उन को और] (ज्योतिः) ज्योति ही [जिस का] (जरायु) जेर [स्थानी] है, (रजसः) अन्तरिक्ष के (विमाने) स्थान में । (इमम्) इस [वेन] को आपः के संगम में (सूर्यस्य) और सूर्य के, (शिशुम् न) शिशु को जैसे [माता पालन कर के] बढ़ाती है, वैसे (विप्रा) मेधावी जन (मतिभिः) बुद्धियों से (रिहन्ति) बढ़ाते हैं, अथवा स्तुति करते हैं ॥

इस वेन ने प्रेरित किया, पृश्निगर्भा=प्राष्टवर्णगर्भा.=पृश्नियो=आदित्य के गर्भ में स्थित आपः को । प्रकृष्टतया अष्टवर्ण गर्भ वाले आपः अथवा । ज्योति ही जिन का जरायु स्थानीय होता है । जरायु=जरा के साथ गर्भ की, जरा के साथ मिश्रित होता है अथवा । इस [वेन] को आपः के और संगम म सूर्य के और । शिशु को जैसे [माता] बढाती है, वैसे विप्रजन बुद्धियाँ से बढाते ह । रिहन्ति=लिहन्ति, [स्तुवन्ति] वर्धयन्ति, पूजते है अथवा । शिशु=शासनीय होता है । शिशीति म अथवा होवे, गति अर्थ वाले से । चिर से प्राप्त उदक [रश्मियो को] गर्भ होता है ।

२७. इन्दुः । इन्धति से, उनत्ति से अथवा । चमकता है, वा गीला करता है।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४१ ॥

भाष्य—ऋत पद के अनेक अर्थ हैं। इस प्रकरण का ऋत मध्यम स्थानी है। ऋतञ्च सत्यञ्च इति मन्त्र में ऋत मध्यम स्थानी नहीं है । उस मन्त्र में सृष्टि बनने के आरम्भ का वृत्तान्त है । तब मध्यम ऋत उत्पन्न भी नहीं हुआ था। ऋत और आपः का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋत की वाक् से गतिशील मनुष्य के कान खुलते हैं। ज्योति वा उदक के कान जानने चाहिएं ॥ ४१ ॥

प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति । स्वयं सो अस्मदा निदो वधैरजेत दुर्मतिम् । अव स्रवेदघशंसोऽवतरमव क्षुद्रमिव स्रवेत् ॥ [ऋ० १ । १२६ । ६ ॥] ।

प्रब्रवीमि तद्भव्यायेन्दवे । हवनार्ह इव य इषवानन्नवान् कामवान्वा । मननानि च नो रेजयति । रक्षोहा च बलेन रेजयति । स्वयं सोऽस्मदभिनिन्दितारम् । वधैरजेत दुर्मतिम् । अवस्रवेदघशंसः । ततश्चावतरं क्षुद्रमिवावस्रवेत् । अभ्यासे भूयाँसमर्थं मन्यन्ते । यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति । तत्परुच्छेपस्य शीलम् । परुच्छेप ऋषिः । पर्ववच्छेपः । परुषि परुषि शेपोऽस्येति वा ।

इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि । सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि । तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि=वेनोऽसुनीतिर्ऋत इन्दुः ।

प्रजापतिः । प्रजानां पाता वा पालयिता वा । तस्यैषा भवति ॥४२॥

अर्थ—(तत्) [स्तुतिरूप इष्ट] (प्रवोचेयम्) कह सकूं (भव्याय) वृद्धि और हानि वाली कला से युक्त के लिए (इन्दवे) चन्द्रमा के लिए (हव्यः) हवनार्ह (न) के समान (यः) जो (इषवान्) स्तुति की इच्छा वाला, अथवा स्तोताओं के लिए देने योग्य अन्न वाला (मन्म) [हमारे] स्तवन को (रेजति) कंपाता है, (रक्षोहा) राक्षसों का हन्ता (मन्म रेजति) [राक्षसों के] मनन=चित्त को कपाता है । (स्वयं सः) स्वय वह (अस्मत्) हम से (आ निदः) सामने निन्दा करने वालों को

यह भी निगम होता है। घृतेन=[अन्तरिक्षस्य] घृत से तू अपने शरीर को बढ़ाओ।

२६ ऋत । [निरुक्त २ । २५ म] व्याख्या किया गया।

उस को यह [ऋक्] होती है ॥ ४० ।

भाष्य—असुनीति । प्राण अथवा प्राण को ले जाने वाला तत्त्व । प्राण ही जीवन है। अतः असुनीति का दीर्घ आयु से सम्बन्ध है । यह असुनीति तत्त्व घृत से बढ़ता है और वह भी एक मात्र गोघृत से ॥ ४० ॥

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥
[ऋ० ४ । २३ । ८ ॥]

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः । ऋतस्य प्रज्ञा वर्जनीयानि हन्ति । ऋतस्य श्लोको बधिरस्यापि कर्णावातृणत्ति । बधिरो बद्धश्रोत्रः । कर्णौ बोधयन् दीप्यमानश्चायोरयनस्य । मनुष्यस्य । ज्योतिषो वा । उदकस्य वा ।

इन्दुः । इन्धेरुनत्तेर्वा । तस्यैषा भवति ॥ ४१ ॥

अर्थ—ऋत की [मध्यम स्थानी की] ही (शुरुधः) आप हैं (पूर्वीः) पहले से संचित, ऋत की प्रज्ञा (वृजिनानि) वर्जन योग्य कामों को=पापों को मारती है। ऋत की वाक् (बधिरा) बहरे के भी (ततर्द) खोलती है (कर्णा–कर्णौ) कानों को (बुधानः) बोधन कराती हुई (शुचमानः) दीप्त होती हुई (आयोः) मनुष्य के ॥

ऋत की ही आपः हैं पूर्व संचित। ऋत की प्रज्ञा वर्जनीय कर्मों को मारती हैं। ऋत की वाक् बहरे के भी कानों को आतृणत्ति–खोल देती है। बधिर=बद्ध श्रोत्र=बन्द कान वाला । कानों को बोधन कराती हुई, दीप्यमान हुई, आयोः=अति शील मनुष्य के। ज्योति के अथवा । उदक के अथवा ।

२७. इन्दुः । इन्धति से, उनत्ति से अथवा । चमकता है, वा गीला करता है ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४१ ॥

भाष्य—ऋत पद के अनेक अर्थ हैं । इस प्रकरण का ऋत मध्यम स्थानी है । ऋतञ्च सत्यञ्च इति मन्त्र में ऋत मध्यम स्थानी नहीं है । उस मन्त्र में सृष्टि बनने के आरम्भ का वृत्तान्त है । तब मध्यम ऋत उत्पन्न भी नहीं हुआ था । ऋत और आपः का घनिष्ट सम्बन्ध है । ऋत की वाक् से गतिशील मनुष्य के कान खुलते हैं । ज्योति वा उदक के कान जानने चाहिएं ॥ ४१ ॥

प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति । स्वयं सो अस्मदा निदो वधैरजेत दुर्मतिम् । अव स्रवेदघशंसोऽवतरमव क्षुद्रमिव स्रवेत् ॥ [ऋ० १ । १२९ । ६ ॥] ।

प्रब्रवीमि तद्भव्यायेन्दवे । हवनार्ह इव य इषवानन्नवान् कामवान्वा । मननानि च नो रेजयति । रक्षोहा च बलेन रेजयति । स्वयं सोऽस्मदभिनिन्दितारम् । वधैरजेत दुर्मतिम् । अवस्रवेदघशंसः । ततश्चावतरं क्षुद्रमिवावस्रवेत् । अभ्यासे भूयाँसमर्थं मन्यन्ते । यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति । तत्परुच्छेपस्य शीलम् । परुच्छेप ऋषिः । पर्ववच्छेपः । परुषि परुषि शेपोऽस्येति वा ।

इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि । सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि । तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि=वेनोऽसुनीतिर्ऋत इन्दुः ।

प्रजापतिः । प्रजानां पाता वा पालयिता वा । तस्यैषा भवति ॥४२॥

अर्थ—(तत्) [स्तुतिरूप इष्ट] (प्रवोचेयम्) कह सकूं (भव्याय) वृद्धि और हानि वाली कला से युक्त के लिए (इन्दवे) चन्द्रमा के लिए (हव्यः) हवनार्ह (न) के समान (यः) जो (इषवान्) स्तुति की इच्छा वाला, अथवा स्तोताओं के लिए देने योग्य अन्न वाला (मन्म) [हमारे] स्तवन को (रेजति) कंपाता है, (रक्षोहा) राक्षसों का हन्ता (मन्म रेजति) [राक्षसों के] मनन=चित्त को कंपाता है । (स्वयं सः) स्वयं वह (अस्मत्) हम से (आ निदः) सामने निन्दा करने वालों को

(वधैः) प्रहारों से (अजेत) जीते (दुर्मतिम्) पाप बुद्धि को । (अव स्रवेत्) नीचे जावे=क्षीण होवे (अघशंस) पाप की प्रशंसा करने वाला (अवतरम्) [और] अधिक क्षीणता को (क्षुद्रम् इव) क्षुद्र द्रव्य [=उदक आदि] के समान (अव स्रवत्) नीचे बहे ॥

भले प्रकार बढ़ता हूं वह भव्य चन्द्रमा के लिए हवनार्ह के समान जो इषवान्=अन्न वाला, [स्तुति की] इच्छा वाला अथवा । मननों को और हमारे कंपाता है, राक्षस हन्ता और बल से कंपाता है । स्वयं वह हम से सामने निन्दा करने वाले को । वधैः=प्रहारों से जीते पापबुद्धि को, नीचे गिरे=बह जाए पाप का शंसक । उस से भी अधिक नीचे क्षुद्र [वस्तु] के समान नीचे बहे । अव स्रवेत्—अव स्रवेत्, [इस] अभ्यास=दो बार कथन से भूयासम्=अधिक अर्थ को मानते हैं । यथा—अहो दर्शनीय अहो दर्शनीय इति । यह परुच्छेप का स्वभाव [है ।] परुच्छेप ऋषि [है ।] पर्ववत् [महान] प्रजनन वाला । पर्वणि पर्वणि–मर्माङ्ग संधियों में शेप [है], इस का अथवा ।

यह २७ देवता नाम [वायु से इन्दु तक] अनुक्रम से कहे गए । [ये देवता] सूक्तभागी [हैं और] हविर्भागी भी । उन में से ये [किसी यज्ञ में भी हविर्भागी नहीं वेन असुनीति, ऋत, इन्दु ।

२८ प्रजापति । प्रजाओं का रक्षक अथवा, पालक अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४२ ॥

भाष्य—परुच्छेप पद पर लिखते हुए आचार्य स्कन्द स्वामी ने कौषीतकि ब्रा० २३ । ४ का वचन लिखा है—उस के अन्त में—इन्द्र उ वै परुच्छेप पाठ है । इन्द्र ही परुच्छेप है । वही इस मन्त्र का वास्तविक ऋषि है । उसी नाम के अनुकरण पर मानव ऋषि का भी वैसा नाम हुआ । यास्क ने परुच्छेप नाम का जो दूसरा निर्वचन दिखाया है उस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि परुच्छेप मानव नहीं है । परुच्छेप ऋषि के साथ यास्क ने वधूक्त किया नहीं जगाई ॥४२॥

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒तानि॒ परि॒ ता ब॑भूव ।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥
[ऋ० १० । १२१ । १० ॥]

प्रजापते न हि त्वदेतान्यन्यः सर्वाणि जातानि तानि परिबभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु । वयं स्याम पतयो रयीणाम् । इत्याशीः ।

अहिः, व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ ४३ ॥

अर्थ—हे प्रजापते, नहीं (त्वत्) तुझ से (एतानि) इन पर (अन्यः) कोई दूसरा (विश्वा जातानि) सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थ [जो हैं,] (ता) उन पर (परि बभूव) सर्वोपरि हुआ । (यत्कामाः) जिस इच्छा वाले (ते) तेरे लिए (जुहुमः) होम करते हैं, (तत् नः) वह हमारी (अस्तु) हो, हम हों स्वामी धनों के ।

हे प्रजापते, न ही तुझ से इन [पदार्थों पर] दूसरा, सारे उत्पन्न [जो हुए] उन पर सर्वोपरि हुआ । जिस कामना वाले तेरे लिए होम करते हैं, वह हमारी हो । हम हों स्वामी धनों के । यह प्रार्थना [है ।]

२६. अहिः । [निरुक्त २ । १७ में] व्याख्या किया गया ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४३ ॥

भाष्य—ऋग्वेद के कः देवता वाले सूक्त की यह अन्तिम ऋक् है । सब प्रकार के सांसारिक और पारलौकिक धनों की कामना के लिए, इस में तदर्थ होम करने का उपदेश है । इस ऋक् का ईश्वर अर्थ भी अति स्पष्ट है ॥ ४३ ॥

अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन् ॥

[ऋ० ७ । ३४ । १६ ॥]

अप्सुजमुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजस्सूदकेषु षीदन् । बुध्नमन्तरिक्षम् । बद्धा अस्मिन्धृता आप इति वा । इदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव । बद्धा अस्मिन्धृताः प्राणा इति ।

योऽहिः स बुध्न्यः । बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात् । तस्यैषा भवति ॥ ४४ ॥

अर्थ—(अब्जाम्) [स्कन्द—वृष्टिलक्षणास्वप्सु] आपः में उत्पन्न को (उक्थैः) स्तोत्रों से (अहिम्) [स्कन्द—मध्यमस्थानम्] अहि को (गृणीषे) स्तुति करता हूं । (बुध्ने) बन्धन स्थान वाले अन्तरिक्ष में (नदीनाम्) नदियों के (रजःसु सीदन्) उदकों में बैठता हुआ [है] ॥

अप्सुजम्=जलों में जन्मे को, स्तोत्रों से अहि को स्तुति करता हूं । बन्धन स्थान में नदियों के रजःसु=उदकेषु=उदकों में बैठता हुआ [म ।] बुध्नम्=अन्तरिक्षम् । बंधे हुए इस में ठहराए गए जल. अथवा । यह भी दूसरा बुध्न [=शरीर] इस [कारण] से ही । बंधे हुए इस में ठहराए गए प्राण [होते हैं ।]

३० [अहिर्बुध्न्यः ।] जो अहि वह बुध्न्यः । बुध्न अन्तरिक्ष है, उस में निवास से । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४४ ॥

भाष्य—वेद में अहि पद दो अर्थों में है । एक अहि इन्द्र से मारा जाता है—यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् । ऋ० २ । १२ । ३ ॥ अहि का दूसरा रूप स्तुतियोग्य है । अन्तरिक्ष सम्बन्धी अहि पद का साधारण अर्थ मेघ है । पर बृहद्देवता के एक पाठ का निम्नलिखित श्लोक जो इस देवता विषयक है, देखने योग्य है—

अहिरादधिन मेघान्स पति या तेषु मध्यमः ।

यो ऽहिः स बुध्न्यो बुध्ने हि स्रो ऽन्तरिक्षे ऽभिजायते ॥ ४।११६ ॥

यह अहि मेघों को मारता भी है। उस की उत्पत्ति भी अन्तरिक्ष में है।

प्रस्तुत मन्त्र का वेंकटर जी का अंग्रेजी अनुवाद देखना चाहिए—

"I praise with my hymns Ahi, born of Waters, he (is) seated in the regions at the bottom of the rivers."

इस अनुवाद में उत्तरार्ध के अनुवाद पर ध्यान देना चाहिए—

"in the regions at the bottom of the rivers"

रजःसु का अनुवाद किया गया है="in the regions." और बुध्ने नदीनाम् का "at the bottom of the rivers."

अब वेंकटर जी को बताना होगा कि नदियों के bottom पर कौन से regions होते हैं । वे सम्पूर्ण नदियों को मैसमलर आदि का अनुकरण कर के

पार्थिव मानते हैं ।[1] फिर उन्हें बताना होगा कि उन का अहि पार्थिव नदियों के तल पर कौन से regions में बैठा है ।

वेलंकर जी की महती भूल का कारण स्पष्ट है । उन्होंने बुध्न पद के यास्क प्रदर्शित दोनों अर्थ त्याग कर, एक अन्य अर्थ मान लिया है । वह अर्थ है—बुध्नम्=bottom. यही अर्थ मेक्डानल ने वैदिक रीडर में माना है (पृ० २१५, ऋ० १० । १३५ । ६ ॥) बुध्नम् पद का यह अर्थ नहीं है । अधिक से अधिक बुध्न=body है । बुध्न का अन्तरिक्ष अर्थ अति प्रसिद्ध है । अतः यास्क ने प्रसिद्ध और प्रकरणानुकूल अर्थ लिखा है । इसी प्रकार रजःसु का अर्थ यहां उदकेषु है । वेलङ्कर जी ने—लोकाः रजांसि उच्यन्ते से regions अर्थ का अनुमान किया है । पर वह अर्थ यहां संगत नहीं होता । ईसाई-यहूदियों की शैली वस्तुतः वेदार्थ को भ्रष्ट करने की है । वेलङ्कर जी सदृश परिश्रमी पुरुष यदि भारतीय प्रक्रिया को समझ कर वेदार्थ में प्रवेश करता तो उन का अपना और भारत का कल्याण होता । अन्तरिक्षस्थ देवता को पार्थिव नदी में जन्मने वाला बताना वेदार्थ में अहंमन्यता के अतिरिक्त कुछ नहीं।

आपः अन्तरिक्ष में उसी प्रकार व्याप्त हैं, जिस प्रकार शरीर में प्राण ॥४४॥

मा नोऽहिर्बुध्न्यो॑ रि॒षे धा॒न्मा य॒ज्ञो अ॑स्य स्रिधदृता॒योः ॥
[ऋ० ७ । ३४ । १७ ॥]

मा च नोऽहिर्बुध्न्यो रेषणाय धात् । मा अस्य यज्ञोखा च स्रिधद् यज्ञकामस्य ।

सुपर्णः, व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ ४५ ॥

अर्थ—मत हमें अहिर्बुध्न्य (रिषे) हिंसा के लिए (धात्) देवे । मत यज्ञ इस का (स्रिधत्) वह जाए=क्षीण हो=नष्ट हो (ऋतायोः) यज्ञ की कामना वाले का ॥

---

1. "This (Rig. VII. 95, 2) is surely the description of an earthly rivers," p. xxx. Intro. Rigveda Mandala VII ed. 1963.

अन्तरिक्ष के पर्वतों और समुद्र का अज्ञान ही ऐसे लेख का कारण है ।

३१. सुपर्णं [निरुक्त ३ । १२ म] व्याख्या किया गया । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४५ ॥

भाष्य— यह वसिष्ठ की ऋक् है । उस के प्रकरण में अधियज्ञ अर्थ में न और अस्य ▮ किन का सङ्केत करते हैं, यह अध्ययन साध्य है । सुपर्ण का अग्नि के साथ सम्बन्ध अगले मन्त्र में है—

अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तम् ।
तै० सं० ४ । ७ । १३ ॥

सोमं वै राजानं यत् सुपर्ण आहरत् समभिनत् तस्य या विप्रुषा अपतस्ता एवमा ओषधयो ऽभवन् । जै० ब्रा० १ । २२२ ॥

सुपर्ण ही अन्यत्र श्येन अथवा गायत्री छन्द कहा गया है । सुपर्ण की महिमा जाननी चाहिए ॥ ४५ ॥

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे ।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥
[ऋ० १० । ११४ । ४ ॥]

एक सुपर्णः । स समुद्रमाविशति । स इमानि सर्वाणि भूतान्यभिविपश्यति । तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तित । इति । ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता । तं माता रेढि । वागेषा माध्यमिका । स उ मातरं रेढि ।

पुरूरवा । बहुधा रोरूयते । तस्यैषा भवति ॥ ४६ ॥

अर्थ—(एक) असहाय अकेला ही (सुपर्ण) [मध्यमस्थानी] सुपर्ण (स) वह (समुद्रम्) अन्तरिक्ष को (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ, वह इस सारे (भुवनम्) भूतजात को=भूत-परिणाम को (विचष्टे) विशेष देखता है । (तं पाकेन मनसा) उस को पके हुए पकप्रज्ञ मन से (अपश्यम्) मैंने देखा (अन्तित) निकट से (तम्) उस को (माता) माध्यमिका वाक्=उदकों को निर्मात्री ने (रेळ्हि) चाटा उसने और चाटा माता को ।

एक सुपर्ण। वह अन्तरिक्ष में प्रविष्ट होता है। वह इन सारे भूतों को चारों ओर से देखता है। उस को पक मन से मैंने देखा समीप से। इति। ऋषि के देखे हुए अर्थ की प्रीति होती है आख्यान से संयुक्त। उस को माता =वाक् वह माध्यमिका, चाटती है। उस ने और माता [वाक्] को चाटा।

३२. पुरूरवाः। बहुत प्रकार से रोरूयते=शोर करता है। उस की यह [ऋक्] होती है॥ ४६॥

भाष्य—तं पाकेन मनसापश्यम्...... । यह आख्यान है। सुपर्ण विद्या का भी अन्वेषण होना चाहिए। भाष्यकारों ने सुपर्ण को वायु माना है। वस्तुतः इतने मात्र से काम नहीं चलता। वायु का कौन सा रूप सुपर्ण बनता है, यह ज्ञातव्य है। उस में परमाणु-संघात विभिन्न हो जाता है॥ ४६॥

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्य१ः स्वगूर्ताः।
महे यत्त्वा पुरूरवो रणायाऽवर्धयन्दस्युहत्याय देवाः॥
[ऋ० १० । ९५ । ७ ॥]

समासत। अस्मिञ्जायमाने। ग्ना गमनादापः। देवपत्न्यो वा। अपि चैनमवर्द्धयन्। नद्यः [स्वगूर्ताः] स्वयंगामिन्यः। महते च यत्त्वा पुरूरवः। रणाय रमणीयाय संग्रामायावर्धयन्। दस्युहत्याय च देवाः देवाः॥ ४७॥

॥ इति दशमोऽध्यायः॥

अर्थ—(अस्मिन् जायमाने) इस [पुरूरवा] के उत्पन्न होने पर (सम् आसत) [उस के चारों ओर] भले प्रकार ठहरीं (ग्नाः) आपः रूपी [देवपत्नियां]=स्त्रियां, (उत ईम्) और इस को (अवर्धन्) बढ़ाया (नद्यः) नदियों ने (स्वगूर्ताः) स्वयं गमनकारिण्यों ने। (महे) महान् के लिए (यत् त्वा) जो तुझे (पुरूरवः) हे पुरूरवः (रणाय) संग्राम के लिए (अवर्धयन्) बढ़ाया (दस्युहत्याय) दस्युहत्या के लिए (देवाः) देवों ने॥

सम् आसत=चारों ओर सम्यक् ठहरीं, अस्मिन् जायमाने=इस के उत्पन्न होने पर, ग्नाः=गमन के कारण आपः, देवपत्नियों अथवा। और भी

३१ सुपर्ण, [निरुक्त ३ । १२ म] व्याख्या किया गया । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४५ ॥

भाष्य— यह वसिष्ठ की ऋक् है । उस के प्रकरण में अधियज्ञ अर्थ में न और अन्य पद किस का संकेत करते हैं, यह अध्ययन योग्य है । सुपर्ण का अग्नि के साथ सम्बन्ध अगले मन्त्र में है—

अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तम् ।
तै० सं० ४ । ७ । १३ ॥

सोमं वै राजानं यत् सुपर्ण आहरत् समभिनत् तस्य या निष्ठुतो अपतस्ता एवमा ओषधयो ऽभवन् । जै० ब्रा० १ । ३२१ ॥

सुपर्ण ही अन्यत्र श्येन अथवा गायत्री छन्द कहा गया है । सुपर्ण की महिमा जाननी चाहिए ॥ ४५ ॥

एकः॑ सुप॒र्णः स स॑मु॒द्रमा वि॑वेश॒ स इ॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ वि च॑ष्टे ।
तं पाके॑न॒ मन॑साप॒श्यमन्ति॑त॒स्तं मा॒ता रे॑ळ्हि॒ स उ॑ रेळ्हि मा॒तर॑म् ॥
[ऋ० १० । ११४ । ४ ॥]

एकः सुपर्णः । स समुद्रमाविशति । स इमानि सर्वाणि भूतान्यभिविपश्यति । तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तित । इति । ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता । तं माता रेळ्हि । वागेषा माध्यमिका । स उ मातरं रेळ्हि ।

पुरूरवा । बहुधा रोरूयते । तस्यैषा भवति ॥ ४६ ॥

अर्थ—(एकः) असहाय अकेला ही (सुपर्णः) [मध्यमस्थानी] सुपर्ण (सः) वह (समुद्रम्) अन्तरिक्ष को (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ, वह इस सारे (भुवनम्) भूतजात को=भूत-परिणाम को (विचष्टे) विशेष लखता है । (तं पाकेन मनसा) उस को पके हुए पकप्रज्ञ मन से (अपश्यम्) मैंने देखा (अन्तितः) निकट से (तम्) उस को (माता) माध्यमिका वाक्=उदकों की निर्मातृ ने (रेळ्हि) चाटा उसने और चाटा माता को ॥

अथैकादशोऽध्यायः

श्येनो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

१. श्येनः। [निरुक्त ४ । २४ में] व्याख्या किया गया। उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १ ॥

भाष्य—श्येन का अति स्पष्ट व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थों में है। यथा—

१. यदाह श्येनोऽसीति। सोमं वा एतदाह। एष ह वा अग्निर्भूत्वाऽस्मिंल्लोके संश्यायति। तद्यत् संश्यायति तस्माच्छ्येनः। गो० पू० २ । १२ ॥

२. तृतीयस्यां वै दिवि सोम आसीत्। तं गायत्र्याहरत्। काठक सं० ३० । १० ॥

३. यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्। तेन सा श्येनः। शत० ३ । ४ । १ । १२ ॥

४. भागवत पुराण ८ । ३ । ३१ में छन्दोमय गरुड का कथन है।

पूर्व निरुक्त १० । ४५ के भाष्य में सुपर्ण द्वारा सोम आहरण का प्रमाण दिया गया है। अब यहां श्येन द्वारा भी वैसी घटना का प्रमाण दिया है। निघण्टु में सुपर्ण और श्येन दो पृथक् सत्त्व गिने गए हैं। अतः इन दोनों का सूक्ष्म अन्तर जानना आवश्यक है। इन सूक्ष्मताओं के ज्ञान के विना वेदार्थ का सम्यक् बोध नहीं हो सकता ॥ १ ॥

आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।

अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥

[ऋ० ४ । २६ । ७ ॥]

आदाय श्येनोऽहरत्सोमम्। सहस्रं सवानयुतं च सह। सहस्रं सहस्रसाव्यमभिप्रेत्य। तत्रायुतं सोमभक्षाः। तत्सम्बन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा। तत्र पुरन्धिरजहादमित्रान्। अदानानिति वा। मदे सोमस्य मूरा अमूरः [इति]। ऐन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतः। तस्मादिन्द्रं मन्यन्ते। . . . .

इस को बढ़ाया नदियों ने, स्वयं गामिनियों ने । महान् के लिए और जो तुझे, हे पुरूरवः रणाय=रमणीय संग्राम के लिए, बढ़ाया । दस्युहत्या के लिए और देवों ने, देवों ने ॥ ४७ ॥

भाष्य—मध्यमस्थानी पुरूरवा को नदियों ने बढ़ाया । वे भी मध्यस्थानी हैं । नदियाँ स्वयं गति करती हैं, पुनः उन्हें स्वगूर्ता क्यों कहा । कोई और भाव भी इस में गूढ़ हो सकता है । पुरूरवा के कई अर्थ हैं । उन में से एक अर्थ मैत्रायणी संहिता में कहा है—उपस्पर्शीति । यागवा उर्वशी । पुरूरवा । असीति । प्राय पयतात् मिथुनम् । १ । १ । २ ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

श्येनो व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

१. श्येनः । [निरुक्त ४ । २४ में] व्याख्या किया गया । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १ ॥

भाष्य—श्येन का अति स्पष्ट व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थों में है । यथा—

१. यदाह श्येनोऽसीति । सोमं वा एतदाह । एष ह वा अग्निर्भूत्वाऽस्मिंल्लोके संश्यायति । तद्यत् संश्यायति तस्माच्छ्येनः । गो० पू० २ । १२ ॥

२. तृतीयस्यां वै दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् । काठक सं० ३० । १० ॥

३. यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत् । तेन सा श्येनः । शत० ३ । ४ । १ । १२ ॥

४. भागवत पुराण ८ । ३ । ३१ में छन्दोमय गरुड का कथन है ।

पूर्व निरुक्त १० । ४५ के भाष्य में सुपर्ण द्वारा सोम आहरण का प्रमाण दिया गया है । अब यहां श्येन द्वारा भी वैसी घटना का प्रमाण दिया है । निघण्टु में सुपर्ण और श्येन दो पृथक् सत्व गिने गए हैं । अतः इन दोनों का सूक्ष्म अन्तर जानना आवश्यक है । इन सूक्ष्मताओं के ज्ञान के बिना वेदार्थ का सम्यक् बोध नहीं हो सकता ॥ १ ॥

आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम् ।
अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥

[ऋ० ४ । २६ । ७ ॥]

आदाय श्येनोऽहरत्सोमम् । सहस्रं सवानयुतं च सह । सहस्रं सहस्रसाव्यमभिप्रेत्य । तत्रायुतं सोमभक्षाः । तत्सम्बन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा । तत्र पुरन्धिरजहादमित्रान् । अदानानिति वा । मदे सोमस्य मूरा अमूरः [इति] । ऐन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतः । तस्मादिन्द्रं मन्यन्ते ।

इस को बढ़ाया नदियों ने, स्वयं गामिनियों ने । महान् के लिए और जो तुझे, हे पुरूरवः रणाय=रमणीय संग्राम के लिए, बढ़ाया । दस्युहत्या के लिए और देवों ने, देवों ने ॥ ४७ ॥

भाष्य—मध्यमस्थानी पुरूरवा [illegible] नदियों ने बढ़ाया । वे भी मध्यस्थानी हैं । नदियां स्वयं गति करती हैं, पुनः उन्हें स्वगूर्ताः क्यों कहा । कोई और भाव भी इस में गूढ़ हो सकता है । पुरूरवा के कई अर्थ हैं । उन में से एक अर्थ मैत्रायणी संहिता में कहा है—उर्वश्यसीति । यागवा उर्वशी । पुरूरवा । असीति । प्राप्य एतत् मिथुनम् । १ । ६ । ५ ॥ ४७ ॥

में नहीं जाते। ये अति सूक्ष्म अर्थ ब्राह्मणों के प्रवचनों में मिलते हैं नैरुक्तों ने श्येन को भी इन्द्र मान कर काम चलाया है। पर वस्तुतः विज्ञान की दृष्टि से श्येन एक पृथक् पदार्थ है ॥ २ ॥

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः ॥
[ऋ० ९ । १ । १ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता।

अथैषाऽपरा भवति। चन्द्रमसो वा। एतस्य वा ॥ ३ ॥

अर्थ—(स्वादिष्ठया) अतिशय स्वादु से (मदिष्ठया) अतिशय मद कराने वाली से (पवस्व) बहो, (सोम) हे सोम (धारया) धारा से। इन्द्र के लिए पीने के निमित्त (सुतः) उत्पन्न किए गए हो=संस्कृत हुए हो ॥

यह स्पष्ट पाठमात्र से व्याख्यात है। और यह दूसरी होती है चन्द्रमा की अथवा। इस [सोम वल्ली] की अथवा ॥ ३ ॥

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिम् ॥
सोमं ये ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥
[ऋ० १० । ८५ । ३ ॥]

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिमिति। वृथासुतमसोममाह। सोमं यं ब्रह्माणो विदुरिति न तस्याश्नाति कश्चनायज्वा। इत्यधियज्ञम्।

अथाधिदैवतम्—सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिमिति यजुःसुतमसोममाह। सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसं न तस्याश्नाति कश्चन अदेव इति।

अथैषापरा भवति। चन्द्रमसो वा। एतस्य वा ॥ ४ ॥

अर्थ—(सोमम्) सोम को (मन्यते) मानता है (पपिवान्) पीने वाला (यत्) जब (सं पिंषन्ति) सम्यक् पीसते है (ओषधिम्) ओषधिरूप [सोम] को। (सोमम्) सोम को (यम्) जिस को (ब्रह्माणः)

ओषधि सोम । सुनोते । यदेनमभिषुण्वन्ति । बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तम् । आश्चर्यमिव प्राधान्येन । तस्य पावमानीषु निदर्शनायोदाहरिष्याम ॥ २ ॥

अर्थ—(आदाय) ला कर (श्येन) श्येन (अभरत्) आहरण कर लाया (सोमम्) सोम को (सहस्रं सवान्) सहस्र यज्ञ को । (अयुतं च) अयुत को और (साकम्) [इस के] साथ । (अत्र) वहाँ (पुरन्धि) बहुप्रज्ञ (श्येन) श्येन ने (अजहात्) मारा, त्याग दिया (अरातीः) शत्रु सेना को, [अथवा] अदान बुद्धियों को, (मदे सोमस्य) मद में सोम के (मूराः) मूढ=अज्ञ [अरातीः] शत्रु [नष्ट हुए] (अमूरः) अतिरोहित ज्ञान श्येन [द्वारा] ।]

ला कर श्येन ने हरा सोम को । सहस्र सवों को, अयुत को और एक साथ, सहस्र=सहस्र-साध्य सेना वाले सत्र के अभिप्राय को [लेकर कहा] उस में अयुत=दस सहस्र सोम भक्ष होते हैं [एक सत्र में दस चमस, अत एक सहस्र में दस सहस्र]। इस सम्बन्ध से दस सहस्र दक्षिणा [है] अथवा । वहाँ पुरन्धि ने त्यागा वा मारा अमित्रान्=शत्रुओं को । अदान [बुद्धियों] को अथवा । मद में सोम के मूढ नष्ट हुए अमूर =श्येन द्वारा । इति । ऐन्द्र सूक्त में, सोमपान से तथा स्तुत है । इस कारण [श्येन को] इन्द्र मानते हैं ।

२ ओषधि सोम । सुनोति से । जो इस को अभि+सुण्वन्ति= निचोड़ते हैं । बहुत है इस [सोम] का नैघण्टुक प्रयोग । आश्चर्य के समान [=थोड़ा] प्रधानता से । उस [सोम] का [प्रधान प्रयोग] पावमानी [ऋचाओं] में निदर्शन के लिए उदाहरण देंगे ॥ २ ॥

भाष्य—सोम की देव संज्ञा है । ओषधि सोम गौण पार्थिव तत्त्व है । जिस प्रकार निघण्टु ५ । ३ के अश्व आदि ३६ सत्त्वों का अग्नि के आश्रय वाला मान कर, पार्थिव अर्थों में भी व्याख्यान कर दिया गया है उसी प्रकार सोम की भी गौणता से पार्थिव अर्थ में व्याख्या प्राय मिलती है । सोम वस्तुत आपः सार, मध्यम स्थानी है । नैरुक्त केवल तीन देवता मान कर निर्वचन-विधि द्वारा मन्त्र पदों का सारा अर्थ दर्शा देते हैं अतः वे अति सूक्ष्म वैज्ञानिक विभाग वाले अर्थों

चन्द्रमाः । चायन् द्रमति । चन्द्रो माता । चान्द्रं मानमस्येति वा । चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः । चन्दनमित्यप्यस्य भवति । चारु द्रमति । चिरं द्रमति । चमेर्वा पूर्वम् । चारु रुचेर्विपरीतस्य । तस्यैषा भवति ॥५॥

अर्थ—(यत्) जब (त्वा) तुझे (देव) हे देव [सोम] (प्रपिबन्ति) खूब पीते हैं [ऋत्विक्—यजमान] (ततः) तदनन्तर (आप्यायसे) वृद्धि को प्राप्त होते हो (पुनः) फिर। वायुः सोम का रक्षक [है ।] (समानाम्) संवत्सरों का (मासः) [स्कन्द—मास्—शब्दात् सकारान्तात् षष्ठी, मासस्य च] मासों का [और] (आकृतिः) तुम कर्ता [हो] ॥

यत्त्वा······पुनरिति, [ओषधि पक्ष में] नाराशंसों के अभिप्राय से । पूर्वपक्ष-अपर पक्ष अथवा [चन्द्रमा के अभिप्राय से ।] वायुः सोमस्य रक्षिता । वायु को इस का रक्षक कहा । साहचर्य से रसों के हरने से अथवा । समानां=संवत्सराणाम्, मासों का कर्ता सोम, रूपविशेषों से ओषधिः, चन्द्रमा अथवा, [=चन्द्रमा भी प्रतिदिन के रूपविशेष से और ओषधि भी पर्ण के घटने बढ़ने से ।]

३. चन्द्रमाः । चायन्=देखता हुआ द्रमति=जाता है । चन्द्रः=चन्द्र माता=निर्माता मासों का । चान्द्रम्=चन्द्र सम्बन्धी मानम् अस्य=माप इस का अथवा । चन्द्रः, चन्दति से कान्ति अर्थ वाले से । चन्दनम्, यह भी इस का होता है । चारुः=सुन्दर जाता है । चिरम्=चिर काल तक जाता है । चमि से अथवा पूर्व [पद] । चारु=रुचि से उलट हुए से । उस की यह होती है ॥ ५ ॥

भाष्य—चायन् द्रमति, यहां द्रमति प्रयोग का अभिप्राय विचारणीय है । द्रमति, यह जाने की कैसी क्रिया होता है, इस पर प्रकाश पड़ना चाहिए ॥ ५ ॥

नवोंनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥
[ऋ० १० । ८५ । १९ ॥

ब्राह्मणों [=ऋत्विजों] ने (विदुः) जाना, नहीं उस का (अश्नाति) खाता है (कः चन) कोई अयज्वा ।

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम्, इस [अर्ध भाग में] वृथा उत्पन्न किए=निचोड़े [यज्ञ के अतिरिक्त निचोड़े] सोम को कहा। सोमं यं ब्रह्माणो विदुः इति । न तस्य अश्नाति कश्चन=अयज्वा, यह अधियज्ञम्=यज्ञ परक [अर्थ है ।]

अब अधिदैवत [चन्द्रमा अर्थ में]—सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम्, इस से यजुः में निचोड़े हुए सोम को कहा । सोम जिस को ब्राह्मणों ने जाना, [उस] चन्द्रमा को, नहीं उस का खाता कोई अदेव= रश्मियों के बिना अन्य ।

अब यह दूसरी [ऋक्] होती है, चन्द्रमा की अथवा, इस [ओषधि] की अथवा ॥ ४ ॥

भाष्य—अधियज्ञ, आधिदैवत तथा अध्यात्म अर्थ की परम्परा वैदिकों में सदा से चली आ रही है । अधिदैवत अर्थ में आधिभौतिक अर्थ भी सम्मिलित है । पञ्च भूतों की भाषा वेद में सदा स्वीकृत रही है । इस के लिए अगला प्रमाण द्रष्टव्य है—पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त । तै० सं० ४ । ३ । १० ॥ इस प्रवचन का एक अर्थ पञ्चमहाभूतों के विषय का है । इतने प्रकार के अर्थ देने वाला वेद वस्तुतः अनन्त है । सायण आदि ने वेद का अधियज्ञ अर्थ ही अधिकांश किया है, अतः वे इस का विज्ञान पक्ष प्रस्तुत नहीं कर सके ॥ ४ ॥

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥

[ऋ० १० । ८५ । ५ ॥]

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनरिति नाराशंसानभिप्रेत्य । पूर्वपक्षापरपक्षाविति वा । वायुः सोमस्य रक्षिता । वायुमस्य रक्षितारमाह । साहचर्याद्रसहरणाद्वा । समानां संवत्सराणां मास आकृतिः सोमो रूपविशेषैरोषधिः । चन्द्रमा वा ।

चन्द्रमा आयु को बनाता है, इस के लिए स्पष्टीकरण करने वाले प्रमाण खोजने चाहिएं । मृत्युः, भौतिक सत्त्व विशेष है, या नहीं, इस की खोज अभीष्ट है ॥ ६ ॥

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥
[ऋ० १० । १८ । १ ॥]

परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो ध्रुवं परेहि मृत्यो । कथितं तेन मृत्यो । मृतं च्यावयते । भवति मृत्यो । मदेर्वा मुदेर्वा । तेषामेषा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(परम्) दूसरे (मृत्यो) हे मृत्यो (अनु परेहि) पीछा कर के परे जा (पन्थाम्) मार्ग को । जो तेरा (स्वः) अपना है (इतरः) दूसरा (देवयानात्) देवयान से [पितृयाण] । (चक्षुष्मते) नेत्र वाले के लिए (शृण्वते) सुनने वाले के लिए (ते) तेरे लिए कहता हूं । (मा नः प्रजाम्) मत हमारी प्रजाओं को (रीरिषः) हिंसा करो (मा उत वीरान्) मत और वीरों को ॥

परं मृत्यो । निश्चय हे मृत्यो, निश्चय परे जा हे मृत्यो । कहा इस [कारण] से हे मृत्यो । मरे हुए को ले जाता है । होता है, हे मृत्यो । मदि से अथवा । मुदि से अथवा । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ७ ॥

भाष्य—ब्राह्मण ग्रन्थों में—संवत्सर, सूर्य और अग्निः आदि को मृत्यु कहा है । इस प्रसङ्ग में मृत्यु का स्वरूप समझना चाहिए । देवयान में मृत्यु नहीं होता ॥ ७ ॥

त्वेषमित्था समरणं शिमीवतोरिन्द्राविष्णू सुतपा वामुरुष्यति ।
या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्कृशानोरस्तुरसनामुरुष्यथः ॥
[ऋ० १ । १५५ । २ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ।

विश्वानरः, व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ ८ ॥

"नरो नवो भवति जायमान" । इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्य । "अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्" । इति अपरपक्षान्तमभिप्रेत्य । आदित्यदैवतो द्वितीय पाद इत्येके । भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् । इति अर्धमासेज्यामभिप्रेत्य । प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः ।

मृत्यु । मारयतीति सतः । मृतं च्यावयतीति [वा] शतबलाक्षो मौद्गल्यः । तस्यैषा भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(नवः नवः) नया नया होता है [प्रत्येक दिन की कला से] (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ [शुक्ल पक्ष मे ।] (अह्नाम्) दिनो का (केतुः) ध्वजा (उषसाम्) उषाओं के (एति) चलता है (अग्रम्) आगे । (भागम्) भाग को (देवेभ्यः) देवों के लिए (विदधाति) विशेषतया धारण करता है (आयन्) आता हुआ (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (प्र तिरते) बढ़ाता है (दीर्घम् आयुः) दीर्घ आयु को ॥

नरो नवो भवति जायमान । यह पूर्व पक्ष=शुक्ल पक्ष के आदिम्=आरम्भ को अभिप्राय मे रख कर [कहा है ।] अह्ना केतुरुषसाम् एत्य ग्रम् । यह अपर पक्ष=कृष्ण पक्ष के अन्त को अभिप्राय मे रख कर [कहा है ।] भाग देवेभ्यो वि दधात्यायन् । यह अर्धमास की इज्याम्=इष्टि को अभिप्राय मे रख कर [कहा है ।] बढ़ाता है चन्द्रमा दीर्घ आयु को ।

४ मृत्यु । मारता है । ऐसा होते हुए से । मरे हुए को च्यावयति= ले जाता है अथवा, यह शतबलाक्ष मौद्गल्य [कहता है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—उत्तर भारत में चान्द्र मास में कृष्ण पक्ष पहले माना जाता है और शुक्ल पक्ष अन्त में । यह प्रवृत्ति चिर काल से है । दक्षिण भारत में चान्द्र मास में शुक्ल पक्ष पहले होता है और कृष्ण पक्ष अन्त में । यास्क ने भी शुक्ल पक्ष को पूर्व पक्ष कहा है और कृष्ण पक्ष को अपर पक्ष । उत्तर भारत के पञ्चाङ्गों में आज भी पूर्णिमा के लिए १५ सङ्ख्या का निर्देश होता है और अमावास्या के लिए ३० सङ्ख्या का । इस से भी यही प्रतीत होता है कि कभी उत्तर भारत में भी शुक्ल पक्ष आरम्भ में और कृष्ण पक्ष अन्त में माना जाता था । उत्तर भारतीय गणना के परिवर्तन का कारण और काल अज्ञातव्य है ।

चन्द्रमा आयु को बढ़ाता है, इस के लिए स्पष्टीकरण करने वाले प्रमाण खोजने चाहिएं । मृत्युः, भौतिक तत्त्व विशेष है, या नहीं, इस की खोज अभीष्ट है ॥ ६ ॥

परं॑ मृत्यो॒ अनु॒ परे॑हि॒ पन्थां॒ यस्ते॒ स्व इत॑रो दे॒वया॑नात् ।
चक्षु॑ष्मते शृण्व॒ते ते॑ ब्रवीमि॒ मा नः॑ प्र॒जां री॑रिषो॒ मोत वी॒रान् ॥
[ऋ० १० । १८ । १ ॥]

परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो ध्रुवं परेहि मृत्यो । कथितं तेन मृत्यो । मृतं च्यावयते । भवति मृत्यो । मदेर्वा मुदेर्वा । तेषामेषा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(परम्) दूसरे (मृत्यो) हे मृत्यो (अनु परेहि) पीछा कर के परे जा (पन्थाम्) मार्ग को । जो तेरा (स्वः) अपना है (इतरः) दूसरा (देवयानात्) देवयान से [पितृयाण] । (चक्षुष्मते) नेत्र वाले के लिए (शृण्वते) सुनने वाले के लिए (ते) तेरे लिए कहता हूं । (मा नः प्रजाम्) मत हमारी प्रजाओं को (रीरिषः) हिंसा करो (मा उत वीरान्) मत और वीरों को ॥

परं मृत्यो । निश्चय हे मृत्यो, निश्चय परे जा हे मृत्यो । कहा इस [कारण] से हे मृत्यो । मरे हुए को ले जाता है । होता है, हे मृत्यो । मदि से अथवा । मुदि से अथवा । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ७ ॥

भाष्य—ब्राह्मण ग्रन्थों में—संवत्सर, सूर्य और अग्निः आदि को मृत्यु कहा है । इस प्रसङ्ग में मृत्यु का स्वरूप समझना चाहिए । देवयान में मृत्यु नहीं होता ॥ ७ ॥

त्वे॒षमि॒त्था स॒मर॑णं॒ शिमी॑वतो॒रिन्द्रा॑विष्णू सु॒तपा॑ वामुरुष्यति ।
या मर्त्या॑य प्रतिधी॒यमा॑न॒मित्कृ॒शानो॒रस्तु॑र॒स॒नामु॑रु॒ष्यथः॑ ॥
[ऋ० १ । १५५ । २ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ।

विश्वानरः, व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—(त्वषम्) प्रदीप्त को (इत्था) इस प्रकार (सम् अरणम्) सम्यक् आगमन को (शिमीवतो) इष्ट फल देने के गुण वाले (इन्द्रा विष्णू) हे इन्द्राविष्णू (सुतपा) सुन्दर तप वाला (वाम्) तुम दोनों को (उरुष्यति) रक्षा करता है, कान्ति को बढ़ाता है । (या=यौ) जो [तुम] दाता (मर्त्याय) यज्ञ कर्ता मनुष्य के लिए (प्रतिधीयमानम् इत्) देने योग्य को ही (कृशानो) अग्नि के पान से (अस्तु) देने को (असनाम्) अन्नादि को (उरुष्यथ) विस्तृत करते हो ॥

यह स्पष्ट व्याख्यान [है ।]

५ विश्वानर । [निरुक्त ७ । २१ म] व्याख्यान है । उसकी यह [ऋक्] होती है ॥ ८ ॥

भाष्य—प्रस्तुत ऋक् दुर्ग और स्कन्द द्वारा व्याख्यात नहीं है । सकल के सब हस्तलेखों में है । इस का प्रसङ्ग भी ठीक नहीं बैठता । यह पाठ तथा इसी प्रकार पूर्व खण्ड का तस्यामपरा भवति पाठ भी अप्रासङ्गिक है । सम्भवतः किसी अन्य निरुक्त से यहां आ गया है ॥ ८ ॥

प्र वो मुहे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे ।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः ॥
[ऋ० १० । ५० । १ ॥]

प्रार्चत [यूयं] स्तुतिं महते । अन्धसोऽन्नस्य दात्रे । मन्दमानाय मोदमानाय । स्तूयमानाय शब्दायमानायेति वा । विश्वानराय सर्वं विभूताय । इन्द्रस्य यस्य प्रीतौ सुमहद् बलम् । महच्च श्रवणीयं यशः । नृम्णं च बलम् । नॄन् नतम् । द्यावापृथिव्यौ वः परिचरत इति । कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् । तस्यैषापरा भवति ॥ ९ ॥

अर्थ—(व) तुम [हे स्तोताओ] (महे) महान् के लिए (मन्दमानाय) मोदमान के लिए (अन्धस) अन्न के [दाता के लिए] (प्र अर्च) [स्तुति का] पूजा करो । (विश्वानराय) विश्वानर के लिए (विश्वा भुवे) सर्वत्र [व्याप्त] होने वाले के लिए । (इन्द्रस्य

यस्य) जिस ऐश्वर्यवान् ईश्वर का (सु महम्) सुन्दर [और] महान् (सहः) बल, (महि श्रवः) महान् यश (नृम्णम् च) नृम्ण बल [है ।] (रोदसी) द्यावापृथिवी (सपर्यतः) सेवते हैं [उस बल को] ॥

पूजो, तुम, स्तुति को [करो] महान् के लिए । अन्न के दाता के लिए । मोदमान के लिए । स्तूयमान के लिए । स्तूयमान, शब्दायमान के लिए अथवा । विश्वानर के लिए, सब प्रकार से विशेष होने वाले के लिए । जिस इन्द्र की प्रीति में सुन्दर महान् बल, महान् और यश, और नृम्ण बल =नरों के प्रति झुका हुआ । द्यावापृथिवी तुम्हारी [स्तुति को] सेवते हैं ।

किस दूसरे को मध्यम के [अतिरिक्त को] उस प्रकार कहता ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—विश्वानर यहां :मध्यमस्थानी है । यह पृथिवीस्थानी विश्वानर से भिन्न है । यह इन्द्र भी है । उस के बल को द्यावापृथिवी सेवते हैं ॥ ६ ॥

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत् ॥
[ऋ० ७ । ७६ । १ ॥]

उदशिश्रियत् । ज्योतिरमृतं सर्वजन्यं विश्वानरः सविता देव इति ।

धाता । सर्वस्य विधाता । तस्यैषा भवति ॥ १० ॥

अर्थ—(ज्योतिः अमृतम्) ज्योति अमृत को (विश्वजन्यम्) सब के लिए हितकर को (विश्वानरः सविता देवः) विश्वानर सविता देव= दिव्य गुण युक्त ने (उत्–उ–अश्रेत्) ऊपर को उठाया है ॥

उत्+अशिश्रियत्=ऊपर को उठाया, ज्योति अमृत को, सब के हितकर को, विश्वानर सविता देव ने ।

६. धाता । सब का विधान=रचन करने वाला ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १० ॥

भाष्य—पृथिवी से उठे हुए आप परमाणु मध्यम स्थान में पहुँचते हैं। वहां वायु के षष्ठ परिवह में वे आप दिव्य हो कर सूर्य से पहुंचते और आश्चर्यकारी लीला उत्पन्न करते हैं। यह विद्या मुझे कभी ज्ञात न होती, यदि महाभारत, शान्तिपर्व के निम्नलिखित श्लोक मेरे सामने न आते—

यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या भवन्ति-आपो विहायसा ।
पुण्यं चाकाशगङ्गायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति ॥ ६९ ॥

दूरात् प्रतिहतो यस्मिन् एकरश्मिर्दिवाकरः ।
योनिरंशुसहस्रस्य येन भाति वसुधरा ॥ ७० ॥

यस्मादाप्यायते सोमो यानिर्दिव्यो अमृतस्य च ।
षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जयतां वरः ॥ ७१ ॥ अ० ३२६ ॥

अर्थात्—जिस [परिवह नामक वायु के षष्ठ स्तर] में चञ्चल=चक्र काटने वाले दिव्य=वैद्युत् गुण युक्त हो जाते हैं आप, विहायसा=कटने अथवा फैलने की क्रिया से अथवा आकाश के द्वारा, [और जो स्तर] आकाश गङ्गा के तोय= जल का स्तम्भन कर के ठहरता है ॥ [वहां] दूर से प्रतिहत =मूर्छित= reflected जिस में एक रश्मि सूर्य कारण [बनता है] सहस्र किरण का, जिस के द्वारा प्रकाशित होती है पृथिवी ॥ जिस [षष्ठ स्तर] से वृद्धि को प्राप्त होता है सोम, कारण है दिव्य=वैद्युत्-प्रभावयुक्त अमृत का जो, वही षष्ठ परिवह नाम वाला है।

इन तीन श्लोकों में इतना महान् ज्ञान है, जितना भाग के संसार में अन्यत्र नहीं है। आप अर्थात् जो पृथिवी से रश्मियों द्वारा ऊपर उठते जाते हैं वे वायु के षष्ठ स्तर में जा कर पारिप्लव=चञ्चल हो जाते हैं। वे पहले चञ्चल नहीं होते। वे वहीं वैद्युत गुण धारण कर लेते हैं। विहायसा=वे वहां विहायस क्रिया द्वारा आकाश में फैलते या कटते हैं। इत्यादि।

अन्तरिक्ष के विभिन्न स्तरों में अनेक नदियां चलती हैं। वैसी ही एक नदी आकाश गङ्गा है। इन नदियों का जल नीचे नहीं गिरता। हां कभी-कभी कोई बूंद निर्मल आकाश के समय भी पृथिवी पर आ जाती है। [illegible] का मुझे स्वयं अनुभव हुआ है। वरुण की ये नदियां—

न श्राम्यन्ति न वि मुचन्त्येते। ऋ० २ । २८ । ४ ॥ न थकती हैं, न उपरता होती हैं।

दिव्य आपः। ये दिव्य आपः वेद में बहुधा स्तुत हैं। ऋग्वेद में—

आपो देवीः प्रथमजा ऋतेन।

अर्थात्—दिव्य आपः पूर्व उत्पन्न ऋत द्वारा।

आधिदैविक अर्थ में ऋत भी एक पदार्थ है। उस का पूरा पूरा आधिभौतिक अर्थ अन्वेषणीय है।

यही आपः आदित्य के मण्डल में दीप्ति करते हैं। बृहद् योगियाज्ञवल्क्य में निम्नलिखित श्लोक देखें—

भौमान्तरिक्षं दिव्यं च आप आहुरबिन्धनम्।

एता गभस्तिभिः पीता दीप्यन्ते रविमण्डले॥ ६ । ४८, ४६॥

प्रशस्तपादकृत पदार्थधर्मसंग्रह में भी—

दिव्यम् अबिन्धनं सौरविद्युदादि। पृ० २४७।

पुराण में भी अत्यन्त स्पष्ट रूप में यह प्राचीन सिद्धान्त कहा गया है—'

वैद्युत् जाठरः सौरो ह्यपांगर्भास्त्रयोऽग्नयः।

तस्मादपः पिबन् सूर्यो गोभिर्दीप्यत्यसौ दिवि॥ १२॥'[1]

अर्थात्—वैद्युत्=अन्तरिक्षस्थ, जाठर=मानव शरीर के अन्तर्गत, और सूर्यस्थ, ये तीनों अग्नियां अपांगर्भ हैं, आपः के अन्दर वास करने वाली हैं।

इसी अभिप्राय से ऋग्वेद कहता है—

गर्भो यो अपाम्। १ । ७० । २॥

सूर्यो अपो विगाहते रश्मिभिर्वाजसातमः। मै० सं० ४ । १२ । ५॥

---

१. वेदविद्यानिदर्शन, पृ० ६६। इस विद्या का अधिक विस्तार इस पुस्तक के आदित्य अध्याय में देखना चाहिए।

इस के साथ निरुक्त ७ । २३ में उदकेन्धन शरीरोपशमन, की तुलना करनी चाहिए। और भी—आविष्कुरुत भासमादित्य । गूहत बुसम् । बुसम् इति उदकनाम । ब्रवीत शब्दकर्मणः । भ्रंशतर्वा । यद् वर्षन् पातयत्युदक रश्मिभिस्तत् प्रत्यादत्ते । निरुक्त ५ । १९ ॥ यहां उदक का बुसम् नाम इस लिए है कि जिस बुसम् को आदित्य अपने अन्दर छिपा लेता है, उस में शब्द उत्पन्न होता है, और वह उदक भ्रंश अर्थात् परमाणुओं में टूट जाता है। इसी प्रकार—वृबूकम् इत्युदकनाम। ब्रवीत शब्दकर्मण । भ्रंशतर्वा । निरुक्त २ । २२ ॥ अमृत, बुस, वृबूक वैज्ञानिक अर्थों में विशेष सहाय है। यास्क के निर्वचनों की महिमा पदे पदे दृष्टिगोचर होती है। राजवाडे और सिद्धेश्वर वर्मा बचे हैं। वे इसे नहीं समझ पाए। सूर्य आप का विस्तार करता है। यथा—सूर्य इव ज्योतिषा अपस्ततान । ऋ० ४ । ३८ । १० ॥ वस्तुत वेद ज्ञान की तुलना नहीं हो सकती।

ज्योति अमृत । यहां अमृत भी उदक का एक प्रकार है। यह छिन्न हो कर अमृत हो जाता है। तभी निरुक्त ३ । १२ में कहा है—अमृतस्य भागम्= उदकस्य ।

सूर्य की माया आप के ज्ञान के बिना असम्भव है। इन्हीं आप के भाग helium आदि हैं जिन के आविष्कार पर वर्तमान वैज्ञानिक गर्व करते हैं। वर्तमान वैज्ञानिकों को यह पता नहीं कि यह helium कैसे बन रहा है। उन्हें पूर्वोद्धृत व्यास के अद्वितीय लेख से लाभ उठाना चाहिए—यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या भवन्ति आपो विहायसा । यदि वेदाभ्यासी भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रयास करें तो वे अवश्य अनेक विध चमत्कार उत्पन्न कर लेंगे। मैंने तो इस दिशा में संकेतमात्र किया है।

विश्वानर सविता देव ने इस प्रकार के ज्योति अमृत को ऊपर उठाया। कैसे उठाया। यह भी वेद से ही जाना जा सकता है। निरुक्त ७ । २२ में दोनों उत्तर ज्योतियों को विश्वानर कहा है। उस का सम्बन्ध क्रमश सवस ९, १० के मन्त्रों से समझना चाहिए ॥ १० ॥

धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं सत्यधर्मणः ॥
[तुलना—अथ० ७ । १७ । २ ॥ मै० सं० ४ । १२ । ६ ॥]

धाता ददातु दत्तवते प्रवृद्धां जीविकामनुपक्षीणाम् । वयं देवस्य धीमहि सुमतिं कल्याणीं मतिं सत्यधर्मणः ।

विधाता । धात्रा व्याख्यातः । तस्यैष निपातो भवति बहुदेवतायामृचि ॥ ११ ॥

अर्थ—(धाता) [मध्यम स्थानी] धारक (ददातु) देवे (दाशुषे) यजमान के लिए (प्राचीम्) प्रवृद्धा को (जीवातुम्) जीविका को (अक्षिताम्) अक्षीणा को । (वयम्) हम (देवस्य) [धाता] देव की (धीमहि) ध्यान करते हैं, (सुमतिम्) सुन्दर मति को (सत्यधर्मणः) सत्य नियमों वाले देव की ॥

धाता देव । देने वाले के लिए बढ़ी हुई जीविका को, नहीं क्षीण होने वाली को । हम देव की ध्यान करते हैं, कल्याणी मति को, [उस] सत्य-नियम वाले देव की ।

७. विधाता । [निरुक्त ११ । १० में] धाता [पद] से व्याख्या किया गया । उस का निपात=सन्निपात होता है बहुत देवता वाली ऋक् में ॥ ११ ॥

भाष्य—सूर्याचन्द्रमसौ धाता । ऋ० १० । १९० । ३ में प्रस्तुत धाता का भी प्रसङ्ग है । ईश्वर परक तो इस का अर्थ है ही । ब्रह्मवेद में ईश्वर परक अर्थ प्रधान रहता है । इसी लिए अथर्ववेद का अपर नाम ब्रह्मवेद है ॥ ११ ॥

सोम॑स्य॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णि॒ बृह॒स्पते॒रनु॑मत्या उ॒ शर्म॑णि ।
तवा॒हम॒द्य म॑घव॒न्नुप॑स्तुतौ॒ धात॒र्विधा॑तः क॒लशाँ॑ अभक्षयम् ॥
[ऋ० १० । १६७ । ३ ॥]

इत्येताभिर्देवताभिरभिप्रसूतः सोमकलशानभक्षयमिति । कलशः [कस्मात्] । कला अस्मिञ्छेरते मात्राः । कलिश्च कलाश्च किरतेः । विकीर्णमात्राः ॥ १२ ॥

अर्थ—(सोमस्य राज्ञः) सोम राजा के (वरुणस्य) वरुण के (धर्मणि) कर्म में, (बृहस्पतेः अनुमत्या उ) बृहस्पति के और अनुमति

के (शर्मणि) आश्रय में, (तत्र अहम् अद्य) [और] तेरे में मग्न मैंने आज (मघवन्) हे मघवन् (उपस्तुतो) स्तुति करते हुए (धातर्विधातः) हे धातः, हे विधातः, (कलशान्) सोम कलशों को (अभक्षयम्) खाया ॥

इन देवताओं से अभिप्रसूत=प्रेरिए हुए [मैंने] सोम कलशों को खाया। कलश [किस कारण से।] कलाएं=मात्राएं इस में रहती हैं। कलि और कला, किरति से। बिखरे हुए अवयवों वाले।

भाष्य—इस ऋक् के ऋषि हैं—विश्वामित्र जमदग्नी। सीताराम ने भूल से केवल विश्वामित्र लिखा है। स्कन्द ने दोनों लिखे हैं। मध्यम स्थान में ये दोनों साथ भी रहते हैं। अहम् अभक्षयम् में अर्थ मैं का ही है। आधिदैविक अर्थ में इन दोनों में ऐक्यभाव है॥ १२ ॥

अथातो मध्यस्थाना देवगणाः।

तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति।

मरुतः। मितराविणो वा। मितरोचिनो वा। महद् द्रवन्तीति वा। तेषामेषा भवति॥ १३॥

अर्थ—अब आगे मध्य स्थान वाले देवगण=देव समुदाय [है।] उन में से मरुत प्रथमागामी होते हैं।

मरुत। मित=थोड़ा शब्द करने वाले अथवा। थोड़ा चमकने वाले अथवा। महान् दौड़ते हैं अथवा।

उन की यह [ऋक्] होती है॥ १३॥

भाष्य—मध्य स्थान के एक एक देव को पृथक् पृथक् कह दिया। अब [illegible] मध्य स्थान में देवों के जो गण विराजते हैं उन का कथन है। देवों के गण कैसे बने। एक [illegible] प्रकार का परमाणु सङ्घात एकत्र हो कर साथ साथ विचरने लगा। उस का फल ही ये गण हैं। मरुतों के वैज्ञानिक तत्त्व का ज्ञान मुझे भगवद्गीता के एक कथन से सूझा। मरीचिर्मरुताम् अस्मि। गीता, १०। २१॥ अर्थात् भ्राजमान् मरुतों में से मैं मरीचि हूं। इस का अभिप्राय यह है, कि मरुतों का सर्वश्रेष्ठ रूप मरीचियों में बना है। यदि इन मरीचियों को समझ लिया

जाए, तो मरुतों का स्पष्ट चित्र भी सामने आ जाता है । शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन है—एता वा आपः स्वराजो यन्मरीचयः । ता यत् स्यन्दन्त ऽइवान्योऽन्यस्या……उत्तराधरा इव भवन्त्यो यन्ति। ५ । ३ । ४ । २१ ॥ अर्थात्—ये ही [पार्थिव यज्ञ में रखे] आपः हैं, जो स्वयं दीप्तिमान् हैं, जो मरीचियां [मरीचियों के प्रतिनिधि] हैं। वे अन्तरिक्ष में बहते हैं……। ये ऊपर-नीचे हो कर चलते हैं। इसीलिए शतपथ का प्रवचन है—सप्त-सप्त हि मारुतो गणः। शत० २ । ५ । १ । १३ ॥ मारुत रश्मि भी प्रसिद्ध हैं— मारुतो रश्मयः। शत० ६ । ३ । १ । २५ ॥ ये ही वातरश्मि के नाम से पुराणों में कहे गए हैं। सूर्यरश्मि इन से सर्वथा भिन्न हैं । ये मरीचियां ही अन्तरिक्ष की अप्सराएं हैं। यजुर्वेद १८ । ३८ के व्याख्यान में शतपथ का प्रवचन है—सूर्यो गन्धर्वः। तस्य मरीचयो ऽप्सरस आयुवो नाम ।……… आयुवान………इव हि मरीचयः प्लवन्ते । ९ । ४ । १ । ८ ॥ ये अप्सराएं अन्तरिक्ष में तैरती हैं। (उवट–आयुवः=त्रसरेणवः ।)

मरुत आपः से जन्मे थे। माधव ऋग्भाष्य १ । ८० । ४ में लिखता है— अद्भ्यो मरुतः प्रादुर्भवन्ति, इति। जै० ब्रा० १ । ३४ में मरुत ४० कहे हैं— चत्वारिंशन् मरुतो देवाः। संभवतः शेष ९ मरीचि आदि देवियां हैं।

मरुतों को, रिशादसः[1] (यजुः ३ । ४४), हिंसकाद, भ्राजदृष्टयः (ऋ० १ । ३१ । १), विद्युद्रथाः (ऋ० ३ । ५४ । १३), रुक्मवक्षसः (ऋ० २ । ३४ । २), हिरण्यशिप्राः (ऋ० २ । ३४ । ३), ऋष्टिविद्युत् (ऋ० १ । १६८ । ५), विद्युद्धस्ताः (ऋ० ८ । ७ । २५) आदि कहा है।

मरुतों का अधिक व्याख्यान वेदविद्यानिदर्शन, अन्तरिक्ष अध्याय में देखना चाहिए। यास्क ने मित-रोचिनः निर्वचन से यह दिखाया है कि ये मरुत थोड़ी-थोड़ी दीप्ति वाले हैं। यह गुण विद्युत्-प्रभाव से रहता है। मित-राविणः निर्वचन दिखाता है कि मरुतों में धीमा सा शब्द भी पैदा होता रहता है। मध्यस्थान वाक् का भी स्थान है। उस वाक् और इस शब्द में क्या भेद है, यह अध्ययन योग्य है। इन्द्र की कल्याणी जाया और सुरण भी अन्तरिक्ष में हैं। मरुतः महान् दौड़ते भी हैं ॥ १३ ॥

---

१. वरुण भी रिशादस है। जै० ब्रा० ३ । ३८ ॥

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः ।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥

[ऋ० १ । ८८ । १ ॥]

विद्युन्मद्भिर्मरुतः । स्वर्कैः स्वञ्चनैरिति वा । स्वर्चनैरिति वा । स्वर्चिभिरिति वा । रथैरायात । ऋष्टिमद्भिः । अश्वपर्णैः अश्वपतनैः । वर्षिष्ठेन च नोऽन्नेन वय इवापतत । सुमायाः कल्याणकर्माणो वा । कल्याणप्रज्ञा वा ।

यद्रा । व्याख्याता । तस्यामेषा भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—(विद्युन्मद्भिः) विद्युत् प्रभाव वाले (मरुत) हे मरुत (सु अर्क) सुन्दर आप्य और आश्रय प्रभावों के साथ [इस दृष्टि— सुदीप्तिभिः] (रथेभिः) रथों से (आयात) आओ (ऋष्टिमद्भिः) ऋष्टियों वाले (अश्वपर्ण) अश्व-पर्णों-अश्वों की सी गतियों के साथ । (वर्षिष्ठया) बहुत बढ़ी हुई (इषा) अन्न के साथ (नः) हमारे पास (वय न) पक्षि जैसे [आते हैं] (आ पप्तत) [वैसे] आओ, (सुमायाः) कल्याण कर्म वालो ॥

विद्युत् प्रभाव वाले हे मरुतो स्वर्कैः=सुन्दर गतियों से अथवा । सुन्दर पूजाओं [illegible] अथवा । सु अर्चिभिः=सुन्दर चिंगारियों से अथवा । रथों के साथ आओ । ऋष्टियों वाले, अश्व की सी गतियों से । बहुत अधिक अन्न से, पक्षि के समान उड़ कर आओ । सुमायाः=कल्याण कर्मों वाले अथवा । कल्याण प्रज्ञा वाले अथवा ।

[यद्रा । [निरुक्त १० । ५ में] व्याख्या किया गया ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १४ ॥

भाष्य—मरुत विद्युत् वाले हैं । अन्धेरी अन्धकारमयी रात्रि में अन्तरिक्ष में जो धीमा धीमा प्रकाश रहता है वह इन्हीं के कारण से रहता है । इसे वर्तमान पदार्थविज्ञान वाले cosmic rays का फल मानते हैं । वस्तुतः इस विषय का जितना ज्ञान वेद में है उतना वर्तमान विज्ञान वालों को नहीं । वेद का एक [illegible] व्याख्या चाहता है ॥ १४ ॥

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन ।
इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥
[ऋ० ५ । ५७ । १ ॥]

आगच्छत रुद्रा इन्द्रेण । सहजोषणाः । सुविताय कर्मणे । इयं वोऽस्मदपि प्रतिकामयते मतिः । तृष्णज इव दिव उत्सा उदन्यवे । तृष्णक् तृष्यतेः । उदन्युरुदन्यतेः ।

ऋभवः । उरु भान्तीति वा । ऋतेन भान्तीति वा । तेषामेषा भवति ॥ १५ ॥

अर्थ—(रुद्रासः) हे रुद्रो (इन्द्रवन्तः) इन्द्र के साथ (सजोषसः) प्रीति वाले हुए (हिरण्यरथाः) हिरण्य रथों वाले (सुविताय) [हमारे] कर्म के लिए (आ गन्तन) आओ । (इयम्) यह (वः) तुम्हारी, (अस्मत्) हमारी (प्रति हर्यते) कामना करती है (मतिः) मति, (तृष्णजे) प्यासे के लिए (न) जैसे (दिवः उत्सा) द्यौ से जल के स्रोत (उदन्यवे) जल चाहने वाले के लिए [आते हैं] ॥

आ गन्तन=आगच्छत=आओ, हे रुद्रो, इन्द्र के साथ प्रीति वाले हुए सुविताय=कर्मणे=कर्म के लिए । यह तुम्हारी, हमारी भी प्रतिकामना करती है मति । प्यासे के लिए जैसे, द्यौ से जल के स्रोत, चाहने वाले के लिए । तृष्णक्, तृष्यति से । उदन्युः, उदन्यति से ।

१०. ऋभवः । [विद्युत् प्रकाश इन में] विस्तृत चमकते हैं अथवा । ऋतेन=ऋत अथवा उदक से चमकते हैं अथवा ।

उन की यह [ऋक्] होती है ॥ १५ ॥

भाष्य—रुद्राः आग्नेय हैं । उन की संख्या ११ है । वे इन्द्र के साथ भी रहते हैं । श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र का ईश्वर अर्थ स्पष्ट है । पर मध्यम स्थानी के रूप में रुद्राः गण में रहते हैं और अग्निः परमाणुओं से बने हैं । रुद्र का रुद्राः से भेद और ऋत=उदक से इन का सम्बन्ध समझना चाहिए ॥ १५ ॥

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः ।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ॥
[ऋ० १ । ११० । ४ ॥]

कृत्वा कर्माणि क्षिप्रत्वेन । वोढारो मेधाविनो वा । मर्तासः सन्तोऽमृतत्वमानशिरे । सौधन्वना ऋभवः सूरख्याना वा । सूरप्रज्ञा वा । संवत्सरे समपृच्यन्त [धीतिभिः] कर्मभिः । ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रय पुत्रा बभूवुः । तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमा भवन्ति । न मध्यमेन । तदेतदृभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति ।

आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते ।

अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानु गच्छथ ॥
[ऋ० १ । १६१ । ११ ॥]

अगोह्य आदित्योऽगूहनीयः । तस्य यदस्वपथ गृहे । यावत्तत्र भवथ न तावदिह भवथेति ।

अङ्गिरसो व्याख्याताः । तेषामेषा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—(विष्ट्वी) [स्कन्द—विष्ट्वा=व्याप्य=कृत्वा] कर के (शमी) कर्मों को (तरणित्वेन) शीघ्र (वाघत) वहन करने वाले, (मर्तास सन्त) मरणधर्मा—क्षण में नष्ट होने वाले होते हुए (अमृतत्वम्) अमृतत्व को=अविनाशित्व को=देवपन को (आनशु) प्राप्त हुए । (सौधन्वना) सुधन्वा के पुत्र=सुन्दर धन्व=अन्तरिक्ष में होने वाले (ऋभव) वैद्युत ज्योतियां (सूरचक्षस) सूर्य सदृश प्रकाश वाले (संवत्सरे) संवत्सर में (समपृच्यन्त) संयुक्त=सम्बद्ध हुए (धीतिभि) [उदक बरसाने के] कर्मों के साथ ॥

विष्ट्वी=कृत्वा=कर के कर्मों को शीघ्र वहन करने वाले, मेधावी अथवा । मर्त होते हुए देवत्व को प्राप्त हुए । सुधन्वा के पुत्र ऋभव । सूर्य सदृश ख्याति वाले अथवा । सूर्य समान प्रज्ञा वाले अथवा । वर्ष में सम्बद्ध हुए कर्मों से । ऋभु विभ्वा, वाज ये अङ्गिरस के पुत्र सुधन्वा के

तीनों पुत्र हुए। उन में से प्रथम और अन्तिम से [ऋभु वा वाज पद के] बहुवचन युक्त निगम होते हैं। नहीं मध्यम [विभ्वा] के साथ [ऐसा बहुवचन का प्रयोग।] तो यह ऋभु के बहुवचन से और चमस के संस्तव =स्तुति से बहुत दशतयीओं मे=ऋग्वेद की सारी शाखाओं में मुक्त होते हैं।

आदित्य-रश्मि भी ऋभवः कहे जाते हैं।

(अगोह्यस्य) गूहन=छिपाने को अशक्य आदित्य के (यत्) जब (असस्तन) सोए (गृहे) घर में (तत्) तब (अद्य) आज [रात्रि समय] (इदम्) इस जगत् में (ऋभवः) हे ऋभुओ=रश्मिगणों (न) नहीं (अनुगच्छथ) होते हो॥

अगोह्यः=आदित्य [है।] न छिपाया जाने वाला। उस के जब सोए घर में, [अर्थात्] जब तक वहां हुए, नहीं तब यहां [भूमि पर] होते।

११. अङ्गिरसः। [निरुक्त ३। १७ मे] व्याख्या किए गए। उन की यह [ऋक्] होती है॥ १६॥

भाष्य—मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः। मरणधर्मा होते हुए भी ऋभवः देवपन को प्राप्त हुए। अग्निः के विषय में भी कहा है—अग्निः अमृतो ऽभवद् वयोभिः। ऋ० १०। ४५। ८॥ देव अजर अमर कैसे हुए, यह भी एक स्वतन्त्र विषय है। सुन्दर अन्तरिक्ष में ऋभु जन्मे। मानव इतिहास में सुधन्वा एक ऋषि था। उस का नाम वैदिक पद के अनुकरण पर हुआ। बहुवचन और एकवचन के प्रयोगों का कारण जानना चाहिए।

ऋभु आदित्य में सोते हैं। यह रहस्य भी जानने योग्य है॥ १६॥

विरू॑पास॒ इदृष॑य॒स्त इद् ग॑म्भी॒रवे॑पसः।

ते॒ अङ्गि॑रसः सू॒नव॒स्ते अ॒ग्नेः परि॑ जज्ञिरे॥

[ऋ० १०। ६२। ५॥]

बहुरूपा ऋषयस्ते गम्भीरकर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा। ते ऽङ्गिरसः पुत्राः। ते ऽग्नेरधिजज्ञिरे। इत्यग्निजन्म॥

पितरः, व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥ १७॥

अर्थ—(विरूपासः) बहुत रूपों वाले (इत्) (ऋषयः) ऋषि (ते) वे (इत्) (गम्भीरवेपसः) दुरवगाह कर्म वा प्रज्ञा वाले । वे अङ्गिरा के पुत्र वे अग्नि से उत्पन्न हुए ॥

बहुरूप ऋषि वे, गम्भीरकर्मा अथवा गम्भीर प्रज्ञा वाले अथवा । वे अङ्गिरा के पुत्र । वे अग्नि से उत्पन्न हुए । यह उन का अग्नि-जन्म [कहा] ॥

१२ पितर । [निरुक्त ४ । २१ में] व्याख्या किए गए । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ १७ ॥

भाष्य—ये दिव्य ऋषि मध्यम स्थानी हैं । उन का जन्म अग्नि से हुआ । उन्होंने माध्यमिका वाक् के योग वाले छन्द देखे । वे ही उस २ रूप मन्त्रों के द्रष्टा थे । इन को मानव कहना सर्वथा भ्रान्ति है । वे विविध रूपों वाले थे । उन सब रूपों का ज्ञान भी वेद से प्राप्त हो सकता है । जिस प्रकार मरुतों में मरीचि श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार इन अङ्गिरसों में अङ्गिरस्तम हैं ॥ १७ ॥

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥
[ऋ० १० । १५ । १ ॥ यजु० १९ । ४९ ॥]

उदीरतामवरे, उदीरतां परे उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्याः सोमसम्पादिनः । असुं ये प्राणमन्वीयुरवृका अनमित्राः । सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा । ते नः स्वाऽऽगच्छन्तु पितरो ह्वानेषु माध्यमिको यम इत्याहुः । तन्माध्यमिकान्पितॄन्मन्यन्ते ।

अङ्गिरसो व्याख्याताः । पितरो व्याख्याताः । भृगवो व्याख्याताः ।

अथर्वाणः । अथनवन्तः । थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः । तेषामेषा साधारणा भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—(उत् ईरताम्) ऊपर को जाएँ (अवरे) जो नीचे=पृथिवी पर [ठहरे हुए हैं] (उत् परासः) ऊपर को परे=द्यौ में [ठहरे हुए] (उत् मध्यमाः) ऊपर को मध्यम=अन्तरिक्षस्थ (पितरः सोम्यासः)

[illegible] जो सोम [illegible] करने वाले हैं। ([illegible]) [illegible] ([illegible]) [illegible] ([illegible]) [illegible] (अवृकाः) जो हिंसा रहित हैं ([illegible]) [illegible] ([illegible]) [illegible] ([illegible]) [illegible]
[[illegible]] आह्वानों में ॥

[illegible]

[illegible] अवृकाः=अनभिद्रोहाः=अनु [illegible]

[illegible] [आचार्य ।] [illegible]

[illegible] [निरुक्त [illegible]] [illegible] [निरुक्त [illegible]] [illegible] [निरुक्त [illegible]]

१६. अथर्वाणः । अथर्वन्तः=न चलने वाले । थर्वतिः चलने अर्थ वाला, उस का प्रतिषेध है । उन को यह साधारण= [illegible] [[illegible]] होनी है ॥ १८ ॥

भाष्य—पितर प्राण-समूह हैं । यम प्रधान प्राण है । इन का पार्थक्य इन के परमाणुओं के संयोग के स्वल्प भेद के जानने से ज्ञात हो सकेगा । सोम्यास, अन्तरिक्ष में ही प्राणों द्वारा सोम सम्पादित होता रहता है । पितरः, अवृकाः=वृक रहित हैं । फिर हिंसा द्वारा प्राप्त मांसों से उन की तृप्ति कैसी ? अतः उन के लिए देय मांस तत्पत्त स्थान में कोई भौतिक पदार्थ है, जो हिंसा के बिना प्राप्त होता है । इस गम्भीरता के समझने का प्रयास करना चाहिए ॥ १८ ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥

[ऋ० १० । १४ । ६ ॥ यजुः—१९ । ५० ॥]

अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वा । अथर्वाणो भृगवः । सोम्याः सोमसम्पादिनः । तेषां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतौ यज्ञियानाम् । अपि चैषां भद्रे मनसि स्याम भाजनवति वा कल्याणे मनसि स्यामेति । माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः । पितर इत्याख्यानम् । अथाप्यृषयः स्तूयन्ते ॥ १९ ॥

अर्थ—अङ्गिरस सब से हमारे पितर, (अथवा) नई गतियों वाले (अथर्वाण) अथर्वा और भृगु [और] सोम सम्पादन करने वाले। उन की हम कल्याणी मति में, यज्ञ के योग्यों की [हों।] और भद्र कल्याणमय मन में हों।

अङ्गिरस नामक हमारे पितर, नई गतियों वाले माखन वाली गतियों वाले अथवा। अथर्वा, भृगु, सोमसम्पादन करने वाले। उन की हम कल्याणी मति में यज्ञ के योग्यों की। और भी इन के स्तुति पात्र, भाजन स्थानों=अभीष्ट स्थिति में अथवा। कल्याण मन में हों। (अङ्गिरस आदि सब) माध्यमिक देवगण हैं, यह नैरुक्त मानते हैं। [ये सब] पितर हैं यह आख्यान [है।] और भी ऋषि स्तुति किए जाते हैं ॥ १९ ॥

वेद की ऋचाओं में अथर्वा आदि का पृथक् गुण कीर्तन भी है। यह वहीं से समझना चाहिए। नैरुक्तों ने इन सब की स्तुतियाँ माध्यमिक देवगणों में मानी हैं। आख्यानविद् बहुत सूक्ष्मता में नहीं गए। उन ने इन सब को पितर संज्ञा मान कर काम चलाया है ॥ १९ ॥

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः ।
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः ॥
[ऋ०-७ । ३३ । ८ ॥]

इति यथा ।

आप्त्या आप्नोतेः । तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि ॥ २० ॥

अर्थ—(सूर्यस्य इव) सूर्य के समान (वक्षथः) वचन का (ज्योति) प्रकाश (एषाम्) इन [वसिष्ठों] का। समुद्र के समान महिमा गम्भीर [इन वसिष्ठों की।] वात के समान वेग नहीं दूसरे से स्तोम, हे वसिष्ठो,

(अन्वेतवे) अनुसरण किया जा सकता, तुम्हारा ॥ यह जिस प्रकार [स्पष्ट है ।]

१५. आप्त्याः [=एकत, द्वित, त्रित] । आप्नोति से । उन का यह निपात होता है, इन्द्र [देवता की] ऋक् में ॥ २० ॥

भाष्य—मन्त्रकृत वसिष्ठों की प्रशंसा में यह ऋक् है ॥ २० ॥

स्तुषेय्यं॑ पुरुवर्प॑समृभ्व॑मिनत॑ममाप्त्यमाप्त्याना॑म् ।
आ द॑र्षते शव॑सा स॒प्त दानू॒न्प्र सा॑क्षते प्रतिमाना॑नि भूरि॑ ॥
[ऋ० १० । १२० । ६ ॥]

स्तोतव्यं बहुरूपमुरुभूतमीश्वरतममाप्तव्यानाम् । आदृणाति यः शवसा बलेन सप्त दातॄनिति वा । सप्त दानवानिति वा । प्रसाक्षते प्रतिमानानि बहूनि । साक्षतिराप्नोतिकर्मा ॥ २१ ॥

अर्थ—(स्तुषेय्यम्) स्तुति के योग्य (पुरुवर्पसम्) बहु रूप (ऋभ्वम्) विस्तृत हुए अथवा महान् को (इनतमम्) अतिशय ईश्वर को (आप्त्यम्) [स्तुतियों से] प्राप्त होने योग्य को (आप्त्यानाम्) एकत, द्वित, त्रित [ऋषियों] में भी, [इन्द्र को पूजता हूं] । (आ दर्षते) विदारण करता है (शवसा) बल से (सप्त दानून्) सप्त दाताओं को [=मेघों को, उदक देने वालों को] (प्र साक्षते) प्रकर्षता से प्राप्त करता है (प्रतिमानानि भूरि) बहुत उपमाओं को ॥

स्तुति योग्य [इन्द्र] को, बहुरूप को, विस्तृत हुए को, अतिशय ईश्वर को प्राप्त किए जाने वालों में से । विदारण करता है, जो बल से सात दाताओं को अथवा । सात दानवों को अथवा । प्रकर्षता से प्राप्त करता है, उपमाओं को बहुत को । साक्षति, प्राप्ति अर्थ वाला [है ।]

भाष्य—आप्त्यों=एकत, द्वित और त्रित का इन्द्र से सम्बन्ध अन्वेष्टव्य है । सात मेघ[1] भी जानने चाहिएं ॥ २१ ॥

अथातो मध्यस्थानाः स्त्रियः । तासामदितिः प्रथमागामिनी भवति । अदितिर्व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ २२ ॥

---

१. सात मेघों के भेद तै० आ० १ । ६ । ४, ५ में द्रष्टव्य हैं ।

अर्थ—अब इस से आगे मध्यम स्थानी स्त्रियां [गिनी हैं ।]

उन में से अदिति प्रथमागामिनी होती है ।

१६ अदितिः । [निरुक्त ४ । २२ में] व्याख्या की गई । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २२ ॥

भाष्य—दुर्ग और स्कन्द के अनुसार, प्रातःकाल की सन्ध्या अदिति है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार पृथिवी ही अदिति है । सम्भवतः पृथिवी की वह दशा जब यह हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुई थी, अदिति संज्ञा वाली हो । उस के कुछ ही पश्चात् देव जन्म हुआ था । यह अदिति ही देव माता थी । अदिति का यथार्थ स्वरूप समझना चाहिए ॥ २२ ॥

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि ।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु ॥
[ऋ० १० । ६४ । ५ ॥]

दक्षस्य वाऽदिते जन्मनि । व्रते कर्मणि । राजानौ मित्रावरुणौ । परिचरसि । विवासतिः परिचर्यायाम् ।

हविष्मां आविवासति ॥ [ऋ० १ । १२ । ६ ॥] इति ।

आशास्तेर्वा । अतूर्तपन्था अत्वरमाणपन्थाः । बहुरथोऽर्यमादित्यः । अरीन्नियच्छतीति । सप्तहोता । सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति । सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा । विषमरूपेषु जन्मसु । कर्मसूदयेषु ।

आदित्यो दक्ष इत्याहुः । आदित्यमध्ये च स्तुतः । अदितिर्दाक्षायणी ।

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥ [ऋ० १० । ७२ । ४ ॥]

इति च । तत्कथमुपपद्येत । समानजन्मानौ स्यातामिति । अपि वा देवधर्मेणेतरेतरजन्मानौ स्याताम् । इतरेतरप्रकृती ।

अग्निरप्यदितिरुच्यते । तस्यैषा भवति ॥ २३ ॥

अर्थ—(दक्षस्य) आदित्य के (वा) अथवा (अदिते) हे अदिते (जन्मनि) जन्म में (व्रते) कर्म में (राजाना=राजानौ) दोनों राजाओं को (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण को (विवाससि) तू सेवती है। (अतूर्तपन्थाः) न त्वरित मार्ग वाला=नियत गति (पुरुरथः) बहुत रथों वाला (अर्यमा) आदित्य (सप्तहोता) सात रश्मियों से हवि दिया गया, अथवा सात ऋषियों से स्तुत (विषुरूपेषु) विषमरूपों में (जन्मसु) [उदयरूप] कर्मों में ॥

आदित्य के, अथवा, हे अदिते जन्म में, कर्म में, राजाओं को मित्र और वरुण को [तू] सेवती है। विवासति, सेवा [अर्थ] में [है।]

(हविष्मान्) हवि वाला हुआ (आ विवासति) आ कर सेवा करता है ॥

आशास्ति से अथवा, प्रार्थना करता है। त्वरावर्जित मार्ग वाला, बहु रथ वाला, अर्यमा=आदित्य। अरीन्=शत्रुओं को नियच्छति=रोकता है। सप्तहोता=सात इस के लिए रश्मि रसों को पूर्णतया झुकाते हैं। सात इस को ऋषि स्तुति करते हैं अथवा। विषम रूपों में। जन्मसु=कर्मसु=उदयेषु =उदय रूप कर्मों में।

आदित्यः=अदिति का पुत्र दक्ष [है].ऐसा कहते हैं [ब्रह्मवादी।] आदित्यों के मध्य में च=क्योंकि स्तुतः=स्तुति किया गया [है ऋचाओं में।] अदिति दाक्षायणी=दक्ष की पुत्री है।

अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ, दक्ष से अदिति ॥ यह भी।

यह [परस्पर विरुद्ध] कैसे युक्त होवे। समानजन्म वाले होवें, यह हो। अथवा देवता के धर्म से एक दूसरे से जन्म वाले होवें। एक दूसरे का कारण [हों।]

अग्निः भी अदिति कहा जाता है। उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २३ ॥

भाष्य—दक्षस्य जन्मनि। आदित्य के जन्म में। वैदिक विज्ञान में आदित्य और सूर्य दो भिन्न अवस्थाएं हैं। सूर्य का जन्म वा वर्तमान अवस्था में आना मन्त्रों में कहा गया है। अजनयत् सूर्यम्। ऋ० २।१९।३॥ जनिता

सूर्यस्य । ऋ० ३ । ३१ । ४ ॥ सूर्यं जनयन् । ऋ० ६ । ३० । ५ ॥ साधारणतया उदय होना भी जन्म है । पर गूढ़ अर्थ खोजना चाहिए । अदिति माता मित्र और वरुण की सकती है । अत दक्ष=आदित्य उन के पश्चात् उत्पन्न हुआ । ऋतुर्गन्ता —नियत गति क्या है, यह भी समझना चाहिए । अर्यमा, किस अवस्था का आदित्य है, यह जानना चाहिए ।

सात ऋषि आदित्य की स्तुति करते हैं । यास्क ने यह अत्यन्त रोचक और गम्भीर अर्थ कहा है । वेदविद्यानिदर्शन, पृ० २४८–२५० में हमने उन मुनियों और ऋषियों का उल्लेख किया है, जो सूर्य रश्मियों में रहते हैं । सात रश्मि भी आदित्य में रसों को झुकाती हैं ।

दक्ष और अदिति की माया का रहस्य समझना चाहिए ॥ २३ ॥

यस्मै॒ त्वं सु॑द्रविणो॒ ददा॑शोऽनागा॒स्त्वम॑दिते स॒र्वता॑ता ।
यं भ॒द्रेण॒ शव॑सा चो॒दया॑सि प्र॒जाव॑ता॒ राध॑सा॒ ते स्या॑म ॥
[ऋ० १ । ९४ । १५ ॥]

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददासि । अनागास्त्वम् । अनपराधत्वम् । अदिते सर्वासु कर्मततिषु । आग आङ्पूर्वाद् गमे । एन एतेः । किल्बिषं किल्भिदम् । सुकृतकर्मणो भयम् । कीर्तिमस्य भिनत्तीति वा । यं भद्रेण । शवसा बलेन । चोदयसि । प्रजावता च राधसा [धनेन ।] ते वयमिह स्यामेति ।

सरमा सरणात् । तस्या एषा भवति ॥ २४ ॥

अर्थ—(यस्मै) जिस के लिए (त्वम्) तू (सुद्रविण) हे सुन्दर धन वाले (ददाश) देता है (अनागास्त्वम्) अपराधरहित [धन] को । (अदिते) हे अग्ने (सर्वताता) सब कर्म–विस्तारों में । (यम्) जिस को (भद्रेण शवसा) कल्याणकारी बल से (चोदयासि) प्रेरित करते हो (प्रजावता) प्रजा वाले (राधसा) धन से [एम] (ते) तेरे [होकर] (स्याम) हम हों ।

जिस के लिए तुम हे सुन्दर धन वाले देते हो अपराध रहित [धन] को । अदिते=हे अग्ने सब कर्म–विस्तार में । आगः आङ् पूर्व म गमि से ।

एनः, एति से। किल्विषम्=किल्-भिदम्=सुकृतकर्म वाले के लिए भय [होता है।] कीर्ति को इन [सुकृतकर्मकारी] को तोड़ देता है। जिस को भद्र बल से प्रेरित करते हो। प्रजा वाले और धन से। तेरे [हो कर] हम यहां हों।

१७. सरमा। सरकने से। उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २४ ॥

भाष्य—अग्निः द्रविणोदाः है। वह धन को देता है। अतः अग्निः ही यहां अदिति है। पं० हंसराज द्वारा सम्पादित तथा हमारे द्वारा प्रकाशित वैदिक कोष में अदिति का अग्निः अर्थ नहीं है। पाप से सुकृतकर्म भय खाते हैं ॥ २४ ॥

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि ॥
[ऋ० १० । १०८ । १ ॥]

किमिच्छन्ती सरमेदं प्रानट्। दूरे ह्यध्वा। जगुरिः जङ्गम्यतेः। पराञ्चैः अचितः। का तेऽस्मास्वर्थहितिरासीत्। किं परितकनम्। परितक्म्या रात्रिः। परित एनां तक्म। तक्मेत्युष्णनाम। तकत इति सतः। कथं रसाया अतरः पयांसीति। रसा नदी। रसतेः शब्दकर्मणः। कथं रसानि तान्युदकानीति वा।

देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूदे। इत्याख्यानम्।

सरस्वती व्याख्याता। तस्या एषा भवति ॥ २५ ॥

अर्थ—(किम् इच्छन्ती) क्या चाहती हुई (सरमा) सरमा (इदम्) यहां (प्र-आनट्) आई है। दूर क्योंकि मार्ग [है] (जगुरिः) अति शीघ्र चलने वाला [भी] परा गतियों से चलता हुआ [ही पहुँचता है।] (का) कौन (अस्मे) हम मे (हितिः) [तेरी अर्थ] प्रार्थना है, (का परितक्म्या) कौन रात्रि [मार्ग में] (आसीत्) थी। (कथम्) कैसे (रसायाः) रसा [नदी] के (अतरः) तरा (पयांसि) उदकों को ॥

क्या चाहती हुई सरमा यहां आई है, दूर क्योंकि मार्ग है। जगुरिः जङ्गम्यति [यङन्त] से। पर अञ्चनैः=सीधी चालों से अचितः=चलता

हुआ । कौन तेरी हम में अर्थ हवि=प्रयोजनार्थ प्रार्थना थी । कौन परितक्नम् । परितक्म्या=रात्रि । चारों ओर इस के तक्म=उष्ण [है ।] तक्म यह उष्ण का नाम [है ।] जाता है ऐसा होते हुए से । कैसे रसा के तरा पय को । रसा नदी [है ।] रसति से, शब्द अर्थ वाले में । कैसे रस वाले व उदक अथवा ।

[सरमा]=देवशुनी ने इन्द्र से भेजी गई ने पणि [नामक] असुरों से समूदे-संवाद किया, यह आख्यान [है ।]

१८ सरस्वती । [निरुक्त ९ । २६ में] व्याख्या की गई [है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २५ ॥

भाष्य—रसाया । इस पाठ पर स्कन्द ने लिखा है—कथं रसानि किं प्रकाराणि रसानि यानि त्वमतर उदकानि । इति शाखान्तरमापद्यमेतद् भाष्यकारस्य व्याख्यानं द्रष्टव्यम् । इस से आगे स्कन्द का मुद्रित पाठ है—अपीतं इति पाठः । आचितं इति तु प्रमादपाठः । वर्तमान पाठ आचित, है । परितक्न का एक और अर्थ परिभ्रमण स्कन्द ने दिया है ।

जब यास्क ने मन्त्रों में इतिहास अथवा आख्यान लिखा है तो उस का अभिप्राय पहले ही आख्यानों से है । असुर सरमा के विषय में पूछते हैं । सरमा का आख्यान बृहद्देवता ८ । २४ से आरम्भ होता है । उस के श्लोक ३१ के अनुसार रसा का विस्तार शतयोजन है । अतः यह नदी पार्थिव कदापि नहीं हो सकती ।

परित=दुर्ग और स्कन्द ने इस का उभयतः अर्थ कर के रात्रि के दोनों ओर उषा दिन का अस्तित्व माना है । पर संवत्सर में जो अहोरात्र हैं, उन में रात्रि के चारों ओर उषा चक्र हो सकता है । यह तथ्य विचारणीय है ।

सरमा मध्यम स्थाना वाक् का कोई भेद है । तुलना कर बृहद्देवता २ । ७७ ॥ यह देवशुनी कही जाती है ॥ २५ ॥

पा॒व॒का न॒: सर॑स्वती॒ वाजे॑भिर्वा॒जिनी॑वती । य॒ज्ञं व॑ष्टु धि॒याव॑सुः ॥
[ऋ० १ । ३ । १० ॥]

पावका नः सरस्वत्यन्नैरन्नवती । यज्ञं वष्टु । धियावसुः कर्मवसुः । तस्या एषाऽपरा भवति ॥ २६ ॥

अर्थ—(पावका) पावका=मध्य स्थानी पावक अग्निः युक्ता (नः) हमारे (सरस्वती) सरस्वती (वाजेभिः) अन्नों से (वाजिनीवती) अन्न वाली (यज्ञम्) यज्ञ को (वष्टु) चाहे वा आए (धियावसुः) कर्म रूपी धन वाली ॥

पावक, हमारे, सरस्वती, अन्नों से अन्न वाली, यज्ञ की कामना करे । कर्म रूप धन वाली । उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २६ ॥

भाष्य—वेद में सरस्वती कहीं नदी रूप में और कहीं देवी रूप में स्तुत है । नदी रूप में भी वह मध्यम स्थाना है । पर भ्रान्त ज्ञान के कारण वेलङ्करजी ने इसे पार्थिव नदी मान लिया है । उन को विचारना चाहिए था कि अन्तरिक्ष और द्यौ में भी पर्वत हैं । ऋग्वेद के सातवें मण्डल के अनुवाद की भूमिका में उन्होंने सरस्वती के पार्थिव होने का मत व्यक्त किया है । उन को वेद का अगला मन्त्र देखना चाहिए—

आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम् ।
ऋ० ५ । ४३ । ११ ॥

अर्थात्—द्यौ के महान् पर्वत से सरस्वती आवे ।

यह पार्थिव नदी का वर्णन नहीं है । वेलङ्कर जी को पाश्चात्य दासता छोड़ कर ऋषि-प्रदर्शित मार्ग से वेद का अध्ययन करना चाहिए था ॥ २६ ॥

म॒हो अर्णः॒ सर॑स्वती॒ प्र चे॑तयति के॒तुना॑ । धियो॒ विश्वा॒ वि रा॑जति ॥
[ऋ० १ । ३ । १२ ॥]

महदर्णः सरस्वती प्रचेतयति प्रज्ञापयति । केतुना कर्मणा प्रज्ञया वा । इमानि च सर्वाणि प्रज्ञानान्यभिविराजति । वागर्थेषु विधीयते । तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते ।

वाक् । व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ २७ ॥

अर्थ—(महः) बहु (अर्णः) [मेघस्थ] उदक को (सरस्वती) सरस्वती (प्रचेतयति) विज्ञापित करती है (केतुना) [गर्जन रूप] कर्म या प्रज्ञा से। (धियः) कर्मों को (विश्वा) सब को (वि राजति) विशेष दीप्त करती है॥

महान् अर्ण को सरस्वती प्रज्ञापित करती है। केतुना=कर्म से प्रज्ञा से अथवा। उन ओर सारे प्रज्ञानों को चारों ओर से दीप्त करती है। [मध्यम स्थानी] वाक् के अर्थों में विधान की जाती है। इस कारण माध्यमिका वाक् को [सरस्वती] मानते हैं।

१६. वाक्। [निरुक्त २। २३ में] व्याख्या की गई [है।] उस की यह [ऋक्] होती है॥ २७॥

भाष्य—अर्ण उदकविशेष अन्तरिक्ष में होते हैं। पुराणों में तीन प्रकार से वर्षा की उत्पत्ति कही है। एक उत्पत्ति अर्णजा है। यथा—

मेघाता पुनरुत्पत्तिस्त्रिविधा योनिरुच्यते।

आग्नेया ब्रह्मजाश्चैव पक्षजाश्च पृथग्विधाः।

त्रिधा घनाः समाख्यातास्तेषां वक्ष्यामि संभवम्॥ २८॥

आग्नेयास्त्वर्णजाः प्रोक्तास्तेषां तस्मात् प्रवर्तनम्॥ २६॥

आग्नेय मेघ ही अर्णज मेघ होते हैं।··· ···· ···

ये मेघ सरस्वती आदि नदियों की माता हैं॥ ३०॥

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।

चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥

[ऋ० ८। १००। १०॥]

यद्वाग्वदन्ति। अविचेतनानि, अविज्ञातानि। राष्ट्री देवाना निषसाद [मन्द्रा।] मदना। चतस्रोऽनुदिश ऊर्जं दुदुहे पयांसि। क स्विदस्याः परमं जगामेति। यत्पृथिवीं गच्छतीति वा। यदादित्यरश्मयो हरन्तीति वा।

तस्या एषाऽपरा भवति॥ २८॥

अर्थ—(यत्) जब (वाक्) माध्यमिका वाक् (वदन्ति) बोलती हैं [स्तनयित्नु आदि के रूप में] (अविचेतनानि) अविज्ञातार्थ पदों को (राष्ट्री) ईश्वरी (देवानाम्) माध्यमिक देवों की, (निषसाद) बैठी (मन्द्रा) हर्षदात्री । [जब] (चतस्रः) चारों दिशाओं के प्रति (ऊर्जम्) अन्न के बल शाली सूक्ष्म भाग को (दुदुहे) चारित करती हुई (पयांसि) [तथा] उदकों के अन्तर्गत पयः भागों को । (क स्वित्) कहां (अस्याः) इस का (परमम्) श्रेष्ठ रूप (जगाम) चला गया ॥

जब वाक् बोलती हैं अविज्ञात [पदों] को । ईश्वरी देवों की, बैठी, हर्षदात्री । चारों अनुदिशाओं के प्रति ऊर्क् को बहाती है [तथा] पयः को । कहां इस का श्रेष्ठ रूप गया । जो पृथिवी को जाता है अथवा । जिसे आदित्य रश्मि हरते हैं अथवा ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २८ ॥

भाष्य—माध्यमिका वाक् पदों के अविचेतन और चेतन दोनों रूपों को बोलती है । चेतन रूप वेद मन्त्र हैं, और अविचेतन स्तनयित्नु आदि । यह वाक् देवों की ईश्वरी है । इस वाक् का कुछ रूप पृथिवी के अन्दर भी जाता है । वर्षा के रूप में और वाक् के रूप में भी । कुछ रूप को आदित्य रश्मि हरते हैं ॥२८॥

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥

[ऋ० ८ । १०० । ११ ॥]

देवीं वाचमजनयन्त देवाः । तां सर्वरूपाः पशवो वदन्ति । व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च । सा नो मदनाऽन्नं च रसं च दुहाना धेनुर्वागस्मानुपैतु सुष्टुता ।

अनुमती राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः । पौर्णमास्याविति याज्ञिकाः ।

या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिः । या उत्तरा सा राका ।

[मैत्रा० सं० ४ । ३ । ५ ॥ ऐ० ब्रा० ३२ । १] इति विज्ञायते ।

अनुमतिः । अनुमननात् । तस्या एषा भवति ॥ २९ ॥

अर्थ—देवी वाक् [मध्यम स्थाना] को उत्पन्न किया देवों ने। उस [वाक्] को (विश्वरूपा) सारे रूपों वाले पशु=व्यक्त वाक् तथा अव्यक्त वाक् वाले बोलते हैं। वह हमें हर्षदात्री (इषम्) अन्न को [और] (ऊर्जम्) अन्न के बलदाता सूक्ष्म भाग को बहाती हुई (धेनु वाक्) धेनु रूपिणी वाक् हमारे (सुष्टुता) सम्यक् स्तुति की गई (उप एतु) समीप आवे ॥

देवी वाक् को उत्पन्न किया देवों ने। उस को सारे रूपों वाले पशु बोलते हैं। व्यक्त वाक् वाले [मन्त्र द्रष्टा देव और विद्वान् मनुष्य], अव्यक्त वाक् वाले [गौ आदि।] वह हमें हर्षदात्री अन्न को और रस को और बहाती हुई धेनु रूप वाक् हमारे समीप आवे, सम्यक् स्तुति की गई।

अनुमति [और] राका, ये दोनों देवपत्नियां [हैं] यह नैरुक्त [मानते हैं।] दोनों पौर्णमासी, यह याज्ञिक [मानते हैं।] जो पहली पौर्णमासी [है।] वह अनुमति [है।] जो उत्तरा [पौर्णमासी है] वह राका [है।] यह [ब्राह्मण प्रवचन से] विशेष जाना जाता है।

२० अनुमति। अनुमनन से। उस की यह [ऋक्] होती है ॥२९॥

भाष्य—मध्यमा वाक् को देवों ने उत्पन्न किया। यह विचारणीय है कि क्या वाक् में भी कोई परमाणु संघात काम करता है।

वह वाक् अन्न और रस को बहाती है।

उसी वाक् को व्यक्त और अव्यक्त वाक् वाले पशु बोलते हैं। वह वाक् काष्ठों में और पृथिवी में भी प्रविष्ट हुई। उस का यह प्रवेश कैसे हुआ, यह जानना चाहिए। क्या वाक् के परमाणु प्रविष्ट हुए।

दर्शपौर्णमास कर्म दो दिन साध्य होते हैं। दर्श अमावास्या और प्रतिपदा के दिन किया जाता है तथा पौर्णमास पूर्णिमा और प्रतिपदा के दिन। याज्ञिक कर्म की दृष्टि से अमावास्या से उत्तर प्रतिपदा अमावास्या मानी जाती है और पूर्णिमा से उत्तर प्रतिपदा पूर्णिमा। इस प्रकार दो दो अमावास्या और दो दो पूर्णिमा होती हैं। इन में पूर्वा पूर्णिमा=शुद्ध पूर्णिमा अनुमति और उत्तरा पूर्णिमा=प्रतिपदा राका कही जाती है। इसी प्रकार उत्तर खण्ड में व्याख्यात सिनीवाली और कुहू नाम्नी अमावास्याओं के विषय में समझें ॥ २८ ॥

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि ।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूंषि तारिषः ॥

[यजुः ३४ । ८ ॥]

अनुमन्यस्वानुमते त्वम् । सुखं च नः कुरु । अन्नं च नोऽपत्याय धेहि । प्रवर्धय च न आयुः ।

राका । रातेर्दानकर्मणः । तस्या एषा भवति ॥ ३० ॥

अर्थ—(अनु मन्यासै) मानो, स्वीकार करो, (इत्) (अनुमते) हे अनुमते (त्वम्) तुम, कल्याण को और हमारे लिए कर । क्रतु के लिए, दक्ष के लिए हमें (हिनु) उत्साह दो । (प्र तारिषः) बढ़ाओ हमारे आयु को ।

मानो हे अनुमते तुम । सुख और हमारे लिए करो । अन्न और हमारे अपत्य के लिए दो । बढ़ाओ और हमारा आयु ।

२१. राका । राति दान अर्थ वाले से । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३० ॥

भाष्य—प्रस्तुत मन्त्र के उत्तरार्ध के पूर्व चरण का मुद्रित पाठ यास्काभिमत नहीं है । सरूप के संस्करण में इस का पाठान्तर नहीं है । दुर्ग का पाठ है—

इषं च तोकाय नो हिनु ।

स्कन्दसम्मत पाठ है—इषं च तोकाय नो दधः ।

स्कन्दसम्मत पाठ काठक सं० १३ । १६ में है । ऊपर मुद्रित पाठ तै० सं० ३ । ३ । ११, मै० सं० ३ । १६ । ६३ और यजुर्वेद में है । संभव है कि यास्क अभिमत पाठ किसी आर्च शाखा में हो ॥ ३० ॥

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥

[ऋ० २ । ३२ । ४ ॥]

राकामहं सुहवां सुष्टुत्याह्वये । शृणोतु न सुभगा । बोधतु त्मना । सीव्यत्वपः । प्रजननकर्म । सूच्याऽच्छिद्यमानया । सूची सीव्यत । ददातु वीरं शतप्रदम् । उक्थ्यं वक्तव्यप्रशंसम् ।

सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ता । अमावास्ये इति याज्ञिका ।

या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूः ।

[मै० सं० ४ । ३ । ५ ॥ ऐ० ब्रा० ३२ । ■] इति विज्ञायते ।

सिनीवाली । सिनमन्नं भवति । सिनाति भूतानि । वालं पर्व । वृणोतेः । तस्मिन्नन्नवती । वालिनी वा । वालेनेवास्यामणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा । तस्या एषा भवति ॥ ३१ ॥

अर्थ—[मध्यमस्थाना] राका को मैं (सुहवाम्) शुभ आवाहन वाली को (सुष्टुती) शोभन स्तुति से (हुवे) बुलाता ■ । सुने हमें (सुभगा) सुधना (बोधतु) जान लेवे (त्मना) अपने आपने [जो हमारा वक्तव्य है ।] (सीव्यतु) सी दे (अपः) [हमारे] कर्म को, (सूच्या) सूई से (अच्छिद्यमानया) न टूटने वाली से । देवे [हमें] वीर [पुत्र] को (शतदायम्) बहु दाता को (उक्थ्यम्) विख्यात प्रशंसा योग्य को ॥

राका को मैं शुभ आवाहन वाली को शुभ स्तुति से आह्वये=बुलाता हूं । सुने हमें सुधना । जाने अपने आप । सी दे अपः=प्रजननकर्म=सन्तानोत्पत्ति कर्म को । सूई से न टूटने वाली से । सूची सीव्यति से । देवे वीर को सौ सौ देने वाले को । उक्थ्यम्—कहने योग्य प्रशंसा करने वाले को ।

सिनीवाली [और] कुहू, ये दोनो देवपत्नियां [हैं] यह नैरुक्त [कहते हैं ।] दोनो अमावास्या [हैं] यह याज्ञिक [कहते हैं ।]

जो पहली अमावास्या, वह सिनीवाली । जो उत्तरा [अमावास्या] वह कुहू । यह [ब्राह्मण प्रवचन में] विशेष जाना जाता है ।

३२ सिनीवाली । सिनम्, अन्न होता है । बांधता है भूतों=प्राणियों को । वालम्, पर्व [है अमावास्या नाम वाला ।] वृणोति से । उस [पर्व]

में अन्न वाली। वालिनी=[केश-श्मश्रु वपन]=बालों वाली अथवा। वाल के समान ही इस में अणुभाव होने से चन्द्रमा सेवा योग्य होता है अथवा।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३१ ॥

भाष्य—राका की अचिश्यमाना सूची जाननी चाहिए। इस का वैज्ञानिक रहस्य है ॥ ३१ ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥
[ऋ० २। ३२। ६ ॥]

सिनीवालि। पृथुजघने। स्तुकः स्त्यायतेः। सङ्घातः। पृथुकेश-स्तुके। पृथुष्टुते वा। या त्वं देवानामसि स्वसा। स्वसा सु असा। स्वेषु सीदतीति वा। जुषस्व हव्यमदनम्। प्रजां च देवि दिश नः।

कुहूः। गूहतेः। काभूदिति वा। क सती हूयत इति वा। काहुतं हविर्जुहोतीति वा। तस्या एषा भवति ॥ ३२ ॥

अर्थ—हे सिनीवालि, (पृथुष्टुके) हे पृथु जघनों वाली। (या) जो [तुम] देवों की हो स्वसा। सेवन करो हव्य को (आहुतम्) होमे हुए को। (प्रजाम्) सन्तान को हे देवि दो हमें ॥

हे सिनीवालि, हे पृथुजघने। स्तुकः स्त्यायति से। स्तुकः=संघात। पृथु केशों के संघात वाली। विशाल स्तुति वाली अथवा। जो तुम देवों की हो स्वसा। स्वसा=सुन्दर बैठने वाली। अपनों में बैठती है अथवा। सेवन करो हव्य को=खाने योग्य को। प्रजा को और हे देवि दो हमें।

३२. कुहूः। गूहति से=छिपाती है [चन्द्र को।] कहां था [चन्द्र] अथवा कहां हुई बुलाई जाती है, अथवा। कहां होमी गई हवि को सेवती है अथवा।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३२ ॥

भाष्य—सिनीवाली के भौतिक केश और जघन जानने चाहिएं। वह देवों की स्वसा कैसे है ॥ ३२ ॥

कुहूमहं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवां जोहवीमि ।
सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां तस्यै ते देवि हविषा विधेम ॥
[मै० सं० ४ । १२ । ६ ॥]

कुहूमहं सुकृतं विदितकर्माणमस्मिन्यज्ञे सुह्वानामाह्वये । सा नो ददातु श्रवणं पितृणाम् । पित्र्यं धनमिति वा । पित्र्यं यश इति वा । तस्यै ते देवि हविषा विधेमेति व्याख्यातम् ।

यमी व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ३३ ॥

अर्थ—कुहू को मैं सुकर्मा को (विद्मना-अपसम्) विदितकर्मा को (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (सुहवाम्) शुभ आवाहन वाली को (जोहवीमि) बुलाता हूं । वह हमें देवे श्रवण को पितरों के [=कुल की कीर्ति वाले ।] उस तेरे लिए हे देवि हवि से सेवते हैं ।

कुहू को मैं सुकर्मा को विदितकर्मा को इस यज्ञ में शुभ आवाहन वाली को बुलाता हूं । वह हमें देवे श्रवणम्=कीर्ति पितरों की । पितरों के धन को अथवा । पितरों के यश को अथवा । उस तेरे लिए हे देवि हवि से सेवते हैं । यह व्याख्या किया गया है ।

२४ यमी । [निरुक्त १० । ११] में व्याख्या की गई [है] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३३ ॥

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥
[ऋ० १० । १० । १४ ॥]

अन्यमेव हि त्वं यमि । अन्यस्त्वां परिष्वङ्क्ष्यते । लिबुजेव वृक्षम् । तस्य वा त्वं मन इच्छ । स वा तव । अथ अनेन कुरुष्व संविदम् । सुभद्रां कल्याणभद्राम् ।

यमी यमं चकमे । तां प्रत्याचचक्षे । इत्याख्यानम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—(अन्यम् ऊ सु) दूसरे को ही तू (यमि) हे यमि [और] (अन्यः उ त्वाम्) दूसरा ही तुझे (परिष्वजाते) आलिङ्गन करता है, (लिबुजा इव) वेल जैसे (वृक्षम्) वृक्ष को। (तस्य वा) उस का और (त्वं मनः इच्छा) तू मन चाह (सः वा तव) वह अथवा तेरा [मन चाहे।] (अधा) अनन्तर [उस के साथ] (कृणुष्व) करो (संविदम्) मर्यादा को (सुभद्राम्) कल्याणकारिणी को॥

दूसरे को ही निश्चय तू हे यमि। दूसरा तुझे आलिङ्गन करेगा। लिबुजा—वेल जैसे वृक्ष को। उस का अथवा तू मन इच्छा कर। वह अथवा तेरा [मन चाहे।] अनन्तर इस के साथ करो मर्यादा। सुभद्राम् कल्याणी भद्रा को।

यमी ने यम को चाहा। उस को [यम ने] न स्वीकार किया। [इस विषय का] यह आख्यान [है]॥ ३४॥

भाष्य—यम यमी के विषय में पूर्व लिख चुके है, वहां देखें॥ ३४॥

उर्वशी व्याख्याता। तस्या एषा भवति॥ ३५॥

अर्थ—३५. उर्वशी। [निरुक्त ५। १३ मे] व्याख्या की गई [है।] उस की यह [ऋक्] होती है॥ ३५॥

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्ठो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः॥

[ऋ० १०। ९५। १० ॥]

विद्युदिव या। पतन्त्यद्योतत। हरन्ती मे अप्या काम्यानि। उदकान्यन्तरिक्षलोकस्य। यदा नूनमय जायेताद्भ्योऽध्यप इति। नर्यो मनुष्यो नृभ्यो हित। नरापत्यमिति वा। सुजातः सुजाततरः। अथोर्वशी प्रवर्धयते दीर्घमायुः।

पृथिवी व्याख्याता। तस्या एषा भवति॥ ३६॥

अर्थ—(विद्युत् न) विद्युत् के समान (या) जो (पतन्ती) गिरती हुई (दविद्योत्) चमकी, (भरन्ती) लाती हुई (मे) मेरे प्रति (अप्या)

अप् सघातो को (काम्यानि) कामना करने योग्य [उदकों को ।] (जनिष्ट उ) उत्पन्न हुआ है (अप) अन्तरिक्ष स (नर्य) नरा के लिए हितकारी (सुजात) अत्यन्त श्रेष्ठ जन्म वाला [उदक ।] (प्रतिरत) बढ़ाती है (उर्वशी) विद्युत् [हुई वाक्] (दीर्घम् आयु) दीर्घ आयु को ॥

विद्युत् के समान-जो, गिरती हुई चमकी । लाती हुई मेरे प्रति प्राप्त करने योग्य और कामना करने योग्य, उदकों को अन्तरिक्ष लोक के । अब निश्चय यह उत्पन्न होता उदकों स । नर्य -मनुष्य=नरो के लिए हितकारी । नरा का अपत्य अथवा । सुजात=अत्यन्त श्रेष्ठ जन्म वाला । तब उर्वशी बढ़ाती है दीर्घ आयु को ।

५६, पृथिवी । [निरुक्त १ । १३ मे] व्याख्या की गई [है ।] उसकी यह [ऋक्] होती है ॥ ३६ ॥

भाष्य—विद्युत् वाले मघों से बरसा उदक आयु को दीर्घ करता है । इस पर प्रयत्न करना चाहिए ॥ ३६ ॥

बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि ।

प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि ॥

[ऋ० ५ । ८४ । १ ॥]

सत्य त्व पर्वताना मेघाना खेदनम्-छेदन-[भेदन] बलमत्र धारयसि पृथिवि । प्रजि-नसि या भूमिम् । प्रवणवति महत्त्वेन । महतीति । उदकवतीति वा ।

इन्द्राणी । इन्द्रस्य पत्नी । तस्या एषा भवति ॥ ३७ ॥

अर्थ—(बळ) सत्य हो (इत्था)-[अमुत्र] वहा [अन्तरिक्ष म] (पर्वतानाम्) पर्वतों क [अथवा मघो के] (खिद्रम्) छेदन के स्थान को (बिभर्षि) धारण करती है, (पृथिवि) हे [माध्यमिके] पृथिवि । (या) जो तू (भूमिम्) भूमि को (प्रवत्वति) झुकाने वाली (मह्ना) महान उदक से (प्र जिनोषि) भरपूर तृप्त करती है (महिनि) बहु उदक वाली ॥

सत्य ही तू पर्वतानां=मेघानाम्-मेघों के खेदन, छेदन, भेदन=बल को वहां [=अन्तरिक्ष में] धारण करती हो हे पृथिवी । प्रजिन्वसि=तृप्त करती हो जो तू भूमि को । झुकाने वाली महत्त्व से । उदक वाली अथवा ।

२७. इन्द्राणी । इन्द्र की पत्नी । उस की यह [ऋक्] होती है ॥३७॥

भाष्य—अन्तरिक्ष में अति स्वल्प पार्थिव अंश भी है। वह अंश ही अन्तरिक्ष में पर्वतों और मेघ रूपी पर्वतों को धारण करता है। वह पार्थिव अंश वर्षा द्वारा भूमि को तृप्त करता है। अन्तरिक्ष में इस पार्थिव अंश के कारण निघण्टु १।२ में अन्तरिक्ष नामों में पृथिवी पद भी पढ़ा गया है। इसी लिए ब्राह्मण का प्रवचन है—इयं [पृथिवी] अन्तरिक्षम्। ऐ० ३।३१॥ ३७॥

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥
[ऋ० १० । ८६ । ११ ॥]

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमशृणवम्। न ह्यस्या अपरामपि समां जरया म्रियते पतिः। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरः। तमेतद् ब्रूमः। तस्या एषापरा भवति ॥ ३८ ॥

अर्थ—(इन्द्राणीम्) माध्यमिका वाक् को (आसु नारिषु) इन नारियों के मध्य में (सुभगाम्) कल्याणकारिणी ऐश्वर्य वाली को (अहम् अश्रवम्) मैंने सुना। (न हि) नहीं (अस्याः) इस का (अपरं चन) औरों के समान (जरसा) बुढ़ापे से (मरते पतिः) मरता है पति। (विश्वस्मात्) सब से (इन्द्रः) जो इन्द्र (उत्तरः) बढ़ कर [है] ॥

इन्द्राणी को=इद्र पत्नी वाक् को इन नारियों के मध्य में शुभ ऐश्वर्य वाली को मैंने सुना। नहीं इन का दूसरों के समान जरा से मरता है पति। सारों से जो इन्द्र बढ़ कर [है।] उस को यह हम कहते हैं। उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ३८ ॥

भाष्य—वाक् का कोई प्रकार ही इन्द्र की जाया है। वही इन्द्राणी अथवा शची है। वह सुभगा है। वह शुभ ऐश्वर्य वाली इस लिए है कि उस का पति अमर है ॥ ३८ ॥

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते ।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥
[ऋ० १० । ८६ । १२ ॥]

नाहमिन्द्राणि रमे । सख्युर्वृषाकपेर्ऋते । यस्येदमप्यं हविः । अप्सु शृतम् । अद्भिः संस्कृतमिति वा । प्रियं देवेषु निगच्छति । सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरः । तमेतद् ब्रूमः ।

गौरी रोचतेः । ज्वलतिकर्मणः । अयमपीतरो गौरो वर्णं एतस्मादेव । प्रशस्यो भवति । तस्या एषा भवति ॥ ३९ ॥

अर्थ—(न अहम्) नहीं मैं (इन्द्राणि) हे इन्द्राणि (रारण) रमण करता (सख्युः) सखा के (वृषाकपेः ऋते) वृषाकपि के बिना । (यस्य) जिस की (इदम् अपि) यह भी (अप्य हविः) आपः से संस्कृत हवि [जो] (प्रियम्) प्रिय [है] (देवेषु) देवों में (गच्छति) पहुँचती है । सारों से जो इन्द्र बढ़ कर [है] ॥

नहीं मैं हे इन्द्राणि रमण करता, सखा वृषाकपि के बिना । जिस की यह अप्यं हवि । आपः में शृतम् पकी हुई । आपः द्वारा संस्कृत अथवा । प्रिय जो देवों में पहुँचती है । सारों से जो इन्द्र बढ़ कर [है ।] उस को यह हम कहते हैं ।

२८ गौरी. । रोचति से, चमकने अर्थ वाले से । यह भी दूसरा गौर वर्ण इस [धातु] से ही [है ।] प्रशंसनीय होता है । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ३९ ॥

भाष्य—बृहद्देवता अ० २ । ६२ से आदित्य के नामों के निर्वचन बताए गए हैं । उन में श्लोक ६० का निम्नलिखित पाठ है—

धूर्वन् कपिलो भूत्वा यन्नाकम् अधिरोहति ।
वृषाकपिरसौ तेन विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः ।
रश्मिभिः कम्पयन्नेति वृषा वर्षिष्ठ एव स. ॥ ६३ ॥

अर्थात्—वृषाकपि आदित्य की उस अवस्था का नाम है, जब वह कपिल वर्ण हो कर नाक की ओर चढ़ता है । यह माया अब भी घटती है, और सृष्टि उत्पत्ति के समय भी आदित्य के आरोहण में घटी थी । इन्द्र ने उस अवस्था के आदित्य से सख्य प्रकट किया है । यह सूक्ष्मता अध्ययन-योग्य है ॥ ३९ ॥

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥
[ऋ० १ । १६४ । ४१ ॥]

गौरीर्निर्मिमाय । सलिलानि तक्षति कुर्वती । एकपदी मध्यमेन । द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च । चतुष्पदी दिग्भिः । अष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च । नवपदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्चादित्येन च । सहस्राक्षरा बहूदका । परमे व्यवने । तस्या एषाऽपरा भवति ॥ ४० ॥

अर्थ—(गौरीः) मध्यमस्थानी विद्युत् रूपिणी वाक् ने (मिमाय) बनाया । (सलिलानि) सलिलों=संहत उदकों को (तक्षति) छीलती हुई ने । एकपदी, द्विपदी, वह चतुष्पदी । अष्टापदी, नवपदी (बभूवुषी) होती हुई ने (सहस्राक्षरा) बहूदकों ने परम व्योम में ॥

गौरी वाक् ने निर्माण किया । सलिलों को करती हुई ने । एकपदी, मध्यमेन=वायु के द्वारा । द्विपदी, वायु और आदित्य और के द्वारा । चतुष्पदी दिशाओं के द्वारा । अष्टापदी, दिशाओं के द्वारा और अवान्तर दिशाओं के द्वारा और । नवपदी, दिशाओं के द्वारा और, अवान्तर दिशाओं के द्वारा और, आदित्य के द्वारा और । सहस्राक्षरा=बहु उदकों वाली । परम विविध रक्षक आकाश में । उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ४० ॥

भाष्य—मध्यमस्थाना वाक् उदकों को किस प्रकार से छीलती है । यह विज्ञान अभी मैं नहीं जान सका । उस के एकपदी आदि रूप भी अध्ययन योग्य हैं ॥ ४० ॥

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति ॥ [ऋ० १ । १६४ । ४२ ॥]

तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति । वर्षन्ति मेघाः । तेन जीवन्ति दिगाश्रयाणि भूतानि । ततः क्षरत्यक्षरमुदकम् । तत्सर्वाणि भूतान्युप जीवन्ति ।

गौर्व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ४१ ॥

अर्थ—(तस्याः) उस [गौरी] से (समुद्राः) अन्तरिक्षस्थ मेघ (अधि वि क्षरन्ति) चलित हो कर बरसते हैं । उस से जीते हैं चारों प्रदिष्ट दिशाओं [के भूत], उस से बहता है उदक । उस से सारे [भूत] जीते हैं ।

उस से समुद्रा=मेघाः=मेघ अधिविक्षरन्ति=वर्षन्ति=बरसते हैं । उन के कारण से जीते हैं दिगाश्रित भूत । उनसे बहता है उदक । उस से सारे भूत जीते हैं ।

२१. गौः । [निरुक्त २ । ५ में] व्याख्या की गई [है ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४१ ॥

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥
[ऋ० १ । १६४ । २८ ॥ अथर्व० ९ । १० । ६ ॥]

गौरन्वमीमेद्वत्सं निमिषन्तम् । अनिमिषन्तमादित्यमिति वा । मूर्धानमस्याभिहिङ्ङकरोन्मननाय । सृक्वाणं सरणम् । घर्मं हरणम् । अभिवावशाना मिमाति मायुम् । प्याययते पयोभिः । मायुमिवादित्यमिति वा । वागेषा माध्यमिका । घर्मधुगिति याज्ञिकाः ।

धेनुः । धयतेर्वा । धिनोतेर्वा । तस्या एषा भवति ॥ ४२ ॥

अर्थ—(गौ) मध्यम स्थाना वाक् (अमीमेत् अनु) अनु शब्द करे (वत्सं निमिषन्तम्) [आदित्य रूप] वत्स को निमीलिताक्ष को [देख कर], (मूर्धानम्) सिर को [=सिर स्थानी रश्मियों के मध्य स्थान में आने पर] (हिङ्ङकृणोत्) हिंकार किया अथवा करती है । (मातवा= मातवै उ) मनन के लिए उदक के । (सृक्वाणम्) सरकने वाले (घर्मम्)

रसहारक [आदित्य] को (अभि वावशाना) अत्यधिक कामना करती हुई (मिमाति) पुन. पुनः करती है (मायुम्) स्तनयित्नु लक्षण शब्द को (पयते) बढ़ाती है (पयोभिः) मध्यमस्थानी पयः के द्वारा ॥

गौः अनुशब्द करती है [आदित्य को देख कर] अथवा । इस के शिर को [सूंघ कर] हिंकार करती है, मनन [=ज्ञान] के लिए । सृकाणम्=सरकने वाले को घर्मम्=रसहारक [आदित्य] को । अत्यधिक कामना करती हुई पुनः पुनः करती है शब्द को । पयते=प्रप्यायते=बहुत बढ़ाती है, पयः से । शब्द के समान आदित्य को अथवा । वाक् यह माध्यमिका । घर्मधुक्=प्रवर्ग्य कर्म के लिए दुही जाने वाली गौः, यह याज्ञिक [कहते हैं ।]

३०. धेनुः, धयति से अथवा । धिनोति से अथवा । उस को यह [ऋक्] होती है ॥ ४२]

भाष्य—स्कन्द लिखता है—वत्सं मिषन्तमादित्यमिति पाठः । अनिमिषन्तम् इत्यपपाठः । दुर्ग, स्कन्द और सायण आदि ने इस मन्त्र का अर्थ करने में यत्न किया है, पर वे इस का पूरा भाव स्पष्ट नहीं कर सके । हमें भी इस मन्त्र में भरा विज्ञान पूरा स्पष्ट नहीं हुआ ॥ ४२ ॥

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चम् ॥

[ऋ० १ । १६४ । २६ ॥]

उपह्वये सुदोहनां धेनुमेताम् । कल्याणहस्तो गोधुगपि च दोग्ध्येनाम् । श्रेष्ठं सवं सविता सुनोतु नः—इत्येष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकम् । यद्वा पयो यजुष्मत् । अभीद्धो घर्मः । तं सु प्रब्रवीमि । वागेषा माध्यमिका । घर्मधुगिति याज्ञिकाः ।

अघ्न्या । अहन्तव्या भवति । अघघ्नीति वा । तस्या एषा भवति ॥ ४३ ॥

अर्थ—(उप ह्वये) बुलाता हूं (सुदुघाम्) अच्छा दुहाने वाली को (धेनुम्) धेनु को (एताम्) इस को, (सुहस्तः) कल्याण कारक हाथों

तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति । वर्षन्ति मेघाः । तेन जीवन्ति दिगाश्रयाणि भूतानि । ततः क्षरत्यक्षरमुदकम् । तत्सर्वाणि भूतान्युप जीवन्ति ।

गौर्व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ४१ ॥

अर्थ—(तस्याः) उस [गौरी] से (समुद्रा) अन्तरिक्षस्थ मेघ (अधि वि क्षरन्ति) क्षरित हो कर बरसते हैं। उस से जीते हैं चारों प्रदृष्ट दिशाओं [के भूत] उस से बहता है उदक। उस से सारे [भूत] जीते हैं।

उस से समुद्राः=मेघाः=मेघ अधिविक्षरन्ति=वर्षन्ति=बरसते हैं। उस के कारण से जीते हैं दिगाश्रित भूत। उससे बहता है उदक। उस से सारे भूत जीते हैं।

२१ गौ। [निरुक्त २। ५ में] व्याख्या की गई [है।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४१ ॥

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥
[ऋ० १। १६४। २८ ॥ अथर्व० ६। १०। ६ ॥]

गौरन्वमीमद्वत्सं निमिषन्तम् । अनिमिषन्तमादित्यमिति वा । मूर्धानमस्याभिहिङ्ङकरोन्मननाय । सृक्वाणं सरणम् । घर्मं हरणम् । अभिवावशाना मिमाति मायुम् । प्रप्यायते पयोभिः । मायुमिवादित्य मिति वा । वागेषा माध्यमिका । घर्मधुगिति याज्ञिकाः ।

धेनुः धयतेर्वा । धिनोतेर्वा । तस्या एषा भवति ॥ ४२ ॥

अर्थ—(गौ) मध्यम स्थाना वाक् (अमीमेत् अनु) अनु शब्द करे (वत्सं निमिषन्तम्) [आदित्य रूप] वत्स को निमीलिताक्ष को [देख कर], (मूर्धानम्) सिर को [=सिर स्थानी रश्मियों के मध्य स्थान में आने पर] (हिङ्ङकृणोत्) हिंकार किया अथवा करती है। (मातवा= मातवै उ) ज्ञान के लिए उदक के। (सृक्वाणम्) सरकने वाले (घर्मम्)

रसहारक [आदित्य] को (अभि वावशाना) अत्यधिक कामना करती हुई (मिमाति) पुन: पुन: करती है (मायुम्) स्तनयित्नु लक्षण शब्द को (पयते) बढ़ाती है (पयोभिः) मध्यमस्थानी पयः के द्वारा ॥

गौः अनुशब्द करती है [आदित्य को देख कर] अथवा । इस के शिर को [सूंघ कर] हिंकार करती है, मनन [=ज्ञान] के लिए । सृक्वाणम्=सरकने वाले को धर्मम्=रसहारक [आदित्य] को । अत्यधिक कामना करती हुई पुनः पुनः करती है शब्द को । पयते=प्रप्यायते=बहुत बढ़ाती है, पयः से । शब्द के समान आदित्य को अथवा । वाक् यह माध्यमिका । घर्मधुक्=प्रवर्ग्य कर्म के लिए दुही जाने वाली गौः, यह याज्ञिक [कहते हैं ।]

३०. धेनुः, धयति से अथवा । धिनोति से अथवा । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४२]

भाष्य—स्कन्द लिखता है—वत्सं मिषन्तमादित्यमिति पाठः । अनिमिषन्तम् इत्यपपाठः । दुर्ग, स्कन्द और सायण आदि ने इस मन्त्र का अर्थ करने में यत्न किया है, पर वे इस का पूरा भाव स्पष्ट नहीं कर सके । हमें भी इस मन्त्र में भरा विज्ञान पूरा स्पष्ट नहीं हुआ ॥ ४२ ॥

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चम् ॥

[ऋ० १ । १६४ । २६ ॥]

उपह्वये सुदोहनां धेनुमेताम् । कल्याणहस्तो गोधुगपि च दोग्ध्येनाम् । श्रेष्ठं सवं सविता सुनोतु नः—इत्येष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकम् । यद्वा पयो यजुष्मत् । अभीद्धो घर्मः । तं सु प्रब्रवीमि । वागेषा माध्यमिका । घर्मधुगिति याज्ञिकाः ।

अघ्न्या । अहन्तव्या भवति । अघघ्नीति वा । तस्या एषा भवति ॥ ४३ ॥

अर्थ—(उप ह्वये) बुलाता हूं (सुदुघाम्) अच्छा दुहाने वाली को (धेनुम्) धेनु को (एताम्) इस को, (सुहस्तः) कल्याण कारक हाथों

वाला=कुशल (गोधुक्) गौ का दोहने वाला [इन्द्र]। (उत) भी (दोहत्) दोहे (एनाम्) इस को। (श्रेष्ठ सवम्) अतिशय प्रशस्य उपज=पय: के लिए (सविता) आदित्य, यजमान अथवा परमात्मा (सावियत्) अनुमति दे (नः) हमे। (अभि इद्ध) पूरा प्रदीप्त हुआ है (घर्म) घर्म, (तत् उ सु) उस को भले प्रकार (प्रवोचम्) प्रकर्षता से कहता हूं॥

सुपाता हूं सुदोहना को इस धेनु को। कल्याणहस्त गोदोग्धा भी दोहता है इस को। श्रेष्ठ उपज के लिए सविता अनुमति दे हमे। यह ही श्रेष्ठ [है] सारी-उपजों में जो उदक [है।] अथवा पय-पशुओं युक्त। प्रदीप्त है घर्म। उस को भद्र कहता हूं। वाक् यह माध्यमिका [है।] घर्मधुक्, यह याज्ञिक [कहते हैं।]

हे॰ अघ्न्या। न मारने योग्य होती है। पाप को नाश करने वाली अथवा। उस की यह [ऋक्] होती है॥ ४३॥

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥

[ऋ० १। १६४। ४०॥]

सुयवसादिनी भगवती हि भव। अथेदानीं वयं भगवन्तः स्याम। अद्धि तृणमघ्न्ये सर्वदा। पिब च शुद्धमुदकमाचरन्ती। तस्या एषाऽपरा भवति॥ ४४॥

अर्थ—(सूयवसात्) श्रेष्ठ यवस=चारा [=रश्मि अथवा उदक] अद्= [illegible] होवो (भ [illegible] स्याम) होवे। [illegible]) हे माध्यमिके वाक् (विश्वदानीम्) सर्वदा (पिब) पियो (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) उदक को (आचरन्ती) सब प्रकार से खाती हुई।

सुन्दर चारा खाने वाली ऐश्वर्य वाली ही होवो। पश्चात् अब हम ऐश्वर्यवान् हो। खाओ तृण को हे अघ्न्ये। पियो और शुद्ध उदक को सब प्रकार से खाती हुई।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ४४ ॥

भाष्य—स्कन्द आदि ने इस मन्त्र से माध्यमिका वाक् का अर्थ जोड़ा है। तदनुसार यवस है रश्मि-अपहृत उदक, और तृण है तर्दनीय मेघ ॥ ४४ ॥

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥
[ऋ० १ । १६४ । २७ ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ।

पथ्या । स्वस्तिः । पन्था अन्तरिक्षम् । तन्निवासात् । तस्या एषा भवति ॥ ४५ ॥

अर्थ—[स्तनयित्नु रूप में] हिंकार करती हुई (वसुपत्नी) वृष्टि-उदक रूप धन की अधिपति भूता (वसूनाम्) आदित्य रश्मि वा मरुतों के (वत्सम्) आदित्य रूप वत्स का (इच्छन्ती मनसा) चाहती हुई मन से (अभि आगात्) आई । (दुहाम्) दूध दुहाए (अश्विभ्याम्) अश्वियों के लिए (पयः) पय रूप (अघ्न्या) माध्यमिका वाक् (इयं सा वर्धताम्) वह यह बढ़े, महान् सौभाग्य के लिए ॥

यह स्पष्ट पाठ से व्याख्यात है।

३२. पथ्या । ३३. स्वस्तिः । पन्था, अन्तरिक्ष [है ।] उस में निवास करने से [पथ्या ।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४५ ॥

भाष्य—स्कन्द ने माध्यमिक पक्ष में अर्थ स्पष्ट किया है ॥ ४५ ॥

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥
[ऋ० १० । ६३ । १६ ॥]

स्वस्तिरेव हि प्रपथे श्रेष्ठा । रेक्णस्वती धनवती । अभ्येति या वसूनि वननीयानि । सा नोऽमा गृहे । सा निरमणे । सा निर्गमने पातु ।

स्वावेशा भवतु। देवी गोप्त्री । देवान् गोपायत्विति । देवा एनां गोपायन्त्विति वा।

उषा व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ४६ ॥

अर्थ—(स्वस्तिः इत् हि) स्वस्ति ही [नहीं कोई और] (प्रपथे) प्रकृष्ट अन्तरिक्ष मार्ग में (श्रेष्ठा) अतिशय प्रशस्या (रेक्णस्वती) [वृष्टि उदक] धन वाली (या वामम्) जो सुन्दर धन [उदक को] (अभि एति) प्राप्त होती है। वह हमें (अमा) घर में (सा उ) वह (अरणे) वन में (नि पातु) नियम से रक्षा करे। (स्वावेशा) [हमारे लिए] शुभ आगमन वाली (भवतु) हो, (देवगोपा) देवों की रक्षक अथवा देव जिस के रक्षक [हैं] ॥

स्वस्तिः ही श्रेष्ठ मार्ग में अतिशय श्रेष्ठा। [वही] धन वाली [है।] अभ्येति=समीप पहुंचती है जो कमनीय धनों को। वह हमें घर में, वह शून्य स्थान में, वह बाहर रक्षा करे। श्रेष्ठ वास वाली हो । देवों रक्षा करने वाली। देवों की रक्षा करे। देव इस की रक्षा करें अथवा।

६४ उषा:, [निरुक्त २ । १८ में] व्याख्या की गई [है।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४६ ॥

भाष्य—स्वस्तिः कौन सी माध्यमिका शक्ति है, यह जानना चाहिए। निरुक्त इसे वाक् समझते हैं। अतः यह वाक् का कोई सूक्ष्म भेद है ॥ ४६ ॥

अपोषा अनसः सरत्सम्पिष्टादह बिभ्युषी ।

नि यत्सीं शिश्नथद्वृषा ॥ [ऋ० ४ । ३० । १० ॥]

अपासरदुषा अनसः सम्पिष्टान्मेघादु बिभ्युषी । अनो वायुः । अनितेः। अपि वोपमार्थे स्यात् । अनस इव शकटादिव । अनः शकटम् । आनद्धमस्मिन्चीवरम् । अनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मणः । उपजीवन्त्येनत् । मेघोऽप्यन एतस्मादेव। यदिरशिश्नथद् वृषा। वर्षिता मध्यमः । तस्या एषाऽपरा भवति ॥ ४७ ॥

अर्थ—(उषा) उषा (अनसः) [मेघरूप] शकट से (अप-असरत्) परे हट गई (सम्पिष्टात्) चूर्ण हुए से, (अह) (बिभ्युषी)

डरती हुई । (नि शिश्नथत्) तोड़ दिया (यत्) जब [उस शकट को] (वृषा) वर्षणकर्ता वायु ने ॥

परे हट गई उषा शकट से सम्यक् पीसे हुए मेघ से, डरती हुई । अनः वायु [है ।] अनिति से । अथवा उपमा अर्थ में होवे । अनस इव=शकट से जैसे । अनः शकट [है ।] आनद्धम्=बंधा हुआ होता है इस पर चीवर =कपड़ा=चर्म । अनिति से अथवा होवे, जीवन अर्थ वाले से । जीविका चलाते हैं, इस से । मेघ भी अनः [है], इसी [कारण] से । जब निरशिश्नथत्=तोड़ा इसे वृषा ने । वृषा=वर्षाकर्ता मध्यम वायुः ।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ४७ ॥

भाष्य—उषा वायु अथवा मेघ पर ठहरती है । इस का रहस्य समझना चाहिए ॥ ४७ ॥

एतदस्या अनः शये सुसंम्पिष्टं विपाश्या ।
ससार सीं परावतः ॥ [ऋ० ४ । ३० । ११ ॥]

एतदस्या अन आशेते सुसम्पिष्टमितरदिव । विपाशि विमुक्तपाशि । ससारोषाः परावतः प्रेरितवतः । परागताद्वा ।

इळा व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ४८ ॥

अर्थ—(एतत्) यह (अस्याः) इस [उषा] का (अनः) शकट (शये+आ=आशये) [भूमि पर] ठहरा है, (सु सम्पिष्टम्) सम्यक् चूर्ण हुआ, [उदक रूप में वर्षा में बहा] (विपाशि–आ) विगत पाश हुआ, [अथवा] विपाशा नदी से आया । (ससार) परे चली गई [जिस कारण उषा] (सीम्) सब ओर से (परावतः) प्रेरे हुए से ॥

यह इस का [टूटा] शकट पड़ा है=सोता है=ठहरा है, सम्यक् चूर्णित हुए दूसरे [पार्थिव शकट] के समान । विपाशि=विमुक्त बंधन वाली । परे चली गई उषा प्रेरे हुए से । दूर गए हुए से अथवा ।

३५. इळा । [निरुक्त ८ । ७ में] व्याख्या की गई [है ।] उस को यह [ऋक्] होती है ॥ ४८ ॥

भाष्य—सायण ने इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है कि उषा का टूटा हुआ शकट विपाशा के तीर पर पड़ा है। प्रश्न होता है कि क्या वर्षों केवल विपाशा के तीर पर होती है। इस प्रश्न का उत्तर सायण के अर्थ में युक्त नहीं बैठता। ४८।

अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु ।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः ।
सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः ॥ [ऋ० ५ । ४१ । १९ ॥]

अभिगृणातु न इळा। यूथस्य माता। [सर्वस्य माता।] स्मदभि नदीभिः। उर्वशी वा गृणातु। उर्वशी वा। बृहद्दिवा महद्दिवा। गृणाना। अभ्यूर्ण्वाना। प्रभृथस्य प्रभृतस्य। आयोरयनस्य। [मनुष्यस्य।] ज्योतिषो वोदकस्य वा। सेवतां नोऽन्नस्य पुष्टेः।

रोदसी। रुद्रस्य पत्नी। तस्या एषा भवति ॥ ४९ ॥

अर्थ—(अभि गृणातु) श्रेष्ठ शब्द करे, स्तुति करे (न) हमारे प्रति (इळा) इळा नाम वाली (यूथस्य माता) मरुद्गण की माता (स्मत् नदीभिः) साथ नदियों के (उर्वशी) उर्वशी अथवा। उर्वशी अथवा बड़ी दीप्ति वाली (गृणाना) शब्द करती हुई (अभि ऊर्ण्वाना) [सारी पृथिवी को या हमें] छादन करती हुई (प्रभृथस्य) एकत्र किए गए, [या] पालन किए गए (आयोः) गतिशील के लिए। (सिषक्तु) सेवन करे (नः) हमारे (ऊर्जव्यस्य) अन्न की (पुष्टेः) पुष्टि को॥

शब्द करे हमारे प्रति इळा। यूथ की माता [सब की माता] साथ होने वाली नदियों के। उर्वशी अथवा स्तुति करे। उर्वशी अथवा बड़ी दीप्ति वाली। शब्द करती हुई। छादन करती हुई। पालन किए गए। आयो गतिशील के लिए, ज्योति के लिए उदक के लिए अथवा। सेवन करे हमारे अन्न की पुष्टि को।

३६ रोदसी। रुद्र की पत्नी। उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ४९ ॥

भाष्य—उर्वशी या विद्युत् से कल्याण हो, उस की विधा यहां है। यास्क के अनुसार यह एक ऋक् है। परन्तु कई मुद्रित संस्करणों और पूना के सायण भाष्य युक्त ऋग्वेद में उत्तर पाद एक पृथक् ऋक् है।

रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे ।
आ यस्मिन्तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी ॥

[ऋ० ५ । ५६ । ८ ॥]

रथं क्षिप्रं मारुतं [मेघं] वयं श्रवणीयमाह्वयामहे । आ यस्मिन्तस्थौ सुरमणीयान्युदकानि बिभ्रती सचा मरुद्भिः सह रोदसी ॥ ५० ॥

इत्येकादशोऽध्यायः ।

अर्थ—(रथम्) रथ को (नु) शीघ्र (मारुतम्) मरुत सम्बन्धी को (वयम्) हम (श्रवस्युम्) श्रवण योग्य को (आ हुवामहे) बुलाते हैं। (यस्मिन्) जिस [रथ] पर (आ तस्थौ) ठहरती है (सुरणानि) सुरमणीय उदकों को (बिभ्रती) धारती हुई (सचा मरुत्सु) साथ मरुतों के (रोदसी) रुद्रपत्नी ॥

रथ को शीघ्र मारुत को [मेघ रूप को] हम श्रवण योग्य को बुलाते हैं। जिस पर ठहरती है, सुन्दर रमणीय उदकों को धारण करती हुई मरुतों के साथ रोदसी=रुद्रपत्नी ॥ ५० ॥

भाष्य—इस रोदसी का द्यावापृथिवी से कोई भेद है, वा नहीं, यह जानना चाहिए। आचार्य शाकल्य ने द्यावापृथिवी वाचक रोदसी को द्विवचनान्त प्रगृह्य संज्ञक मान कर पदपाठ में 'इति' पद से निर्दिष्ट किया है ॥ ५० ॥

इत्येकादशोऽध्यायः

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथातो द्युस्थाना देवता । तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवत । अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वम् । रसेनान्यो ज्योतिषान्य । अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभ । तत्कावश्विनौ । द्यावापृथिव्यावित्येक । अहोरात्रावित्येक । सूर्याचन्द्रमसावित्येके । राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिका । तयो काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात् । प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भम् । अनु तमो भागो हि मध्यम । ज्योतिर्भाग आदित्य । तयोरेषा भवति ॥ १ ॥

अर्थ—अब इस से आगे द्युस्थान वाले देवता [कहते है ।] उन मे से अश्विद्वय प्रथम आने वाले हैं । अश्विनौ, क्योंकि व्यापते है सब को । रस=आप प्रभाव से एक ज्योति से दूसरा [व्यापते है ।] अश्वो के [कारण] से अश्विनौ यह और्णवाभ [कहता है ।] तो कौन हैं दोनो अश्वि । द्यावापृथिवी [हैं] यह [आचार्य कहते हैं ।] अहोरात्र [हैं] यह दूसरे [कहते हैं ।] सूर्य और चन्द्रमा [है ।] यह तीसरे [कहते हैं ।] दो राजा पुण्यकृत् यह ऐतिहासिक [कहते हैं ।] उन का [उदय] काल [है], अर्धरात्रि से पश्चात् । प्रकाशीभाव का अनु-वि ष्टम्भ [–रात्रि के अन्धेरे को फाड कर ज्योति का उस अन्धकार मे जब विष्टम्भ=सहारा=निशान होता है तब तक][1] तन्नु तमोमय भाग मध्यम [है ।] ज्योति का भाग आदित्य है ॥ १ ॥

भाष्य—दस्र और नासत्य नाम के दो अश्वि हैं । उन में से एक रसप्रधान है और दूसरा ज्योति प्रधान । अन्य आचार्यों ने भी जो द्यावापृथिवी आदि के जोड़ माने हैं उन में से एक रसप्रधान है और दूसरा ज्योतिप्रधान । द्यावापृथिवी के जोड़े में द्यौ–आदित्य ज्योतिप्रधान है और पृथिवी रसप्रधान है । और्णवाभ के निर्वचन में अश्वों के अस्तित्व के कारण अश्विनौ पद का व्याख्यान माना गया है । यद्यपि अश्व आदित्य और चन्द्र आदि के भी है, पर अश्विनौ के भी हैं ।

---

१ अजमेर के निरुक्त संस्करण का पाठ 'अनुविष्टम्भमनु' ठीक नहीं देखो—भाग ५ के खण्ड में स्कन्द टीका भी ।

यास्क ने राजानौ पुण्यकृतौ का जो मत लिखा है, उसके विषय में स्कन्द महेश्वर ने लिखा है—राजानौ इन्द्रवरुणौ वा भवतः ।

तमोभागो हि मध्यमः । यह किसी श्लोक का एक पाद प्रतीत होता है । ये अश्विद्वय देवों के भिषजौ माने गए हैं । कौ० ब्रा० १८ । १ ॥ द्यावापृथिवी आदि प्रत्यक्ष अश्विनौ हैं । यह शतपथ ४ । १ । ५ । १६ ॥ में भी माना है । पर अश्विनौ की अपनी पृथक् सत्ता भी अवश्य है ॥ १ ॥

वसातिषु स्म चरथोऽसितौ पेत्वाविव ।

कदेदमश्विना युवमभि देवाँ अगच्छतम् ॥

इति सा निगदव्याख्याता ।

तयोः समानकालयोः समानकर्मणोः संस्तुतप्राययोरसंस्तवेनैषोऽर्धर्चो भवति ।

वासात्यो अन्य उच्यत उषः पुत्रस्तवान्यः । इति ।

तयोरेषाऽपरा भवति ॥ २ ॥

अर्थ—(वसातिषु) रात्रियों में (स्म) पदपूरक (चरथः) विचरते हो (असितौ) दो काले (पेत्वौ इव) मेषों के समान । (कदा) कब (इदम्) यह (अश्विना) हे अश्वियो (देवान्) देवों के प्रति (अभि अगच्छतम्) आए हो ॥

यह स्पष्ट पाठमात्र से व्याख्या की गई है ।

उन दोनों के समान काल वालों के, समान कर्म वालों के, प्रायः एक साथ स्तुति वालों के असंस्तवेन=पृथक् स्तव से यह [अगली] अर्ध ऋक् होती है ।

वासात्यः=वसाति का=रात्रि का पुत्र एक कहा जाता है, उषः का पुत्र दूसरा ।

उन दोनों की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २ ॥

भाष्य—भारत म एक वसाति जनपद भी था। उस जनपद का यह नाम वेद स लिया गया। पर इस मन्त्र का वस ति पद रात्रि का वाची है। रात्रि का पुत्र मध्यम है और उषा का पुत्र आदित्य उत्तम है ॥ २ ॥

इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वाइ नामभिः स्वैः ।
जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे ॥
[ऋ० १ । १८१ । ४ ॥]

इह चेह च जातौ संस्तूयेते । पापेनालिप्यमानया तन्वा । नामभिश्च स्वैः । जिष्णुर्वामन्य सुमहतो बलस्येरयिता मध्यम । दिवोऽन्य सुभग पुत्र ऊह्यत आदित्य । तयोरेषाऽपरा भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—(इह इह) इस [अन्तरिक्ष] में इसमें (जाता=जातौ) उत्पन्न हुए (सम् अवावशीताम्) सम्यक् स्तुति किए जाते हो (अरेपसा =अरेपसौ) तुम दोनो पाप रहित (तन्वा) शरीर से (नामभि स्वै) नामो से अपने । (जिष्णु) जयशील (वाम्) तुम दोनो म से (अन्य) एक (सुमखस्य) शुभ बल का (सूरि) प्रेरक (दिव) द्यौ का (अन्य) दूसरा (सुभग) शोभा वाले [रश्मि समूह से] ऐश्वर्य वाला (पुत्र) पुत्र [आदित्य] (ऊहे) ले जाया जाता है ॥

यहा यहा उत्पन्न हुए स्तुति किए जाते हो। पाप से अलिप्त शरीर से। नामो से और अपने। जयशील तुम दोनो म से एक, सुमहान् बल के प्रेरक मध्यम। द्यौ का दूसरा शुभ ऐश्वर्य वाला पुत्र ले जाया जाता है आदित्य।

उन दोनों की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ३ ॥

भाष्य—इह-इह यह पद कौन प्रयुक्त कर सकता है। उत्तर है कि जो स्वयं वहा हो। अब इह पद पृथिवी स्थानी नहीं है। यह सत्र प्रकरण से प्रकट हो जाता है। यह इह अन्तरिक्ष का द्योतक है। अत अगस्त्य ऋषि जो इस ऋक का द्रष्टा है अन्तरिक्ष स्थानी था। वह अश्वियों को सम्बोधन करके कहता है। वे अश्विद्वय अन्तरिक्ष में उत्पन्न थे। इन के जन्म का प्रकार अन्वेषणीय है। अन्तरिक्ष म जन्म कर इन का वर्तमान स्थान द्यौ में है ॥ ३ ॥

प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम् ।

अस्य सोमस्य पीतये ॥ [ऋ० १ । २२ । १ ॥]

प्रातर्योगिनौ विबोधयाश्विनौ । इहागच्छतामस्य सोमस्य पानाय । तयोरेषाऽपरा भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—(प्रातः) प्रातः काल में (युजा) [हवि के निमित्त] विनियुक्त हुए (वि बोधय) जगावो (अश्विनौ) अश्वियों को (आ) (इह) यहां (आ गच्छताम्) आवें । इस सोम के पीने के लिए ॥

प्रातः याग में विनियुक्त जगाओ अश्विद्वय को । यहां आवें । इस सोम के पान के लिए । उन दोनों की यह और [ऋक्] होती है ॥ ४ ॥

प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम् ।

उतान्यो अस्मद्यजते वि चावः पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान् ॥

[ऋ० ५ । ७७ । २ ॥]

प्रातर्यजध्वमश्विनौ । प्रहिणुत । न सायमस्ति देवेज्या । अजुष्टमेतत् । अप्यन्योऽस्मद्यजते । वि चावः । पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्वनयितृतमः ।

तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्तः । तस्मिन्नन्या देवता ओप्यन्ते ।

उषाः । वष्टेः । कान्तिकर्मणः । उच्छतेरितरा माध्यमिका । तस्या एषा भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—[हे यज्ञ कर्ताओ] (प्रातः) प्रातः काल (यजध्वम्) यजन करो (अश्विनौ) अश्वियों को । (हिनोत) जाओ [हवियों के प्रति । मत विलम्ब करो], (न) नहीं (सायम्) सायं को (अस्ति) होती है (देवया) देवों को जाने वाली, (अजुष्टम्) [वह हवि] अजुष्टा=असेविता रहती है [देवों से ।] (उत्) और (अन्यः) कोई दूसरा (अस्मत्) हम से (यजते) यजन करता है, (वि चावः) विविध प्रकार से तृप्त करता है [सोम से] (पूर्वः पूर्वः) पहला पहला (यजमानः) यजन करने वाला (वनीयान्) उत्तम पूजा=यज्ञ करने वाला [है] ॥

प्रातः काल यजन करो अश्विनों को। भेजो [हवि को]। नहीं सायं समय होती देवों की इज्या। असम्भावित [होती है] यह। कोई दूसरा भी इस से यजन करता है। विजय गृह रखता है। पहला-पहला यजमान उत्तम पूजक [होता है।] उन दोनों का काल सूर्योदय पर्यन्त [है।] उस [समय] में दूसरे देवता चोष्यन्ते=[हवि] खाने जाते हैं।

हे उषः ! कहि से, इच्छा अर्थ जाने से [यह भी स्त भी है।] उच्छति =निवारती है, स [उक्षा को निवारती है] माध्यमिका। उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ५ ॥

भाष्य—यज्ञ प्रातः काल किया गया फलदायक होता है, इस तथ्य की सूक्ष्मता इस मन्त्र से स्पष्ट है। एक ही यह उषा किस प्रकार दो निर्वचनों में दर्शाया गया है। वे दोनों निर्वचन अर्थ की सूक्ष्मता पर आश्रित हैं। एक निर्वचन तो स्थानी उषा के अर्थ का भाव प्रकट करता है और दूसरा माध्यमिका के कर्म का। ऐसे सूक्ष्म ज्ञान वाले आचार्य पर संस्कृत थार्इर डुक्स' के सम्पादकों, राथवाले और सिद्धेश्वर वर्मा आदि ने जो मिथ्या आक्षेप लगाए हैं, उन से उन का अपना अज्ञान ही प्रकट होता है ॥ ५ ॥

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति ।
येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ [ऋ० १। ९२। १३ ॥]

उषस्तत् [चित्रं] चायनीयं [मंहनीयं] धनमाहरास्मभ्यम् । अन्नवति । येन पुत्रांश्च पौत्रांश्च दधीमहि ।

तस्या एषाऽपरा भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—(उषः) हे उषः (तत्) वह (चित्रम्) विचित्र, पूजनीय [धन] (आ भर)=आहर=दो (अस्मभ्यम्) हमारे लिए, (वाजिनी-वति) हे अन्नवाली। जिस से पुत्र को और पोते को और (धामहे) धारण करें=पुष्ट करें ॥

हे उषः, चायनीय=मंहनीय=पूजनीय धन को दो हमारे लिए, हे अन्न-वाली। जिस से पुत्रों को और पौत्रों को और धारण करें।

उस की यह और [ऋक्] होती है ॥ ६ ॥

भाष्य—उषा जीवन देती है। वायु द्वारा शुद्ध पूजनीय आहार देती है ॥६॥

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते ।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः ॥
[ऋ० १ । ६२ । १ ॥ साम० उ० आ० ८ । ३ । १६ । १ ॥]

एतास्ता उषसः केतुमकृषत । प्रज्ञानम् । एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं स्यात् । पूर्वेऽर्धेऽन्तरिक्षलोकस्य समञ्जते भानुना । निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः । निरित्येष समित्येतस्य स्थाने ।

एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥ [ऋ० १० । ३४ । ५ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । प्रतियन्ति । गावो गमनात् । अरुषीरारोचनात् । मातरो भासो निर्मात्र्यः ।

सूर्या । सूर्यस्य पत्नी । एषैवाभिसृष्टकालतमा । तस्या एषा भवति ॥ ७ ॥

अर्थ—(एताः) ये ही (त्या) वे (उषसः) उषाएं [हैं, जिन्होंने] (केतुम्) प्रकाश=प्रज्ञान को (अक्रत) किया । (पूर्वे अर्धे) पूर्व अर्ध मे (रजसः) अन्तरिक्ष लोक के (भानुम्) प्रकाश के साथ (अञ्जते) प्रकट होती हैं । (निष्कृण्वानाः) बाहर निकाल कर (आयुधानि इव) शस्त्र को जैसे [चमकाते हे,] (धृष्णवः) योद्धा, [वैसे] (गावः) [उषा के] रश्मि (अरुषीः) चमक वाले (प्रति यन्ति) लौट जाते हैं (मातरः) अपने मातृस्थानों मे ॥

ये वे उषाए हैं, [जिन्होने] केतुम्=प्रज्ञानम्=प्रकाश को अकृषत= किया । एक [उषा] का ही पूजा अर्थ मे बहुवचन [उषसः] होवे । पूर्व अर्ध मे अन्तरिक्ष लोक के प्रकट होती हैं [उषाए] प्रकाश के साथ । निष्कृण्वानाः मे निर्, यह सम्, इस के स्थान मे, [अर्थात्-सम्-कृण्वानाः =संस्कुर्वाणाः=सजाते हुए=चमकाते हुए । यह उपसर्ग व्यत्यय हे । यथा-] (एमि इत्) जाता हूं [मे जुआरिया] इसी समय (एषाम्) इन [अक्षों] के (निष्कृतम्) सजे हुए स्थान को (जारिणीव) जार वाली के समान । यह भी निगम होता है । [यहा भी उपसर्ग व्यत्यय के कारण निष्कृतम्= संस्कृतम् है ।]

चोट जाते हैं। आश्व. गमन के कारण। अश्वी=चमकने से। भातः=प्रकाश का निर्माण करने वाली।

हे सूर्या! सूर्य की पत्नी। यह [उषा] ही अभिसृष्टकालतमा=छोड़ चुकी है अधिक काल वाली। [सूर्या नाम वाली है।]

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ७ ॥

भाष्य—संभव है उषा बहुवचनान्त उपलः प्रयोग का भी कोई कारण हो। इसमें व्यत्यय का कारण भी समझना चाहिए। उषा के समाप्तिकाल की अवस्था को सूर्या कहते हैं। इस की सूक्ष्मता भी अन्वेषणीय है। सम्भव रश्मि भेद और रश्मियों का क्रियाकलाप ही यह भेद उत्पन्न करता है ॥ ७ ॥

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥
[ऋ० १० । ८५ । २० ॥]

सुकाशनं शल्मलं सर्वरूपम्। अपि वोपमार्थे स्यात्। सुकिंशुकमिव शल्मलिमिति। किंशुकं क्रंशतेः प्रकाशयतिकर्मणः। शल्मलिः सुशरो भवति। शरवान्वा। आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्। उदकस्य। सुखं पत्ये वहतुं कुरुष्व।

सविता सूर्यां प्रायच्छत्सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा ।

इति च ब्राह्मणम्।

वृषाकपायी। वृषाकपेः पत्नी। एषैवाभिसृष्टकालतमा। तस्या एषा भवति ॥ ८ ॥

अर्थ—(सुकिंशुकम्) सुन्दर किंशुकवत् प्रकाश=दीप्ति वाले, (शल्मलिम्) सिंबलवत् [नरम] (विश्वरूपम्) सारे रूपों वाले (हिरण्यवर्णम्) सुनहरी वर्ण वाले (सुवृतम्) सुन्दर वर्तन=घूमने वाले (सुचक्रम्) सुन्दर चक्र वाले [रथ पर] (आ रोह) चढो, (सूर्ये) हे सूर्ये (अमृतस्य) आदित्य के अन्दर वा चारों ओर के आप परमाणुओं के (लोकम्) लोक को (स्योनम्) [और] सुख को (पत्ये) अपने पति सूर्य के लिए (वहतुम्) प्राप्त करने को (कृणुष्व) आओ।

सुन्दर प्रकाश वाले, शन्न+मलम्=छन्नमल=निर्मल, सारे रूपों वाले। अथवा [सुकिंशुकम्] उपमा अर्थ में होवे। सुन्दर किंशुक [वृक्ष] के समान शल्मलि को। किंशुकम्, क्रंशति से, प्रकाशित करता है, अर्थ वाले से। [स्कन्द—क्रंशति, नैरुक्तधातुः प्रकाशनार्थः।] शल्मलिः=सुशरः=सरलता से हिंसनीय होता है। शरों=बाणों वाला अथवा। अमृतस्य=उदकस्य। सुख को पति के लिए प्राप्त कराने को कराओ। सविता ने सूर्या को दिया सोम राजा के लिए, प्रजापति के लिए अथवा। यह और ब्राह्मण [पाठ है।]

४. वृषाकपायी। वृषाकपि की पत्नी। यह [सूर्या] ही अधिक काल छोड़ चुकी हुई [वृषाकपायी] है।

उस की यह [ऋक्] होती है॥ ८॥

भाष्य—अमृत। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार आदित्य, सोम, अग्नि, रुक् और आपः ही अमृत है। सूर्या आदित्य लोक को जाती है। वह आपः, रुक्, सोम और अग्निः का स्थान है। आपः का वहां क्या रूप रहता है, इस का अन्वेषण विज्ञान के अनेक रहस्यों को खोल देगा॥ ८॥

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥
[ऋ० १०। ८६। १३॥]

वृषाकपायि रेवति। सुपुत्रे मध्यमेन। सुस्नुषे माध्यमिकया वाचा। स्नुषा साधुसादिनीति वा। साधुसानिनीति वा। स्वु अपत्यम्। तत्सनोतीति वा। प्राश्नातु त इन्द्र उक्षणः। एतान्माध्यमिकान्संस्त्यायान्। उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः। उक्षन्त्युदकेनेति वा। प्रियं कुरुष्व सुखचयकरं हविः। सुखकरं हविः। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्।

सरण्यूः। सरणात्। तस्या एषा भवति॥ ९॥

अर्थ—हे वृषाकपायि, हे धनवति, (सुपुत्र) हे कल्याणप्रदपुत्र [इन्द्र] वाली (आत् उ) (सस्नुषे) हे कल्याणकारिणी स्नुषा [वाक्]

वाली। (यसत्) मार् अथवा पीए (त) तब (इन्द्र) ऐश्वर्ययुक्त आदित्य (उशना) मथन करने वाले अवश्याय-बर्फ को [और तू भी] (प्रियम्) प्रिय को (कश्चित् करम्) प्रभूत सुख करने वाले (हविः) हवि=उदक को [ग्रहण करे।] मद में इन्द्र बढ़ कर [है]॥

हे वृषाकपायि, हे धनवति, हे सुपुत्र वाली, हे सुस्नुषा वाली। स्नुषा=धर्मविद्या वाक् में। स्नुषा=साधु नाम में बैठने वाली। साधु नाम को सवन वाली अथवा। सु=अपत्य-सन्तान। उस को सवनी है अथवा। तब त इन्द्र उशना=[स्यन्द-अवश्याय बर्फ को।] इन माध्यमिक सस्या गात्=सघाना को। उशना उशनि में वृद्धि अर्थ वाले में। सीचते हैं उदक में अथवा। प्रिय करो कश्चित्=क+आचित्=सुख का चयनकर हवि। सुखकर हवि। मद में जो इन्द्र बढ़ा। उस को यह कहते हैं आदित्य को।

४ सरण्यू। सरकन से। उस को यह [ऋक्] होती है ॥ ९ ॥

भाष्य—पूर्व निरुक्त ६। १० के भाष्य में उशा पद का जैसा व्याख्यान हम ने किया है, उस का पोषक यह स्थल भी है। उशना माध्यमिक है। वह को इन्द्र साथ। यत वे पृथिवी पर के देव नहीं है। अग्नि का भी वे सोमकर्ता तथा अवश्यायकर्ता यह हैं ॥ ६ ॥

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥
[ऋ० १० । १७ । २ ॥]

अप्यगूहन्नमृता मर्त्येभ्य। कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते। अप्य श्विनावभरत्। यत्तदासीत्। अजहाद् द्वौ मिथुनौ सरण्यूः।

मध्यमं च माध्यमिका च वाचमिति नैरुक्ता। यमं च यमीं चेयेति ऐतिहासिका।

तत्रेतिहासमाचक्षते—त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद्यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव। स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव। ततोऽश्विनौ जज्ञाते। सवर्णायां मनुः। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ॥ १० ॥

अर्थ—(अप-अगूहन्) छिपा दिया (अमृताम्) सरण्यू अमृता को (मर्त्येभ्यः) मरणधर्मा मनुष्यों से (कृत्वी) बना कर [उस का दूसरा रूप] (सवर्णाम्) सवर्णा=सरण्यू को (अददुः) दिया (विवस्वते) विस्वान् के लिए। (उत्) और भी (अश्विनौ) अश्वियों ने (अभरत्) अपने में धारण किया (यत्) जो (तत्) वह (आसीत्) था (अजहात्) त्यागा (उ) (द्वा) दो [पुत्र और कन्या] को (मिथुना) जोड़े को (सरण्यूः) सरण्यू ने ॥

और छिपाया अमृता को मर्त्यों से। बना कर सुवर्णा को दिया विवस्वान् के लिए। और अश्वियों ने धारण किया। जो वह था, त्यागा दो को जोड़े को सरण्यू ने।

[वे दो कौन थे।] मध्यम तमोभाग को और माध्यमिका वाक् को और, ये नैरुक्त [कहते हैं।] यम को और यमी को और, यह ऐतिहासिक [कहते हैं।]

इस विषय में इतिहास को कहते हैं। त्वष्टा की कन्या सरण्यू ने विवस्वान् के पुत्र आदित्य से यमौ [यम-यमी] जोड़े को उत्पन्न किया। वह [सरण्यू] [अपने से] दूसरी सवर्णा को अपना प्रतिनिधि बना कर अश्व का रूप बना कर भाग गई। वह विवस्वान् आदित्य अश्व का ही रूप बना कर उस [सरण्यू] के पीछे जा कर उससे संबभूव= संगत हुआ। तब अश्विनी उत्पन्न हुए। सवर्णा में मनु [जन्मा।] उस के कहने वाली यह ऋक् होती है ॥ १० ॥

भाष्य—वैदिक इतिहास अपने अन्दर दैवी घटनाएं छिपाए रहते हैं। सरण्यू, सवर्णा और यम यमी के इतिहास रहस्य रखते हैं। यह मनु पार्थिव मनु नहीं है। वह अग्निः का एक रूप है। इस दिव्य मनु का वर्णन वेद मन्त्रों में बहुधा मिलता है। पार्थिव मनु इस से सर्वथा भिन्न था ॥ १० ॥

त्वष्टा॑ दुहि॒त्रे व॑ह॒तुं कृ॑णो॒तीती॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ समे॑ति ।
य॒मस्य॑ मा॒ता प॑र्यु॒ह्यमा॑ना म॒हो जा॒या विव॑स्वतो ननाश ॥

[ऋ० १० । १७ । १ ॥]

[illegible]

[illegible] ॥ ११ ॥

अर्थ—(त्वष्टा) त्वष्टा (दुहित्रे) दुहिता के लिए (वहतुम्) [उस घर द्वारा] ले जाए जाने को (कृणोति) [प्रबन्ध] करता है । (इति ।) (इदम्) यह सारा (भुवनम्) भुवन जात (समेति) आता है । यम की माता (परि उह्यमाना) चारों ओर से ले जाई गई=विवाह ली गई (महः जाया विवस्वतः) महान् की पत्नी विवस्वान की (ननाश) समाप्त हुई छिप गई ॥

त्वष्टा दुहिता को ले जाया जाना करता है । यह सारा भुवन आता है= और ये सारे भूत एकत्र होते हैं । यम की माता ने जाई जाती हुई महान् विवस्वान् की पत्नी अन्तर्धान हो गई । रात्रि आदित्य की । आदित्य के उदय होने पर अन्तर्धान होती है ॥ ११ ॥

भाष्य—दुहिता ही ले जाई जाती है । उसी का घर दूसरा हो जाता है । ये पश्चात् मूल में मानव सृष्टि से पूर्व की हैं । इन का थोड़ा सा रूप सदा रहता है । इसी लिए पाणिनि ने सूत्र बनाया—छन्दसि लुङ्लङ्लिट' । ये लकार सामान्य काल में ही मान लिए जाते हैं ॥ ११ ॥

सविता व्याख्यातः । तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काऽऽकीर्णरश्मिर्भवति । तस्यैषा भवति ॥ १२ ॥

अर्थ—७ सविता । [निरुक्त ७ । ३१ तथा १० । ३१ में] व्याख्या किया गया । उस का काल [है], जब द्यौ नष्ट हुए अन्धकार वाली और व्याप्त रश्मि वाली होती है । [भूमि पर अभी अन्धकार रहता है] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १२ ॥

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति ॥

[ऋ० ५ । ८१ । २ ॥]

सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते मेधावी । कविः क्रान्तदर्शनो भवति । कवतेर्वा । प्रसुवति भद्रं द्विपाद्भ्यश्च । चतुष्पाद्भ्यश्च । व्यचिख्यप-न्नाकं सविता वरणीयः । प्रयाणमनूषसो विराजति ।

अधोरामः सावित्रः ॥ [यजुः० २६ । ५८ ॥]

इति पशु समाम्नाये विज्ञायते । कस्मात् सामान्यादिति । अधस्ता-त्तद्वेलायां तमो भवत्येतस्मात्सामान्यात् । अधस्ताद्रामोऽधस्तात्कृष्णः । कस्मात्सामान्यादिति । अग्निं चित्वा न रामामुपेयात् । रामा रमणायो-पेयते । कृष्णजातीया एतस्मात्सामान्यात् ।

कृकवाकुः सावित्रः ॥ [यजुः० २४ । ३५ ॥]

इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते । कस्मात्सामान्यादिति । कालानुवादं परीत्य । कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणम् । वचेरुत्तरम् ।

भगो व्याख्यातः । तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात् । तस्यैषा भवति ॥१३॥

अर्थ—सारे रूपों को [तमः से बाहर] निकालता है, मेधावी । (प्र असावीत्) उत्पन्न करता है कल्याण द्विपाद के लिए चतुष्पाद के लिए । (नाकम्) द्यौ को (वि अख्यत्) दिखाया (सविता) सविता ने । (वरेण्यः) वरण करने योग्य (अनु प्रयाणम्) चले जाने के पश्चात् (उषसः) उषा के (वि राजति) प्रकाशित होता है ॥

सारे [रूप आदि के] ज्ञानों को निकालता है मेधावी । कविः=क्रान्त =[साधारण बातों का] उल्लंघन कर के [पहुँचे हुए] दर्शन वाला होता है । कवति से [चलता है] अथवा । उत्पन्न करता है कल्याण दो पाद वालों के लिए, चार पाद वालों के लिए । वि अचिख्यपत्=दिखाया= प्रकाशित किया नाकम् द्यौ को सविता ने [जो] वरणीय=स्वीकरणीय [है ।] प्रयाणम् अनु=चले जाने के पश्चात् उषसः=उषा के वि राजति= प्रकाशित होता है ।

(अधः रामः) नीचे से काला (सावित्रः) सविता का [पशु है ।] यह [याजुष संहिताओं के] पशु समाम्नाय में विशेष ज्ञान द्वारा जाना जाता है । किस समानता से यह [कहा ।] नीचे उस वेला में अन्धकार होता है,

इस सामान्यता से [कहा ।] नीचे राम=काला, नीच कृष्ण=काला । किस समानता से यह [कहा ।] रामा=रानी स्त्री, रमण के लिए उपेयत=ब्याही जाती है, नहीं [यज्ञादि] कर्म के लिए [ब्राह्मण द्वारा ।] रामा=काली जाति वाली । इस सामान्यता से ।

(कृकवाकु) कृकवाक् वाला–कुक्कड (साविश्र) सविता का पशु [है ।]

यह पशु समाम्नाय में विशेष जाना जाता है । किस सामान्यता से यह [कहा ।] काल के अनुवाद=अनुकथन को परीत्य=जान कर । कृकवाक् [पद] का पूर्व [भाग=कृक] शब्द का अनुकरण [है ।] वचि का उत्तर [भाग है ।]

= भग । [निरुक्त १ । १६ में] व्याख्या किया गया । उस का काल है, पूर्व उत्सर्पण=ऊपर उदय से । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ ११ ॥

भाष्य—सविता के साथ धरत्य, पद का प्रयोग प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में भी है । पद्य समाम्नाय मानुष संहिताओं में है । ऐसे व्याख्यानों के अनुसरण पर ■ ब्राह्मण ग्रन्थ प्रवचन किए गए । इसी लिए इस समाम्नाय के लिए भी विद्यायते पद प्रयुक्त हुआ है ।

सविता और भग आदि नाम हैं आदित्य की विविध समयों की अवस्थाओं के ॥ ११ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥

[ऋ० ७ । ४१ । २ ॥ यजु० ३४ । ३५ ॥]

प्रातर्जितं भगमुग्रं ह्वयेम वयं पुत्रमदितेः । यो विधारयिता सर्वस्य । आध्रश्चिद्यं मन्यमानः । आढ्यमानुर्दरिद्रः । तुरश्चित् । तुर इति यमनाम । तरतेर्वा । त्वरतेर्वा । त्वरया तूर्णगतिर्यमः । राजा चित् । यं भगं भक्षीत्याह ।

अन्धो भगः । [कौषी० ब्रा० ६ । १३ ॥ शत० ब्रा० १ । ७ । ४ । ६]
इत्याहुः । अनुत्सृप्तो न दृश्यते ।

प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघान । [कौषी० ब्रा० ६ । १३] इति च ब्राह्मणम् ।

जनं भगो गच्छति । [मैत्रा० सं० १ । ६ । १२ ॥] इति वा । जनं गच्छत्यादित्य उदयेन ।

सूर्यः सर्तेर्वा । सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा । तस्यैषा भवति ॥ १४ ॥

अर्थ—(प्रातः जितम्) प्रातः काल [अन्धकार को] जीतने वाले (भगम् उग्रम्) भग को उग्र को (हुवेम) ह्वयेम=बुलाते हैं (वयम्) हम, (पुत्रम्) पुत्र को (अदितेः) अदिति के (यः) जो (विधर्ता) विशेष धारण कर्ता [है ।] (आध्रः चित्) आढ्यालु दरिद्र भी (यम्) जिस को (मन्यमानः) मानता हुआ (तुरः चित्) त्वरित गति यम भी (राजा चित्) राजा भी, (यं भगं भक्षि) जिस भग को भजता है [धन दे] (इत्याह) यह कहता है ॥

प्रातः काल [अन्धकार के] जेता भग [देव] को उग्र को बुलाते हैं हम पुत्र को अदिति के, जो विशेष धारक है सब का । आढ्यालु दरिद्र भी जिस को मानता हुआ, तुरः चित्, तुरः यह यम का नाम [है ।] तरति से अथवा । त्वरित से अथवा । शीघ्रता से वेग की गति वाला यम, राजा भी, जिस भग को भजता है, [धन दे] यह कहता है । अन्धः [है] भग, यह कहते हैं [ब्रह्मवादी] । अन् उत्सृप्तः=न निकला हुआ [सूर्य] नहीं दीखता । [पूर्ण उदय होने पर ही दीखता है ।]

प्राशित्र ने इस की दोनों आंखें निर्जघान=मार दीं । यह और ब्राह्मण [हैं ।] जनम्=जन को भग प्राप्त होता है, यह अथवा । [अर्थात्] जन को=नर को प्राप्त होता है आदित्य [रश्मि द्वारा] उदय होने से ।

६. सूर्यः । सर्ति से=सरकता है अथवा । सुवति से=प्रेरता है अथवा । सु=ईर्यति से भले प्रकार प्रेरता है अथवा ।

उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १४ ॥

भाष्य—भग अदिति का पुत्र है । यह सूर्य की अवस्था मात्र नहीं है । जिस कारण यह अवस्था होती है, वह कारण सूर्य के ऊपर छा जाने वाली कुशी रूपी झिल्ली के किसी भाग विशेष से उत्पन्न होता है । उसे समझना चाहिए ॥ १४ ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥
[ऋ० १। ५०। १ ॥ यजु ७। ४१ ॥]

उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्यमिति । [कमन्यमादित्यादेवमवक्ष्यत् ।] तस्यैषापरा भवति ॥१५॥

अर्थ—(उत् वहन्ति) ऊपर ले आते हैं (उ त्यम्) उस (जातवेदसं देवम्) जातप्रज्ञान देव को (केतवः) रश्मि रूपी केतु । (दृशे) देखने दिखाने के लिए (विश्वाय) सारे भूतों के (सूर्यम्) सूर्य को । किस और को आदित्य से [अतिरिक्त को] इस प्रकार कहता ॥

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ १५ ॥

भाष्य—जातवेदस् पद मध्यस्थानी अग्नि का द्योतक है। पर यहां वैसा अर्थ क्यों नहीं लिया गया। उत्तर है प्रकरण वश से। यहां यह पद सूर्य का विशेषण बन गया है। अतः यहां इस का केवल यौगिक अर्थ ही है। इसी लिए यास्क कहता है—कम् अन्यम् आदित्याद् एवम् अवक्ष्यत्। यहां इस का आदित्य परक अर्थ ही है। दूसरा कोई अर्थ यहां बनता ही नहीं।

सूर्य के केतु उस के रश्मि ही हैं ॥ १५ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
[ऋ० १। ११५। १ ॥ यजु ७। ४२ ॥]

चायनीयं देवानामुदगमदनीकम् । ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्च । आपूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन । तत्र सूर्य आत्मा जङ्गमस्य च स्थावरस्य च

अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति । तस्यैषा भवति ॥ १६ ॥

अर्थ—(चित्रम्) विचित्र अथवा पूज्य (देवानाम्) रश्मियों का (उत् अगात्) उदय हुआ (अनीकम्) सेना समूह । (चक्षु) नेत्र [है] मित्र का, वरुण का अग्नि का । (आ प्रा) भर दिये=(द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवी को (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को । सूर्य आत्मा [है], (जगत तस्थुष च) जङ्गम का स्थावर का और।

चायनीयम्=पूज्य, रश्मि रूप देवों का, उदय हुआ सेन.समूह। चक्षुः =ख्यानम्=दर्शक मित्र का, वरुण का अग्निः का और। भर दिया [उसने] द्यावापृथिवी को और, अन्तरिक्ष को और महत्त्व से=महान् रश्मिसमूह से। इस कारण सूर्य आत्मा [है] जङ्गम का और, स्थावर का और।

१०. पूषा। अब जब रश्मियों से परिविष्ट हुए [रूप] को पुष्ट करता है, तब पूषा होता है। उस की यह [ऋक्] होती है ॥ १६ ॥

भाष्य—सूर्य रश्मियों से सदा परिपुष्ट नहीं रहता, इस ज्ञान का गम्भीर रहस्य समझने योग्य है ॥ १६ ॥

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥
[ऋ० ६। ५८। १ ॥]

शुक्रं ते अन्यल्लोहितं ते अन्यत्। यजतं ते अन्यद्यज्ञियं ते अन्यत्। विषमरूपे ते अहनी कर्म। द्यौरिव चासि। सर्वाणि प्रज्ञानान्यवसि। अन्नवन् भाजनवती ते पूषन्निह दत्तिरस्तु। तस्यैवाऽपरा भवति ॥१७॥

अर्थ—(शुक्रम्) ज्योति वाला लोहित (ते) तेरा (अन्यत्) और [रूप] (यजतम्) यज्ञिय तेरा और [रूप] (विषुरूपे) विषम=विभिन्न रूप वाले (अहनी) दिन और रात दोनों [तेरा कर्म हैं।] द्यौ के समान [प्रकाश युक्त] तू है। (विश्वा हि माया अवसि) सारे प्रज्ञानों को तू रक्षा करता है (स्वधावः) हे अन्नवान् (भद्रा) कल्याण कारक भाजन=पात्र के अनुकूल तेरा हे पूषन् (इह) यहां (रातिः)=दत्तिः=दान (अस्तु) होवे।

उस की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ १७ ॥

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानळर्कम्।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा ॥
[ऋ० ६। ४९। ८ ॥]

पयसस्पोऽधिपति वचनेन कामेन कृतोऽस्मानकर्मभ्यापर्योक्तं मिति वा । स नो ददातु चायनीयान्यानि धनानि । कर्मकर्म च न प्रसाधयतु पूर्येति ।

अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतर्वा । व्यश्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति ॥ १८ ॥

अर्थ—(पथ पथ) मार्ग-मार्ग के (परिपतिम्)=अधिपतिम्=स्वामी को (वचस्या)=वचसा=स्तुति रूपी वचन से (कामेन कृत) अभिलाषा से प्रेरित (अस्मान्) स्तुति करता हूँ, =अभ्यागमन्यायु हुआ हूँ (अकर्मम्) दूरा देव को अथवा । (स नः) वह हम (रासत्) देवे (शुरुध)=धनानि=धनों को (चन्द्रामा)=चायनीयानि प्रिय हैं अथवा जिन के उन को (धियं धियम्) [हमारे] कर्म को (प्रसीषधाति)=प्रसाधयतु=पूर्ण सफल कर पूर्ण देव ॥

१९ विष्णु । अब जब वि+सन=विविध प्रकार से [रश्मियों से] व्याप्त होता है तब विष्णु होता है । विष्णुः विशति से अथवा । प्रविष्ट होता है [तीन रश्मियों से अन्तरिक्ष में ।] वि+अश्नोति से अथवा, व्यापता है ।

उस को यह [ऋक्] होती है ॥ १८ ॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् । समूळ्हमस्य पांसुरे ॥

[ऋ० १ । २२ । १७ ॥]

यदिदं किं च तद्विक्रमते विष्णुः । त्रिधा निधत्ते पदम् । [त्रेधा भावाय] पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः । समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूळ्हमस्य [पांसुरे] प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते । अपि वोपमार्थे स्यात् । समूळ्हमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा । पन्नाः शेरत इति वा । पंसनीया भवन्तीति वा ॥ १९ ॥

अर्थ—(इदम्) इस [जगत्] को (विष्णुः) विष्णु ने (वि चक्रमे) विशेष दबा कर रखा । (त्रेधा) तीन प्रकार से (नि दधे) रखा

:(पदम्) पैर को। (सम् ऊळ्हम्) सम्यक् प्रतिष्ठित है (अस्य) इस का (पांसुरे) पांसु=धूल रूप अन्तरिक्ष में ॥

जो यह कुछ भी, तत्=उस पर विक्रमते=अधिष्ठित होता है विष्णु । तीन प्रकार से रखता है पांव को। [तीन प्रकार से होने के लिए] पृथिवी पर, अन्तरिक्ष में, द्यौ में, ये [तीन प्रकार] शाकपूणि [के अनुसार हैं।] सम्+आरोहणे=सम्यक् उदय होने में [एक पद], विष्णुपदे=अन्तरिक्ष में [दूसरा पद], गयशिरसि=अस्त होने के मूर्धा पर, यह [तीसरा पद], और्णवाभ [कहता है।] समूढम् अस्य=प्यायने ,अन्तरिक्षे=वृद्धि वाले अन्तरिक्ष में [इस का] पाद नहीं दिखाई देता। और भी अथवा, [पांसुरे पद] उपमा अर्थ में होवे। सम्यक् स्थापित पद पांसुल इव=धूल से भरे स्थान में नहीं दिखाई देता। इति। पांसवः=धूल रज पैरों से उत्पन्न किए जाते हैं अथवा। पन्नाः=प्राप्त हो कर=उत्पन्न हो कर शेरते=लेटती है। पंसनीयाः=ध्वंसनीयाः=नष्ट किए जाने योग्य=हटाए जाने योग्य होते हैं [शिर से, शरीर से,] अथवा ॥ १६ ॥

भाष्य—महाभारत, शान्ति पर्व अ० ३४१ का अगला प्रसङ्ग विष्णु की माया के समझने में सहायक हो सकता है, अतः उद्धृत किया जाता है—

आकाशगङ्गागतश्च पुरा भरद्वाजो महर्षिरुपास्पृशत त्रीन् क्रमान् क्रमता विष्णुनाऽभ्यासादितः। स भरद्वाजेन सलक्षणेन पाणिनोरसि ताडितः सलक्षणोरस्कः संवृत्त ।

भरद्वाज का सलक्षण पाणि जानना चाहिए ॥ ४४ ॥

विश्वानरो व्याख्यातः। तस्यैष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि ॥ २० ॥

अर्थ—१२. विश्वानरः। विश्व.नर [निरुक्त ७ । २१] व्याख्या किया गया। उस का यह निपात होता है, ऐन्द्री ऋक् में ॥ २० ॥

विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः ।

एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥ [ऋ० ८ । ६८ । ४ ॥]

विश्वानरस्यादित्यस्य। अनानतस्य। शवसो महतो बलस्य। एवैश्च कामैरयनैरवनैर्वा। चर्षणीनां मनुष्याणाम्। ऊत्या च पथा रथानाम्। इन्द्रमस्मिन्यज्ञे ह्वयामि।

वरुणो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति ॥ २१ ॥

अर्थ—(विश्वानरस्य)-आदित्यस्य=आदित्य के (अनु आनतस्य) नहीं [किसी अन्य ज्योति से] झुकाए गए के (शवस) महान् बल के (पतिम्) पति (त्वा) तुम को (पत्वे च) कामनाओं, अतिथा अथवा रमणों के निमित्त से (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के (ऊती) ऊन्या वा पथा=और मार्ग से (रथानाम्) रथों के (हुवे) बुलाता हूं [इन्द्र को] अस्मिन् यज्ञे=इस यज्ञ में।

१३ वरुण । [निरुक्त १० । ३] व्याख्या किया गया। उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २१ ॥

भाष्य –ऐन्द्री ऋक् में यह अर्थ है—हे मरद्गण सुन्दर स्वामी इन्द्र को आदित्य के न झुके महान् बल के तुल्य बलवाली है ना, उस को मनुष्यों की कामनाओं के साथ रथों के मार्ग के इस यज्ञ में, मैं प्रियम बुलाता हूं।

आधिभौतिक पक्ष में विमर्श कौन है, यह जानना चाहिए ॥ २१ ॥

येना॑ पावक॒ चक्ष॑सा भुर॒ण्यन्तं॒ जनाँ॒ अनु॑ । त्वं व॑रुण॒ पश्य॑सि ॥

[ऋ० १ । ५० । ६ ॥]

भुरण्यु इति क्षिप्रनाम । भुरण्यु शकुनि । भूरिमध्वानं नयति । स्वर्गस्य लोकस्यापि वोढा । तत्सम्पाती भुरण्यु । अनेन पावक । ख्यानेन । भुरण्यन्त जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि । तस्मै वयं स्तुम इति वाक्यशेषः । अपि वोत्तरस्यामा ॥ २२ ॥

अर्थ—(येन) जिस से (पावक) हे पवित्रकर्ता (चक्षसा) अनुग्रह रूप दर्शन से (भुरण्यन्तम्) क्षिप्र गति और स्तुति करने वाले को (जनान् अनु) जनों के मध्य में से (त्वम्) तू (वरुण) हे वरुण (पश्यसि) अनुग्रह करता है [उस की हम स्तुति करते हैं।]

भुरण्यु यह क्षिप्र का नाम [है।] भुरण्यु=अति क्षिप्र गामी शकुनि=पक्षी [है।] भूरिम् अध्वानम्=बड़े लम्बे मार्ग को नयति=ले जाता है। स्वर्ग लोक को भी अभिवहन करने वाला [सुपर्ण है।] उस के सम्पाती साथ जाने वाला [अग्नि चयन करने वाला] पुरुष भुरण्यु [है।] इस कारण से हे पवित्रकर्ता, ख्यानेन=[इस पवित्रकारी] दर्शन

से भुरण्यन्तम् जनान् अनु=जाते हुए को अपने जनों के पीछे, तू हे वरुण अनुग्रह करता है, उस तेरे [दर्शन की] हम स्तुति करते हैं, यह वाक्य शेष [है ।] अथवा उत्तर [ऋक्] में इस का अन्वय है ॥ २२ ॥

भाष्य—वरुण की स्तुति से मनुष्य पवित्र होता है। उस के पापकर्म समाप्त होते हैं। ईश्वर का यह नाम अपने ही गुण लिए हुए है ॥ २२ ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ।
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः । पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥
[ऋ० १ । ५० । ६, ७ ॥]

व्येषि द्यां रजश्च पृथु । महान्तं लोकम् । अहानि च मिमानोऽक्तुभी रात्रिभिः सह । पश्यञ्जन्मानि जातानि सूर्य । अपि वा पूर्वस्याम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस दृष्टि से हे पवित्र कारक वरुण अपने जनों के पीछे गति करते हुए को तू देखता है, [उस दृष्टि से तू] (द्याम्)=द्यौ को (वि एषि) विविध प्रकार से जाते हो, (रजः पृथुः) [और] विस्तृत अन्तरिक्ष को, (अहा) दिनों को (मिमानः) बनाते हुए (अक्तुभिः) रातों के साथ । (पश्यन्) देखते हुए (जन्मानि) जन्म वालों को (सूर्य) हे सूर्य ।

विविध प्रकार से जाते हो द्यौ को और विस्तृत अन्तरिक्ष महान् लोक को । दिनों को बनाते हुए रात्रियों के साथ । देखते हुए जन्मे हुओं को हे सूर्य । अथवा पूर्व [ऋक्] में अन्वय [है] ॥ २३ ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ।
प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् । प्रत्यङ्विश्वं स्वर्दृशे ॥
[ऋ० १ । ५० । ६, ५ ॥]

प्रत्यङ्ङिदं सर्वमुदेषि । प्रत्यङ्ङिदं सर्वमभिविपश्यसीति । अपि चैतस्यामेव ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस दृष्टि से हे पवित्र कारक वरुण अपने जनों के पीछे गति करते हुए को तू देखता है, [उस दृष्टि से तू] (प्रत्यङ्) सम्मुख हो कर (देवानां

विश्व) सब प्रजाओं के सम्मुख हो कर मनुष्यों के (उदेषि) उदय होते हो (प्रत्यङ् विश्वम्) सम्मुख सब के (स्वः) हे सूर्य (दृशे) देखने के लिए ॥

सम्मुख इन सब के उदय होते हो । सम्मुख इन सब के हो कर देखते हो । अथवा इसी [ऋक्] में अन्वय है ॥ २४ ॥

येना॑ पावक॒ चक्ष॑सा भुर॒ण्यन्तं॒ जनाँ॒ अनु॑ । त्वं व॑रुण॒ पश्य॑सि ॥

[ऋ० १ । ५० । ६ ॥]

तस्य लोके पासीनाविविपश्यसि ।

केशी । केशा रश्मयः । तैस्तद्वान् भवति । काशनाद्वा । प्रकाशनाद्वा । तस्यैषा भवति ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस दृष्टि से हे वरुण तू देखता है, उसी दृष्टि से हमारे जनों को तू देखता है, अर्थात् देख।

१४ केशी । केश = रश्मियां [हैं ।] उन से उन वाला होता है। दीप्ति से अथवा । प्रकाशन से अथवा । उस की यह [ऋक्] होती है ॥२५॥

के॒श्य१॒॑ग्निं के॒शी वि॒षं के॒शी बि॑भर्ति॒ रोद॑सी ।
के॒शी विश्वं॒ स्व॑र्दृ॒शे के॒शीदं ज्योति॑रुच्यते ॥

[ऋ० १० । १३६ । १ ॥]

केश्यग्निं च विषं च । विषम् इत्युदकनाम । विष्णातेः । [विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्यर्थस्य ।] विपूर्वस्य वा सचतेः । द्यावापृथिव्यौ च धारयति । केशीदं सर्वमिदमभिविपश्यति । केशीदं ज्योतिरुच्यत इत्यादित्यमाह ।

अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते । धूमेनाग्नी रजसा च मध्यमः । तयोरेषा साधारणा भवति ॥ २६ ॥

अर्थ—(केशी) सूर्य (अग्निम्) अग्नि को (केशी) सूर्य (विषम्) उदक को (केशी) सूर्य (बिभर्ति) धारण करता है (रोदसी) द्यावा

पृथिवी को । (केशी) सूर्य (विश्वम् स्वः) सारे जगत् को (दृशे) देखने को=देखता है (केशी) सूर्य (इदम्) यह (ज्योतिः) आदित्य (उच्यते) कहाता है ॥

केशी अग्नि को और उदक को और । विषम् यह उदक का नाम [है ।] विष्णाति से । वि पूर्वक स्नाति से शुद्धचर्थ वाले से । वि पूर्वक अथवा सचति से=लग जाता है । द्यावापृथिवी जो और धारण करता है । केशी इस सब को इस [जगत्] को देखता है । केशी यह ज्योति=आदित्य कहाता है । यह कहा ।

और भी ये दूसरे दोनों ज्योति [अग्नि और मध्यम] केशिनी कहे जाते हैं । धूम से अग्निः । रजः से और मध्यम [वायु ।] उन दोनों की यह साक्षी [ऋक्] होती है ॥ २६ ॥

भाष्य—जितने पदार्थ द्यावापृथिवी को धारण करते हैं, उन सबका पृथक् अध्ययन अपेक्षित है । विष किस प्रकार का उदक है, इस का सूक्ष्म विवेचन करना चाहिए । धूम=भाप के कारण यह अग्निः केशी है, और रजः के कारण वायु । मध्यम स्थान के रजः का गम्भीर ज्ञान भी करना चाहिए ॥ २६ ॥

त्रयः॑ के॒शिन॑ ऋतु॒था वि च॑क्षते संवत्स॒रे व॑पत॒ एक॑ एषाम् ।
विश्व॒मेको॑ अ॒भि च॑ष्टे॒ शची॑भि॒र्ध्राजि॒रेक॑स्य ददृ॒शे न रू॒पम् ॥

[ऋ० १ । १६४ । ४४ ॥]

त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते कालेकालेऽभिविपश्यन्ति । संवत्सरे वपत एक एषामित्यग्निः पृथिवीं दहति । सर्वमेकोऽभिविपश्यति कर्मभिरादित्यः । गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य ॥

अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति । वृषाकम्पनः । तस्यैषा भवति ॥ २७ ॥

अर्थ—(त्रयः) तीन (केशिनः) केशों वाले (ऋतुथा) काल में काल में (वि चक्षते)=अभिविपश्यन्ति=देखते हैं । (संवत्सरे) वर्ष में (वपते) पकाता है दहति=जलाता है (एकः) [अग्निः] (एषाम्) इन [तीनों में] से । (विश्वम्)=सर्वम्=इस सब [जगत्] को (एकः) एक

[आदित्य] (अभि चष्टे) चारों ओर से देखता है (शचीभिः)=कर्मभिः =अपने विभिन्न कर्मों से । (ध्राजिः) गति (एकस्य) एक [वायु] की (ददृश्रे)=ददृशत=दिखाई देती हैं, नहीं (रूपम्) रूप ।

** वृषाकपि । अब जब रश्मिभिः=रश्मियों से अभिप्रकम्पयन्=चारों ओर से कंपाता हुआ [सूर्य] एति=प्राप्त होता है, तब वृषाकपि होता है । वृषा=बरसाने वाला कम्पन-कंपाने वाला । उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २७ ॥

भाष्य—संवत्सर यज्ञ । वर्ष भर में एक बार सूर्य में द्वारा अग्नि ऊपर निकल कर पृथिवीलोक् को पकाता है । इस तथ्य का सुन्दर व्याख्यान जैमिनि ब्राह्मण में है—

प्रजापतिर्ह खलु वा एष यत्संवत्सरः । स ह पञ्चमासो ऽध्यवरमस्य वर्णम् उद्गृह्य तिष्ठति । स यदोष्णम् उद्गृह्णात्यथ हेदम् उपर्युष्णो भवति । अथ उ ह तदा शीतो भवति । तस्माद् ग्रीष्म उपर्युष्णो ऽधश्शीतम् अभिगच्छत । तस्माद् ग्रीष्म शीता. कूप्या अप उदा हरन्ति । १ । ११० ॥

निघण्टुमें को अभिधत्ते शचीभिः । यास्क लिखता है—कर्मभिः आदित्य ।

अर्थात्—आदित्य अपने कर्मों से । सूर्य के कर्म विचित्र हैं । ऋग्वेद कहता है—मध्या कर्तोर्विततं संजभार । अर्थात् कर्म के मध्य में विस्तृत रश्मियों को सूर्य संहार करता है । कर्म की अद्भुत व्याख्या वैशेषिक दर्शन में मिलती है । वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान में कर्म को energy संज्ञा दी गई है । पर पूर्ण कुछ नहीं । २० ॥

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै ।

य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

[ऋ० १० । ८६ । २१ ॥]

पुनरेहि वृषाकपे । सुप्रसूतानि वः कर्माणि कल्पयावहै । य एष स्वप्ननंशनः । स्वप्नान्नाशयति । आदित्य उदयन । सोऽस्तमेषि पथा पुनः । सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम् ।

यमो व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ २८ ॥

अर्थ—(पुनः एहि) फिर आओ (वृषाकपे) हे वृषाकपे [अस्त होते समय के सूर्य] (सुविता) [जिस से] सुन्दर विहित कर्म (कल्पयावहै) [तुम और हम, तुम्हारे उदित होने पर] कर सकें। (य एषः) जो यह (स्वप्ननंशनः) [तुम उदय से स्वप्नों के नाशक] (अस्तम् एषि) अस्त को प्राप्त हो रहे हो (पथा पुनः) मार्ग से फिर, सब में इन्द्र उत्कृष्टतर [है।]

सुविता=सुप्रसूतानि=तुम्हारे [कारण] प्रवृत्त हुए कर्माणि=कर्मों को कल्पयावहै—हम दोनों साध सकें। स्वप्नों को=निद्रा को नाश करता है आदित्य उदय से वह तुम अस्त को प्राप्त होते हो मार्ग में पुनः। सब से जो इन्द्र उत्कृष्टतर है, उस को यह कहते हैं, आदित्य को।

२७. यमः। यम [निरुक्त १०। १९ में] व्याख्या किया गया [है।] उस की यह [ऋक्] होती है ॥ २८ ॥

भाष्य—वृषाकपि पद का व्याख्यान बृहद्देवता २ । ६७, ६८ में है। वह यास्क के व्याख्यान के अनुसार ही है। गोपथ ब्राह्मण, उ० ६ । १२ में प्रवचन है—

तद्यत् कम्पयमानो रेतो वर्षति तस्माद् वृषाकपिः।

अस्त होता हुआ सूर्य कम्पमान रश्मियों के कारण कम्पन करता हुआ आता है, यह तथ्य परीक्षणों द्वारा दिखाया जाना चाहिए। इस का रेतवर्षण अन्वेष्टव्य है ॥ २८ ॥

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥
[ऋ० १० । १३५ । १ ॥]

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे स्थाने। वृतक्षये वा। अपि वोपमार्थे स्यात्। वृक्ष इव सुपलाश इति। वृक्षो व्रश्चनात्। पलाशं पलाशनात्। देवैः सङ्गच्छते यमो रश्मिभिरादित्यः। तत्र नः सर्वस्य पाता वा पालयिता वा पुराणाननुकामयेत।

अज एकपात्। अजन एकः पादः। एकेन पादेन पातीति वा। एकेन पादेन पिबतीति वा। एकोऽस्य पाद इति वा।

एकं॑ पादं॒ नोत्खि॑दति । [अथ० ११ । ४ । २१ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । तस्यैष निपातो भवति वैश्वदेव्यामृचि ॥२९॥

अर्थ—(यस्मिन् वृक्षे) जिस वृक्ष में (सुपलाशे) सुन्दर पत्तों वाले में (देवैः) रश्मियों के साथ (सम्पिबते) संयुक्त होता है (यम) अस्त हुआ सूर्य । (अत्र) यहाँ=वहाँ (नः) हमारा (विश्पतिः) अधिपति रक्षक (पिता) पालक (पुराणान्) जैसे पुराने [वासियों] को [वैसे] (अनु वेनति) कामना करे ।

जिस वृक्ष में सुपलाश स्थान में । [पुण्यात्माओं से] वरे गए घर में अथवा । अथवा उपमा के अर्थ में होवे । अच्छे पत्तों वाले वृक्ष के नीचे जैसे । वृक्ष=काटने से । पलाशम्=[पत्तों के] झड़ने से । देवैः=रश्मिभिः =रश्मियों से युक्त होता है सूर्य । वहाँ हम सब का रक्षक अथवा पालक अथवा पुराने [पुण्यकर्मकर्ताओं] की कामना करे ॥

१८ अज एकपात् । अजन=चलने वाला एक पाद । एक पाद से रक्षा करता है अथवा । एक पाद से [रसों को] पीता है अथवा । एक ही इस का पाद है अथवा ।

(एकं पादम्) एक पाद को (न) नहीं (उत् खिदति) ऊपर निकालता [सलिलात्=सलिल रूप समुद्र से ।]

यह भी निगम होता है । उस का यह निपात होता है वैश्वदेवी की ऋक् में ॥ २९ ॥

भाष्य—इस भगवान् रवि की महिमा शान्तिपर्व अ० ३०२ में गाई है—

यस्य रश्मिसहस्रेषु शाखास्विव विहंगमाः ।
वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह ॥ ३ ॥

यही रवि अस्त होते हुए यम का नाम धारता है । सूर्य अपनी रश्मियों से युक्त होता है । सूर्य का रश्मि विसर्जन और रश्मि संयोग किन नियमों के अन्तर्गत होता है, अथवा इस माया में क्या अदृष्ट=भौतिक नियम काम करता है यह तथ्य अन्वेषण योग्य है ।

सूर्य के दो पादों में से एक ही ऊपर को उठता है और दूसरा सलिल में ही रहता है, यह आश्चर्य भी समझना चाहिए ॥ २६ ॥

पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः ।
विश्वेदेवासः शृण्वन्वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या ॥
[ऋ० १० । ६५ । १३ ॥]

पविः शल्यो भवति । यद्विपुनाति कायम् । तद्वत् । पवीरमायुधम् । तद्वानिन्द्रः पवीरवान् ।

अतितस्थौ पवीरवान् ॥ [ऋ० १० । ६० । ३ ॥]

इत्यपि निगमो भवति । तद्देवता वाक् पावीरवी । पावीरवी च दिव्या वाक् । तन्यतुस्तनित्री वाचोऽन्यस्याः । अजश्चैकपात् । दिवो धारयिता । सिन्धुश्च । आपश्च समुद्रियाश्च । सर्वे च देवाः । सरस्वती च सह पुरन्ध्या । स्तुत्या प्रयुक्तानि । धीभिः कर्मभिर्युक्तानि शृण्वन्तु वचनानीमानीति ।

पृथिवी व्याख्याता । तस्या एष निपातो भवत्यैन्द्राग्न्यामृचि ॥३०

अर्थ—(पावीरवी) दिव्या वाक् (तन्यतुः) फैलाने वाली साधार वाक् की, (एकपात्–अजः) अज एकपात् (दिवः धर्ता) जो द्यौ व धारक, सिन्धुः, आपः जो (समुद्रियः)=अन्तरिक्ष में होने वाले, (वि देवासः) सारे देव (शृण्वन्) सुनें (वचांसि मे) वचनों को (सरस्वती) [और] सरस्वती (सह पुरन्ध्या) साथ पुरन्धि (धीभिः) [यज्ञरूप] कर्मों से युक्त [मेरे वचनों को ।]

पविः, शल्य होता है । यत्=जिस कारण=क्योंकि विपुनाति=फा है कायम्=शरीर को । वैसे पवीर आयुध [है ।] उस वाला इन्द्र पवी वान् [कहता है ।]

ऊपर=दवा कर स्थित हुआ पवीरवाला [=इन्द्रः ।] यह भी निगम है । तत्-देवता=उस [=पवीरवान् इन्द्र] देवता वाली वाक् पावीरवी [पावीरवी और दिव्या वाक् [है ।] तन्यतुः=तनित्री=फैलाने वाली

की दूसरी की । अज और एकपात् । द्यौ का धारक । सिन्धु और । आप और समुद्र की । सारे और दव । सरस्वती और साथ पुरन्धि क । स्तुति द्वारा बाल ए, धीभिः=कर्मो स युक्त । सुने वचनो को इन की ।

३१. पृथिवी । [निरुक्त १ । १३ ॥ ११ । ७] म व्याख्या की गई । [यहां द्यौ अर्थ म है ।] उस का यह निपात होता है इन्द्र और अग्नि [देवता वाली] ऋक् म ॥ ३० ॥

भाष्य—दिव्या वाक् के कारण साधारण वाक् कैसे फैलती है इस का रहस्य ज्ञान मुझे अभी नहीं हो सका । इन्द्र का शरीर कैसा है, इस का भी ज्ञान करना चाहिए । स्मरण विद्युत् हो । विद्युत् यज्ञ का मान भी है ॥ ३० ॥

यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः ।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ॥
[ऋ० १ । १०८ । १० ॥]

इति सा निगदव्याख्याता ।

समुद्रा व्याख्यातः । तस्यैष निपातो भवति पवमानस्यामृचि ॥ ३१ ॥

अर्थ - (यत्) यदि (इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी [तुम दोनों] (परमस्याम्) परमा (पृथिव्याम्) पृथिवी अर्थात् द्यौ मे, (मध्यमस्याम्) मध्यमा-अन्तरिक्ष रूपा [पृथिवी म] (अवमस्याम्) अवमा अर्थात् इसी पृथिवी म (उत) अथवा (स्थः) हो, (अतः) इस स्थान स (परि) सब ओर स (वृषणौ) हे कामनाओ के बरसाने वालो (आयातम्) [हमारे समीप] आओ (अथ) तदनु (सोमस्य) सोम का (पिबतम्) पान करो (सुतस्य) निचोड़े का ॥

यह वह स्पष्ट पाठमात्र से व्याख्यात [है ।]

३० समुद्र । [निरुक्त २ । १० म] व्याख्यात [है ।] उस का यह निपात होता है पवमान की ऋक् म ॥ ३१ ॥

भाष्य—सायण ने ऋग्भाष्य में तीनों वाको के लिए पृथिवी पद के प्रयोग का दूसरा उदाहरण तै० सं० १ । २ । १२ । ३ स दिया है ॥ ३१ ॥

पुवित्र॑वन्तः परि वाच॑मासते पि॒तैषां प्र॒त्नो अ॒भि र॑क्षति व्र॒तम् ।
म॒हः स॑मु॒द्रं वरु॑णस्ति॒रो द॑धे॒ धीरा॒ इच्छे॑कु॒र्ध॒रुणे॑ष्वा॒रभ॑म् ॥
[ऋ० ९ । ७३ । ३ ॥]

पवित्रवन्तो रश्मिवन्तो माध्यमिका देवगणाः पर्यासते [माध्यमिकां वाचम् ।] मध्यमः पितैषां प्रत्नः पुराणोऽभिरक्षति व्रतं कर्म । महः समुद्रं वरुणस्तिरोऽन्तर्दधाति । अथ धीरा शक्नुवन्ति धरुणेषूदकेषु कर्मणो आरभमारब्धुम् ।

अज एकपाद् व्याख्यातः । पृथिवी व्याख्याता । समुद्रः व्याख्यातः तेषामेष निपातो भवत्यपरस्यां बहुदेवतायामृचि ॥ ३२ ॥

अर्थ—(पवित्रवन्तः) रश्मियों वाले (परि आसते) चारों ओर बैठते हैं (वाचम्) माध्यमिका वाक् को [घेर कर] । (पिता एषाम्) पिता इन का (प्रत्नः) पुराना (अभिरक्षति) रक्षा करता है (व्रतम्) अपने कर्म को । (महः) महान् (समुद्रम्) अन्तरिक्ष को (वरुणः) वरुण ने (तिरो दधे) अन्तर्धान किया=छिपाया । (धीराः) धीर कर्म कर्ता (इत्) ही (शेकुः) समर्थ हुए (धरुणेषु) उदकों में (आरभम्) आरम्भ करने को ॥

पवित्रवन्तः=रश्मियों वाले माध्यमिक देवगण । पर्यासते=चारों ओर बैठते हैं माध्यमिका वाक् को । पिता इनका पुराना, रक्षा करता है व्रत= कर्म को । महान् समुद्र को वरुण छिपा देता है । तब धीर समर्थ होते हैं, उदकों में कार्य के आरम्भ करने को ।

अज एकपात् । [निरुक्त १२ । २९ में] व्याख्या किया गया । पृथिवी [निरुक्त १ । १३ ॥ ११ । ३७ में] व्याख्या की गई । समुद्र [निरुक्त २ । १० में] व्याख्या किया गया । उन का यह निपात होता है, अपरा=एक दूसरी बहुदेवता वाली ऋक् में ॥ ३२ ॥

भाष्य—माध्यमिक देवगणों का पिता वा रक्षक वरुण अन्तरिक्ष के समुद्र को छिपा देता है । अतः भौतिक अर्थ में वरुण अति व्यापक पदार्थ है । सम्पूर्ण दैवी कर्म उदकों में आरम्भ होते हैं ॥ ३२ ॥

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः ।
विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु ॥
[ऋ० ६ । ५० । १४ ॥]

अपि च नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोतु । अजश्चैकपात् । पृथिवी च । समुद्रश्च । सर्वे च देवाः । सत्यवृधो वा । यज्ञवृधो वा । हूयमाना मन्त्रैः । स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु । मेधाविशस्ताः ।

दध्यङ् । प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा । प्रत्यक्तमस्मिन्ध्यानमिति वा ।
अथर्वा व्याख्यातः । मनु मननात् । तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि ॥ ३३ ॥

अर्थ—(उत) और भी (नः) हमें (अहिर्बुध्न्यः) अहिर्बुध्न्य (शृणोतु) सुने । अज एकपात् पृथिवी [और] समुद्र । सारे देव (ऋतावृधः) सत्य वा यज्ञ के बढ़ाने वाले (हुवानाः) बुलाए गए [मन्त्रों द्वारा ।] (स्तुता मन्त्राः) स्तुति किए गए मन्त्र (कविशस्ताः) मेधावियों से कहे गए (अवन्तु) रक्षा करें [हमारी] ।

और भी हमें अहिर्बुध्न्य सुने अज एकपात् और पृथिवी और समुद्र और सारे देव और सत्यवर्धक अथवा यज्ञवर्धक अथवा बुलाए गए मन्त्रों द्वारा, स्तुति किए गए मन्त्र, मेधावियों से कहे गए रक्षा करें [हमारी ।]

२१ दध्यङ् । प्रति+अक्त ध्यानम्=ध्यान के प्रति गया हुआ अथवा। गया हुआ इस के प्रति ध्यान अथवा ।

२२ अथर्वा । [निरुक्त ११ । १८ में] व्याख्या किया गया ।

२३ मनु । मनन से ।

उन का यह निपात होता है, इन्द्र देवता वाली ऋक् में ॥ ३३ ॥

भाष्य—हुवानाः । मन्त्रों द्वारा बुलाए गए देव । देव भौतिक पदार्थ हैं । मन्त्रों की वाक् भी भौतिक है । यज्ञ में उस वाक् का प्रयोग अपना प्रभाव देवों में भौतिक नियमों द्वारा उत्पन्न करता है । भौतिक नियमों के अनुसार [illegible] अथवा अदृष्ट के

प्रभाव से चुम्बक खेंचता है लोहे को । वैशेषिक सूत्र में अदृष्ट परिभाषा इन भौतिक नियमों के लिए ही प्रयुक्त हुई है ॥ ३३ ॥

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत ।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

[ऋ० १ । ८० । १६ ॥]

यामथर्वा च । मनुश्च पिता मानवानां दध्यङ् च । धियमतनिषत । तस्मिन्ब्रह्माणि कर्माणि पूर्वेन्द्र उक्थानि च सङ्गच्छन्ताम् । अर्चन्योऽनूपारते स्वाराज्यम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—(याम्) जिस को (अथर्वा) अथर्वा ने (मनुः पिता) [और प्रजाओं का] पालक मनु ने (दध्यङ्) [तथा] दध्यङ् ने (धियम्) कर्म को (अत्नत) फैलाया । (तस्मिन्) उस [कर्म] में (ब्रह्माणि) हविराख्य अन्न (पूर्वथा) [और] पूर्व दिनों में (इन्द्रे) इन्द्र में (उक्था) स्तुतियां (सम् अग्मत) संगत हुईं, (अर्चन्) [जो इन्द्र] पूजा करता हुआ (स्वराज्यम्) अपने राज्य को ॥

जिस को अथर्वा ने और, पालक मानवों के मनु ने, दध्यङ् ने और कर्म को फैलाया । उस [कर्म] में यज्ञ कर्म, [और] पहले इन्द्र में की गई स्तुतियां संगत हुईं । पूजा करता हुआ जो [इन्द्र] और उत्तर काल में पालक हुआ अपने राज्य को ॥ ३४ ॥

भाष्य—अथर्वा, मनु और दध्यङ् पर स्कन्द स्वामी ने लिखा है—

एते त्रय आदित्यतेजोऽवस्थाविशेषाः । आदित्य मण्डल में आग्नेय परमाणुओं के पृथक्-पृथक् संयोग-विभाग के कारण ये भौतिक पदार्थ अपना-अस्तित्व बनाए हुए हैं । स्कन्द पुनः लिखता है—अथवा ऽथर्वादय आदित्यसहचारिण ऋषयः ॥ ३४ ॥

अथातो द्युस्थाना देवगणाः ।

तेषामादित्याः प्रथमागामिनो भवन्ति । आदित्या व्याख्याताः । तेषामेषा भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ—अब द्युस्थान वाले देवगण [कहे जाते हैं ।]

उन मे से आदित्य [सारे] प्रथमागामी होते है ।

२४ आदित्या । [निरुक्त २ । १३ म] व्याख्या किए गए । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ३५ ॥

इमा गिर॑ आदि॒त्येभ्यो॑ घृ॒तस्नूः॑ स॒नाद्राज॑भ्यो जु॒ह्वा॑ जुहोमि ।
शृ॒णोतु॑ मि॒त्रो अ॑र्य॒मा भगो॑ नस्तुविजा॒तो वरु॑णो॒ दक्षो॒ अंशः॑ ॥
[ऋ० २ । २७ । १ ॥]

घृतस्नूर्घृतप्रस्नाविन्य । घृतप्रस्नाविण्य । [घृतसानिन्य । घृतसाविण्यः] इति वा । आहुतीरादित्येभ्यश्चिर जुह्वा जुहोमि । [चिर जीवनाय ।] चिर राजभ्य इति वा । शृणोतु न इमा गिरो मित्रश्चार्यमा च भगश्च बहुजातश्च धाता दक्षो वरुणोऽशश्च । अशोऽशुना व्याख्यात ।

सप्त ऋषयो व्याख्याता. । तेषामेषा भवति ॥ ३६ ॥

अर्थ—(इमा) ये (गिर) वाणिया=स्तुतिया (आदित्येभ्य) आदित्यो के लिए (घृतस्नू) घृत के बहाने वालिया (सनात्) चिर काल से (राजभ्य) राजाओ के लिए (जुह्वा) जुहू [पात्र] से (जुहोमि) होमता हूं । सुने मित्र, अर्यमा, भग, (न) हमारी [इन स्तुतियो को ।] (तुविजात) प्रभूत रूप म प्रकट होने वाला, वरुण, दक्ष और अश [भी सुने ॥]

अर्यमा और, भग और, बहु प्रकार से प्रकट होने वाला धाता, दक्ष, वरुण, अश और । अश =अशु मे [निरुक्त २ । ५ म] व्याख्या किया गया [है ।]

२५ सप्त ऋषय । [निरुक्त ४ । २६ तथा २ । ११ म दोनो पद पृथक् रूप से] व्याख्यात [हैं ।]

उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ३६ ॥

भाष्य—द्यौ में मित्र आदि की सत्ता है । पार्थिव मानवों ने भी इन के नाम पर अपने नाम रखे । घृत=यह आपः का स्नेहांश है । यही स्नेह पार्थिव वनस्पतियों आदि में तैल भाव को उत्पन्न करता है । ओषधि और वनस्पति आदिकों में तैल का अंश आकाश से ही वर्षा द्वारा आ कर विभिन्न रूप ग्रहण करता है ॥ २६ ॥

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥
[यजुः ३४ । ५५ ॥]

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे । रश्मय आदित्ये । सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । संवत्सरमप्रमाद्यन्तः । सप्तापनास्त एव स्वपतो लोकमस्तमितमादित्यं यन्ति । तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ । वाय्वादित्यौ । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम् । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे । षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी । आत्मनि । सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । शरीरमप्रमाद्यन्ति । सप्तापनानीमान्येव स्वपतो लोकमस्तमितमात्मानं यन्ति । तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ । प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्च । इत्यात्मगतिमाचष्टे । तेषामेवाऽपरा भवति ॥ २७ ॥

अर्थ—सात ऋषि (प्रतिहिताः) स्थापित किए गए हैं शरीर में, सात रक्षा करते हैं (सदम्) सदा ही (अप्रमादम्) प्रमाद रहित हो कर । सात (आपः) व्याप्त हो कर (स्वपतः) सोते हुए के (लोकम्) लोक को (ईयुः) प्राप्त होते हैं । वहां (जागृतः) जागते हैं (अस्वप्नजौ) न सोने वाले (सत्रसदौ) यज्ञ में बैठे हुए और दो देव ॥

सात [प्रधान] रश्मि रखे हैं आदित्य में । सात रक्षा करते हैं, सदम् संवत्सरम्=संवत्सर को न प्रमाद करते हुए । सात आपनाः व्याप्त होने वाले, वे ही सोते हुए के लोक को अर्थात् अस्त हुए आदित्य को प्राप्त होते हैं । वहां जागते हैं, न सोने वाले यज्ञ में बैठे हुए और दो देव अर्थात् वायु और आदित्य, यह अधिदैवत [व्याख्या है ।]

अब अध्यात्म=मनुष्य शरीर सम्बन्धी [व्याख्या]–सात=छः इन्द्रियां, विद्या=बुद्धि, सातवीं आत्मा में=शरीर में । सात रक्षा करते हैं शरीर को,

न प्रमाद करते हुए। सात आपनानि, ये ही व्यापने वाले सोते हुए के लोक को अस्त हुए—सोए शरीर को प्राप्त होते है। वहा जागते हुए न सोने वाले यज्ञ मे बैठे हुए और दो देव=प्राज्ञ आत्मा—बुद्धि तत्त्व और तैजस=जीवात्मा।

यह आत्मगति को कहता है। उन की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ २७ ॥

भाष्य—एक ही ऋक् के दो अर्थों की प्रकाशमयी छटा इस यास्कीय व्याख्यान में उपलब्ध होती है। बिना परम्परागत अर्थ के ज्ञान के यह महान् ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अस्त हुआ=सोता हुआ ॥ २७ ॥

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥

[अथ० १० । ८ । ९ ॥]

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन । ऊर्ध्वबोधनो वा। यस्मिन्यशो निहित सर्वरूपम्। अत्रासत ऋषय सप्त सहादित्यरश्मय। ये अस्य गोपा महतो बभूवु । इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्। तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन । ऊर्ध्वबोधनो वा। यस्मिन्यशो निहित सर्वरूपम्। अत्रासत ऋषय सप्त सहेन्द्रियाणि। यान्यस्य गोप्तॄणि महतो बभूवु । इत्यात्मगतिमाचष्टे।

देवा व्याख्याता । तयामेषा भवति ॥ २८ ॥

अर्थ—(तिर्यक्बिल) तिरछे रश्मि निकलने के छेद वाला (चमस) चमस (ऊर्ध्वबुध्न) ऊपर डण्डी=आधार वाला (यस्मिन्) जिस मे (यश) यश (निहितम्) स्थित है (विश्वरूपम्) बहु प्रकार का। (अत्र) यहा (आसत) बैठते हैं ऋषि सात (साकम्) इकट्ठे हो कर, (ये) जो ऋषि (अस्य) इस [आदित्य मण्डल] के (गोपा) रक्षक (महत) महान् [मण्डल] के (बभूवु) हुए ॥

तिरछे बिल=रश्मि निकलने के छिद्र वाला ऊर्ध्वबन्धन ऊपर बन्धन वाला, ऊपर बोधन—ज्ञान कराने वाला, जिस मे यश=उदक रखा है सब

प्रकार का। [निघण्टु १ । १२ में यशः, उदक नामों में है] यहां ठहरते हैं ऋषि सात=इकट्ठे आदित्य रश्मि। जो ऋषि=रश्मि इस [आदित्य के] रक्षक महान् के हुए। यह अधिदैवत [पक्ष है।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—तिरछे छेदों वाला शरीर ऊपर बुद्धि इन्द्रियों वाला, जिस मे यश सब प्रकार का ठहरा है। यहां [शरीर में] ऋषि सात हैं=सात इन्द्रियां। जो [इन्द्रियां] इस को रक्षक महान् की हैं। यह आत्मगति को कहता है।

२६. देवाः। [निरुक्त ७ । १५ में] व्याख्या किए गए। उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ३८ ॥

भाष्य—उदक ही यश है। आदित्य का सारा यश उस का उदक है। उदक विश्वरूप:=बहु रूप है। यह पृथक् विज्ञान है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों को अभी उदक का helium रूप ही ज्ञात हुआ है। रश्मि तिरछे जाते हैं। ये रश्मि ही आदित्य के गोप्ता हैं। शरीर के रक्षण करने वाली इन्द्रियां हैं ॥ ३८ ॥

दे॒वानां॑ भ॒द्रा सु॑म॒तिर्ऋ॑जूय॒तां दे॒वानां॑ रा॒तिर॒भि नो॒ नि व॑र्तताम्।
दे॒वानां॑ स॒ख्यमुप॑ सेदिमा व॒यं दे॒वा न॒ आयुः॒ प्र ति॑रन्तु जी॒वसे ॥
[ऋ० १ । ८६ । २ ॥]

देवानां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतावृजुगामिनामृतुगामिनामिति वा। देवानां दानमभि नो निवर्तताम्। देवानां सख्यमुपसीदेम वयम्। देवा न आयुः प्रवर्द्धयन्तु चिरं जीवनाय।

विश्वे देवाः। सर्वे देवाः। तेषामेषा भवति ॥ ३९ ॥

अर्थ—(देवानाम्) देवों की (भद्रा) कल्याणी (सुमतिः) सुन्दर मति (ऋजूयताम्) सरल गति वालों की (देवानाम्) देवों का (रातिः) दान (अभि नः निवर्तताम्) हमारी ओर लौटे। (देवानाम्) देवों के (सख्यम्) सख्य को (उपसेदिम) प्राप्त हों (वयम्) हम। (देवाः) देव (नः) हमारा (आयुः) आयु (प्रतिरन्तु) बहुत बढ़ाएं, (जीवसे) चिर ज़ीवन के लिए ॥

देवों की हम सुमती=कल्याणी मति में, सरल मति वालों को ऋतुगामिनाम्=ऋतु ऋतु में आने वालों की अथवा । देवों का दान हमारे प्रति लौटे । देवों के सख्य को उपसीदेम=प्राप्त हों हम । देव हमारे आयु को बहुत बढ़ाएं, चिर तक जीने के लिए ।

२१ विश्वे देवा । सारे देव । उन की यह [ऋक्] होती है । ६ ॥

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत । दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥

[ऋ० १ । ३ । ७ ॥]

अवितारो वा । अवनीया वा । मनुष्यधृत सर्व च देवा इहागच्छत । दत्तवन्तो दत्तवत सुतमिति ।

तदेतदेकमेव वैश्वदेव गायत्र तृच दशतयीषु विद्यते । यत्तु किंचिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवाना स्थाने युज्यते । यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणि । अनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति । बभ्रुरेक [ऋ० ८ । २९] । इति दश द्विपदा अलिङ्गा । भूताश काश्यप आश्विनम् [ऋ० १० । १०६] एकलिङ्गम् । अभितष्टीय सूक्तम् [ऋ० ३ । ३८] एकलिङ्गम् ।

साध्या देवा । साधनात् । तेषामेषा भवति ॥ ४० ॥

अर्थ—(ओमास) हे रक्षा करने वालो (चर्षणीधृत) हे नरों के धारको (विश्व देवास) हे सारे देवो (आ गत) आओ । (दाश्वांस) तुम दान देने वाले (दाशुष) यज्ञ करने वाले यजमान के (सुतम्) निचोड़े सोम [के प्रति आओ ।]

रक्षा करने वाले अथवा । अवनीया-तर्पण=तृप्त करने योग्य अथवा । मनुष्यों को धारण करने वाले सारे और देवो यहां आओ । तुम दान देने वाले सुतम्-निचोड़े हुए सोम को ।

तो यह एक ही विश्वदेवा का गायत्री छंद वाला तृच दश मण्डल युक्त आर्च संहिताओं में विद्यमान है । यत् तु=किं तु जो कोई बहुत देवताओं वाला [मन्त्र समुदाय हो] वह विश्वदेवा वाले मन्त्रों के स्थान में प्रयुक्त होता है । [परन्तु] जो ही विश्व [शब्द रूप] लिङ्ग वाला हो [वही मन्त्र समुदाय वहां प्रयुक्त हो यह] शाकपूणि का [मत है ।]

[यास्क का उत्तर है।] अन्–अत्यन्तगतः=नहीं पूर्ण सीमा तक पहुँचने वाला, एषः=यह उद्देशः=सिद्धान्त अथवा प्रतिज्ञा है। वभ्रुरेकः [ऋ० ८ । २९ में] बिना लिङ्ग वाला सूक्त है। ये दस द्विपदा हैं, अलिङ्गा हैं। भूतांश काश्यप के पुत्र ने एक लिङ्ग वाला [ऋ० १० । १०६ सूक्त देखा ।] [तथा च] अभितष्टीय [ऋ० ३ । ३८] सूक्त एक लिङ्ग वाला है [अर्थात् एक मन्त्र में ही देवता का निर्देश है] [फिर भी पूरा सूक्त इसी न्याय से उस लिङ्ग वाला माना जाता है।]

२८. साध्या देवाः । साधने से । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ४०॥

भाष्य—यास्क का तर्क प्रबल है ॥ ४० ॥

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन् ।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥
[ऋ० १ । १६४ । ५० ॥]

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः । अग्निनाग्निमयजन्त देवाः ।

अग्निः पशुरासीत् । तमालभन्त । तेनायजन्त । इति च ब्राह्मणम् । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त । यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः । साधनाः । द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः । पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम् ।

वसवः । यद्विवसते सर्वम् । अग्निर्वसुभिर्वासव इति समाख्या, तस्मात्पृथिवीस्थानाः । इन्द्रो वसुभिर्वासव इति समाख्या, तस्मान्मध्यस्थानाः । वसव आदित्यरश्मयो विवासनात्, तस्माद् द्युस्थानाः । तेषामेषा भवति ॥ ४१ ॥

अर्थ—(यज्ञेन) अग्नि के द्वारा (यज्ञम्) अग्नि को (अयजन्त) पूजा (देवाः) देवों ने, वे धर्म मुख्य थे । वे निश्चय से (नाकम्) स्वर्ग को महिमा वाले (सचन्त) सेवने वाले हुए । जहां पूर्व के साध्य हैं देव ॥

अग्निः द्वारा=अग्निः पशु था । उस को [उन्होंने] आलभन किया । उस के द्वारा यज्ञ किया । यह और ब्राह्मण [है।] सचन्त=समसेवन्त=

उन्होंने सेवन किया। साध्याः=साधनाः=साधनों वाले । द्युस्थान वाले देवगण [हैं] यह नैरुक्त [कहते हैं।] पूर्व का देवयुग [था।] यह आख्यान है।

२६ वसवः । यत्-जिस कारण विवसते=ढापते हैं, सब कुछ [=तीनों लोक]। अग्नि- वसुओं के कारण वासवः [है।] यह समाख्या =नाम है। इस लिए [वसव] पृथिवीस्थानी [हैं।] इन्द्र वसुओं के कारण वासवः [है।] यह नाम है । इस लिए मध्य स्थानी [हैं।] वसव', आदित्य के रश्मि हैं। विवासनात्=[अन्धकार को] बाहर निकालने से। इस लिए द्युस्थानी [हैं।] उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ४१ ॥

भाष्य—मनुष्यों से देव युग पहले था ॥ ४१ ॥

सुगा वो देवाः सदनमकर्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः ।
जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि ॥
[यजु० ८ । १८ ॥]

स्वागमनानि वो देवाः सुपथान्यकर्म य आगच्छत सवनानीमानि। जुषाणाः । खादितवन्तः पीतवन्तश्च । सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि। तेषामेषाऽपरा भवति ॥ ४२ ॥

अर्थ—(सुगाः) सरलता से गमन योग्य (वः) तुम्हारे (देवाः) [हे] देवो (सदनम्) स्थान [स्कन्द आदि का पाठ-सुपथा] (अकर्म) बना दिए, (ये) जो (आजग्मुः) आए (सवनम् इदम्) इस सवन मे (जुषाणाः) प्रीति करते हुए। (जक्षिवांसः) खाते हुए (पपिवांसः च) पीते हुए और (विश्व) सारे (अस्मे) हम में (धत्त) रखो (वसवः) [हे] वसुओ (वसूनि) धनो को ॥

सरलता से आगमन योग्य तुम्हारे हे देवो सुन्दर मार्ग बना दिए, जो [आ]ओ सवनों को इन को, प्रीति पूर्वक। खाते हुए पीते हुए और। सारे [ह]म मे रखो हे वसवो धनों को।

उन की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ४२ ॥

उमया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः ।
अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य ॥
[ऋ० ७ । ३६ । २ ॥]

उमया अत्र वसवोऽरमन्त देवाः । उमा पृथिवी । तस्यां भवाः । उरौ चान्तरिक्षे । मर्जयन्त गमयन्त रमयन्त । शुभ्राः शोभमानाः । अर्वाच एनान्पथो बहुजवाः कुरुध्वम् । शृणुत दूतस्य जग्मुषो नोऽस्याग्नेः ।

वाजिनः । व्याख्याताः । तेषामेषा भवति ॥ ४३ ॥

अर्थ—(उमयाः) पृथिवी में होने वाले (अत्र) यहां (वसवः) जो वसवः (रन्त) रमण करते हैं (देवाः) देव (उरौ अन्तरिक्षे) विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में (मर्जयन्त) उदकों को पहुंचाते हैं (शुभ्राः) शोभन चमक वाले । (अर्वाक्) [हमारे] सामने (पथः) मार्गों को (उरुज्रयः) हे बड़े वेग वालो (कृणुध्वम्) बनाओ । (श्रोत) सुनो (दूतस्य) दूत के (जग्मुषः) तुम्हारे सामने जाने वाले के [वचन], (नः) हमारे (अस्य) इस अग्निः के ॥

उमा=पृथिवी [है ।] उस में होने वाले (उमयाः) । विस्तीर्ण और अन्तरिक्ष में । मर्जयन्तः=गमयन्तः=पहुंचाओ रमयन्तः=रमण कराओ । शुभ्राः =शोभायमान । सामने और इन के पथों को, हे बहुत वेग वालो बनाओ । सुनो दूत के [तुम्हारे प्रति] जाने वाले के हमारे के, इस अग्निः के ।

३०, वाजिनः । व्याख्या किए गए [निरुक्त २ । २८ में ।] उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ४३ ॥

भाष्य—उमा का अपभ्रंश फारसी में ज़मीन हुआ है । पृथिवी में जो वसु हैं, उन के कारण यह पृथिवी वसुमती कहाती है। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रवचन है—

अग्निर्वसुभिरुदक्रामत् । १ । २४ ॥

यह अग्निः वसुओं के साथ कैसे ऊपर को उठता है, यह जानना चाहिए ॥४३॥

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः ।
जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ॥
[ऋ० ७ । ३८ । ७ ॥ यजु० ६ । १६ ॥]

सुखा नो भवन्तु वाजिनो ह्वानेषु देवतातौ यज्ञे । मितद्रवः सुमितद्रवः । स्वर्का स्वञ्चना इति वा । स्वर्चना इति वा । स्वर्चिष इति वा । जम्भयन्तोऽहिं च वृकं च रक्षांसि च । क्षिप्रमस्मद्यावयन्त्वमीवाः । देवाश्वा इति वा ।

देवपत्न्यो । देवानां पत्न्यः । तासामेषा भवति ॥ ४४ ॥

अर्थ—कल्याणकारी हमारे लिए हों (वाजिन) रश्मियां अथवा देवों के अश्व (हवेषु) आह्वानों में (देवताता=देवतातौ) यज्ञ में [तथा] (मितद्रव) मितगामी (स्वर्का) [और] सुन्दर गति वाले । (जम्भयन्त) नाश करते हुए (अहिम्) सर्प को (वृकम्) भेड़िये को (रक्षांसि) राक्षसों को [और] (सनेमि) शीघ्र (अस्मत्) हम से (युयवन्) पर करें (अमीवा) रोग जातियों को ॥

सुखकारी हमारे लिए हों अश्व आह्वानों में [और] यज्ञ में । अत्यन्त मित गति वाले । सु+अर्का=सु+अञ्चना सुन्दर गति वाले=अथवा । सुन्दर पूजा वाले अथवा । सुन्दर अर्चियों-दीप्तियों वाले अथवा । जम्भयन्त= नाश करते हुए सर्प को और, वृक=भेड़िया को और, राक्षसों को और । शीघ्र हम से यावयन्तु=पर करें अमीवा=रोगों को । वाजिन=रश्मियां देवाश्व अथवा ।

देवपत्न्य । देवों की पत्नियां । उन की यह [ऋक्] होती है ॥ ४४ ॥

भाष्य—देवाश्व । सूर्य चन्द्र और इन्द्र आदि के अश्व वेद में अति प्रसिद्ध हैं ॥ ४४ ॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये ।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत ॥
[ऋ० ५ । ४६ । ७ ॥]

देवानां पत्न्य उशत्योऽवन्तु नः । प्रावन्तु नस्तुजयेऽपत्यजननाय चान्नसंसननाय च । याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते कर्मणि ता नो देव्यः सुहवाः शर्म यच्छन्तु शरणम् । तासामेषाऽपरा भवति ॥ ४५ ॥

अर्थ—देवों की पत्नियां (उशतीः) [हवि और स्तुति] चाहती हुईं (अवन्तु) आएं (नः) हमारी ओर । (प्र अवन्तु) पूरी रक्षा करें (नः) हमारी । (तुजये) पुत्र लाभ के लिए (वाजसातये) अन्न लाभ के लिए । (याः) जो [तुम] (पार्थिवासः) पृथिवी पर होने वाली (याः) जो (अपाम् अपि) उदकों के [स्थान अन्तरिक्ष में] और (व्रते) कर्म में, (ताः) वे (नः) हमें (देवीः) देवियां (सुहवाः) शुभ बुलाने वाली (शर्म) घर (यच्छत) देवें ॥

देवों की पत्नियां चहती हुईं आवें हमारे प्रति । पूरी रक्षा करें हमारी, अपत्य जनन के लिए और, अन्न के सेवन के लिए और। जो पृथिवी पर होने वालियां जो आपः [=अन्तरिक्ष] के और कर्म में, वे हमें देवियां शुभ बुलावे वाली शरण को देवें ।

उन की यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ४५ ॥

भाष्य—आपः ही देवपत्नियां हैं । उन के अनेक रूप हैं । ये रूप परमाणुओं के संयोग-विभाग का फल हैं । इन का कर्म पृथिवी और अन्तरिक्ष में होता है । जै० ब्रा० में प्रवचन है—आपो वै देवानां पत्न्य आसन् । ता मिथुनम् ऐच्छन्त । ता मित्रावरुणाव् उपैताम् । ता गर्भम् अदधत । ततो रेवतयः पशवो ऽसृज्यन्त । १ । १४० ॥ तथा देखो पूर्व निरुक्त २।१७ का भाष्य ॥ ४६ ॥

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट् ।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥

[ऋ० ५ । ४६ । ८ ॥]

अपि च ग्ना व्यन्तु देवपत्न्यः । इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी । अग्नाय्यग्नेः पत्नी । अश्विन्यश्विनोः पत्नी । राट् राजतेः । रोदसी रुद्रस्य पत्नी । वरुणानी च वरुणस्य पत्नी । व्यन्तु देव्यः कामयन्ताम् । य ऋतुः कालो जायानां य ऋतुः कालो जायानाम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—(उत) और (ग्ना) स्त्रियां (व्यन्तु) कामना करें खाएं (देवपत्नी) देवपत्नियां (इन्द्राणी) इन्द्र की पत्नी [=वाक] (अग्नायी) अग्नि की पत्नी (अश्विनी) अश्वियों की पत्नी (राट्) दीप्तिमयी रानी । (आ शृणोतु) सब ओर से सुनें (रोदसी) रुद्र की पत्नी (वरुणानी) वरुण की पत्नी, (व्यन्तु) कामना करें (देवी) देवियां (यः) [उस काल की] जो (ऋतु) काल [है ।] (जनीनाम्) जायाओं का=जनने वालियों का ॥ ४६ ॥

भाष्य—ग्ना पद वाणी वाची होते हुए भी प्राय देवपत्नियों के लिए प्रयुक्त होता है । ये देवपत्नियां भौतिक सृष्टि में आप का ही भेद हैं । इन आप में ऋतुकाल आते हैं । उन का सूक्ष्म ज्ञान भी वेदवित् को होना चाहिए । रोदसी पद द्यावापृथिवी वाचक है या रुद्र की पत्नी का वाचक इस विषय पर स्कन्द ने अपने वृत्तिसमुच्चय में प्रयास किया है । आद्युदात्त और अन्तोदात्त होने पर अर्थ भेद कैसा होता है, इस का ज्ञान स्कन्द से करें । शाकल्य और यास्क में यहां मत भेद है । ४६ ॥

इति द्वादशोऽध्यायः ।

अथ परिशिष्टम्

अथ त्रयोदशो ऽध्यायः ।

अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते । अपि वा संप्रत्यय एव स्यात् । महाभाग्याद् देवतायाः । सोऽग्निमेव प्रथममाह—

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः ॥ [ऋ० २ । १ । १ ॥]

इति यथैतस्मिन्त्सूक्ते ।

नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे ॥ [२ । २८ । ६ ॥]

इति वरुणस्य । अथैन्द्रस्य ॥ १ ॥

अर्थ—अब ये अतिस्तुतियां [हैं ।] यह [पूर्व के निरुक्ताचार्य] कहते हैं । अथवा यथार्थ ज्ञान ही होवे । महान् ऐश्वर्य के कारण देवता के । उस [नैरुक्त ने] अग्निः को ही पहले कहा ।

तुम हे अग्ने (द्युभिः) द्यौ लोकों से, तुम (आशुशुक्षणिः) चारों ओर से दीप्त हो । जिस प्रकार इस [ऋ० २ । १] सूक्त में [अतिस्तुति है ।]

न ही (त्वत्) तेरे से (आरे) दूर देश में भी [कोई अन्य] (निमिषः चन) नेत्र के निमेष पर (ईशे) ईशन करता । यह वरुण की [अति स्तुति है ।]

अब यह इन्द्र की ॥ १ ॥

भाष्य—अतिस्तुति का अर्थ है, अन्य देवताओं से बढ़ कर स्तुति । अग्निः और वरुण आदि पद देवता के अतिरिक्त ईश्वर अर्थ के बोधक भी हैं । अतः अतिस्तुतियों के सूक्ष्म अर्थ में भौतिक स्तर से उठ कर परम पवित्र परब्रह्म के गुणों की महिमा भी गाई गई है ।

निर्वचन का एचर्य बना कर यह स्पष्ट करना आवश्यक था कि वेदार्थ इतना ही नहीं। उस का क्षेत्र अति विस्तृत है। और पूर्व के नैरुक्त इस मार्ग का निर्देश करते आए हैं। अतः यास्क ने भी नतशिर हो कर समाम्नाय का भाष्य समाप्त कर के प्राचीन मर्यादा के अनुसार अतिस्तुतियों का सन्दर्भ लिख दिया ॥ १ ॥

यद् द्याव॑ इन्द्र ते श॒तं श॒तं भूमी॑रु॒त स्युः ।
न त्वा॑ वज्रिन्त्स॒हस्रं॒ सूर्या॒ अनु॒ न जा॒तम॑ष्ट॒ रोद॑सी ॥

[ऋ० ८ । ७० । ५ ॥]

यदि त इन्द्र शतं दिवः शतं भूमयः प्रतिमानानि स्युः । न त्वा वज्रिन् । सहस्रमपि सूर्याः । न द्यावापृथिव्यावप्यभ्यश्नुवीतामिति ।

अथैषाऽऽदित्यस्य ॥ २ ॥

अर्थ—(यत्) यदि (द्यावः) द्यौ लोक (इन्द्र) हे इन्द्र, परमैश्वर्यवन् परमात्मन (ते) तेरी [उपमा नहीं] (शतम्) सौ भी हों (शतं भूमीः उत) और सौ भूमियां भी (स्युः) हों। (न त्वा) नहीं तुझे (वज्रिन्) हे वज्रवान्=न्याय पूर्वक दण्डदाता (सहस्रं सूर्याः) सहस्रों भी सूर्य (अनु अष्ट) गुणों से व्याप्त करें, (न जातं रोदसी) नहीं प्रकट हो कर द्यावापृथिवी ॥

यदि हे इन्द्र सौ द्यौ, सौ भूमियां तेरे प्रतिमान भी हों, नहीं तुझे हे वज्रिन्, सहस्र भी सूर्य न द्यावापृथिवी भी व्याप्त कर सकते हैं।

अब यह आदित्य की ॥ २ ॥

यदुद॑ञ्चो वृषाकपे गृ॒हमि॑न्द्रा॒जग॑न्तन ।
क्व१॒॑स्य पु॑ल्व॒घो मृ॒गः कम॑गञ्जन॒योप॑नो॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥

[ऋ० १० । ८६ । २२ ॥]

यदुदञ्चो वृषाकपे । गृहमिन्द्राजगमत । क स्य पुल्वघो मृग । क स बह्वादी मृग । मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः । कमगमद् देशं जनयोपन । सर्वस्माद् इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम् ।

अथैषाऽऽदित्यरश्मीनाम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(यत्) जब (उद्ञ्चः) ऊपर जाने वाले के [रश्मि] (वृषाकपे) हे आदित्य (गृहम्) घर हा अपने मण्डल में (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् (अजगन्तन) चले गए, [तब] (क्व) कहां (स्यः) वह (पुल्वघः) बहुभुक् (मृगः) गमनशील [हुआ], (कम् अगन्) कहां चला जाता है, (जन-योपनः) जनों को मोहित करने वाला । (विश्वस्मात्) सम्पूर्ण [कृत्रिम पदार्थों] से ऐश्वर्यवान् परमात्मा (उत्तरः) परे है ॥

जब ऊपर जाने वाले के [रश्मि] हे वृषाकपे, घर गे, हे ऐश्वर्यवन् अजगमत=चले गए । कहां वह बहुभुक् मृग । मृगः, माष्टि से गति अर्थ वाले से । किस देश को चला गया लोगों को मोहने वाला । सारों से जो इन्द्र परे है, उस को [ऐसा] कहते हैं आदित्य=अखण्ड को ।

अब यह आदित्य रश्मियों की ॥ ३ ॥

भाष्य—आदित्य मण्डल में सब रश्मि चले जाते हैं । यह अस्त वेला में होता है । इसी प्रकार महाप्रलय में ब्रह्म में सारी प्रकृति लीन हो जाती है ॥३॥

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।

यत्रामदद्वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥

[ऋ० १० । ८६ । १ ॥]

व्यसृक्षत हि प्रसवाय । न चेन्द्रं देवममंसत । यत्रामाद्यद् वृषाकपिः । अर्य ईश्वरः । पुष्टेषु पोषेषु । मत्सखा मम सखा । मदनसखा । ये नः सखायस्तैः सहेति वा । सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम् । अथैषाऽश्विनोः ॥ ४ ॥

अर्थ—(वि असृक्षत) छोड़ा (हि) ही (सोतोः) [सर्व कामों में] प्रेरने के लिए [जब रश्मि जाल को], नहीं इन्द्र को (देवम्) प्रकाशक [आदित्य] को (अमंसत) माना । (यत्र अमदत्) जहां हर्षित हुआ (वृषाकपिः) आदित्य [मध्यन्दिन समय में] (अर्यः) ईश्वर (पुष्टेषु) [रश्मियों के] पुष्ट होने पर, मेरा सखा, वह इन्द्र सब से परे है ॥

छोड़ा ही प्रेरने के लिए। नहीं और इन्द्र को दिव्य रूप देने वाले को माना। जहां मद में हुआ वृषाकपि। अर्थ- ईश्वर [है।] पुष्ट होने पर। मेरा सखा। मदन=हर्ष का सखा। जो हमारे सखा [हैं], उन के साथ अथवा। सारों से जो इन्द्र परे है, उस को [ऐसा] कहते हैं अखण्ड को।

अब यह [सूक्त] अश्वियों की ॥ ४ ॥

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु ॥
[ऋ० १०।१०६।६॥]

सृण्येवेति। द्विविधा सृणिर्भवति। भर्ता च हन्ता च। तथा, अश्विनौ चापि भर्तारौ। जर्भरी भर्तारावित्यर्थः। तुर्फरीतू हन्तारौ। नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका। नितोशस्यापत्यं नैतोशम्। नैतोशेव तुर्फरी क्षिप्रहन्तारौ। उदन्यजेव जेमना मदेरू। उदन्यजेवायुदकजे इव रत्ने। सामुद्रे चान्द्रमसे वा। जेमने जयमने। जेमना मदेरू। ता मे जराय्वजर मरायु। एतज्जरायुज शरीर शरदमजीर्णम्। अथेरा सोमस्य ॥ ५ ॥

अर्थ—(सृण्या इव) [दो नोकों वाले] अङ्कुश के समान (जर्भरी) भरण-पोषण करने वाले (तुर्फरीतू) हनन करने वाले (नैतोशेव) नितोश के पुत्र के समान (तुर्फरी) शीघ्र हनन कर्ता [तथा] (पर्फरीका) फाड़ने वाला। (उदन्यजा इव) जल में जन्मे [रत्नों के] समान [निर्मल] (जेमना) जयशील (मदेरू) सदा मद=प्रसन्न रहने वाले (ता=तौ) वे दोनों अश्विनौ (मे) मेरे (जरायु) जेर से उत्पन्न होने वाले (मरायु) मरणधर्मा शरीर को (अजरम्) अजर [बनाएं] ॥

दो प्रकार की सृणि होती है। पालक और ताडक और। वैसे अश्विनौ और, पालक भी। जर्भरी=पालक पोषक, यह अर्थ है। तुर्फरीतू=ताडक अथवा हननकर्ता। नैतोशेव=नितोश के पुत्र के समान तुर्फरी और=ताडक [तथा] पर्फरीका=फाड़ने वाले। नितोश का अपत्य नैतोश। नैतोश के समान तुर्फरी=शीघ्र ताडक। उदन्यजेव=उदक में जन्मे दो रत्नों के समान। सामुद्रे=समुद्र में जन्मे रत्नों के समान, चन्द्रमा से होने वाले रत्नों के

समान अथवा । जेमने=जयशील । मन्देरू=सदा प्रसन्न । वे दोनों मेरे जेर से जन्मे [तथा] मरणधर्मा शरीर को शरत् [तथा] अजर अजीर्ण बनाएं ।

अब यह [अगली ऋक्] सोम की [अति स्तुति की] ॥ ५ ॥

भाष्य—अश्विनौ की दो नोकें क्या हैं, यह गम्भीर विज्ञान का विषय है । मैं इसे अभी अधिक नहीं समझ सका । नितोश कौन है, यह भी जानना चाहिए । अश्विनौ देवों के भिषजौ हैं। वे शरीर को अजीर्ण कैसे कर देते हैं, इस विद्या का ज्ञान खोजना चाहिए । शरदम् पद का सम्बन्ध भी जानना चाहिए । इस मन्त्र का अभिप्राय अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः । तरत्स मन्दी धावति ।

[ऋ० ९ । ५८ । १ ॥]

तरति स पापं सर्वं मन्दी यः स्तौति । धावति गच्छत्यूर्ध्वां गतिम् । धारा सुतस्यान्धसः । धारयाभिपुतस्य सोमस्य मन्त्रपूतस्य वाचा स्तुतस्य ।

अथैषा यज्ञस्य ॥ ६ ॥

अर्थ—(तरत्) तरता है [पार को] (सः) वह (मन्दी) जो स्तुति करता हैं । (धावति) जाता है [सुकृतों के लोको को] (धारा) धारा से (सुतस्य) निचोड़े हुए (अन्धसः) सोम की । तरता है वह, स्तोता, जाता है [सुकृतों के लोकों को ।]

तरता है वह पाप को सारे को, जो स्तुति करता है । जाता है ऊर्ध्वा गति को । धारा से निचोड़े हुए सोम की, मन्त्रों से पवित्र हुई वाक् द्वारा स्तुति वाले की ।

अब यह यज्ञ की [ऋक् है] ॥ ६ ॥

भाष्य—ऊर्ध्व लोकों को जाने का मार्ग सोम याग भी है । जब दैवी यज्ञों में सोम निचोड़ा गया, तभी यह देव वाक् भी उत्पन्न हो रही थी ॥ ६ ॥

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥

[ऋ० ४ । ५८ । ३ ॥]

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः । त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि । द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये । सप्त हस्तास सप्त छन्दांसि । त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः । वृषभो रोरवीति । रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिः । यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति । महो देव इति । एष हि महान्देवो यद्यज्ञः । मर्त्याँ आविवेशेति । एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय ।[1] तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ७ ॥

अर्थ—चार शृङ्ग=वेद, तीन इस के पाद, दो सिर, सात हाथ इस के । तीन प्रकार से बंधा हुआ, वृषभ=[सुख की] वर्षा करने वाला यज्ञ (रोरवीति) शब्द करता है । [यह] महान् देव (मर्त्यान्) पृथिवी पर के मरणधर्मा मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ ॥

चार शृङ्ग=वेद ही ये कह गए । तीन पाद [हैं ।] सवन । दो सिर प्रायणीय और [उदयनीय] । सात हाथ, सात छन्द [हैं ।] तीन प्रकार से बंधा हुआ, मन्त्र ब्राह्मण और कल्पों से । वृषभ शब्द करता है । शब्द इस का सवनक्रम से [होता है] ऋचाओं, यजुओं और सामों से । जो इस [यज्ञ] को ऋचाओं से शस्त्र पढ़ते हैं, यजुओं से यजन करते हैं, सामों से स्तुति करते हैं । यह ही महान् देव है जो यज्ञ है । मर्त्यों में प्रविष्ट हुआ । यह [यज्ञ] ही मनुष्यों में प्रविष्ट होता है, यजन के लिए ।

उस की अगली [ऋक् है], अधिक निर्वचन के लिए ॥ ७ ॥

भाष्य—व्याकरण महाभाष्य के आरम्भ में पतञ्जलि ने इस ऋक् का अर्थ व्याकरण विद्या में घटाया है । शबर स्वामी और कुमारिल भट्ट ने मीमांसा सूत्र १ । २ । ४६ पर इस ऋक् का यज्ञ परक व्याख्यान किया है ।

मर्त्याँ आ विवेश—मर्त्यों में प्रविष्ट हुआ । इसी प्रकार का एक और मन्त्रार्ध है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।

ऋ० १० । ७१ । ३ ॥

अर्थात्—ऋषियों में प्रविष्ट हुई वाक् ।

---

१ परमेश्वरकृत जैमिनीय सूत्रार्थ संग्रह, भाग १, पृ० ८६, ६० पर यास्क के नाम से उद्धृत ।

अन्तरिक्ष में पदार्थ उत्पत्ति—वाक् पहले अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुई और तदनु पार्थिव ऋषियों में प्रविष्ट हुई। इसी प्रकार यज्ञ भी पहले अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुआ। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र और अन्य देव यज्ञ करते रहे। तत्पश्चात् वह यज्ञ मर्त्यों में प्रविष्ट हुआ। ठीक इसी प्रकार ओषधियां और वनस्पति आदि भी पहले अन्तरिक्ष में बने, तत्पश्चात् उन के मूल बीज पृथिवी पर उत्पन्न हुए। पृथिवी पर की सृष्टि—उत्पत्ति को समझने के लिए अन्तरिक्ष की सहायता का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है ॥ ७ ॥

स्व॒र्यन्तो॒ नापे॑क्षन्त॒ आ द्यां रो॑हन्ति॒ रोद॑सी ।
य॒ज्ञं ये वि॒श्वतो॑धारं॒ सुवि॑द्वांसो॒ वि॑तेनि॒रे ॥

[अथ० ४ । १४ । ४ ॥]

स्वर्गच्छन्त ईजाना वा नेक्षन्ते। तेऽमुमेव लोकं गतपन्तमीक्षन्तमिति। आ द्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं सर्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिर इति।

अथैषा वाचः प्रवह्लितेव ॥ ८ ॥

अर्थ—(स्वः यन्तः) स्वर्ग=परम सुख को जाते हुए (न अपेक्षन्ते) नहीं देखते, (आ रोहन्ति) चढ़ते हैं (द्याम्) द्यौ को (रोदसी) द्यावा पृथिवी से, (यज्ञं ये) यज्ञ को जिन्होंने (विश्वतोधारम्) सब ओर से धारा वाले को (सुविद्वांसः) श्रेष्ठ विद्वानों ने (वितेनिरे) फैलाया ॥

स्वर्ग को जाते हुए, यजन करते हुए अथवा नहीं देखते। वे उसी लोक को गए हुए को, देखते हुए को। चढ़ते हैं द्यौ को द्यावापृथिवी से। यज्ञ को जिन्होंने सब ओर से धारा वाले को सुविद्वानों ने फैलाया।

अब यह वाक् की पहेली के समान [है] ॥ ८ ॥

भाष्य—द्यौ को चढ़ते हैं। वही सुकृतों का लोक है; मानव पार्थिव शरीर त्याग कर वहां जाते हैं। यज्ञों का फल है, वह लोक। इस के अतिरिक्त और कोई स्वर्ग लोक नहीं। वहीं अव्याहत गति से आत्मा विचरता है ॥ ८ ॥

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
[ऋ० १ । १६४ । ४५ ॥]

चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि । तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनः । गुहायां त्रीणि निहितानि । नार्थं वेदयन्ते । गुहा गूहतेः । तुरीयं त्वरतेः । कतमानि तानि चत्वारि पदानि । ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम् । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः । मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः । ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः । सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके । पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः । अथापि ब्राह्मणं भवति ।

सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् । एष्वेव लोकेषु त्रीणि । पशुषु तुरीयम् । या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे । यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये । या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ । अथ पशुषु । ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः । तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम् ।
[मै० सं० १ । ११ । ५ ॥] इति ।

अथैतस्योत्तरस्य ॥ ९ ॥

अर्थ—(चत्वारि) चार [हैं] (वाक्) वाक् के (परिमिता) मापे गए (पदानि) पद । (तानि) उन को (विदुः) जानते [थे] (ब्राह्मणा) ब्राह्मण (ये मनीषिणः) जो मेधावी [थे ।] गुफा में तीन [पद] (निहिता) स्थापित [हैं] (न इङ्गयन्ति) नहीं [अपने को] जनाते । (तुरीयं वाचः) चौथे भाग को वाक् के (मनुष्या) मरणधर्मा मनुष्य (वदन्ति) बोलते हैं ॥

चार वाक् के मापे हुए पद । उन को जानते थे ब्राह्मण जो मेधावी । गुफा में तीन स्थापित [हैं ।] नहीं अर्थ को जनाते । गुहा गूहति से । तुरीय त्वरित से । कौन से [हैं] वे चार पद—

[१.] ओंकार और महाव्याहृतियां=भूः, भुवः स्वः, यह आर्प [मत है ।]

[२.] नाम, आख्यात और उपसर्ग तथा निपात, यह वैयाकरणों का [मत है ।]

[३.] मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण चौथी व्यावहारिकी [=लोक भाषा] यह याज्ञिकों का [मत है ।]

[४.] ऋक्, यजुः, साम, चौथी व्यावहारिकी, यह नैरुक्त [मत है ।]

[५.] सर्पों की वाक्, पक्षियों की, क्षुद्र रींगने वालों की, चौथी व्यावहारिकी, यह कई एक का [मत है ।]

[६.] पशुओं में, तूणवेपु=वादित्रों में, (मृगेषु) सिंह आदि में, (आत्मनि) अपने में, यह आत्मप्रवाद का [मत है ।]
और भी ब्राह्मण [प्रवचन] होता है—

वह वाक् उत्पन्न की गई चार प्रकार की हुई है । इन लोकों [भूः, भुवः, स्वः] में तीन प्रकार से । पशुओं में चौथे प्रकार से । जो पृथिवी में, वह अग्निः में, वह रथन्तर में । जो अन्तरिक्ष में, वह वायु में, वह वामदेव्य में । जो द्यौ में, वह अन्तरिक्ष में, वह बृहती साम में, वह स्तनयित्नु में । अब पशुओं में । इस से जो वाक् बढ़ कर रही, उस को ब्राह्मणों में रखा । इस लिए ब्राह्मण दोनों प्रकार की वाक् को बोलते हैं । जो और देवों की, जो और मनुष्यों की ।

अब यह अक्षर की [अति स्तुति है] ॥ ९ ॥

भाष्य—वाक् के चार विभाग । पहले वाक् नहीं थी । यह उस समय की बात है, जब आपः सलिलावस्था में थे । हिरण्याण्ड के परिप्लवन के समय वाक् उत्पन्न हुई । पुनः वह ओंकार और महा-व्याहृतियों में विभक्त हुई । वाक् का अगला रूप देव जन्म के पश्चात् प्रकट हुआ । देवीं वाचम् अजनयन्त देवाः । देवों ने वाक् को उत्पन्न किया । तब वाक् मन्त्र रूप में प्रकट हुई । वाक् का भेद अर्थ रहित ध्वनियों और सार्थ शब्दों में हुआ । यह वाक् अन्तरिक्षस्थ पशुओं आदि में प्रकट हुई । अन्त में यह पृथिवी पर प्रकट हुई ।

मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प और व्यावहारिकी। मन्त्र दैवी वाक् है। ब्राह्मण और कल्प प्रवचन रूप हैं। लोक भाषा अथवा व्यावहारिकी इन ■ भिन्न है। यह लोक भाषा आदि सृष्टि से ही रही है। सामों में दैवी वाक् का एक सर्वथा विभिन्न रूप माना गया है। वाक् की तरङ्गें सम्पूर्ण लोकों में फैली हुई हैं।

इस ऋक् के भाष्य में आचार्य यास्क ने चार प्रकार की वाक् के विषय ■ एक और मत भी उद्धृत किया है। वह है—मातृका अथवा पाठान्तर के अनुसार मान्त्रिकों का। तदनुसार, परा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, ये चार भेद हैं। परा वाक् का सिद्धान्त नया नहीं है। भगवान् देवकी पुत्र कृष्ण ने इसका वर्णन सामवप्रातिशाख्य के तीसरे श्लोक में किया है।

यास्क ने प्रधानता आर्ष मत को दी है। यही वेद का भाव है ॥ ९ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

[ऋ० १ । १६४ । ३९ ॥]

ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन्देवा अधिनिषण्णाः सर्वे। यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति। य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति विदुष उपदिशति। कतमत्तदेतदक्षरम्। ओ-मित्येषा वागिति शाकपूणिः। ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते। नानादेवतासु च मन्त्रेषु।

एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रति।

[कौषी० ब्रा० ६ । १२ ॥]

इति च ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

(ऋचः) ऋचाएं (अक्षरे) अविनाशी (परम व्योमन्) परम व्योम में [है] (यस्मिन्) जिस में (देवा विश्वे) सारे देव (अधि निषेदुः) स्थित हुए। (यः तत् न वेद) जो उस [अविनाशी] को नहीं जानता, (किम् ऋचा) क्या ऋचा से (करिष्यति) करेगा। (ये इत् तत् विदुः) जो ही उसे जानते हैं, (ते) वे (इमे) ये (समासते) [अमृत में] ठहरते हैं ॥

ऋचाएं अक्षर परम में, विशेष रक्षक में [हैं], जिस में सारे देव स्थित हैं। जो उस को नहीं जानता, क्या वह ऋक् से करेगा। जो उस को जानते हैं, वे ये ठहरते हैं। यह [ऋक् का अन्तिम चरण] विद्वान् के प्रति उपदेश करता है। कौन सा वह यह अक्षर है। ओम् यह ही यह वाक्, यह शाकपूणि [कहता है।] ऋचाएं और निश्चय अविनाशी परम रक्षक में स्थित हैं। नाना देवताओं वाले और मन्त्रों में। यह ही यह अक्षर [ओम् है], जो सारी त्रयी विद्या=सारे मन्त्रों के साथ [है] साथ [है।] यह और ब्राह्मण [है] ॥ १० ॥

भाष्य—ओम् पद से महाव्याहृतियों की उत्पत्ति हुई, और तदनु सम्पूर्ण मन्त्र प्रकट हुए। यह विज्ञान सिद्ध है। इस का ज्ञान का आनन्द भर्तृहरि, पतञ्जलि और वाजसनेय आदि आचार्यों के प्रोक्त ग्रन्थों में देखना चाहिए ॥१०॥

आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः। एषर्ग्भवति। यदेनमर्चन्ति। प्रत्यृचः सर्वाणि भूतानि। तस्य यदन्यन्मन्त्रेभ्यस्तदक्षरं भवति। रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते। य एतस्मिन्नधिनिषण्णा इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्—शरीरमत्र ऋगुच्यते। यदेनेनार्चन्ति। प्रत्यृचः इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते। यान्यस्मिन्नात्मन्येकं भवन्ति। इत्यात्मप्रवादाः ॥ ११ ॥

अर्थ—[अब आधिदैविक अर्थ—अक्षर] आदित्य है यह शाकपूणि का पुत्र [कहता है।] यह ऋक् होती है। जिस से इस [आदित्य] को पूजते हैं। पृथक्-पृथक् ऋचाएं सारे भूत अथवा प्राणी हैं। उस का जो पृथक् [स्वरूप है] मन्त्रों से वह अक्षर होता है। रश्मियां यहां देवाः कही जाती हैं। जो इस में ठहरी हुई हैं, यह अधिदैवत है।

अब अध्यात्म [अर्थ] को [कहते हैं।] शरीर यहां ऋक् कहा जाता है। जो इस से पूजते हैं। पृथक्-पृथक् ऋचाएं सारी इन्द्रियां हैं, इस का जो अविनाशि धर्म [चेतना तत्त्व है], वह अक्षर होता है। इन्द्रियां यहां देवाः कही जाती हैं। जो इस आत्मा में=शरीर में एक होती हैं। ये आत्मप्रवाद हैं ॥ ११ ॥

भाष्य—यास्क से पूर्व शाकपूणि के पुत्र की ख्याति भी हो चुकी थी। वह इस मन्त्र के अर्थ का आधिदैविक पक्ष उपस्थित करता है ॥ ११ ॥

अक्षरं न क्षरति। न क्षीयते वा। वाक्क्षयो भवति। वाचोऽक्ष इति वा। अक्षो यानस्याञ्जनात्। तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यात्। इति।

अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः। अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्। मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्। को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्। मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेव किंचानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति॥ १२॥

अर्थ—अक्षरम् नहीं बहता। नहीं क्षीण होता अथवा। वाक् का निवास होता है। वाक् का अंग है अथवा। अक्ष=धुरा यानस्य=गाड़ी का अञ्जनात्=भरने से। तत् प्रकृति=इन के स्वभाव वाला इतरत्=दूसरा [अक्षर-स्वर है।] वर्तन की समानता से। [जैसे गाड़ी के अरे अक्ष के आश्रय पर काम करते हैं वैसे व्यञ्जन सारे, स्वर के आश्रय पर काम करते हैं।] इस प्रकार यह मन्त्रार्थ की चिन्ता-अभ्यूह=विचार की ऊहा अथवा स्फूर्ति अभ्यूढ=दिखाई है। चाहे श्रुति प्रमाण से, चाहे तर्क से। नहीं प्रसङ्ग का नाश करके मन्त्र निर्वचन करने चाहिएं। प्रकरण के अनुकूल निर्वचन करने चाहिएं। नहीं इन [मन्त्रों] में प्रत्यक्ष है अनृषि का तप रहित का अथवा। परम्परागत विद्या ग्रहण कर्ताओं में, अनेक विद्याओं में पारङ्गतों में ज्ञानियों में अधिक विद्या वाला प्रशंसा योग्य होता है। यह कहा है पहले [निरुक्त १। १६ में।]

मनुष्य निश्चय ही ऋषियों के ऊपर जाने को अथवा मुहूर्तों के तीरों को उठने जाने पर देवों को बोले कौन हम में [अब] ऋषि होगा। उन के लिए इस तर्क को ऋषि [रूप] को दिया। मन्त्रार्थ की स्फूर्ति को देखना चाहिए। इस कारण जो कुछ भी अनूचान=षडङ्गवित् स्फूर्ति दिखाता है आर्ष वही होता है॥ १२॥

भाष्य—अनूचान। देवराज आदि धर्मसूत्रकारों ने अनूचान का अर्थ किया है—षडङ्गवित्। यह अनूचान मन्त्रार्थ करते हुए जो भी वेद से अविरोधी

तर्क करता है, वह आर्ष होता है, इस प्रकार पाश्चात्य पद्धति के लेखक, जो वेदाङ्गों को अति स्वल्प जानते हैं; अथवा कभी-कभी सर्वथा नहीं जानते, वेदार्थ में प्रमाण नहीं हैं। उन का कल्पित, प्रमाणशून्य भाषा मत हेय है ॥ १२ ॥

हृदा तुष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥
[ऋ० १० । ७१ । ८ ॥]

हृदा तष्टेषु मनसां प्रजवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते समानाख्याना ऋत्विजः । अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः । ओहब्रह्माण ऊहब्रह्माणः । ऊह एषां ब्रह्मेति वा । सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिः । तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम् । तदिदमायुरिच्छता न निर्वक्तव्यम् । तस्माच्छन्दस्सु शेषा उपेक्षितव्याः । अथागमः —

यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति—अनुभवति ॥ १३ ॥

अर्थ—(हृदा) हृदय=बुद्धि से (तष्टेषु) परिच्छिन्न किए हुए [कर्मों में] (मनसः) मन के (जवेषु) वेगों में (यत्) जब अथवा जहां (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण [=वेदपारग] (संयजन्ते) एकत्र यजन करते हैं अथवा एकत्र होते हैं (सखायः) साथी । (अत्र अह) वहां (त्वम्) एक को [अल्प जानने वाले को] (वि जहुः) पीछे छोड़ते हैं (वेद्याभिः) प्रश्न, प्रतिप्रश्न आदि की जानने योग्य प्रवृत्तियों द्वारा (ओहब्रह्माणः) ऊहापोह समर्थ ब्राह्मण (विचरन्ति) [सब कर्मों में] पूरे चलते हैं (त्वे) एक अर्थात् दूसरे अमन्द-प्रज्ञ ॥

बुद्धि से सूक्ष्म=परिच्छिन्न किए मनसाम्=मनों के [विचार] वेगों में, जो ब्राह्मण एकत्र यजन करते हैं, समान ख्याति वाले ऋत्विज । वहां एक को [अल्प ज्ञान वाले को] पीछे छोड़ते हैं, जानने योग्य प्रवृत्तियों से । ऊहापोह वाले=तर्क वाले ब्राह्मण । ऊह=तर्क है इन का वेद अथवा । वह यह विद्या श्रुतिमति बुद्धि है । उस [बुद्धि] का तप से पार पाने की इच्छा करनी चाहिए । इस कारण यह [शास्त्र, विना तप वाले के लिए]

आयु के चाहने वाले को नहीं कहना चाहिए। इसलिए छन्दो म=मन्त्रों में शेष बातें ध्यान से देखनी चाहिए। अब आगम है—

जिस जिस देवता [पद] का निर्वचन करता है उस के उस [देवता] के ताद्भाव्यम्=ऐश्वर्य अथवा मत्त्व को अनुभव करता है अनुभव करता है ॥ १३ ॥

भाष्य—ओहब्रह्माण-ऊहा वाले वेदपारग । यथा—समिद्धो अग्नि निहित पृथिव्याम् । ऋ० २ । ३ । १ ॥ अर्थात्—प्रदीप्त अग्नि स्थापित है पृथिवी में । पृथिवी है ही अग्निगर्भा । मन्त्र कहता है—यथा भूमिरग्निगर्भा । शाखा० गृह्य, १ । १९ । ५ ॥ यह अग्नि प्रदीप्तावस्था में है । इस से ऊहा होती है कि एक अन्य प्रकार का अग्नि अदीप्तावस्था में वहाँ भी रहता । इसी लिए विशेषण आया, समिद्धो अग्नि । अत असमिद्ध अग्नि का स्वरूप जानना चाहिए ।

इसी प्रकार एक मन्त्र में कहा है—

तस्य नाक्ष तप्यते भूरिभार । इस पर ऊहा कर के ज्ञात होता है कि भार के कारण घूमने पर सारे अक्ष तप्त हो जाते हैं ।

यह ऊहा ही सम्पूर्ण विज्ञान का स्रोत है । इसलिए वेद में ओह ब्राह्मण की प्रशंसा है ।

अन्त में निर्वचन विद्या का फल आगम द्वारा कहा है । वस्तुतः देवता के ऐश्वर्य का ज्ञान निर्वचन द्वारा भी होता है ॥ १३ ॥

इति त्रयोदशोऽध्याय ।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं च । अथात ऊर्ध्वमार्गगतिं व्याख्यास्यामः ।

सूर्य आत्मा । [ऋ० १ । ११५ । १ ॥]

इत्युदितस्य हि कर्मद्रष्टा । अथैतदनुप्रवदन्ति । अथैनं महान्तमात्मानमेषगर्गणः प्रवदति ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः ॥ [ऋ० १ । १६४ । ४६ ॥] इति ।

अथैव महानात्मात्मजिज्ञासयात्मानं प्रोवाच ।

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः ॥ [ऋ० ३ । २६ । ७ ॥]

अहमस्मि प्रथमजाः ॥ [तै० ब्रा० २ । ८ । ८ । १ ॥]

इत्येताभ्याम् ॥ १ ॥

अर्थ—व्याख्या किया गया है दैवत [काण्ड] यज्ञाङ्ग=अति स्तुति प्रकरण और । अब इस से आगे ऊर्ध्व मार्ग की गति का व्याख्यान करेंगे ।

सूर्य [है] आत्मा ।

यह [सूर्य] उदितस्य=उत्पन्न हुए का कर्मद्रष्टा=कर्म का द्रष्टा है । अब इस [सूर्य] का अनुप्रवचन कहते हैं । अब इस महान् आत्मा को यह ऋग्गण प्रवचन करता है ।

इन्द्र, मित्र, वरुण अग्नि को कहते हैं । इति । अब इस महान् आत्मा ने जिज्ञासा से अपना प्रवचन किया ।

अग्निः हूं, जन्म से जातवेदस् ।

मैं हूं प्रथम उत्पन्न । इन दो ऋचाओं से ॥ १ ॥

भाष्य—पहले तीनों लोकों में देवों ने यज्ञ किए। उन्हीं के अनुभव पर पृथिवी पर मनुष्यों और ऋषियों ने यज्ञ किए। दैवी यज्ञों का एक अङ्ग अति स्तुतियों का है। उन् द्वारा महान् ईश्वर की स्तुति गाई गई है।

इस अन्तिम अध्याय में मनुष्य के निधन के पश्चात् उस की ऊर्ध्व मार्ग गति का व्याख्यान है॥ १॥

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम॥
[ऋ० ३। २६। ७॥]

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः।
यो मा ददाति स इदेवमावा अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥ इति।
[तै० ब्रा० २। ८। ८। १॥]

स ह ज्ञात्वा प्रादुर्बभूव। एवं तं व्याजहार। अथ समाम्नानमध्यात्ममन्तिकमन्यस्मा आचचक्षे इति॥ २॥

अर्थ—अग्नि मैं हूँ जन्म से जातवेदा। घृत [है] मेरा नेत्र। अमृत [है] मेरा मुख। (अर्कः) [illegible] प्रकाश करने वाला (त्रिधातु) तीन प्रकार से विभक्त (रजसः) अन्तरिक्ष का (विमानः) मापने वाला (अजस्रः) न नष्ट होने वाला (घर्मः) ताप का देने वाला आदित्य [और] (हविः) हवि हूँ नाम से॥

मैं हूँ प्रथम उत्पन्न ऋत का, पूर्व देवों के अमृत की नाभि हूँ। जो मुझे देता है, वह ही मेरी रक्षा करता है। मैं अन्न [हूँ] अन्न (अदन्तम्) खाते हुए को (अद्मि) खाता हूँ॥

वह निश्चय से जान कर प्रकट हुआ। इस प्रकार उस को व्याजहार= बोला। यह उस अपना को अध्यात्म को अन्तिकम् समीपवर्ती का दूसरे के लिए [मान कर] कहता है॥ २॥

भाष्य—दोनों मन्त्रों का भाव अति गम्भीर है। मेरी समझ में पूरा नहीं आया। अमृत और घृत [illegible] इसके स्पष्ट किए गए हैं। अमृत का अभि जानन साध्य है॥ २॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

[ऋ० १ । १६४ । ३१ ॥ १० । १७७ । ३ ॥]

आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तरिति । अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः । तत्परम् । तद् ब्रह्म । तत्सत्यम् । तत्सलिलम् । तदव्यक्तम् । तदस्पर्शम् । तदरूपम् । तदरसम् । तदगन्धम् । तदमृतम् । तच्छुक्लम् । तन्निष्ठो भूतात्मा । सैषा भूतप्रकृतिरित्येके । तत्क्षेत्रम् । तज्ज्ञानात्क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मजम् । अथैष महानात्मा त्रिविधो भवति । सत्त्वं रजस्तम इति । सत्त्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठति । अभितो रजस्तमसी इति । कामद्वेषस्तमः । इत्यविज्ञातस्य विशुध्यतो विभूतिं कुर्वतः क्षेत्रज्ञपृथक्त्वाय कल्पते । प्रतिभातिलिङ्गो महानात्मा तमोऽलिङ्गो विद्याप्रकाशलिङ्गस्तमः । अपि निश्चयलिङ्ग आकाशः ॥ ३ ॥

अर्थ—देखा मैंने (गोपाम्) रक्षक को (अनिपद्यमानम्) नहीं गिरने वालेको (आ च परा च चरन्तम्) सामने आते और परे जाते हुए को (पथिभिः) [अन्तरिक्ष के विचित्र] मार्गों से । (सः) वह (सध्रीचीः) सीधी (सः) वह (विषूचीः) तिरछी (वसानः) [दिशाओं को] पहने हुए (आ वरीवर्ति) वार वार घूमता है (भुवनेषु) भुवनों में (अन्तः) अन्दर ॥

घूमता है वार वार भुवनों के अन्दर । [वह है] अब यह आत्मा [महत् तत्त्व] सत्त्व लक्षण [वाला ।] वह पर [है ।] वह ब्रह्म [=महान्] । वह सत्य । वह सलिल [=जिस में सब लीन है ।] वह अव्यक्त वह स्पर्श रहित । वह रूप रहित । वह रस रहित । वह गन्ध रहित । वह अमृत । वह शुक्ल । तत्-निष्ठः भूतात्मा=उस में ठहरा है भूतात्मा=पञ्च भूतों का मूल तत्त्व । वह ही यह है, भूतों की प्रकृति=मूल, यह कई [आचार्य] मानते हैं । वह क्षेत्र है । उस [प्रकृति रूप क्षेत्र] के ज्ञान से क्षेत्रज्ञ= आत्मा को अनुप्राप्य=अनु प्राप्त हो कर निर्+आत्मजम्=शरीर रहित [भाव को प्राप्त होता है ।] अब यह महानात्मा=महत् तत्त्व तीन प्रकार का होता है ।] सत्त्व, रजः, तमः यह । सत्त्व तो मध्य में विशुद्ध ठहरता है । दोनों ओर से रजः और तमः हैं । काम और द्वेष तमः है । यह

अविज्ञात=अप्रत्यक्ष का विशुद्ध रूप से विभूतिं कुर्वन=ऐश्वर्य को करते हुए का क्षेत्रज्ञ पृथक्त्वाय=आत्मा के पृथक् होने के लिए कल्पते=समर्थ होता है। प्रतिभान चिह्न वाला महान् आत्मा, तमः नहीं है चिह्न वाली, ऐसी विद्या। अप्रकाश चिह्न वाला तमः। और निश्चय चिह्न वाला आकाश [है] ॥ ३ ॥

भाष्य—प्रस्तुत मन्त्र का भाव भी अति गम्भीर है। यास्क ने इस मन्त्र में महत् तत्त्व का अस्तित्व दर्शाया है। महत् तत्त्व के विषय का विस्तार सांख्य शास्त्र में है। इस शास्त्र का मान वैदिक धर्म में सदा से रहा है। पर आचार्य शङ्कर ने नवीन वेदान्त का मत प्रतिपादन करने के कारण इस का पृथक् खण्डन किया है। वेद मन्त्रों में भूतों, महत् तत्त्व और प्रकृति का बहुधा वर्णन मिलता है।

निरुक्त के इस परिशिष्ट भाग में सांख्य सिद्धान्त आदि का विशद उल्लेख है। प्रतीत होता है भारत में शाङ्कर मत का बहुत प्रचार होने के कारण, [illegible] परिशिष्टों का अनादर बढ़ा। ईसाई यहूदी गुट भी इस सांख्य प्रक्रिया को प्राचीन नहीं मानना चाहता, अतः इस गुट ने भी परिशिष्टों की अप्रामाणिकता सिद्ध करने पर पूरा बल लगाया। पर यह बात सिद्ध नहीं हो सकी। इस का विस्तृत उल्लेख इस ग्रन्थ की भूमिका में है।

इस प्रकरण की अन्तिम पङ्क्तियों के विषय में राजाराम ने लिखा है—अविज्ञातस्य इत्यादि का अर्थ समझ में नहीं आता है। इति। हम ने अविज्ञातस्य पद का 'अप्रत्यक्ष का' अर्थ किया है। इस का आशय मनु १। ५ के अप्रज्ञात पद के भाव से है ॥ ३ ॥

आकाशगुणः शब्दः। आकाशाद्वायुर्द्विगुणः स्पर्शेन। वायोर्ज्योतिस्त्रिगुणं रूपेण। ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेन। अद्भ्यः पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन। पृथिव्या भूतग्रामस्थावरजङ्गमाः।

तदेतदहर्युगसहस्रं जागर्ति। तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नङ्गानि प्रत्याहरति। भूतग्रामाः पृथिवीमपियन्ति। पृथिव्यपः। आपो ज्योतिषम्। ज्योति र्वायुम्। वायुराकाशम्। आकाशो मनः। मनो विद्याम्। विद्या

महान्तमात्मानम् । महानात्मा प्रतिभाम् । प्रतिभा प्रकृतिम् । सा स्वपिति । युगसहस्रं रात्रिः । तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्तेते । स कालस्तदेतदहर्भवति ।

युगसहस्रपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ इति ॥ ४ ॥

अर्थ—आकाश का गुण शब्द । आकाश से वायु दो गुणों वाला स्पर्श [गुण के आने] से । वायु से तेज तीन गुणों वाला, रूप [गुण के आने] से । तेज से आपः चार गुण वाले, रस [गुण के आने] से । आप से पृथिवी पांच गुणों वाली, गन्ध [गुण के आने] से । पृथिवी से [महा] भूत ग्राम स्थावर और जङ्गम [का ।]

तो यह [ब्राह्म] दिन युग सहस्र तक जागता है । उस के अन्त पर सुसुप्स्यन्=सोना चाहता हुआ अङ्गों को अपने अन्दर खींच लेता है । महाभूत समूह पृथिवी को चले जाते हैं । पृथिवी आपः को । आपः ज्योति=तेज को । ज्योति वायु को । वायु आकाश को । आकाश मनः को । मन=अहङ्कार विद्या=बुद्धि को । बुद्धि महत् तत्त्व को । महत् तत्त्व प्रतिभा को । प्रतिभा प्रकृति को । वह [प्रकृति] सोती है । [तब] युगसहस्र पर्यन्त रात्रि [रहती है ।] वे ये अहोरात्र निरन्तर घूमते हैं । वह काल [है ।] वह यह दिन होता है ।

युग सहस्र पर्यन्त दिन को जो ब्रह्मा के जानते हैं ।

रात्रि युगसहस्र अन्त को, वे अहोरात्र के ज्ञाता जन [हैं] ॥ ४ ॥

भाष्य—इस वर्णन में विज्ञान का अद्भुत प्रदर्शन है । महाभारत और पुराणों के सर्ग और प्रतिसर्ग प्रकरणों में इसी प्रक्रिया का विस्तार मिलता है । अन्तिम श्लोक भगवद् गीता ८ । १८ में है । इस की तुलना मनु १ । ७२ और बृहद्देवता ८ । ९८ से करनी चाहिए । यह विद्या इस समय संसार में वैदिक लोगों के पास है ॥ ४ ॥

तं परिवर्तमानमन्योऽनुप्रवर्तते । स्रष्टा द्रष्टा विभक्तातिमात्रोऽहमिति गम्यते । स मिथ्यादर्शनेदं पावकं महाभूतेषु । चिरोएवाकाशाद्वायोः प्राणश्चक्षुश्च वकारं च तेजसोऽद्भ्यः स्नेहं पृथिव्या मूर्त्तिः ।

पार्थिवांस्त्वष्टौ गुणान्विद्यात् । त्रीन्मातृतस्त्रीन्पितृतः । अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतः । त्वङ्मांसशोणितानि मातृतः । अन्नपानमित्यष्टौ । सोऽयं पुरुषः सर्वमयः सर्वज्ञानोऽपि क्लृप्तः ॥ ५ ॥

अर्थ—उस [अहोरात्र] के परिवर्तमानम्=घूमने के साथ अन्य=दूसरा जीव अनु प्रवर्तते=उस के अनुकूल घूमता है । स्रष्टा=[कर्मों के अनुकूल शरीर] रचने वाला, द्रष्टा=[भोगों का] देखने वाला विभक्ता=[योनियों का] विभाग करने वाला अतिमात्र मात्राओं से ऊपर अहं [भाव] वाला मन्यते=माना जाता है । वह मिथ्यादर्शन-ज्ञान वाला पापकम्=पावक अग्नि में है महाभूतों में । चिर वाला अणु आकाश में । वायु से प्राण । चक्षु और वक्ता [=वाक् सत्ता] को और तेजस=तेज से । आप से स्नेह । पृथिवी में मूर्ति [को जीवात्मा प्राप्त करता है ।] पृथिवी में होने वाले आठ गुणों को जाने । तीन गुणों को माता से तीन को पिता से । अस्थि स्नायु [और] मज्जा [के गुण] पिता से । त्वक्, मांस और शोणित=लहू [के गुण] माता से । [ये छः और] अन्न [तथा] पान ये आठ [गुण हैं ।] वह यह पुरुष सर्व [प्राणियों] का सर्व [इन्द्रियों के] ज्ञान वाला माना गया है ॥ ५ ॥

भाष्य— 'चिर वाला अणु आकाश से ।' यह कुछ अस्पष्ट है । निरुक्त के काल से बहुत पूर्व आयुर्वेद का सम्पूर्ण ज्ञान भी प्रचलित था ॥ ५ ॥

स यद्यनुरुध्यते तद्भवति । यदि धर्ममनुरुध्यते तद्देवो भवति । यदि ज्ञानमनुरुध्यते तदमृतो भवति । यदि काममनुरुध्यते स च्यवते । इमां योनिं सन्दध्यात् । तदिदमत्र मतम् ।

श्लेष्मा रेतसः सम्भवति । श्लेष्मणो रसः । रसाच्छोणितम् । शोणितान्मांसम् । मांसान्मेदः । मेदसः स्नावा । स्नाव्नोऽस्थीनि । अस्थिभ्यो मज्जा । मज्जातो रेतः । तदिदं योनौ रेतः सिक्तं पुरुषः सम्भवति । शुक्रातिरेके पुमान् भवति । शोणितातिरेके स्त्री भवति । द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति । शुक्रभिन्नेन यमो भवति ।

शुक्रशोणितसंयोगान्मातृपितृसंयोगाच्च तत्कथमिदं शरीरं परं संयम्यते । सौम्यो भवति । एकरात्रोषितं कललं भवति । पञ्चरात्राद्

बुद्बुदाः । सप्तरात्रात्पेशी । द्विसप्तरात्रादर्बुदः । पञ्चविंशतिरात्रः स्वस्थितो घनो भवति । मासमात्रात्कठिनो भवति । द्विमासाभ्यन्तरे शिरः सम्पद्यते । मासत्रयेण ग्रीवाव्यादेशः । मासचतुष्केण त्वग्व्यादेशः । पञ्चमे मासे नखरोमव्यादेशः । षष्ठे मुखनासिकाक्षिश्रोत्रं च सम्भवति । सप्तमे चलनसमर्थो भवति । अष्टमे बुद्ध्याध्यवस्यति । नवमे सर्वाङ्गसम्पूर्णो भवति ।

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नाना योनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥[1]
अर्वाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ।
साङ्ख्यं योगं समभ्यस्येत्पुरुषं वा पञ्चविंशकम् ॥ इति ।

ततश्च दशमे मासे प्रजायते । जातश्च वायुना स्पृष्टस्तन्न स्मरति जन्ममरणम् । अन्ते च शुभाशुभं कर्म । एतच्छरीरस्य प्रामाण्यम् ॥६॥

अर्थ—सः=वह जीव यदि अनुरुध्यते=[वासनाओं में] रुका रहता है, तो वैसे जन्म वाला होता है । यदि धर्म को [वासना बना कर] रुकता है, तो देवः=विद्वान् होता है । यदि ज्ञान को [वासना बना कर रुकता] है, तो अमृत होता है । यदि काम में फंसा रहता है, तो बहुत गिरता है । इस योनि को समझे । यह इस विषय में मत है ।

श्लेष्मा रेतसः=वीर्य से उत्पन्न होता है । श्लेष्मा से रस । रस से शोणितम्=रक्त । रक्त से मांस । मांस से मेद । मेद से स्नायु । स्नायु से अस्थियां । अस्थियों से मज्जा । मज्जा से वीर्य । तत्=वह इदम्=यह योनौ =[स्त्री] योनि में वीर्य सिंचन किया गया पुरुष उत्पन्न होता है । वीर्य के अतिरेके=बलाधिक्य पर पुमान् [जाति] होता है । शोणित=रजाधिक्य पर स्त्री [जाति] होता है । दोनों के समान होने पर नपुंसक होता है । वीर्य कण के टुकड़े होने पर यमः=जोड़ा होता है ।

---

१. यह श्लोक अन्त में स्वल्प पाठान्तर के साथ, महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, १७ । ३२, ३३ है । कुम्भघोण संस्करण ।

शुक्र और रज के संयोग से, माता-पिता के संयोग से और, तो कैसे यह शरीर आगे बनता है । सौम्य: [शुक्र और रज के मेल से] एकाकार होता है । एक रात उषितम्=[उस अवस्था में] रह कर कलल होता है । पांचवी रात से बुद् बुद [होते हैं ।] सात रात से पेशी । २४७=चौदह रात से अर्बुद । पचीस रात का अपने में ठहरा घन होता है । मास मात्र में कठिन होता है । दो मास में सिर बनता है । मास तीन के द्वारा ग्रीवा का व्यादेश=विभाग । मास चार से त्वचा का विभाग । पांचवें मास में नख रोम का विभाग । छठे [मास] में मुख, नासिका, आंख, कान और उत्पन्न होता है । सातवें पर चलने=हिलने में समर्थ होता है । आठवें में बुद्धि से अध्यवस्यति=निश्चय करता है । नवम [मास] में सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होता है ।

मरा और मैं, फिर उत्पन्न हुआ । उत्पन्न हुआ मैं, फिर मरा । नाना प्रकार की सहस्रों योनियां मेरे द्वारा वास की गईं निश्चय से ॥

आहार विविध प्रकार के खाए, पिए नाना प्रकार के स्तन । माताएं विविध प्रकार की देखीं, पिता [और] मित्र वैसे ।

अवाङ्मुख=नीचे मुख किए [गर्भ में] पीडित होता हुआ, जन्तु और युक्त रहा । सांख्य और योग का सम्यक् अभ्यास करे, पुरुष का अथवा पचीसवें का ध्यान कर ॥ इति ।

तत्पश्चात् दशम मास में उत्पन्न होता है । उत्पन्न हुआ और वायु से स्पर्श किया गया, वह न स्मरण करता है जन्म-मरण को । अन्त में शुभाशुभ कर्म [उस के साथ है ।] यह शरीर का प्रामाण्य है ॥ ६ ॥

भाष्य—वैदिक धर्म के एक अङ्ग का अतिसुन्दर निरूपण इस खण्ड में मिलता है । पुनर्जन्म का सिद्धान्त अनुपम सत्य है । इसी के आधार पर संसार में राज्य आदि की व्यवस्था श्रेष्ठ रूप में रह सकती है । ईसाई यहूदी गुट इस सत्य से डरता है ।

इस खण्ड का बहुत सा पाठ गर्भोपनिषद् से मिलता है । अन्तिम तीन श्लोक विज्ञानेश्वर (विक्रम सं० ११५० के समीप) द्वारा याज्ञवल्क्य स्मृति ३ । ८३ की टीका में इस प्रकार उद्धृत हैं—निरुक्तस्य-श्रष्टादशेऽभिधानात् ।

अर्थात्—५ निघण्टु के अध्याय, १२ तक इयत प्रकरण, और उस से आगे अठारहवें अध्याय में। विज्ञानेश्वर के निरुक्त में परिशिष्ट अठारहवां अध्याय कहा गया है।

सांख्य योग का सिद्धान्त ही आर्य मत में मान्य है। प्राचीन वेदान्त भी इसी पक्ष का पोषक था। न्याय और वैशेषिक भी इसी प्रकार से आत्मा और पुनर्जन्म को मानते हैं॥ ६॥

अष्टोत्तरं सन्धिशतम्। अष्टाकपालं शिरः सम्पद्यते। षोडश वपापलानि। नव स्नायुशतानि। सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणाम्। अर्धचतस्रो रोमाणि कोट्यः। हृदयं ह्यष्टकपालानि। द्वादशकपालानि जिह्वा। वृषणौ ह्यष्टसुपर्णौ। तथोपस्थगुदपायु। एतन्मूत्रपुरीषं कस्मात्। आहारपानसिक्तत्वात्। अनुपचितकर्माणावन्योन्यं जयते, इति।

तं विद्याकर्मणी समन्वारमेते पूर्वप्रज्ञा च।

महत्यज्ञानतमसि मग्नो जरामरणक्षुत्पिपासाशोकक्रोधलोभमोहमदभयमत्सरहर्षविषादेर्ष्यासूयात्मकैर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः सोऽस्मादार्जवं जवीभावानां तन्निर्मुच्यते। सोऽस्मात्पान्नं महाभूमिकावच्छरीरान्निमेषमात्रैः प्रक्रम्य प्रकृतिरधिपरीत्य तैजसं शरीरं कृत्वा कर्मणोऽनुरूपं फलमनुभूय तस्य संक्षये पुनरिमँल्लोकं प्रतिपद्यते॥ ७॥

अर्थ—आठ ऊपर सौ=१०८ सन्धियां=जोड़ [हैं।] आठ कपाल वाला शिर बनता है। सोलह वपा पल [हैं।] नौ सौ स्नायु [हैं।] एक सौ सात पुरुष के मर्मों का [परिमाण है।] साढ़े चार करोड़ रोम। हृदय आठ कपाल [युक्त।] बारह कपाल वाली जिह्वा। दोनों वृषण आठ सुपर्णों वाले। तथा उपस्थ, गुदा मल मूत्र वाली। यह मूत्र, पुरीष किस कारण से। आहार, पान के सिक्त होने से। अनुपचित कर्म वाले एक दूसरे को जीतते हैं। इति।

उस को विद्या और कर्म सहारा देते हैं, पूर्व प्रज्ञा और। महान् अज्ञान के अन्धकार में डूबे हुए, जरा, मरण, भूख, प्यास, शोक, क्रोध, लोभ, मोह, मद, भय, मत्सर, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, असूया रूप वाले द्वन्द्वों से अभिभूयमानः=पराजित किया गया, वह [जीव] इस [दुःख अवस्था] से सरलता

पूर्वक तीव्र भयों से मुक्त होता है। वह अहङ्कारयुक्त महाभूमिका के समान शरीर से निमेष मात्र से आरम्भ कर के प्रकृति को सर्वत्र घेर कर तैजस शरीर कर के कर्म के अनुकूल फल को भोग कर उस के नाश पर फिर इस लोक को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

भाष्य—इस खण्ड के अनेक पाठों का अर्थ अस्पष्ट है। आयुर्वेद में भी सन्धियों आदि की गणना है। रोमकूपों की गिनती शतपथ ब्राह्मण १२।३।२।८ में है। तं विद्याकर्मणी, पाठ बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२ में है। पर निरुक्त के पाठ के अन्त में 'इति' पद नहीं है ॥ ७ ॥

अथ य हिंसामाश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेपिरे चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति । धूमाद्रात्रिम् । रात्रेरपक्षीयमाणपक्षम् । अपक्षीयमाणपक्षाद् दक्षिणायनम् । दक्षिणायनात्पितृलोकम् । पितृलोकाच्चन्द्रमसम् । चन्द्रमसो वायुम् । वायो र्वृष्टिम् । वृष्टेरोषधयश्च । एतद्भूत्वा तस्य क्षये पुनरेवेमंल्लोकं प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—अब जो हिंसा का आश्रय कर के ज्ञान को त्याग कर महान् तप तपते हैं देर तक वेदोक्त अथवा कर्मों को करते हैं वे धूम को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि को। रात्रि से अपक्षीयमाण=कृष्ण पक्ष को। कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन को। दक्षिणायन से पितृलोक को। पितृलोक से चन्द्रमा को। चन्द्रमा से वायु को। वायु से वृष्टि को। वृष्टि से ओषधियों को। यह हो कर उस के नाश पर फिर ही इस लोक को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

भाष्य—कर्ममात्र से मोक्ष नहीं। ज्ञान और उपासना परम आवश्यक हैं। ज्ञान की महिमा अगले खण्ड में है ॥ ८ ॥

अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति । अर्चिषोऽहः । अह्न आपूर्यमाणपक्षम् । आपूर्यमाणपक्षादुदगयनम् । उदगयनाद् देवलोकम् । देवलोकादादित्यम् । आदित्याद्वैद्युतम् । वैद्युतान् मानसम् । मानस पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसम्भवन्ति । ते न पुनरावर्तन्त । शिष्टा दन्दशूका यत इदं न जानन्ति । तस्मादिदं वेदितव्यम् । अथाप्याह ॥९॥

अर्थ—अब जो हिंसा को त्याग कर ज्ञान का आश्रय कर के महान् तप तपते हैं, ज्ञानोक्त अथवा कर्म करते हैं, वे अर्चि को प्राप्त होते हैं। अर्चि से अहः को। अहः से शुक्ल पक्ष को। शुक्ल पक्ष से उदक् अयनम्=उत्तरायण को। उत्तरायण से देवलोक को। देवलोक से आदित्य को। आदित्य से वैद्युत् [स्थान] को। वैद्युत् स्थान से मानस [लोक] को। मानस पुरुष हो कर ब्रह्म लोक को प्राप्त होते हैं। वे नहीं फिर लौटते [इस लोक को।] बचे-खुचे जीव दन्दशूक=सर्प आदि [योनियों में आते हैं।] क्योंकि इस को नहीं जानते। इस कारण को जानना चाहिए। और भी कहा है ॥ ९ ॥

भाष्य—८ खण्ड में ऊर्ध्व गति का आभास दे कर इस नवम खण्ड में यथार्थ उर्ध्व गति का चित्रण है।

दन्दशूकपद के साथ शालिशूक पद की तुलना करनी चाहिए। मौर्य वंश में शालिशूक एक शासक था। A Comprehensive History of India का मत है कि शालिशूक नाम Seleucus नाम के अनुकरण पर है। यह बात संगत नहीं ॥ ९ ॥

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
[ऋ० १० । ८२ । ७ ॥]

न तं विद्यथा विदुषो यमेवं विद्वांसो वदन्त्यक्षरं ब्रह्मणस्पतिम्। अन्यद्युष्माकमन्तरम्। अन्यदेषामन्तरं बभूवेति। नीहारेण प्रावृतास्तमसा। जल्प्या चासुतृप उक्थशासः।

प्राणं सूर्यं यत्पथगामिनश्चरन्ति। अविद्वांसः क्षेत्रज्ञमनुप्रवदन्ति। अथाहो विद्वांसः। क्षेत्रज्ञोऽनुकल्पते। तस्य तपसा महाप्रमादमेति। अथासख्यो भवति। तेनासन्ततमिच्छेत्। तेन सख्यमिच्छेत्। एष हि सखा श्रेष्ठः सञ्जानाति भूतं भवद्भविष्यदिति।

ज्ञाता कस्मात्? ज्ञायतेः। सखा कस्मात्। सख्यतेः। सह भूतेन्द्रियैः शेरते। महाभूतानि सेन्द्रियाणि। प्रज्ञया कर्म कारयतीति।

तस्य यदाप: प्रतिष्ठा । शीलमुपशमः । आत्मा ब्रह्म । इति । ब्रह्मभूतो भवति । साक्षिमात्रो व्यवतिष्ठते । अबन्धो ज्ञानकृतः ।

अथात्मनो महतः प्रथमं भूतनामधेयान्यनुक्रमिष्यामः ॥ १० ॥

अर्थ—नहीं उस को जानते, जिस ने इन को उत्पन्न किया । दूसरा तुम्हारे अन्दर [वह] था=है । (नीहारेण) अज्ञान के कुहर से ढके हुए [हो ।] (जल्प्या) जल्पना=कथनमात्र से और (असुतृपः) प्राणों से तृप्त (उक्थशासः) केवल स्तोत्र पढ़ने वाले ; हो कर तुम्हारे ऐसे लोग] (चरन्ति) विचरते हैं ।

नहीं उस को विद्या=ज्ञान से विदुषः=जानते, जिसको इस प्रकार विद्वान् कहते हैं, अक्षर और ब्रह्मज्योति को । दूसरा, तुम्हारे अन्दर । दूसरा इन [प्राणियों के] अन्दर था=है । इति । नीहारेण=तमसा=अज्ञानान्धकार से ढके हुए [हो ।] कहने मात्र से, प्राणों से तृप्त, उक्थ=स्तुति बोलने वाले [हो ।]

प्राण को सूर्य को जिस पथ पर जाने वाले चलते हैं । अविद्वान् क्षेत्रज्ञ को कहते है । और विद्वान् । क्षेत्रज्ञ समर्थ होता है, जानता है । उस के तप से महा अप्रमाद को प्राप्त होता है । अब प्राप्त होने योग्य होता है उस साथ सदा [रहने की] इच्छा करे । उस के साथ सख्य चाहे । यह ही सखा श्रेष्ठ है, सम्यक् जानता है, [जो] भूत, वर्तमान और भविष्य ।

ज्ञाता किस कारण से । जानाति से । सखा किस कारण से । सहवति से । साथ हुए इन्द्रियों के साथ सोता है । महाभूत साथ इन्द्रियों के । प्रज्ञा से कर्म करता है । उन की जो व्याप्ति [वह] प्रतिष्ठा ।

शील उपशम [है ।] आत्मा ब्रह्म । इति । वह ब्रह्मभूत होता है । साक्षिमात्र ठहरता है । बन्धन रहित [होता है] ज्ञान वाला ।

अब महान् आत्मा के पहले भूतनामधेय अनुक्रम से कहेंगे ॥ १० ॥

भाष्य—प्रस्तुत वेद मन्त्र में आत्मा और परमात्मा का भेद अति स्पष्ट रूप में वर्णित है । इसी प्रकार ब्रह्म और परब्रह्म तथा पुरुष और परम पुरुष का भी भेद है । ज्ञान से मोक्ष मिलता है, इस का यहां कथन है । यास्क का मत नवीन वेदान्त के विरुद्ध है ॥ १० ॥

हंसः । घर्मः । यज्ञः । वेनः । मेधः । कृमिः । भूमिः । विभुः । प्रभुः । शम्भुः । राभुः । बृधकर्मा । सोमः । भूतम् । भुवनम् । भविष्यत् । आपः । महत् । व्योम । यशः । महः । स्वर्णीकम् । स्मृतीकम् । स्वृतीकम् । सतीकम् । सतीनम् । गहनम् । गभीरम् । गह्वरम् । कम् । अन्नम् । हविः । सद्म । सदनम् । ऋतम् । योनिः । ऋतस्य योनिः । सत्यम् । नीरम् । हविः । रयिः । सत् । पूर्णम् । सर्वम् । अक्षितम् । बर्हिः । नाम । सर्पिः । अपः । पवित्रम् । अमृतम् । इन्दुः । हेम । स्वः । सर्गाः । शम्बरम् । अम्बरम् । वियत् । व्योम । बर्हिः । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आपः । पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः । अध्वा । पुष्करम् । सगरः । समुद्रः । तपः । तेजः । सिन्धुः । अर्णवः । नाभिः । वृत्तः । ऊर्ध्वः । तत् । यत् । किम् । ब्रह्म । वरेण्यम् । हंसः । आत्मा । भवति । बृधन्त्यध्वानम् । यद्वाहिष्या । शरीराणि । अव्ययं च संस्कुरुते । यज्ञः । आत्मा । भवति । यदेनं तन्वते ॥

अथैतं महान्तमात्मानमेतानि सूक्तान्येता ऋचोऽनुप्रवदन्ति ॥ ११॥

अर्थ—अब इस महान् आत्मा को ये सूक्त और ये ऋचाएं अनु प्रवदन्ति=आधिदैविक ढङ्ग के पश्चात् कहते हैं ॥ ११ ॥

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

[ऋ० ९ । ९६ । ५ ॥]

सोमः पवते । सोमः सूर्यः प्रसवनात् । जनिता मतीनां प्रकाशकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । पृथिव्याः

प्रयतनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्। अग्नेर्गतिकर्मणामादित्यरश्मीनाम्। सूर्यस्य स्वीकरणकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । इन्द्रस्यैश्वर्यकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । विष्णोर्व्याप्तिकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—सोम आत्माप्येतस्मादेव । इन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः । अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूततम आत्मा । इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥१२॥

अर्थ—सोम=सूर्य बहता है, जनक [जो] मतियों का । जनक द्यौ का । जनक पृथिवी का । जनक अग्निः का । जनक सूर्य-रश्मियों का । जनक इन्द्र का । जनक और विष्णु का ।

सोम सूर्य [है], उत्पन्न करने से । जनक मतियों का=प्रकाश कर्म वाली आदित्य-रश्मियों का । दिवः=चमक कर्म वाली आदित्य-रश्मियों का । पृथिवी का=प्रथन कर्म वाली आदित्य-रश्मियों का । अग्निः का= गति कर्म वाली आदित्य-रश्मियों का । सूर्य का=सूर्य द्वारा संहार-क्रिया से स्वीकार कर्म वाली आदित्य-रश्मियों का । इन्द्र का=ऐश्वर्य-कर्म वाली आदित्य रश्मियों का । विष्णु का=व्याप्ति कर्म वाली आदित्य-रश्मियों का। यह अधिदैवत [पक्ष है ।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—सोम आत्मा=शरीर भी, इसी से । इन्द्रियों का जनक यह अर्थ है । अथवा सारी विभूतियों से ऐश्वर्यवान् होने से आत्मा । यह आत्मगति को कहता है ॥ १२ ॥

भाष्य—यास्क की नैरुक्त-शैली का इस भाष्य में देदीप्यमान उदाहरण मिलता है । पर ऐसा अर्थ वह पुरुष नहीं कर सकता, जो वेद के यथार्थ अर्थ को नहीं जानता । आदित्य की रश्मियों के अनेक प्रकार यहां वर्णित हैं । पृथिवी का प्रथन भी इन रश्मियों से हुआ, यह विज्ञान जानना चाहिए । प्रकाशकर्म और द्योतनकर्म का भेद भी जानना चाहिए । देवों के निर्माण समय सोम कब उत्पन्न हुआ, यह जानना चाहिए । निरुक्त का इस अर्थ-वैभव वाला परिशिष्ट यास्क के अतिरिक्त और कौन लिख सकता था ॥ १२ ॥

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥
[ऋ० ९ । ९६ । ६ ॥]

ब्रह्मा देवानामिति । एष हि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । पदवीः कवीनामिति । एष हि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामादित्यरश्मीनाम् । ऋषिर्विप्राणामिति । एष हि ऋषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । महिषो मृगाणामिति । एष हि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । श्येनो गृध्राणामिति । श्येन आदित्यो भवति । श्यायतेर्गतिकर्मणः । गृध्र आदित्यो भवति । गृध्यतेः स्थानकर्मणः । यत एतस्मिंस्तिष्ठति । स्वधितिर्वनानामिति । एष हि स्वयं कर्माण्यादित्यो धत्ते । वनानां वननकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । सोमः पवित्रमत्येति रेभन्निति । एष हि पवित्रं रश्मीनामत्येति स्तूयमानः । एष एवैतत्सर्वमक्षरम् । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—ब्रह्मा देवानामिति । अयमपि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामिन्द्रियाणाम् । पदवीः कवीनामिति । अयमपि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामिन्द्रियाणाम् । ऋषिर्विप्राणामिति । अयमपि ऋषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणाम् । महिषो मृगाणामिति । अयमपि महान्भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणाम् । श्येनो गृध्राणामिति । श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः । गृध्राणीन्द्रियाणि । गृध्यतेर्ज्ञानकर्मणः । यत एतस्मिंस्तिष्ठन्ति । स्वधितिर्वनानामिति । अयमपि स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते । वनानां वननकर्मणामिन्द्रियाणाम् । सोमः पवित्रमत्येति रेभन्निति । अयमपि पवित्रमिन्द्रियाण्यत्येति । स्तूयमानोऽयमेवैतत्सर्वमनुभवति । इति आत्मगतिमाचष्टे ॥१३॥

अर्थ—ब्रह्मा देवों का, पदवी कवियों की, ऋषि विप्रों का, महिष मृगों का, श्येन गृध्रों का, स्वधिति वनों का, सोम [है ।] पवित्र को उलांघता है शब्द करता हुआ ॥

यह [सोम] ही ब्रह्मा होता है, देवानाम्=देवनकर्म वाले आदित्य-रश्मियों का । यह ही पद का ज्ञाता कवियों के, कवीयमानानाम्=शब्द करते हुए आदित्य-रश्मियों का । यह ही ऋषिणः=गतिशील है, विप्राणाम् =व्यापनकर्म वाले आदित्य-रश्मियों का । यह ही महान् है मार्गण=ढूंढ करने वाले आदित्य-रश्मियों का । श्येन आदित्य होता है । श्यायति से गति अर्थ वाले से । गृध्र आदित्य होता है, गृध्यति से स्थिति अर्थ वाले

से । क्योंकि इस मे ठहरता है । यह ही स्वयं कर्मों को आदित्य धारता है । सेवनकर्म वाले आदित्य-रश्मियों का । यह [सोम] ही पवित्र रश्मिया का उल्लंघन करता है, स्तुति किया गया । यह ही सब है अक्षर । यह अधिदैवत [पक्ष है ।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—यह भी ब्रह्मा होता है देवनकर्म वाले इन्द्रियों का । यह भी पद को जानता है शब्द करते हुए इन्द्रियों का । यह भी गतिशील है व्यापनकर्म वाले इन्द्रियों का । यह भी महान् होता है, ढूंढ करने वाले इन्द्रियों का । श्येन आत्मा है । श्यायति से गति अर्थ वाले से । गृध्र इन्द्रिय है । गृध्यति से, ज्ञान अर्थ वाले से । क्योंकि इस मे ठहरते हैं । यह भी स्वयं कर्मों को अपने मे धारता है । सेवनकर्म वाले इन्द्रियों का । यह भी पवित्र [है], इन्द्रियों को उलांघता है । स्तुति किया गया, यह ही सब अनुभव करता है । यह आत्मगति को कहता है ।

भाष्य—सोम की महिमा अवर्णनीय है । इसी लिए ऋग्वेद में केवल सोम-परक एक मण्डल है । यह सारा जगत् सोम के आश्रय ही है । आदित्य और शरीर सोम के आश्रय पर है । ईश्वर भी सोम कहा जाता है ॥ १३ ॥

तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥
[ऋ० ९ । ९७ । ३४ ॥]

वह्निरादित्यो भवति । स तिस्रो वाचः प्रेरयत्यृचो यजूंषि सामानि । ऋतस्यादित्यस्य कर्माणि ब्रह्मणो मतानि । एष एवैतत्सर्वमक्षरम् । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—वह्निरात्मा भवति । स तिस्रो वाच ईरयति प्रेरयति विद्यामतिबुद्धिमताम् । ऋतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतानि । अयमेवैतत्सर्वमनुभवति । इति आत्मगतिमाचष्टे ॥ १४ ॥

अर्थ—तीनों वाणियों को प्रेरित करता है । (वह्निः) आदित्य में ठहरा वह्नि (ऋतस्य) आदित्य के (धीतिम्) कर्मों को (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (मनीषाम्) मतों को । (गावः) गौएं जाती हैं गोपति को पूछती हुईं । सोम को जाती हैं मतियां (वावशानाः) कामना करती हुईं ।

वह्नि आदित्य होता है। वह तीनों वाणियों को प्रेरित करता है, ऋचाओं, यजुओं, सामों को। ऋतस्य=आदित्य के कर्म। ब्रह्म के मत। यह ही यह सब, अक्षर। यह अधिदैवत [पक्ष है।]

अब अध्यात्म [पक्ष-] वह्नि आत्मा है। वह तीनों वाणियों को प्रेरित करता है, विद्या, मति, बुद्धि को। ऋतस्य=आत्मा के कर्म। ब्रह्म के मत। यह ही यह सब अनुभव करता है। यह आत्मगति को कहता है ॥ १४ ॥

भाष्य--वेद विद्या का एक महान् रहस्य यहां खोला गया है। आदित्यों में ऋक्, यजु, साम प्रेरित हो रहे हैं। ये ही मन में प्रेरित होते हैं। यह संकेत साख्य पञ्चाशिका में भी है। वेद की श्रुतियां अब भी सुनी जा सकती हैं। साधारण मति वाला इसे असंभव समझेगा, पर विद्वान् इस गम्भीर सत्य को जानते हैं ॥ १४ ॥

सोमं॒ गावो॑ धे॒नवो॑ वावशा॒नाः सोमं॒ विप्रा॑ म॒तिभि॑ः पृ॒च्छमा॑नाः।
सोमः॑ सु॒तः पू॑यते अ॒ज्यमा॑नः॒ सोमे॑ अ॒र्कास्त्रि॒ष्टुभः॒ सं न॑वन्ते ॥

[ऋ० ९ । ९७ । ३५ ।॥]

एत एव सोमं गावो धेनवो रश्मयो वावश्यमानाः कामयमाना आदित्यं यन्ति। एवमेव सोमं विप्रा रश्मयो मतिभिः पृच्छमानाः कामयमाना आदित्यं यन्ति। एवमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमानः। एतमेवार्काश्च त्रिष्टुभश्च सन्नवन्ते। तत एतस्मिन्नादित्य एकं भवन्ति। इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्--एत एव सोमं गावो धेनव इन्द्रियाणि वावश्यमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्ति। एवमेव सोमं विप्रा इन्द्रियाणि मतिभिः पृच्छमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्ति। एवमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमानः। इममेवात्मा च सप्त ऋषयश्च सन्नवन्ते। तान्येतस्मिन्नात्मन्येकं भवन्ति। इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १५ ॥

अर्थ—सोम की गोएं (धेनवः) दूध देने वाली, (वावशानाः) कामना करती हुई। सोम को विप्र मतियों से पूछते हुए सोम (सुतः),

निचोड़ा हुआ (पूयते) प्राप्त होता है (अव्यमानः) सेवन किया गया। सोम में (अर्का) स्तुति वाले मन्त्र (त्रिष्टुभ) छन्द वाले (स नवन्त) एक स्थान में झुकते हैं ॥

ये ही सोम को लिए हुए मन वाले रश्मि चाहते हुए आदित्य को जाते हैं। इस ही प्रकार से त्रिधा=रश्मियां मतियों से पृच्छ्यमाना-कामना करते हुए आदित्य को जाते हैं। इस ही प्रकार सोम निचोड़ा हुआ प्राप्त होता है, सेवन किया गया। इस को ही मन्त्र और त्रिष्टुप और तनवन्त करते हैं। वहां वे इस आदित्य में एक रूप होते हैं। यह अधिदैवत [पक्ष है।]

अब अध्यात्म (पक्ष)—ये ही उस को लिए हुए वाणी इन्द्रिया कामना करती हुई आत्मा को जाती हैं। इस प्रकार वे ही सोम को इन्द्रिया मतियों से कामना करती हुई आत्मा को जाती हैं। इस प्रकार ही सोम निचोड़ा हुआ प्राप्त होता है सेवन किया गया। इस को ही आत्मा और सात ऋषि झुकते हैं। वे इस आत्मा में एक रूप होते हैं। यह आत्मगति को कहता है ॥ १५ ॥

भाष्य—निरुक्त शास्त्र के इस अध्याय के बिना इन मन्त्रों के गम्भीर अर्थ ज्ञात नहीं हो सकते ॥ १५ ॥

अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा ।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः ॥
[ऋ० ९ । ९७ । ४० ॥]

अत्यक्रमीत्समुद्र आदित्यः परमे व्यवने वर्षकर्मणा जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा। वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहन्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः। इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्। अत्यक्रमीत्समुद्र आत्मा परमे व्यवने ज्ञानकर्मणा जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा। वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहन्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः। इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १६ ॥

अर्थ—(अक्रान्) पार हुआ (समुद्रः) आदित्य (प्रथमे) परम (विधर्मन्) दो में व्यवन से (जनयन्) उत्पन्न करता हुए (प्रजा)

प्रजाओं को (भुवनस्य) सब भुवनों का (राजा) राजा । (वृषा) वर्षा करने वाला पवित्र चोटी के ऊपर, सोम (वावृधे) बढ़ा (सुवानः) प्रेरता हुआ (इन्दुः) ऐश्वर्य वाला ॥

अत्यक्रमीत्=उलांघ गया=पार हुआ। समुद्रः=आदित्यः=आदित्य परम द्यौ में वर्षकर्म से उत्पन्न करता हुआ प्रजा को, सब का राजा। वृषा... यह अधिदैवत [पक्ष है।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—पार हुआ समुद्रः=आत्मा, परम=महान् व्ययने=आत्मा में ज्ञान कर्म से उत्पन्न करते हुए प्रजा को, सब का राजा। वृषा......यह आत्मगति को कहता है ॥ १६ ॥

महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद् गर्भोऽवृणीत देवान् ।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥
[ऋ० ६ । ६७ । ४१ ॥]

महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद् गर्भोऽवृणीत । देवानामाधिपत्यम् । अदधादिन्द्रे पवमानः ओजः । अजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुरादित्यः । इन्दुरात्मा ॥ १७ ॥

अर्थ—(महत् तत्) महान् उस (सोमः) सोम ने (महिषः) बड़े ने [काम] (चकार) किया, (अपाम्) आपः का (यत्) जो (गर्भः) गर्भ (अवृणीत) वर लिया, स्वीकार किया (देवान्) देवों को। (अदधात्) धारण कराया, रखा (यत्) जो (इन्द्रे) इन्द्र में (पवमानः) पवमान अग्निः वाला (ओजः) बल, (अजनयत्) उत्पन्न किया (सूर्ये) सूर्य में (ज्योतिः) ज्योति को (इन्दु) ऐश्वर्य वाले ने ॥

देवानाम् आधिपत्यम्=देवों के आधिपत्य को । इन्दुः=आदित्य । इन्दुः=आत्मा ॥ १७ ॥

भाष्य—इस मन्त्र के दूसरे चरण से भासता है कि आपः का गर्भ अन्य देव हैं, अथवा स्वयं सोम। इन्द्र में पवमान ओज धारण किया। हम दुर्गाचार्य के प्रमाण से पहले कई बार लिख चुके हैं कि वैद्युत ज्योति जो वायु से आवेष्टित हुई, वह इन्द्र है। इस मन्त्र से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सोम ने इन्द्र में पवमान

अग्नि =अग्नि को रखा। यह इन्द्र के ज म का संकेत है। निस्सन्देह वेद के रहस्य वेद से ही खुलते हैं। इन्दु आदित्य है और आत्मा [भी।] देवाना माधिपत्यम् पद दोनों प्रकरणों में अपना अपना अर्थ देते हैं ॥ १७ ॥

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान ॥

[ऋ० १०।५५।५ ॥]

विधुं विधमनशीलम्। दद्राणं दमनशीलम्। युवानं चन्द्रमसं पलित आदित्यो गिरति। सद्यो म्रियते स दिवा समुदिता। इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्–विधुं विधमनशीलम्। दद्राणं दमनशीलम्। युवानं महान्तं पलित आत्मा गिरति। रात्री म्रियते। रात्रि समुदिता। इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १८ ॥

अर्थ—(विधुम्) कपाने वाले (दद्राणम्) दमनशील (समने) युद्ध में (बहूनाम्) बहुतों के (युवानम् सन्तम्) युवा हुए [चन्द्र को] (पलित) [इन्द्र की अपेक्षा जो] वृद्ध आदित्य [है, वह] (जगार) निगलता है। देव क देखो काव्य को। (महित्वा) महिमा स (अद्य) आज (ममार) मरता है, (स) वह (ह्यः) रात्रि की समाप्ति पर (समान) उदित होता है ॥

विधुम्=कपाने के शील वा न को, दमनशील को, युवा चन्द्र को आदित्य निगलता है। [सायं को] तत्काल मरता है वह दिन को उदित होता है। यह अधिदैवत [पक्ष है।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—कंपाने के शील वा न को, दमनशील को, युवा महान को पलित=आत्मा निगलता है। रात्री में [सोता है, अर्थात्] मर जाता है, रात [के बीतन पर] उदित होता है। यह आत्मगति को कहता है ॥ १८ ॥

भाष्य—आदित्य रश्मियों को कंपाता है। अमावस्या के दिन एक राशि में होने के कारण सूर्य चन्द्र को निगल लेता है। सूर्य का मरना एक रहस्य है। जैसा आज कल समझा जाता है, वह भूमि के दूसरी ओर होना नहीं है। वैदिक ग्रन्थों से यह रहस्य समझ में आएगा। मैं अभी इसे पूरा नहीं समझ सका ॥ १८ ॥

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

[ऋ० १ । १६४ । १५ ॥]

सहजातानां षण्णामृषीणामादित्यः सप्तमः। तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वाद्भिः सह सम्मोदन्ते। यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि तेभ्यः पर आदित्यः। तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति। इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्—सहजातानां षण्णामिन्द्रियाणामात्मा सप्तमः। तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वान्नेन सह सम्मोदन्ते। यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा। तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति। इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १६ ॥

अर्थ—(साकम् जानाम्) साथ उत्पन्न हुए [पदार्थों में से] (सप्तथम्) सातवें को (आहुः) कहते हैं (एकजम्) अकेला जन्मा, (षट् इत्) छः ही (यमाः) एक साथ उत्पन्न (ऋषयः) ऋषि (देवजाः) देव से उत्पन्न, (इति) (तेषाम्) उन के (इष्टानि) चाहे हुए रूप (विहितानि) रखे गए हैं (धामशः) स्थानों के अनुकूल, (स्थात्रे) स्थापित करने वाले के लिए (रेजन्ते) कांपते हैं (विकृतानि) विविध आकृतियों वाले (रूपशः) रूपों से ॥

साथ उत्पन्न हुए छः ऋषियों का आदित्य सातवां [है।] उन के इष्ट अथवा, चाहे हुए अथवा, उल्लंघित अथवा, गए हुए अथवा, माने हुए, अथवा, झुके हुए अथवा अद्भिः सह=आपः के साथ आनन्द मनाते हैं। जहां ये सात ऋषि रूपी=गतिशील ज्योतियां [हैं।] उन से परे आदित्य [है।] वे सब इस में एक रूप होती हैं। यह अधिदैवत [पक्ष है।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—साथ उत्पन्न हुए छः इन्द्रियों का आत्मा सातवां। उन के इष्ट अथवा, झुके हुए अथवा, अन्न के साथ आनन्द मनाते हैं। जहां ये सात ऋषि—गति नीच और ज्ञान कराने वाले इन्द्रिय [हैं।] इन से पर आत्मा [है।] व इस में एकरूप होते हैं। यह आत्मगति को कहता है ॥ १९ ॥

भाष्य—छः ऋषियों का आदित्य पक्ष में सायण ने ऋतु अर्थ किया है। सप्तथम्=इस ऋदिक रूप से अंग्रेजी के सप्तम में seventh रूप हुआ है। ये छः एक साथ जन्मा हैं। उन छः के अपने अपने इष्ट आदि हैं। सूर्य की माया ऋतु के कारण है। उन्हीं साथ में ये ऋषि आनन्द मनाते हैं। कौन यास्क के बिना ऐसा गम्भीर अर्थ करता। भाष्य का कुछ अंश निरुक्त १० । २६ के भाष्य के एक अंश के समान है। सम्भवतः यहां कुछ पाठ भ्रष्ट हुआ है ॥ १९ ॥

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत् ॥
[ऋ० १ । १६४ । १६ ॥]

स्त्रिय एवैताः । ता शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारिण्यः । ता अमुं पुमांसं। निराहार प्राण इति पश्यन्कश्चान्न विजानात्यन्धः । कविर्यः पुत्र स इमा जानाति । य स इमा जानाति स पितुष्पितासत् । इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २० ॥

अर्थ—(स्त्रियः) स्त्री (सती) होते हुए (तान्) उन्हें (उ) ही (मे) मेरे को (पुंसः) पुरुष (आहुः) कहते हैं। (पश्यत्) देखता है (अक्षण्वान्) आंख वाला। (न विचेतत्) नहीं जानता अन्धा। (कविः) जानता है [इस रहस्य को] (यः पुत्रः) जो पुत्र है। (सः) वह (ईम्) इस को (आ चिकेत) सब ओर से जानता है। (यः) जो (ताः) उन को (विजानात्) जानता है (सः) वह (पितुः पिता असत्) पिता का पिता है ॥

स्त्रियां ही। वे [आदित्य रश्मि समूह] शब्द स्पर्श, रूप रस गन्ध को हरने वालियां। उन को पुरुष शब्द से। निराहार [है] प्राण, यह

देखता हुआ, कष्ट से नहीं जानता अन्धा । ज्ञाता जो पुत्र है, वह इन्हें जानता है । जो वह इन्हें जानता है, वह पिता का पिता है । यह आत्मगति को कहता है ॥ २० ॥

भाष्य—ऋग्वेद मण्डल १, सू० १६४ में प्रहेलिकाएं हैं । इन का अर्थ परम्परा से ही ज्ञात हो सकता है । सायण ने आदित्य रश्मिसमूह से इस का अर्थ जोड़ा है । यहां भी भाष्यांश त्रुटित प्रतीत होता है । मनु के पिता भवति मन्त्रदः, का मूल यही मन्त्र है ॥ २० ॥

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥
[ऋ० १ । १६४ । ३६ ॥]

सप्तैतानादित्यरश्मीनयमादित्यो गिरति । मध्यस्थानोर्ध्वशब्दः । यान्यस्मिंस्तिष्ठन्ति तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्ययन्ति । परिभुवः परि भवन्ति सर्वाणि कर्माणि वर्षकर्मणा । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्म्—सप्तेमानीन्द्रियाण्ययमात्मा गिरति । मध्यस्थानोर्ध्वशब्दः । यान्यस्मिंस्तिष्ठन्ति तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्ययन्ति । परिभुवः परिभवन्ति सर्वाणीन्द्रियाणि ज्ञानकर्मणा । इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २१ ॥

अर्थ—(सप्त-) सात [रश्मि] (अर्धगर्भाः) आधे भाग के गर्भ में (भुवनस्य) भुवन के (रेतः) रेतवत् (विष्णोः) व्यापक आदित्य के (तिष्ठन्ति) ठहरते हैं (प्रदिशा) आज्ञा से (विधर्मणि) विविध कर्तव्य में । (ते) वे (धीतिभिः) प्रज्ञाओं से (मनसा) बुद्धि से [और] (ते) वे (विपश्चितः) बुद्धि से (परि भुवः) चारों ओर हुए (परि भवन्ति) सर्वोपरि होते हैं, (विश्वतः) चारों ओर से ॥

सात इन को आदित्य रश्मियों को यह आदित्य निगलता है । मध्यस्थान वाला ऊर्ध्व शब्द । जो इस में ठहरते हैं, वे कर्मों से और मन से और, विपर्ययन्ति=विपर्यय को प्राप्त होते हैं. चारों ओर हुए सर्वोपरि होते हैं सब कर्मों पर वर्षकर्म से । यह अधिदैवत [पक्ष है ।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—सात इन इन्द्रियों को यह आत्मा निगलता है। मध्य स्थान वाला ऊर्ध्व शब्द। जो इस में ठहरते हैं, वे कर्मों से और मन से और विपर्यय को प्राप्त होते हैं। चारों ओर हुए सर्वोपरि होते हैं और सारे इन्द्रिय, ज्ञान कर्म से। यह आत्मगति को कहता है ॥ २१ ॥

भाष्य—मध्यस्थानोर्ध्वशब्द यह पाठ अस्पष्ट है। क्या ऊर्ध्व के स्थान में अध पाठ ठीक होगा। अथवा क्या आदित्य के मध्य स्थान में ऊर्ध्व शब्द होता है। मध्य स्थान से रश्मि विषयक जानना चाहिए ॥ २१ ॥

न वि जा॑नामि॒ यदि॑वे॒दमस्मि॑ नि॒ण्यः संन॑द्धो॒ मन॑सा चरामि।

[ऋ० १ । १६४ । ३७ ॥]

न हि विजानन् बुद्धिमन्. परिवेदयन्ते । अयमादित्यः । अयमात्मा ॥ २२ ॥

अर्थ—नहीं पूर्ण जानता हूं, (यदिव इदम्) जिस रूप के समान यह (अस्मि) मैं हूं। छिपा हुआ=अज्ञानावृत (निण्य) छिपा हुआ (सन्नद्ध) बन्धा हुआ (मनसा) मन से (चरामि) विचरता हूं ॥

नहीं पूर्ण जानता हुआ बुद्धिमान् को जनाते हैं। यह आदित्य। यह आत्मा ॥ २२ ॥

भाष्य—यहां भी पाठ त्रुटित प्रतीत होता है। ॥ २२ ॥

अपा॒ङ् प्राङे॑ति स्व॒धया॑ गृभी॒तोऽम॑र्त्यो॒ मर्त्ये॑ना॒ सयो॑निः।
ता शश्व॑न्ता विषू॒चीना॑ वि॒यन्ता॒ न्य१॒॑न्यं चि॒क्युर्न नि चि॑क्युर॒न्यम्॥

[ऋ० १ । १६४ । ३८ ॥]

अपाञ्चयति प्राञ्चयति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आदित्यो मर्त्येन चन्द्रमसा सह। तौ शश्वद्गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा। पश्यत्यादित्यं न चन्द्रमसम्। इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्—अपाञ्चयति प्राञ्चयति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आत्मा मर्त्येन मनसा सह। तौ शश्वद्गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा। पश्यत्यात्मानं न मनः। इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २३ ॥

अर्थ—(अपाङ्) नीचे (प्राङ्) ऊपर (एति) जाता है (स्वधया) स्वधा रूप दैवी अन्न से (गृभीतः) पकड़ा हुआ । (अमर्त्यः) अमरणधर्मा आदित्य (मर्त्येन) चन्द्र के साथ (सयोनिः) समान स्थान=समान राशि वाला । (ता) वे दोनों (शश्वन्तौ) सदा वर्तमान (विषूचीना) सर्वत्र जाने वाले (वियन्ता) विविध चलने वाले । (निचिक्युः) देखता है (अन्यम्) दूसरे को, नहीं (निचिक्युः) देखता (अन्यम्) दूसरे को ॥

नीचे जाता है, ऊपर जाता है, स्वधा से पकड़ा हुआ, अमर्त्य=आदित्य मर्त्येन=चन्द्रमा के साथ । वे दोनों गतिशील, सर्वत्र गतिशील, वहु गतिशील अथवा देखता है=आदित्य को, नहीं चन्द्रमा को । यह अधिदैवत [पक्ष है ।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—नीचे जाता है, ऊपर जाता है, स्वधा से पकड़ा हुआ अमर्त्य=आत्मा, मर्त्य=मन के साथ । वे दोनों सदा गतिशील सर्वत्र गतिशील, वहु गति शील अथवा । देखता है आत्मा को नहीं मन को । यह आत्मगति को कहता है ॥ २३ ॥

भाष्य—आत्मा नित्य है, मन नहीं । यह वैदिक सिद्धान्त है ॥ २३ ॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥
[ऋ० १० । १२० । १ ॥]

तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमादित्यं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेशनृम्णो दीप्तिनृम्णः । सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनिति । रिणातिः प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा । अनुमदन्ति यं विश्व ऊमाः । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमव्यक्तं यतो जायत उग्रस्त्वेषनृम्णो ज्ञाननृम्णः । सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनिति । रिणाति प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा । अनुमदन्ति यं सर्वे ऊमाः । इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २४ ॥

अर्थ—(तत् इत् आस) वही ही है (भुवनेषु) सम्पूर्ण भूतजातों में (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ=बड़ा (यतः) जहां से (जज्ञे) जन्मा (उग्रः) प्रचण्ड

(स्वन वृधा) दीप्ति बल वाला । (सद्य) तत्काल (जज्ञान) उत्पन्न होते ही नि रिणाति) दीप्ति में [नष्ट] करता है (शत्रून्) शत्रुओं को (अनु यम्) उत्पत्ति के पश्चात् जिस को [देख कर] (विश्वे) सारे (मदन्ति) प्रसन्न होते हैं (ऊमा) प्राणी ॥

वह होता है भूतों में बड़ा आदित्य । जहां से जन्मा उग्र [और] दीप्ति में बल वाला । रिणाति, प्रीति अर्थ वाला दीप्ति अर्थ वाला अथवा । पश्चात् प्रसन्न होते यम्=जिस के [उदय के] सारे प्राणी । यह अधिदैवत [पक्ष है ।]

अब अध्यात्म [पक्ष] ज्येष्ठम्=अव्यक्त-महान आत्मा । जहां से जन्मता है उग्र ज्ञान बल वाला । जन्मने ही नष्ट करता है शत्रुओं को । रिणाति, प्रीति अर्थ वाला दीप्ति अर्थ वाला अथवा । । यह आत्मगति को कहता है ॥ २४ ॥

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।
आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात् ॥

[ऋ० १ । ८४ । १६ ॥]

क आदित्यो धुरि गा युङ्क्ते रश्मीन्कर्मवतो भानुमतो दुराधर्षान् । असुत्य सुखवन्तीषूनिषुमन्ति मयोभूनि सुखभूनि । य इमं सम्भृतं वद कथं स जीवति । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—क आत्मा धुरि गा युङ्क्ते । इन्द्रियाणि कर्मवतो भानुमतो दुराधर्षानसुत्यसुखवन्तीषूनिषुमन्ति मयोभूनि सुखभूनि । य इमं सम्भृतं वद चिरं जीवति । इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २५ ॥

अर्थ—(क) कौन [पुण्यवान्] आदित्य (अद्य) आज (युङ्क्ते) जोड़ता है (धुरि) धुर [के घूमने के कर्म] में (गा) रश्मियों को । [ये रश्मि जो] (ऋतस्य) सूर्य के (शिमीवत) कर्मवान के । शिमी यह कर्म नाम । (भामिन) [शत्रुओं पर दुःसह्य के (दुर्हृणायून्) पाप रूप क्रोध वाला के [हैं] (आसन् इषून्) आस्य-मुख में इषुओं वाले (हृत्स्वस) हृदयों पर इषु फेंकने वाले (मयोभून्) सुख की भावना करने

वाले [ये रश्मि]। (यः) जो इन की (भृत्याम्) [रश्मि रूप अश्वों की] ऋजीष और धाना लक्षणा भृति को (ऋणधत्) समृद्धि करता है, (सः) वह (जीवात्) सुन्दर जिए, अथवा जीता है। वही पुण्यकर्मा है।

कौन आदित्य धुर में गाः रश्मीन्=गौ नामक रश्मि रूप अश्वों को युंक्ते=जोड़ता है। कर्मवान् के भानुमान् के [आदित्य के] दुराधर्षों को। असून्यसुनवन्तीपून् इपुणवन्ति आस्य में इपुओं वाले, सुख की भावना वाले। जो इस पालन को जानता है, कैसे वह जीता है। यह अधिदैवत-[पक्ष है।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—कौन आत्मा धुर में गाः=इन्द्रियों को जोड़ता है। कर्मवान् के भानुमान् के [आत्मा के] दुराधर्षों को······सुख की भावना वाले। जो इस पालन [कर्म] को जानता है, चिर तक जीता है। यह आत्मगति को कहता है ॥ २५ ॥

भाष्य—मन्त्र का पूरा भाव अस्पष्ट है। भाष्यकार आदित्य के साथ तथा रश्मि के साथ भी सारा अर्थ जोड़ते हैं। स्कन्दस्वामी ने ऋग्भाष्य में इस मन्त्र में इन्द्र का सम्बन्ध भी जोड़ा है। अति प्राचीन काल से निरुक्त के वृत्तिकार परिशिष्ट के इस अंश पर ध्यान नहीं देते थे, अथवा इस की उपेक्षा करते थे। फलतः इस अंश के कई पाठ संदिग्ध हो गए हैं ॥ २५ ॥

क ईषते तुज्यते को बिभाय को मंसते सन्तमिन्द्रं को अन्ति।
कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधि ब्रवत्तन्वे३ को जनाय ॥

[ऋ० १ । ८४ । १७ ॥]

क एव गच्छति। को ददाति। को बिभेति। को मंसते सन्तमिन्द्रम्। कस्तोकायापत्याय महते च नो रणाय रमणीयाय दर्शनीयाय ॥ २६ ॥

अर्थ—कौन (ईषते) भागता है, (तुज्यते) देता है [स्कन्द ऋग्भाष्य—हिंसा किया जाता है] (कः) कौन (बिभाय) डरता है (कः) कौन (मंसते) मानता है। (सन्तम्) होते हुए (इन्द्रम्) इन्द्र को (कः) कौन (अन्ति) पास में [जान कर भी]। (कः) कौन

(तोकाय) अपत्य के लिए (क') कौन (इभाय) हाथी के लिए (राये) धन के लिए (अधि-ब्रवत्) [कौन] कहे (तन्वे) [रोग रहित] शरीर के लिए, (क) कौन (जनाय) [अपने परिचारक] जन के लिए। [इन्द्र =ईश्वर कर्म फल के रूप मे स्वयं सब देता है ॥

कौन ही जाता है। कौन देता है। कौन डरता है। कौन मानता है होते हुए इन्द्र को [जान कर]। कौन अपत्य के लिए महान् और हमारे दर्शनीय के लिए ॥ २६ ॥

भाष्य—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन्द्र पद से सेनापति का अभिप्राय ग्रहण किया है। परिशिष्ट के इस स्थान का संकेत दुर्ग ने अपनी वृत्ति ३। २१ और १०। २३ पर किया है। निस्सन्देह दुर्ग को परिशिष्टों का ज्ञान था। अर्थात्—आज से लगभग १४००—१६०० वर्ष पहले अथवा इससे भी पहले परिशिष्ट निरुक्त का अङ्ग थे। ईसाई यहूदी गुट ने इन की प्रामाणिकता में वृथा सन्देह उत्पन्न किया था। महान् आत्मा, ईश्वर और महत् तत्व परक पदार्थ की प्रक्रिया अति प्राचीन है ॥ २६ ॥

को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः।
कस्मै देवा आवहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः ॥
[ऋ० १। ८४। १८ ॥]

क आदित्य पूरयति [=पाठान्तर-पूजयति] हविषा च घृतेन च। स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवैभिरिति। कस्मै देवा आवहानाशु होमार्थान्। को मसते वीतिहोत्र सुदेव कल्याणदेव । इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्। क आत्मानं पूरयति हविषा च घृतेन च। स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवैभिरिति। कस्मै देवा आवहानाशुहोमार्थान्। को मसते वीतिहोत्र सुप्रज्ञः कल्याणप्रज्ञः। इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २७ ॥

अर्थ—कौन (अग्निम्) प्रकाशक आदित्य को (ईट्टे) पूजता है, हविष और घृत से और। (स्रुचा) स्रुक् से [कौन] (यजाते) [उस का]

यजन करता है (ऋतुभिः-ध्रुवेभिः) [सप्तमी के अर्थ में तृतीया] नियत ऋतुओं में । (कस्मै) किस के लिए (देवाः) देव सारे (आवहान्) प्राप्त कराते हैं (आशु) शीघ्र (होम) होम पदार्थों को । (कः) कौन (मंसते) जानता है (वीतिहोत्रः) वीतिहोत्र [ऋग्भाष्य, स्कन्द—कान्तिहोत्रः, सायण-प्राप्तयज्ञः] (सुदेवः) कल्याण देव वाला [स्तोता ।]

कौन आदित्य को पूर्ण करना । [अथवा पूजता] है, हवि से और घृत से और । स्रुक् से यजन करे ऋतुओं से नियत से [=नियत ऋतुओं में ।] किस के लिए सारे देव प्राप्त कराते हैं शीघ्र होम के पदार्थों को । कौन जानता है कान्तिहोत्र कल्याणदेव । यह अधिदैवत [पक्ष है ।]

अब अध्यात्म [पक्ष]—कौन आत्मा को पूजता है, हवि से और घृत से और । स्रुक् से यजन करे नियत ऋतुओं में । किस आत्मा के लिए सारे इन्द्रिय गण=देव प्राप्त कराते हैं शीघ्र होम के पदार्थों को । कौन जानता है सुप्रज्ञ [और] कल्याण-प्रज्ञ । यह आत्मगति को कहता है ॥ २७ ॥

भाष्य—यास्क के अनुसार १४ वें परिशिष्ट में महानात्मा का अधिकार चल रहा है । वह है आदित्य और आत्मा ॥ २७ ॥

त्वम॒ङ्ग प्र शं॑सिषो दे॒वः श॑विष्ठ॒ मर्त्य॑म् ॥
न त्वद॒न्यो म॑घवन्नस्ति मर्डि॒तेन्द्र॒ ब्रवी॑मि ते॒ वचः॑ ॥
[ऋ० १ । ८४ । १९ ॥]

त्वमङ्ग प्रशंसीर्देवः शविष्ठ मर्त्यम् । न त्वदन्योऽस्ति मघवन् पाता वा पालयिता वा जेता वा सुखयिता वा । इन्द्र ब्रवीमि ते वचः स्तुतियुक्तम् ॥ २८ ॥

अर्थ—(त्वम्) तू हे (अङ्ग) मित्र [इन्द्र=आदित्य वा आत्मन्] (प्र शंसिषः) प्रशंसा करते हो (देवः) देवता हो कर (शविष्ठ) हे बलवत्तम, (मर्त्यम्) मरणधर्मा को । नहीं तुझ से अन्य हे मघवन् (अस्ति) है (मर्डिता) सुख देने वाला (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् । (ब्रवीमि) कहता हूं (ते) तेरे प्रति (वचः) [प्रार्थना की] वाक् को ॥

(तोकाय) अपत्य के लिए (कः) कौन (इभाय) हाथी के लिए (राये) धन के लिए (अधि-ब्रवत्) [कौन] यह (तन्वे) [रोग रहित] शरीर के लिए, (कः) कौन (जनाय) [अपने परिचारक] जन के लिए । [इन्द्र =ईश्वर कर्म फल के रूप में स्वयं भर देता है ॥

कौन हो जाता है । कौन देता है । कौन डरता है । कौन मानता है होते हुए इन्द्र को [जान कर] । कौन अपत्य के लिए, महान् और हमारे दानीय के लिए ॥ २६ ॥

भाष्य—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन्द्र पद से सेनापति का अभिप्राय ग्रहण किया है । परिशिष्ट के इस स्थान का संकेत दुर्ग ने अपनी वृत्ति ३ । २१ और १० । २२ पर किया है । निस्सन्देह दुर्ग को परिशिष्टों का ज्ञान था । अर्थात्—आज से लगभग १२००—१६०० वर्ष पहले अथवा इससे भी पहले परिशिष्ट निरुक्त का अङ्ग थे । ईसाई यहूदी गुट ने इन की प्रामाणिकता में वृथा सन्देह उत्पन्न किया था । महान् आत्मा, ईश्वर और महत् तत्त्व परक वेदार्थ की प्रक्रिया अति प्राचीन है ॥ २६ ॥

को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः ।
कस्मै देवा आवहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः ॥
[ऋ० १ । ८४ । १८ ॥]

क आदित्यं पूरयति [=पाठान्तर-पूजयति] हविषा च घृतेन च । स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवैरिति । कस्मै देवा आवहानाशु होमार्थान् । को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः कल्याणदेवः । इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम् । क आत्मानं पूरयति हविषा च घृतेन च । स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवैरिति । कस्मै देवा आवहानाशुहोमार्थान् । को मंसते वीतिहोत्रः सुप्रज्ञः कल्याणप्रज्ञः । इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २७ ॥

अर्थ—कौन (अग्निम्) प्रकाशक आदित्य को (ईट्टे) पूजता है हवि से और घृत से और । (स्रुचा) स्रुक् से [कौन] (यजाते) [उस का]

होने वाला, (ऋतजाः) ऋत में प्रकट होने वाला (अद्रिजाः) अद्रि में जन्मा (ऋतम्) ऋत रूप।

हंसाः सूर्यरश्मि हैं। परमात्मा परं ज्योति=शुचि है। पृथिवी को व्याप्त करने वाला। व्याप्त किया है सब कुछ, व्याप्त किया वनन कर्म से, अनभ्यास से आदित्य मण्डल ने। त्ययति=[पाठान्तर त्यजति] लोक उसके नीचे। हंसयन्=हंसन करता हुआ त्यागता है। हंस परम हंस, [परमात्मा] सूर्य-रश्मियों से बहुत गम्भीर बसता है। तीन से बसता है अथवा। रश्मियों से बसता है अथवा। वह्नि बसता है अथवा। सुवर्ण रेत वाला पूषा और गर्भ। रिभेति–अगला सम्पूर्ण पाठ अस्पष्ट है अतः व्याख्या नहीं की ॥ २६ ॥

भाष्य—हंस पद योगी, परमात्मा और आदित्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। आदित्य अब्ज है। इस का जन्म आपः में है। अब भी इस की सारी क्रिया आपः में है। परमात्मा में भी सारा अर्थ घटता है। आदित्य अर्थ में शुचि अग्निः, आदित्यस्थ अग्निः है।

निरुक्त के दोनों पाठों में यह पाठ अति भेद से मिलता है। दोनों की गम्भीर तुलना आवश्यक है। इस के लिए अत्यधिक परिश्रम अपेक्षित है। तब दोनों पाठों का शोधन भी हो सकेगा और भाव भी समझ आएगा ॥ २६ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥
[ऋ० १ । १६४ । २० ॥]

द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्त्तारौ। दुष्कृतं पापं परिसारक-मित्याचक्षते। सुपर्णा सरूपतां सखायेत्यात्मानं [दुरात्मानं] परमात्मानं प्रत्युत्तिष्ठति। शरीर एव तज्जायते वृक्षम् वृक्षं शरीरम्। वृक्षे पक्षी प्रतिष्ठापयति। तयोरन्यद् भुक्त वान्नमनश्नन्नन्यां सरूपतां सलोक-तामश्नुते। य एवं वेद। अन्नमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति। इत्यात्मगति-माचष्टे ॥ २० ॥

अर्थ—(द्वा) दो (सुपर्णा) पक्षी (सयुजा) सदा साथ रहने वाले (सखाया) सखा रूप [हैं।] (समानम्) [दोनों एक] समान (वृक्षम्) वृक्ष को (परि षस्वजाते) आलिङ्गन करते हैं। (तयोः) उन

तू हे अग्नि प्रकाश करता है, देव हो कर हे बलवत्तम, मर्त्य को। नहीं तेरे से अन्य [कोई] है हे ऐश्वर्यवन् रक्षक अथवा पालक । जीवन वाला अथवा, सुख देने वाला अथवा । हे ऐश्वर्यवन् कहता हूं, तेरे लिए स्तुति युक्त वाक् को ॥ २८ ॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् ॥

[ऋ० ४ । ४० । ५ ॥ [वे० ब्रा० ४ । ३ । ५ ॥]

हंस इति । हंसा सूर्यरश्मयः । परमात्मा परं ज्योतिः । पृथिवी व्याप्तेति । व्याप्तं सर्वं व्याप्तं गमनकर्मणामभ्यासेनादित्यमण्डलमेति । स्वपतीति लोकः । स्वपतीति हंसः । स्वयन्त्वपतीति । हंसा । [परम हंसा] [परमात्मा] सूर्यरश्मिभिः प्रभूतगभीरवसतीति । त्रिभिर्वसतीति वा । रश्मिभिर्वसतीति वा । वह्निर्वसतीति वा । सुवर्णरेता पूषा गर्भा । रिभेति रिभन्ता धनकुटिलानि कुटन्ता रिभन्तान्तरिक्षा चरति । अथान्तरिक्षा चरतीति दिवि । तुरि गमने वा । सुभानु सुप्रभूतो ह्यादित्यस्य गता भवन्ति । अतिथिर्दुरोणसत् । सर्वे दुरोणसद् इव सर्वे रसा विकर्षयति । रश्मिभिर्विकर्षयति । वह्निर्विकर्षयति । यनन भवति । अब्जगोजा अद्रिगोजा धरश्चिगोजा सर्वे गम्या ऋतजा ऋतुयन्त्रा भवन्ति । निगमो निगमन्यति । भवत्यपि निर्वचनाय ॥ २९ ॥

अर्थ—(हंस) हंस=परमात्मा अथवा आदित्य, (शुचिषद्) परं ज्योति में अथवा शुचि अग्नि के स्थान वाला, (वसु) वसुरूप (अन्तरिक्षसद्) अन्तरिक्ष स्थान वाला, (होता) होता रूप, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का होता (वेदिषद्) वेदि स्थान वाला, (अतिथि) पूजा योग्य सोम (दुरोणसद्) सोम पात्र अथवा ब्रह्माण्ड में स्थान वाला=व्यापक । (नृसद्) मनुष्यों में रहने वाला अन्तर्यामी (वरसद्) श्रेष्ठों में रहने वाला, (ऋतसद्) ऋत में रहने वाला, (व्योमसद्) व्योम स्थान वाला, (अब्जा) जलों में प्रकट होने वाला (गोजा) रश्मियों में प्रकट

इन्द्र सेवो। तृप्ता को इस प्रकार मामा के योग वाली कन्या के भाग को, सर्तृका (?) के समान वह। दो देवता हैं, वे। उस स्थान में शक्र का उदाहरण ॥ ३१ ॥

भाष्य—यद्यपि पूर्ववत् यहां भी भाष्य दुरूह है, पर इतना अनुमान होता है कि इन्द्र यहां आदित्य है। आदित्य के पथ संभवतः तीन है। उन तीनों मार्गों से देवता आकर यज्ञ के स्वांश को ग्रहण करते हैं॥ ३१ ॥

विप्रं विप्रा॒सोऽव॑से दे॒वं मर्तास ऊ॒तये॑ ।

अ॒ग्निं गी॒र्भिर्ह॑वामहे ॥ [ऋ० ८ । ११ । ६ ॥]

विप्रं विप्रासोऽवसे विदुः। वेद विन्दतेर्वेदितव्यम्। विमलशरीरेण वायुना। विप्रस्तु हृत्पद्मनिलयस्थितम्। अकारसंहितमुकारं पूरयेन्मकारनिलयं गतम्। विप्रं प्राणेषु विन्दुसिक्तं विकसितं वह्नितेजः प्रभं कनकपद्मेष्वमृतशरीरम्। अमृतजातस्थितम्। अमृतवाचम्। अमृतमुखे वदन्ति। अग्निं गीर्भिर्हवामहे। अग्निं सम्बोधयेत्।

अग्निः सर्वादेवताः। (ऐ० ब्रा० ६। ३ ॥ श० १। २। ६। २० ॥)

इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ३२ ॥

अर्थ—(विप्रम्) मेधावी को (विप्रासः) मेधावी (अवसे) रक्षा के लिए (देवम्) देव को (ऊतये) साहाय्य के लिए। (अग्निम्) अग्नि को (गीर्भिः) स्तुतियों से (हवामहे) बुलाते हैं ॥

अवसे विदुः। जानते है, विदन्ति से, जानना चाहिए। विमल शरीर =मल-रहित शरीर से वायु [द्वारा।] विप्रः=मेधावी हृत्पद्म=हृत्कमल के निलय में ठहरे अकार से मिले हुए उकार को पूरित करे, [जब अकार, उकार] मकार के निलय को प्राप्त होते । [ओम्कार को] मेधावी को प्राणों में विन्दु से सींचे गए को। विकसित वह्नितेज को, ज्योति को सुवर्ण कमलों में अमृत शरीर को। अमृत जात में स्थित को। अमृत वाक् से। अमृत मुख में कहते हैं। अग्निः को सम्बोधन करे, बुलावे। अग्नि है सब देवता है। उस की अगली [ऋक्] अधिक निर्वचन के लिए ॥ ३२ ॥

दोनो मे से (अन्यः) एक (पिप्पलम्) फल को (स्वादु) स्वादु को (अत्ति) खाता है, (अनश्नन्) न खाता हुआ (अन्यः) दूसरा (अभिचाकशीति) देखता है ॥

दो ठहरे हुए शुभ रूप धर्म के करने वाले । दुष्कृत [कर्म अथवा] पाप को परिमारक यह कहते हैं । पक्षी, साथी, सखा, आत्मा को दुरात्मा= लघु आत्मा को, परमात्मा के प्रति ऊपर ठहरना है । शरीर हो वह जन्मता है वृक्ष । वृक्ष शरीर [है ।] वृक्ष पर पक्षो को स्थापित करता है । उन में से एक खा कर अन्न को, न खाते हुए दूसरी सरूपता को सलोकता को प्राप्त करते हैं, जो ऐसा जानता है । अन्न को न खाता हुआ दूसरा देखता है । यह आत्मगति को कहता है ॥ ३० ॥

भाष्य—भाष्य पाठ अस्पष्ट है ॥ ३० ॥

आ याहीन्द्र पथिभिरीळितेभिर्यज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व ।
तृप्तां जुहुर्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव ॥
[ऋ० खिल ७ । ५५ । ८ ॥]

आगमिष्यन्निति शक्रो देवता । त्रिभिस्तीर्थैभिः शक्रप्रतरैरीळितैभिस्त्रिभिस्तीर्थैः । यज्ञमिमं नो यज्ञभागम् । अग्नीषोमभागाविन्द्रो जुषस्व । तृप्तामेव मातुलयोगकन्याभाग सतं केव सा । या देवतास्ताः । तत्स्थाने शक्र निदर्शनम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—(आयाहि) आओ (इन्द्र) हे इन्द्र (पथिभिः) मार्गों से (ईळितभि,) स्तुति योग्या से । (यज्ञम् इमम् नः) इस यज्ञ को हमारे (भागधेयम्) भागधेय=अंश को (जुषस्व) सेवो । (तृप्ताम्) तृप्त को (जुहुः) होमो, (मातुलस्य इव योषा) मामा की जैसे (योषा) कन्या (भागः त) भाग तेरा (पैतृष्वसेयी) पितृस्वसा=बुआ, उस की कन्या (वपाम् इव) वपा=चर्बी के समान ॥

आएगे शक्र [और अन्य] देवता । वे त्रिभि=तीन तीर्थैभिः तीर्थों के साथ शक्र-प्रतरैः=शक्र के मार्गों से ईळितभि=स्तुति योग्यों से । तीन तीर्थों से । इस यज्ञ को हमारे यज्ञ भाग को । अग्नि—सोम भाग वाला ।

कोई कर्णधार, नौका से जैसे सिन्धु से—बहती हुई नदी को, जल के कारण दुर्गा=कठिनता से पार जाने देने वाली को, महा किनारों वाली को पार करा देता है। अग्निः उन सब चराचर से पार करा देता है ॥ ३३ ॥

भाष्य—आदित्य से पार हो कर अपर लोकों को जीव जाता है। परब्रह्म की कृपा से इस भवसिन्धु को तरता है ॥ ३३ ॥

इदं तेऽन्याभिरसमानमद्भिर्याः काश्च सिन्धुं प्रवहन्ति नद्यः ।
सर्पो जीर्णामिव त्वचं जहाति पापं सशिरस्कोऽभ्युपेत्य ॥

इदं तेऽन्याभिरसमानाभिर्या काश्च सिन्धुं पतिं कृत्वा नद्यो वहन्ति। सर्पो जीर्णामिव सर्पस्त्वचं त्यजति पापं त्यजन्ति। आप आप्नोतेः। तासामेषा भवति ॥ ३४ ॥

अर्थ—(इदम्) यह (ते) तेरी (अन्याभिः) दूसरियों के साथ (असमानम् अद्भिः) अन्य प्रकार की [नदियों के साथ] (याः काः च) जो कोई भी (सिन्धुम्) समुद्र को (प्रवहन्ति) बहती हुई जाती हैं, (नद्यः) नदियां। सर्प जीर्ण हुई को जैसे त्वचा को त्यागता है, पाप को [त्यागती हैं।] (सशिरस्कः) शिर के साथ से [सर्प] (अभ्युपेत्य) प्राप्त हो कर ॥

सिन्धु को पति करके नदियां [उस की ओर] बहती हैं। नदियां पाप को त्यागती हैं। आपः आप्नोति से। उन [नदियों की यह होती है ॥३४॥

भाष्य—इस खण्ड का पाठ लघु पाठ में नहीं है। आदित्य और ब्रह्म परक भाव लगाना चाहिए। इस ऋक् का मूल स्थान अज्ञात है ॥ ३४ ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥
[ऋ० ७ । ५९ । १२ ॥]

त्र्यम्बको रुद्रः। तं त्र्यम्बकं यजामहे [सुगन्धिम्] सुगन्धि सुष्ठुगन्धिम्। पुष्टिवर्धनं पुष्टिकारकमिव। उर्वारुकमिव [फलं] बन्धनादा-

भाष्य—भाव दुरूह है। पर आदित्य अग्नि, प्राण ओमकार की महिमा गाई गई है। हत्कमल में ओमकार के उच्चारण होने का सङ्केत है ॥ ३२ ॥

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥

[ऋ० १। ९९। १ ॥

जातवेदस इति । जातमिदं सर्वं सचराचरं स्थित्युत्पत्तिप्रलयन्यायेन सुनवाम सोममिति । प्रसवायाभिषवाय सोमं राजानममृतम् । अरातीयतो यज्ञायमिति इम निश्चयेन दहाति दहति भस्मीकरोति । सोमो ददवित्यर्थः । स नः पर्षदति दुर्गाणि दुर्गमनानि स्थानानि नावा सिन्धुम् । यथा कश्चित्कर्णधारो नावा सिन्धो स्यन्दमानाना नदीं जलदुर्गां महाकूला तारयति । दुरितात्यग्निरिति अग्नि तारयति । तस्यैषापरा भवति ॥ ३३ ।

अर्थ—(जातवेदसे) जातवेदम् अग्नि के लिए, आदित्य के लिए [परमार्थ म ब्रह्म के लिए] (सुनवाम) निचोडते हैं (सोमम्) सोम को [परमार्थ म हृदय के सम्पूर्ण सार को] (अरातीयत) [स्कन्द भाष्य के अनुसार] हवियो के दान के अभिप्राय से, (नि दहाति) सर्वथा दहन करता है (वेद) [पापी का] धन वा ज्ञान। (स) वह (न) हमे (पर्षदति) पार करे (दुर्गाणि) दुर्गम स्थानो से (विश्वा) सब से, (नावा इव) जिस प्रकार नौका (सिन्धुम्) समुद्र वा महानद को (दुरिताति) पार करा देती है, (अग्नि) वैसे आदित्य वा पर ब्रह्म [पार कराता है इस मर्त्य लोक से] ॥

जातम् इदम्—सारे चराचर को, स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय के न्याय से। निचोडते हैं सोम को। उत्पत्ति के लिए, निचोडे जाने के लिए सोम राजा को, अमृत को। अरातीयत =यज्ञ म न्ते न लिए। [निदहाति=] निश्चय से जलाता है, भस्म करता है। सोम को देते हुए [यह वहा] यह अर्थ है। वह हम तारता है, दुर्गम स्थानो से। नौका जैसे सिन्धु को। जैसे

कोई कर्णधार, नौका से जैसे सिन्धु से—बहती हुई नदी को, जल के कारण दुर्गा=कठिनता से पार जाने देने वाली को, महा किनारों वाली को पार करा देता है । अग्निः उन सब चराचर से पार करा देता है ॥ ३३ ॥

भाष्य—आदित्य से पार हो कर अमर लोकों को जीव जाता है । परब्रह्म की कृपा से इस भवसिन्धु को तरता है ॥ ३३ ॥

इदं तेऽन्याभिरसमानमद्भिर्याः काश्च सिन्धुं प्रवहन्ति नद्यः ।
सर्पो जीर्णामिव त्वचं जहाति पापं सशिरस्कोऽभ्युपेत्य ॥

इदं तेऽन्याभिरसमानाभिर्याः काश्च सिन्धुं पतिं कृत्वा नद्यो वहन्ति । सर्पो जीर्णामिव सर्पस्त्वचं त्यजति पापं त्यजन्ति । आप आप्नोतेः । तासामेषा भवति ॥ ३४ ॥

अर्थ—(इदम्) यह (ते) तेरी (अन्याभिः) दूसरियों के साथ (असमानम् अद्भिः) अन्य प्रकार की [नदियों के साथ] (याः काः च) जो कोई भी (सिन्धुम्) समुद्र को (प्रवहन्ति) वहती हुई जाती हैं, (नद्यः) नदियां । सर्प जीर्ण हुई को जैसे त्वचा को त्यागता है, पाप को [त्यागती हैं ।] (सशिरस्कः) शिर के साथ से [सर्प] (अभ्युपेत्य) प्राप्त हो कर ॥

सिन्धु को पति करके नदियां [उस की ओर] बहती हैं । नदियां पाप को त्यागती हैं । आपः आप्नोति से । उन [नदियों की यह होती है ॥३४॥

भाष्य—इस खण्ड का पाठ लघु पाठ में नहीं है । आदित्य और ब्रह्म परक भाव लगाना चाहिए । इस ऋक् का मूल स्थान अज्ञात है ॥ ३४ ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

[ऋ० ७ । ५९ । १२ ॥]

त्र्यम्बको रुद्रः । तं त्र्यम्बकं यजामहे [सुगन्धिम्] सुगन्धिं सुष्ठुगन्धिम् । पुष्टिवर्धनं पुष्टिकारकमिव । उर्वारुकमिव [फलं] बन्धनादा-

रोधनात् । मृत्योः सकाशा-मुञ्चस्व मा कस्मादिति । एषाऽपरा भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ—(त्र्यम्बकम्) रुद्र=अग्नि (=वा ब्रह्म) का (यजामहे) यजन करते हैं जो (सुगन्धिम्) सुन्दर गन्ध, जीवन गन्ध वाले को [और] (पुष्टिवर्धनम्) पुष्टि वर्धक को। (उर्वारुकम् इव) खरबूजा का फल[1] जैसे (बन्धनात्) [पक कर] बन्धन से [गिरता है], [वैसे] (मृत्योः) मृत्यु से (मुक्षीय) छुड़ावे [रुद्र] मा (मा-अमृतात्) नहीं अमृत से ॥

त्र्यम्बक रुद्र है। उस रुद्र का यजन करते हैं। सुन्दर गन्ध वाले का, पुष्टि कारक का। खरबूजा के फल[1] बन्धन से जैसे [सरलता से] पृथक् होता है, [वैसे] मृत्यु के पास से छुड़ावे [रुद्र।] मुझे क्यों। [मोक्ष के लिए।] यह दूसरी [ऋक्] होती है ॥ ३५ ॥

भाष्य—इस के आगे आत्मवेदस इति ३६ खण्ड का पाठ अधिक युक्त है। स्वरूप के संस्करण में यही पाठ है ॥ ३५ ॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।

शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥

[ऋ० १० । १६१ । ४ ॥]

शतं जीव शरदो वर्धमान । इत्यपि निगमो भवति । शतमिति शतं दीर्घमायुः । मरुत एना वर्धयन्ति । शतमनमेव शतात्मानं भवति । शतमनन्तं भवति । शतमैश्वर्यं भवति । शतमिति शतं दीर्घमायुः ॥३६॥

अर्थ—(शतम्) सौ (जीव) जियो (शरदः) शरद ऋतुएं (वर्धमान) बढ़े हुए। (शतम्) सौ (हेमन्तान्) हेमन्त ऋतुएं (शतम् उ) सौ और (वसन्तान्) वसन्त ऋतुएं। (शतम्) सौ इन्द्राग्नी सविता, बृहस्पति। सौ [वर्ष के] (आयुषा) आयु से (हविषा) हवि से (इमम्) इस को (पुनर्दुः)=फिर ॥

---

१. 'उर्वारुक' का अर्थ फूट ककड़ी' भी है। वह पकने पर स्वतः बेल से पृथक् हो जाती है।

शतम्`````` । यह भी निगम होता है । सौ यह । सौ दीर्घ आयु [है ।] मरुतः इसे बढ़ाते हे । सौ इस को ही । सौ वाला होता है । शत अनन्त होता है । शत ऐश्वर्य होता हे । शत दीर्घ आयु [हे] ॥ ३६ ॥

भाष्य—इस मन्त्र का मूल स्थान अज्ञात है । वेद में दीर्घ आयु के साथ शरद ऋतु का अत्यधिक सम्बन्ध है । यहां भी शरद, हेमन्त और वसन्त से सम्बन्ध कहा है । ग्रीष्म से दीर्घ आयु का सम्बन्ध नहीं । ग्रीष्म में पुरुष मुरझाता है । फल आदि भी हिम प्रभाव द्वारा अधिक देर तक ठीक रहते हैं । भाष्य में मरुतों का सम्बन्ध कहां से जोड़ा गया, यह चिन्त्य है ॥ ३६ ॥

मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान्कदा चना दभन् ।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥
[ऋ० १ । ८४ । २० ॥]

मा च ते धनानि । मा च ते कदाचन सरिपुः । सर्वाणि प्रज्ञानान्युपमानाय । मनुष्यहितः अयमादित्योऽयमात्मा । अथैतदनुप्रवदन्ति । अथैत महान्तमात्मानमेषर्ग्गणः प्रवदति वैश्वकर्मणे ।

देवानां नु वयं जाना ॥ [ऋ० १० । ७२ । १ ॥]
नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् ॥ [ऋ० १० । १२९ । १ ॥] इति च ।

सैषाऽऽत्मजिज्ञासा । सैषा सर्वभूतजिज्ञासा । ब्रह्मणः सारिष्टं सरूपतां सलोकतां गमयति य एवं वेद ।

नमो ब्रह्मणे । नमो महते भूताय । नमो यास्काय । ब्रह्म शुक्लमसीय ब्रह्मशुक्लमसीय ॥ ३७ ॥

इति परिशिष्टम् ।

अर्थ—(मा ते) मत तेरे (राधांसि) धन (मा ते) मत तेरे (ऊतयः) जाने के मार्ग (वसो) हे आदित्य अथवा आत्मन् (अस्मान्) हमे (कदाचन) कभी भी (दभन्) धोखा दें, वा हानि पहुँचाएं । (विश्वा च) और सारे (नः) हमे [प्रज्ञान] (आ उपमिमीहि) सब ओर से उपमानार्थ समीप करो । (मानुष) हे मनुष्य के हितकारक आदित्य, (वसूनि) [सारे] धन (चर्षणिभ्यः) मनुष्यों के लिए [दो] ॥

मत और तेरे धन। मत और तेरे कभी भी स्वरिपुः=सन्दिग्ध पाठ। सारे प्रज्ञान उपमान के लिए। मानुष=मनु का हितकारक, यह आदित्य, यह आत्मा। अब यह अनु-प्रवचन करते है। अब इस महान् आत्मा को यह ऋगण प्रवचन करता है, विश्वकर्मा के अर्थ के लिए—[अगले] दो मन्त्र। वह यह आत्मजिज्ञासा [है।] वह यह सर्वभूत जिज्ञासा [है।] ब्रह्म के सारिष्ट को, सरूपता, को सलोकता को पहुँचाता है, जो इस प्रकार जानता है।

नमः ब्रह्म के लिए। नमः महान् भूत=[आत्मा=महत् तत्त्व] के लिए। नमः यास्क के लिए।

भाष्य—यह पाठ भी सन्दिग्ध है। वैश्वकर्मणे यह पाठ अस्पष्ट अर्थ देता है। वेद के ब्रह्मपरक अर्थ पर यहां पूरा बल दिया गया है। ग्रन्थ की समाप्ति पर ब्रह्म शुक्लमसीय का दो बार पाठ स्पष्ट है। यास्काय पद के स्थान में दूसरी शाखा का पाठ पारस्कराय है क्या परिशिष्टों के साथ पारस्कर का कोई सबन्ध है ? ॥ ३७ ॥

इति निरुक्तं समाप्तम्



निरुक्त-भाष्यकार के अन्य ग्रन्थ

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १

(द्वितीय संस्करण-परिवर्धित)

आर्य परम्परा की सत्यता प्रमाणित करने वाला यह इस युग का पहला और एकमात्र ग्रन्थ है। योरोप के ईसाई यहूदी गुट के पक्षपात पूर्ण लेखों का इस में प्रबल खण्डन है। भारत में इतिहास-लेखन आदिकाल से चला आ रहा है, और आर्य ऋषि, मुनि ही यथार्थ इतिहास लेखक थे, इस का मुंह बोलता चित्र इस ग्रन्थ में है।

वाल्मीकि और व्यास की ऐतिहासिकता के प्रमाण इस ग्रन्थ में बहुत से मिलते हैं। महाभारत और पुराणों में निर्दिष्ट ऐतिहासिक तिथि-क्रम लगभग ठीक है, इस का उज्ज्वल ज्ञान इसी ग्रन्थ में है। मूल्य १=) रु०

२. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २

इस में आदि पुरुष ब्रह्मा से ले कर गुप्त साम्राज्य के अन्त तक का इतिहास है। अधिक बल तिथि-क्रम के यथार्थ वर्णन पर दिया गया है।

२५००) रु० पुरस्कार—उत्तर प्रदेश सरकार ने सन् १९६३ में इस ग्रन्थ पर २५००) रु० का श्री नरेन्द्रदेव पुरस्कार दिया है।

ब्रिटिश शासन ने राजनीतिक कारणों और ईसाई मतान्धता के कारण भारत का इतिहास जो कलुषित कर दिया था, और जिस की रूपरेखा वर्तमान विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है, उस का सतर्क निराकरण इस ग्रन्थ में है। इस ग्रन्थ के अध्ययन के बिना संस्कृत वाङ्मय की आधारभूत बातों की समझ नहीं आ सकती। मूल्य २०) रु०

३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १

(द्वितीय संस्करण-परिवर्धित)

वेद-शाखाएं और वेदों की शाखाएं

आज भारत और विदेशों के प्रायः सभी लेखक इसी ग्रन्थ के आधार पर वैदिक शाखाओं का वर्णन कर रहे हैं। शतशः ग्रन्थों से इस की सामग्री संकलित हुई है। वेद की अपौरुषेयता का दर्शन इस ग्रन्थ के पहले १०० पृष्ठों में कराया गया है। मूल्य १०) रु०

४. भाषा का इतिहास

यह ग्रन्थ अब तीसरे संस्करण में परिवर्धित रूप में प्रकाशित हुआ है। प्राचीन संस्कृत से संसार की मुख्य भाषाएं अपभ्रष्ट हो कर बनी हैं, इस का ज्ञान इस ग्रन्थ से करें।

कल्पित इण्डो-योरोपियन अथवा भारोपीय भाषा का कभी अस्तित्व नहीं था, इस का प्रतिपादन यहां मिलेगा। ब्रुगमन, थोम्सोफ आदि के व्यर्थ मतों का यहां सप्रमाण खण्डन है। विज्ञान (साइंस) के नाम पर जो मिथ्या लेख हुए हैं, उन के मिथ्यात्व का यहां उद्घाटन है। मूल्य ८) रु०

५. वेदविद्या-निदर्शन (पुरस्कृत)

ज्ञान विज्ञान का सर्वोत्कृष्ट भण्डार वेद में है, यह इस पुस्तक के पत्र-पत्र से स्पष्ट है। इस पुस्तक के साहाय्य से भविष्य के वैज्ञानिक सूर्य, चन्द्र और ग्रहों आदि की यथार्थ विद्या को जानेंगे। मूल्य १२ रु० ५० न० पै०

इसी ग्रन्थ में उल्लिखित एक तथ्य का विस्तृत वर्णन अगली अंग्रेजी पुस्तिका में है —

6 Extraordinary Scientific Knowledge in Vedic Works.

श्री Louis Renou

प्रधान प्राध्यापक पेरिस विश्वविद्यालय, अपने पत्रों में ग्रन्थकार को लिखते हैं—

1 (वेदविद्यानिदर्शन) Your very original and keen work
14th Nov 1963

2 I think you are quite right in emphasizing the scientific outlook of many Vedic formulaes, and I can only congratulate you for your penetrating spirit in trying to interpret these sentences 3rd April, 1961

स० प० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने समालोचना करते [illegible] लिखा—

विद्वज्जन मण्डली तो इस पुस्तक को देख कर प्रसन्न होगी और लेखक की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करेगी। ... इतना सुन्दर विवेचन है कि इसको पढ़ कर कहना पड़ता है कि—विद्वान्‌ ... म्बर १९६१)

रामायण विषयक अगाध पाण्डित्य एवं व्यापक दृष्टि का पता सहज ही लग जाता है। यह पुस्तक रामायण के विषय में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। एक बार अवश्य पढ़ें।

अयोध्याकाण्ड—३।।) अरण्य-किष्किन्धा काण्ड—४।।) बालकाण्ड द्वि० सं० छप रहा है।

ट्रस्ट के अन्य प्रकाशन